सिरि सूयगडंग सुत्तं

जैनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—९

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

पंचम गणधर भगवत् सुधर्मस्वामि-प्रणीत : द्वितीय अंग

(प्रथम श्रुतस्कन्ध)

[मूल पाठ, हिन्दी अनुवाद-विवेचन-टिप्पण-परिशिष्ट युक्त]

सन्निधि ☐

उपप्रवर्तक स्वामी श्री ब्रजलाल जी महाराज

संयोजक तथा प्रधान सम्पादक ☐

श्री स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के युवाचार्य

श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर'

सम्पादक-अनुवादक-विवेचक ☐

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक ☐

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक ६

☐ सम्पादक मण्डल

अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्री रतन मुनि
पंडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल

☐ प्रबन्ध सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐ संप्रेरक

मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

☐ अर्थसौजन्य

श्रीमान गुमानमल जी चौरड़िया

☐ प्रकाशन तिथि

वीर निर्वाण संवत् २५०८
फाल्गुन, वि० सं० २०३८
ई० सन् १९८२ मार्च

☐ प्रकाशक

श्री आगम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार, **ब्यावर** (राजस्थान)
पिन ३०५९०१

☐ मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के निर्देशन में
सुनील प्रिंटिंग वर्क्स एवं
संजय प्रिंटिंग प्रेस, फाटक सूरजभान, बेलनगंज, आगरा में मुद्रित

☐ मूल्य

पैंतालीस रुपया सिर्फ : ४५) रु०

Published at the Holy Remembrance occasion

of

Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

FIFTH GANADHARA SUDHARMA SWAMI COMPILED

Second Anga

SŪTRAKṚTĀṄGA

[Part I]

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity

Up-pravartaka Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor

Sri Vardhamana Sthanakvasi Jain Sramana Sanghiya Yuvacharya

Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editor, Translator & Annotator

Srichand Surana 'Saras'

Publishers

SRI AGAMA PRAKASHAN SAMITI

Beawar (Raj.)

□ Jinagam Granthmala : Publication No. 9

□ Chief Editor
Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

□ Board of Editors
Anuyoga Pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandraji Bharilla

□ Managing Editor
Srichand Surana 'Saras'

□ Promoter
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

□ Financial Assistance
Sri Gumanmalji Chauradiya

□ Publishers
Sri Agama Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipalia Bazar, Beawar (Raj) [India]
Pin. 305901

□ Printers
Sunil Printing Works, & Sanjay Printing Press, Agra.
under the supervision of *Srichand Surana 'Saras'*

समर्पण

—००००—

'अप्पमत्ते सदा जये' की आगम वाणी

जिनके जीवन में प्रतिपद चरितार्थ हुई

जो दृढ़संकल्प के धनी थे'

जो उच्चकोटि के साधक थे,

विरक्ति की प्रतिमूर्ति थे,

कवि-मनीषी आप्तवाणी के अनन्यतमश्रद्धालु तथा उपदेशक थे,

उन

स्व० आचार्य प्रवर जी श्री जयमल्ल जी महाराज की

पावन-स्मृति में,

सादर, सविनय समर्पित,

—युवाचार्य, मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

सूत्रकृतांग सूत्र का प्रथम भाग पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हमें परम सन्तोष का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। उनमे से यह प्रथम श्रुतस्कन्ध है। दूसरे श्रुतस्कन्ध के मुद्रण का कार्य भी चालू है। वह अजमेर में मुद्रित हो रहा है। आशा है अल्प समय में ही वह भी तैयार हो जाएगा और आपके पास पहुँच सकेगा।

इसके पूर्व स्थानांग सूत्र मुद्रित हो चुका है और समवायांग का मुद्रण समाप्ति के निकट है। हमारा संकल्प है, अनुचित शीघ्रता से बचते हुए भी यथासंभव शीघ्र से शीघ्र सम्पूर्ण बत्तीसी पाठकों को सुलभ करा दी जाए।

सूत्रकृतांग का सम्पादन और अनुवाद जैन समाज के प्रख्यात साहित्यकार श्रीयुत श्रीचंद जी सुराणा 'सरस' ने किया है। उनकी ही देखरेख में इसका मुद्रण हुआ है।

समग्र देश में और विशेषतः राजस्थान में जो विद्युत-संकट चल रहा है, उसके कारण मुद्रणकार्य में भी व्याघात उत्पन्न हो रहा है, इस संकट के आंशिक प्रतीकार के लिए अजमेर और आगरा—दो स्थानों पर मुद्रण की व्यवस्था करनी पड़ी है। यह सब होते हुए भी जिस वेग के साथ काम हो रहा है, उससे आशा है, हमारे शास्त्र-प्रेमी पाठक और ग्राहक अवश्य ही सन्तुष्ट होंगे।

प्रस्तुत आगम श्रीमान् सेठ गुमानमल जी सा० चोरड़िया की विशिष्ट आर्थिक सहायता से प्रकाशित हो रहा है, अतएव समिति उनके प्रति कृतज्ञता और आभार प्रदर्शित करती है। यों श्री चोरडिया जी का आगम प्रकाशन के इस महान् अनुष्ठान में प्रारम्भ से ही उत्साहपूर्ण सक्रिय सहयोग रहा है। समिति के आप मद्रास क्षेत्रीय कोषाध्यक्ष भी हैं। आपका संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र प्रकाशित किया जा रहा है।

श्रमणसंघ के युवाचार्य पण्डितप्रवर श्रीमधुकर मुनिजी महाराज के श्री चरणों में कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए किन शब्दों का प्रयोग किया जाय, जिनकी श्रुतप्रीति एवं शासन-प्रभावना की प्रखर भावना की बदौलत ही हमें श्रुत-सेवा का महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

साहित्यवाचस्पति विश्रुत विबुध श्री देवेन्द्र मुनिजी म० शास्त्री ने समिति द्वारा पूर्व प्रकाशित आगमों की भाँति प्रस्तुत आगम की भी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखने का दायित्व लिया था, किन्तु स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण यह सम्भव नहीं हो सका, तथा हमारे अनुरोध पर पं० रत्न श्री विजय मुनि जी शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी है, तदर्थ हम विनम्र भाव से मुनिश्री के प्रति आभारी हैं।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्रीमान् श्रीचंदजी सुराणा ने इस आगम का सम्पादन एवं अनुवाद किया है। पूज्य युवाचार्य श्रीजी ने तथा पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने अनुवाद आदि का अवलोकन किया है। तत्पश्चात् मुद्रणार्थ प्रेस में दिया गया है। तथापि कहीं कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो विद्वान् पाठक कृपा कर सूचित करें जिससे अगले संस्करण में संशोधन किया जा सके।

हमारी हार्दिक कामना है कि जिस श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर आगम प्रकाशन समिति आगमों का प्रकाशन कर रही है उसी भावना से समाज के आगम प्रेमी बन्धु इनके अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार में उत्साह दिखलाएँगे जिससे समिति का लक्ष्य सिद्ध हो सके।

अन्त में हम उन सब अर्थसहायकों एवं सहयोगी कार्यकर्त्ताओं के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना अपना कर्तव्य समझते हैं जिनके मूल्यवान् सहयोग से ही हम अपने कर्त्तव्य पालन में सफल हो सके हैं।

रतनचंद मोदी
(कार्यवाहक अध्यक्ष)

चांदमल विनायकिया
(मंत्री)

जतनराज मूथा
(महामंत्री)

सहयोगी-सत्कार

एक आदर्श श्रावक : श्रीमान गुमानमल जी सा० चोरडिया : जीवन-परिचय

भगवान महावीर ने श्रावक के आदर्श जीवन की ओर इंगित करके एक वचन कहा है—गिहिवासे वि सुव्वया—वे गृहस्थावास में रहते हुए भी व्रतों की सम्यग् आराधना करते हैं।

श्रीमान गुमानमल जी सा० चोरडिया—स्थानकवासी जैन समाज में एक आदर्श सद्‌गृहस्थ के प्रतीक रूप है। प्रकृति से अतिभद्र, सरल, छोटे-बड़े सभी के समक्ष विनम्र, किन्तु स्पष्ट और सत्यवक्ता, अपने नियम व मर्यादाओं के प्रति दृढ़निष्ठा सम्पन्न. गुरुजनों के प्रति विवेकवती आस्था से युक्त, सेवा कार्यों में स्वयं अग्रणी तथा प्रेरणा के दूत रूप में सर्वत्र विश्रुत है।

आपने बहुत वर्ष पूर्व श्रावक व्रत धारण किये थे। अन्य अनेक प्रकार की मर्यादाएँ भी की थीं, आज इस वृद्ध अवस्था तथा शारीरिक अस्वस्थता के समय भी आप उन पर पूर्ण दृढ़ है। इच्छा-परिमाण व्रत पर तो आपकी दृढ़ता तथा कार्यविधि सबके लिए ही प्रेरणाप्रद है। अपनी की हुई मर्यादा से अधिक जो भी वार्षिक आमदनी होती है वह सब तुरन्त ही शुभ कार्यों में—जैसे जीवदया, असहाय-सहायता, बुक बैंक, गरीब व रुग्णजन सेवा तथा साहित्य प्रसार में वितरित कर देते हैं। राजस्थान तथा मद्रास में आपकी दानशीलता से अनेक संस्थाएँ लाभान्वित हो रही है।

आप स्था० जैन समाज के अग्रगण्य धर्मनिष्ठ श्रेष्ठी श्री मोहनमल जी सा० चोरड़िया के अत्यन्त विश्वास-पात्र, सुदक्ष तथा प्रधान मुनीम रहे। सेठ साहब प्रायः हर एक कार्य में आपकी सलाह लेते हैं। मद्रास में आपका अपना निजी व्यवसाय भी है। प्रायः सभी सामाजिक—धार्मिक कार्यों में आपका सहयोग वांछित रहता है।

आपकी जन्म भूमि—नोखा (चान्दावतों का) है, आपके स्व० पिता श्रीमान राजमलजी चोरडिया भी धार्मिक वृत्ति के थे। आपके पाँच सहोदर अनुजभ्राता हैं—श्री मांगीलाल जी, चम्पालाल जी, दीपचन्द जी, चन्दनमल जी तथा फूलचन्द जी। सभी का व्यवसाय मद्रास में चल रहा है। तथा आप एवं सभी बंधु स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री हजारीलाल म० के प्रति अनन्य श्रद्धा भक्ति रखते हैं। स्वामी श्री ब्रजलाल जी म० सा० एवं युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० के प्रति आप सब की गहरी श्रद्धा है। युवाचार्य श्री के निदेशन में चलने वाले विविध धार्मिक एवं सांस्कृतिक उपक्रमों में आप समय-समय पर तन-मन-धन से सहयोग करते रहे हैं; कर रहे हैं।

आगमों के प्रति आपकी गहरी निष्ठा है। प्रारम्भ से ही आप आगम-साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उत्साहवर्धक प्रेरणाएँ देते रहे हैं। जब युवाचार्य श्री के निदेशन में आगमों के हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन-प्रकाशित करने की योजना बनी तो, आपश्री ने स्वतः की प्रेरणा से ही एक बड़ी धन राशि देने की उत्साहपूर्ण घोषणा की, साथ ही अन्य मित्रों एवं स्वजन-स्नेहियों को प्रेरणा भी दी। आपकी सहयोगात्मक भावना तथा उदारता हम सबके लिये प्रेरणा प्रदीप का काम कर रही है।

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन का व्यय-भार आपने वहन किया है। हम शासन देव से प्रार्थना करते हैं कि ऐसे समाजरत्न आदर्श श्रावक चिरकाल तक जिनशासन की सेवा करते हुए हमारा मार्गदर्शन एवं उत्साह संवर्धन करते रहें।

—मंत्री

आदि वचन

विश्व के जिन दार्शनिकों—द्रष्टाओं/चिन्तकों ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों-राग द्वेष आदि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित उद्भासित हो जाती है। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी; वचन/कथन प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यतः सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह बिखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, संघीय जीवन पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्म प्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्हीं के अतिशय सम्पन्न विद्वान शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जब मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा में "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशांग में समाहित होते हैं और द्वादशांग/आचारांग-सूत्रकृतांग आदि के अंग-उपांग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए है। इस द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी बारहवां अंग विशाल एवं समग्रश्रुत ज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यतः एकादशांग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवतः इसीलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात स्मृतिदौर्बल्य; गुरु-परम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहां चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी. वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान श्रुतपारगामी देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने विद्वान श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एवं संजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध किया गया। जिनवाणी को पुस्तकारूढ़

करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुतः आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ६८० या ६६३ वर्ष पश्चात प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) में आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमों की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रों का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ़ होने के बाद आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-संघों के आन्तरिक मतभेद, स्मृति दुर्बलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणों के कारण विपुल ज्ञान भण्डारों का विध्वंश आदि अनेकानेक कारणों से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढ़ार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव में, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी में वीर लोंकशाह ने इस दिशा में क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धांतिक विग्रह, तथा लिपिकारों का अत्यल्प ज्ञान आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बड़ा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियों को शुद्ध प्रतियाँ मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठकों को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वद्-प्रयासों से आगमों की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकायें आदि प्रकाश में आई और उनके आधार पर आगमों का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा में प्रकाशित हुआ। इससे आगम स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु-जनों को सुविधा हुई। फलतः आगमों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कहीं अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ी है, जनता में आगमों के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि जागरण में अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानों तथा भारतीय जैनेतर विद्वानों की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणों, पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नींव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नहीं, स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप में उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूँगा।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने जैन आगमों—३२ सूत्रों का प्राकृत से खड़ी बोली में अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही बत्तीस सूत्रों का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन में पूर्ण कर एक अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ़ लगनशीलता, साहस एवं आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगम पठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापंथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातः स्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेव श्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध संस्करणों में प्रायः शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट है, मूलपाठों में व वृत्ति में कहीं-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो है ही। चूंकि गुरुदेव श्री स्वयं आगमों के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हें आगमों के अनेक गूढ़ार्थ गुरू-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अतः वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वप्न-संकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल में आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म० विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने जैन आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि में सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्वावधान में लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस में व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्वावधान में आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुंजाइश है। परम्परा-प्राप्त या पूर्वाचार्य-सम्मत पाठों में परिवर्तन व एक-पक्षीय निर्णय भी तो कुछ स्पष्ट व ठोस आधार चाहता है। तथापि उनके श्रम का महत्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील है। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमों में उनकी कार्यशैली की विशदता एवं मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान पं० श्री बेचरदास जी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानों का माग दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानों की कार्य शैली काफी भिन्नता लिये हुए हैं। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कहीं आगमों की विशाल व्याख्यायें की जा रही है। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगम ज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का एक ऐसा संस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-संस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ़ निश्चय घोषित कर दिया

और आगम बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलाल जी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्-गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनु-योग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भंडारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञान मुनिजी म०; स्व० विदुषी महासती श्री उज्जवलकुँवरजी म० की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी एम. ए. पी-एच. डी.; महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान श्री दलसुखभाई मालवणिया सुख्यात विद्वान पं० श्री शोभाचन्द जी भारिल्ल, स्व० पं० श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियों का सहयोग आगम सम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवा भाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणा स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढ़ा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहज रूप में ही आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के इस अल्पकाल में ही दस आगम ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमों का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ़ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनों के सद्भाव-सहकार के बल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ..........

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

सम्पादकीय

आचारांग सूत्र का सम्पादन करते समय यह अनुभव होता था कि यह आगम आचार-प्रधान होते हुए भी इसकी वचनावली में दर्शन की अतल गहराईयाँ व चिन्तन की असीमता छिपी हुई है। छोटे-छोटे आर्ष-वचनों में द्रष्टा की असीम अनुभूति का स्पन्दन तथा ध्यान-योग की आत्म-संवेदना का गहरा 'नाद' उनमें गुंजायमान है, जिसे सुनने-समझने के लिए 'साधक' की भूमिका अत्यन्त अपेक्षित है। वह अपेक्षा कब पूरी होगी, नहीं कह सकता, पर लगे हाथ आचारांग के वाद द्वितीय अंग—सूत्रकृतांग के पारायण में, मैं लग गया।

सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारांग की शैली का पूर्ण नहीं तो वहुलांश में अनुसरण करता है। उसके आचार में दर्शन था तो इसके दर्शन में 'आचार' है। विचार की भूमिका का परिष्कार करते हुए आचार की भूमिका पर आसीन करना सूत्रकृतांग का मूल स्वर है—ऐसा मुझे अनुभव हुआ है।

'सूत्रकृत' नाम ही अपने आप में गंभीर अर्थसूचना लिये हैं। आर्यसुधर्मा के अनुसार यह स्व-समय (स्व-सिद्धान्त) और पर-समय (पर-सिद्धान्त) की सूचना (सत्यासत्य-दर्शन) कराने वाला शास्त्र है।[1] नंदीसूत्र (मूल-हरिभद्रीयवृत्ति एवं चूर्णि) का आशय है कि यह आगम स-सूत्र (धागे वाली सुई) की भांति लोक एवं आत्मा आदि तत्वों का अनुसंधान कराने वाला (अनुसंधान में सहायक) शास्त्र है।[2]

श्रुतपारगामी आचार्य भद्रवाहु ने इसके विविध अर्थों पर चिन्तन करके शब्द शास्त्र की दृष्टि से इसे—श्रुत्वा कृतं='सूतकडं' कहा है—अर्थात तीर्थंकर प्रभु की वाणी से सुनकर फिर इस चिन्तन को गणधरों ने ग्रन्थ का, शास्त्र का रूप-प्रदान किया है। भाव की दृष्टि से यह सूचनाकृत्—'सूतकडं'—अर्थात्-निर्वाण या मोक्षमार्ग की सूचना-अनुसन्धान कराने वाला है।[3]

'सूतकडं' शब्द से जो गंभीर भाव-बोध होता है वह अपने आप में वहुत महत्वपूर्ण है, बल्कि सम्पूर्ण आगम का सार सिर्फ चार शब्दों में सन्निहित माना जा सकता है। सूत्रकृतांग की पहली गाथा भी इसी भाव का बोध कराती है।

बुज्झिज्ज तिउट्टेज्जा—समझो, और तोडो (क्या)
बंधणं परिजाणिया—बंधन को जानकर।
किमाह बंधणं वीरो—भगवान ने बंधन किसे बताया है?
किं वा जाणं तिउट्टइ—और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है?[4]

इस एक ही गाथा में सूत्रकृत का संपूर्ण तत्वचिन्तन समाविष्ट हो गया है। दर्शन और धर्म, विचार और आचार यहाँ अपनी सम्पूर्ण सचेतनता और संपूर्ण क्रियाशीलता के साथ एकासनासीन हो गये हैं।

---

१. सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति —समवायांग सूत्र
२. नंदीसूत्र मूल वृत्ति पृ० ७७, चूर्णि पृ० ६३.
३. देखिए निर्युक्ति-गाथा १८, १९, २० तथा उनकी शीलांकवृत्ति
४. सूत्रकृतांग गाथा १

दर्शन शास्त्र का लक्ष्य है—जीव और जगत के विषय में विचार एवं विवेचना करना। भारतीय दर्शनों का; चाहे वे वैदिक दर्शन (सांख्य-योग, वैशेषिक-न्याय, मीमांसक और वेदान्त) है या अवैदिक दर्शन (जैन, बौद्ध, चार्वाक्) है, मुख्य आधार तीन तत्व है—

१. आत्म-स्वरूप की विचारणा
२. ईश्वर सत्ता विषयक धारणा
३. लोक-सत्ता (जगत स्वरूप) की विचारणा

जब आत्म-स्वरूप की विचारणा होती है तो आत्मा के दुख-सुख, बंधन-मुक्ति की विचारणा अवश्य होती है। आत्मा स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? परतन्त्र है तो क्यों ? किसके अधीन ? कर्म या ईश्वर ? आत्मा जहाँ, जिस लोक में हैं उस लोक सत्ता का संचालन/नियमन/व्यवस्था कैसे चलती है ? इस प्रकार आत्मा (जीव) और लोक (जगत) के साथ ईश्वर सत्ता पर भी स्वयं विचार-चर्चा केन्द्रित हो जाती है और इन तत्वों की चिन्तना/चर्चा करना ही दर्शनशास्त्र का प्रयोजन है।

धर्म का क्षेत्र—दर्शन शास्त्र द्वारा विवेचित तत्वों पर आचरण करना है। आत्मा के दुख-सुख, वन्धन-मुक्ति के कारणों की खोज दर्शन करता है, पर उन कारणों पर विचार कर दुख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना धर्म क्षेत्र का कार्य है। आत्मा के बन्धन कारक तत्वों पर विवेचन करना दर्शन शास्त्र की सीमा में है और फिर उन बन्धनों से मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होना धर्म की सीमा में आ जाता है।

अब मैं कहना चाहूँगा कि सूत्रकृत की सबसे पहली गाथा, आदि वचन, जिसमें आगमकार अपने समग्र प्रतिपाद्य का नवनीत प्रस्तुत कर रहे हैं—दर्शन और धर्म का संगम-स्थल है। वन्धन के कारणों की समग्र परिचर्चा के बाद या इसी के साथ-साथ वन्धन-मुक्ति की प्रक्रिया, पद्धति और साधना पर विशद चिन्तन प्रस्तुत करने का संकल्प पहले ही पद में व्यक्त हो गया है। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रकृत का संपूर्ण कलेवर अर्थात लगभग ३६ हजार पद परिमाण विस्तार, पहली गाथा का ही महाभाष्य है। इस दृष्टि से मैं कहना चाहूँगा कि सूत्रकृत न केवल जैन तत्वदर्शन का सूचक शास्त्र है, बल्कि आत्मा की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला मोक्ष-शास्त्र है। आस्तिक या आत्मवादी दर्शनों के चरम बिन्दु-मोक्ष/निर्वाण/परम पद का स्वरूप एवं सिद्धि का उपाय बताने वाला आगम है—सूत्रकृत।

सूत्रकृत के सम्बन्ध में अधिक विस्तार पूर्वक पं० श्री विजय मुनिजी म० ने प्रस्तावना में लिखा है, अतः यहाँ अधिक नहीं कहना चाहता, किन्तु सूचना मात्र के लिए यह कहना चाहता हूँ कि इसके प्रथम 'समय' अध्ययन, बारहवें 'समवसरण'; द्वितीय श्रुतस्कंध के द्वितीय अध्ययन 'पुण्डरीक' में अन्य मतों, दर्शन एवं उनकी मान्यताओं की स्फुट चर्चा है, उनकी युक्ति-रहित अयथार्थ मान्यताओं की सूचना तथा निरसन भी इसी हेतु से किया गया है कि वे मिथ्या व अयथार्थ धारणाएँ भी मन व मस्तिष्क का वन्धन है। अज्ञान बहुत बड़ा बन्धन है। मिथ्यात्व की बेड़ी सबसे भयानक है, अतः उसे समझना और फिर तोड़ना तभी संभव है जब उसका यथार्थ परिज्ञान हो। साधक को सत्य का यथार्थ परिबोध देने हेतु ही शास्त्रकार ने बिना किसी धर्म-गुरु या मतप्रवर्तक का नाम लिए सिर्फ उनके सिद्धान्तों की युक्ति-रहितता बताने का प्रयास किया है।

सूत्रकृत में वर्णित पर-सिद्धान्त आज भी दीघनिकाय, सामञ्जफलसुत्तं, सुत्तनिपात, मज्झिमनिकाय, संयुक्त निकाय, महाभारत तथा अनेक उपनिषदों में विकीर्ण रूप से विद्यमान हैं, जिससे २५०० वर्ष पूर्व की उस दार्शनिक चर्चा का पता चलता है। यद्यपि २५०० वर्ष के दीर्घ अन्तराल में भारतीय दर्शनों की विचारधाराओं में, सिद्धान्तों में भी काल क्रमानुसारी परिवर्तन व कई मोड़ आये हैं, आजीवक जैसे व्यापक सम्प्रदाय तो लुप्त भी हो गये हैं, फिर भी आत्म-अकर्तृत्ववादी सांख्य, कर्मचयवादी बौद्ध, पंच महाभूतवादी-चार्वाक् (नास्तिक) आदि दर्शनों की सत्ता आज भी है। सुख-वाद एवं अज्ञानवाद के बीज पाश्चात्य दर्शन में महासुखवाद, अज्ञेयवाद एवं संशयवाद के रूप में आज परिलक्षित होते

हैं। इन दर्शनों की आज प्रासंगिकता कितनी है यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है, पर मिथ्या धारणाओं के बन्धन से मुक्त होने का लक्ष्य तो सर्वत्र सर्वदा प्रासंगिक रहा है, आज के युग में भी चिन्तन की सर्वांगता और सत्यानुगामिता, साथ ही पूर्व-ग्रह मुक्तता नितान्त आपेक्षिक है। सूत्रकृत का लक्ष्य भी मुक्ति तथा साधना की सम्यग्-पद्धति है। इस लिए इसका अनुशीलन-परिशीलन आज भी उतना ही उपयोगी तथा प्रासंगिक है।

सूत्रकृत का प्रथम श्रुतस्कंध पद्यमय है, (१६वां अध्ययन भी गद्य-गीति समुद्र छन्द में है) इसकी गाथाएँ बहुत सारपूर्ण सुभाषित जैसी है। कहीं-कहीं तो एक गाथा के चार पद, चारों ही चार सुभाषित जैसे लगते हैं। गाथाओं की शब्दावली बड़ी सशक्त, अर्थ पूर्ण तथा श्रुति-मधुर है। कुछ सुभाषित तो ऐसे लगते हैं मानो गागर में सागर ही भर दिया है।

जैसे :—

मा पच्छा असाहुया भवे	—	सूत्रांक १४६
तवेसु वा उत्तमवंभचेरं		३७४
आहंसु विज्जा-चरणं पमोक्खो		५४५
जे छेए विप्पमायं न कुज्जा		५८०
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा		५४६

अगर स्वाध्यायी साधक इन श्रुत वाक्यों को कण्ठस्थ कर इन पर चिन्तन-मनन-आचरण करता रहे तो जीवन में एक नया प्रकाश, नया विकास और नया विश्वास स्वतः आने लगेगा।

प्रस्तुत आगम में पर-दर्शनों के लिए कहीं-कहीं 'मंदा', मूढा "तमाओ ते तमं जंति" जैसी कठोर प्रतीत होने वाली शब्दावली का प्रयोग कुछ जिज्ञासुओं को खटकता है। आर्ष-वाणी में रूक्ष या आक्षेपात्मक प्रयोग नहीं होने चाहिए ऐसा उनका मन्तव्य है, पर वास्तविकता में जाने पर यह आक्षेप उचित नहीं लगता। क्योंकि ये शब्द-प्रयोग किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं है, किन्तु उन मूढ़ या अहितकर धारणाओं के प्रति है, जिनके चक्कर में फंसकर प्राणी सत्य-श्रद्धा व सत्य-आचार से पतित हो सकता है। असत्य की भर्त्सना और असत्य के कटु-परिणाम को जताने के लिए शास्त्रकार बड़ी दृढ़ता के साथ साधक को चेताते हैं। ज्वरार्त के लिए कटु औषधि के समान कटु प्रतीत होने वाले शब्द कहीं-कहीं अनिवार्य भी होते हैं। फिर आज के सभ्य युग में जिन शब्दों को कटु माना जाता है, वे शब्द उस युग में आम भाषा में सहजतया प्रयुक्त होते थे ऐसा भी लगता है, अतः उन शब्दों की संयोजना के प्रति शास्त्रकार की सहज-सत्य-निष्ठा के अतिरिक्त अन्यथा कुछ नहीं है।

सूत्रकृत में दर्शन के साथ जीवन-व्यवहार का उच्च आदर्श भी प्रस्तुत हुआ है। कपट, अहंकार, जातिमद, ज्ञानमद आदि पर भी कठोर प्रहार किये गये हैं। और सरल-सात्विक जीवन-दृष्टि को विकसित करने की प्रेरणाएँ दी हैं। कुल मिलाकर इसे गृहस्थ और श्रमण के लिए मुक्ति का मार्ग दर्शक शास्त्र कहा जा सकता है।

प्रस्तुत संपादन :

सूत्रकृत के प्रस्तुत संपादन में अब तक प्रकाशित अनेक संस्करणों को लक्ष्य में रखकर संपादन/विवेचन किया गया है। मुनि श्री जम्बूविजयजी द्वारा संपादित मूल पाठ हमारा आदर्श रहा है, किन्तु उसमें भी यत्र-तत्र चूर्णि सम्मत कुछ संशोधन हमने किये हैं। आचार्य भद्रबाहुकृत निर्युक्ति, प्राचीनतम संस्कृतमिश्रित-प्राकृतव्याख्या—चूर्णि, तथा आचार्य शीलांक कृत वृत्ति—इन तीनों के आधार पर हमने मूल का हिन्दी भावार्थ व विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के पाठों में पाठ-भेद तथा अर्थ-भेद भी हैं। यथाप्रसंग उसका भी उल्लेख करने का

प्रयास मैंने किया हैं, ताकि पाठक उन दोनों के अनुशीलन से स्वयं की बुद्धि-कसौटी पर उसे कसकर निर्णय करें। चूर्णि एवं वृत्ति के विशिष्ट अर्थों को मूल संस्कृत के साथ हिन्दी में भी दिया गया है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, अब तक के विवेचनकर्ता संस्कृत को ही महत्व देकर चले हैं, चूर्णिगत तथा वृत्ति-गत पाठों को मूल रूप में अंकित करके ही इति करते रहे हैं, किन्तु इससे हिन्दी-पाठक के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, जबकि आज का पाठक अधिकांशतः हिन्दी के माध्यम से ही जान पाता है। मैंने उन पाठों का हिन्दी अनुवाद भी प्रायशः देने का प्रयत्न किया है यह संभवतः नया प्रयास ही माना जायेगा।

आगम पाठों से मिलते-जुलते अनेक पाठ, शब्द बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलते हैं जिनकी तुलना अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, पाद-टिप्पण में स्थान-स्थान पर बौद्धग्रन्थों के वे स्थल देकर पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन के लिए इंगित किया गया है, आशा है इससे प्रबुद्ध पाठक लाभान्वित होंगे। अन्त में चार परिशिष्ट हैं, जिनमें गाथाओं की अकारादि सूची; तथा विशिष्ट शब्द सूची भी है। इनके सहारे आगम गाथा व पाठों का अनुसंधान करना बहुत सरल हो जाता है। अनुसंधाताओं के लिए इस प्रकार की सूची बहुत उपयोगी होती है। पं० श्री विजय मुनि जी शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका में भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि पर सुन्दर प्रकाश डालकर पाठकों को अनुग्रहीत किया है।

इस संपादन में युवाचार्य श्री मधुकरजी महाराज का विद्वत्ता पूर्ण मार्ग-दर्शन बहुत बड़ा सम्बल बना है। साथ ही विश्रुत विद्वान परम सौहार्दशील पंडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का गंभीर-निरीक्षण-परीक्षण, पं० मुनि श्री नेमीचन्द्रजी महाराज का आत्मीय भावपूर्ण सहयोग—मुझे कृतकार्य बनाने में बहुत उपकारक रहा है, मैं विनय एवं कृतज्ञता के साथ उन सबका आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ श्रुत-सेवा के इस महान कार्य में मुझे भविष्य में इसी प्रकार का सौभाग्य मिलता रहेगा।

३० जनवरी १९८२

प्रस्तावना

(प्राचीन भारतीय दर्शन और सूत्रकृतांग)

भारतीय-दर्शन फिर भले ही वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न रहा हो उसका मूल स्वर अध्यात्मवाद रहा है। भारत का एक भी सम्प्रदाय ऐसा नहीं है जिसके दर्शन-शास्त्र में आत्मा, ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध में विचारणा न की गई हो। आत्मा का स्वरूप क्या है? ईश्वर का स्वरूप क्या है? और जगत् की व्यवस्था किस प्रकार होती है? इन विषयों पर भारत की प्रत्येक दर्शन-परम्परा ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। जब आत्मा की विचारणा होती है, तब स्वाभाविक रूप से ईश्वर की विचारणा हो ही जाती है। इन दोनों विचारणा के साथ-साथ जगत की विचारणा भी आवश्यक हो जाती है। दर्शन-शास्त्र के ये तीन ही विषय मुख्य माने गये हैं।

आत्मा चेतन है, ज्ञान उसका स्वभाव या गुण है, इस सत्य को सभी ने स्वीकार किया है। उसकी अमरता के सम्बन्ध में भी किसी को सन्देह नहीं है। भारतीय दर्शनों में एक मात्र चार्वाक् दर्शन ही इस प्रकार का है जो आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानता। वह आत्मा को भौतिक मानता है। अभौतिक नहीं। जबकि अन्य समस्त दार्शनिक आत्मा को एक स्वर से अभौतिक स्वीकार करते हैं। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में और उसकी अमरता के सम्बन्ध में किसी भी भारतीय दार्शनिक परम्परा को संशय नहीं रहा है। आत्मा के स्वरूप और लक्षण के सम्बन्ध में भेद रहा है परन्तु उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। ईश्वर के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में सभी दार्शनिकों ने उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। परन्तु ईश्वर के स्वरूप और लक्षण के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है।

जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी भी दर्शन परम्परा को सन्देह नहीं रहा। चार्वाक भी जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अन्य सभी दर्शन परम्पराओं ने जगत् के अस्तित्व को स्वीकार किया है, और उसकी उत्पत्ति तथा रचना के सम्बन्ध में अपनी-अपनी पद्धति से विचार किया है। किसी ने उसका आदि और अन्त स्वीकार किया है और किसी ने उसे अनादि और अनन्त माना है।

दर्शन-शास्त्र सम्पूर्ण सत्ता के विषय में कोई धारणा बनाने का प्रयत्न करता है। उसका उद्देश्य विश्व को समझना है। सत्ता का स्वरूप क्या है? प्रकृति क्या है? आत्मा क्या है? और ईश्वर क्या है? दर्शन-शास्त्र इन समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयत्न करता है। दर्शन-शास्त्र में यह भी समझने का प्रयत्न किया जाता है कि मानव-जीवन का प्रयोजन और उसका मूल्य क्या है? तथा जगत् के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दर्शन-शास्त्र जीवन और अनुभव की समालोचना है। दर्शन-शास्त्र का निर्माण मनुष्य के विचार और अनुभव के आधार पर होता है। तर्कनिष्ठ विचार ज्ञान का साधन रहा है। दर्शन तर्कनिष्ठ विचार के द्वारा सत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। पाश्चात्य-दर्शन में सैद्धान्तिक प्रयोजन की प्रधानता रहती है वह स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित है और आप्त प्रभाव की उपेक्षा करता है। नीति और धर्म की व्यावहारिक बातों से वह प्रेरणा नहीं लेता।

जबकि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक चिन्तन से प्रेरणा पाता है। वास्तव में भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक शोध एवं खोज है। भारतीय-दर्शन सत्ता के स्वरूप की जो खोज करता है, उसके पीछे उसका उद्देश्य मानव जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त करना है। सत्ता के स्वरूप का ज्ञान इसलिये आवश्यक है, कि वह निःश्रेयस् एवं परम साध्य को प्राप्त करने का एक साधन है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि भारतीय-दर्शन अपने मूल स्वरूप में एक आध्यात्मिक-दर्शन है, भौतिक-दर्शन नहीं।

यद्यपि भारतीय-दर्शन में भौतिक तत्त्वों की व्याख्या की गई है फिर भी उसका मूल स्वभाव आध्यात्मिक ही रहा है। इसका सर्वप्रथम प्रमाण तो यह है, कि भारत में धर्म और दर्शन को परस्पर एक दूसरे पर आश्रित माना गया है। परन्तु धर्म का अर्थ अन्ध विश्वास नहीं, वल्कि तर्क पूर्ण आत्म अनुभवी माना गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार धर्म आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करने का एक व्यावहारिक उपाय एवं साधन है। दर्शन-शास्त्र सत्ता की मीमांसा करता है, और उसके स्वरूप को विचार के द्वारा प्रकट करता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः स्पष्ट है, कि भारतीय-दर्शन बौद्धिक विलास नहीं है, वल्कि वह एक आध्यात्मिक खोज है। भारतीय-दर्शन चिन्तन एवं मनन के आधार पर प्रतिष्ठित है, लेकिन उसमें चिन्तन एवं मनन का स्थान आगम-पिटक और वेदों की अपेक्षा गौण है। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक परम्परा आप्तवचन अथवा शब्द-प्रमाण पर अधिक आधारित रही है। जैन अपने आगम पर अधिक विश्वास करते हैं, बौद्ध अपने पिटक पर अधिक श्रद्धा रखते हैं और वैदिक परम्परा के सभी सम्प्रदाय वेदों के वचनों पर ही एक मात्र आधार रखते हैं। इस प्रकार भारतीय-दर्शन में प्रत्यक्ष अनुभूति की अपेक्षा परोक्ष अनुभूति पर ही अधिक बल दिया गया है, जिसे आप्त पुरुष की प्रत्यक्ष अनुभूति कह सकते हैं।

भारत के दार्शनिक सम्प्रदाय :

भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों को अनेक विभागों में विभाजित किया जा सकता है। भारतीय विद्वानों ने भी उनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने "षट् दर्शन समुच्चय" में, आचार्य माधव के "सर्व दर्शन संग्रह" में, आचार्य शंकर के "सर्व सिद्धान्त" आदि में दर्शनों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। पाश्चात्य-दर्शन-परम्परा के दार्शनिकों ने वर्गीकरण की जो पद्धति स्वीकार की है वह भी एक प्रकार की न होकर अनेक प्रकार की है। सबसे अधिक प्रचलित पद्धति यह है, कि भारतीय-दर्शन को दो भागों में विभाजित किया गया है—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शन इस प्रकार हैं—साँख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त। नास्तिक दर्शन इस प्रकार है—चार्वाक, जैन और बौद्ध। परन्तु यह पद्धति न तर्कपूर्ण है न समीचीन। वैदिक दर्शनों को आस्तिक कहने का क्या आधार रहा है? इसका एक मात्र आधार शायद यही रहा है, कि वे वेद-वचनों में विश्वास करते हैं। यदि वेद-वचनों पर विश्वास न करने के आधार पर ही चार्वाक, जैन और बौद्धों को नास्तिक कहा जाता है, तब यही मानना चाहिए कि जो व्यक्ति चार्वाक ग्रन्थों में, जैन आगमों में और बौद्ध पिटकों में विश्वास नहीं करते वे भी नास्तिक हैं। इस प्रकार भारत का कोई भी दर्शन आस्तिक नहीं रहेगा। यदि यह कहा जाए कि जो ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है, इस दृष्टि से चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक कहे जाते हैं, तब इसका अर्थ यह होगा, कि सांख्य और योग तथा वैशेषिक-दर्शन भी नास्तिक परम्परा में ही परिगणित होगें, क्योंकि ये भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। वेदों का सबसे प्रबल समर्थक मीमांसा-दर्शन भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, वह भी नास्तिक कहा जायेगा। अतः आस्तिक और नास्तिक के आधार पर भारतीय-दर्शनों का विभाग करना, यह एक भ्रम परिपूर्ण धारणा है। वास्तव में भारतीय-दर्शनों का विभाग दो रूपों में करना चाहिए—वैदिक-दर्शन और अवैदिक-दर्शन। वैदिक-दर्शनों में षड्-दर्शनों की परिगणना हो जाती है, और अवैदिक-दर्शनों में चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन आ जाते हैं। इस प्रकार भारतीय-दर्शन परम्परा में मूल में नव दर्शन होते हैं—चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य,

योग, वैशेपिक-न्याय, मीमांसा और वेदान्त। ये नव दर्शन भारत के मूल दर्शन हैं। कुछ विद्वानों ने यह भी कहा है कि अवैदिक-दर्शन भी छह है—जैसे चार्वाक, जैन, सौत्रान्तिक वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इस प्रकार वेदान्त परम्परा के दर्शन भी छह हैं और अवैदिक दर्शन भी छह होते हैं। इस प्रकार भारत के मूल दर्शन द्वादश हो जाते हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में कुछ सैद्धान्तिक भेद होते हुए भी प्रकृति, आत्मा और ईश्वर के विषय में दोनों के मत समान हैं। काल क्रम से इनका एकीभाव हो गया, और अब इनका सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक कहा जाता है। सांख्य और योग की प्रकृति के विषय में एक ही धारणा है, यद्यपि सांख्य निरीश्वरवादी है, और योग ईश्वरवादी है। इसलिए कभी-कभी इनको एक साथ सांख्य-योग कह दिया जाता है। मीमांसा के दो सम्प्रदाय हैं, जिनमें से एक के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं, और दूसरे के आचार्य प्रभाकर। इनको क्रम से भट्ट-सम्प्रदाय और प्रभाकर-सम्प्रदाय कहा जाता है। वेदान्त के भी दो मुख्य सम्प्रदाय हैं, जिनमें से एक के प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं, और दूसरे के आचार्य रामानुज। शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद अथवा केवलाद्वैतवाद के नाम से विख्यात है, और रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से। वेदान्त में कुछ अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदाय भी हैं, उन सभी का समावेश भक्तिवादी दर्शन में किया जा सकता है। वेदान्त परम्परा के दर्शनों में मीमांसा-दर्शन को पूर्व-मीमांसा और वेदान्त-दर्शन को उत्तर-मीमांसा भी कहा जा सकता है। इस प्रकार इन विभागों में वैदिक परम्परा के सभी सम्प्रदायों का समावेश आसानी से किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन परिवर्तनवादी दर्शन रहा है। वह परिवर्तन अथवा अनित्यता में विश्वास करता है, नित्यता को वह सत्य स्वीकार नहीं करता। बौद्धों के अनेक सम्प्रदाय हैं, उनमें से वैभाषिक और सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी हैं। इन्हें वाह्यार्थवादी भी कहा जाता है। क्योंकि ये दोनों सम्प्रदाय समस्त बाह्य वस्तुओं को सत्य मानते हैं। वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षवादी हैं। इसका मत यह है कि बाह्य वस्तु क्षणिक हैं, और उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवादी हैं। इनका मत यह है कि बाह्य पदार्थ, जो कि क्षणिक हैं, प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं। मन में उनकी जो चेतना उत्पन्न होती है, उससे उनका अनुमान किया जाता है। योगाचार सम्प्रदाय विज्ञानवादी है। इसका मत यह है कि समस्त बाह्य वस्तु मिथ्या है, और चित्त में जो कि विज्ञान सन्तान मात्र है, विज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो निरालम्बन हैं। योगाचार विज्ञान वादी है। माध्यमिक सम्प्रदाय का मत यह है, कि न बाह्य वस्तुओं की सत्ता है, और न आन्तरिक विज्ञानों की। ये दोनों ही संवृत्ति मात्र (कल्पना-आरोप) हैं। तत्त्व निःस्वभाव है, अनिर्वाच्य है और अज्ञेय है। कुछ बौद्ध विद्वान् केवल निरपेक्ष चैतन्य को ही सत्य मानते हैं।

जैन-दर्शन मूल में द्वैतवादी दर्शन है। वह जीव की सत्ता को भी स्वीकार करता है, और जीव से भिन्न पुद्गल की भी सत्ता को सत्य स्वीकार करता है। जैन-दर्शन ईश्वरवादी दर्शन नहीं है। जैनों के चार सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर; दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी। इन चारों सम्प्रदायों में मूलतत्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं है। तत्व सम्बन्धी अथवा दार्शनिक किसी प्रकार का मतभेद इन चारों ही सम्प्रदायों में नहीं रहा। परन्तु आचार पक्ष को लेकर इन चारों में कुछ विचार भेद रहा है। वास्तव में अनुकम्पा—अहिंसा और अपरिग्रह की व्याख्या में मतभेद होने के कारण ही ये चारों सम्प्रदाय अस्तित्व में आये हैं। किन्तु तात्विक दृष्टि से इनमें आज तक भी कोई भेद नहीं रहा है। चार्वाकों में भी अनेक सम्प्रदाय रहे थे—जैसे चार भूतवादी और पाँच भूतवादी। इस प्रकार भारत के दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी-अपनी पद्धति से भारतीय दर्शन-शास्त्र का विकास करते रहे हैं।

भारतीय-दर्शनों के सामान्य सिद्धान्त :

भारतीय-दर्शनों के सामान्य सिद्धान्तों में मुख्य रूप से चार हैं—आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद और मोक्षवाद। इन चारों विचारों में भारतीय-दर्शनों के सभी सामान्य सिद्धान्त समाविष्ट रहे हैं। जो आत्मवाद में वि[illegible]ता है,

उसे कर्मवाद में भी विश्वास रखना ही होगा। और जो कर्मवाद को स्वीकार करता है उसे परलोकवाद भी स्वीकार करना ही होगा। और जो परलोकवाद को स्वीकार कर लेता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष पर भी विश्वास करना ही होता है। इस प्रकार भारतीय-दर्शनों के सर्वमान्य सिद्धान्त ये चार ही रहे हैं। इन चारों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा विचार नहीं है, जो इन चारों में न आ जाता हो। फिर भी यदि हम प्रमाण-मीमांसा को लें, तो वह भी भारतीय-दर्शन का एक अविभाज्य अंग रही है। प्रत्येक दर्शन की शाखा ने प्रमाण की व्याख्या की है, और उसके भेद एवं उपभेदों की विचारणा की है। फिर आचार-शास्त्र को भी यदि लिया जाये, तो प्रत्येक भारतीय दर्शन की शाखा का अपना एक आचार-शास्त्र रहा है। इस आचार-शास्त्र को हम उस दर्शन का साधना पक्ष भी कह सकते हैं। प्रत्येक दर्शन-परम्परा अपनी पद्धति से अपने द्वारा प्रतिपादित तत्व-ज्ञान को जब जीवन में उतारने का प्रयत्न करती है, तब उसे साधना कहा जाता है। यह साधना-पक्ष भी प्रत्येक भारतीय-दर्शन का अपना एक विशिष्ट ध्येय रहा है।

यह स्वाभाविक है, कि मनुष्य को अपने वर्तमान जीवन से असन्तोष हो। जीवन में प्रतीत होने वाले प्रतिकूल भाव, दुःख एवं क्लेशों से व्याकुल होकर मनुष्य इनसे छुटकारा प्राप्त करने की बात सोचे। भारत के प्रत्येक दर्शन ने फिर भले ही वह किसी भी परम्परा का क्यों न रहा हो, वर्तमान जीवन को दुःखमय एवं क्लेशमय माना है। इसका अर्थ यही होता है कि जीवन में जो कुछ दुःख एवं क्लेश हैं, उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाये। क्योंकि दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति प्रत्येक आत्मा का साहजिक अधिकार है। भारत के इस दृष्टिकोण को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों ने उसे निराशावादी अथवा पलायनवादी कहा है। परन्तु उन लोगों का यह कथन न तर्क-संगत है, और न भारतीय-दर्शन की मर्यादा के अनुकूल ही। भारतीय दर्शनों में त्याग और वैराग्य की जो चर्चा की गई है, उसका अर्थ जीवन से पराङ्मुख बनना नहीं है, बल्कि वर्तमान जीवन के असन्तोष के कारण चित्त में जो एक व्याकुलता रहती है, उसे दूर करने के लिये ही भारतीय दार्शनिकों ने त्याग और वैराग्य की बात कही है। यह दुःखवादी विचारधारा बौद्ध-दर्शन में अतिरेक वादी बन गयी है। उसे किसी अंश में स्वीकार करना ही होगा। जैन-दर्शन भी इस दुःखवादी परम्परा में सम्मिलित रहा है। सांख्य-दर्शन ने प्रारम्भ में ही इस तथ्य को स्वीकार किया है कि तीन प्रकार के दुःख से व्याकुल यह आत्मा सुख और शान्ति की खोज करना चाहती है। इस प्रकार भारतीय दर्शनों में दुःखवादी विचारधारा रही है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसका अर्थ निराशावाद और पलायनवाद कतई नहीं किया जा सकता। एक मात्र सुख का अनुसंधान ही उसका मुख्य उद्देश्य रहा है।

भारतीय-दर्शनों में आत्मवाद :

भारत के सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। न्याय और वैशेषिक आत्मा को अविनश्वर और नित्य पदार्थ मानते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न सुख, दुःख और ज्ञान को उसके विशेष गुण मानते हैं। आत्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्प आत्मा के धर्म हैं। चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। मीमांसा दर्शन का भी यही मत है। मीमांसा आत्मा को नित्य और विभु मानती है। चैतन्य को उसका आगन्तुक धर्म मानती है। स्वप्न रहित निद्रा की तथा मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य गुणों से रहित होती है। सांख्य दर्शन में पुरुष को नित्य और विभु तथा चैतन्य स्वरूप माना गया है। इस दर्शन के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं है। पुरुष अकर्ता है। वह सुख-दुःख की अनुभूतियों से रहित है। बुद्धि कर्ता है, और सुख एवं दुःख के गुणों से युक्त है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है, और प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। इसके विपरीत पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। अद्वैत वेदान्त आत्मा को विशुद्ध सत्‌चित्त और आनन्द स्वरूप मानता है। सांख्य अनेक पुरुषों को मानता है, लेकिन ईश्वर को नहीं मानता। अद्वैत वेदान्त केवल एक ही आत्मा को सत्य मानता है। चार्वाक दर्शन आत्मा की सत्ता को नहीं मानता। वह चैतन्य विशिष्ट शरीर को ही आत्मा मानता है। बौद्ध-दर्शन आत्मा को ज्ञान, अनुभूति और संकल्पों की प्रत्येक क्षण में परिवर्तन होने वाली

सन्तान मानता है। इसके विपरीत जैन दर्शन आत्मा को नित्य, अजर और अमर स्वीकार करता है। ज्ञान आत्मा का विशिष्ट गुण है। जैन-दर्शन मानता है, कि आत्मा स्वभावतः अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त-शक्ति से युक्त है। इस दृष्टि से प्रत्येक भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसकी व्याख्या अपने ढंग से करता है।

भारतीय-दर्शनों में कर्मवाद :

कर्मवाद भारतीय दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। भारत के प्रत्येक दर्शन की शाखा ने इस कर्मवाद के सिद्धान्त पर भी गम्भीर विचार किया है। जीवन में जो सुख और दुःख की अनुभूति होती है, उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिए। इसका एक मात्र आधार कर्मवाद ही हो सकता है। इस संसार में जो विचित्रता और जो विविधता का दर्शन होता है, उसका आधार प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्म ही होता है। कर्मवाद के सम्बन्ध में जितना गम्भीर और विस्तृत विवेचन जैन-परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध है उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। एक चार्वाक-दर्शन को छोड़ कर शेष सभी भारतीय-दर्शन कर्मवाद के नियम में आस्था एवं विश्वास रखते हैं। कर्म का नियम नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाला कारण नियम ही है। इसका अर्थ यह है, कि शुभ कर्म का फल अनिवार्यतः सुख होता है, और अशुभ कर्म का फल अनिवार्यतः अशुभ होता है। अच्छा काम आत्मा में पुण्य उत्पन्न करता है जो कि सुखभोग का कारण बनता है। बुरा काम आत्मा में पाप उत्पन्न करता है, जो कि दुःखभोग का कारण बनता है। सुख और दुःख शुभ और अशुभ कर्मों के अनिवार्यतः फल हैं। इस नैतिक नियम की पकड़ से कोई भी छूट नहीं सकता। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म सूक्ष्म संस्कार छोड़ जाते हैं, जो निश्चय ही भावी सुख-दुःख के कारण बनते हैं। वे अवश्य ही समय आने पर अपने फल को उत्पन्न करते हैं। इन फलों का भोग निश्चय ही इस जन्म में अथवा भविष्य में किया जाना है। कर्म के नियम के कारण ही आत्मा को इस संसार में जन्म और मरण करना पड़ता है। जन्म और मरण का कारण कर्म ही है।

कर्म के नियम का बीज-रूप सर्वप्रथम ऋग्वेद की ऋत धारा में उपलब्ध होता है। ऋत का अर्थ है जगत की व्यवस्था एवं नियम। प्रकृति की प्रत्येक घटना अपने नियम के अनुसार ही होती है। प्रकृति के ये नियम ही ऋत हैं। आगे चलकर ऋत की धारणा में मनुष्य के नैतिक नियमों की व्यवस्था का भी समावेश हो गया था। उपनिषदों में भी इस प्रकार के विचार हमें बीज रूप में अथवा सूक्ष्म रूप में प्राप्त होते हैं। कुछ उपनिषदों में तो कर्म के नियम की भौतिक नियम के रुप में स्पष्ट धारणा की गई है। मनुष्य जैसा बोता है वैसा ही काटता है। अच्छे बुरे कर्मों का फल अच्छे बुरे रूप में ही मिलता है। शुभ कर्मों से अच्छा चरित्र बनता है और अशुभ कर्मों से बुरा। फिर अच्छे चरित्र से अच्छा जन्म मिलता है, और बुरे चरित्र से बुरा। उपनिषदों में कहा गया है, कि मनुष्य शुभ कर्म करने से धार्मिक बनता है और अशुभ कर्म करने से पापात्मा बनता है। संसार जन्म और मृत्यु का एक अनन्त चक्र है। मनुष्य अच्छे कर्म करके अच्छा जन्म पा सकता है, और अन्त में भेद-विज्ञान के द्वारा संसार से मुक्त भी हो सकता है।

जैन आगम और बौद्ध-पिटकों में भी कर्मवाद के शाश्वत नियमों को स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा में भगवान् ऋषभदेव के समय से ही कर्मवाद की मान्यता रही है। बौद्ध-दर्शन में भी कर्मवाद की मान्यता स्पष्ट रूप में नजर आती है। अतः बौद्ध-दर्शन भी कर्मवादी दर्शन रहा है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग तथा मीमांसा और वेदान्त-दर्शन में कर्म के नियम के सम्बन्ध में आस्था व्यक्त की गई है। इन दर्शनों का विश्वास है कि अच्छे अथवा बुरे काम अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं, जिसका विपाक होने में कुछ समय लगता है। उसके बाद उस व्यक्ति को सुख अथवा दुःख भोगना पड़ता है। कर्म का फल कुछ तो इस जीवन में मिलता है और कुछ अगले जीवन में। लेकिन कर्म के फल से कभी बचा नहीं जा सकता। भौतिक व्यवस्था पर कारण नियम का शासन है और नैतिक व्यवस्था पर कर्म के नियम का

शासन रहता है। परन्तु भौतिक व्यवस्था भी नैतिक व्यवस्था के ही उद्देश्य की पूर्ति करती है। इस प्रकार यह देखा जाता है, कि भारतीय-दर्शनों की प्रत्येक शाखा ने कर्मवाद के नियमों को स्वीकार किया है, और उसकी परिभाषा एवं व्याख्या भी अपनी-अपनी पद्धति से की है।

भारतीय-दर्शनों में परलोकवाद :

जब भारतीय-दर्शनों में आत्मा को अमर मान लिया गया है, और संसारी अवस्था में उसमें सुख एवं दुःख मान लिया गया है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सुख एवं दुःख का मूल आधार भी मान लिया जाये। और वह मूल आधार कर्मवाद के रूप में भारतीय-दर्शन ने स्वीकार किया। वर्तमान जीवन में आत्मा किस रूप में रहती है ? और उसकी स्थिति क्या होती है ? इस समस्या में से ही परलोकवाद का जन्म हुआ। परलोकवाद को जन्मान्तरवाद भी कहा जाता है। एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों का परलोकवाद एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। परलोकवाद अथवा जन्मान्तरवाद कर्मवाद के सिद्धान्त का फलित रूप है। कर्म का सिद्धान्त यह मांग करता है, कि शुभ कर्मों का शुभ फल मिले और अशुभ कर्मों का अशुभ फल। लेकिन सब कर्मों का फल इसी जीवन में मिलना संभव नहीं है। अतः कर्म फल को भोगने के लिए दूसरा जीवन आवश्यक है।

भारतीय-दर्शन के अनुसार यह संसार जन्म और मरण की अनादि शृंखला है। इस जन्म और मरण का कारण क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में सांख्य-दर्शन में कहा गया है कि प्रकृति और पुरुष का भेद-ज्ञान न होना ही इसका कारण है। न्याय और वैशेषिक-दर्शन में कहा गया कि अविद्या अथवा माया ही उसका मुख्य कारण है। बौद्ध-दर्शन में कहा गया, कि वासना के कारण ही जन्म और मरण होता है। जैन-दर्शन में कहा गया, कि कर्मबद्ध संसारी आत्मा का जो बार-बार जन्म और मरण होता है, उसके पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व-भाव, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा शुभ और अशुभ योग। सामान्य भाषा में जब तत्व ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है, तब संसार का भी नाश हो जाता है। भारतीय-दर्शनों में यह भी कहा गया है, कि संसार एक बन्धन है, इस बन्धन का आत्यन्तिक नाश आत्मा के शुद्ध स्वरूप मोक्ष से ही होता है। बन्धन का कारण अज्ञान है, और इसी से संसार की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत मोक्ष का कारण तत्व-ज्ञान है। तत्व-ज्ञान के हो जाने पर संसार का भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार तत्व-ज्ञान और उसका विपरीत भाव अज्ञान, अविद्या, माया, वासना और कर्म को माना गया है।

जन्मान्तर, भवान्तर, पुनर्जन्म और परलोक का अर्थ है—मृत्यु के बाद आत्मा का दूसरा शरीर धारण करना। चार्वाक-दर्शन ने यह माना था कि शरीर के नाश के साथ ही चेतना शक्ति का भी नाश हो जाता है। परन्तु आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाले दार्शनिकों का कहना है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। इस वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा बनी रहती है। और पूर्व-कृत कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा को दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। दूसरा जन्म धारण करना ही पुनर्जन्म कहा जाता है। पशु, पक्षी, मनुष्य और नारक देव आदि अनेक प्रकार के जन्म ग्रहण करना यह संसारी आत्मा का आवश्यक परिणाम है। आत्मा अनेक जन्म तभी ग्रहण कर सकती है जब वह नित्य और अविच्छिन्न हो। सभी आस्तिक दर्शन आत्मा की नित्यता को स्वीकार करते हैं।

चार्वाक-दर्शन शरीर, प्राण अथवा मन से भिन्न आत्मा जैसी नित्य वस्तु को स्वीकार नहीं करता। अतः उसके मत में जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म जैसी वस्तु मान्य नहीं है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को क्षणिक विज्ञानों की एक सन्तति मात्र मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा क्षण-क्षण में बदलती है। जो आत्मा पूर्व क्षण में थी, वह उत्तर क्षण में नहीं रहती। इस प्रकार नदी के प्रवाह के समान वे चित्त सन्तति के प्रवाह को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा की सन्तति नित्य प्रवहमान रहती है। इस प्रकार क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर भी वे जन्मान्तर और पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार एक विज्ञान सन्तान का अन्तिम विज्ञान सभी पूर्व विज्ञानों की वासनाओं

को आत्म सात करता है और एक नया शरीर धारण कर लेता है। बौद्ध मत के अनुसार वासना को संस्कार भी कहा गया है। इस प्रकार बौद्ध-दार्शनिक आत्मा को नित्यता तो नहीं मानते लेकिन विज्ञान-सन्तान की अविच्छिन्नता को अवश्य ही स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक आत्मा को केवल नित्य नहीं, परिणामी नित्य मानते हैं। आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य है, और पर्याय दृष्टि से अनित्य। क्योंकि पर्याय प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसके बदलने पर भी द्रव्य का द्रव्यत्व कभी नष्ट नहीं होता। जैन-दार्शनिक पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कर्मो के अनुसार अनेक गति एवं योनियों को प्राप्त होती रहती है। जैसे कोई एक आत्मा, जो आज मनुष्य शरीर में है, भविष्य में वह अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार देव और नारक भी बन सकता है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म को धारण करना इसी को जन्मान्तर अथवा भवान्तर कहा जाता है। इस प्रकार समस्त आस्तिक भारतीय-दार्शनिक परम्पराएँ पुनर्जन्म को स्वीकार करती हैं।

भारतीय दर्शन में मोक्ष एवं निर्वाण :

आस्तिक दार्शनिकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ, कि क्या कभी आत्मा की इस प्रकार की स्थिति भी होगी, कि उसका पुनर्जन्म अथवा जन्मान्तर मिट जाये ? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है, कि मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण ही वह स्थिति है, जहाँ पहुँच कर आत्मा का जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म मिट जाता है। यही कारण है, कि आत्मा की अमरता में आस्था रखने वाले आस्तिक दर्शनों ने मोक्ष की स्थिति को एक स्वर से स्वीकार किया है। चार्वाक-दर्शन का कहना है, कि मरण ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है। मोक्ष का सिद्धान्त सभी आस्तिक भारतीय दार्शनिकों को मान्य है। भौतिकवादी होने के कारण एक चार्वाक ही उसे स्वीकार नहीं करता। क्योंकि आत्मा को वह शरीर से भिन्न सत्ता नहीं मानता। अतः उसके दर्शन में आत्मा के मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। चार्वाक की दृष्टि में इस जीवन में और इसी लोक में सुखभोग करना मोक्ष है। इससे भिन्न इस प्रकार के मोक्ष की कल्पना वह कर ही नहीं सकता जिसमें आत्मा एक लोकातीत अवस्था को प्राप्त हो जाती है।

बौद्ध-दर्शन में आत्मा की इस लोकातीत अवस्था को मोक्ष न कहकर निर्वाण कहा गया है। यद्यपि निर्वाण शब्द जैन ग्रन्थों में भी बहुलता से उपलब्ध होता है, फिर भी इसका प्रयोग बौद्ध-दर्शन में ही अधिक रूढ़ है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार निर्वाण शब्द सब गुणों के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था को अभिव्यक्त करता है। निर्वाण शब्द का अर्थ है—बुझ जाना। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि निर्वाण में आत्मा का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार इसमें आत्यन्तिक विनाश तो अवश्य होता है, लेकिन दुःख का होता है, न कि आत्म-सन्तति का। कुछ बौद्ध-दार्शनिक निर्वाण को विशुद्ध आनन्द की अवस्था मानते हैं। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन क्षणिकवादी होकर भी जन्मान्तर और निर्वाण को स्वीकार करता है।

जैन-दार्शनिक प्रारम्भ से ही मोक्षवादी रहे हैं। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा की स्वाभाविक अवस्था ही मोक्ष है। अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-शक्ति का प्रकट होना ही मोक्ष है। आत्मा अपनी विशुद्ध अवस्था को तब प्राप्त करता है, जबकि वह सम्यक-दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की साधना के द्वारा कर्म पुद्गल के आवरण को सर्वथा नष्ट कर देता है। जैन परम्परा के महान् अध्यात्मवादी आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने समयसार में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'एक व्यक्ति लम्बे समय से कारागृह में पड़ा हो और अपने बन्धन की तीव्रता और मन्दता को तथा बन्धन के काल को भली-भाँति समझता हो परन्तु जब तक वह अपने बन्धन के वशीभूत होकर उसका छेदन नहीं करता, तब तक लम्बा समय हो जाने पर भी वह छूट नहीं सकता। इसी प्रकार कोई मनुष्य अपने कर्म बन्धन का प्रदेश, स्थिति और प्रकृति तथा अनुभाग को भली-भाँति समझता हो, तो भी इतने मात्र से वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। वही आत्मा यदि राग एवं द्वेष आदि को दूर हटा कर विशुद्ध हो जाये, तो मोक्ष प्राप्त कर

शासन रहता है। परन्तु भौतिक व्यवस्था भी नैतिक व्यवस्था के ही उद्देश्य की पूर्ति करती है। इस प्रकार यह देखा जाता है, कि भारतीय-दर्शनों की प्रत्येक शाखा ने कर्मवाद के नियमों को स्वीकार किया है, और उसकी परिभाषा एवं व्याख्या भी अपनी-अपनी पद्धति से की है।

भारतीय-दर्शनों में परलोकवाद :

जब भारतीय-दर्शनों में आत्मा को अमर मान लिया गया है, और संसारी अवस्था में उसमें सुख एवं दुःख मान लिया गया है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सुख एवं दुःख का मूल आधार भी मान लिया जाये। और वह मूल आधार कर्मवाद के रूप में भारतीय-दर्शन ने स्वीकार किया। वर्तमान जीवन में आत्मा किस रूप में रहती है ? और उसकी स्थिति क्या होती है ? इस समस्या में से ही परलोकवाद का जन्म हुआ। परलोकवाद को जन्मान्तरवाद भी कहा जाता है। एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों का परलोकवाद एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। परलोकवाद अथवा जन्मान्तरवाद कर्मवाद के सिद्धान्त का फलित रूप है। कर्म का सिद्धान्त यह माँग करता है, कि शुभ कर्मों का शुभ फल मिले और अशुभ कर्मों का अशुभ फल। लेकिन सब कर्मों का फल इसी जीवन में मिलना संभव नहीं है। अतः कर्म फल को भोगने के लिए दूसरा जीवन आवश्यक है।

भारतीय-दर्शन के अनुसार यह संसार जन्म और मरण की अनादि शृंखला है। इस जन्म और मरण का कारण क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में सांख्य-दर्शन में कहा गया है कि प्रकृति और पुरुष का भेद-ज्ञान न होना ही इसका कारण है। न्याय और वैशेषिक-दर्शन में कहा गया कि अविद्या अथवा माया ही उसका मुख्य कारण है। बौद्ध-दर्शन में कहा गया, कि वासना के कारण ही जन्म और मरण होता है। जैन-दर्शन में कहा गया, कि कर्मबद्ध संसारी आत्मा का जो बार-बार जन्म और मरण होता है, उसके पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व-भाव, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा शुभ और अशुभ योग। सामान्य भाषा में जब तत्व ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है, तब संसार का भी नाश हो जाता है। भारतीय-दर्शनों में यह भी कहा गया है, कि संसार एक बन्धन है, इस बन्धन का आत्यन्तिक नाश आत्मा के शुद्ध स्वरूप मोक्ष से ही होता है। बन्धन का कारण अज्ञान है, और इसी से संसार की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत मोक्ष का कारण तत्व-ज्ञान है। तत्व-ज्ञान के हो जाने पर संसार का भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार तत्व-ज्ञान और उसका विपरीत भाव अज्ञान, अविद्या, माया, वासना और कर्म को माना गया है।

जन्मान्तर, भवान्तर, पुनर्जन्म और परलोक का अर्थ है—मृत्यु के बाद आत्मा का दूसरा शरीर धारण करना। चार्वाक-दर्शन ने यह माना था कि शरीर के नाश के साथ ही चेतना शक्ति का भी नाश हो जाता है। परन्तु आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाले दार्शनिकों का कहना है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। इस वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा बनी रहती है। और पूर्व-कृत कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा को दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। दूसरा जन्म धारण करना ही पुनर्जन्म कहा जाता है। पशु, पक्षी, मनुष्य और नारक देव आदि अनेक प्रकार के जन्म ग्रहण करना यह संसारी आत्मा का आवश्यक परिणाम है। आत्मा अनेक जन्म तभी ग्रहण कर सकती है जब वह नित्य और अविच्छिन्न हो। सभी आस्तिक दर्शन आत्मा की नित्यता को स्वीकार करते हैं।

चार्वाक-दर्शन शरीर, प्राण अथवा मन से भिन्न आत्मा जैसी नित्य वस्तु को स्वीकार नहीं करता। अतः उसके मत में जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म जैसी वस्तु मान्य नहीं है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को क्षणिक विज्ञानों की एक सन्तति मात्र मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा क्षण-क्षण में बदलती है। जो आत्मा पूर्व क्षण में थी, वह उत्तर क्षण में नहीं रहती। इस प्रकार नदी के प्रवाह के समान वे चित्त सन्तति के प्रवाह को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा की सन्तति नित्य प्रवहमान रहती है। इस प्रकार क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर भी वे जन्मान्तर और पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार एक विज्ञान सन्तान का अन्तिम विज्ञान सभी पूर्व विज्ञानों की वासनाओं

को आत्म सात करता है और एक नया शरीर धारण कर लेता है। बौद्ध मत के अनुसार वासना को संस्कार भी कहा गया है। इस प्रकार बौद्ध-दार्शनिक आत्मा की नित्यता तो नहीं मानते लेकिन विज्ञान-सन्तान की अविच्छिन्नता को अवश्य ही स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक आत्मा को केवल नित्य नहीं, परिणामी नित्य मानते हैं। आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य है, और पर्याय दृष्टि से अनित्य। क्योंकि पर्याय प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसके बदलने पर भी द्रव्य का द्रव्यत्व कभी नष्ट नहीं होता। जैन-दार्शनिक पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों के अनुसार अनेक गति एवं योनियों को प्राप्त होती रहती है। जैसे कोई एक आत्मा, जो आज मनुष्य शरीर में है, भविष्य में वह अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव और नारक भी बन सकता है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म को धारण करना इसी को जन्मान्तर अथवा भवान्तर कहा जाता है। इस प्रकार समस्त आस्तिक भारतीय-दार्शनिक परम्पराएँ पुनर्जन्म को स्वीकार करती हैं।

भारतीय दर्शन में मोक्ष एवं निर्वाण :

आस्तिक दार्शनिकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ, कि क्या कभी आत्मा की इस प्रकार की स्थिति भी होगी, कि उसका पुनर्जन्म अथवा जन्मान्तर मिट जाये? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है, कि मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण ही वह स्थिति है, जहाँ पहुँच कर आत्मा का जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म मिट जाता है। यही कारण है, कि आत्मा की अमरता में आस्था रखने वाले आस्तिक दर्शनों ने मोक्ष की स्थिति को एक स्वर से स्वीकार किया है। चार्वाक-दर्शन का कहना है, कि मरण ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है। मोक्ष का सिद्धान्त सभी आस्तिक भारतीय दार्शनिकों को मान्य है। भौतिकवादी होने के कारण एक चार्वाक ही उसे स्वीकार नहीं करता। क्योंकि आत्मा को वह शरीर से भिन्न सत्ता नहीं मानता। अतः उसके दर्शन में आत्मा के मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। चार्वाक की दृष्टि में इस जीवन में और इसी लोक में सुखभोग करना मोक्ष है। इससे भिन्न इस प्रकार के मोक्ष की कल्पना वह कर ही नहीं सकता जिसमें आत्मा एक लोकातीत अवस्था को प्राप्त हो जाती है।

बौद्ध-दर्शन में आत्मा की इस लोकातीत अवस्था को मोक्ष न कहकर निर्वाण कहा गया है। यद्यपि निर्वाण शब्द जैन ग्रन्थों में भी बहुलता से उपलब्ध होता है, फिर भी इसका प्रयोग बौद्ध-दर्शन में ही अधिक रूढ़ है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार निर्वाण शब्द सब गुणों के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था को अभिव्यक्त करता है। निर्वाण शब्द का अर्थ है—बुझ जाना। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि निर्वाण में आत्मा का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार इसमें आत्यन्तिक विनाश तो अवश्य होता है, लेकिन दुःख का होता है, न कि आत्म-सन्तति का। कुछ बौद्ध-दार्शनिक निर्वाण को विशुद्ध आनन्द की अवस्था मानते हैं। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन क्षणिकवादी होकर भी जन्मान्तर और निर्वाण को स्वीकार करता है।

जैन-दार्शनिक प्रारम्भ से ही मोक्षवादी रहे हैं। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा की स्वाभाविक अवस्था ही मोक्ष है। अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-शक्ति का प्रकट होना ही मोक्ष है। आत्मा अपनी विशुद्ध अवस्था को तब प्राप्त करता है, जबकि वह सम्यक-दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की साधना के द्वारा कर्म पुद्गल के आवरण को सर्वथा नष्ट कर देता है। जैन परम्परा के महान् अध्यात्मवादी आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने समयसार में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'एक व्यक्ति लम्बे समय से कारागृह में पड़ा हो और अपने बन्धन की तीव्रता और मन्दता को तथा बन्धन के काल को भली-भाँति समझता हो परन्तु जब तक वह अपने बन्धन के वशीभूत होकर उसका छेदन नहीं करता, तब तक लम्बा समय हो जाने पर भी वह छूट नहीं सकता। इसी प्रकार कोई मनुष्य अपने कर्म बन्धन का प्रदेश, स्थिति और प्रकृति तथा अनुभाग को भली-भाँति समझता हो, तो भी इतने मात्र से वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। वही आत्मा यदि राग एवं द्वेष आदि को दूर हटा कर विशुद्ध हो जाये, तो मोक्ष प्राप्त कर

सकता है।[1] वन्धन का विचार करने मात्र से वन्ध से छुटकारा नहीं मिलता है। छुटकारा पाने के लिए वन्ध का और आत्मा का स्वभाव भली-भाँति समझ कर वन्ध से विरक्त होना चाहिए। जीव और वन्ध के अलग-अलग लक्षण समझ कर प्रज्ञा रूपी धुरी से उन्हें अलग करना चाहिए, तभी वन्ध छूटता है। वन्ध को छेदकर आत्म-स्वरूप में स्थित होना चाहिए। आत्म-स्वरूप को किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहा गया है, कि मुमुक्ष को आत्मा का इस प्रकार विचार करना चाहिए—'मैं चेतन स्वरूप हूँ, मैं दृष्टा हूँ, मैं ज्ञाता हूँ शेष जो कुछ भी है, वह मुझसे भिन्न है। शुद्ध आत्मा को समझने वाला व्यक्ति समस्त पर-भावों को परकीय जानकर उनसे अलग हो जाता है। यह परभाव से अलग हो जाना ही वास्तविक मोक्ष है।"[2] इस प्रकार जैन-दर्शन में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

सांख्य-दर्शन मोक्ष को प्रकृति और पुरुष का विवेक मानता है। विवेक एक प्रकार का वेदज्ञान है। इसके विपरीत वन्ध प्रकृति और पुरुष का अविवेक है। पुरुष नित्य और मुक्त है। अपने अविवेक के कारण वह प्रकृति और उसके विकारों से अपना तादात्म्य मान लेता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार ये सब प्रकृति के विकार हैं। लेकिन अविवेक के कारण पुरुष इन्हें अपना समझ वैठता है। मोक्ष पुरुष की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति है। वन्ध एक प्रतीति मात्र है और इसका कारण अविवेक है। योग दर्शन मोक्ष को आत्मा का कैवल्य मानता है। कैवल्य आत्मा के प्रकृति के जाल से छूट जाने की एक अवस्था विशेष है। आत्मा को इस अवस्था की प्राप्ति तव होती है, जब तप और संयम के द्वारा मन से सब कर्म-संस्कार निकल जाते हैं। सांख्य और योग मोक्ष में पुरुष की चिन्हमात्र अवस्थिति मानते हैं। इस अवस्था में वह सुख और दुःख से सर्वथा अतीत हो जाता है। क्योंकि सुख और दुःख तो बुद्धि की वृत्तियाँ मात्र हैं। इन वृत्तियों का आत्यन्तिक अभाव ही सांख्य और योग दर्शन में मुक्ति है।

न्याय और वैशेषिक-दर्शन मोक्ष को आत्मा की वह अवस्था मानते हैं, जिसमें वह मन और शरीर से अत्यन्त विमुक्त हो जाता है और सत्ता मात्र रह जाता है। मोक्ष आत्मा की अचेतन अवस्था है, क्योंकि चैतन्य तो उसका एक आगन्तुक धर्म है, स्वरूप नहीं। आत्मा का शरीर और मन से संयोग होने पर उसमें चैतन्य का उदय होता है। अतः मोक्ष की अवस्था में इनसे वियोग होने पर चैतन्य भी चला जाता है। मोक्ष की प्राप्ति तत्व-ज्ञान से होती है यह दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था है।

मीमांसा-दर्शन में भी मोक्ष को आत्मा की स्वाभाविक-अवस्था की प्राप्ति माना गया है जिसमें सुख और दुःख का अत्यन्त विनाश हो जाता है। अपनी स्वाभाविक अवस्था में आत्मा अचेतन होता है। मोक्ष दुःख के आत्यन्तिक अभाव की अवस्था है। लेकिन इसमें आनन्द की अनुभूति नहीं होती। आत्मा स्वभावतः सुख और दुःख से अतीत है। मोक्ष की अवस्था में ज्ञान-शक्ति तो रहती है, लेकिन ज्ञान नहीं रहता।

अद्वैत वेदान्त मोक्ष को जीवात्मा और ब्रह्म के एकीभाव की उपलब्धि मानता है। क्योंकि परमार्थतः आत्मा ब्रह्म ही है। आत्मा विशुद्ध, सत्, चित और आनन्द स्वरूप है। बन्ध मिथ्या है। अविद्या एवं माया ही इसका कारण है। आत्मा अविद्या के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है, जो वस्तुतः माया निर्मित है। वेदान्त दर्शन के अनुसार यही मिथ्या तादात्म्य वन्ध का कारण है। अविद्या से आत्मा का वन्धन होता है और विद्या से इस वन्धन की मुक्ति होती है। मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। यह न चैतन्य रहित अवस्था है, और न दुःखाभाव मात्र की अवस्था है, बल्कि सत्‌चित् और आनन्द की ब्रह्म-अवस्था है। यही जीवात्मा के ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। इस प्रकार मोक्ष की धारणा समस्त भारतीय-दर्शनों में उपलब्ध होती है। वास्तव में मोक्ष की

१—समयसार, २८८-९३.

२—समयसार, २९४-३००.

प्राप्ति दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य है। भारत के सभी दर्शनों में इसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है और अपनी पद्धति से प्रत्येक ने उसकी व्याख्या की है।

भारतीय-दर्शनों में जिन तथ्यों का निरूपण किया गया है उन सबका जीवन के साथ निकट का सम्बन्ध रहा है। भारतीय दार्शनिकों ने मानव जीवन के समक्ष ऊँचे से ऊँचे आदर्श प्रस्तुत किये हैं। वे आदर्श केवल आदर्श ही नहीं रहते, उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न भी किया जाता है। इसके लिए विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार की साधनाओं का भी प्रतिपादन किया है। ये साधन तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग। जैन-दर्शन में इन्हीं को रत्न-त्रय—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र कहा जाता है। बौद्ध-दर्शन में इन्हें प्रज्ञा, शील और समाधि कहा गया है। इन तीनों की साधना से प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में उच्च से उच्चतर एवं उच्चतम आदर्शों को भी प्राप्त कर सकता है। दर्शन का सम्बन्ध केवल बुद्धि से ही नहीं है, बल्कि हृदय और क्रिया से भी है। यही कारण है, कि भारतीय-दर्शन की परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक-सम्प्रदाय ने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण पर बल दिया है। भारतीय दर्शन केवल बौद्धिक विलास मात्र नहीं है, अपितु वह जीवन की वास्तविक स्थिति का प्रतिपादन करता है। अतः वह वास्ताविक अर्थ में दर्शन एवं धर्म है।

सूत्रकृतांग सूत्र : एक अनुचिन्तन

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों को मान्य है, तथा बौद्ध परम्परा में जो स्थान पिटकों का माना गया है, जैन परम्परा में वही स्थान आगमों का है। जैन परम्परा, इतिहास और संस्कृति की विशेष निधि आगम-शास्त्र ही है। आगमों में जो सत्य मुखरित हुआ है, वह युग युगान्तर से चला आया है। इसमें दो मत नहीं हो सकते। परन्तु इस मान्यता में जरा भी सार नहीं है कि उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। भाव-भेद, भाषा-भेद और शैली-भेद आगमों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मान्यता-भेद भी कहीं-कहीं पर उपलब्ध हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण है—समाज और जीवन का विकास। जैसे-जैसे समाज का विकास होता रहा, वैसे-वैसे आगमों के पृष्ठों पर विचार-भेद उभरते रहे है। आगमों की निर्युक्तियों में, आगमों के भाष्यों में, आगमों की चूर्णियों में और आगमों की टीकाओं में तो विचार-भेद अत्यन्त स्पष्ट है। मूल आगमों में भी युग-भेद के कारण से विचार-भेद को स्थान मिला है। और यह सहज था। अन्यथा, उनके टीकाकारों में इतने भेद कहाँ से प्रकट हो पाते।

आगमों की रचना का काल :

आधुनिक पाश्चात्य विचारकों ने भी इस बात को स्वीकारा है कि भले ही देवर्द्धिगणी ने पुस्तक लेखन करके आगमों के संरक्षण कार्य को आगे बढ़ाया, किन्तु निश्चय ही वे उनके कर्ता नहीं हैं। आगम तो प्राचीन ही हैं। देवर्द्धिगणी ने तो केवल उनका संकलन और संपादन ही किया है। यह माना जा सकता है कि आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, पर उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्द्धिगणी का काल नहीं हो सकता। सामान्य रूप में विद्वानों ने अंग आगमों का काल पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना इतिहासकारों के अनुसार भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद पंचम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के काल में हुई। और उसका काल है ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का द्वितीय दशक। अतएव आगम संकलन का काल लगभग ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पाँचवी शताब्दी तक माना जा सकता है। लगभग हजार वर्ष अथवा बारह सौ वर्षों का समय आगम संकलना का काल रहा है। कुछ विद्वान इस लेखन के काल का और अंग आगमों के रचना के काल का सम्मिश्रण कर देते हैं। और इस लेखन को आगमों का रचना काल मान लेते हैं। अंग आगम भगवान महावीर का उपदेश है और उसके आधार पर उनके गणधरों ने अंगों की रचना की है। अतः आगमों की संरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के काल से माना जाना चाहिए। उसमें जो प्रक्षेप अंश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारों से किया जा सकता है।

अंग आगमों में सर्वाधिक प्राचीन आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने में किसी भी विद्वान को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। सूत्रकृतांग सूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध में यही समझा जाना चाहिए। स्थानांग सूत्र और समवायांग सूत्र में कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते हैं, जिनकी नवता और पुरातनता के सम्बन्ध में आगमों के विशिष्ट विद्वानों को गम्भीरतापूर्वक विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अंगबाह्य आगम :

अंग-बाह्य आगमों में उपांग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अंगबाह्य आगम गणधरों की रचना नहीं है अतः उनका काल निर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अंग बाह्यों में प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उनका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण सम्वत् ३३५ में 'युग प्रधान' पद मिला और ३७६ तक वे युग प्रधान रहे। अतः प्रज्ञापना सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है।

छेद सूत्रों में दशा श्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ने की थी। आचार्य भद्रबाहु का समय ईसा पूर्व ३५७ के आस-पास निश्चित है। अतः उनके द्वारा रचित इन तीनों छेद सूत्रों का भी समय वही होना चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि द्वितीय आचारांग की चार चूलाएँ और पंचम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की रचना है। मूल सूत्रों में दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यंभव ने की है। इसमें किसी भी विद्वान को विप्रतिपति नहीं रही। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचारांग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचारांग का विषय और दशवैकालिक का विषय लगभग एक जैसा ही है। भेद केवल है, तो संक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एवं विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनों की करीब-करीब समान ही है।

उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध में दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक आचार्य की कृति नहीं, किन्तु संकलन है। दूसरा मत यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र जिसकी पर्युषणा कल्प के रूप में वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अंग बाह्य आगमों के सम्बन्ध में भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अंगों का क्रम :

एकादश अंगों के क्रम में सर्वप्रथम आचारांग है। आचारांग को क्रम में सर्वप्रथम स्थान देना तर्क-संगत भी है और परम्परा प्राप्त भी है। क्योंकि संघ-व्यवस्था में सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार संहिता की मानव जीवन में प्राथमिकता रही है। अतः आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने में प्रथम हेतु है उसका विषय; दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अंगों के नाम आये हैं उनके क्रम की योजना के मूल में अथवा वृत्ति में आचांराग के नाम ही सबसे पहले आया है। आचारांग के बाद जो सूत्रकृतांग आदि नाम आये हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की, इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नहीं हैं। इतना अवश्य है कि सचेलक एवं अचेलक दोनों परम्पराओं में अंगों का एक ही क्रम है।

सूत्रकृतांग सूत्र में विचार पक्ष मुख्य है और आचार पक्ष गौण। जबकि आचारांग में आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचार पक्ष को और एकान्त आचार पक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचारांग में भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप में अथवा बीज रूप में विद्यमान है। तथापि आचार की प्रबलता ही उसमें

मुख्य है। सूत्रकृतांग में प्रायः सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृतांग की तुलना बौद्ध परम्परा मान्य 'अभिधम्म पिटक' से की जा सकती है। जिसमें बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित ६२ मतों का यथाप्रसंग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है।

सूत्रकृतांग सूत्र में स्व-समय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारों के अनुसार इस में ३६३ मतों का खण्डन किया गया है। समवायांग सूत्र में सूत्रकृतांग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमें स्वसमय, पर-समय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वों के विषय में कथन किया गया है। १८० क्रिया-वादी मतों की, ८४ अक्रियावादी मतों की, ६७ अज्ञानवादी मतों की एवं ३२ विनयवादी मतों की, इस प्रकार सव मिलाकर ३६३ अन्य यूथिक मतों की परिचर्चा की है। श्रमण सूत्र में सूत्रकृतांग के २३ अध्ययनों का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ७। नन्दी सूत्र में कहा गया है कि सूत्रकृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है। तथा क्रियावादी आदि ३६३ पाखण्डियों के मतों का खण्डन किया गया है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार, धर्म एवं विभिन्न क्रियाओं का निरूपण है।

सूत्रकृतांग सूत्र का संक्षिप्त परिचय :

जैन परम्परा द्वारा मान्य अंग सूत्रों में सूत्रकृतांग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्व आचारांग से अधिक है। भगवान महावीर के युग में प्रचलित मत-मतान्तरों का वर्णन इसमें विस्तृत रूप से हुआ है। सूत्र-कृतांग का वर्तमान समय में जो संस्करण उपलब्ध है, उसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं—प्रथम श्रुत-स्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम में सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय में सात अध्ययन। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक हैं—पहले में २७ गाथाएँ हैं, दूसरे में ३२, तीसरे में १६ तथा चौथे में १३ हैं। इसमें वीतराग के अहिंसा-सिद्धान्त को वताते हुए अन्य वहुत से मतों का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन में तीन उद्देशक हैं। पहले में २२ गाथाएँ, दूसरे में ३२ तथा तीसरे में २२। वैतालीय छन्द में रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमें मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक हैं। पहले में १७ गाथाएँ हैं, दूसरे में २२, तीसरे में २१ तथा चौथे में २२। इसमें उपसर्ग अर्थात् संयमी जीवन में आने वाली विघ्न बाधाओं का वर्णन है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले की ३१ गाथाएँ हैं और दूसरे की २२। इसमें साधकों के प्रति स्त्रियों द्वारा उपस्थित किये जाने वाले ब्रह्मचर्य घातक विघ्नों का वर्णन है। पाँचवे निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले में २७ गाथाएँ और दूसरे में २५। दोनों में नरक के दुःखों का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नहीं है। इसमें २९ गाथाओं में भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। सातवें कुशील-परिभाषित अध्ययन में ३० गाथाएँ हैं, जिसमें कुशील एवं चरित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवें वीर्य अध्ययन में २६ गाथाएँ हैं, इसमें वीर्य अर्थात् शुभ एवं अशुभ प्रयत्न का स्वरूप वतलाया गया है। नवमें धर्म अध्ययन में ३६ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवें समाधि अध्ययन में २४ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म में समाधि अर्थात् धर्म में स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवें मार्ग अध्ययन में ३८ गाथाएँ हैं। जिसमें संसार के वन्धनों से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग वताया गया है। वारहवें समवसरण अध्ययन में २२ गाथाएँ हैं, जिसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतों की विचारणा की गई है। तेरहवें याथातथ्य अध्ययन में २३ गाथाएँ हैं, जिसमें मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवें ग्रन्थ अध्ययन में २७ गाथाएँ हैं, जिसमें ज्ञान प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें आदानीय अध्ययन में २५ गाथाएँ हैं, जिसमें भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य में है, जिसमें भिक्षु अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

अंग आगमों में सर्वाधिक प्राचीन आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध माना जाता है। इस सत्य को स्वीकार करने में किसी भी विद्वान को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। सूत्रकृतांग सूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध में यही समझा जाना चाहिए। स्थानांग सूत्र और समवायांग सूत्र में कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते हैं, जिनकी नवता और पुरातनता के सम्बन्ध में आगमों के विशिष्ट विद्वानों को गम्भीरतापूर्वक विचार करके निर्णय करना चाहिए।

अंगवाह्य आगम :

अंग-वाह्य आगमों में उपांग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है। अंगवाह्य आगम गणधरों की रचना नहीं है अतः उनका काल निर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए। अंग वाह्यों में प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं। अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उनका रचना समय है। आर्य श्याम को वीर निर्वाण सम्वत् ३३५ में 'युग प्रधान' पद मिला और ३७६ तक वे युग प्रधान रहे। अतः प्रज्ञापना सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है।

छेद सूत्रों में दशा श्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रवाहु ने की थी। आचार्य भद्रबाहु का समय ईसा पूर्व ३५७ के आस-पास निश्चित है। अतः उनके द्वारा रचित इन तीनों छेद सूत्रों का भी समय वही होना चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि द्वितीय आचारांग की चार चूलाएँ और पंचम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रवाहु की रचना है। मूल सूत्रों में दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यंभव ने की है। इसमें किसी भी विद्वान को विप्रतिपति नहीं रही। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचारांग और निशीथ से पहले की माननी होगी। द्वितीय आचारांग का विषय और दशवैकालिक का विषय लगभग एक जैसा ही है। भेद केवल है, तो संक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एवं विषय की व्यवस्था का। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनों की करीव-करीव समान ही है।

उत्तराध्ययन सूत्र के सम्वन्ध में दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक आचार्य की कृति नहीं, किन्तु संकलन है। दूसरा मत यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। कल्पसूत्र जिसकी पर्युषणा कल्प के रूप में वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रवाहु की ही कृति है। इस प्रकार अन्य अंग वाह्य आगमों के सम्बन्ध में भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है।

अंगों का क्रम :

एकादश अंगों के क्रम में सर्वप्रथम आचारांग है। आचारांग को क्रम में सर्वप्रथम स्थान देना तर्क-संगत भी है और परम्परा प्राप्त भी है। क्योंकि संघ-व्यवस्था में सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है। आचार संहिता की मानव जीवन में प्राथमिकता रही है। अतः आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने में प्रथम हेतु है उसका विषय; दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अंगों के नाम आये हैं उनके क्रम की योजना के मूल में अथवा वृत्ति में आचारांग के नाम ही सबसे पहले आया है। आचारांग के वाद जो सूत्रकृतांग आदि नाम आये हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की, इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नहीं हैं। इतना अवश्य है कि सचेलक एवं अचेलक दोनों परम्पराओं में अंगों का एक ही क्रम है।

सूत्रकृतांग सूत्र में विचार पक्ष मुख्य है और आचार पक्ष गौण। जवकि आचारांग में आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता। जैन परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचार पक्ष को और एकान्त आचार पक्ष को अस्वीकार करती रही है। विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है। यद्यपि आचारांग में भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप में अथवा वीज रूप में विद्यमान है। तथापि आचार की प्रवलता ही उसमें

मुख्य है। सूत्रकृतांग में प्राय: सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृतांग की तुलना वौद्ध परम्परा मान्य 'अभिधम्म पिटक' से की जा सकती है। जिसमें वुद्ध ने अपने युग में प्रचलित ६२ मतों का यथाप्रसंग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है।

सूत्रकृतांग सूत्र में स्व-समय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारों के अनुसार इस में ३६३ मतों का खण्डन किया गया है। समवायांग सूत्र में सूत्रकृतांग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमें स्वसमय, पर-समय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वों के विषय में कथन किया गया है। १८० क्रियावादी मतों की, ८४ अक्रियावादी मतों की, ६७ अज्ञानवादी मतों की एवं ३२ विनयवादी मतों की, इस प्रकार सव मिलाकर ३६३ अन्य यूथिक मतों की परिचर्चा की है। श्रमण सूत्र में सूत्रकृतांग के २३ अध्ययनों का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ७। नन्दी सूत्र में कहा गया है कि सूत्रकृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है। तथा क्रियावादी आदि ३६३ पाखण्डियों के मतों का खण्डन किया गया है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार, धर्म एवं विभिन्न क्रियाओं का निरूपण है।

सूत्रकृतांग सूत्र का संक्षिप्त परिचय :

जैन परम्परा द्वारा मान्य अंग सूत्रों में सूत्रकृतांग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्व आचारांग से अधिक है। भगवान महावीर के युग में प्रचलित मत-मतान्तरों का वर्णन इसमें विस्तृत रूप से हुआ है। सूत्र-कृतांग का वर्तमान समय में जो संस्करण उपलब्ध है, उसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं—प्रथम श्रुतस्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम में सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय में सात अध्ययन। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक हैं—पहले में २७ गाथाएँ हैं, दूसरे में ३२, तीसरे में १६ तथा चौथे में १३ हैं। इसमें वीतराग के अहिंसा-सिद्धान्त को वताते हुए अन्य बहुत से मतों का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन में तीन उद्देशक हैं। पहले में २२ गाथाएँ, दूसरे में ३२ तथा तीसरे में २२। वैतालीय छन्द में रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमें मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक हैं। पहले में १७ गाथाएँ हैं, दूसरे में २२, तीसरे में २१ तथा चौथे में २२। इसमें उपसर्ग अर्थात् संयमी जीवन में आने वाली विघ्न वाधाओं का वर्णन है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले की ३१ गाथाएँ हैं और दूसरे की २२। इसमें साधकों के प्रति स्त्रियों द्वारा उपस्थित किये जाने वाले ब्रह्मचर्य घातक विघ्नों का वर्णन है। पाँचवे निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले में २७ गाथाएँ और दूसरे में २५। दोनों में नरक के दुःखों का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नहीं है। इसमें २६ गाथाओं में भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। सातवें कुशील-परिभाषित अध्ययन में ३० गाथाएँ हैं, जिसमें कुशील एवं चरित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवें वीर्य अध्ययन में २६ गाथाएँ हैं, इसमें वीर्य अर्थात् शुभ एवं अशुभ प्रयत्न का स्वरूप वतलाया गया है। नवमें धर्म अध्ययन में ३६ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवें समाधि अध्ययन में २४ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म में समाधि अर्थात् धर्म में स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवें मार्ग अध्ययन में ३८ गाथाएँ हैं। जिसमें संसार के बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग वताया गया है। वारहवें समवसरण अध्ययन में २२ गाथाएँ हैं, जिसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतों की विचारणा की गई है। तेरहवें याथातथ्य अध्ययन में २३ गाथाएँ हैं, जिसमें मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवें ग्रन्थ अध्ययन में २७ गाथाएँ हैं, जिसमें ज्ञान प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें आदानीय अध्ययन में २५ गाथाएँ हैं, जिसमें भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य में है, जिसमें भिक्षु अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कन्ध में सात अध्ययन हैं। उनमें प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य में है। इसमें एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु स्वयं ही कष्टों में फंस जाते हैं। राजा वहाँ का वहीं रह जाता है। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिचा चला जाता है। इस अध्ययन में विभिन्न मतों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षुओं के आचार का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन क्रिया-स्थान है, जिसमें कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानों का वर्णन किया गया। तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा है, जिसमें बताया है कि आत्मार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिए। चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है जिसमें त्याग, प्रत्याख्यान, व्रतों एवं नियमों का स्वरूप बताया गया है। पाँचवा आचार श्रुत अध्ययन है, जिसमें त्याज्य वस्तुओं की गणना की गई है तथा लोकमूढ़ मान्यताओं का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन आर्द्रक है, जिसमें आर्द्रक कुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढंग से कही गई है। यह एक दार्शनिक संवाद है जो उपनिषदों के संवाद की पद्धति का है। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग आर्द्रक कुमार से विभिन्न प्रश्न करते हैं और आर्द्रक उनकी विभिन्न शंकाओं का समाधान करते हैं। सातवां नालन्दा अध्ययन है जिसमें भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा में दिया गया उपदेश अंकित है।

सूत्रकृतांग सूत्र में जिन मतों का उल्लेख है, उनमें से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है। इन मतों का वर्णन करते हुए उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमें पूर्व पक्ष का परिचय देकर बाद में उसका खण्डन किया जाता है। इस दृष्टि से सूत्रकृतांग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान जैन आगमों में माना जाता है। बौद्ध परम्परा के अभिधम्म पिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है। दोनों की तुलनात्मक दृष्टि मननीय है।

पञ्च महाभूतवाद :

दर्शन शास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि लोक क्या है? इसका निर्माण किसने किया? और कैसे हुआ? क्योंकि लोक प्रत्यक्ष है अतः उसकी सृष्टि के सम्बन्ध में जिज्ञासा का उठना सहज ही था। इसके सम्बन्ध में सूत्रकृतांग में एक मत का उल्लेख करते हुए बताया गया है, कि यह लोक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप भूतों का बना हुआ है। इन्हीं के विशिष्ट संयोग से आत्मा का जन्म होता है और इनके वियोग से विनाश हो जाता है। यह वर्णन प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन और प्रथम उद्देशक की ७-८ गाथाओं में किया गया है। मूल में इस वाद का कोई नाम नहीं बताया गया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे चार्वाक का मत बताया है। इस मत का उल्लेख दूसरे श्रुतस्कन्ध में भी है। वहाँ इसे पञ्चमहाभूतिक कहा गया है।

तज्जीव—तच्छरीरवाद :

इस वाद के अनुसार संसार में जितने शरीर हैं, प्रत्येक में एक आत्मा है। शरीर की सत्ता तक ही जीव की सत्ता है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाता है। यहाँ शरीर को ही आत्मा कहा गया है। उसमें बताया गया है कि परलोक गमन करने वाला कोई आत्मा नहीं है। पुण्य और पाप का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस लोक के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक भी नहीं है। मूलकार ने इस मत का कोई नाम नहीं बताया। निर्युक्तिकार तथा टीकाकार ने इस मत को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' कहा है। सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध में इस वाद का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। शरीर से भिन्न आत्मा को मानने वालों का खण्डन करते हुए वादी कहता है—कुछ लोग कहते हैं कि शरीर अलग है और जीव अलग है। वे जीव का आकार, रूप, गन्ध, रस, और स्पर्श आदि कुछ भी

नहीं वता सकते । यदि जीव शरीर से पृथक होता है, जिस प्रकार म्यान से तलवार, मूँज से सींक तथा मांस से अस्थि अलग करके वतलाई जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से अलग करके वताया जाना चाहिए । जिस प्रकार हाथ में रहा हुआ आंवला अलग प्रतीत होता है तथा दही में से मक्खन, तिल में से तेल, ईख में से रस एवं अरणि में से आग निकाली जाती है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से अलग प्रतीत होता, पर ऐसा होता नहीं । अतः शरीर और जीव को एक मानना चाहिए । तज्जीव-तच्छरीरवादी यह मानता है कि पाँच महाभूतों से चेतन का निर्माण होता है । अतः यह वाद भी चार्वाकवाद से मिलता-जुलता ही है । इस प्रकार के वाद का वर्णन प्राचीन उपनिषदों में भी उपलब्ध होता है ।

एकात्मकवाद की मान्यता :

जिस प्रकार पृथ्वी-पिण्ड एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी एवं समुद्र आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह समस्त लोक ज्ञान-पिण्ड के रूप में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है । ज्ञान-पिण्ड स्वरूप सर्वत्र एक ही आत्मा है । वही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि में परिलक्षित होता है । मूलकार ने इसका कोई नामोल्लेख नहीं किया । निर्युक्तिकार भद्रवाहु ने इसे 'एकात्मवाद' कहा है । टीकाकार आचार्य शीलांक ने इसे 'एकात्म-अद्वैतवाद' कहा है ।

नियतिवाद :

कुछ लोगों की यह मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव जो सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, यथाप्रसंग व्यक्तियों का जो उत्थान-पतन होता है, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नहीं होता । इन सबका करने वाला जब जीव स्वयं नहीं है, तव दूसरा कौन हो सकता है ? इन सबका मूल कारण नियति है । जहाँ पर, जिस प्रकार तथा जैसा होने का भवितव्य होता आता है, वहाँ पर, उस प्रकार और वैसा ही होकर रहता है । उसमें व्यक्ति के पुरुषार्थ; काल अथवा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते । जगत में सब कुछ नियत है, अनियत कुछ भी नहीं हैं । सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इस वाद के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण कहते हैं, कि जो लोग क्रियावाद की स्थापना करते हैं और जो लोग अक्रियावाद की स्थापना करते हैं, वे दोनों ही अनियतवादी हैं । क्योंकि नियतिवाद के अनुसार क्रिया तथा अक्रिया दोनों का कारण नियति है । इस नियतिवाद के सम्बन्ध में मूलकार, निर्युक्तिकार तथा टीकाकार सभी एक मत हैं। वे तीनों इसे नियतिवाद कहते हैं । भगवान महावीर के युग में गोशालक का भी यही मत था जिसका उल्लेख भगवती सूत्र आदि अन्य आगमों में भी उपलब्ध होता है । निश्चय ही यह नियतिवाद गोशालक से भी पूर्व का रहा होगा । पर गोशालक ने इस सिद्धान्त को अपने मत का आधार बनाया था । सूत्रकृतांग सूत्र में इसी प्रकार के अन्य मत-मतान्तरों का भी उल्लेख है । जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद, वेदवाद, हिंसावाद, हस्तितापस-संवाद, आदि अनेक मतों का सूत्रकृतांग सूत्र में संक्षेप रूप में और कहीं पर विस्तार रूप में उल्लेख हुआ है । परन्तु निर्युक्तिकार भद्रवाहु ने इसे विस्तार दिया तथा टीकाकार आचार्य शीलांक ने मत-मतान्तरों की मान्यताओं का नाम लेकर उल्लेख किया है । आचार्य शीलांक का यह प्रयास दार्शनिक क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता है ।

आचारांग और सूत्रकृतांग :

एकादश अंगों में आचारांग प्रथम अंग है जिसमें आचार का प्रधानता से वर्णन किया गया है । श्रमणाचार का यह मूलभूत आगम है । आचारांग सूत्र दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है—प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध । निर्युक्तिकार आचार्य भद्रवाहु ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ब्रह्मचर्य अध्ययन कहा है । यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ

संयम है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र कहा गया है। यह आचाराग्र पाँच चूलाओं में विभक्त था। पाँचवी चूला जिसका नाम आज निशीथ है तथा निर्युक्तिकार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा है, वह आचारांग से पृथक हो गया। यह पृथक्करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नहीं हो सकी है। आचारांग में अथ से इति तक आचार धर्म का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। जैन परम्परा का यह मूल-भूत आचार-शास्त्र है। दिगम्बर परम्परा का आचार्य वट्ट-केरकृत 'मूलाचार' आचारांग के आधार पर ही निर्मित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

सूत्रकृतांग सूत्र जो एकादश अगों में द्वितीय अंग है, उसमें विचार की मुख्यता है। भगवान् महावीरकालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे उन सबके विचारों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की है। सूत्रकृतांग जैन परम्परा में प्राचीन आगमों में एक महान् आगम है। इसमें नव दीक्षित श्रमणों को संयम में स्थिर रखने के लिये और उनके विचार पक्ष को शुद्ध करने के लिये जैन सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमें बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम में जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है।

सूत्रकृतांग के भी दो श्रुतस्कन्ध हैं—दोनों में ही दार्शनिक विचार चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृतांग में वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होंगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदों में प्राप्त होती है, उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। बौद्ध परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य में इसकी तुलना ब्रह्मजाल सूत्र से की जा सकती है। ब्रह्मजाल सूत्र में भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिकों का पूर्व पक्ष के रूप में उल्लेख करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार की शैली जैन परम्परा के गणिपिटक में सूत्रकृतांग की रही है। भगवान महावीर के पूर्व तथा भगवान् महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनों का विचार यदि एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृतांग से ही हो सकता है। अतः जैन परम्परा में सूत्रकृतांग एक प्रकार से दार्शनिक विचारों का गणिपिटक है।

आगमों का व्याख्या साहित्य

मूल ग्रन्थ के रहस्योद्‌घाटन के लिये उसकी विविध व्याख्याओं का अध्ययन अनिवार्य नहीं तो भी आवश्यक तो है ही। जब तक किसी ग्रन्थ की प्रामाणिक व्याख्या का सूक्ष्म अवलोकन नहीं किया जाता तब तक उस ग्रन्थ में रही हुई अनेक महत्वपूर्ण बातें अज्ञात ही रह जाती हैं। यह सिद्धान्त जितना वर्तमान कालीन भौतिक ग्रन्थों पर लागू होता है उससे कई गुना अधिक प्राचीन भारतीय साहित्य पर लागू होता है। मूल ग्रन्थ के रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिये उस पर व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण करना भारतीय ग्रन्थकारों की बहुत पुरानी परम्परा है। इस प्रकार के साहित्य से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं—व्याख्याकार को अपनी लेखनी से ग्रन्थकार के अपने अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने में असीम आत्मोल्लास होता है तथा कहीं-कहीं उसे अपनी मान्यता प्रस्तुत करने का अवसर भी मिलता है। दूसरी ओर पाठक को ग्रन्थ के गूढ़ार्थ तक पहुँचने के लिये अनावश्यक श्रम नहीं करना पड़ता। इस प्रकार व्याख्याकार का परिश्रम स्व-पर उभय के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। व्याख्याकार की आत्मतुष्टि के साथ ही साथ जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा भी शान्त होती है। इसी पवित्र भावना से भारतीय व्याख्या ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। जैन व्याख्याकारों के हृदय भी इसी भावना से भावित रहे हैं।

प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य में आगमिक व्याख्याओं का अति महत्वपूर्ण स्थान है। इन व्याख्याओं को हम पाँच कोटियों में विभक्त करते हैं।—१. निर्युक्तियाँ (निज्जुत्ति), २. भाष्य (भास), ३ चूर्णियाँ (चुण्णि), ४. संस्कृत टीकाएँ और ५. लोक भाषाओं में रचित व्याख्याएँ (टब्बा)। आगमों के विषयों का संक्षेप में परिचय देने वाली

संग्रहणियाँ भी काफी प्राचीन हैं। पंचकल्प महाभाष्य के उल्लेखानुसार संग्रहणियों की रचना आर्यकालक ने की है। पाक्षिक सूत्र में भी निर्युक्ति एवं संग्रहणी का उल्लेख है।

निर्युक्तियाँ :

निर्युक्तियाँ और भाष्य जैन आगमों की पद्यवद्ध टीकाएँ हैं। ये दोनों प्रकार की टीकाएँ प्राकृत में हैं। निर्युक्तियों में मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न किया जाकर विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों का ही व्याख्यान किया गया है।

उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्ता आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने निम्नोक्त आगम ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं— १. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. सूत्रकृतांग, ६. दशाश्रुतस्कन्ध, ७. बृहत्कल्प, ८. व्यवहार, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. ऋषिभाषित। इन दस निर्युक्तियों में से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियाँ अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति, पिन्डनिर्युक्ति, पंचकल्प निर्युक्ति और निशीथ निर्युक्ति क्रमशः आवश्यक निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति, बृहत्कल्प निर्युक्ति और आचारांग निर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तिनिर्युक्ति बहुत बाद की किसी की रचना है। गोविन्दाचार्य रचित एक अन्य निर्युक्ति (गोविन्द निर्युक्ति) अनुपलब्ध है।

निर्युक्तियों की व्याख्यान-शैली निक्षेप-पद्धति के रूप में प्रसिद्ध है। यह व्याख्या पद्धति बहुत प्राचीन है। इसका अनुयोगद्वार आदि में दर्शन होता है। इस पद्धति में किसी एक पद के संभावित अनेक अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैन न्याय शास्त्र में इस पद्धति का बहुत महत्व है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने निर्युक्ति का प्रयोजन बताते हुए इसी पद्धति को निर्युक्ति के लिये उपयुक्त बतलाया है। दूसरे शब्दों में निक्षेप पद्धति के आधार पर किये जाने वाले शब्दार्थ के निर्णय—निश्चय का नाम ही निर्युक्ति है। भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति (गा० ८८) में स्पष्ट कहा है कि "एक छन्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसंग के लिये उपयुक्त होता है, भगवान् महावीर के उपदेश के समय कौनसा शब्द किस अर्थ से सम्बद्ध रहा है, आदि बातों को दृष्टि में रखते हुए सम्यक् रूप से अर्थ निर्णय करना और उस अर्थ का मूल-सूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना—यही निर्युक्ति का प्रयोजन है।"

आचार्य भद्रबाहु कृत दस निर्युक्तियों का रचना-क्रम वही है जिस क्रम से ऊपर दस ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं। आचार्य ने अपनी सर्व प्रथम कृति आवश्यक निर्युक्ति (गा० ८५-६) में निर्युक्ति-रचना का संकल्प करते समय इसी क्रम से ग्रन्थों की नामावली दी है। निर्युक्तियों में उल्लिखित एक दूसरी निर्युक्ति के नाम आदि के अध्ययन से भी यही तथ्य प्रतिपादित होता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु :

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, छेद सूत्रकार, चतुर्दश-पूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने अपनी दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति एवं पंचकल्प निर्युक्ति के प्रारम्भ में छेद सूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के सहोदर माने जाते हैं। ये अष्टांग निमित्त तथा मंत्र विद्या में पारंगत नैमित्तिक भद्रबाहु के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। उपसर्ग हर स्तोत्र और भद्रबाहु संहिता भी इन्हीं की रचनाएँ हैं। वराहमिहिर वि० सं० ५३२ में विद्यमान थे, क्योंकि 'पंच सिद्धान्तिका' के अन्त में शक संवत् ४२७ अर्थात् वि० सं० ५६२ का उल्लेख है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का भी लगभग यही समय है। अतः निर्युक्तियों का रचनाकाल वि० सं० ५००—६०० के बीच में मानना युक्ति-युक्त है।

सूत्रकृतांग निर्युक्ति :

इसमें आचार्य ने सूत्रकृतांग शब्द का विवेचन करते हुए गाथा, षोडश, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, ग्रहण, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र, आदि पदों का निक्षेप पूर्वक व्याख्यान किया है। एक गाथा (११९) में

निम्नोक्त ३६३ मतान्तरों का उल्लेख किया है। १८० प्रकार के क्रियावादी ८४ प्रकार के अक्रियावादी ६७ प्रकार के अज्ञानवादी और ३२ प्रकार के वैनयिक।

जैन परम्परागत अनेक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु ने अपनी आगमिक निर्युक्तियों में की है। इस दृष्टि से निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का जैन साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। पीछे भाष्यकारों एवं टीकाकारों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उपर्युक्त निर्युक्तियों का आधार लेते हुए ही अपनी कृतियों का निर्माण किया है।

भाष्य :

निर्युक्तियों का मुख्य प्रयोजन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना रहा है। पारिभाषिक शब्दों में छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का सर्वप्रथम श्रेय भाष्यकारों को है। निर्युक्तियों की भाँति भाष्य भी पद्य बद्ध प्राकृत में है। कुछ भाष्य निर्युक्तियों पर हैं और कुछ केवल मूल सूत्रों पर। निम्नोक्त आगम ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये हैं :—१—आवश्यक, २—दशवैकालिक, ३—उत्तराध्ययन, ४—बृहत्कल्प, ५—पंचकल्प, ६—व्यवहार ७—निशीथ, ८—जीत कल्प, ९—ओघ-निर्युक्ति, १०—पिण्ड निर्युक्ति। आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं। इनमें से 'विशेष आवश्यक भाष्य' आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। इसमें ३६०३ गाथाएँ हैं। दशवैकालिक भाष्य में ६३ गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययन भाष्य भी बहुत छोटा है। इसमें ४५ गाथाएँ हैं। बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं। इसमें से लघुभाष्य पर ६४९० गाथाएँ हैं। पंचकल्प-महाभाष्य की गाथा संख्या २५७४ है। व्यवहार भाष्य में ४६२९ गाथाएँ हैं। निशीथ भाष्य में लगभग ६५०० गाथाएँ हैं। जीतकल्प भाष्य में २६०६ गाथाएँ हैं। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य हैं। इनमें से लघुभाष्य पर ३२२ तथा बृहद् भाष्य में २५१७ गाथाएँ हैं। पिण्डनिर्युक्ति भाष्य में केवल ४६ गाथाएँ हैं।

इस विशाल प्राकृत भाष्य साहित्य का जैन साहित्य में और विशेषकर आगमिक साहित्य में अति महत्वपूर्ण स्थान है। पद्यबद्ध होने के कारण इसके महत्व में और भी वृद्धि हो जाती है।

भाष्यकार :

भाष्यकार के रूप में दो आचार्य प्रसिद्ध हैं :—जिनभद्रगणि और संघदास गणि। विशेषावश्यकभाष्य और जीत कल्पभाष्य आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृतियाँ हैं। बृहत्कल्प लघुभाष्य और पंचकल्प महाभाष्य संघदास गणि की रचनाएँ हैं। इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त अन्य किसी आगामिक भाष्यकार के नाम का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। इतना निश्चित है कि इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त कम से कम दो भाष्यकार तो और हुए ही हैं। जिनमें से एक व्यवहार भाष्य आदि के प्रणेता एवं दूसरे बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य आदि के रचयिता हैं। विद्वानों के अनुमान के अनुसार बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य के प्रणेता बृहत्कल्प चूर्णिकार तथा विशेषकल्प-चूर्णिकार से भी पीछे हुए हैं। ये हरिभद्र सूरि के कुछ पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हैं। व्यवहार भाष्य के प्रणेता विशेषावश्यक भाष्यकार आचार्य जिनभद्र सूरि के पूर्ववर्ती हैं। संघदासगणि भी आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं।

चूर्णियाँ :

जैन आगमों की प्राकृत अथवा संस्कृतमिश्रित प्राकृत व्याख्याएँ चूर्णियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार की कुछ चूर्णियाँ आगमेतर साहित्य पर भी हैं। जैन आचार्यों ने निम्नोक्त आगमों पर चूर्णियाँ लिखी हैं।—१—आचारांग, २—सूत्रकृतांग, ३—व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) ४—जीवाभिगम, ५—निशीथ, ६—महानिशीथ, ७—व्यवहार, ८—दशाश्रुत स्कन्ध, ९—बृहत्कल्प १०—पंचकल्प, ११—ओघनिर्युक्ति, १२—जीतकल्प, १३—उत्तराध्ययन, १४—आवश्यक-१५—दशवैकालिक' १६—नन्दी, १७—अनुयोगद्वार, १८—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति। निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो

चूर्णियां लिखी गई हैं। किन्तु वर्तमान में एक-एक ही उपलब्ध है। अनुयोग द्वार, बृहत्कल्प एवं दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णियां हैं। जिनदासगणि महत्तर की मानी जाने वाली निम्नांकित चूर्णियों का रचनाक्रम इस प्रकार है। १. नन्दी चूर्णि, २. अनुयोगद्वार चूर्णि, ३. ओघनिर्युक्ति चूर्णि, ४. आवश्यक चूर्णि, ५. दशवैकालिक चूर्णि, ६. उत्तराध्ययन चूर्णि, ७. आचारांग चूर्णि, ८. सूत्रकृतांग चूर्णि और ९. व्याख्याप्रज्ञप्ति चूर्णि। नन्दी चूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि, जिनदास कृत दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि, आचारांग चूर्णि, सूत्रकृतांग चूर्णि, निशीथ विशेष चूर्णि, दशाश्रुत स्कन्ध चूर्णि एवं बृहत्कल्प चूर्णि संस्कृत मिश्रित प्राकृत में हैं। आवश्यक चूर्णि, अगस्त्यसिंह कृत दशवैकालिक चूर्णि एवं जीतकल्प चूर्णि (सिद्धसेन कृत) प्राकृत में है।

चूर्णिकार :

चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणि महत्तर का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। परम्परा से निम्न चूर्णियाँ जिनदास महत्तर की मानी जाती हैं। निशीथ विशेष चूर्णि, नन्दी चूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि, आवश्यक चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि, आचारांग चूर्णि, सूत्रकृतांग चूर्णि। उपलब्ध जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। बृहत्कल्प चूर्णि प्रलम्बसूरि की कृति है। अनुयोग द्वार की एक चूर्णि (अंगुल पद पर) के कर्ता भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी हैं। यह चूर्णि जिनदास गणिकृत अनुयोगद्वार चूर्णि में अक्षरशः उद्धृत है। दशवैकालिक पर अगस्त्य सिंह ने भी एक चूर्णि लिखी है। इसके अतिरिक्त अन्य चूर्णिकारों के नाम अज्ञात हैं।

प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदास गणि महत्तर के धर्मगुरु का नाम उत्तराध्ययन चूर्णि के अनुसार वाणिज्य कुलीन कोटिक गणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर है तथा विद्यागुरु का नाम निशीथ विशेष चूर्णि के अनुसार प्रद्युम्न क्षमाश्रमण है। जिनदास का समय भाष्यकार आचार्य जिनभद्र और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के बीच में है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्रकृत विशेष आवश्यक भाष्य की गाथाओं का प्रयोग इनकी चूर्णियों में दृष्टिगोचर होता है तथा इनकी चूर्णियों का पूरा उपयोग आचार्य हरिभद्र की टीकाओं में हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का समय वि० सं० ६५०—७५० के आसपास मानना चाहिए। क्योंकि इनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभद्र वि० सं० ६५०-६६० के आसपास तथा इनके उत्तरवर्ती आचार्य हरिभद्र वि० सं० ७५७—८२७ के आसपास विद्यमान थे। नन्दीचूर्णि के अन्त में उसका रचनाकाल शक संवत् ५१८ उल्लिखित है। इस प्रकार इस उल्लेख के अनुसार भी जिनदास का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित है।

जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेन सूरि प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न है। इसका कारण यह है कि सिद्धसेन दिवाकर जीतकल्प सूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। जबकि चूर्णिकार सिद्धसेन सूरि आचार्य जिनभद्र के पश्चात्वर्ती हैं। इनका समय वि० सं० १२२७ के पूर्व है, पश्चात् नहीं, क्योंकि प्रस्तुत जीतकल्प चूर्णि की एक टीका, जिसका नाम विषमपद व्याख्या है, श्रीचन्द सूरि ने वि० सं० १२२७ में पूर्ण की थी। प्रस्तुत सिद्ध सेन संभवतः उपकेशगच्छीय देव गुप्त सूरि के शिष्य एवं यशोदेव सूरि के गुरु भाई हैं।

सूत्रकृतांग चूर्णि :

आचारांग चूर्णि और सूत्रकृतांग चूर्णि की शैली में अत्यधिक साम्य है। इनमें संस्कृत का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। विषय विवेचन संक्षिप्त एवं अस्पष्ट है। सूत्रकृतांग की चूर्णि भी आचारांग आदि की चूर्णि की ही भाँति निर्युक्त्यनुसारी है।

टीकाएँ और टीकाकार :

जैन आगमों की संस्कृत व्याख्याओं का भी आगमिक साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के प्रभाव की विशेष वृद्धि होते देख जैन आचार्यों ने भी अपने प्राचीनतम साहित्य आगम-ग्रन्थों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखना प्रारम्भ किया। इन टीकाओं में प्राचीन निर्युक्तियों, भाष्यों एवं चूर्णियों की सामग्री का तो उपयोग हुआ ही, साथ ही साथ टीकाकारों ने नये-नये हेतुओं एवं तर्कों द्वारा उस सामग्री को पुष्ट भी किया। आगमिक साहित्य पर प्राचीनतम संस्कृत टीका आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत विशेपावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति है। यह वृत्ति आचार्य जिनभद्र गणि अपने जीवन काल में पूर्ण न कर सके। इस अपूर्ण कार्य को कोट्यार्य ने (जो कि कोट्याचार्य से भिन्न है) पूर्ण किया। इस दृष्टि से आचार्य जिनभद्र प्राचीनतम आगमिक टीकाकार हैं। भाष्य, चूर्णि और टीका तीनों प्रकार के व्याख्यात्मक साहित्य में इनका योगदान है। भाष्यकार के रूप में तो इनकी प्रसिद्धि है ही। अनुयोगद्वार के अंगुल पद पर इनकी एक चूर्णि भी है। टीका के रूप में इनकी लिखी हुई विशेपावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति है ही। टीकाकारों में हरिभद्रसूरि, शीलांकसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि विशेप प्रसिद्ध हैं।

शीलांकाचार्यकृत टीकाएँ :

आचार्य शीलांक के विपय में कहा जाता है कि उन्होंने प्रथम नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थीं। वर्तमान में इनकी केवल दो टीकाएँ उपलब्ध हैं। आचारांग विवरण और सूत्रकृतांग विवरण। इन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) आदि पर भी टीकाएँ लिखी अवश्य होंगी, जैसा कि अभयदेवसूरि कृत व्याख्याप्रज्ञप्ति से फलित होता है। आचार्य शीलांक, जिन्हें शीलाचार्य एवं तत्वादित्य भी कहा जाता है विक्रम की नवीं दसवीं शती में विद्यमान थे।

आचारांग विवरण :

यह विवरण आचारांग के मूलपाठ एवं उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है। इसमें प्रत्येक सम्बद्ध विषय का सुविस्तृत व्याख्यान है। यत्र-तत्र प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरण भी हैं। प्रारम्भ में आचार्य ने गंध-हस्तिकृत शस्त्र परिज्ञा-विवरण का उल्लेख किया है। एवं उसे कठिन बताते हुए आचारांग पर सुबोध विवरण लिखने का प्रयत्न किया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के पष्ठ अध्ययन की व्याख्या के अन्त में विवरणकार ने बताया है कि महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन का व्यवच्छेद हो जाने के कारण उसका अतिलंघन करके अष्टम अध्ययन का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है। अष्टम अध्ययन के षष्ठ उद्देशक के विवरण में ग्राम, नकर (नगर), खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोण, आकर, आश्रम, सन्निवेष, निगम, राजधानी आदि का स्वरूप बताया गया है। फानन द्वीप आदि को जल पत्तन एवं मुख मथुरा आदि को स्थल पत्तन कहा गया है। मरुकच्छ, ताम्रलिप्ति, आदि द्रोणमुख अर्थात् जल एवं स्थल के आगमन के केन्द्र हैं। प्रस्तुत विवरण निवृत्ति कुलीन शीलाचार्य ने गुप्त संवत् ७७२ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन वाहरिसाधु की सहायता से गभूंता में पूर्ण किया। विवरण का ग्रन्थ मान १२००० श्लोक प्रमाण है।

सूत्रकृतांग विवरण :

यह विवरण सूत्रकृतांग के मूलपाठ एवं उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण सुबोध है। दार्शनिक दृष्टि की प्रमुखता होते हुए भी विवेचन में क्लिष्टता नहीं आने पाई है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी उद्धृत किये गये हैं। विवरण में अनेक श्लोक एवं गाथाएँ उद्धृत की गई हैं किन्तु कहीं पर भी किसी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार के नाम का कोई उल्लेख-नहीं है। प्रस्तुत टीका का ग्रन्थ मान १२८५० श्लोक प्रमाण है। यह टीका टीकाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से पूरी की है।

प्रस्तुत संस्करण एवं सम्पादन :

सूत्रकृतांगसूत्र, जिसमें कि भगवान् महावीर की दार्शनिक विचारधारा उपनिबद्ध है, जैन आगमों में इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है तथा भारतीय दर्शनों में भी इसका महान गौरव रहा है। प्राचीन भारतीय दर्शन की एक भी धारा उस प्रकार की नहीं रही जिसका उल्लेख सूत्रकृतांग सूत्र में न हुआ हो। यह बात अवश्य रही है कि कहीं-कहीं पर संकेत मात्र कर दिया है और कहीं-कहीं नाम लेकर स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उपनिषत्कालीन तत्त्ववाद का वेदान्त और प्राचीन सांख्य-दर्शन, क्षणिकवादी बौद्धों का क्षणिकवाद तथा पंचभूतवादियों का भूतवाद इन सभी का समावेश सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में हो गया है। प्रस्तुत शास्त्र के व्याख्याकार निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने तथा चूर्णिकार ने अपनी चूर्णि में कुछ गम्भीर स्थलों की सुन्दर व्याख्या की है। लेकिन संस्कृत टीकाकार आचार्य शीलांक ने इस सूत्र की अपनी संस्कृत टीका में भारतीय दार्शनिक विचारधारा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। जो विचार बीज रूप में उपलब्ध थे उनका एक विशाल वृक्ष उन्होंने अपनी टीका में रूपायित किया है। मैंने अपनी भूमिका के प्रारम्भ में ही भारतीय-दर्शन की विभिन्न मान्यताओं का संक्षेप में स्पष्ट वर्णन कर दिया है, इस भूमिका के आधार पर पाठक इस शास्त्र के गम्भीर भावों को आसानी से समझ सकेंगे।

स्व० पूज्य जवाहरलाल जी म० की देख-रेख में सूत्रकृतांगसूत्र का चार भागों में सम्पादन हुआ है जो अत्यन्त ही महत्वपूर्ण एवं सुन्दर सम्पादन है। पूज्य घासीलाल जी म० ने भी सूत्रकृतांग सूत्र की संस्कृत टीका बहुत ही विस्तार से प्रस्तुत की है, जिसमें उसका हिन्दी अर्थ तथा गुजराती अर्थ भी उपनिबद्ध कर दिया गया है।

परन्तु श्रमण संघ के युवाचार्य प्रकाण्ड पंडित श्रद्धेय मधुकर जी म० के सान्निध्य में सूत्रकृतांग का जो सुन्दर लेखन-सम्पादन हुआ है उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। प्रस्तुत पुस्तक में मूल पाठ, उसका भावार्थ फिर उसका विवेचन और साथ में विभिन्न ग्रन्थों से टिप्पण दे दिये हैं जिससे इसकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। यद्यपि सामान्य पाठक के लिये टिप्पणों का विशेष मूल्य नहीं है, वह प्रायः टिप्पण देखता भी नहीं परन्तु विद्वान् अध्येताओं के लिए टिप्पण बहुत ही उपयोगी हैं। इस संस्करण के सम्पादक की बहुश्रुतता तब अभिव्यक्त हो जाती है जब सामान्य पाठक भी संस्कृत प्राकृत टिप्पणों का हिन्दी भावार्थ समझ लेता है, यह कार्य श्रम-साध्य है, पर उपयोगिता की दृष्टि से बहुत अच्छा रहा। पंडितरत्न श्री मधुकर जी म० संस्कृत, प्राकृत, पाली, और अपभ्रंश भाषा के प्रौढ़ विद्वान् हैं। उनकी व्यापक शास्त्रीय दृष्टि तथा निर्देशन-कुशलता इस शास्त्र के प्रत्येक पृष्ठ पर अभिव्यक्त हो रही है। उनकी इस सफलता के लिये मैं धन्यवाद देता हूँ, तथा आशा करता हूँ कि भविष्य में अन्य आगमों का भी इसी प्रकार सम्पादन कार्य चालू रखेंगे। उनकी यह श्रुत-सेवा जैन इतिहास में अजर-अमर होकर रहेगी।

संस्कृत और प्राकृत के विश्रुत विद्वान् श्रीचन्द जी सुराना ने प्रस्तुत शास्त्र का जिस योग्यता के साथ अनुवाद, विवेचन एवं सम्पादन किया है वह अत्यन्त स्तुत्य है। विभिन्न ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन और प्रकाशन वे वर्षों से करते चले आ रहे हैं। उन्होंने श्रुत देवता की अपनी लेखनी से जो सेवा की है, समाज उसे कभी भुला नहीं सकेगा। उन्होंने पहले आचारांग सूत्र जैसे गहन व महत्त्वपूर्ण सूत्र का, सम्पादन विवेचन किया है, और अब सूत्रकृतांग का। सूत्रकृतांग सूत्र जैसे दार्शनिक आगम की व्याख्या एवं सम्पादन करना साधारण बात नहीं है। वे अपने इस कार्य में पूर्णतः सफल हुए हैं। समाज आशा कर सकता है कि वे भविष्य में इसी प्रकार की श्रुत साधना करते रहेंगे।

—विजय मुनि शास्त्री

'जैन भवन' लोहामण्डी, आगरा

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थ-सहयोगियों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
४. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
५. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
७. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
९. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद

स्तम्भ

१. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
२. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
३. श्री पूसालालजी किस्तूरचन्दजी सुराणा, बालाघाट
४. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
५. श्री तिलोकचन्दजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
६. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री वर्द्धमान इन्डस्ट्रीज, कानपुर
१०. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रिखबचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री आर. परसनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
१६. श्री मिश्रीलालजी तिलोकचन्दजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, ब्यावर
२. श्री दीपचन्दजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री ज्ञानराजजी मूथा, पाली
४. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
६. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
७. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता
९. श्री जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
१०. श्री वस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) एवं जाड़न
११. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तालेरा, पाली
१२. श्री नेमीचन्दजी मोहनलालजी ललवाणी, चांगाटोला
१३. श्री विरदीचन्दजी प्रकाशचन्दजी तालेरा, पाली
१४. श्री सिरेकँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम
१५. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१६. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
१७. श्री लालचन्दजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
१८. श्री भेरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, धोबड़ी तथा नागौर
१९. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
२०. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२१. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा
२२. श्री मोहनराजजी बालिया, अहमदाबाद
२३. श्री चेनमलजी सुराणा, मद्रास

२४. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, नागौर
२५. श्री बादलचंदजी मेहता, इन्दौर
२६. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२७. श्री सुगनचंदजी बोकड़िया, इन्दौर
२८. श्री इन्दरचंदजी बैद, राजनांदगांव
२९. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
३०. श्री भँवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचंदजी बैद, चांगाटोला
३२. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३३. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, अजमेर
३५. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी, गोहाटी
३६. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, आगरा
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, वेल्लारी
३९. श्री अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
४०. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
४१. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
४२. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४३. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४४. श्री जवरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कुप्पल
४६. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास

सहयोगी सदस्य

१. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
२. श्री अमरचंद जी बालचंदजी मोदी, ब्यावर
३. श्री चम्पालजी मीठालालजी सकलेचा, जालना
४. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
५. श्री भँवरलालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री जंवरीलालजी अमरचंदजी कोठारी, ब्यावर
८. श्री मोहनलालजी गुलाबचंदजी चतर, ब्यावर
९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
१०. श्री के. पुखराजजी बाफना, मद्रास
११. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया
१२. श्री चम्पालालजी बुधराजजी बाफणा, ब्यावर
१३. श्री नथमलजी मोहनलाल जी लूणिया, चण्डावल
१४. श्री मांगीलाल जी प्रकाशचंदजी रुणवाल, हर
१५. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१६. श्री भंवरलालजी गौतमचंदजी पगारिया, कुशालपुरा
१७. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१८. श्री फूलचंदजी गौतमचंदजी काठेड, पाली
१९. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
२० श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
२१. श्री देवकरणजी श्रीचंदजी डोसी, मेड़तासिटी
२२. श्री माणकराजजी किशनराजजी, मेड़तासिटी
२३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
२४. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सलेम
२५. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
२६. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
२७. श्री हरकराजजी मेहता, जोधपुर
२८. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
२९. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३०. श्री गणेशमलजी नेमीचंदजी टांटिया, जोधपुर
३१. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
३२. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
३३. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
३४. श्री मूलचंदजी पारख, जोधपुर
३५ श्री आसुमल एण्ड कं०, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
३८. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं०), जोधपुर
३९. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
४०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
४१. श्री मिश्रीलालजी लिखमीचंदजी सांड, जोधपुर
४२. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
४३. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
४४. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
४५. श्री सरदारमल एण्ड कं०, जोधपुर
४६. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
४७. श्री नेमीचंदजी डाकलिया, जोधपुर
४८. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
४९. श्री मुन्नीलालजी, मूलचंदजी, पुखराजजी गुलेच्छा, जोधपुर
५०. श्री सुन्दरबाई गोठी, महामन्दिर

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थ-सहयोगियों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
४. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
५. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
७. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
९. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद

स्तम्भ

१. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
२. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
३. श्री पूसालालजी किस्तूरचन्दजी सुराणा, बालाघाट
४. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
५. श्री तिलोकचन्दजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
६. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री वर्द्धमान इन्डस्ट्रीज, कानपुर
१०. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रिखबचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री आर. परसनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
१६. श्री मिश्रीलालजी तिलोकचन्दजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, ब्यावर
२. श्री दीपचन्दजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री ज्ञानराजजी मूथा, पाली
४. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
६. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
७. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्याव
८. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता
९. श्री जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
१०. श्री वस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) एवं जाड़न
११. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तालेरा, पाली
१२. श्री नेमीचन्दजी मोहनलालजी ललवाणी, चांगाटोल
१३. श्री विरदीचन्दजी प्रकाशचन्दजी तालेरा, पाली
१४. श्री सिरेकँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम
१५. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१६. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
१७. श्री लालचन्दजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
१८. श्री भेरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, धोबड़ी तथा नागौर
१९. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
२०. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२१. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा
२२. श्री मोहनराजजी बालिया, अहमदाबाद
२३. श्री चेनमलजी सुराणा, मद्रास

२४. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, नागौर
२५. श्री बादलचंदजी मेहता, इन्दौर
२६. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२७. श्री सुगनचंदजी बोकड़िया, इन्दौर
२८. श्री इन्दरचंदजी वैद, राजनांदगांव
२९. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
३०. श्री भँवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचंदजी वैद, चांगाटोला
३२. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३३. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, अजमेर
३५. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी, गोहाटी
३६. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, आगरा
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री गुणचंदजी दल्लीचंदजी कटारिया, वेल्लारी
३९. श्री अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
४०. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
४१. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, वैंगलोर
४२. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४३. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४४. श्री जवरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कुप्पल
४६. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास

सहयोगी सदस्य

१. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
२. श्री अमरचंद जी बालचंदजी मोदी, ब्यावर
३. श्री चम्पालजी मीठालालजी सकलेचा, जालना
४. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
५. श्री भँवरलालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री जंवरीलालजी अमरचंदजी कोठारी, ब्यावर
८. श्री मोहनलालजी गुलाबचंदजी चतर, ब्यावर
९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
१०. श्री के. पुखराजजी बाफना, मद्रास
११. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया
१२. श्री चम्पालालजी बुधराजजी बाफणा, ब्यावर
१३. श्री नथमलजी मोहनलाल जी लूणिया, चण्डावल
१४. श्री मांगीलाल जी प्रकाशचंदजी रुणवाल, वर
१५. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१६. श्री भंवरलालजी गौतमचंदजी पगारिया, कुशालपुरा
१७. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१८. श्री फूलचंदजी गौतमचंदजी कांठेड, पाली
१९. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
२० श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
२१. श्री देवकरणजी श्रीचंदजी डोसी, मेड़तासिटी
२२. श्री माणकराजजी किशनराजजी, मेड़तासिटी
२३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
२४. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सलेम
२५. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
२६. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
२७. श्री हरकराजजी मेहता, जोधपुर
२८. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
२९. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३०. श्री गणेशमलजी नेमीचंदजी टांटिया, जोधपुर
३१. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
३२. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
३३. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
३४. श्री मूलचंदजी पारख, जोधपुर
३५ श्री आसुमल एण्ड कं०, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
३८. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं०), जोधपुर
३९. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
४०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
४१. श्री मिश्रीलालजी लिखमीचंदजी सांड, जोधपुर
४२. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
४३. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
४४. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
४५. श्री सरदारमल एण्ड कं०, जोधपुर
४६. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
४७. श्री नेमीचंदजी डाकलिया, जोधपुर
४८. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
४९. श्री मुन्नीलालजी, मूलचंदजी, पुखराजजी गुलेच्छा, जोधपुर
५०. श्री सुन्दरबाई गोठी, महामन्दिर

५१. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा
५२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, महामन्दिर
५३. श्री इन्द्रचंदजी मुकन्दचंदजी, इन्दौर
५४. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
५५. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
५६. श्री भीकचदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
५७. श्री सुगनचंदजी संचेती, राजनांदगाँव
५८. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गोलेच्छा, राजनांदगाँव
५९. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
६०. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
६१. श्री ओखचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
६२. श्री भंवरलालजी मूथा, जयपुर
६३. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
६४. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई नं० ३
६५. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई नं० ३
६६ श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई नं० ३
६७. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी, भिलाई नं० ३
६८. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुलि
६९. श्री प्रेमराजजी मिट्ठालालजी कामदार, चांवडिया
७०. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
७१. श्री भंवरलालजी नवरतनमलजी सांखला मेट्टूपालियम
७२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, लाम्बा
७३. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
७४. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
७५. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
७६. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७७. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
७८. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
७९. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
८०. श्री बालचंदजी थानमलजी भुरट (कुचेरा), कलकत्ता
८१. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
८२. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
८३. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
८४. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैंरुदा
८५. श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैंरुदा
८६. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता
८७. श्री भींवराजजी बागमार, कुचेरा
८८. श्री गंगारामजी इन्दरचंदजी बोहरा, कुचेरा
८९. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
९०. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
९१. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर (भरतपुर)
९२. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
९३. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
९४. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
९५. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
९६. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
९७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
९८. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
९९. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा बुलारम
१००. श्री फतेराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
१०१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गोहाटी
१०२. श्री जुगराजजी बरमेचा, मद्रास
१०३. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी सुराणा, बुलारम
१०४ श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, नागौर
१०५. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया मद्रास
१०६. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भण्डारी, बैंगलोर
१०७. श्री रामप्रसन्न ज्ञान प्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
१०८. श्री तेजराज जी कोठारी, मॉंगलियावास
१०९. श्री अमरचंदजी चम्पालालजी छाजेड़, पादु बड़ी
११०. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रुणवाल, हरसोलाव
१११. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी- श्री स्व० पारसमलजी ललवाणी, गोठन
११२. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
११३. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११४. श्री कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
११५. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
११६. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री इन्दरचन्दजी जुगराजजी बाफणा, बैंगलोर

११९. श्री चम्पालालजी माणकचंदजी सिंघी, कुचेरा
१२०. श्री संचालालजी वाफना औरंगावाद
१२१. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी वोकड़िया, मेड़तासिटी
१२२. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़,
सिकन्दरावाद
१२३. श्रीमती रामकुंवर वाई धर्मपत्नी—
श्रीचांदमलजी लोढ़ा, वम्बई
१२४. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया,
(कुडालोर), मद्रास
१२५. श्री जीतमलजी भंडारी, कलकत्ता
१२६. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड
१२७. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२८. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२९. श्री मिश्रीलालजी सज्जनराजजी कटारिया,
सिकन्दरावाद
१३०. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी,
विलाड़ा
१३१. श्री वर्द्धमान स्था० जैन श्रावक संघ, वगड़ीनगर

विषय-सूची

[प्रथम श्रुतस्कन्ध : अध्ययन १ से १६ तक]

सूत्रांक | | पृष्ठ

वैतालीय : द्वितीय अध्ययन : पृष्ठ १०९ से १७९

उपसर्ग परिज्ञा : तृतीय अध्ययन : पृष्ठ १८० से २४६

विषय-सूची

[प्रथम श्रुतस्कन्ध : अध्ययन १ से १६ तक]

स्त्री परिज्ञा : चतुर्थ अध्ययन : पृष्ठ २४७ से २८५

सूत्रांक | पृष्ठ

नरक विभक्ति पंचम अध्ययन : पृष्ठ २८६ से ३१४

महावीर स्तव (वीर स्तुति) छठा अध्ययन : पृष्ठ ३१५ से ३२८

कुशील परिभाषित : सप्तम अध्ययन : पृष्ठ ३२९ से ३४२

वीर्य : अष्टम अध्ययन : पृष्ठ ३४३ से ३५६

———

जिणवयणे अणुरत्ता
जिणवयणं जे करेन्ति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा
ते होन्ति परित्तसंसारी ॥

—उत्तरा० ३६।२६०

पंचमगणहर भयवं सिरिसुहम्मसामिपणीयं बिइयमंगं

सूयगडंगसुत्तं

[पढमो सुयक्खंधो]

पंचम गणधर भगवत् सुधर्मस्वामिप्रणीत द्वितीय अंग

सूत्रकृतांगसूत्र

(प्रथम श्रुतस्कंध)

सूत्रकृतांगसूत्र

परिचय

☐ प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का द्वितीय अंग है। इसका प्रचलित नाम 'सूत्रकृतांग' है।

☐ निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहुने इसके तीन एकार्थक गुणनिष्पन्न नामों का निरूपण किया है।[1]
(१) सूतगडं (सूत्रकृत), (२) सुत्तकडं (सूत्रकृत) और सुयगडं (सूचाकृत)

☐ तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा अर्थरूप में सूत (उत्पन्न) होने से, तथा गणधरों द्वारा ग्रथित—कृत (सूत्ररूप में रचित) होने से इसका नाम '**सूत्रकृत**' है।

☐ सूत्र का अनुसरण करते हुए इस में तत्त्वबोध (उपदेश) किया गया है, एतदर्थ इसका नाम सूत्रकृत् है।

☐ इसमें स्व-पर समयों (सिद्धान्तों) को सूचित किया गया है, इसलिए इसका नाम '**सूचाकृत**' भी है।[2]

☐ समवायांग, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र में इसका 'सूयगडो (सूत्रकृत) नाम उपलब्ध होता है।[3]

☐ नन्दीसूत्र वृत्ति और चूर्णि में दो अर्थ दिये गए हैं—जीवादि पदार्थ (सूत्र द्वारा) सूचित उपलब्ध हैं, इसलिए, तथा जीवादि पदार्थों का अनुसन्धान होता है, इसलिए इसका नाम '**सूत्रकृत**' ही अधिक संगत है।[4]

☐ अचेलकपरम्परा में भी सूत्रकृतांग के प्राकृत में तीन नाम मिलते हैं—सुद्दयड, सूदयड और सूदयद। इन तीनों का संस्कृत रूपान्तर वहाँ '**सूत्रकृत**' ही माना है।[5]

☐ जैसे पुरुष के १२ अंग होते हैं, वैसे ही श्रुतरूप परमपुरुष के आचार आदि १२ अंग क्रमशः होते हैं, इसलिए आचार, सूत्रकृत आदि १२ आगमग्रन्थों के आगे 'अंग' शब्द लगाया जाता है।[6]

---

१ सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा-२

२ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २

३ (क) समवायांग प्रकीर्णक समवाय ८८ (ख) नन्दी सूत्र ८० (ग) अनुयोगद्वार सूत्र ५०

४ (क) नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति पृ० ७७, (ख) नन्दीचूर्णि पृ० ६३

५ प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में "तेवीसाए सुद्दयडज्झाणेसु····। (ख) जं तमंगपविट्ठं·······सूदयडं'·······सूदयदे छत्तीसपद-सहस्साणि।'—जयधवला पृ० २३, तथा पृ० ८५

६ (क) नन्दी सूत्र चूर्णि पृ० ५७, हारी० वृत्ति पृ० ६९,

☐ अर्थागमरूप से सूत्रकर्ता (उपदेशसूत्रकर्ता) भ० महावीर हैं, वाणी या उपदेश उनके अंगभूत होने से इसके अन्त में अंग-शब्द और जोड़ा गया। इस कारण भी इस शास्त्र का नाम सूत्रकृतांग प्रचलित हो गया।[७]

☐ क्षीराश्रवादि अनेकलब्धिरूप योगों के धारक गणधरों ने भगवान् से अर्थरूप में सुनकर अक्षरगुण-मतिसंघटना और कर्मपरिशाटना (कर्मसंक्षय), इन दोनों के योग से अथवा वाग्योग और मनोयोग से शुभ अध्यवसायपूर्वक इस सूत्र की रचना की, इसलिए इसका नाम 'सूत्रकृत' हो गया।[८]

☐ सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं, इस कारण इसका एक नाम 'गाथाषोडशक' भी है।

☐ द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं, ये विस्तृत होने कारण इसे 'महज्झयणाणि' (महाध्ययन) भी कहते हैं।[९]

☐ प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययनों के कुल २६ उद्देशक हैं, और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययनों के सात। कुल ३३ उद्देशक हैं। ३३ ही समुद्देशनकाल हैं, तथा ३६००० पदाग्र हैं।[१०]

☐ सूत्रकृतांग में स्वसमय-परसमय, जीवादि नौ तत्त्वों, श्रमणों की आचरणीय हितशिक्षाओं तथा ३६३ दर्शन मतों का निरूपण है।

☐ दिगम्बर साहित्य में सूत्रकृतांग की विषय वस्तु का निरूपण प्रायः समान ही है।[११]

---

७ नन्दी० मलयगिरिवृत्ति
८ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० २० (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७
९ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० २२ (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८
१० सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० २२, शीलांक वृत्ति पत्रांक ८
११ (क) समवायांग सू० ९० (ख) नन्दीसूत्र सू० ८२
(ग) अंग पण्णत्ती, जयधवला पृ० ११२, राजवार्तिक १।२०, धवला पृ० १००

सूत्रकृतांगसूत्र (प्रथम श्रुतस्कन्ध)

प्रथम अध्ययन : समय

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम '**समय**' है।

☐ शब्द-कोष के अनुसार काल, शपथ, सौगन्ध, आचार, सिद्धान्त, आत्मा, अंगीकार, स्वीकार, संकेत, निर्देश, भाषा, सम्पत्ति, आज्ञा, शर्त, नियम, अवसर, कालविज्ञान, समयज्ञान, नियम बांधना, शास्त्र, प्रस्ताव, आगम, नियम, सर्वसूक्ष्मकाल, रिवाज, सामायिक, संयमविशेष, सुन्दर परिणाम, मत, परिणमन, दर्शन, पदार्थ आदि '**समय**' के अर्थ हैं।

प्रस्तुत में 'समय' शब्द सिद्धान्त, आगम, शास्त्र, मत, दर्शन, आचार एवं नियम आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने 'समय' शब्द का १२ प्रकार का निक्षेप किया है—(१) नामसमय, (२) स्थापना-समय, (३) द्रव्यसमय, (४) कालसमय, (५) क्षेत्रसमय, (६) कुतीर्थसमय, (७) संगार (संकेत) समय, (८) कुलसमय (कुलाचार), (९) गणसमय (संघाचार), (१०) संकर-समय (सम्मिलित एकमत), (११) गंडीसमय (विभिन्न सम्प्रदायों की प्रथा) और (१२) भावसमय (विभिन्न अनुकूल प्रतिकूल सिद्धान्त)।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में 'भावसमय' उपादेय है, शेष समय केवल ज्ञेय हैं।[2]

☐ प्रस्तुत '**समय**' अध्ययन में स्व-पर सिद्धान्त, स्व-परदर्शन, स्व-पर मत एवं स्व-पर-आचार आदि का प्ररूपण किया गया है, जिसे '**स्व-पर-समयवक्तव्यता**' भी कहते हैं।

☐ समय-अध्ययन के चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में बन्धन और उसे तोड़ने का उपाय बताते हुए पंचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्टवाद, अफलवाद का वर्णन किया गया है।[3]

---

१ (क) पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ८६६ (ख) शब्दरत्नमहोदधि पृ० २००९
(ग) अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ७ पृ० ४१८ (घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष; भाग ४ पृ० ३२८
(ङ) समयसार ता० वृ० १५१।२१४।१३

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा २९ (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०

३ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ३० (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११

☐ द्वितीय उद्देशक में नियतिवाद, अज्ञानवाद, चार प्रकार से बद्ध कर्म उपचित (गाढ) नहीं होता, इस प्रकार के बौद्धों के वाद का वर्णन है।[४]

☐ तृतीय उद्देशक में आधाकर्म आहार-सेवन से होने वाले दोष बताये गए हैं। इसके पश्चात् विभिन्न कृतवादों (जगत्-कर्तृत्ववादों), तथा स्व-स्वमत से मोक्षप्ररूपकवाद का निरूपण है।[५]

☐ चतुर्थ उद्देशक में पर-वादियों की असंयमी गृहस्थों के आचार के साथ सदृशता बताई गई है। अन्त में अविरतिरूप कर्मबन्धन से बचने के लिए अहिंसा, समता, कषायविजय आदि स्वसमय (स्व-सिद्धान्त) का प्रतिपादन किया गया है।[६]

☐ स्व-समय प्रसिद्ध कर्मबन्धन के ५ हेतुओं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की दृष्टि से पर-समय (दूसरे दर्शनों, वादों और मतों के आचार-विचार) को बन्धनकारक बता कर उस बन्धन से छुटने का स्व-समय प्रसिद्ध उपाय इस अध्ययन में वर्णित है।[७]

☐ प्रस्तुत प्रथम अध्ययन सूत्र संख्या १ से प्रारम्भ होकर सूत्र ८८ पर समाप्त होता है।

☐ सूत्रकृतांग में वर्णित वादों के साथ बौद्ध ग्रन्थ सुत्तपिटक के दीघनिकायान्तर्गत ब्रह्मजाल सूत्र में वर्णित ६२ वादों की क्वचित्-क्वचित् समानता प्रतीत होती है।[८]

☐☐

पढमं अज्झयणं 'समयो'

प्रथम अध्ययन : समय

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

बंध-मोक्ष स्वरूप :—

१. बुज्झिज्ज तिउट्टेज्जा बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरे ? किं वा जाणं तिउट्टई ॥१॥

२. चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाति एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥२॥

३. सयं तिवायए पाणे अदुवा अण्णेहिं घायए ।
हणंतं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढेति अप्पणो ॥३॥

४. जस्सिं कुले समुप्पन्ने जेहिं वा संवसे णरे ।
ममाती लुप्पती बाले अन्नमन्नेहिं मुच्छिए ॥४॥

५. वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेतं न ताणए ।
संखाए जीवियं चेव कम्मणा उ तिउट्टति ॥५॥

६. एए गंथे विउक्कम्म एगे समण-माहणा ।
अयाणंता विउस्सिता सत्ता कामेहिं माणवा ॥६॥

१. मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिए। बन्धन का स्वरूप जान कर उसे तोड़ना चाहिए। (श्री जम्बूस्वामी ने सुधर्मास्वामी से पूछा) वीर प्रभु ने किसे बन्धन कहा है ? किसे जान कर जीव बन्धन को तोड़ता है ?

२. [श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं—]जो मनुष्य सचित्त (द्विपद चतुष्पद आदि सचेतन प्राणी] हो अथवा अचित्त (चैतन्य रहित सोना चांदी आदि जड़) पदार्थ अथवा भुस्सा आदि तुच्छ वस्तु हो, या थोड़ा-सा भी परिग्रह के रूप में रखता है अथवा दूसरे के परिग्रह रखने की अनुमोदना करता है [इस प्रकार] वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

३, जो व्यक्ति स्वयं (किसी प्रकार से) प्राणियों का वध करता है अथवा दूसरों से वध कराता है या प्राणियों का वध करते हुए अन्य व्यक्तियों का अनुमोदन करता है वह मारे जाने वाले प्राणियों के साथ अपना वैर बढ़ाता है (उपलक्षण से—अपनी आत्मा के साथ शत्रुता बढ़ाता है)।

४. मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न हुआ है, और जिसके साथ निवास करता है वह अज्ञ (बाल) जीव

उसमें ममत्व बुद्धि रखता हुआ पीड़ित होता है। वह मूढ़ दूसरे-दूसरे पदार्थों में मूर्च्छित (आसक्त) होता रहता है।

५. धन-सम्पत्ति और सहोदर भाई-बहन आदि ये सब रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। (यह) जान कर तथा जीवन को भी (स्वल्प) जान कर जीव कर्म (बन्धन) से छूट (पृथक् हो) जाता है।

६. इन (पूर्वोक्त) ग्रन्थों—सिद्धान्तों को छोड़कर कई श्रमण (शाक्यभिक्षु आदि) और माहण (बृहस्पति मतानुयायी—(ब्राहण) [स्वरचित सिद्धान्तों में अभिनिवेशपूर्वक] बद्ध हैं। ये अज्ञानी मानव काम-भोगों में आसक्त रहते हैं। /

विवेचन—सर्वप्रथम बोधिप्राप्ति का संकेत क्यों?—प्रथम सूत्र में बोधि-प्राप्ति की सर्वप्रथम प्रेरणा इसलिए दी गई कि बोधप्राप्ति या सम्बोधि लाभ अत्यन्त दुर्लभ है। यह तथ्य सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि आगमों में यत्र तत्र प्रकट किया है[1] बोधिप्राप्ति इसलिए दुर्लभ है कि एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को बोध प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को ही बोधि प्राप्त हो सकती है, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रियों में जो तिर्यञ्च हैं उनमें बहुत ही विरले पशु या पक्षी को बोधि सम्भव है। जो नारक हैं, उन्हें दुःखों की प्रचुरता के कारण बोधि प्राप्ति का बहुत ही कम अवकाश है। देवों को भौतिक सुखों में आसक्ति के कारण बोधि लाभ प्रायः नहीं होता। उच्चजाति के देवों को बोधि प्राप्त होना सुगम है, परन्तु वे बोधि प्राप्त हो जाने पर भी बन्धनों को तोड़ने के लिए व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, तप-संयम में पुरुषार्थ नहीं कर सकते। इसलिए वहाँ बोधि लाभ होने पर भी तदनुरूप आचरण नहीं होने से उसकी पूरी सार्थकता नहीं होती। रहा मनुष्यजन्म, उसमें जो अनार्य हैं, मिथ्यात्वग्रस्त हैं, महारम्भ और महापरिग्रह में रचे-पचे हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना कठिन है।

जिस व्यक्ति को आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, परिपूर्ण अंगोपांग, स्वस्थ, सशक्त शरीर, दीर्घायुष्य प्राप्त है उसी मनुष्य के लिए बोधि प्राप्त करना सुलभ है। अतः अभी से, इसी जन्म में, बोधि प्राप्त करने का शास्त्रकार का संकेत है।

बोध कैसा व कौन सा है?—यों तो एकेन्द्रिय जीवों में भी चेतना सुषुप्त होती है, द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में वह उत्तरोत्तर विकसित है, त्रस जीवों को भूख प्यास, सर्दी गर्मी, सन्तान पोषण, स्वरक्षण आदि का सामान्य बोध होता है परन्तु यहाँ उस बोध से तात्पर्य नहीं, यहाँ आत्मबोध से तात्पर्य है[2] जिसे आगम की भाषा में बोधि कहा गया है। वास्तव में यहाँ 'बुज्झिज्ज' पद से संकेत किया गया है

---

१ देखिये बोधि-दुर्लभता के आगमों में प्ररूपित उद्धरण—"संबोही खलु पेच्च दुल्लहा"—सूत्रकृ० सूत्र ८९।
"णो सुलहं बोहिं च आहियं"—सूत्रकृ० सूत्र १६१
"बहुकम्म लेवलित्ताणं बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं"— —उत्तरा० ८।१५

२ आत्मा से सम्बन्धित बोध का समर्थन आचारांग (श्रु० १, अ० १, सू० १) से मिलता है—"अत्थि मे आया उववाइए? णत्थि मे आया उववाइए? केवा अहमंसि? केवा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि?'
श्री शंकराचार्य ने भी आत्म-स्वरूप के बोध की ओर इंगित किया है—
"कोऽहं? कथमिदं? जातं, को वै कर्ताऽस्य विद्यते?
उपादानं किमस्तीह? विचारः सोऽयमीदृशः ॥"

कि 'मैं कौन हूँ मनुष्य लोक में कैसे आया ? आत्मा बन्धन रहित होते हुए भी इस प्रकार के बन्धन में क्यों और कैसे पड़ा ? इन वन्धनों के कर्त्ता कौन हैं ? वन्धनों को कौन तोड़ सकता है ? आदि सब प्रश्न आत्म-वोध से सम्बन्धित हैं।

बन्धनों को जान कर तोड़ो—प्रथम गाथा के द्वितीय चरण में यही बात कही गई है कि पहले बन्धनों को जानो, समझो कि वे किस प्रकार के और किन-किन कारणों के होते हैं ? इस वाक्य में यह आशय भी गर्भित है कि बन्धनों को भलीभाँति जाने विना तुम उन्हें तोड़ोगे कैसे ? या तो तुम एक बन्धन को तोड़ दोगे, वहाँ दूसरा वन्धन सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हो जाएगा। गृहस्थाश्रम के बन्धन तोड़ कर साधु जीवन अंगीकार कर लेने पर भी गुरु-शिष्य, गृहस्थ, श्रावक श्राविका, विचरण क्षेत्र, वस्त्र, पात्रादि उपकरणों के मोह ममत्वरूप बन्धन प्रविष्ट हो जाने की आशंका हैं। अथवा अवन्धन को बन्धन और वन्धन को अबन्धन समझ कर विपरीत पुरुषार्थ किया जायगा।

इस वाक्य में जैन दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त —**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**—ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष होता है, का प्रतिपादन किया गया है।

वेदान्त, सांख्य आदि कई दर्शन ज्ञान मात्र से मुक्ति बताते हैं। मीमांसा आदि दर्शन एकान्त कर्म (क्रिया) से कल्याण प्राप्ति मानते हैं; किन्तु जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया दोनों से मुक्ति मानता है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा गया है– ज्ञपरिज्ञा से पहले उन बन्धनों को जानो, समझो और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उन्हें त्याग ने का पुरुषार्थ करो। अकेला ज्ञान पंगु है और अकेली क्रिया अन्धी है। अतः बन्धन का सिर्फ ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं। इसी प्रकार अज्ञानपूर्वक उग्र तपश्चरण आदि क्रिया करना भी उचित नही है। ऐसी अन्धी क्रियाएँ बन्धनों को तोड़ने के बदले आसक्ति, मोह, प्रसिद्धि, माया, अहंकार, प्रदर्शन, आडम्वर आदि से जनित वन्धनों में और अधिक डाल देती है। इसलिए यहाँ कहा गया है—वन्धनों को परिज्ञान पूर्वक तोड़ने की क्रिया करो।

दो प्रश्न : बन्धन को कैसे जानें : कैसे तोड़ें ?—यही कारण है कि इस गाथा के उत्तरार्द्ध में बन्धन को जानने और तोड़ने के सम्बन्ध में दो प्रश्न किये गये हैं कि "(१) वीर प्रभु(तीर्थंकर महावीर) ने बन्धन किसे कहा है ? और (२) किसे जान कर जीव बन्धन को तोड़ता है ?"

वास्तव में इन दोनों प्रश्नों के उत्तर के रूप में यह समग्र द्वितीय अंग सूत्र (सूत्रकृतांग) है।

बन्धन का स्वरूप—सामान्य जीव रस्सी, शृंखला, कारागार, तार, अवरोध आदि स्थूल पदार्थों को बन्धन समझता है। परन्तु वे द्रव्य बन्धन हैं जो शरीर से सम्बन्धित है। अमूर्त, अदृश्य, अव्यक्त आत्मा इस प्रकार के द्रव्य वन्धनों से नहीं बन्धता। इसलिए यहाँ आत्मा को बांधने वाले भाव बन्धन को जानने के सम्बन्ध में प्रश्न है।[३]

भाव वन्धन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिसके द्वारा आत्मा परतंत्र कर दिया जाता है, वह बन्धन है।[४] यहाँ 'वन्धन' या बन्ध जैन दर्शन मान्य कर्म सिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है इसलिए वृत्तिकार ने इसका

---

३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२

४ 'बध्यते परतन्त्रीक्रियते आत्माऽनेनेति बन्धनम्' —कर्मग्रन्थ टीका

लक्षण इस प्रकार किया है—"आत्मप्रदेशों के साथ जो (कर्मपुद्गल) क्षीरनीरवत् एकमेक होकर स्थित हो जाते हैं, रहते हैं, या बन्ध जाते हैं वे बन्धन या बन्ध कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म ही एक प्रकार के बन्धन हैं।[५] तत्त्वार्थसूत्र में बन्ध का लक्षण दिया है—'कषायसहित (रागद्वेषादि परिणामयुक्त) जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बन्ध है।'[६]

बन्धन (कर्मबन्ध) के कारण—प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'बंधणं' (बन्धन) शब्द में बन्धन के कारणों को भी ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि ज्ञानावरणीय आदि कर्म बन्धन रूप हैं, इतना जान लेने मात्र से बन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता, यही कारण है कि आगे की गाथाओं में बन्धन का स्वरूप न बता कर बन्धन के कारणों का स्वरूप और उनकी पहचान बतायी गई है। अगली गाथाओं में विवक्षित परिग्रह, हिंसा, मिथ्यादर्शन आदि बन्धन (कर्मबन्धन) के कारण हैं। इसलिए यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके बन्धन शब्द का प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण रूप हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, अथवा परिग्रह और आरम्भ आदि। ये ही यहाँ बन्धन हैं। तत्त्वार्थसूत्र में बन्ध के ५ मुख्य कारण बताये गए हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्हीं को लेकर यहाँ दो प्रश्न किये गये हैं।[७]

बन्धन का मुख्य कारण : परिग्रह—प्रथम गाथा में बन्धन (के कारण) के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया था। अतः उसके उत्तर के रूप में यह दूसरी गाथा है। पहले बताया गया था कि 'अविरति' कर्मबन्ध के पांच मुख्य कारणों में से एक है। अविरति के मुख्यतया पांच भेद हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह। इनमें परिग्रह को कर्मबन्ध का सबसे प्रबल कारण मानकर शास्त्रकार ने सर्वप्रथम उसे ही ग्रहण किया है। क्योंकि हिंसाएँ परिग्रह को लेकर होती है, संसार के सभी समारम्भरूप कार्य 'मैं और मेरा, इस प्रकार की स्वार्थ, मोह, आसक्ति, ममत्व और तृष्णा की बुद्धि से होते हैं और यह परिग्रह है। असत्य भी परिग्रह के लिए बोला जाता है। चोरी का तो मूल ही परिग्रह है और अब्रह्मचर्य सेवन भी अन्तरंग परिग्रह-आसक्ति के कारण होता है। इसी प्रकार प्राणातिपात से लेकर मायामृषा तक के १७ पापों का स्थान, आदिकारण परिग्रह ही हैं। इस कारण परिग्रह समस्त कर्मबन्धनों का प्रधान कारण बनता है।

परिग्रह का लक्षण और पहचान—किसी भी सजीव और निर्जीव, भावात्मक पदार्थ के प्रति ममत्व बुद्धि होने के साथ उसे ग्रहण करने पर ही वह परिग्रह होता है, अन्यथा नहीं। परिग्रह का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है....किसी भी पदार्थ को द्रव्य और भावरूप से सभी ओर से ग्रहण करना या ममत्व-बुद्धि से रखना परिग्रह है।[८]

५　बध्यते जीवप्रदेशैरन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति बन्धनम्। ज्ञानावरणीयाष्टप्रकारं कर्म।
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　—सूत्रकृ० शी० टीका पत्र १२

६　(क) सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।　　　　　—तत्त्वार्थ० अ० ८ सू० ३

७　(क) सूत्र० शीला० टीका० पत्र० १२—"तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाविरत्यादयः परिग्रहारम्भादयो वा।"
　　(ख) मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः।'　　　　　—तत्त्वार्थ० अ० ८ सू० १
　　(ग) सूत्रकृतांग प्रथम भाग समयार्थबोधिनी व्याख्या सहित (पूज्य श्री घासीलाल जी म०) पृ० २०

८　(क) परि-समन्ताद् ममत्वबुद्ध्या द्रव्यभावरूपेण गृह्यते इति परिग्रहः। —सूत्र० अमर सुखबोधिनी व्याख्या पृ २२

किसी वस्तु को केवल ग्रहण करने मात्र से वह परिग्रह नहीं हो जाती अन्यथा पंचमहाव्रती अपरिग्रही साधु के लिए वस्त्र पात्र अन्य धर्मोपकरण उपाश्रय, शास्त्र, पुस्तक, शरीर, शिष्य, भक्त आदि सब परिग्रह हो जाते। वस्तुतः जहाँ मूर्च्छा (आसक्ति) हो, वहीं परिग्रह है।

दशवैकालिकसूत्र में यही कहा है—साधु साध्वी जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन आदि धर्मोपकरण रखते हैं या धारण करते हैं, वह संयम पालन और लज्जा निवारण के लिए है। इसलिए प्राणिमात्र के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने उक्त धर्मोपकरणसमूह को परिग्रह नहीं कहा है, सभी तीर्थंकरों ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है, यही बात महावीर ने कही है।[९]

इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—मूर्च्छा से जिनकी बुद्धि आच्छादित हो गई है उनके लिए सारा जगत् ही परिग्रह रूप है और जिनके मन-मस्तिष्क मूर्च्छा से रहित हैं, उनके लिए सारा जगत् ही अपरिग्रहरूप है।[१०]

महाभारत (४।७२) में भी स्पष्ट कहा है—'बन्ध और मोक्ष के लिए दो ही पद अधिकतर प्रयुक्त होते हैं—"मम' और 'निर्मम'। जब किसी पदार्थ के प्रति मम (ममत्त्व मेरापन) मेरा है यही भाव आ जाता हैं तब प्राणी कर्म-बन्धन से बंध जाता है और जब किसी पदार्थ के प्रति निर्मम (मेरा नहीं हैं) भाव आता है तब बन्धन से मुक्त हो जाता है।[११]

परिग्रह के दो रूप—परिग्रह के शास्त्रकारों ने मुख्यतः दो रूप बताए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य परिग्रह के मुख्यतया दो भेद यहाँ मूल पाठ में बताए हैं—'**चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ**—सचेतन परिग्रह और अचेतन (जड़) परिग्रह। सचित्त परिग्रह में मनुष्य, पशु, पक्षी, (द्विपद, चतुष्पद) तथा वृक्ष, पृथ्वी, वनस्पति फल, धान्य आदि समस्त सजीव वस्तुओं का समावेश हो जाता है और अचित्त परिग्रह में क्षेत्र, वास्तु (मकान) सोना, चाँदी, मणि, वस्त्र, वर्तन, सिक्के, नोट आदि सभी निर्जीव वस्तुओं का समावेश होता है।

भगवतीसूत्र में कर्म, शरीर और भण्डोपकरण-इन तीनों को ममत्त्वयुक्त होने पर परिग्रह बताया है आभ्यन्तर परिग्रह के क्रोध आदि ४ कषाय, हास्य आदि नो कषाय और मिथ्यात्त्व (विपरीत श्रद्धा मान्यता आदि की पकड़), यश, प्रतिष्ठा, लिप्सा, वस्तु न होते हुए भी उसके प्रति लालसा, आसक्ति आदि १४ प्रकार परिग्रह के बताए हैं।

---

९ जं पि वत्थं व पायं व कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥ —दशवै० ६।१९-२०

१० मूर्च्छयाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः॥

११ द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुः निर्ममेति विमुच्यते॥ —महाभारत ४/७२

संसार में जो कुछ दिखाई देता है, वह या तो जड़ होता है अथवा चेतन, इन दोनों में विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते हैं। इन्हीं दोनों को लेकर वाह्य या आभ्यन्तर परिग्रह होता है। इसीलिए शास्त्रकार ने 'चित्तमंतमचित्तं' ये दो पद सूत्ररूप में यहाँ दिये हैं।[१२]

'किसामवि' का तात्पर्य—वृत्तिकार ने इस पद के दो रूप देकर तीन अर्थ सूचित किये हैं—**'किसामवि'** (कृशमपि) थोड़ा-सा भी या तुच्छ तृण, तुष आदि तुच्छ पदार्थ भी तथा **'कसमवि'** (कसमपि) जीव का उस वस्तु को ममत्वबुद्धि से या परिग्रहबुद्धि से प्राप्त करने का परिणाम।[१३]

परिग्रह रखना जैसे कर्मवन्ध का कारण है, वैसे वन्धन के भय से अपने पास न रखकर दूसरे के पास रखाना भी कर्मवन्ध का कारण है। इसी प्रकार, जो दूसरों को परिग्रह ग्रहण, रक्षण एवं संचित करने की प्रेरणा अनुमोदन या प्रोत्साहन देता है, इन्हें भी शास्त्रकार ने परिग्रह और कर्मवन्ध का कारण मानते हुए कहा है—**'परिगिज्झ ···अन्नं वा अणुजाणाइ।'**[१४]

परिग्रह कर्मबन्ध का मूल होने से दु:खरूप—परिग्रह दु:खरूप इसलिए है कि अप्राप्त परिग्रह को प्राप्त करने की इच्छा होती है, नष्ट होने पर शोक होता है, प्राप्त परिग्रह की रक्षा में कष्ट होता है और परिग्रह के उपभोग से अतृप्ति रहती है। परिग्रह से वैर, द्वेष, ईर्ष्या, छल-कपट, चित्तविक्षेप, मद, अहंकार अधीरता, आर्त्त-रौद्रध्यान, विविध पापकर्म बढ़ जाते हैं, इसलिए परिग्रह अपने आप में भी दु:ख-कारक है। फिर परिग्रह कर्मवन्ध का कारण होने से उसके फलस्वरूप असातावेदनीयकर्म के उदय से नाना दु:खरूप कटुफल प्राप्त होते हैं इसीलिए यहाँ कहा गया है—**'एवं दुक्खा ण मुच्चइ'**—वृत्तिकार ने इसका तात्पर्यार्थ बताया है—"परिग्रह अष्ट प्रकार के कर्मवन्ध तथा तत्फलस्वरूप असातोदयरूप दु:ख प्राप्त कराता है, इसलिए दु:खरूप है, अतः परिग्रही इस दु:ख से मुक्त नहीं होता।"

हिंसा : कर्मवन्धन का प्रबल कारण—तीसरी गाथा में भी दूसरी गाथा की तरह कर्मवन्ध के मिथ्यात्व, अविरति आदि ५ मुख्य कारणों में से अविरतिरूप कारण के अन्तर्गत हिंसा (प्राणातिपात) को भी कर्मबन्धन का प्रबल कारण बताया गया है।

वृत्तिकार प्रकारान्तर से प्राणातिपात (हिंसा) को बन्धनरूप बताते हैं। उनका आशय यह है कि परिग्रही व्यक्ति गृहीत परिग्रह से असन्तुष्ट होकर फिर परिग्रह के उपार्जन में तत्पर होता है, उस समय उपार्जित परिग्रह में विरोध करने, अधिकार जमाने या उसे ग्रहण करने वाले के प्रति हिंसक प्रतीकार वैर-विरोध, निन्दा, द्वेष, मारपीट, उपद्रव या वध करता है, इस प्रकार अपने धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद मकान, दूकान, परिवार, जाति,सम्प्रदाय, मत, पंथ, राष्ट्र, प्रान्त, नगर-ग्राम आदि पर ममतावश इन-परिग्रहों की रक्षा के लिए मन, वचन, काया से दूसरे के प्राणों का अतिपात (घात) करता है, इसलिए परिग्रहरक्षार्थ प्राणातिपात (हिंसा) भी कर्मबन्ध का कारण बताने के लिए शास्त्रकार ने यह तीसरी गाथा दी है।[१५]

---

१२ सूत्रकृतांग शीलांक टीका पत्रांक १२

१३ वही, पत्रांक १३, "कसनं कसः, परिग्रहबुद्धया जीवस्य गमनपरिणामः।"

१४ सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक १३

१५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक-१३

प्राणातिपात क्या और कैसे-कैसे ?—हिंसा का जैनशास्त्र प्रसिद्ध पर्यायवाची नाम 'प्राणातिपात' है। हिंसा का अर्थ सहसा साधारण एवं जैनेतर जनता किसी स्थूल प्राणी को जान से मार देना, प्रायः इतना ही समझती है। इसलिए विशेष अर्थ का द्योतक प्राणातिपात शब्द रखा है। प्राण भी केवल श्वासोच्छ्वास नहीं, किन्तु इसके अतिरिक्त ६ प्राण और मिला कर १० बताए हैं। इसलिए प्राणातिपात का लक्षण दिया गया है—'पाँच इन्द्रियों के बल मन, वचन, कायबल, उच्छ्वास-निश्वासबल एवं आयुष्यबल—ये १० बल प्राण हैं। इनका वियोग करना, इनमें से किसी, एक प्राण को नष्ट करना भी हानि पहुंचाना या विरोध कर देना प्राणातिपात (हिंसा) है। इसलिए इस गाथा में कहा गया है—'**सय तिवायए पाणे**।'[१६]

परिग्रहासक्त व्यक्ति दूसरे के प्राणों का घात स्वयं ही नहीं करता, दूसरों के द्वारा भी घात करवाता है। स्वयं के द्वारा हिंसा सफल न होने पर दूसरों को स्वार्थभाव-मोह-ममत्व से प्रेरित-प्रोत्साहित करके हिंसा करवाता है, हिंसा में सहयोग देने के लिए उकसाता है। अथवा हिंसा के लिए उत्तेजित करता है, हिंसोत्तेजक विचार फैलाता है, लोगों को हिंसा के लिए अभ्यस्त करता है। इससे भी आगे बढ़कर कोई व्यक्ति हिंसा करने वालों का अनुमोदन-समर्थन करता है, हिंसाकर्त्ताओं को धन्यवाद देता है, हिंसा के लिए अनुमति, उपदेश या प्रेरणा देता है, अथवा हिंसा के मार्ग पर जाने के लिए बाध्य कर देता है, इस प्रकार कृत, कारित और अनुमोदित तीनों ही प्रकार की हिंसा (प्राणातिपात) है। और वह पापकर्मबन्ध का कारण है। इसलिए यहाँ बताया गया है—**अदुवा अण्णेहिं घायए हणंत वाऽणुजाणाइ**।"

इस पाठ से शास्त्रकार ने उन मतवादियों के विचारों का खण्डन भी ध्वनित कर दिया है जो केवल काया से होने वाली हिंसा को ही हिंसा मानते हैं, अथवा स्वयं के द्वारा की जाने वाली हिंसा को ही हिंसा समझते हैं, दूसरों से कराई हुई हिंसा को, या मैं दूसरों के द्वारा कृत हिंसा की अनुमोदना को हिंसा नहीं समझते। मनुस्मृति में भी हिंसा के समर्थकों आदि को हिंसक की कोटि में परिगणित किया गया है।[१७]

त्रिविध हिंसा: कर्मबन्ध का कारण क्यों ?—पूर्वोक्त त्रिविध हिंसा कर्मबन्ध का कारण क्यों बनती है ? इसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—"**वेरं वड्ढेति अप्पणो**"। आशय यह है कि हिंसा करने, कराने तथा अनुमोदन करने वाला व्यक्ति हिंस्य प्राणियों के प्रति अपना वैर बढ़ा लेता है। जिस प्राणी का प्राणातिपात किया कराया जाता है, उसके मन में उक्त हिंसक के प्रति द्वेष, रोष, घृणा तथा प्रतिशोध की क्रूर

---

१६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक-१३—

"पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च; उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥"

१७ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३—

"अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥" —मनुस्मृति, चाणक्यनीति

—किसी जीव की हिंसा का अनुमोदन करने वाला, दूसरे के कहने से किसी का वध करने वाला, स्वयं उस जीव की हत्या करने वाला, जीव हिंसा से निष्पन्न मांस आदि को खरीदने-बेचने वाला, मांसादि पदार्थों को पकाने वाला, परोसने वाला या उपहार देने वाला, और हिंसा निष्पन्न उक्त मांसादि पदार्थ को स्वयं खाने-सेवन करने वाला, ये सब हिंसक की कोटि में हैं।

भावना जगती है, फलतः उसके मन में वैरभाव बढ़ता है। इसी प्रकार हिंसक के मन में एक ओर अपने शरीर, परिवार, धन या अपने माने हुए सजीव-निर्जीव पदार्थ के प्रति राग, मोह, ममत्व आदि जागते हैं, तथा दूसरी ओर हिंस्य प्राणी के प्रति जागते हैं—द्वेष, घृणा, क्रूरता, रोष आदि। ऐसी स्थिति में ये राग और द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—"राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं" कर्मबन्ध के मूल कारण है। जब हिंसा की, कराई या अनुमोदित की जाती है, तब राग, द्वेष की उत्पत्ति अवश्य होती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—रागद्वेषादि का मन में प्रादुर्भाव न होना ही अहिंसा है, इसके विपरीत रागद्वेषादि का मन-वचन-काया से प्रादुर्भाव होना ही हिंसा है। यही जिनागम का सार है।, एक बार हिंस्य प्राणियों के साथ वैर बंध जाने के बाद जन्म-जन्मान्तर तक वह वैर-परम्परा चलती रहती है। वैर-परम्परा की वृद्धि के साथ कर्मबन्धन में भी वृद्धि होती जाती है। क्योंकि पूर्वबद्ध अशुभकर्मों का क्षय नहीं हो पाता, और नये अशुभकर्म बंधते जाते हैं।[१८]

"वेरं वड्ढेति अप्पणो" का दूसरा अर्थ—इस पंक्ति का एक अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि दूसरे प्राणियों का प्राणघात करने, कराने और उसका अनुमोदन करने वाला व्यक्ति दूसरे प्राणियों की हिंसा तो कर या करा सके अथवा नहीं, राग-द्वेष या कषायवश वह अपनी भावहिंसा तो कर ही लेता है जिसके फलस्वरूप अपनी आत्मा को कर्मबन्धन के चक्र में डाल देता है। ऐसी स्थिति में अपनी आत्मा ही अपना शत्रु बनकर वैर-परम्परा को बढ़ा लेता है।

असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य आदि भी बन्धन के कारण—यहाँ प्राणातिपात शब्द उपलक्षण रूप है,[१९] इसलिए मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन (अब्रह्मचर्य) आदि भी अविरति के अन्तर्गत होने से कर्मबन्ध के कारण समझ लेना चाहिए, भले ही इस सम्बन्ध में यहाँ साक्षात् रूप से न कहा गया हो, क्योंकि मृषावाद आदि का सेवन करते समय भी रागद्वेषादिवश आत्मा के शुभ या शुद्ध परिणामों की हिंसा अथवा आत्मा के भावप्राणों[२०] की हिंसा अवश्य होती है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में असत्य आदि सभी पापास्रवों को हिंसा में समाविष्ट करते हुए कहा गया है—आत्मा के परिणामों की हिंसा के हेतु होने से मृषावाद (असत्य) आदि सभी पापास्रव एक तरह से हिंसा ही हैं। मृषावाद आदि का कथन तो केवल शिष्यों को स्पष्ट बोध करने के लिए किया गया है।[२१]

---

१८ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृष्ठ-४०, ४३।
(ख) उत्तराध्ययन अ० ३२/७ —'रागो य दोसो विय कम्मबीयं'
(ग) अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥—पुरुषार्थ सि० ४४ श्लो०

१९ जो दूसरे का भी बोध कराता है, उसे उपलक्षण कहते हैं। —सम्पादक

२० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३
(ख) ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख; ये चार भावप्राण हैं।

२१ आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसेति। अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।—पुरुषार्थ० ४२ श्लो०

जन्म, संवास, अतिसंसर्ग आदि का प्रभाव : कर्मबन्धकारण—चौथी गाथा में जन्म, संवास एवं अतिसंसर्ग के कारण होने वाली मूर्च्छा, ममता या आसक्ति को कर्मबन्धन का कारण बताया गया है। मनुष्य जिस कुल (उपलक्षण से) राष्ट्र, प्रान्त, नगर, देश, जाति-कौम, वंश आदि में उत्पन्न होता है जिन मित्रों, हमजोलियों, पत्नी-पुत्रों, माता-पिता, भाई-बहन, चाचा, मामा, आदि के साथ रहता है, उसके प्रति वह अज्ञानवश मोह-ममता करता है। इसी प्रकार वह जिन-जिन के सम्पर्क में अधिक आता है, उन्हें वह मूढ़ 'ये मेरे' हैं समझ कर उनमें आसक्त होता है। जहाँ जिस सजीव या निर्जीव पदार्थ पर राग (मोह आदि) होता है, वहाँ उससे भिन्न विरोधी, अमनोज्ञ या अपने न माने हुए पदार्थ पर उसे अरुचि, द्वेष, घृणा या वैरविरोध होना स्वाभाविक है। अतः ममता, मूर्च्छा या आसक्ति राग-द्वेष की जननी होने से ये कर्मबन्ध के कारण हैं। उन कर्मों के फलस्वरूप वह अज्ञ नरक तिर्यंचादिरूप चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःखित होता रहता है। वह जन्म-परम्परा के साथ ममत्वपरम्परा को भी बढ़ता जाता है[22] इस कारण कर्मबन्धन की श्रृंखला से मुक्त नहीं हो पाता।

ममाती लुप्पती बाले—इस वाक्य में शास्त्रकार ने एक महान् सिद्धान्त का रहस्योद्घाटन कर दिया है कि ममता (मूर्च्छा, आसक्ति राग आदि) से ही मनुष्य कर्मबन्धन का भागी बन कर संसार परिभ्रमण करके पीड़ित होता रहता है। इससे यह ध्वनित होता है कि मनुष्य चाहे जिस कुलादि में पैदा हो, चाहे जिन सजीव-निर्जीव प्राणि या पदार्थों के साथ रहे, या उनके संसर्ग में आए किन्तु उन पर मेरेपन की छाप न लगाए, उन पर मोह-ममत्व न रखे तो कर्मबन्धन से पृथक् रह सकता है अन्यथा वह कर्मबन्धन में फंसता रहता है। अपने आपको खो देता है।

'बाल' का अर्थ बालक नही, अपितु सद्-असद्-विवेक से रहित अज्ञान है।

अन्नमन्नेहिं मुच्छिए—इसके स्थान पर पाठान्तर मिलता है—**अण्णे अण्णेहिं मुच्छिए**। इस कारण इस वाक्य के दो अर्थ फलित होते हैं—प्रथम प्रकार के वाक्य का अर्थ है—**परस्पर मूर्च्छित होते हैं**। जबकि दूसरे वाक्य का अर्थ होता है—**अन्य-अन्य पदार्थों में मूर्च्छित होता है**। परस्पर मूर्च्छित होने का तात्पर्य है—वह मूढ़ माता-पिता, पत्नी, पुत्र आदि में मूर्च्छित होता है, तो वे भी अज्ञानवश उस पर मूर्च्छित होते हैं।

अन्य-अन्य पदार्थों में मूर्च्छित होने का आशय वृत्तिकार ने व्यक्त किया है मनुष्य बाल्यावस्था में क्रमशः माता-पिता, भाई-बहन, मित्र-साथी आदि पर मूर्च्छा करता हैं, युवावस्था आने पर पत्नी संतान, पौत्रादि पर उसकी आसक्ति हो जाती है। साथ ही अपने जाने-माने कुल, परिवार आदि के प्रति भी उसकी ममता बढ़ती जाती है। वृद्धावस्था में मूढ़ व्यक्ति की सर्वाधिक ममता अपने शरीर, धन, मकान आदि के प्रति हो जाती है। इस प्रकार की मूढ़ व्यक्ति की ममता-मूर्च्छा बदलती जाती है। विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न वस्तुओं पर ममता टिक जाती है। हमें पिछला पाठ अधिक संगत लगता है। वृत्तिकार ने उसी पाठ को मान कर व्याख्या की है।[23]

---

२२ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३
(ख) आचारांग १।२।

२३ (क) सूयगडंगसुत्तं पढमो सुयक्खंधो अ०१। सू०४ (जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ० २
(ख) सूत्रकृतांग मूल शीलांकवृत्ति पत्रांक १३

वन्धन तोड़ने का उपाय—इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक की प्रथम गाथा में यह प्रश्न उपस्थित किया गया था कि किसे जान कर व्यक्ति वन्धन तोड़ पाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में पाँचवीं गाथा में उसका उपाय दो प्रकार से वताया गया है (१) समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थ प्राणी की रक्षा करने में असमर्थ, (२) तथा जीवन को स्वल्प व क्षणभंगुर मान कर कर्मों के वन्धन को तोड़ सकता है अथवा कर्मों से छूट सकता है। इसी वात को शास्त्रकार कहते हैं—"**सव्वमेयं न ताणइ जीवियं चेव संखाए, कम्मुणा उ तिउट्टइ।**" इसका आशय यह है कि बन्धन यहाँ कोई जंजीर या रस्से का नहीं है, जिसे तोड़ने के लिए शारीरिक बल लगाना पड़े। यहाँ '**परिणामे बन्धः**' इस सिद्धान्तसूत्र के अनुसार मनुष्य के शुभाशुभ परिणामों—पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित परिग्रह, हिंसा एवं मोह-ममता-मूर्च्छा के भावों से जो कठोर अशुभ कर्मबन्धन होते हैं, वे मन से होते हैं. और उन बन्धनों को मन से तोड़ा भी जाता है। कहा भी है—'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** मनुष्यों के वन्ध और मोक्ष का कारण उनका मन ही है।'

मन से ममता-मूर्च्छा आदि के निकलते ही कर्मवन्धन स्वतः हट जायेंगे, आतमा कर्म-वन्धन से छूट जायेगा। मन ने कर्मवन्धन किये हैं, मन ही प्रशस्त चिन्तनवल से इन्हें तोड़ सकेगा।[२४]

वित्त और सहोदर : ममस्त ममत्व स्थानों के प्रतीक—'वित्तं' शब्द से यहाँ केवल सोना चाँदी सिक्के आदि धन ही नहीं, अपितु समस्त अचित्त पदार्थों को ग्रहण कर लेना चाहिए तथा '**सोयरिया**' शब्द से सहोदर भाई-वहन से नहीं, जितने भी सजीव माता-पिता सगे सम्वन्धी-जन हैं उन सवको ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ये ही अचित्त और सचित्त पदार्थ ही ममत्वस्थान हैं।[२५]

जीवन स्वल्प और नाशवान—जिस शरीर पर मनुष्य की इतनी आसक्ति है, जिसे भोजनादि के द्वारा पुष्ट करता है, वस्त्र, मकान, आदि भोज्य साधन जिसकी रक्षा के लिए जुटाता है, जिस जीवन के लिए हिंसा, असत्य. परिग्रह आदि अनेक पाप करता है क्या वह आयुष्य के टूटने पर उस शरीर या जीवन को वचा सकता है ? और इस नाशवान जीवन का कोई भरोसा भी तो नहीं है कि कब नष्ट हो जाए। इस तथ्य को हृदयंगम करके इस जीवन के प्रति ममता को मन से निकाल फैंके। जीवन के लिए अशुभ कर्मबन्ध करने वाले तत्त्वों को हृदय से निकाल दे।[२६]

ये सब भी त्राण रूप नहीं—धन, परिजन आदि सब पूर्वोक्त सचित्त-अचित्त द्रव्य प्राणान्तक शारीरिक मानसिक पीड़ा भोगते हुए परिग्रही, हिंसक या ममत्वी जीव की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। मनुष्य इसलिए इन पर ममत्व करता है कि समय आने पर जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु इष्ट-वियोग आदि के भयंकर दुःखों या जन्म-मरण परम्परा के घोरतम कष्टों से मेरी रक्षा करेंगे और मुझे शरण देंगे, परन्तु

---

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक-१४

२५ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक-१४

२६ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ०-४६

उत्तराध्ययन सूत्र ८/१ में देखिये—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा।

समय आने पर ये कोई भी उसे बचा नहीं सकेंगे और न ही शरण दे सकेंगे। वह निरुपाय होकर देखता रह जायगा।[२५]

निष्कर्ष यह है कि विश्व के कोई भी सजीव-निर्जीव पदार्थ किसी अन्य की प्राणरक्षा में समर्थ नहीं है, और यह जीवन भी स्वल्प और नाशवान है, यह ज्ञपरिज्ञा से सम्यक् जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से सचित्त-अचित्त परिग्रह प्राणिवधादि पाप तथा स्वजनादि के प्रति मोह-ममत्व आदि बन्धन-स्थानों का त्याग करने से जीव कर्म से पृथक् हो जाता। अथवा '**कम्मुणा उ तिउट्टइ**' इस वाक्य का यह भी अर्थ हो सकता है—उक्त दोनों तथ्यों को भली-भाँति जानकर जीव कर्म—संयमानुष्ठानरूप क्रिया करने से बन्धन से छूट जाता है।[२६]

एए गंथे विउक्कम्म—पाँचवीं गाथा तक स्वसमय (सिद्धान्त) का निरूपण किया गया। छठी गाथा से पर-समय का निरूपण किया गया है। इसका आशय यह है कि कई श्रमण एवं माहण (ब्राह्मण) इन अर्हत्कथित ग्रन्थों-शास्त्रों अथवा सिद्धान्तों को अस्वीकार करके परमार्थ को नहीं जानते हुए मिथ्यात्व के उदय से मिथ्याग्रहवश विविध प्रकार से अपने-अपने ग्रन्थों—सिद्धान्तों में प्रबल रूप से बद्ध हैं।[२७]

चूर्णिकार के अनुसार यहाँ शास्त्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि वे तथाकथित श्रमण-माहण परमार्थ को या विरति-अविरति दोष को नहीं जानकर विविध रूप से अपने-अपने ग्रन्थों या सिद्धान्तों से चिपके हुए हैं। इसी मिथ्यात्व के कारण वे न तो आत्मा को मानते हैं और न कर्मबन्ध और मोक्ष (मुक्ति) को। जब आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते तो उसके साथ बंधने वाले कर्मों को, और कर्म-बन्धन से मुक्ति को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। कई माहण (दार्शनिक) आत्मा को मानते भी हैं तो वे सिर्फ पंचभौतिक या इस शरीर के साथ ही विनष्ट होने वाली मानते हैं, जिसमें न तो कर्मबन्ध

---

२५ (क) वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते—उत्तरा० अ० ४ गा० ५

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४९-५०

(ग) धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥"

(घ) जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं पोसेति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसेज्जा। णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।" —आचारांग सूत्र ६६

२६ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४

(ख) संखाए त्ति (संख्याय) ज्ञात्वा जाणणा संखाए, 'अणिच्चं जीवितं' ति तेण कम्माइं-कम्महेतू य त्रोडेज्जा।"
—संखाए का अर्थ है, जानकर, क्या जानकर? जीवन अनित्य है, यह जानकर इस तरीके से कर्मों को—कर्म के कारणों को तोड़े। —सूत्र० चूर्णि०

अथवा चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर भी है—'संधाति जीवितं चेव' जिसका अर्थ किया गया है—'समस्तं धाति—संधाति मरणाय धावति'—समस्त प्राणी जीवन मृत्यु (विनाश) की ओर दौड़ रहा है।—
—सूत्र० चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २

२७ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ५२-५३

का झगड़ा है, न कर्मबन्ध से मुक्ति का कोई प्रश्न है। सांख्यादि दार्शनिक आत्मा को पृथक् तत्त्व मानते हैं तो भी वे उसे निष्क्रिय और अकर्ता मानते हैं, निर्गुण मानते हुए भी भोक्ता मानते हैं। वे मुक्ति मानते हुए भी केवल २५ तत्त्वों के ज्ञानमात्र से ही मुक्ति मानते हैं चारित्र की आवश्यकता नहीं समझते। मीमांसक आदि दार्शनिक कर्म (क्रिया) को मानते हैं, तो भी वे सिर्फ वेदविहित एवं प्रायः स्वर्गादिकामनामूलक कर्मों को मानते हैं, और मोक्ष तक तो उनकी दौड़ ही नहीं है। वे स्वर्ग को ही अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक आत्मा को तो मानते हैं, परन्तु नैयायिक प्रमाण, प्रमेय आदि १६ तत्त्वों के ज्ञान से ही मुक्ति मान लेते हैं। त्याग, नियम, व्रत आदि चारित्र-पालन की वे आवश्यकता नहीं बताते और न उन्होंने कर्मबन्ध का कोई तर्कसंगत सिद्धान्त माना है। कर्मबन्धन से मुक्त करने की सारी सत्ता ईश्वर के हाथों में सौंप दी है। यही हाल प्रायः वैशेषिकों का है—वे बुद्धि सुख-दुःख, इच्छा आदि आत्मा के नौ गुणों के सर्वथा उच्छेद हो जाने को मुक्ति मानते हैं। इनकी मुक्ति भी ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर ही जीव के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल भोग कराता है—बन्धन में डालता है या मुक्त करता है। कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए न तो अहिंसादि चारित्र-धर्म का पालन करने की अनिवार्यता बताई है और न ही कर्मबन्ध को काटने की कोई प्रक्रिया बताई है। संक्षेप में यही इन श्रमण-माहणों का अपसिद्धान्त है। यही कारण है कि ये सब मतवादी आत्मा एवं उसके साथ बँधने वाले कर्म और उनसे मुक्ति के सम्बन्ध में अपनी असत् कल्पनाओं से ग्रस्त होकर कामभोगों में आसक्त हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**अयाणंता विउस्सित्ता सत्ता कामेहिं माणवा।**" कर्मों का बन्धन जब हिंसादि के कारण नहीं माना जाता, तब उनसे छूटने की चिन्ता क्यों होगी? ऐसी स्थिति में उनका स्वच्छन्द कामभोगों में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।[२८]

---

२८ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र १४ के आधार पर।

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या के आधार पर, पृ० ५३-५४

(ग) **बौद्ध**—नात्माऽस्ति, स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम्।
अन्तरा भवसन्तत्या, कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥ —**अभिधम्मत्थ० ३**

सांख्य— पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रतः—
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥ —सांख्यकारिका माठरवृत्ति
तस्मान्न बध्यते नैव मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ —**सांख्यकारिका ६२**

वैशेषिक—"धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्व-ज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥" —**वैशेषिकसूत्र १/४/२**

नैयायिक—"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।" —**न्यायसूत्र १/१/१/३**

मीमांसक—'चोदनालक्षणो धर्मः, चोदना इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाह।' —**मीमांसासूत्र शाब्द भा० १।१।२**
अतीन्द्रायाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते।
(वेद) वचनेन हि नित्येन, यः पश्यति स पश्यति॥ —**मी० श्लोक० कुमारिलभट्ट**

चार्वाक—एतावानेव पुरुषो, यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे! वृकपदं पश्य, यद् वदन्त्यबहुश्रुताः॥ —**वृहस्पति आचार्य**

'एगे समण-माहणा' की व्याख्या—प्रस्तुत गाथा में समण-माहणा का शब्दशः अर्थ होता है—श्रमण और माहन। परन्तु कौन श्रमण और कौन माहन ? इस प्रसंग में वृत्तिकार श्रमण का अर्थ शाक्य भिक्षु करते हैं और माहन का अर्थ ब्राह्मण करते हुए उसका स्पष्टीकरण करते हैं—बार्हस्पत्य (चार्वाक= लोकायतिक) आदि। तथा आगे चलकर—ब्राह्मणपद के प्रवाह में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक एवं मीमांसक को भी ले लेते हैं, क्योंकि ये सभी मिथ्यात्व और अज्ञान से ग्रस्त हैं, अपनी-अपनी मिथ्या-मान्यताओं से आग्रहपूर्वक चिपके हुए हैं। साथ ही स्वच्छन्दरूप से कामभोगों में आसक्त होने के कारण ये अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में भी प्रवृत्त होते हों, यह स्वाभाविक है।[२९]

पर-समय : मिथ्यात्वग्रस्त क्यों और कैसे ?—जैन सिद्धान्तानुसार मिथ्यात्व का लक्षण है—जो वस्तु जैसी और वस्तुतः जिस स्वरूप में है, उसे वैसी और उस रूप में न मानकर विपरीत रूप में मानना।

मिथ्यादर्शन मुख्यतया दो प्रकार का होता है—
"(१) यथार्थ तत्त्वों में श्रद्धा न होना,
(२) अयथार्थ वस्तु पर श्रद्धा करना।"

स्थानांगसूत्र में जीव, धर्म, मार्ग, साधु और मुक्त को लेकर मिथ्यात्व के १० भेद बताये हैं। इसी प्रकार अक्रिया, अविनय, अज्ञान यों तीन प्रकार, आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक आदि ५ एवं २५ प्रकार के मिथ्यात्व शास्त्रों में बताये हैं।[३०]

सन्मतितर्क में मिथ्यात्व के ६ स्थान बताये हैं—(१) आत्मा नहीं है, (२) आत्मा नित्य नहीं है, (३) आत्मा कर्ता नहीं है, (४) आत्मा किसी भी कर्म का भोक्ता नहीं है, (५) मोक्ष नहीं है और (६) मोक्ष का उपाय नहीं है।[३१]

मिथ्यात्व के पूर्वोक्त लक्षण, प्रकार, कारणों और स्थानों की कसौटी पर जब हम उन-उन पर-समयों (पूर्वोक्त बौद्ध, लोकायतिक, सांख्य आदि श्रमण-ब्राह्मण सिद्धान्तों) को कसते हैं तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वे किस-किस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं !

कठिन शब्दों की व्याख्या—गंथे—ग्रन्थ का अर्थ यहाँ कोई शास्त्र या पुस्तक न होकर लक्षणावृत्ति से

---

२९ (क) श्रमणाः शाक्यादयो, बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च ब्राह्मणाः। "....सांख्या एवं व्यवस्थिताः....वैशेषिकाः पुनराहुः ....तथा नैयायिका—तथा मीमांसकाः—एवं चांगीकृत्यैते लोकायितकाः —सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४

३० (क) "दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मेधम्मसण्णा धम्मे अधम्मसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अमग्गे मग्ग सण्णा, अजीवेसु जीव-सण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। —स्थानांग स्था०—१०-सूत्र ७३४

(ख) तिविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते तं जहा—अकिरिए, अविणए, अण्णाणे। —स्थानांग स्था० ३

(ग) धर्मसंग्रह अधिकार-२ श्लो० २२, कर्मग्रन्थ भाग ४ गा० ५२

३१ णत्थि, ण णिच्चो, ण कुणइ कयं ण वेएइ, णत्थि णिव्वाणं।
णत्थि य मोक्खोवाओ, छय मिच्छत्तस्स ठाणाइं॥ —सन्मतितर्क

(ङ.) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ५३

सिद्धान्त या मत अर्थ ही अधिक संगत होता है। **विउक्कम्म**—उल्लंघन कर, उलट-पुलट रूप में स्वीकार कर, या जिनोक्त सिद्धान्तों के अस्वीकारकर अथवा छोड़कर। **अयाणंता**—वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—परमार्थ को न जानते हुए, चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—विरति-अविरति दोषों को न जानते हुए। **विउस्सिता**—वृत्तिकार ने इसका विवेचन यों किया है—विविध-अनेक प्रकार से उत्=प्रबलता से जो सित=बद्ध हैं—वे व्युत्सृत हैं—स्व-स्वसमय (सिद्धान्त) से अभिनिविष्ट (चिपके हुए) हैं।

कामेहिसत्ता—की व्याख्या चूर्णिकार के मतानुसार—अप्रशस्त इच्छा वाले गृहस्थ (मानव) शब्दादि कामभोगों में अथवा इच्छारूप एवं मदनरूप कामों में आसक्त हैं, रक्त—गृद्ध हैं, मूर्च्छित हैं। प्रायः यही व्याख्या वृत्तिकार ने की है।[32]

पंच महाभूतवादः—

७. **संति पंच महब्भूया इहमेगेसिमाहिया।**
पुढवी आऊ तेऊ वाऊ आगासपंचमा ॥७॥

८. **एते पंच महब्भूया तेब्भो एगो त्ति आहिया।**
अह एसिं विणासे उ विणासो होइ देहिणो ॥८॥

७. इस लोक में पाँच महाभूत हैं, (ऐसा) किन्हीं ने कहा है। (वे पंच महाभूत हैं) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पांचवाँ आकाश।

८. ये पांच महाभूत हैं। इनसे एक (आत्मा उत्पन्न होता है, ऐसा उन्होंने) कहा। पश्चात् इन (पंचमहाभूतों) के विनाश से देही (आत्मा) का विनाश होता है।

विवेचन—पंचमहाभूतवाद का स्वरूप—इन दो गाथाओं में पंचमहाभूतवाद का स्वरूप बताया गया है। वृत्तिकार इन पंचमहाभूतवादियों को चार्वाक कहते हैं। यद्यपि सांख्यदर्शन और वैशेषिकदर्शन भी पंचमहाभूतों को मानते हैं, परन्तु वे इन पंचमहाभूतों को ही सभी कुछ नहीं मानते। सांख्यदर्शन पुरुष (आत्मा) प्रकृति, महत्तत्व (बुद्धि), अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पचतन्मात्र (विषय) आदि, तथा वैशेषिकदर्शन दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थों को भी मानता है, जबकि चार्वाक (लोकायतिक) पंचभूतों के अतिरिक्त आत्मा आदि कोई भी पदार्थ नहीं मानता, इसलिए इन दोनों गाथाओं में उक्त मत लोकायतिक का ही मान कर व्याख्या की गई है।

लोकायतिक मत इस प्रकार है—"पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पांच महाभूत सर्वलोक-व्यापी एवं सर्वजनप्रत्यक्ष होने से महान् है, इनके अस्तित्व से न तो कोई इन्कार कर सका है, और न

---

३२ विउक्कम्म—एतान् अनन्तरोक्तान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य परित्यज्य। अयाणंता—परमार्थमजानानाः (शी० वृत्ति पत्र १४) 'अयाणं' ता विरति—अविरतिदोसे य।" (चू० मू० पा० टि० पृ० २)। विउस्सित्ता विविधमनेकप्रकारम् उत् प्राबल्येन सिता बद्धाः। (शी० वृत्ति प० १४), बीभत्सं वा उत्सृता विउस्सिता (चू० मू० पा० २) एवं सत्ता;कामेहिं माणवा—कामाः शब्दादयः, गृहस्था अप्पसत्थिच्छा। कामेसु—इच्छाकामेसु मयणकामेसु वा सत्ता। (चू० मू० पा० टि० २)

ही इनका खण्डन। दूसरे मतवादियों द्वारा कल्पित इन पंचभूतों से भिन्न, परलोक में जाने वाला, सुख-दुःख भोगने वाला आत्मा नाम का कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसका (आत्मा का) बोधक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।

"अनुमान, आगम आदि को हम प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि अनुमान आदि में पदार्थ का इन्द्रियों के साथ साक्षात् सम्बन्ध (सन्निकर्ष) नहीं होता, इसलिए उनका मिथ्या होना सम्भव है। अतः हम मानते हैं कि पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के शरीर रूप में परिणत होने पर इन्हीं भूतों से अभिन्न ज्ञानस्वरूप चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे—गुड़-महुआ आदि मद्य की सामग्री के संयोग से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही शरीर में इन पंचमहाभूतों के संयोग से चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है। यह चैतन्य शक्ति पंचमहाभूतों से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह पंचमहाभूतों का ही कार्य है। जिस प्रकार जल में बुलबुले उत्पन्न होते हैं और इसी में विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार आत्मा भी इन्हीं पंचभूतों से उत्पन्न होकर इन्हीं में विलीन हो जाता है।[33]

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इसका विस्तृत वर्णन है। यद्यपि कई प्राचीन चार्वाक पृथ्वी, जल, तेज और वायु, इन चार महाभूतों को ही मानते हैं, परन्तु अर्वाचीन चार्वाकों ने सर्वलोक प्रसिद्ध होने से पाँचवें आकाश को भी महाभूत मान लिया।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में ऐसे ही चातुर्भौतिकवाद का वर्णन है—'वे भी आत्मा को रूपी, चार महाभूतों से निर्मित तथा माता-पिता के संयोग से उत्पन्न मानते हैं। तथा यह कहते हैं कि शरीर के विनष्ट होते ही चेतना भी उच्छिन्न, विनष्ट, और लुप्त हो जाती है।[34]

निराकरण—निर्युक्तिकार ने इस वाद का खण्डन इस प्रकार किया है—'पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से चैतन्यादि गुण (तथा तज्जनित बोलना, चलना, सुनना आदि क्रियारूप गुण) उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि पंचमहाभूतों का गुण चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे—बालू में तेल उत्पन्न करने का स्निग्धता गुण नहीं है, इसलिए बालू को पीलने से तेल पैदा नहीं होता, वैसे ही पंचभूतों में चैतन्य उत्पन्न करने का गुण न होने से, उनके संयोग से चैतन्य उत्पन्न नहीं हो सकता। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और स्रोतरूप पाँच इन्द्रियों

---

३३ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५-१६

(ख) देखें द्वितीयश्रुतस्कन्ध सूत्र ६५४-६५८

(ग) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ६५-६६

(घ) (१) पृथिव्यादिभूतसंहत्यां यथा देहादिसम्भवः।
मदशक्तिः सुरांगेभ्यो यत् तद् वच्चिदात्मनि। —षड्दर्शन समुच्चय ८४ श्लोक

(२) शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञके च पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्तिः पिष्टोदक गुडधातक्यादियो मदशक्तिवत्।'
—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ११५

(३) पृथिव्यापस्तेजोवायूरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रियसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्।
—तत्त्वोपप्लव शां० भाष्य

३४ ....अयं अत्ता रूपी चातुमहाभूतिको मातापेत्तिकसम्भवो कायस्स भेदा उच्छिज्जत्ति विनस्सति, न होति परं मरणा ....इत्येके सतो सत्तस्स उच्छेदं विनासं विभव पञ्ञापेंति। —दीघनिकाय ब्रह्मजाल सुत्त पृ० ३०

के जो उपादानकारण हैं, उनका गुण भी चैतन्य नहीं होने से भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई बात, दूसरी इन्द्रिय नहीं जान पाती, तो फिर मैंने सुना भी और देखा भी, देखा, चखा, सूंघा, छुआ भी, इस प्रकार का संकलन—जोड़ रूप ज्ञान किसको होगा ? परन्तु यह संकलन ज्ञान अनुभवसिद्ध है। इससे प्रमाणित होता है कि भौतिक इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है जो पाँचों इन्द्रियों द्वारा जानता है। इन्द्रियाँ करण हैं, वह तत्त्व कर्त्ता है। वही तत्त्व आत्मा है।

वृत्तिकार एक शंका प्रस्तुत करते हैं—यदि पंचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है, तो फिर मृत शरीर के विद्यमान रहते भी 'वह (शरीरी) मर गया' ऐसा व्यवहार कैसे होगा ?

यद्यपि चार्वाक इस शंका का समाधान यों करते हैं कि शरीर रूप में परिणत पंचभूतों में चैतन्य शक्ति प्रकट होने के पश्चात् उन पांच भूतों से किसी भी एक या दो या दोनों के विनष्ट हो जाने पर देही का नाश हो जाता है, उसी पर से 'वह मर गया', ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु यह युक्ति निराधार है। मृत शरीर में भी पांचों भूत विद्यमान रहते हैं, फिर भी उसमें चैतन्यशक्ति नहीं रहती, इसलिए यह सिद्ध है कि चैतन्य शक्तिमान् (आत्मा) पंचभौतिक शरीर से भिन्न है। और वह नित्य है। इस पर से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि पंचभूतों के नष्ट होते ही देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है।[३५]

आत्मा अनुमान से, 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव से, तथा "अत्थि मे आया उववाइए" इत्यादि आगम प्रमाण से सिद्ध होता है। चार्वाक एकमात्र प्रत्यक्ष को मान कर भी स्वयं अनुमान प्रमाण का प्रयोग करता है, यह 'वदतो व्याघात' जैसा है।

मिट्टी की बनाई हुई ताजी पुतली में पांचों भूतों का संयोग होता है, फिर भी उसमें चैतन्य गुण क्यों नहीं प्रकट होता ? वह स्वयं बोलती या चलती क्यों नहीं ? इससे पंचभूतों से चैतन्यगुण प्रकट होने का सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध होता है। चैतन्य एकमात्र आत्मा का ही गुण है, वह पृथ्वी आदि पंचभूतों से भिन्न है, स्पर्शन, रसन आदि गुणों के तथा ज्ञानगुण के प्रत्यक्ष अनुभव से उन गुणों के धारक गुणी का अनुमान किया जाता है।

देह विनष्ट होने के साथ आत्मा का विनाश मानना अनुचित

देह के विनाश के साथ आत्मा का विनाश मानने पर तीन बड़ी आपत्तियाँ आती हैं—

(१) केवलज्ञान, मोक्ष आदि के लिए की जाने वाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र की तथा तप, संयम, व्रत, नियम आदि की साधना निष्फल हो जायगी।

(२) किसी भी व्यक्ति को दान, सेवा, परोपकार, लोक-कल्याण आदि पुण्यजनक शुभकर्मों का फल नहीं मिलेगा।

---

३५ (क) पंचण्हं संजोए अण्णगुणाणं च चेइणागुणो।
पंचेंदियठाणाणं, ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो ॥ —निर्युक्ति गा०-३३

(ख) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक १५-१६

(३) हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापकर्म करने वाले लोग निःशंक होकर पापकर्म करेंगे क्योंकि उनका आत्मा तो शरीर के साथ यहीं नष्ट हो जायेगा। परलोक में उन पापकर्मों का फल भोगने के लिए उनकी आत्मा को नरक, तिर्यंच आदि दुर्गतियों में कहीं जाना नहीं पड़ेगा। इस मिथ्यावाद के फलस्वरूप सर्वत्र अराजकता अनैतिकता और अव्यवस्था फैल जायगी।

जैनदर्शन मानता है कि आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य होते हुए भी पर्यायदृष्टि से कथंचित् अनित्य है ऐसा मानने पर ही शुभाशुभ कर्मफल व्यवस्था बन सकती है, पापकर्म करने वालों की आत्मा को दूसरी गति एवं योनि में उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा, पुण्यकर्म करने वालों को भी उसका शुभ फल मिलेगा और ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप आदि की उत्कृष्ट साधना करने वालों की आत्मा कर्मों से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध, हो सकेगी।

निष्कर्ष यह है कि पंचभूतवाद का सिद्धान्त मिथ्यात्वग्रस्त है, अज्ञानमूलक है, अतः कर्मबन्ध का कारण है।

एकात्मवाद:—

९. जहा य पुढवीथूभे एगे नाणा हि दीसइ।
एवं भो ! कसिणे लोए विण्णू नाणा हि दीसए ॥९॥

१०. एवमेगे त्ति जंपंति मंदा आरंभणिस्सिया।
एगे किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥१०॥

९. जैसे एक ही पृथ्वीस्तूप (पृथ्वीपिण्ड) नानारूपों में दिखाई देता है, हे जीवो ! इसी तरह समस्त लोक में (व्याप्त) विज्ञ (आत्मा) नानारूपों में दिखाई देता है; अथवा (एक) आत्मरूप (यह) समस्त लोक नानारूपों में दिखाई देता है।[३७]

१० इस प्रकार कई मन्दमति (अज्ञानी), 'आत्मा एक ही है,' ऐसा कहते हैं, (परन्तु) आरम्भ में आसक्त रहने वाला व्यक्ति पापकर्म करके स्वयं अकेले ही दुःख प्राप्त करते हैं (दूसरे नहीं)।

---

३६ 'कसिणे लोए विण्णू नाणा हि दीसए'—पाठ में 'कसिणे लोए' को सप्तम्यन्त मानकर व्याप्तपद का अध्याहार करने से ऐसा अर्थ होता है। और 'कसिणे लोए' को प्रथमान्त मानकर अर्थ करने से दूसरा अर्थ होता है। चूर्णिकार ने 'विण्णू' शब्द का अर्थ विद्वान् अथवा विष्णु (व्यापक ब्रह्म) किया है।

३७ गाथा १० में 'एगे किच्चा····दुक्खं नियच्छइ' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है 'एगे' अर्थात् कई पापकर्म करके स्वयं तीव्र दुःख पाते हैं। यहाँ आर्षवचन होने से 'नियच्छइ' में बहुवचन के बदले एकवचन का प्रयोग किया है। परन्तु 'एगे' का अर्थ 'एकाकी' करने से अर्थ हो जाता है—'आरम्भासक्त जीव पाप करके स्वयं अकेले ही तीव्र दुःख प्राप्त करता है। 'एवंमेगेत्ति' का अर्थ चूर्णिकार 'एक एव पुरुषः एवं प्रभाषन्ते' करते हैं।

विवेचन—एकात्मवाद का स्वरूप और उसका खण्डन—प्रस्तुत दोनों गाथाओं में से नौवीं गाथा में दृष्टान्त द्वारा एकात्मवाद का स्वरूप बता कर, दसवीं गाथा में उसका सयुक्तिक खण्डन किया है।

प्रस्तुत गाथा में प्रतिपादित एकात्मवाद उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शनमान्य है।[३८] वेदान्तदर्शन का प्रधान सिद्धान्त है—इस जगत् में सब कुछ ब्रह्म (शुद्ध-आत्म) रूप है, उसके सिवाय नाना दिखाई देने वाले पदार्थ कुछ नहीं हैं। अर्थात् चेतन-अचेतन (पृथ्वी आदि पंचभूत तथा जड़ पदार्थ) जितने भी पदार्थ हैं, वे सब एक ब्रह्म (आत्म) रूप हैं।[३९] यही बात शास्त्रकार ने कही है—**'एवं भो कसिणे लोए विण्णू।''** नाना दिखाई देने वाले पदार्थों को भी वे दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते हैं, जैसे—पृथ्वीसमुदायरूप पिण्ड (अवयवी) एक ही है, फिर भी नदी, समुद्र, पर्वत, रेती का टीला, नगर, घट, घर आदि के रूप में वह नाना प्रकार का दिखाई देता है, अथवा ऊँचा, नीचा, काला, पीला, भूरा, कोमल, कठोर आदि के भेद से नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सब में पृथ्वीतत्त्व व्याप्त रहता है। इन सब भेदों के बावजूद भी पृथ्वी-तत्त्व का भेद नहीं होता, इसी प्रकार एक ज्ञानपिण्ड (विज्ञ-विद्वान) आत्मा ही चेतन-अचेतनरूप समग्र लोक में व्याप्त है। यद्यपि एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा पृथ्वी, जल आदि भूतों के आकार में नाना प्रकार का दिखाई देता है, फिर भी इस भेद के कारण आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नही होता।

आशय यह है कि जैसे— घड़े आदि सब पदार्थों में पृथ्वी एक ही है, उसी तरह आत्मा भी विचित्र आकृति एवं रूप वाले समान जड़-चेतनमय पदार्थों में व्याप्त है और एक ही है। श्रुति (वेद) में भी कहा है— जैसे— एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न घड़ों में अनेक दिखाई देता है, वैसे सभी भूतों में रहा हुआ एक ही (भूत) आत्मा उपाधि भेद से अनेक प्रकार का दिखाई देता है। जैसे एक ही वायु सारे लोक में व्याप्त (प्रविष्ट) है, मगर उपाधिभेद से अलग-अलग रूप वाला हो गया है, वैसे एक ही आत्मा उपाधिभेद से विभिन्नरूप वाला हो जाता है।[४०]

---

३८ उत्तरमीमांसा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदों में, कुछ पुराणों और अन्यवैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। वेद का उपनिषदों में संग्रहीत ज्ञानकाण्ड वेदान्त कहलाता है। वेदान्तदर्शन का क्रमशः वर्णन स्वरचित ब्रह्मसूत्र (वेदान्त सूत्र) में सर्वप्रथम बादरायण (ई० पू० ३-४ शताब्दी) ने किया, जिस पर शंकराचार्य का भाष्य है।

३९ (क) (१) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेहनानास्ति किंचन' —ब्रह्मसूत्र

(२) 'सर्वमेतदिदं ब्रह्म' —छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१

(३) 'ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्' —मैत्र्युपनिषद् ४।६।३

(४) 'पुरुष एवेदं, सर्वं यच्चभूतं यच्च भाव्यम्। —श्वेताश्वतरोप० अ० ४ ब्रा० ६।१३

४० (क) एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

(ख) वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ —कठोप० २।५।१०

मंदा—वे एकात्मवादी मन्दबुद्धि इसलिए हैं कि युक्ति एवं विचार से रहित एकान्त एकात्मवाद स्वीकार करते हैं। एकान्त एकात्मवाद युक्तिहीन है, सारे विश्व में एक ही आत्मा को मानने पर निम्न-लिखित आपत्तियाँ आती हैं—

(१) एक के द्वारा किये गए शुभ या अशुभकर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पड़ेगा जो कि अनुचित व अयुक्तिक है।

(२) एक के कर्मबन्धन होने पर सभी कर्मबन्धन से बद्ध और एक के कर्मबन्धन से मुक्त होने पर सभी कर्मबन्धन से मुक्त होंगे। इस प्रकार की अव्यवस्था हो जाएगी कि जो जीव मुक्त है, वह बन्धन में पड़ जाएगा और जो बन्धन में पड़ा है, वह मुक्त हो जाएगा। इस प्रकार बन्ध और मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।

(३) देवदत्त का ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिए तथा एक के जन्म लेने, मरने या किसी कार्य में प्रवृत्त होने पर सभी को जन्म लेना, मरना या उस कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। परन्तु ऐसा कदापि होना सम्भव नहीं है।

(४) जड़ और चेतन सभी में एक आत्मा मानने पर आत्मा का चैतन्य या ज्ञान गुण जड़ में भी आ जाएगा, जो कि असम्भव है।

(५) जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है वह और शास्त्र का उपदेष्टा, दोनों में भेद न होने के कारण शास्त्ररचना भी न हो सकेगी।

इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—"**एगे किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं नियच्छइ**"—आशय यह है—संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो पापकर्म करता है, उस अकेले को ही उसके फलस्वरूप तीव्र दुःख प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं। किन्तु यह एकात्मवाद मानने पर बन सकता नहीं।[४१]

तज्जीव तच्छरीरवाद—

११. **पत्तेयं कसिणे आया जे बाला जे य पंडिता।**
संति पेच्चा ण ते संति णत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

१२. **णत्थि पुण्णे व पावे वा णत्थि लोए इतो परे।**
सरीरस्स विणासेणं विणासो होति देहिणो ॥१२॥

११. जो बाल (अज्ञानी) हैं और जो पण्डित हैं, उन प्रत्येक (सब) की आत्माएँ पृथक्-पृथक् हैं। मरने के पश्चात् वे (आत्माएँ) नहीं रहतीं। परलोकगामी कोई आत्मा नहीं है।

१२. (इस वाद के अनुसार) पुण्य अथवा पाप नहीं है, इस लोक से पर (आगे) कोई दूसरा लोक नहीं है। देह का विनाश होते ही देही (आत्मा) का विनाश हो जाता है।

---

४१ (क) एकात्मवाद से सम्बन्धित विशेष वर्णन के लिए देखिए —द्वितीय श्रुतस्कन्ध सूत्र ८३३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १९ के आधार पर

विवेचन – तज्जीव तच्छरीरवाद का मन्तव्य और उसकी फलश्रुति—इन दोनों गाथाओं में से प्रथम गाथा में तज्जीव-तच्छरीरवाद का मन्तव्य बताया गया है और दूसरी गाथा में इसकी फलश्रुति।

'वही जीव है और वही शरीर है,' इस प्रकार जो मानता है, उसे तज्जीव-तच्छरीरवाद कहते हैं।[४२] यद्यपि पंचमहाभूतवादी भी शरीर को ही आत्मा बताता है, किन्तु उसके मत में पंचमहाभूत ही शरीर के रूप में परिणत होकर दौड़ना, बोलना आदि सब क्रियाएँ करते हैं, जबकि तज्जीव तच्छरीर वादी शरीर से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति मानता है। शरीर से आत्मा को अभिन्न मानता है, यही इन दोनों वादों में अन्तर है।

यों तो जैनदर्शन, न्यायदर्शन आदि भी कहते हैं—'**प्रत्यगात्मा भिद्यते**' प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है, वह अपने आप में सम्पूर्ण है, पूर्ण शक्तिमान है, किन्तु तज्जीव-तच्छरीरवाद की मान्यता विचित्र है, वह कहता है—जब तक शरीर रहता है, तब तक ही उसकी आत्मा रहती है, शरीर के नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है, क्योंकि शरीररूप में परिणत पंचमहाभूतों से जो चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, वह उनके बिखरते ही या अलग-अलग होते ही नष्ट हो जाती है। शरीर से बाहर निकल कर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष नही दिखाई देता, इसलिए कहा गया—'**पेच्चा ण ते संति।**'' अर्थात्—मरने के बाद परलोक में वे आत्माएँ नहीं जाती।

निष्कर्ष यह है कि शरीर से भिन्न स्व-कर्मफलभोक्ता परलोकानुयायी कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है। जो है, वह शरीर से अभिन्न है। इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—"**णत्थि सत्तोववाइया**'—अर्थात् कोई भी जीव (प्राणी) औपपातिक-एक भव से दूसरे भव में जाने वाले नहीं होते। जैसा कि उनके बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—"प्रज्ञान (विज्ञान) का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतों से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात् ही नष्ट हो जाता है, अतः मरने के पश्चात् इसकी चेतना (आत्मा) संज्ञा नहीं रहती।'[४३] बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटकान्तर्गत उदान में, तथा दीघनिकाय के सामञ्ञ-फलसुत्त में इसी से मिलते-जुलते मन्तव्य का उल्लेख है।[४४]

---

४२ (क) स एव जीवस्तदेव शरीरमितिवदितुं शीलमस्येति तज्जीव-तच्छरीरवादी।

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक-२०

४३ प्र (वि) ज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थायातान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति।"

—बृहदारण्यक उपनिषद् अ० ४ ब्रा० ६, श्लो० १३

४४ (क) संते के समणब्राह्मणा एवं वादिनो एवंदिट्ठानो-तं जीवं तं शरीरं, इदमेव सच्चं मोघमञ्ञाति....।

—सुत्तपिटक उदानं, पढमनातितिथियसुत्तं पृ० १४२

(ख) ....अजितकेसकम्बलो मं एतदवोच—'नत्थि, महाराज ! दिन्नं, नत्थि यिट्ठं नत्थि हुतं, नत्थि सुकतदुक्कटान कम्मानं फलं विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थि परोलोको, नत्थि माता नत्थि पिता, नत्थि सत्ता ओपपातिका नत्थि लोके-सम-ण ब्राह्मणा सम्मग्गता सम्मापटिपन्ना, ये इमंच लोकं, परं च लोकं सयं अभिञ्जा सच्छिकत्वा

(क्रमशः)

इस प्रकार के बाद के तीन परिणाम फलित होते हैं, जो १२ वीं गाथा में बता दिये गए हैं—

(१) जीव के शुभाशुभकर्मफलदायक पुण्य और पाप नहीं होते ।

(२) इस लोक से भिन्न कोई दूसरा लोक ही नहीं है ।

(३) शरीर के नाश के साथ ही शरीरी आत्मा का नाश हो जाता है ।

पुण्य और पाप ये दोनों इसलिए नहीं माने गये कि इनका धर्मीरूप आत्मा यहीं समाप्त हो जाता है । पुण्य-पाप को मानने पर तो उनका फल भोगने के लिए परलोक में गमन भी मानना जरूरी हो जाता है । इसलिए न तो पुण्य-पाप है, और न ही उनका फल भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादि परलोक हैं ।

जब आत्मा ही नहीं, तब आत्मा को धारण करने वाला प्राणी एक जन्म से दूसरे जन्म में कैसे जायेगा ? जैसे पानी का बुलबुला पानी से भिन्न नहीं होता है, वह पानी से ही पैदा होता है और उसी में विलीन हो जाता है, वैसे ही चैतन्य पंचभूतात्मक शरीर से ही पैदा होता है, और उसी में समा जाता है, उसका अलग कोई अस्तित्व नहीं है । जैसे ग्रीष्मऋतु में मरुभूमि में जल न होने पर भी जल का भ्रम हो जाता है, वैसे ही पंचभूतसमुदाय बोलना, चलना आदि विशिष्ट क्रियाएँ करता है, इससे जीव होने का भ्रम होता है ।"

जब उनसे यह पूछा जाता है कि यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है, पुण्य-पाप एवं परलोकादि नहीं हैं, तब धनी-निर्धन, रोगी-निरोगी, सुखी-दुःखी आदि विचित्रताएँ जगत् में क्यों दृष्टिगोचर होती हैं ? तो वे उत्तर देते हैं—यह सब स्वभाव से होता है । जैसे—दो पत्थर के टुकड़े पास-पास ही पड़े हैं, उनमें से एक को मूर्तिकार गढ़ कर देवमूर्ति बना देता है, तो वह पूजनीय हो जाता है । दूसरा पत्थर का टुकड़ा केवल पैर धोने आदि के काम आता है । इन दोनों स्थितियों में पत्थर के टुकड़ों का कोई पुण्य या पाप नहीं है, जिससे कि उनकी वैसी अवस्थाएँ हों, किन्तु ये स्वाभाविक है । अतः जगत् में दृश्यमान विचित्रता भी स्वभाव से है । कांटों में तीक्ष्णता, मोर के पंखों का रंगबिरंगापन, मुर्गी की रंगीन चोटी आदि स्वभाव से होते हैं ।[४५] परन्तु कोई भी भारतीय आस्तिक दर्शन इस समाधान से सन्तुष्ट नहीं हैं । पुण्य-पाप या परलोक न मानने पर जगत् की सारी व्यवस्था एवं शुभकार्य में प्रोत्साहन समाप्त हो जायेंगे ।

कठिन शब्दों की व्याख्या—पेच्चा—मरने के बाद परलोक में **ओववाइया**—औपपातिक, एक भव से दूसरे भव में जाना उपपात कहलाता है । जो एक भव से दूसरे भव में जाते हैं, वे औपपातिक हैं ।

पवेदेंति । चातुमहाभूतिको अयं पुरिसो यदा कालं करोति, पढवीपठवीकायं अनुपेति, अनुपगच्छति, आपो आपो कायं अनु····तेजोते-जोकायं अनु०····वायो वायोकायं अनु०····आकासं इन्द्रियानि संकमन्ति मुसा विलापो ये के चि अत्थिकवादी वदन्ति । बाले च पण्डिते च कायस्स भेदा उच्छिज्जंति विनस्संति, न होन्ति परं मरणा' ति ।

—सुत्तपिटक दीघनिकाय भा० १ सामञ्ञफलसुत्त, पृ०-४१-५३

(ग) सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध सू०-८३३-८३४ में, तथा रायपसेणियसुत्त में इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्ण देखें ।

४५ सूत्रकृतांग शीलांक वत्ति पत्रांक-२०-२१ ।

अकारकवाद—

१३. कुव्वं च कारवं चेव सव्वं कुव्वं ण विज्जति ।
एवं अकारओ अप्पा एवं ते उ पगब्भिया ।।१३।।

१४. जे ते उ वाइणो एवं लोए तेसिं कुओ सिया ।
तमातो ते तमं जंति मंदा आरंभनिस्सिया ।। १४ ।।

१३. आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता, और न दूसरों से कराता है, तथा आत्मा समस्त (कोई भी) क्रिया करने वाला नहीं हैं। इस प्रकार आत्मा अकारक है। इस प्रकार वे (अकारकवादी साँख्य आदि) (अपने मन्तव्य की) प्ररूपणा करते हैं।

१४. जो वे (पूर्वोक्त) वादी (तज्जीव-तच्छरीरवादी तथा अकारकवादी) इस प्रकार (शरीर से *भिन्न आत्मा नहीं है*, इत्यादि *तथा "आत्मा अकर्त्ता और निष्क्रिय है"*) कहते हैं, उनके मत में यह लोक (चतुर्गतिक संसार या परलोक) कैसे घटित हो सकता है ? (वस्तुतः) वे मूढ़ एवं आरम्भ में आसक्त वादी एक (अज्ञान) अन्धकार से निकल कर दूसरे अन्धकार में जाते हैं।

विवेचन—अकारकवादः क्या है ?—१३वीं गाथा में अकारकवाद की झांकी बताई गई है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसे सांख्यों का मत बताया है। क्योंकि **अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने'**, यह सांख्य दर्शनमान्य उक्ति प्रसिद्ध है। सांख्यदर्शन आत्मा को अमूर्त्त, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापी मानते है, [४६] इसलिए उसके मतानुसार आत्मा स्वतन्त्र कर्त्ता (क्रिया करने में स्वतंत्र) नहीं हो सकता, वह स्वयं क्रियाशून्य होता है। वह दूसरे के द्वारा क्रिया कराने वाला नहीं है। इसीलिए कहा गया है—"**कुव्वं च कारवं चेव**" गाथा में प्रयुक्त प्रथम 'च' शब्द आत्मा के भूत और भविष्यत् कर्तृत्व का निषेधक है। आत्मा इसलिए भी अकर्त्ता है कि वह विषय-सुख आदि को तथा इसके कारण पुण्य आदि कर्मों को नहीं करता।

प्रश्न होता है—जब इस गाथा में आत्मा के स्वयं कर्तृत्व एवं कारयितृत्व का निषेध कर दिया, तब फिर दुबारा "सव्वं कुव्वं न विज्जई" कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

इसका समाधान यों किया जाता है कि आत्मा स्वयं क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु 'मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय' एवं जपास्फटिकन्याय से वह स्थितिक्रिया एवं भोगक्रिया करता है।

जैसे किसी दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति अपनी स्थिति के लिए प्रयत्न नहीं करती, वह अनायास ही चित्र में स्थित रहती है, इसी प्रकार प्रकृतिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित आत्मा अनायास ही स्थित रहती है। ऐसी स्थिति में प्रकृतिगत विकार पुरुष (आत्मा) में प्रतिभासित होते हैं। इस मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय से आत्मा स्थित क्रिया का स्वयं कर्त्ता न होने के कारण अकर्त्ता-सा है।

---

४६ "अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ।।" —षड्दर्शन समुच्चय

इसी प्रकार स्फटिक के पास लाल रंग का जपापुष्प रख देने से वह लाल-सा प्रतीत होता है, इसी तरह स्वयं भोगक्रिया रहित आत्मा में बुद्धि के संसर्ग से बुद्धि का भोग प्रतीत होता है। यों जपास्फटिक न्याय से आत्मा की भोगक्रिया मानी जाती है।

इस भ्रम के निवारणार्थ दुबारा यह कहना पड़ा—'सव्वं....विज्जइ।' अर्थात् आत्मा स्वयं किसी भी क्रिया का कर्त्ता नहीं होता। वह एक देश से दूसरे देश जाने की सभी परिस्पन्दादि क्रियाएँ नहीं करता क्योंकि वह सर्वव्यापी और अमूर्त्त होने के कारण आकाश की तरह निष्क्रिय है।[४७]

सांख्यों का विरोधी कथन—

सामान्यतया जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता होता है किन्तु सांख्यमत में कर्त्ता प्रकृति है, भोक्ता पुरुष (आत्मा) है। दानादि कार्य अचेतन प्रकृति करती है, फल भोगता है—चेतन पुरुष। इस तरह कर्तृत्व-भोक्तृत्व का समानाधिकरणत्व छोड़ कर व्याधिकरणत्व मानना पहला विरोध है। पुरुष चेतनावान है फिर भी नहीं जानता, यह दूसरी विरुद्धता है। पुरुष न बद्ध होता है, न मुक्त और नहीं भवान्तरगामी ही होता है, प्रकृति ही बद्ध, मुक्त और भवान्तरगामिनी होती है, यह सिद्धान्तविरुद्ध, अनुभवविरुद्ध कथन भी धृष्टता ही है इसीलिए कहा गया है--एवमकारओ अप्पा, एवं ते उपगब्भिया।"[४८]

पूर्वोक्त वादियों के मत में लोक-घटना कैसे ?

१४वीं गाथा में तज्जीव-तच्छरीरवाद और अकारकवाद का निराकरण करते हुए इन दोनों मतों को मानने पर जन्म-मरणरूप चातुर्गतिक संसार या परलोक घटित न होने की आपत्ति उठाई है। तज्जीव-तच्छरीरवादी शरीर से आत्मा को भिन्न मानते हैं तथा परलोकानुगामी नहीं मानते। तज्जीव-तच्छरीरवाद तथा उसकी ये असंगत मान्यताएँ मिथ्या यों हैं कि शरीर से आत्मा भिन्न सिद्ध होता है। इसे सिद्ध करने के लिए वृत्तिकार ने कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

(१) दण्ड आदि साधनों के अधिष्ठाता कुम्भकार की तरह आत्मा इन्द्रियों आदि करणों का अधिष्ठाता होने से वह इनसे भिन्न है।

(२) संडासी और लोहपिण्ड को ग्रहण करने वाला उनसे भिन्न लुहार होता है, इसी तरह इन्द्रियों (करणों) के माध्यम से विषयों को ग्रहण करने वाला इन दोनों से भिन्न आत्मा है।

(३) शरीररूप भोग्य पदार्थ का भोक्ता शरीर के अंगभूत इन्द्रिय और मन के अतिरिक्त और कोई पदार्थ होना चाहिए, वह आत्मा ही है।

आत्मा को परलोकगामी न मानना भी यथार्थ नहीं है। आत्मा का परलोकगमन निम्नोक्त अनु-

---

४७ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक-२१

४८ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१

(ख) तस्मान्न बध्यते अद्धा न मुच्यते, नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ —सांख्यकारिका

मान से सिद्ध हो जाता है—तत्काल जन्मे हुए बालक को माता के स्तनपान की इच्छा पूर्वजन्म में किये गए स्तनपान के प्रत्यभिज्ञान के कारण होती है। इससे पूर्वजन्म सिद्ध होता है, और पूर्वजन्म सिद्ध होने से अगला जन्म (परलोक) भी सिद्ध हो जाता है। अतः आत्मा का परलोकगमन शुभाशुभ कर्मों के अनुसार अवश्य होता है

इस प्रकार धर्मीरूप आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होने से उसके धर्मरूप पुण्य-पाप की सिद्धि हो जाती है। पुण्य-पाप को न मानने पर जगत् में प्रत्यक्ष दृश्यमान ये सुखी-दुःखी आदि विचित्रताएँ, जो कर्मफलस्वरूप ही है, कैसे संगत हो सकती हैं ? पुण्य-पापरूप कर्म मानने पर ही उनके फलस्वरूप चतुर्गतिरूप ससार (लोक) घटित हो सकता है, अथवा लोकगत विचित्रताएँ सिद्ध हो सकती हैं। इसीलिए तज्जीव तच्छरीरवादियों के प्रति आक्षेप किया है—लोए···सिआ ?

अकारकवादी सांख्यादि मतवादियों के लिए भी यही आपत्ति शास्त्रकार ने उठाई है—'आत्मा को एकान्त कूटस्थ नित्य,[४६] अमूर्त, सर्वव्यापी एवं निष्क्रिय (अकर्ता) मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान जन्म-मरणादि रूप अथवा नरकादिगतिगमनरूप यह लोक (संसार प्रपञ्च) कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में, एक गति या योनि छोड़कर दूसरी गति या योनि में कैसे जन्म-मरण करेगा ? तथा एक ही शरीर में बालक, युवक, वृद्ध आदि पर्यायों को धारण करना कैसे सम्भव होगा ? अगर कर्मानुसार जीवों का गमनागमन नहीं माना जाएगा तो जन्म-मरण आदि रूप संसार कैसे घटित होगा ? कूटस्थ नित्य आत्मा तो अपरिवर्तनशील, एक रूप में ही रहने वाला है, ऐसी मान्यता से बालक सदैव बालक, मूर्ख सदैव मूर्ख ही रहेगा, उसमें किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में जन्ममरणादि दुःखों का विनाश, उसके लिए पुरुषार्थ, कर्मक्षयार्थ तप, जप, संयम-नियम आदि की साधना सम्भव नहीं होगी।

निर्युक्तिकार ने अकारकवाद पर आपत्ति उठाई है कि 'जब आत्मा कर्ता नहीं है और उसका किया हुआ कर्म नहीं है, वह बिना कर्म किये उसका सुखदुःखादि फल कैसे भोग सकता है ? यदि कर्म किये बिना ही फलभोग माना जाएगा तो दो दोषापत्तियाँ खड़ी होंगी १. कृतनाश और २. अकृतागम। फिर तो एक प्राणी के किये हुए पाप से सबको दुःखी और एक के किये हुए पुण्य से सबको सुखी हो जाना चाहिए। किन्तु यह असम्भव और अनुभव विरुद्ध है, तथा अभीष्ट भी नहीं है।

आत्मा यदि व्यापक एवं नित्य है तो उसकी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव तथा मोक्षरूप पाँच प्रकार की गति भी नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में सांख्यवादियों द्वारा काषायवस्त्र धारण, शिरोमुण्डन, दण्डधारण, भिक्षान्नभोजन, यम-नियमादि अनुष्ठान वगैरह साधनाएँ व्यर्थ हो जाएँगी।

इसीप्रकार एकान्तरूप से मिथ्याग्रहवश आत्मा को निष्क्रिय कूटस्थ नित्य मानकर बैठने से न तो त्रिविध दुःखों का सर्वथा नाश होगा, न ही मोक्षादि की प्राप्ति होगी, और कूटस्थ नित्य निष्क्रिय

---

४६ 'अप्रच्युताऽनुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावः नित्यः।'—जो विनष्ट न हो, उत्पन्न न हो स्थिर हो, सदा एक स्वभाव वाला हो वह कूटस्थ नित्य कहलाता है। —सांख्य तत्त्व कौमुदी

जडात्मा २५ तत्त्वों का ज्ञान भी कैसे कर सकेगा ? उस आत्मा में पूर्वजन्मों का स्मरण आदि क्रिया भी कैसे होगी ?[५०] अतः अकारकवाद युक्ति, प्रमाण एवं अनुभव से विरुद्ध है ।

दोनों वादों को मानने वालों की दुर्दशा—

इस गाथा के उत्तरार्द्ध में शास्त्रकार ने पूर्वोक्त दोनों मिथ्यावादों को मानकर चलने वालों की दुर्दशा का संक्षेप में प्रतिपादन किया है—'**तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभणिस्सिया**'—अर्थात् वे (तज्जीव-तच्छरीरवादी) विवेकमूढ़ मंदमति नास्तिक बनकर आत्मा को शुभाशुभकर्म के फलानुसार परलोकगामी नहीं मानते, इस प्रकार उनकी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का गहरा पर्दा पड़ जाने के कारण वे अज्ञानान्धकार में तो पहले से ही पड़े होते हैं । अब वे यह सोचकर कि हम आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक पुण्य-पाप आदि नहीं मानते तो हमें क्यों पाप-कर्म का बन्ध होगा, और क्यों उसके फलस्वरूप दुर्गति मिलेगी ? फलतः बेखटके वे मनमाने हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, आदि पापकर्म में रत हो जाते हैं, इस प्रकार ज्ञानावरणीयादि कर्मसञ्चयवश वे और अधिक गाढ़ अज्ञानान्धकार में पड़ जाते हैं ।

जैसे कोई व्यक्ति विष को मारक न माने-समझे या उसके दुष्प्रभाव से अनभिज्ञ रहकर विष खा ले तो क्या विष अपना प्रभाव नहीं दिखायेगा ? अवश्य दिखाएगा । इसी प्रकार कोई अनुभवसिद्ध सत्य बात को न मानकर उसके परिणाम से अनभिज्ञ रहे और अपने मिथ्या सिद्धान्तों को दुराग्रहवश पकड़े रखे, तदनुसार हिंसादि दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो जाए तो क्या वह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि के प्रभाव से होने वाले पापकर्मबन्ध से बच जाएगा ? क्या उसे वे पापकर्मबन्ध नरकादि घोर अन्धकाररूप अपना फल नहीं देंगे ? स्थूल दृष्टि से देखें तो वे एक नरकादि यातना स्थान में सद्-असद्-विवेक से भ्रष्ट होकर फिर उससे भी भयंकर गाढ़ान्धकार वाले नरक में जाते हैं ।

इस प्रकार अकारकवादियों की भी दुर्दशा होती है । वे भी मिथ्याग्रहवश अपनी मिथ्यामान्यता का पल्ला पकड़कर सत्य सिद्धान्त को सुना-अनसुना करके चलते हैं । फलतः वे मिथ्यात्ववश नाना प्रकार के हिंसादि कार्यों को निःशंक होकर करते रहते हैं । केवल २५ तत्त्वों का ज्ञाता होने से मुक्त हो जाने का झूठा आश्वासन अपने आपको देते रहते हैं । क्या इससे मिथ्यात्व और हिंसादि अविरति के कारण पाप-कर्मबन्धन से तथा उनके फलस्वरूप नरकादि गतियों से वे बच सकेंगे ? कदापि नहीं । यही कारण है कि वे यहाँ भी मिथ्यात्व एवं अज्ञान के गाढ़ अंधकार में डूबे रहते हैं, और परलोक में इससे भी बढ़कर गाढ़ अन्धकार में निमग्न होते हैं ।[५१]

---

५० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २२

(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ३४—

को वेएइ ? अकयं, कयनासो, पंचहा गई नत्थि ।
देवमणुस्सगयागई जाइसरणाइयाणं च ॥

५१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक-२२, २३

आत्मषष्ठवाद—

१५. सति पंच महब्भूता इहमेगेसि आहिता।
आयछट्ठा पुणेगाऽऽहु आया लोगे य सासते ॥१५॥

१६. दुहओ ते ण विणस्संति नो य उप्पज्जए असं।
सव्वे वि सव्वहा भावा नियतीभावमागता ॥१६॥

१५. इस जगत् में पाँच महाभूत हैं और छठा आत्मा है, ऐसा कई वादियों ने प्ररूपण किया (कहा)। फिर उन्होंने कहा कि आत्मा और लोक शाश्वत—नित्य हैं।

१६. (सहेतुक और अहेतुक) दोनों प्रकार से भी पूर्वोक्त छहों पदार्थ नष्ट नहीं होते, और न ही असत्-अविद्यमान पदार्थ कभी उत्पन्न होता है। सभी पदार्थ सर्वथा नियतीभाव-नित्यत्व को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—आत्मषष्ठवाद का निरूपण—इन दो गाथाओं में आत्मषष्ठवादियों की मान्यता का निरूपण है। वृत्तिकार के अनुसार वेदवादी सांख्य और शैवाधिकारियों (वैशेषिकों) का यह मत है।[५२] प्रो० हर्मन जेकोबी इसे चरक का मत मानते हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'उदान' में आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का उल्लेख आता है।[५३] यहाँ शास्त्रकार ने आत्मषष्ठवाद की ५ मुख्य मान्यताओं का निर्देश किया है—

(१) अचेतन पाँच भूतों के अतिरिक्त सचेतन आत्मा छठा पदार्थ है,[५४]
(२) आत्मा और लोक दोनों नित्य हैं,
(३) छहों पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नहीं होता,
(४) असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी नाश नहीं होता,
(५) सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं।

आत्मा और लोक सर्वथा शाश्वत : क्यों और कैसे ?

पूर्वोक्त भूत-चैतन्यवादियों आदि के मत में जैसे इन्हें अनित्य माना गया है, इनके मत में इन्हें सर्वथा नित्य माना गया है। इनका कहना है—सर्वथा अनित्य मानने से बंध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती। इस कारण ये आत्मा को आकाश की तरह सर्वव्यापी और अमूर्त होने से नित्य मानते हैं, तथा पृथ्वी आदि पंचमहाभूतरूप लोक को भी अपने स्वरूप से नष्ट न होने के कारण अविनाशी (नित्य) मानते हैं।

---

५२ एकेषां वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणाञ्चैतद् आख्यातम्। —सूत्र० वृत्ति पत्र २४

५३ (क) This is the opinion expressed by 'Charaka' —प्रो० हर्मन जेकोबी
—The sacred Book of the East VOI.XLV, पृ० 237

(ख) "सन्ति पनेके समणब्राह्मणा एवंवादिनो एवं दिट्ठिनो—सस्सतो अत्ता च लोको च, इदमेव मोघमञ्ञंति।'
—उदान पृ० १४६

५४ आत्मा षष्ठः कोऽर्थः ? यथा पंचमहाभूतानि सन्ति, तथा तेभ्यः पृथग्भूतः षष्ठः आत्माख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः।
—दीपिका

बौद्धदर्शन में पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश होना माना जाता है, अतः उत्पत्ति के अतिरिक्त विनाश का अन्य कोई कारण नहीं है परन्तु आत्मषष्ठवादी इस अकारण (निर्हेतुक) विनाश को नहीं मानते, और न ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार डंडे, लाठी आदि के प्रहार (कारणों) से माने जाने वाले सकारण (सहेतुक) विनाश को मानते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा हो, चाहे पंचभौतिक लोक (लोकगत पदार्थ), अकारण और सकारण दोनों प्रकार से विनष्ट नहीं होते। ये चेतनाचेतनात्मक दोनों कोटि के पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते, स्वभाव को नहीं छोड़ते, इसलिए नित्य हैं।

आत्मा किसी के द्वारा किया हुआ नहीं (अकृतक) है, इत्यादि हेतुओं से नित्य है, और '**न कदाचिदनीदृशं जगत्**'— जगत् कदापि और तरह का नहीं होता, इसलिए नित्य है।

भगवद्गीता में भी कहा गया है—इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता, हवा इसे सुखा नहीं सकती। अतः यह आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है, अविकार्य (विकार रहित) है, यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

असत्पदार्थ की कदापि उत्पत्ति नहीं होती, सर्वत्र सत्पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है। अतः सांख्यदर्शन सत्कार्यवाद के द्वारा आत्मा और लोक की नित्यता सिद्ध करता है। सत्कार्यवाद की सिद्धि भी पांच कारणों से की जाती है—[५५]

(१) **असदकरणात्**—गधे के सींग की तरह जो वस्तु नहीं होती, वह (उत्पन्न) नहीं की जा सकती।

(२) **उपादानग्रहणात्**—जो वस्तु सत् है, उसी का उपादान विद्यमान होता है। विद्यमान उपादान ग्रहण करने के कारण सत् की उत्पत्ति हो सकती है, असत् की नहीं।

(३) **सर्वसम्भवाभावात्**—सभी कारणों से सभी पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती। बालू से तेल नहीं निकल सकता, तिल से ही तेल निकलता है यदि असत्पदार्थ की उत्पत्ति हो तो पेड़ की लकड़ी से कपड़ा गेहुं आदि क्यों नहीं बना लिये जाते ? अतः उपादान कारण से ही कार्य होता है।

---

५५ (क) जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते।
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात् स केन च ? —बौद्ध दर्शन

(ख) नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ —गीता अ० २/२३-२४

(ग) नासतो विद्यते भावो, नाभावो जायते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥ —गीता० अ० २/१६

(घ) असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ —सांख्यकारिका

(४) **शक्तस्य शक्यकरणात्**—मनुष्य की शक्ति से जो साध्य-शक्य हो, उसे ही वह करता है, अशक्य को नहीं। यदि असत् की उत्पत्ति हो तो कर्ता को अशक्य पदार्थ भी बना देना चाहिए।

(५) **कारणभावाच्च सत्कार्यम्**—योग्य कारण में स्थित (विद्यमान सत्) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है, अन्यथा पीपल के बीज से आम का अंकुर पैदा हो जाता।

निष्कर्ष यह है कि सत्कार्यवाद में उत्पत्ति और विनाश केवल आविर्भाव-तिरोभाव के अर्थ में है। वस्तु का सर्वथा अभाव या विनाश नहीं होता, वह अपने स्वरूप में विद्यमान रहती है।

आत्मषष्ठवाद मिथ्या क्यों ?

संसार के सभी पदार्थों (आत्मा, लोक आदि) को सर्वथा या एकान्त नित्य मानना यथार्थ नहीं है। सभी पदार्थों को एकान्त नित्य मानने पर आत्मा में कर्तृत्व-परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकेगा। कर्तृत्व परिणाम के अभाव में कर्मबन्ध कैसे होगा ? कर्मबन्ध नहीं होगा तो सुख-दुःखरूप कर्मफल भोग कैसे होगा ? वह कौन करेगा, क्योंकि आत्मा को अकर्ता मानने पर कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाएगा, ऐसी स्थिति में सुख-दुःख का अनुभव कौन करेगा ?

अगर असत् की कथञ्चित् उत्पत्ति नहीं मानी जाएगी तो पूर्वभव को छोड़कर उत्तरभव में उत्पत्तिरूप जो आत्मा की चार प्रकार की गति और मोक्षरूप पंचमगति बताई जाती है, वह कैसे सम्भव होगी ? आत्मा को अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एवं एक स्वभाव का (कूटस्थनित्य) मानने पर उसका मनुष्य, देव आदि गतियों में गमन-आगमन सम्भव नहीं हो सकेगा और प्रत्यभिज्ञान या स्मृति का अभाव होने से जातिस्मरण आदि भी न हो सकेगा। इसलिए आत्मा को एकान्त नित्य मानना मिथ्या है।

सत की ही उत्पत्ति होती है, ऐसा एकान्तप्ररूपण भी दोषयुक्त है, क्योंकि वह (कार्य) पहले से ही सर्वथा सत् है, तो उसकी उत्पत्ति कैसी ? यदि उत्पत्ति होती है तो सर्वथा सत् कैसे ? घटादि पदार्थ जब तक उत्पन्न नहीं होते, तब तक उनसे जलधारणादि कार्य नहीं हो सकते, अतः घटगुणों से युक्त होकर घट-रूप से उत्पन्न होने से पूर्व मृत्पिण्डादि कार्य को घटरूप में असत् समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा, पंचभूत आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य, तथा किसी अपेक्षा से सत् और किसी अपेक्षा से असत्, इस प्रकार सद्सत्कार्यरूप न मानकर एकान्त मिथ्याग्रह पकड़ना ही आत्मषष्ठवादियों का मिथ्यात्व है। अतः बुद्धिमान् सत्यग्राही व्यक्तियों को प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप से सत् (नित्य) और पर्याय रूप से असत् (अनित्य) मानना ही योग्य है।[५६]

---

५६ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४-२५

(ख) कर्मगुणव्यपदेशाः प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्।
कार्यमसद्विज्ञेयं क्रिया प्रवृत्तेश्च कर्तृणाम् ॥"

—न्यायसिद्धान्त

क्षणिकवाद : दो रूपों में—

१७. पंच खंधे वयंतेगे बाला उ खणजोइणो।
अन्नो अणन्नो णेवाऽऽहु हेउयं च अहेउयं ॥ १७ ॥

१८. पुढवी आऊ तेऊ य तहा वाउ य एकओ।
चत्तारि धाउणो रूवं एवमाहंसु जाणगा ॥ १८ ॥

१७. कई बाल (अज्ञानी) क्षणमात्र स्थिर रहने वाले पाँच स्कन्ध बताते हैं। वे (भूतों से) भिन्न तथा अभिन्न, कारण से उत्पन्न (सहेतुक) और बिना कारण उत्पन्न (अहेतुक) (आत्मा को) नहीं मानते-नहीं कहते।

१८. दूसरे (बौद्धों) ने बताया कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारों धातु के रूप हैं, ये (शरीर के रूप में) एकाकार हो जाते हैं, (तब इनकी जीव-संज्ञा होती है)।

विवेचन—क्षणभंगी पंच स्कन्धवाद : स्वरूप और विश्लेषण—१७वीं गाथा में पंचस्कन्धवादी कतिपय बौद्धों की क्षणिकवाद की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। मूल पाठ एवं वृत्ति के अनुसार पंच-स्कन्धवाद क्षणिकवादी कुछ बौद्धों का मत है। विसुद्धिमग्ग सुत्तपिटकगत अंगुत्तरनिकाय आदि बौद्धग्रन्थों के अनुसार पाँच स्कन्ध निम्न हैं—

१. रूपस्कन्ध, २. वेदनास्कन्ध, ३. संज्ञास्कन्ध, ४. संस्कारस्कन्ध और ५. विज्ञानस्कन्ध।

इन्हीं पाँचों को उपादानस्कन्ध भी कहा जाता है। शीत आदि विविध रूपों में विकार प्राप्त होने के स्वभाव वाला जो धर्म है वह सब एक होकर रूपस्कन्ध बन जाता है। भूत और उपादान के भेद से रूपस्कन्ध दो प्रकार का होता है। सुख-दुःख, असुख और अदुःख रूप वेदन (अनुभव) करने के स्वभाव वाले धर्म का एकत्रित होना वेदनास्कन्ध है। विभिन्न संज्ञाओं के कारण वस्तुविशेष को पहचानने के लक्षण वाला स्कन्ध संज्ञास्कन्ध है, पुण्य-पाप आदि धर्म-राशि के लक्षण वाला स्कन्ध संस्कारस्कन्ध कहलाता है। जो जानने के लक्षण वाला है, उस रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान समुदाय को विज्ञानस्कन्ध कहते हैं।[५७]

इन पाँचों स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इन पंचस्कन्धों से भिन्न आत्मा का न तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, न ही

---

५७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५ के आधार पर

(ख) I पंच खन्धा—रूपक्खन्धो, वेदनाक्खंधो, सञ्ञाक्खंधो, संखारक्खंधो, विञ्ञाणक्खंधो ति। तत्थ यं किंचि सीतादि हि रूप्पनलक्खणं धम्मजातं, सव्वं तं एकतो कत्वा रूपक्खंधो ति वेदितव्वं।····
यं किंचि वेदयित लक्खणं····वेदनाक्खंधो वेदितव्वो। यं किंचि संजाननलक्खणं····संञ्ञक्खंधो वेदितव्वो।
—विसुद्धिमग्ग खन्धनिद्देस पृ॰ ३०९

II पञ्चिमे, भिक्खवे, उपादानक्खंधा। कतमे पञ्च? रूपुपादानक्खंधो, वेदनुपादानक्खंधो, सञ्ञुपादान-क्खंधो, संङ्खारूपादानक्खंधो, विञ्ञाणुपादानक्खंधो। इमे खो, भिक्खवे, पंचुपादानक्खंधा।
—सुत्तपिटके अंगुत्तरनिकाय, पालि भा॰ ४ पृ॰ १९२

(४) शक्तस्य शक्यकरणात्—मनुष्य की शक्ति से जो साध्य-शक्य हो, उसे ही वह करता है, अशक्य को नहीं। यदि असत् की उत्पत्ति हो तो कर्ता को अशक्य पदार्थ भी बना देना चाहिए।

(५) कारणभावाच्च सत्कार्यम्—योग्य कारण में स्थित (विद्यमान सत्) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है, अन्यथा पीपल के बीज से आम का अंकुर पैदा हो जाता।

निष्कर्ष यह है कि सत्कार्यवाद में उत्पत्ति और विनाश केवल आविर्भाव-तिरोभाव के अर्थ में है। वस्तु का सर्वथा अभाव या विनाश नहीं होता, वह अपने स्वरूप में विद्यमान रहती है।

आत्मषष्ठवाद मिथ्या क्यों ?

संसार के सभी पदार्थों (आत्मा, लोक आदि) को सर्वथा या एकान्त नित्य मानना यथार्थ नहीं है। सभी पदार्थों को एकान्त नित्य मानने पर आत्मा में कर्तृत्व-परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकेगा। कर्तृत्व परिणाम के अभाव में कर्मबन्ध कैसे होगा ? कर्मबन्ध नहीं होगा तो सुख-दुःखरूप कर्मफल भोग कैसे होगा ? वह कौन करेगा, क्योंकि आत्मा को अकर्ता मानने पर कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाएगा, ऐसी स्थिति में सुख-दुःख का अनुभव कौन करेगा ?

अगर असत् की कथञ्चित् उत्पत्ति नहीं मानी जाएगी तो पूर्वभव को छोड़कर उत्तरभव में उत्पत्तिरूप जो आत्मा की चार प्रकार की गति और मोक्षरूप पंचमगति बताई जाती है, वह कैसे सम्भव होगी ? आत्मा को अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एवं एक स्वभाव का (कूटस्थनित्य) मानने पर उसका मनुष्य, देव आदि गतियों में गमन-आगमन सम्भव नहीं हो सकेगा और प्रत्यभिज्ञान या स्मृति का अभाव होने से जातिस्मरण आदि भी न हो सकेगा। इसलिए आत्मा को एकान्त नित्य मानना मिथ्या है।

सत की ही उत्पत्ति होती है, ऐसा एकान्तप्ररूपण भी दोषयुक्त है, क्योंकि वह (कार्य) पहले से ही सर्वथा सत् है, तो उसकी उत्पत्ति कैसी ? यदि उत्पत्ति होती है तो सर्वथा सत् कैसे ? घटादि पदार्थ जब तक उत्पन्न नहीं होते, तब तक उनसे जलधारणादि कार्य नहीं हो सकते, अतः घटगुणों से युक्त होकर घट-रूप से उत्पन्न होने से पूर्व मृत्पिण्डादि कार्य्र को घटरूप में असत् समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा, पंचभूत आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य, तथा किसी अपेक्षा से सत् और किसी अपेक्षा से असत्, इस प्रकार सद्सत्कार्यरूप न मानकर एकान्त मिथ्याग्रह पकड़ना ही आत्मषष्ठवादियों का मिथ्यात्व है। अतः बुद्धिमान् सत्यग्राही व्यक्तियों को प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप से सत् (नित्य) और पर्याय रूप से असत् (अनित्य) मानना ही योग्य है।[५६]

---

५६ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४-२५

(ख) कर्मगुणव्यपदेशाः प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्।
कार्यमसद्विज्ञेयं क्रिया प्रवृत्तेश्च कर्त्तृणाम् ॥"

—न्यायसिद्धान्त

क्षणिकवाद : दो रूपों में—

> १७. पंच खंधे वयंतेगे बाला उ खणजोइणो।
> अन्नो अणन्नो णेवाऽऽहु हेउयं च अहेउयं ॥ १७ ॥
>
> १८. पुढवी आऊ तेऊ य तहा वाउ य एकओ।
> चत्तारि धाउणो रूवं एवमाहंसु जाणगा ॥ १८ ॥

१७. कई बाल (अज्ञानी) क्षणमात्र स्थिर रहने वाले पाँच स्कन्ध बताते हैं। वे (भूतों से) भिन्न तथा अभिन्न, कारण से उत्पन्न (सहेतुक) और बिना कारण उत्पन्न (अहेतुक) (आत्मा को) नहीं मानते-नहीं कहते।

१८. दूसरे (बौद्धों) ने बताया कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारों धातु के रूप हैं, ये (शरीर के रूप में) एकाकार हो जाते हैं, (तब इनकी जीव-संज्ञा होती है)।

विवेचन—क्षणभंगी पंच स्कन्धवाद : स्वरूप और विश्लेषण—१७वीं गाथा में पंचस्कन्धवादी कतिपय बौद्धों की क्षणिकवाद की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। मूल पाठ एवं वृत्ति के अनुसार पंच-स्कन्धवाद क्षणिकवादी कुछ बौद्धों का मत है। विसुद्धिमग्ग सुत्तपिटकगत अंगुत्तरनिकाय आदि बौद्धग्रन्थों के अनुसार पाँच स्कन्ध निम्न हैं—

१. रूपस्कन्ध, २. वेदनास्कन्ध, ३. संज्ञास्कन्ध, ४. संस्कारस्कन्ध और ५. विज्ञानस्कन्ध।

इन्हीं पाँचों को उपादानस्कन्ध भी कहा जाता है। शीत आदि विविध रूपों में विकार प्राप्त होने के स्वभाव वाला जो धर्म है वह सब एक होकर रूपस्कन्ध बन जाता है। भूत और उपादान के भेद से रूपस्कन्ध दो प्रकार का होता है। सुख-दुःख, असुख और अदुःख रूप वेदन (अनुभव) करने के स्वभाव वाले धर्म का एकत्रित होना वेदनास्कन्ध है। विभिन्न संज्ञाओं के कारण वस्तुविशेष को पहचानने के लक्षण वाला स्कन्ध संज्ञास्कन्ध है, पुण्य-पाप आदि धर्म-राशि के लक्षण वाला स्कन्ध संस्कारस्कन्ध कहलाता है। जो जानने के लक्षण वाला है, उस रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान समुदाय को विज्ञानस्कन्ध कहते हैं।[५७]

इन पाँचों स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इन पंचस्कन्धों से भिन्न आत्मा का न तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, न ही

---

५७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५ के आधार पर

(ख) I पंच खन्धा—रूपक्खन्धो, वेदनाक्खंधो, सञ्ञाक्खंधो, संखारक्खंधो, विञ्ञाणक्खंधो ति। तत्थ यं किंचि सीतादि हि रूप्पनलक्खणं धम्मजातं, सब्बं तं एकतो कत्वा रूपक्खंधो ति वेदितब्बं।····
यं किंचि वेदयित लक्खणं····वेदनाक्खंधो वेदितब्बो। यं किंचि संजाननलक्खणं····सञ्ञक्खंधो वेदितब्बो।

—विसुद्धिमग्ग खन्धनिद्देस पृ९ ३०९

II पञ्चिमे, भिक्खवे, उपादानक्खंधा। कतमे पञ्च? रूपुपादानक्खंधो, वेदनुपादानक्खंधो, सञ्ञुपादान-क्खंधो, संङ्खारूपादानक्खंधो, विञ्ञाणुपादानक्खंधो। इमे खो, भिक्खवे, पंचुपादानक्खंधा।

—सुत्तपिटके अंगुत्तरनिकाय, पालि भा० ४ पृ० १९२

आत्मा के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई लिंग भी गृहीत होता है, जिससे कि आत्मा अनुमान द्वारा जाना जा सके। प्रत्यक्ष और अनुमान, ये दो ही बौद्धसम्मत प्रमाण हैं।

इस प्रकार बौद्ध प्रतिपादन करते हैं।[५८] फिर वे कहते हैं—ये पाँचों स्कन्ध क्षणयोगी हैं, अर्थात् ये स्कन्ध न तो कूटस्थनित्य हैं, और न ही कालान्तर स्थायी हैं, ये सिर्फ क्षणमात्र स्थायी हैं। दूसरे क्षण ही समूल नष्ट हो जाते हैं। परमसूक्ष्म काल 'क्षण' कहलाता है। स्कन्धों के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिए वे अनुमान प्रयोग करते हैं—स्कन्ध क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं। जो जो सत् होता है, वह-वह क्षणिक होता है, जैसे मेघमाला। मेघमाला क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है। उसी प्रकार सभी सत् पदार्थ क्षणिक हैं।

सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है।[५९] सत् में स्थायित्व या नित्यत्व घटित नहीं होता, क्योंकि नित्य पदार्थ अर्थक्रिया नहीं कर सकता, इसलिए सत् में क्षणिकत्व ही घटित होता है। नित्य पदार्थ में क्रम से या युगपद् (एक साथ) अर्थक्रिया नहीं हो सकती, इसलिए सभी पदार्थों को अनित्य माना जाए तो उनकी क्षणिकता अनायास ही सिद्ध हो सकती है, और पदार्थों की उत्पत्ति ही उसके विनाश का कारण है, जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं होता, वह बाद में कभी नष्ट नहीं होगा।[६०] अतः सिद्ध हुआ कि पदार्थ अपने स्वभाव से अनित्य क्षणिक हैं, नित्य नहीं।

'अण्णो अणण्णो' 'हेउयं अहेउयं'—पदों का आशय—वृत्तिकार ने इन चारों पदों का रहस्य खोलते हुए कहा है कि जिस प्रकार आत्मषष्ठवादी सांख्य पंचभूतों से भिन्न आत्मा को मानते हैं, या जिस प्रकार पंचमहाभूतवादी या तज्जीव-तच्छरीरवादी पंचभूतों से अभिन्न आत्मा को मानते हैं, उस प्रकार ये बौद्ध न तो पंचभूतों से भिन्न आत्मा को मानते हैं, न ही पंचभूतों से अभिन्न आत्मा को। इसी प्रकार बौद्ध आत्मा को न तो सहेतुक (शरीर रूप में परिणत पंचभूतों से उत्पन्न) मानते हैं, और न ही अहेतुक (बिना किसी कारण से आदि-अन्तरहित नित्य) आत्मा को मानते हैं, चूर्णिकार भी इसी से सहमत है इसका—उल्लेख उनके द्वारा मान्य ग्रन्थ सुत्तपिटक के दीघनिकायान्तर्गत महालिसुत्त और जालियसुत्त में मिलता है।[६१]

चातुर्धातुकवाद : क्षणिकवाद का दूसरा रूप—

१८वीं गाथा में क्षणिकवाद के दूसरे रूप चातुर्धातुकवाद का शास्त्रकार ने निरूपण किया है। यह मान्यता भी वृत्तिकार के अनुसार कतिपय बौद्धों की है। चातुर्धातुकवाद का स्वरूप सुत्तपिटक के मज्झिम निकाय के अनुसार इस प्रकार है—

---

५८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५-२६

५९ 'अर्थक्रिया समर्थं यत् तदत्र परमार्थ सत्' —प्रमाणवार्तिक

६० क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रिया कृता।
न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ततो मताः। —तत्त्वसंग्रह

६१ (क) सूत्रकृ० शीला० वृ० पत्रांक २६

(ख) '....अहं खो पनेतं, आवुसो, एवं जानामि, एवं पस्सामि, अथ च पनाहं न वदामि तं जीवं तं सरीरं ति वा अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा।" —सुत्तपिटके दीघनिकाय भा० पृ० १६६

(ग) केचिदन्यं शरीरादिच्छन्ति, केचिदनन्यम्, शाक्यास्तु केचिद् नैवान्यम्, नैवाप्यनन्यम्।
—चूर्णि० मू० पा० टिप्पण पृ० ४

चार धातु हैं—(१) पृथ्वी धातु, (२) जल धातु, (३) तेज धातु और (४) वायु धातु। ये चारों पदार्थ जगत् को धारण-पोषण करते हैं, इसलिए धातु कहलाते हैं। ये चारों धातु जब एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूपस्कन्ध बन जाते हैं, शरीर रूप में परिणत हो जाते हैं, तब इनकी जीवसंज्ञा (आत्मा संज्ञा) होती है। जैसा कि वे कहते हैं—"यह शरीर चार धातुओं से बना है, इन चार धातुओं से भिन्न आत्मा नहीं है।' 'यह भूतसंज्ञक रूपस्कन्धमय होने के कारण पंचस्कन्धों की तरह क्षणिक है। अतः चातुर्धातुक-वाद भी क्षणिकवाद का ही एक रूप है।

'जाणगा' शब्द का अर्थ है—वे बौद्ध, जो अपने आपको बड़े जानकार या ज्ञानी कहते हैं। कहीं-कहीं **'जाणगा'** के बदले पाठान्तर है—**'यावरे'** (य+अवरे) उसका अर्थ होता है—'और दूसरे'।[६२]

ये सभी अफलवादी—वृत्तिकार का कहना है कि ये सभी बौद्धमतवादी अथवा सांख्य, बौद्ध आदि सभी पूर्वोक्त मतवादी अफलवादी हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद के अनुसार पदार्थ मात्र, आत्मा या दान आदि सभी क्रियाएँ क्षणिक हैं। इसलिए क्रिया करने के क्षण में ही कर्ता—आत्मा का समूल विनाश हो जाता है। अतः आत्मा का क्रिया-फल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जब फल के समय तक आत्मा भी नहीं रहती, क्रिया भी उसी क्षण नष्ट हो गई, तब ऐहिक और पारलौकिक क्रियाफल को कौन भोगेगा ?

सांख्य मतानुसार एकान्त अविकारी, निष्क्रिय (क्रियारहित) एवं कूटस्थनित्य आत्मा में कर्तृत्व या फलभोक्तृत्व ही सिद्ध नहीं होता। सदा एक-से रहने वाले कूटस्थ नित्य, सर्वप्रपंचरहित, सर्वथा उदासीन आत्मा में किसी प्रकार की कृति नहीं होती कृति के अभाव में कर्तृत्व भी नहीं होता और कर्तृत्व के अभाव में क्रिया का सम्पादन असम्भव है। ऐसी स्थिति में वह (आत्मा) फलोपभोग कैसे कर सकता है ?

जिनके मत में पंचस्कन्धों या पंचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है, उनके मतानुसार आत्मा (फलभोक्ता) ही न होने से सुख-दुःखादि फलों का उपभोग कौन और कैसे करेगा ? विज्ञान स्कन्ध भी क्षणिक है, ज्ञानक्षण अति सूक्ष्म होने के कारण उसके द्वारा भी सुख-दुःखानुभव नहीं हो सकता।

जब आत्मा ही नहीं है, तो बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरकगमन आदि की व्यवस्था भी गड़बड़ा जाएगी। मोक्षव्यवस्था के अभाव में इन महाबुद्धिमानों की शास्त्र-विहित सभी प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जाएँगी।[६३]

---

६२ (क) "....पुन च परं, भिक्खवे, भिक्खु, इममेव कायं यथाठितं, यथापणिहितं धातुसो पच्चवेक्खति—अत्थि इमस्मिं काये पथवी धातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायुधातु ति।"

—सुत्तपिटके मज्झिमनिकाय पालि भा० ३, पृ० १५३

(ख) "....तत्थ भूतरूपं चतुब्बिधं—पथवीधातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायोधातु ति"

—विसुद्धिमग्ग खंधनिद्देस पृ० ३०९

(ग) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २६-२७

६३ सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २६ के आधार पर

एकान्त क्षणिकवाद मानने से जो क्रिया करता है, और जो उसका फल भोगता है, इन दोनों के बीच काफी अन्तर होने से कृतनाश और अकृतागम ये दोनों दोष आते हैं, क्योंकि जिस आत्मक्षण ने क्रिया की, वह तत्काल नष्ट हो गया, इसलिए फल न भोग सका, यह कृतनाश दोष हुआ, और जिसने क्रिया नहीं की, वह फल भोगता है, इसलिए अकृतागम दोष हुआ। ज्ञान संतान भी क्षणिक होने से उसके साथ भी ये ही दोष आजायेंगे।[६४]

अनेकान्त दृष्टि से आत्मा एवं पदार्थों का स्वरूप निर्णय—

पदार्थों की समीचीन व्यवस्था के लिए प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव, यों चार प्रकार के अभाव को मानना आवश्यक है। इसलिए क्षणभंगवाद निरूपित वस्तु का सर्वथा अभाव कथमपि संगत नहीं है, प्रध्वंसाभाव के अनुसार वस्तु का पर्याय (अवस्था) परिवर्तन मानना ही उचित है। ऐसी स्थिति में वस्तु परिणामी-नित्य सिद्ध होगी।

जैन दृष्टि से आत्मा भी परिणामी नित्य, ज्ञान का आधार, दूसरे भवों में जाने-आने वाला, पंच भूतों से या शरीर से कथंचित्भिन्न तथा शरीर के साथ रहने से शरीर से कथंचित् अभिन्न है। वह आत्मा कर्मों के द्वारा नरकादि गतियों में विभिन्न रूपों में बदलता रहता है, इसलिए वह अनित्य और सहेतुक भी है, तथा आत्मा के निजस्वरूप का कदापि नाश न होने के कारण वह नित्य और अहेतुक भी है। इस प्रकार मानने से कर्ता को क्रिया का सुख-दुःखादिरूप फल भी प्राप्त होगा, बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था भी बैठ जाएगी।[६५]

सांख्यादिमत-निस्सारता एवं फलश्रुति—

१९. अगारमावसंता वि आरण्णा वा वि पव्वया।
इमं दरिसणमावन्ना सव्वदुक्खा विमुच्चती॥ १९॥

२०. ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं ण ते ओहंतराऽऽहिता॥ २०॥

२१. ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं ण ते संसारपारगा॥ २१॥

२२. ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं ण ते गब्भस्स पारगा॥ २२॥

२३. ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं न ते जम्मस्स पारगा॥ २३॥

---

६४ सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २६-२७ के आधार पर

६५ सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २७-२८ के अनुसार

२४. ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं न ते दुक्खस्स पारगा ।। २४ ।।

२५. ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वादिणो एवं न ते मारस्स पारगा ।। २५ ।।

२६. णाणाविहाइं दुक्खाइं अणुभवंति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालम्मि वाहि-मच्चु-जराकुले ।। २६ ।।

२७. उच्चावयाणि गच्छंता गब्भमेस्संतऽणंतसो ।
नायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणोत्तमे ।। २७ ।। त्ति बेमि ।।

१९. घर में रहने वाले (गृहस्थ), तथा वन में रहने वाले तापस एवं प्रव्रज्या धारण किये हुए मुनि अथवा पार्वत—पर्वत की गुफाओं में रहने वाले (जो कोई) भी (मेरे) इस दर्शन को प्राप्त (स्वीकार) कर लेते हैं, (वे) सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

२०. वे (पूर्वोक्त मतवादी अन्यदर्शनी) न तो सन्धि को जानकर (क्रिया में प्रवृत्त होते हैं,) और न ही वे लोग धर्मवेत्ता हैं। इस प्रकार के (पूर्वोक्त अफलवाद के समर्थक) वे जो मतवादी (अन्यदर्शनी) हैं, उन्हें (तीर्थंकर ने) संसार (जन्म-मरण की परम्परा) को तैरने वाले नहीं कहे।

२१. वे (अन्यतैर्थिक) सन्धि को जाने बिना ही (क्रिया में प्रवृत्त होते हैं,) तथा वे धर्मज्ञ नहीं हैं। इस प्रकार के जो वादी है (पूर्वोक्त सिद्धान्तों को मानने वाले) हैं, वे (अन्यतीर्थी) चातुर्गतिक संसार (समुद्र) के पारगामी नहीं हैं।

२२. वे (अन्य मतावलम्बी) न तो सन्धि को जानकर (क्रिया में प्रवृत्त होते हैं); और न ही वे लोग धर्म के ज्ञाता हैं। इस प्रकार के जो वादी (पूर्वोक्त मिथ्या सिद्धान्तों को मानने वाले) हैं, वे गर्भ (में आगमन) को पार नहीं कर सकते।

२३. वे (अन्य मतवादी) न तो सन्धि को जानकर ही (क्रिया में प्रवृत्त होते हैं), और न ही वे धर्म के तत्त्वज्ञ हैं। जो मतवादी (पूर्वोक्त मिथ्यावादों के प्ररूपक हैं, वे जन्म (परम्परा) को पार नहीं कर सकते।

२४. वे (अन्य मतवादी) न तो सन्धि को जानकर (क्रिया में प्रवृत्ति करते हैं), और न ही वे धर्म का रहस्य जानते हैं। इस प्रकार के जो वादी (मिथ्यामत के शिकार) हैं, वे दुःख (—सागर) को पार नहीं कर सकते।

२५. वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने विना ही (क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं), वे धर्म मर्मज्ञ नहीं हैं। अतः जो (पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या प्ररूपणा करने वाले) वादी हैं, वे मृत्यु को पार नहीं कर सकते।

२६. वे (मिथ्यात्वग्रस्त अन्य मतवादी) मृत्यु, व्याधि और वृद्धावस्था से पूर्ण (इस) संसाररूपी चक्र में बार-बार नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं—दुःख भोगते हैं।

२७. ज्ञातपुत्र जिनोत्तम श्री महावीर स्वामी ने यह कहा है कि वे (पूर्वोक्त अफलवादी अन्यतीर्थी) उच्च-नीच गतियों में भ्रमण करते हुए अनन्त वार (माता के) गर्भ में आएँगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अन्य दर्शनियों का अपना-अपना मताग्रह—१६वीं गाथा में शास्त्रकार ने अन्य मतवादियों के द्वारा लोगों को अपने मत-पंथ की ओर खींचने की मनोवृत्ति का नमूना दिखाया है—वे सभी मतवादी यही कहते हैं—चाहे तुम गृहस्थ हो, चाहे आरण्यक या पर्वतीय तापस या योगी हो, चाहे प्रव्रजित हो, हमारे माने हुए या प्रवर्तित दर्शन या वाद को स्वीकार कर लोगे तो समस्त शारीरिक, मानसिक या आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों से मुक्त हो जाओगे, अथवा जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भावास आदि के दुःखों से छुटकारा पा जाओगे। अथवा कठोर तप करके अपने शरीर को सुखा देना, संयम और त्याग की कठोरचर्या अपनाना, शिरोमुण्डन, केशलुञ्चन, पैदल विचरण, नग्न रहना या सीमित वस्त्र रखकर सर्दी-गर्मी आदि परीषह सहना, जटा, मृगचर्म, दण्ड, काषायवस्त्र आदि धारण करना ये सब शारीरिक क्लेश दुःखरूप हैं, हमारा दर्शन या मत स्वीकार करने पर इन शारीरिक कष्टों से छुटकारा मिल जाएगा।[६६]

गार्हस्थ्य-प्रपंचों में रचे-पचे रहते हुए हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों से सर्वथा मुक्त न हो सकने वाले व्यक्ति को भी ये सभी दार्शनिक कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए हिंसादि आस्रवों, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय आदि का त्याग या यथाशक्ति तप, व्रत, नियम, संयम करने के बदले सिर्फ अपने मत या दर्शन को स्वीकार करने का सस्ता, सरल और सीधा मार्ग बतला देते थे।

वनवासी तापस, पर्वतनिवासी योगी या परिव्राजक, जो परिवार, समाज और राष्ट्र के दायित्वों से हटकर एकान्त साधना करते थे, या उन्हें नैतिक, धार्मिक मार्गदर्शन देने से दूर रहते थे, उनके लिए भी वे दार्शनिक यही कहते थे कि हमारे दर्शन का स्वीकार करने से झटपट मुक्ति हो जाएगी, इसमें तुम्हें कुछ त्याग, तप आदि करने की जरूरत नहीं। दूसरों को आकर्षण करने की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा है—

तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चनम्।
अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते॥

—विविध प्रकार के तप करना शरीर को व्यर्थ यातना देना है, संयम धारण करना अपने आपको भोग से वंचित करना है, और अग्निहोत्र आदि कर्म तो बच्चों के खेल-के समान मालूम होते हैं।[६७]

---

६६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २८

(ख) सूत्रकृतांग अमर सुखबोधिनी व्याख्या पृ० १२५ के अनुसार

(ग) 'पव्वए' के बदले कहीं-कहीं 'पव्वइया' पाठान्तर है, उसका अर्थ होता है,—'प्रव्रजिताः' प्रव्रज्या धारण किये हुए। पव्वया के दो अर्थ किये गए हैं—पव्वया=प्रव्रजिताः, प्रव्रज्या धारण किये हुए, अथवा पव्वया=पार्वताः—पर्वत में रहने वाले। —सूत्रकृ० समयार्थबोधिनी टीका पृ० २३२

६७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २८ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १२६ के आधार पर

सर्वदुःखों से विमुक्त होने का मार्ग यह या वह ?

'सव्वदुक्खा विमुच्चइ' इस पंक्ति के पीछे शास्त्रकार का यह भी गर्भित आशय प्रतीत होता है कि पंचभूतात्मवादी से लेकर चातुर्धातुकवादी (क्षणिकवादी) तक के सभी दर्शनकार जो सर्वदुःखों से मुक्ति का आश्वासन देते हैं, क्या यही दुःख-मुक्ति का यथार्थ मार्ग है ? या श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप के द्वारा कर्मक्षय करके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, इन कर्मबन्ध के कारणों से दूर रहना सर्वदुःखमुक्ति का मार्ग है ? इस प्रकार का विवेक प्रत्येक साधक स्वयं करे। सबसे बड़ा दुःख तो जन्म-मरण का है, वह कर्मबन्धन के मिटने से ही दूर हो सकता है, कर्मबन्धन तोड़ने का यथार्थ मार्ग मिथ्यात्वादि पांच आस्रवों से दूर रहना और रत्नत्रय की साधना करना है।

ये सब दार्शनिक स्वयं दुःखमुक्त नहीं

पूर्वगाथा में समस्त अन्य दर्शनियों द्वारा अपने दर्शन को अपना लेने से दुःखमुक्त हो जाने के झूठे आश्वासन का उल्लेख किया गया था, २०वीं गाथा से लेकर २६वीं गाथा तक शास्त्रकार प्रायः एक ही बात को कई प्रकार से दोहराकर कहते हैं, वे दार्शनिक दुःख के मूल स्रोत जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, चतुर्गतिरूप संसार चक्र, गर्भ में पुनः-पुनः आगमन तथा अन्य अज्ञान-मोहादिजनित कष्टों आदि को स्वयं पार नहीं कर पाते, तो दूसरों को दुःखों से मुक्त कैसे करेंगे ? ये स्वयं दुःखमुक्त नहीं हो पाते, इसके मूल दो कारण शास्त्रकार ने बताये हैं—

(१) संधि को जाने बिना ही क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं,

(२) वे धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ हैं। यही कारण है कि शास्त्रकार ने उन सब दार्शनिकों के लिए छह गाथाओं के द्वारा यही बात अभिव्यक्त की है।

इसी बात को विशेष स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार २६वीं गाथा में कहते हैं—**'णाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुभवंति पुणो पुणो'**—अर्थात् वे विभिन्न मतवादी पूर्वोक्त नाना प्रकार के दुःखों को बार-बार भोगते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक जीवन में मिथ्यात्व, हिंसादि से अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रहेगा, तब तक चाहे वह पर्वत पर चला जाए, घोर वन में जाकर ध्यान लगा लें, अनेक प्रकार के कठोर तप भी कर लें अथवा विविध क्रियाकाण्ड भी कर ले तो भी वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भवासरूप संसारचक्र-परिभ्रमण के महादुःखों को सर्वथा समाप्त नहीं कर सकता।[६८]

'ते णावि संधिं णच्चा'—इस पंक्ति में 'ते' शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त किया गया है, जिनके मिथ्यावादों (मतों) के सम्बन्ध में शास्त्रकार पूर्वगाथाओं में कह आए हैं। वे संसार परिभ्रमणादि दुःखों को समाप्त नहीं कर पाते, इसके दो कारणों में से प्रथम महत्त्वपूर्ण कारण है—संधि की अनभिज्ञता। इस पंक्ति में संधि शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत शब्दकोष के अनुसार सन्धि के यहाँ प्रसंगवश मुख्यतया ६ अर्थ होते हैं[६९]—

(१) संयोग, (२) जोड़ या मेल,
(३) उत्तरोत्तर पदार्थ-परिज्ञान, (४) मत या अभिप्राय,
(५) अवसर, तथा (६) विवर-छिद्र।

---

६८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २८ के अनुसार

६९ पाइअसद्दमहण्णवो पृष्ठ ८४२

इन अर्थों के सन्दर्भ में इस पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) आत्मा के साथ कर्म का कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे संयोग, जोड़ या मेल है ?

(२) आत्मा के साथ कर्मबन्धन की सन्धि कहाँ-कहाँ, और कैसे-कैसे, किन कारणों से हो जाती है।

(३) आत्मा कैसे/किस प्रकार कर्मबन्धन से रहित हो सकता है, इस सिद्धान्त, मत या अभिप्राय को वे नहीं जान पाते।

(४) उत्तरोत्तर अधिक पदार्थों (तत्त्वभूत पदार्थों) को वे नहीं जानते।

(५) वे ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों का विवर (रहस्य) नहीं जानते। अथवा आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्ति का अवसर कैसे मिल सकता है ? इस तथ्य को वे नहीं जानते। इस प्रकार संधि को जाने बिना ही वे (पूर्वोक्त) मतवादी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं।[७०]

'ण ते धम्मविऊ जणा'—संसारपरिभ्रमणादि दुःखों से मुक्त न होने का दूसरा प्रबल कारण है—उनका धर्मविषयक अज्ञान। जब वे आत्मा को ही नहीं मानते, या मानते हैं तो उसे कूटस्थनित्य, निष्क्रिय, या शरीर या पंचभूतों या चतुर्धातुओं तक ही सीमित, अथवा पंचस्कन्धात्मक क्षणजीवी मानते हैं, तब वे आत्मा के धर्म को उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और वीर्य आदि निजी गुणों को—स्वभाव को कैसे जान पाएँगे? वे तो हिंसादि पापकर्मों को ही आत्मा का स्वाभाविक धर्म समझे बैठे हैं, अथवा आत्मा को जान-मानकर भी वे उसके साथ संलग्न होने वाले कर्मबन्ध को तोड़कर आत्मा को उसके निजी धर्म में रमण नहीं करा पाते। कदाचित् वे शुभकर्मजनित पुण्यवश स्वर्ग पा सकते हैं, परन्तु जन्म-मरणादि दुःखों से सर्वथा मुक्ति नहीं पा सकते, न ही उसके लिए तीर्थंकरों द्वारा आचरित, प्ररूपित एवं अनुभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप रूप धर्म की आराधना-साधना करते हैं। वे इस धर्म के ज्ञान और आचरण से कोसों दूर हैं।

उच्चावयाणि गच्छंता गब्भमेस्संति पुणो पुणो—यह भविष्यवाणी वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर द्वारा उन्हीं पूर्वोक्त वादियों के लिए की गई है। विश्वहितंकर राग-द्वेष मुक्त, सर्वज्ञ, निःस्पृह महापुरुष किसी के प्रति रोष, द्वेष, वैर, घृणा आदि से प्रेरित होकर कोई वचन नहीं निकालते, उन्होंने अपने ज्ञान में पूर्वोक्त वाद की प्ररूपणा करने वाला जैसा अन्धकारमय भविष्य देखा, वैसा व्यक्त कर दिया। उन्होंने उनके लिए **उच्चावयाणि गच्छंता**—उच्च नीच गतियों में भटकने की बात कही, उसके पीछे रहस्य यह है कि एक तो वे स्वयं उक्त मिथ्यावादों के कदाग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, फिर वे हजारों-लाखों जनसमुदाय के समक्ष मुक्ति—सर्वदुःखमुक्ति का प्रलोभन देकर उन्हें भी मिथ्यात्वविष का पान कराते हैं, तब भला वे घोर मिथ्यात्व के प्रचारक इतने कठोर प्रायश्चित्त के बिना कैसे छुटकारा पा सकते हैं ? फिर भी अगर वे गोशालक की तरह बीच में ही सँभल जाएँ, अपनी भूल सुधार लें तो कम से कम दण्ड से भी छुट्टी मिल सकती है। परन्तु मिथ्यात्व के गाढ़तम अन्धकार में ही वे लिपटे रहें, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की उनमें जिज्ञासा भी न हो तो चारों गतियों के दुःखों को भोगना ही पड़ेगा, अनन्त बार गर्भ में आना ही पड़ेगा।[७१]

इस प्रकार गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से तीर्थंकर भगवान महावीर से साक्षात सुना हुआ वर्णन किया है। □□

---

७० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २९ के आधार पर ७१ वही, पत्रांक २९

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

नियतिवाद-स्वरूप—

२८. आघायं पुण एगेसिं उववन्ना पुढो जिया ।
वेदयंति सुहं दुक्खं अदुवा लुप्पंति ठाणओ ॥ १ ॥

२९. न तं सयंकडं दुक्खं कओ अन्नकडं च णं ।
सुहं वा जइ वा दुक्खं सेहियं वा असेहियं ॥ २ ॥

३०. न सयं कडं ण अन्नेहिं वेदयन्ति पुढो जिया ।
संगतियं तं तहा तेसिं इहमेगेसिमाहियं ॥ ३ ॥

३१. एवमेताइं जंपंता बाला पंडियमाणिणो ।
णियया-ऽणिययं संतं अजाणंता अबुद्धिया ॥ ४ ॥

३२. एवमेगे उ पासत्था ते भुज्जो विप्पगब्भिया ।
एवं उवट्ठिता संता ण ते दुक्खविमोक्खया ॥ ५ ॥

२८. पुनः किन्हीं मतवादियों का कहना है कि (संसार में) सभी जीव पृथक्-पृथक् हैं, यह युक्ति से सिद्ध होता है। तथा वे (जीव पृथक्-पृथक् ही) सुख-दुःख भोगते हैं, अथवा अपने स्थान से अन्यत्र जाते हैं—अर्थात्—एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हैं।

२९-३०. वह दुःख (जब) स्वयं द्वारा किया हुआ नहीं है, तो दूसरे का किया हुआ भी कैसे हो सकता है? वह सुख या दुःख, चाहे सिद्धि से उत्पन्न हुआ हो अथवा सिद्धि के अभाव से उत्पन्न हुआ हो, जिसे जीव पृथक्-पृथक् भोगते हैं, वह न तो उनका स्वयं का किया हुआ है, और न दूसरे के द्वारा किया हुआ है, उनका वह (सुख या दुःख) सांगतिक=नियतिकृत है ऐसा इस दार्शनिक जगत् में किन्हीं (नियति-वादियों) का कथन है।[1]

३१. इस (पूर्वोक्त) प्रकार से इन (नियतिवाद की) बातों को कहनेवाले (नियतिवादी) स्वयं अज्ञानी (वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ) होते हुए भी अपने आपको पण्डित मानते हैं, (क्योंकि सुख-दुःख आदि)

---

१ 'मक्खलिपुत्तगोसालक' नियतिवाद का मूल पुरस्कर्ता और आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था; परन्तु प्रस्तुत गाथाओं में कहीं भी गोशालक या आजीवक का नाम नहीं आया। हाँ, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नियति और संगति शब्द का (सू० ६६३-६५) उल्लेख है। उपासकदसांग के ७वें अध्ययन में गोशालक और उसके मत का सद्दालपुत्त और कुण्डकोलिय प्रकरण में स्पष्ट उल्लेख है कि गोशालक मतानुसार उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ आदि कुछ भी नहीं है। सब भाव सदा से नियत है। बौद्ध-ग्रन्थ दीघनिकाय, संयुक्त निकाय, आदि में तथा जैनागम व्याख्या प्रज्ञप्ति, स्थानांग, समवायांग, औपपातिक आदि में भी आजीवक मत-प्रवर्त्तक नियतिवादी गोशालक का (नामपूर्वक या नामरहित) वर्णन उपलब्ध है। —जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० २, पृ० १३८

नियत (नियतिकृत) और अनियत (अनियतिकृत) दोनों ही प्रकार के होते हैं, परन्तु बुद्धिहीन (नियतिवादी) इसे नहीं जानते।

३२. इस प्रकार कई (नियतिवाद से ही) पास में रहने वाले, (पार्श्वस्थ) अथवा कर्मपाश (कर्म-बन्धन) में जकड़े हुए (पाशस्थ) कहते हैं। वे बार-बार नियति को ही (सुख-दुःखादि का) कर्ता कहने की धृष्टता करते हैं। इस प्रकार (अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रिया में) उपस्थित होने पर भी वे (स्वयं को) दुःख से मुक्त नहीं कर सकते।

विवेचन—नियतिवाद के गुण-दोष—यहाँ २८वीं गाथा से ३२वीं गाथा तक नियतिवाद के मन्तव्य का और मिथ्या होने का विश्लेषण किया गया है। नियतिवाद की मान्यता यहाँ तक तो ठीक है कि जगत् में सभी जीवों का अपना अलग-अलग अस्तित्व है। यह तथ्य प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों और युक्तियों द्वारा सिद्ध है। क्योंकि जब तक आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं मानी जायेगी, तब तक जीव अपने द्वारा कृत कर्मबन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख-दुःख नहीं भोग सकेगा और न ही सुख-दुःख भोगने के लिए एक शरीर, एक गति तथा एक योनि को छोड़कर दूसरे शरीर, दूसरी गति तथा योनि को प्राप्त कर सकेगा। जीवों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानने पर ही यह सब बातें घटित हो सकती हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त इस युक्ति से भी जीव पृथक्-पृथक् इसलिए सिद्ध हैं कि संसार में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई निर्धन आदि विभिन्नताएँ देखी जाती हैं। प्रत्येक प्राणी को होने वाले न्यूनाधिक सुख-दुःख के अनुभव को हम झुठला नहीं सकते, तथा आयुष्य पूर्ण होते ही वर्तमान शरीर को यहीं छोड़कर दूसरे भव में प्राणी चले जाते हैं, कई व्यक्तियों को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है, इस अनुभूति को भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर पंचभूतात्मवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, पंचस्कन्धवाद या चातुर्धातुकवाद आदि वादों का खण्डन हो जाता है। इस अंश में नियतिवाद का कथन सत्य स्पर्शी है। परन्तु इससे आगे जब नियतिवादी यह कहते हैं कि प्राणियों के द्वारा भोगा जाने वाला सुख-दुःख आदि न तो स्व-कृत है, न पर-कृत है, वह एकान्त नियतिकृत ही है, तब उनका यह ऐकान्तिक कथन मिथ्या हो जाता है।[2]

एकान्त नियतिवाद कितना सच्चा, कितना झूठा ?—बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्जफलसुत्त में आजीवकमत-प्रवर्तक मंखलि गोशाल के नियतिवाद का उल्लेख इस प्रकार है—'... सत्त्वों के क्लेश (दुःख) का हेतु प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही सत्त्व (प्राणी) क्लेश पाते हैं। बिना हेतु और प्रत्यय के सत्त्व शुद्ध होते हैं। न वे स्वयं कुछ कर सकते हैं, और न पराये कुछ कर सकते हैं, (कोई) पुरुषार्थ (पुरुषकार) नहीं है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का साहस (स्थाम) नहीं है, और न पुरुष का कोई पराक्रम है। समस्त सत्त्व, समस्त प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अवश (लाचार) हैं, निर्बल हैं, निर्वीर्य हैं, नियति के संयोग से छह जातियों में (उत्पन्न होकर) सुख-दुःख भोगते हैं।... जिन्हें मूर्ख और पण्डित जानकर और अनुगमन कर दुःखों का अन्त कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है कि इस शील, व्रत,

---

२ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २९ के आधार पर

(ख) तुलना कीजिए— ...सन्तेके समण ब्राह्मणा इवं वादिनो एवं दिट्ठिनो—असयंकारं अपरंकारं अधिच्चसमुप्पन्नं सुखदुक्खं अत्ता च लोकं च। इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं ति। —सुत्तपिटके उदानं नानातित्थिय सुत्तं पृ० १४६-१४७

तप या ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व कर लूँगा, परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दुःख तो द्रोण (माप) से नपे-तुले (नियत) हैं, संसार में न्यूनाधिक या उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं है। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगे।[3]

संगतिअंतं—शास्त्रकार नियतिवाद या नियति का सीधा नाम न लेकर इसे सांगतिक (सांतियं) बताते हैं। वृत्तिकार के अनुसार '**सगतिअं**' की व्याख्या इस प्रकार है—"सम्यक्—अर्थात् अपने परिणाम से जो गति है, उसे संगति कहते हैं। जिस जीव, को जिस समय, जहाँ, जिस सुख-दुःख का अनुभव करना होता है, वह संगति कहलाती है, वही नियति है। उस संगति=नियति से जो सुख-दुःख उत्पन्न होता है, उसे **सांगतिक** कहते हैं।

बौद्ध-ग्रन्थ दीघनिकाय में मक्खिल गोसाल के मत वर्णन में '....**नियतिसंगतिभावपरिणता**' शब्द का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध सूत्र ६६३-६५ में भी **नियति** और **संगति** दोनों शब्दों का यत्र-तत्र स्पष्ट उल्लेख है।

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में नियतिवाद का वर्णन करते हुए कहा गया है—'चूँकि संसार के सभी पदार्थ अपने-अपने नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं, अतः ज्ञात हो जाता है कि ये सभी पदार्थ नियति से उत्पन्न हैं। यह समस्त चराचर जगत् नियति से बँधा हुआ है। जिसे, जिससे, जिस समय, जिस रूप में होना होता है, वह, उससे, उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस तरह अबाधित प्रमाण से सिद्ध इस नियति की गति को कौन रोक सकता है? कौन इसका खण्डन कर सकता है?[4] साथ ही काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ आदि के विरोध का भी वह युक्तिपूर्वक निराकरण करता है।[5]

---

३ (क) "मक्खलिगोसालो मं एतदवोच—नत्थि महाराज, हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं सङ्किलेसाय। अहेतू अपच्चया सत्ता सङ्किलिस्संति। नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं विसुद्धिया। अहेतू अपच्चया सत्ता विसुज्झंति। नत्थि अत्त-कारे, नत्थि परकारे, नत्थि पुरिसकारे, नत्थि बलं, नत्थि वीरियं, नत्थि पुरिसथामो, नत्थि पुरिस-परक्कमो। सब्बे सत्ता, सब्बे पाणा, सब्बे भूता, सब्बे जीवा अवसा अबला, अविरिया नियतिसंगतिभावपरिणता, छस्वेवाभि-जातीसु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति।....यानि बाले च पण्डिते च सन्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्संतं करिस्संति। तत्थ नत्थि इमिनाहं सीलेन व वतेन वा तपेन वा ब्रह्मचरियेन वा अपरिपक्कं वा कम्मं परिपाचेस्सामि, परिपक्कं वा कम्मं फुस्स फुस्स व्यन्ति करिस्सामीति। हेवं नत्थि दोणमिते सुखदुक्खे परियन्तकते संसारे, नत्थि हायनवड्ढने, नत्थि उक्कंसावकंसे। सेय्यथापिनाम सुत्तगुलेक्खित्ते निब्बेठियमानमेव पलेति एवमेव बाले च पण्डिते च संधावित्वा संसरित्वा दुक्खस्संतं करिस्संतीति।" —सुत्तपिटके दीघनिकाये (पाली भाग १) सामञ्ञफलसुत्त पृ० ४१-५३)

४ नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबन्धतः॥
यद्यदेव यतो यावत् तत्तदेव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात् क एनं बाधयितुं क्षमः? —शास्त्रवार्तासमुच्चय

५ देखिये श्वेताश्वतरो० श्लोक २ में—काल: स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥"

काल को त्रिकाल त्रिलोकव्यापी तथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का, यहाँ तक कि प्रत्येक कार्य, सुख-दुःखादि का कारण मानने वाले कालवादियों का खण्डन करते हुए नियतिवादी कहते हैं—एक ही काल में दो पुरुषों द्वारा किये जाने वाले एक सरीखे कार्य में एक को सफलता और दूसरे को असफलता क्यों मिलती है ? एक ही काल में एक को सुख और एक को दुःख क्यों मिलता है ? अतः नियति को माने विना कोई चारा नहीं।

स्वभाववादी सारे संसार को स्वभाव से निष्पन्न मानते हैं,वे कहते हैं—मिट्टी का ही घड़ा वनने का स्वभाव है, कपड़ा वनने का नहीं, सूत का ही कपड़ा वनने का स्वभाव है, घड़ा नहीं। इसतरह प्रति नियत कार्य-कारण भाव स्वभाव के विना वन नहीं सकता। सभी पदार्थ स्वतः परिणमन स्वभाव के कारण ही उत्पन्न होते हैं, इसमें नियति की क्या आवश्यकता है ? इन युक्तियों का खण्डन करते हुए नियतिवादी कहते हैं—भिन्न-भिन्न प्राणियों का, इतना ही नहीं एक ही जाति के अथवा एक ही माता के उदर से जन्मे दो प्राणियों का पृथक-पृथक स्वभाव नियत करने का काम नियति के विना हो नहीं सकता। नियतिवाद ही इस प्रकार का यथार्थ समाधान कर सकता है। फिर स्वभाव पुरुष से भिन्न न होने के कारण वह सुख-दुःख का कर्ता नहीं हो सकता।[६]

ईश्वर का या पुरुष का (स्वकृत) पुरुषार्थ भी सुख-दुःख कर्ता या जगत् के सभी पदार्थों का कारण नहीं हो सकता। एक सरीखा पुरुषार्थ करने पर भी दो व्यक्तियों का कार्य एक-सा या सफल क्यों नहीं हो पाता ? अतः इसमें भी नियति का ही साथ है। ईश्वर-कृतक पदार्थ मानने पर तो अनेक आपत्तियाँ आती हैं। अव रहा कर्म। कर्मवादी कहते हैं—किसान, वणिक आदि का एक सरीखा उद्योग होने पर भी उनके फल में विभिन्नता या फल की अप्राप्ति पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म के प्रभाव को सूचित करती है। इसका प्रतिवाद नियतिवादी यों करते हैं—"कर्म पुरुष से भिन्न नहीं होता, वह अभिन्न होता है, ऐसी स्थिति में वह पुरुष रूप हो जायगा और पुरुष पूर्वोक्त युक्तियों से सुखदुःखादि का कारण नहीं हो सकता। नियति ही एकमात्र ऐसी है, जो जगत् के समस्त पदार्थों की कारण हो सकती है।

इस प्रकार से एकान्त नियतिवाद का खण्डन करते हुए शास्त्रकार सूत्र गाथा ३१ द्वारा कहते हैं—'**णिययाऽणिययं संतं अजाणंता अबुद्धिया**—इसका आशय यह है कि वे मिथ्या प्ररूपणा करते हुए अज्ञ(हठाग्रही) एवं पण्डितमानी नियतिवादी एकान्त-नियतिवाद को पकड़ हुए हैं। वे इस वात को नहीं जानते कि संसार में सुख-दुःख आदि सभी नियतिकृत नहीं होते, कुछ सुख-दुःख आदि नियतिकृत होते हैं, क्योकि उन-उन

---

६. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३० के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १४३-५ के आधार पर

(ग) कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरंतिक्रमः ॥—हारीत सं०

(घ) 'यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः, प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव।
सुयुज्यते यज्जरयाऽऽर्तिभिश्च, कस्तत्र यत्नो ? न नु स स्वभावः ॥' —बुद्ध चरित

(च) 'कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति, कुतः प्रयत्नः ?' —सूत्र० टीका में उदधृत

सुख-दुःखों के कारणरूप कर्म का अबाधाकाल समाप्त होने पर अवश्य उदय होता ही है, जैसे निकाचित कर्म का।' परन्तु कई सुख-दुःख अनियत (नियतिकृत नहीं) होते हैं। वे पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये हुए होते हैं। ऐसी स्थिति में अकेला नियति को कारण मानना अज्ञान है।

(आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मति तर्क' में बताया है कि काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट (कर्म) और पुरुषार्थ ये पंच कारण समवाय है। इसके सम्बन्ध में एकान्त कथन मिथ्या है और परस्पर सापेक्ष कथन ही सम्यक्त्व है।[७])

जैन-दर्शन सुख-दुःख आदि को कथंचित् पुरुषकृत उद्योग साध्य भी मानता है, क्योंकि क्रिया से फलोत्पत्ति होती है और क्रिया उद्योगाधीन हैं। कहीं उद्योग की विभिन्नता फल की भिन्नता का कारण होती है, कहीं दो व्यक्तियों का एक सरीखा उद्योग होने पर भी किसी को फल नहीं मिलता, यह उसके अदृष्ट (कर्म) का फल है। इस प्रकार कथंचित् अदृष्ट (कर्म) भी सुखादि का कारण है। जैसे--आम, कटहल, जामुन, अमरुद आदि वृक्षों में विशिष्ट काल (समय) आने पर ही फल की उत्पत्ति होती है, सर्वथा नहीं। एक ही समय में विभिन्न प्रकार की मिट्टियों में बोये हुए बीज में से एक में अन्नादि उग आता है, दूसरी ऊषर मिट्टी में नहीं ऊगते इस कारण स्वभाव को भी कथंचित् कारण माना जाता है। आत्मा का उपयोग रूप तथा असंख्य-प्रदेशी होना तथा पुद्गलों का मूर्त होना और धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय आदि का अमूर्त एवं गति-स्थिति में सहायक होना आदि सब स्वभावकृत है।

इस प्रकार काल, स्वभाव, नियति अदृष्ट (कर्म) और पुरुषकृत पुरुषार्थ ये पाँचों कारण प्रत्येक कार्य या सुखादि में परस्पर-सापेक्ष सिद्ध होते हैं, इस सत्य तथ्य को मानकर एकान्त रूप से सिर्फ नियति को मानना दोषयुक्त है, मिथ्या है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—'लुप्पंति ठाणउ' अपनी आयु से अलग प्रच्युत हो जाते हैं, एक स्थान (शरीर) को छोड़कर दूसरे स्थान (शरीर या भव) में संक्रमण करते जाते हैं। **सेहियं-असेहियं**—ये दोनों विशेषण सुख के हैं। एक सुख तो सैद्धिक है और दूसरा है असैद्धिक। सिद्धि यानि मुक्ति में जो सुख उत्पन्न हो, उसे सैद्धिक और इसके विपरीत जो असिद्धि यानि संसार में सातावेदनीय के उदय से जो सुख प्राप्त होता है, उसे असैद्धिक सुख कहते हैं। अथवा सुख और दुःख, ये दोनों ही सैद्धिक-असैद्धिक दोनों प्रकार के होते हैं।। पुष्पमाला, चन्दन और वनिता आदि की उपभोग क्रिया रूप सिद्धि से होने वाला सुख सैद्धिक तथा चाबुक की मार, गर्म लोहे आदि से दागने आदि सिद्धि से होने वाला दुःख भी सैद्धिक है। आकस्मिक अप्रत्याशित वाह्यनिमित्त से हृदय में उत्पन्न होने वाला आन्तरिक आनन्द रूप सुख असैद्धिक सुख है, तथा ज्वर, मस्तक पीड़ा, उदर शूल आदि दुःख, जो अंग से उत्पन्न होते हैं, वे असैद्धिक दुःख हैं। **पासत्था**—इस शब्द के संस्कृत में दो रूप होते हैं—'पार्श्वस्था' और 'पाशस्था'। पार्श्वस्थ का अर्थ होता है—पास नजदीक में रहने वाले अथवा युक्ति समूह से बाहर या परलोक की क्रिया के किनारे ठहरने वाले अथवा कारणचतुष्टय-

---

७. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २७ से ३२ तक
(ख) 'कालो सहाव-नियई………।' —सन्मतितर्क

वादियों से अलग (एक किनारे) रहने वाले। पाशस्थ का अर्थ होता है—पाश (वन्धन) में जकड़े हुए की तरह कर्मपाश (कर्मबन्धन) में जकड़े हुए यहाँ 'पाशस्थ' रूप ही अधिक संगत लगता है।

उवट्ठिया संता—अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रिया में उपस्थित (प्रवृत्त) होकर भी।

ण ते दुक्ख विमोक्खया—वृत्तिकार के अनुसार अपने आपको संसार के दुःख से मुक्त नहीं कर पाते। चूर्णिकार ने **णऽत्तदुक्खविमोक्खया**' पाठ मानकर अर्थ किया है—अपनी आत्मा को संसार-दुःख से विमुक्त नहीं कर पाते। कहीं-कहीं '**ण ते दुक्खविमोयगा**' पाठान्तर है, उसका भी वही अर्थ है।[८]

अज्ञानवाद-स्वरूप—

३३. जविणो मिगा जहा संता परिताणेण वज्जिता।
असंकियाइं संकंति संकियाइं असंकिणो ॥ ६ ॥

३४. परियाणियाणि संकंता पासिताणि असंकिणो।
अण्णाणभयसंविग्गा संपलिंति तहिं तहिं ॥ ७ ॥

३५. अह तं पवेज्ज वज्झं अहे वज्झस्स वा वए।
मुंचेज्ज पयपासाओ तं तु मंदे ण देहती ॥ ८ ॥

३६. अहियप्पाऽहियपण्णाणे विसमंतेणुवागते।
से बद्धे पयपासेहिं तत्थ घायं नियच्छति ॥ ९ ॥

३७. एवं तु समणा एगे मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
असंकिताइं संकंति संकिताइं असंकिणो ॥ १० ॥

३८. धम्मपण्णवणा जा सा तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं न संकंति अवियत्ता अकोविया ॥ ११ ॥

३९. सव्वप्पगं विउक्कस्सं सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे एयमट्ठं मिगे चुए ॥ १२ ॥

४०. जे एतं णाभिजाणंति मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते घायमेसंतऽणंतसो ॥ १३ ॥

४१. माहणा समणा एगे सव्वे णाणं सयं वदे।
सव्वलोगे वि जे पाणा न ते जाणंति किंचणं ॥ १४ ॥

---

८ (क) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ ९

४२. मिलक्खु अमिलक्खुस्स जहा वुत्ताणुभासती।
णं हेउं से विजाणाति भासियं तऽणुभासती ॥ १५ ॥

४३. एवमण्णाणिया नाणं वयंता विसयं सयं।
णिच्छयत्थं ण जाणंति मिलक्खू व अबोहिए ॥ १६ ॥

४४. अण्णाणियाण वीमंसा अण्णाणे नो नियच्छती।
अप्पणो य परं णालं कुतो अण्णेऽणुसासिउं ? ॥ १७ ॥

४५. वणे मूढे जहा जंतु मूढणेताणुगामिए।
दुहओ वि अकोविया तिव्वं सोयं णियच्छति ॥ १८ ॥

४६. अंधो अंधं पहं णितो दूरमद्धाण गच्छती।
आवज्जे उप्पहं जंतु अदुवा पंथाणुगामिए ॥ १९ ॥

४७. एवमेगे नियायट्ठी धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अधम्ममावज्जे ण ते सव्वज्जुयं वए ॥ २० ॥

४८. एवमेगे वितक्काहिं णो अण्णं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वितक्काहिं अयमंजू हि दुम्मती ॥ २१ ॥

४९. एवं तक्काए साहेंता धम्मा-ऽधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति सउणी पंजरं जहा ॥ २२ ॥

५०. सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वइं।
जे उ तत्थ विउस्संति संसारं ते विउस्सिया ॥ २३ ॥

३३-३४. जैसे परित्राण—संरक्षण से रहित अत्यन्त शीघ्र भागनेवाले मृग शंका से रहित स्थानों में शंका करते हैं और शंका करने योग्य स्थानों में शंका नहीं करते। सुरक्षित-परित्राणित स्थानों को शंकास्पद और पाश-बन्धन-युक्त स्थानों को शंकारहित मानते हुए अज्ञान और भय से उद्विग्न वे (मृग) उन-उन (पाशयुक्त बन्धन वाले) स्थलों में ही जा पहुंचते हैं।

३५. यदि वह मृग उस बन्धन को लांघकर चला जाए, अथवा उसके नीचे होकर निकल जाए तो पैरों में पड़े हुए (उस) पाशबन्धन से छूट सकता है, किन्तु वह मूर्ख मृग तो उस (बन्धन) को देखता (ही) नहीं है।

३६. अहितात्मा=अपना ही अहित करने वाला तथा अहितबुद्धि (प्रज्ञा) वाला वह मृग कूट-पाशादि (बन्धन) से युक्त विषम प्रदेश में पहुंचकर वहाँ पद-बन्धन से बँध जाता है और (वहीं) वध को प्राप्त होता है।

३७. इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण अशंकनीय—शंका के अयोग्य स्थानों में शंका करते हैं और शंकनीय—शंका के योग्य स्थानों में निःशंक रहते हैं—शंका नहीं करते।

३८. वे मूढ़ मिथ्यादृष्टि, धर्मप्रज्ञापना—धर्मप्ररूपणा में तो शंका करते हैं, (जबकि) आरम्भों—हिंसायुक्त कार्यों में (सत्शास्त्रज्ञान से रहित है, इस कारण) शंका नहीं करते।

३९. सर्वात्मक—सबके अन्तःकरण में व्याप्त—लोभ, समस्त माया, विविध उत्कर्षरूप-मान और अप्रत्ययरूप क्रोध को त्याग कर ही जीव अकर्मांश (कर्म से सर्वथा) रहित होता है। किन्तु इस (सर्वज्ञ-भाषित) अर्थ (सदुपदेश या सिद्धान्त अथवा सत्य) को मृग के समान (बेचारा) अज्ञानी जीव ठुकरा देता-त्याग देता है।

४०. जो मिथ्यादृष्टि अनार्यपुरुष इस अर्थ (सिद्धान्त या सत्य) को नहीं जानते, मृग की तरह पाश (बन्धन) में बद्ध वे (मिथ्यादृष्टि अज्ञानी) अनन्तवार घात—विनाश को प्राप्त करेंगे—विनाश को ढूंढ़ते हैं।

४१. कई ब्राह्मण (माहन) एवं श्रमण (ये) सभी अपना-अपना ज्ञान बघारते हैं—बतलाते हैं। परंतु समस्त लोक में जो प्राणी हैं, उन्हें भी (उनके विषय में भी) वे कुछ नहीं जानते।

४२-४३—जैसे म्लेच्छ पुरुष अम्लेच्छ (आर्य) पुरुष के कथन (कहे हुए) का (सिर्फ) अनुवाद कर देता है। वह हेतु (उस कथन के कारण या रहस्य) को विशेष नहीं जानता, किन्तु उसके द्वारा कहे हुए वक्तव्य के अनुसार ही (परमार्थशून्य) कह देता है। इसीतरह सम्यग्ज्ञान-हीन (ब्राह्मण और श्रमण) अपना-अपना ज्ञान बघारते—कहते हुए भी (उसके) निश्चित अर्थ (परमार्थ)को नहीं जानते। वे (पूर्वोक्त) म्लेच्छों—अनार्यों की तरह सम्यक् बोधरहित हैं।

४४. अज्ञानियों—अज्ञानवादियों द्वारा अज्ञानपक्ष में मीमांसा-पर्यालोचना करना युक्त (युक्तिसंगत) नहीं हो सकता। (जब) वे (अज्ञानवादी) अपने आपको अनुशासन (स्वकीय शिक्षा) में रखने में समर्थ नहीं हैं, तब दूसरों को अनुशासित करने (शिक्षा देने) में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

४५. जैसे वन में दिशामूढ़ प्राणी दिशामूढ़ नेता के पीछे चलता है तो सन्मार्ग से अनभिज्ञ वे दोनों ही (कहीं खतरनाक स्थल में पहुंचकर) अवश्य तीव्र शोक में पड़ते हैं।—असह्य दुःख पाते हैं, (वैसे ही अज्ञानवादी सम्यक् मार्ग के विषय में दिङ्मूढ़ नेता के पीछे चलकर बाद में गहन शोक में पड़ जाते हैं।)

४६. अन्धे मनुष्य को मार्ग पर ले जाता हुआ दूसरा अन्धा पुरुष (जहाँ जाना है, वहाँ से) दूरवर्ती मार्ग पर चला जाता है, इसमें वह (अज्ञानान्ध) प्राणी या तो उत्पथ (ऊबड़-खाबड़ मार्ग) को पकड़ लेता है—पहुँच जाता है, या फिर उस (नेता) के पीछे-पीछे (अन्य मार्ग पर) चला जाता है।

४७. इसी प्रकार कई नियागार्थी—मोक्षार्थी कहते हैं—हम धर्म के आराधक हैं, परन्तु (धर्माराधना तो दूर रही) वे (प्रायः) अधर्म को ही (धर्म के नाम से) प्राप्त—स्वीकार कर लेते हैं। वे सर्वथा सरल-अनुकूल संयम के मार्ग को नहीं पकड़ते—नहीं प्राप्त करते।

४८. कई दुर्बुद्धि जीव इस प्रकार के (पूर्वोक्त) वितर्कों (विकल्पों) के कारण (अपने अज्ञानवादी नेता को छोड़कर) दूसरे—ज्ञानवादी की पर्युपासना—सेवा नहीं करते। अपने ही वितर्कों से मुग्ध वे यह अज्ञानवाद ही यथार्थ (या सीधा) है, (यह मानते हैं।)

४९. धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में अज्ञ (अज्ञानवादी) इस प्रकार के तर्कों से (अपने मत को मोक्षदायक) सिद्ध करते हुए दुःख (जन्म-मरणादि दुःख) को नहीं तोड़ सकते, जैसे पक्षी पींजरे को नहीं तोड़ सकता।

५०. अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हुए और दूसरे के वचन की निन्दा करते हुए जो (मतवादी जन) उस विषय में अपना पाण्डित्य प्रकट करते हैं, वे (जन्म-मरणादि रूप चातुर्गतिक) संसार में दृढ़ता से बंधे—जकड़े रहते हैं।

विवेचन—अज्ञानवादियों की मनोदशा का चित्रण—वृत्तिकार के अनुसार ३३वीं गाथा से ५०वीं गाथा तक अज्ञानवाद का निरूपण है, चूर्णिकार का मत है कि २८वीं गाथा से ४०वीं गाथा तक नियतिवाद सम्बन्धी विचारणा है। उसके पश्चात् ४१ से ५०वीं गाथा तक अज्ञानवाद की चर्चा है। परन्तु इन गाथाओं को देखते हुए प्रतीत होता है कि नियतिवादी, अज्ञानवादी, संशयवादी एवं एकान्तवादी इन चारों को शास्त्रकार ने चर्चा का विषय बनाकर जैन-दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त की कसौटी पर कसा है।[६]

सर्वप्रथम ३३वीं गाथा से ४०वीं गाथा तक एकान्तवादी, संशयवादी अज्ञान एवं मिथ्यात्व से ग्रस्त अन्य दार्शनिकों को वन्य मृग की उपमा देकर बताया है कि वे ऐसे मृग के समान हैं—

(१) जो असुरक्षित होते हुए भी सुरक्षित एवं अशंकनीय (सुरक्षित) स्थानों को असुरक्षित और शंकास्पद मान लेते हैं और असुरक्षित एवं शंकनीय स्थानों को सुरक्षित एवं अशंकनीय मानते हैं।

(२) जो चाहें तो पैरों में पड़े हुए उस पाश-बन्धन से छूट सकते हैं, पर वे उस बन्धन को बन्धन ही नहीं समझते।

(३) अन्त में वे विषम प्रदेश में पहुंचकर बन्धन में बंधते जाते हैं और वहीं समाप्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार के एकान्तवादी अज्ञान-मिथ्यात्व ग्रस्त कई अनार्य श्रमण हैं, जो स्वयं सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र से पूर्णतः सुरक्षित नहीं है, जो हिंसा, असत्य, मिथ्याग्रह, एकान्तवाद या विषय-कषायादि से युक्त अधर्म प्ररूपणा को निःशंक होकर ग्रहण करते हैं और अधर्म प्ररूपकों की उपासना करते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, अपरिग्रह आदि सद्धर्मों में वे शंकाकुल होकर उनसे दूर भागते हैं। वे सद्धर्म प्ररूपक, वीतराग, सर्वज्ञ हैं या उनके प्रतिनिधि हैं, उनके सान्निध्य में नहीं पहुंचते। अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह, तप, संयम, एवं क्षमादि सद्धर्म की प्ररूपणा जिन शास्त्रों में है, उन पर शंका करते हैं, और यह कहते हुए ठुकरा देते हैं—यह तो असद्धर्म की प्ररूपणा है, इस अहिंसा से तो देश का बेड़ा गर्क हो जायेगा। इसके विपरीत जिन तथाकथित शास्त्रों में यज्ञीय आरम्भ और पशुबलिजनित घोर हिंसा की प्ररूपणा है, कामना-नामना पूर्ण कर्मकाण्डों का विधान है, हिंसाजनक कार्यों की प्रेरणा है, ऐसे पापोपादान भूत आरम्भों से बिल्कुल शंका नहीं करते. उसी अधर्म को धर्म-प्ररूपणा मानकर अन्ततोगत्वा वे एकान्तवादी, अज्ञानी एवं मिथ्यात्वी लोग घोर पापकर्म के पाश (बन्धन) में फँस जाते हैं जिसका परिणाम निश्चित है—बार-बार जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण।

---

६ सूयगडंग सुत्त (मूलपाठ, टिप्पण युक्त) की प्रस्तावना—पृष्ठ ६

इन गाथाओं में पूर्वोक्त अज्ञानियों की मनोदशा के फलस्वरूप तीन प्रक्रियाएँ बतायी हैं—

(१) अशंकनीय पर शंका तथा शंकनीय पर अशंका, (२) कर्मबन्धन में बद्धता और (३) अन्त में विनाश।[10]

अज्ञानवादियों के दो रूप—४१वीं गाथा से ५०वीं गाथा तक दो प्रकार के अज्ञानवादियों का निरूपण है—एक तो वे हैं, जो थोड़ा-सा मिथ्याज्ञान पाकर उसके गर्व से उन्मत्त बने हुए कहते हैं कि दुनिया भर का सारा ज्ञान हमारे पास है, परन्तु उनका ज्ञान केवल ऊपरी सतह का पल्लवग्राही होता है, वे अन्तर की गहराई में, आत्मानुभूति युक्त ज्ञान नहीं पा सके, केवल शास्त्र वाक्यों का तोतारटन है जिसे, वे भोले भाले लोगों के सामने बघारा करते हैं। जैसे देशी भाषा में बोलने वाले आर्य व्यक्ति के आशय को न समझ विदेशी-भाषा-पण्डित केवल उस भाषा का अनुवाद भर कर देता है, वैसे ही वे तथाकथित शास्त्रज्ञानी, वीतराग सर्वज्ञों की अनेकान्तमयी सापेक्षवाद युक्त वाणी का आशय न समझकर उसका अनुवाद भर कर देते हैं और उसे संशयवाद कहकर ठुकरा देते हैं। इसके लिए ४३वीं गाथा में कहा गया है—"निच्छयत्थं ण जाणंति।"

दूसरे वे अज्ञानवादी हैं—जो कहते हैं-अज्ञान ही श्रेयस्कर है। कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान न होने पर वाद-विवाद, संघर्ष, वाक्कलह, अहंकार, कषाय आदि से बचे रहेंगे। जान-बूझ कर अपराध करने से भयंकर दण्ड मिलता है, जबकि अज्ञानवश अपराध होने पर दण्ड बहुत ही अल्प मिलता है, कभी नहीं भी मिलता। मन में रागद्वेषादि उत्पन्न न होने देने का सबसे आसान उपाय है—ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति को छोड़कर अज्ञान में ही लीन रहना। इसलिए मुमुक्षु के लिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

फिर संसार में विभिन्न मत है, अनेक पंथ हैं, नाना शास्त्र हैं, बहुत-से धर्म-प्रवर्तक हैं, किसका ज्ञान सत्य है, किसका असत्य? इसका निर्णय और विवेक करना बहुत ही कठिन है। किसी शास्त्र का उपदेश देते किसी सर्वज्ञ को आँखों से नहीं देखा, ये शास्त्रवचन सर्वज्ञ के हैं या नहीं? शास्त्रोक्तवचन का यही अर्थ है या अन्य कोई? इस प्रकार का निश्चय करना भी टेढ़ी खीर है। अतः इन सब झमेलों से दूर रहने के लिए अज्ञान का सहारा लेना ही हितावह है।[11]

इन दोनों प्रकार के अज्ञानवादियों का मन्तव्य प्रकट करने के पश्चात् शास्त्रकार ने प्रथम प्रकार के ज्ञानगर्वस्फीत अज्ञानवादियों की मनोवृत्ति का उल्लेख करते हुए उनके अज्ञानवाद का दुष्परिणाम—अनन्त संसार परिभ्रमण (४७वीं गाथा से ५०वीं गाथा तक) में जो बताया है उसका निष्कर्ष यह है कि वे साधुवेष धारण करके मोक्षार्थी बनकर कहते हैं—हम ही धर्माराधक हैं। किन्तु धर्माराधना का क-ख-ग वे नहीं जानते। वे षट्काय के उपमर्दनरूप आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होते हैं, दूसरों को भी आरम्भ का उपदेश देते हैं, उस हिंसादि पापारम्भ से रत्नत्रय रूप धर्माराधना तो दूर रही, उलटे वे धर्म भ्रमवश अधर्म कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, वे संयम एवं सद्धर्म के मार्ग को ठुकरा देते हैं। न ही ऐसे सद्धर्म प्ररूपकों की सेवा में बैठकर इनसे धर्म तत्त्व समझते हैं। धर्माधर्म के तत्त्व से अनभिज्ञ वे लोग केवल कुतर्कों के

---

१० (क) वृत्तिकार ने अज्ञानवादियों में एकान्त नियतिवादियों, कूटस्थनित्य आत्मवादियों, एकान्त क्षणिकात्मवादियों (बौद्धों) आदि का उल्लेख किया है। —सूत्र कृ० शीलांक वृत्ति पत्र ३२

११ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३२ से ३४ तक के आधार पर।

सहारे अपनी मान्यता सिद्ध करते हैं। जैसे पिंजरे में बन्द पक्षी उसे तोड़कर बाहर नहीं निकल सकता वैसे ही अज्ञानवादी अपने मतवादरूपी या संसाररूपी पिंजरे को तोड़कर बाहर नहीं निकल सकते। वे केवल अपने ही मत की प्रशंसा में रत रहते हैं, फलतः अज्ञानवादरूप मिथ्यात्व के कारण वे संसार के बन्धन में दृढ़ता से बंध जाते हैं। जो अज्ञान को श्रेयष्कर मानने वाले दूसरे प्रकार के अज्ञानवादी हैं, शास्त्रकार उनका भी निराकरण ४४ से ४६ तक तीन गाथाओं में करते हैं। उनका भावार्थ यह है—

—"अज्ञानश्रेयोवादी अज्ञान को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वह सब विचारचर्चा ज्ञान (अनुमान आदि प्रमाणों तथा तर्क, हेतु युक्ति) द्वारा करते हैं, यह 'वदतोव्याघात' जैसी बात है। वे अपने अज्ञानवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ज्ञान का सहारा क्यों लेते हैं? ज्ञान का आश्रय लेकर तो वे अपने ही सिद्धान्त का अपने विरुद्ध व्यवहार से खण्डन करते हैं। उन्हें तो अपनी बुद्धि पर ताला लगाकर चुपचाप बैठना चाहिए। जब वे स्वयं अज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुशासन में नहीं चल सकते, तब दूसरों (शिष्यों) को कैसे अनुशासन में चलायेंगे? साथ ही, अज्ञानवाद के शिक्षार्थियों को वे ज्ञान को तिलांजलि देकर कैसे शिक्षा दे सकेंगे?

अज्ञानवाद ग्रस्त जब स्वयं सन्मार्ग से अनभिज्ञ हैं, तब उनके नेतृत्व में बेचारा दिशामूढ़ मार्ग से अनभिज्ञ भी अत्यन्त दुःखी होगा। वहाँ तो यही कहावत चरितार्थ होगी—**'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।'** अंधे मार्गदर्शक के नेतृत्व में चलने वाला दूसरा अन्धा भी मार्ग भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही सम्यग् मार्ग से अनभिज्ञ अज्ञानवादी के पीछे चलने वाले नासमझ पथिक का हाल होता है।[12]

इन दोनों में से दूसरे प्रकार की भूमिका वाले अज्ञानश्रेयोवादी की तुलना भगवान् महावीर के समकालीन मतप्रवर्तक 'संजय वेलट्ठिपुत्त' नामक अज्ञानवादी से की जा सकती है। जिसका हर पदार्थ के प्रश्न के सम्बन्ध में उत्तर होता था—"यदि आप पूछें कि क्या परलोक है? और यदि मैं समझूं कि परलोक है तो आपको बतलाऊं कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है, मैं यह भी नहीं कहता कि यह नही नहीं है। परलोक नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी, परलोक न है और न नहीं है।" संजय वेलट्ठिपुत्त ने कोई निश्चित बात नहीं कही।[13] निष्कर्ष यह है कि संजयवेलट्ठिपुत्त के मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चितता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है, जिसका सामान्य उल्लेख गाथा ४३ में हुआ है—**'निच्छयत्थं ण जाणंति।'** यह मत पाश्चात्यदर्शन के संशयवाद अथवा अज्ञेयवाद से मिलता-जुलता है।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में अमराविक्खेववाद में जो तथागत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित वर्णन है, वह भी सूत्रकृतांग प्र० श्रु० के १२वें अध्ययन में उक्त अज्ञानवाद से मिलता-जुलता है। जैसे—"भिक्षुओ!

---

१२ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५-३६ के आधार पर

१३ (क) "....संजयो वेलट्ठपुत्तो मं एतदवोच—'अत्थि परो लोकोति इति चे मं पुच्छसि, अत्थि परो लोको नि इति चे मे अस्स, अत्थि परो लोको ति इति ते न व्याकरेय्यं। एवं ति पि मे नो, तथा ति पि मे नो, अञ्ञथा ति पि मे नो, नो ति पि मे नो, नो नो ति पि मे नो। नत्थि परो लोको पे....अत्थि च नत्थि च परो लोको .. पे....नेवत्थि न नत्थि परो लोको....पे०....।"
—सुत्तपिटके दीघनिकाये सामञ्ञफलसुत्तं पृ० ८१-५३

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १, पृ० १३३

कोई श्रमण या ब्राह्मण ठीक से नहीं जानता कि यह अच्छा है और यह बुरा। उसके मन में ऐसा होता है कि 'मैं ठीक से नहीं जानता कि यह अच्छा है, यह बुरा है तब मैं ठीक से जाने बिना यह कह दूं कि यह अच्छा है और यह बुरा है, तो असत्य ही होगा, जो मेरा असत्य भाषण मेरे लिए घातक (नाश का कारण) होगा, जो घातक होगा, वह अन्तराय (मोक्ष मार्ग में) होगा। अत: वह असत्य भाषण के भय से और घृणा से न यह कहता है कि यह अच्छा है और न यह कि यह बुरा है। प्रश्नों के पूछे जाने पर कोई स्थिर बातें नहीं करता।... यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं......।' इसी प्रकार किसी पदार्थ विषयक प्रश्न के उत्तर में अच्छा-बुरा कहने से राग, द्वेष, लोभ, घृणा आदि की आशंका, या तर्क-वितर्कों का उत्तर देने में असमर्थता विघात (दुर्भाव) और बाधक समझकर किसी प्रकार का स्थिर उत्तर न देकर अपना अज्ञान प्रकट करना भी इसी अज्ञानवाद का अंग है।[१४]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**मिगा**—वन्य पशु या विशेषत: हिरण। **परियाणियाणि**—वृत्तिकार के अनुसार—परित्राण=रक्षण से युक्त। चूर्णिकार के अनुसार—जो परित:—सब ओर से, **ततानि**—आच्छादित है, वे परितत हैं। **पासिताणि**—पाशयुक्त स्थान। **सपलिति**—वृत्तिकार के अनुसार, अनर्थबहुल पाश, वागुरा आदि बन्धनों में एकदम जा पड़ते हैं। चूर्णिकार के अनुसार, कुटिल अन्य पाशों में जकड़ जाते हैं, अथवा उनके एक ओर पाश हाथ में लिए व्याध खड़े होते हैं, दूसरी ओर वागुरा (जाल या फंदा) पड़ा होता है, इन दोनों के बीच में भटकते हैं। **वज्झं**—वन्धनाकार में स्थित बन्धन अथवा वागुरा आदि वन्धन (बँधने वाले होने से) बन्ध कहलाते हैं। ये दोनों अर्थ **बंधं** एवं **बंधस्स** पाठान्तर मानने से होते हैं। **वज्झं** का संस्कृत रूपान्तर होता है—वर्ध्र या वध्य। वर्ध्र का यहाँ अर्थ है—चमड़े का पाश-बन्धन। **अहियप्ऽहियपण्णाणे**—वृत्तिकार के अनुसार—अहितात्मा तथा अहितप्रज्ञान—अहितकर बोध या बुद्धि वाला। चूर्णिकार ने '**अहितेहितपण्णाणा**' पाठान्तर माना है जिसका अर्थ होता है—अहित में हित बुद्धि वाले-हित समझने वाले। **विसमंतेणुवागते**—वृत्तिकार के अनुसार विषमान्त अर्थात् कूटपाशादि युक्त प्रदेश को प्राप्त होता है, अथवा कूटपाशादि युक्त विषम प्रदेश में अपने आपको गिरा देता है। चूर्णिकार के अनुसार—विषम यानि कूटपाशादि उपकरणों से घिरा हुआ, वागुरा (जाल) का द्वार, उसके पास पहुंच जाता है। **अवियत्ता**—अव्यक्त—मुग्ध भोले-भाले, सहजसद्विवेकविकल। **अकोविया**—सुशास्त्र बोध रहित—अपण्डित। **सव्वप्पगं**—सर्वात्मक—जिसकी सर्वत्र आत्मा है, ऐसा सर्वात्मक सर्वव्यापी—लोभ। **विउक्कसं**—व्युत्कर्ष—विविध प्रकार का उत्कर्ष-गर्व मान। **णूमं**—माया, कपट। **अप्पत्तियं**—अप्रत्यय—क्रोध। **वुत्ताणभासए**—कथन या भाषण का केवल अनुवाद कर देता है। **अन्नणियाणं**—भगवती सूत्र की वृत्ति के अनुसार—कुत्सित ज्ञान अज्ञान है, जिनके वह (ऐसा) अज्ञान है, वे अज्ञानिक हैं। **वीमंसा**—पर्यालोचनात्मक विचारविमर्श अथवा मीमांसा। **अण्णाणे नो नियच्छति**—निश्चय रूप से अज्ञान के विषय में युक्त—संगत नहीं है। **तिव्वं सोयं णियच्छति**—चूर्णिकार के अनुसार तीव्र-अत्यन्त स्रोत=भय द्वार को नियत या अनियत (निश्चित या अनिश्चित) रूप से पाता है। वृत्तिकार के अनुसार, तीव्र गहन या शोक निश्चय ही प्राप्त करता है। **पंथाणुगामिए**— —अन्य मार्ग पर चल पड़ता है। **सव्वज्जुए**—वृत्तिकार एवं चूर्णिकार के अनुसार, सब प्रकार के ऋजु—सरल सर्वतोऋतु-मोक्ष गमन के लिए अकुटिल—संयम अथवा सद्धर्म। **वियक्काहि**—वितर्कों—विविध मीमांसाओं या असत्कल्पनाओं के कारण। **दुक्खं ते नाइतुट्टंति**—चूर्णिकार के

---

१४ देखिये, दीघनिकाय ब्रह्मजाल सुत्त में तथागत बुद्ध द्वारा कथित अमराविक्खेववाद। —(हिन्दी अनुवाद) पृ० १-१०

अनुसार, वे दुःखरूप संसार को लांघ नहीं सकते। पार नहीं कर सकते। वृत्तिकार के अनुसार, असातोदयरूप दुःख को या उसके मिथ्यात्व आदि से बाँधे हुए कर्मबन्धन रूप कारण को अतिशय रूप से; व्यवस्थित ढंग से नहीं तोड़ सकते। **णो अण्णं पज्जुवासिया**—अन्य की उपासना-सेवा नहीं की। अन्य का अर्थ है—आर्हतादि ज्ञानवादियों की पर्युपासना नहीं की। **अयमंजू**—हमारा यह अज्ञानात्मक मार्ग ही अंजू—निर्दोष होने से व्यक्त या स्पष्ट है। **सउणी पंजरं जहा**—जैसे पिंजरे में बन्द पक्षी पिंजरे को तोड़ने में, तथा पिंजरे के बन्धन से स्वयं को मुक्त करने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही अज्ञानवादी संसार रूप पिंजरे को तोड़कर उससे अपने आपको मुक्त करने में समर्थ नहीं होता। **विउस्संति**—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—संस्कृत में इसका रूपान्तर होता है—विद्वस्यन्ते—विद्वान् की तरह आचरण करते हैं अथवा—'विशेषेण उशन्ति—स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति, अर्थात् अपने शास्त्रों के पक्ष में विशिष्ट युक्तियों का प्रयोग करते हैं। **संसारं ते विउस्सिया**—वृत्तिकार ने इसकी दो व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं—"संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधं—अनेकप्रकारं उत्—प्राबल्येन श्रिताः सम्बद्धाः, तत्र वा संसारे उषिताः—संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः।" अर्थात्—चार गतियों में संसरण—भ्रमणरूप इस संसार में जो अनेक प्रकार से दृढ़तापूर्वक बँधे हुए हैं अथवा जो इस संसार में निवास करने वाले हैं।[१५]

कर्मोपचय निषेधवाद : क्रियावादी दर्शन—

५१. **अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं।**
कम्मचिंतापणट्ठाणं संसारपरिवड्ढणं॥ २४॥

५२. **जाणं काएणऽणाउट्टी अबुहो जं च हिंसती।**
पुट्ठो संवेदेति परं अवियत्तं खु सावज्जं॥ २५॥

५३. **संतिमे तओ आयाणा जेहिं कीरति पावगं।**
अभिकम्माय पेसाय मणसा अणुजाणिया॥ २६॥

५४. **एए उ तओ आयाणा जेहिं कीरति पावगं।**
एवं भावविसोहीए णिव्वाणमभिगच्छती॥ २७॥

५५. **पुत्तं पि ता समारंभ आहारट्ठमसंजए।**
भुंजमाणो य मेधावी कम्मुणा नोवलिप्पति॥ २८॥

५६. **मणसा जे पउस्संति चित्तं तेसिं न विज्जती।**
अणवज्जं अतहं तेसिं ण ते संवुडचारिणो॥ २९॥

५१. दूसरा पूर्वोक्त (एकान्त) क्रियावादियों का दर्शन है। कर्म (कर्म-बन्धन) की चिन्ता से रहित (उन एकान्त क्रियावादियों का दर्शन) (जन्म-मरण-रूप) संसार की या दुःख समूह की वृद्धि करने वाला है।

---

१५ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३२ से ३७ तक
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृ० ६ से ९ तक

५२. जो व्यक्ति जानता हुआ मन से हिंसा करता है, किन्तु शरीर से छेदन-भेदनादि क्रिया रूप हिंसा नहीं करता एवं जो अनजान में (शरीर से) हिंसा कर देता है, वह केवल स्पर्शमात्र से उसका (कर्म-बन्ध का) फल भोगता है। वस्तुतः वह सावद्य (पाप) कर्म अव्यक्त-अस्पष्ट-अप्रकट होता है।

५३. ये तीन (कर्मों के) आदान (ग्रहण-बन्ध के कारण) हैं, जिनसे पाप (पापकर्म वन्ध) किया जाता है—(१) किसी प्राणी को मारने के लिए स्वयं अभिक्रम-आक्रमण करना, (२) प्राणिवध के लिए नौकर आदि को भेजना या प्रेरित करना, और (३) मन से अनुज्ञा-अनुमोदना देना।

५४. ये ही तीन आदान-कर्मवन्ध के कारण हैं, जिनसे पापकर्म किया जाता है। वहाँ (पाप कर्म से) भावों की विशुद्धि होने से कर्मबन्ध नही, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति होती है।

५५. (किसी दुष्काल आदि विपत्ति के समय) कोई असंयत गृहस्थपिता आहार के लिए पुत्र को भी मारकर भोजन करे तो वह कर्मवन्ध नहीं करता। तथा मेधावी साधु भी निष्पृहभाव से उस आहार-मांस का सेवन करता हुआ कर्म से लिप्त नहीं होता।

५६. जो लोग मन से (किसी प्राणी पर) द्वेष करते हैं, उनका चित्त विशुद्धियुक्त नहीं है तथा उनके (उस) कृत्य को निरवद्य (पापकर्म के उपचय रहित-निष्पाप) कहना अतथ्य-मिथ्या है। तथा वे लोग संवर (आस्रवों के स्रोत के निरोध) के साथ विचरण करने वाले नहीं हैं।

विवेचन - बौद्धों का कर्मोपचय निषेधवाद—अज्ञानवादियों की चर्चा के बाद बौद्धों के द्वारा मान्य एकान्त क्रियावाद की चर्चा गाथा ५१ से ५६ तक प्रस्तुत की गई है। वैसे तो बौद्ध-दर्शन को अक्रियावादी कहा गया है, बौद्ध-ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय के तृतीय भाग—अट्ठकनिपात के सिंहसुत्त में तथा विनयपिटक के महावग्ग (पाली) के सीहसेनापति वत्थु में बुद्ध के अक्रियावादी होने का उल्लेख है, सूत्रकृतांग के १२ वें समवसरण अध्ययन में सूत्र ५३५ की चूर्णि एवं वृत्ति में भी बौद्धों को अक्रियावादियों में परिगणित किया गया है, परन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से बौद्ध-दर्शन को (वृत्ति और चूर्णि में) क्रियावादी-दर्शन बताया गया है, वह अपेक्षाभेद से समझना चाहिए।[१६]

वृत्तिकार ने क्रियावादी-दर्शन का रहस्य खोलते हुए कहा है—जो केवल चैत्यकर्म (चित्त विशुद्धि-पूर्वक) किये जाने वाले किसी भी कर्म आदि क्रिया को प्रधान रूप से मोक्ष का अंग मानते हैं, उनका दर्शन क्रियावादी दर्शन है।

ये एकान्त क्रियावादी क्यों हैं? इसका रहस्य ५१ वीं सूत्र गाथा में शास्त्रकार बताते हैं—**'कम्म-चिंतापणट्ठाणं'**—अर्थात् ये ज्ञानावरणीय आदि की चिन्ता से रहित—दूर है। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म

---

१६ (क) सूयगडंग सुत्तं (मुनि जम्बूविजयजी सम्पादित) की प्रस्तावना पृ० १०

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० ६७

(ग) "....अहं हि, सीह ! अकिरियं वदामि कायदुच्चरितस्स, वचीदुच्चरितस्स, मनोदुच्चरितस्स अनेकविहितानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं अकिरियं वदामि....।"

—सुत्तपिटके अंगुत्तरनिकाय, पालि भा० ३, अट्ठकनिपात पृ० २९३-२९६

कैसे-कैसे, किन-किन कारणों से, किस-किस तीव्र मन्द आदि रूप में वंध जाते हैं। वे सुख-दुःख आदि के जनक हैं या नहीं ? उनसे छूटने के उपाय क्या-क्या हैं ? इत्यादि कर्म-सम्बन्धी चिन्ता-चिन्तन से एकान्त क्रियावादी दूर है।

"कोई भी क्रिया, भले ही उससे हिंसादि हो, चित्तशुद्धिपूर्वक करने पर कर्मबन्धन नहीं होता"—इस प्रकार की कर्मचिन्ता से दूर रहने के कारण ही शायद बौद्धों को एकान्त क्रियावादी कहा गया होगा। इसके अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक अज्ञान आदि से किये गये चार प्रकार के कर्मोपचय को कर्मबन्ध का कारण नहीं मानते। उन चारों में से दो प्रकार के कर्मों का उल्लेख गाथा ५२ में किया है—(१) **परिज्ञोपचित कर्म**—कोपादि कारणवश जानता हुआ केवल मन से चिन्तित हिंसादि कर्म, शरीर से नहीं, और (२) **अविज्ञोपचित कर्म**—अनजाने में शरीर से किया हुआ हिंसादि कर्म।

निर्युक्तिकार ने इन चारों का वर्णन पहले किया है उनमें शेष दो हैं—(३) **ईर्यापथ कर्म**—मार्ग में जाते अनभिसन्धि से होने वाला हिंसादि कर्म और (४) **स्वप्नान्तिक कर्म**—स्वप्न में होने वाला हिंसादि कर्म।[१७] ये चारों प्रकार के कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होते—अर्थात् तीव्र विपाक (फल) देने वाले नहीं बनते। जैसा कि शास्त्रकार ने गाथा ५२ में कहा है—'पुट्ठो संवेदेति परं'। इन चारों प्रकार के कर्मों से पुरुष स्पृष्ट होता है, बद्ध नहीं। अतः ऐसे कर्मों के विपाक का भी स्पर्शमात्र ही वेदन (अनुभव) करता है। ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के वाद ही नष्ट हो जाते हैं, यही सोचकर कर्मबन्धन से निश्चिन्त होकर वे क्रियाएँ करते हैं।

कर्मबन्धन कब होता है, कब नहीं ? चूर्णिकार ने उक्त मत के सन्दर्भ में प्रश्न उठाया है कि कर्मोपचय (कर्म बन्धन) कब होता है ? उसका समाधान देते हुए कहा है—(१) प्रथम तो हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो, (२) फिर हनन करने वाले को यह भान (ज्ञान) हो कि यह प्राणी है, (३) उसके पश्चात् हनन करने वाले की ऐसी बुद्धि हो कि मैं इसे मारूँ या मारता हूं। इन तीन कारणों के अतिरिक्त उनके मतानुसार दो कारण और हैं—(१) पूर्वोक्त तीन कारणों के रहते हुए यदि वह उस प्राणी को शरीर से मारने की चेष्टा करता है, और (२) उस चेष्टा के अनुसार उस प्राणी को मार दिया जाता है—प्राणों का वियोग कर दिया जाता है; तब हिंसा होती है, और तभी कर्म का भी उपचय होता है।[१८]

---

१७ (क) "तेषां हि परिज्ञोपचितं ईर्यापथं, स्वप्नान्तिकं च कर्मचयं न यातीत्यतस्ते कम्मचिंतापणट्ठा।"
—सूत्रकृतांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० ६

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३१

(ग) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ३१ में कहा गया—'कम्म चयं न गच्छइ चउव्विहं भिक्खु समयंसि' बौद्धागम में चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता।

१८ (क) 'स्यात्—कथं पुनरुपचीयते ? उच्यते, यदि सत्त्वश्च भवति ?, सत्त्व संज्ञा च २, संचित्य संचित्य ३ जीविताद् व्यपरोपणं प्राणातिपातः।।'
—सूत्रकृ० चूर्णि, मू० पा० टिप्पण पृ० ६

(ख) "प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा।
प्राणैश्च विप्रयोगः, पंचभिरापद्यते हिंसा।।"
—सूत्र० शीलांक वृत्ति पत्र० ३५

शास्त्रकार ने इस सन्दर्भ में बौद्ध मतानुसार पाप कर्मबन्ध के तीन कारण (५३-५४ वीं गाथाओं द्वारा) बताये हैं—(१) स्वयं किसी प्राणी को मारने के लिए उस पर आक्रमण या प्रहार करना। (२) नौकर आदि दूसरों को प्रेरित या प्रेषित करके प्राणिवध कराना और (३) मन से प्राणिवध के लिए अनुज्ञा-अनुमोदना करना। ये तीनों पाप कर्म के उपचय (बन्ध) के कारण इसलिए हैं कि इन तीनों में दुष्ट अध्यवसाय-रागद्वेष युक्त परिणाम रहता है।[१९]

भाव-शुद्धि से कर्मोपचय नहीं : एक विश्लेषण—इसीलिए ५४ वीं गाथा के अन्त में उन्हीं का मत-प्ररूपण करते हुए कहा गया है—**'एवं भावविसोहीए णिव्वाणमभिगच्छति'** इसका आशय यह है कि जहाँ राग-द्वेष रहित बुद्धि से कोई प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति में जहाँ केवल विशुद्ध मन से या केवल शरीर से प्राणातिपात हो जाता है, वहाँ भाव-विशुद्धि होने के कारण कर्मोपचय नहीं होता, इससे जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

इस सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थ सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के बालोवाद जातक में बुद्ध वचन मिलता है—("दूसरे मांस की बात जाने दो) कोई असंयमी पुरुष अपने पुत्र तथा स्त्री को मारकर उस मांस का दान करे, और प्रज्ञावन संयमी (भिक्षु) उस मांस का भक्षण करे तो भी उसे पाप नहीं लगता।"[२०]

इसी बुद्ध वचन का आशय लेकर शास्त्रकार ने ५५ वीं सूत्र गाथा में संकेत किया है। यद्यपि चूर्णिकार सम्मत और वृत्तिकार सम्मत दोनों पाठों में थोड़ा-सा अन्तर है, इसलिए अर्थ भेद होते हुए भी दोनों का आशय समान है। चूर्णिकारसम्मत पाठ है—**'पुत्तं पिता समारम्भ आहारट्ठमसंजए'** और वृत्तिकार सम्मत पाठ है—**'पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असंजए।'**[२१]

चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या यों की है—'पुत्र का भी समारम्भ करके; समारम्भ का अर्थ है—बेचकर, मारकर उसके मांस से या द्रव्य से और तो क्या कहें, पुत्र न हो तो सूअर या बकरे को भी मारकर भिक्षुओं के आहारार्थ भोजन बनाए, स्वयं भी खाये।[२२] कौन? असंयत अर्थात् भिक्षु के अतिरिक्त, उपासक या अन्य कोई गृहस्थ उस त्रिकोटि शुद्ध भोजन को सेवन करता हुआ वह मेधावी भिक्षु कर्म से लिप्त नहीं होता।[२३]

---

१९ "......इमेसं खो अहं, तपस्सि, तिण्णं कम्मानं एवं पटिविभत्तानं एवं पटिविसट्ठानं मनोकम्मं महासावज्जतरं पञ्ञपेमि, पापस्स कम्मस्स किरियाय, पापस्स कम्मस्स पवत्तिया, नो तथा कायकम्मं, नो तथा वची कम्मंति।
—सुत्तपिटके मज्झिमनिकाय (पा० भा० २) म० पण्णा० उपालि सुत्तं पृ० ४३-६०

२० पुत्त-दारंपि चे हन्त्वा, देति दानं असञ्ञतो।
भुञ्जमानो पि संपञ्ञो, न पापमुपलिम्पती॥" —सुत्तपिटक, खुद्दक निकाय, बालोवादजातक पृ० ६४

२१ सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृ० ६

२२ पं० बेचरदास जी दोशी के अनुसार 'पुत्त' शब्द 'शूकर' का द्योतक है; बुद्धचर्या के अनुसार बुद्ध ने 'शूकर मद्दव' (शूकर मांस) खाया था। —जैन सा० इति० भाग १, पृ० १३३

२३ सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० ३८—पुत्रमपि तावत् समारम्य, समारम्भो नाम विक्रीय मारयित्वा, तन्मांसेन वा द्रव्येण वा, किमंग पुणरपुत्रं शूकरं वा छगलं वा, आहारार्थं कुर्याद् भुक्तं भिक्खूणं, अस्संजतो नाम भिक्खुव्यतिरिक्तः स पुनरुपासकोऽन्यो वा, तं च भिक्षुः त्रिकोटि-शुद्धं भुञ्जानोऽपि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते।"

वृत्तिकार कृत व्याख्या इस प्रकार है—पुत्र—अपत्य को पिता-जनक समारम्भ करके यानी आहारार्थ मारकर कोई तथाविध विपत्ति आ पड़ने पर उसे पार करने के लिए राग-द्वेष रहित असंयत गृहस्थ उस मांस को खाता हुआ भी, तथा मेधावी-संयमी भिक्षु भी (यानी वह शुद्धाशय गृहस्थ एवं भिक्षु दोनों) उस मांसाहार का सेवन करते हुए भी पाप कर्म से लिप्त नहीं होते।

इस सम्वन्ध में एक वौद्ध कथा भी है, जिसे तथागत बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को खानपान का उद्देश्य समझाने के लिए कही थी। उसका सार यह है—'पिता, पुत्र एवं माता तीनों गहन वन में से होकर जा रहे थे, तीनों को अत्यन्त भूख लगी, पास में कुछ भी न था। शरीर में इतनी अशक्ति आ गयी कि एक डग भी चला नहीं जा रहा था। अतः पुत्र ने अपना मांस-भक्षण करके परिवार को जीवित रखने की पिता से प्रार्थना की। वैसा ही किया गया और उस पुत्र के माता-पिता ने उस अरण्य को पार किया।[२४]

तथागत के यह पूछने पर कि क्या पिता ने अपने पुत्र का मांस स्वाद, शक्तिवृद्धि, वल-संचय अथवा शारीरिक रूप-लावण्य वृद्धि के लिए खाया था ? सबने कहा—'नहीं।' इस पर तथागत ने कहा—"भिक्षुओ तुमने घरवार छोड़ा है, संसाराटवी को पार करने के हेतु भिक्षुव्रत लिया है, संसार रूपी भीषण वन पार करके तुम्हें निर्वाण लाभ करना है, अतः तुम भी इसी उद्देश्य से परिमित, धर्म-प्राप्त, यथाकाल-प्राप्त भोजन-पान लेते रहो, न मिले तो सन्तोष करो। किन्तु स्वाद, बलवृद्धि, शक्ति-संचय या रूप-लावण्यवृद्धि आदि दृष्टियों से खान-पान लोगे तो भिक्षु-धर्म से च्युत हो जाओगे और मोघ (पिण्डोलक) भिक्षु हो जाओगे।[२५]

सम्भव है, इस गाथा का वास्तविक आशय (भोजन में अनासक्ति) विस्मृत हो गया हो, और इस कथा का उपयोग वौद्ध गृहस्थ एवं भिक्षु दोनों मांस-भक्षण के समर्थन में करने लग गये हों।

जो भी हो, वालोवाद जातक में उल्लिखित बुद्ध वचन के अनुसार राग-द्वेष रहित होकर शुद्धाशय से पुत्रवध करके उसका माँस खाने वाले पिता को तथा भिक्षुओं को कर्मोपचय नहीं होता, यह सिद्धान्त इस गाथा में वताया गया है।

कर्मोपचय निषेधवाद का निराकरण—पूर्वोक्त पाँच गाथाओं में कर्मोपचय निषेध के सम्बन्ध में जो भी युक्ति, हेतु एवं दृष्टान्त दिये गये हैं, उन सवका निराकरण इस ५६ वीं सूत्र गाथा द्वारा किया गया है—

---

२४ (क) पुत्तं पिता इत्यादि। पुत्रमपत्यं, पिता जनकः समारभ्य व्यापाद्य आहारार्थं कस्यां चित् तथा विधायामापदि तदुद्धरणार्थमरक्तद्विष्टः असंयतो गृहस्थः तत्पिशितं भुंजानोऽपि, च शब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्। तथा मेधाव्यपि संयतोपीत्यर्थः, तदेव गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः पिशिताश्यपि कर्मपापेन नोपलिप्यते, नाश्लिस्यते।"

—सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक ३९

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १ पृ० १३४-१३५

२५ (क) सुत्तपिटके संयुत्तनिकाय पालि भा० २ पुत्तमंससुत्तं पृ० ८४

(ख) तुलना करो—ज्ञातासूत्र प्रथम अध्ययन धन्ना सार्थवाह एवं उसके पुत्रों द्वारा मृत-पुत्री मांस विषयक प्रसंग

(ग) वौद्ध भिक्षुओं की मांसभक्षण निर्दोषिता का वर्णन सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध गाथा ८१२ से ८१६ तथा ८२३-८२४ गाथाओं में मिलता है।

'मणसा जे'''संवुडचारिणो।' इसका आशय यह है कि जो पुरुष किसी भी निमित्त से किसी प्राणी पर द्वेष या हिंसा में नहीं जाता, वह विशुद्ध है, इसलिए उन व्यक्तियों को पाप कर्म का वन्ध (उपचय) नहीं होता, यह कहना असत्य है, सिद्धान्त और युक्ति से विरुद्ध है। जानकर हिंसा करने से पहले राग-द्वेष पूर्ण भाव न आएं, यह सम्भव नहीं है।[२६] भाव हिंसा तभी होती है, जब मन में जरा भी राग, द्वेष, कषाय आदि के भाव आते हैं। वस्तुतः कर्म के उपचय करने में मन ही तो प्रधान कारण है, जिसे बौद्ध-ग्रन्थ धम्मपद में भी माना है।[२७] उन्हीं के धर्म ग्रन्थ में बताया है कि 'राग-द्वेषादि क्लेशों से वासित चित्त ही संसार (कर्म वन्धन रूप) है, और वही रागादि क्लेशों से मुक्त चित्त ही संसार का अन्त—मोक्ष कहलाता है।

बौद्धों के द्वारा दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि विपत्ति के समय पिता द्वारा पुत्र का वध किया जाना और उसे मारकर स्वयं खा जाना और मेधावी भिक्षु द्वारा उक्त मांसाशन करना पापकर्म का कारण नहीं है, विलकुल असंगत है। राग-द्वेष से क्लिष्ट चित्त हुए बिना मारने का परिणाम नहीं हो सकता, 'मैं पुत्र को मारता हूँ' ऐसे चित्त परिणाम को असंक्लिष्ट कौन मान सकता है?[२८]

और उन्होंने भी तो कृत-कारित और अनुमोदित तीनों प्रकार से हिंसादि कार्य को पापकर्मवन्ध का आदान कारण माना है। ईर्यापथ में भी विना उपयोग के गमनागमन करना चित्त की संक्लिष्टता है, उससे कर्म बन्धन होता ही है। हाँ, कोई साधक प्रमाद रहित होकर सावधानी से उपयोग पूर्वक चर्या करता है, किसी जीव को मारने की मन में भावना नहीं है, तव तो वहाँ उसे जैन सिद्धान्तानुसार पाप-कर्म का वन्ध न ही होता।[२९] परन्तु सर्वसामान्य व्यक्ति, जो विना उपयोग के प्रमादपूर्वक चलता है, उसमें चित्त संक्लिष्ट होता ही है, और वह व्यक्ति पापकर्म वन्ध से वच नहीं सकता। इसी प्रकार चित्त संक्लिष्ट होने पर ही स्वप्न में किसी को मारने का उपक्रम होता है। अतः स्वप्नान्तिक कर्म में भी चित्त

---

२६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक—३९

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या

२७ (क) मनो पुब्वंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे षदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥१॥

—धम्मपद पढमो यमकवग्गो १

(ख) चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥

—सूत्रकृतांग भाषानुवाद पृ० १२६

२८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक-३७ से ४० तक

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ९

२९ जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ ॥

—दशवै० अ० ४/८

अशुद्ध होने से कर्मबन्ध होता ही है। इसलिए चतुर्विध कर्म-उपचय (बन्ध) को प्राप्त नहीं होते, यह कहना भी यथार्थ नहीं है। इसीलिए शास्त्रकार ने कर्मोपचय निषेधवादी बौद्धों पर दो आक्षेप लगाये हैं—(१) कर्म चिन्ता से रहित हैं, (२) संयम और संवर के विचार से किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**संसारपरिवड्ढणं**—संसार-जन्म-मरण रूप संसार की वृद्धि करने वाला, पाठान्तर है—**दुक्खक्खंधविवद्धणं**—दुःख-स्कन्ध[३०] यानी असातावेदनीय के उदय रूप दुःख की परम्परा को बढ़ाने वाला। **जाणं काएण अणाउट्टी**—जानता हुआ भी शरीर से हिंसा नहीं करने वाला। जानता हुआ यदि काया से प्राणी को, प्राणी के अंगों को काटता हो, अथवा चूर्णिकार के अनुसार जो ६ बातों से अभिज्ञ बुद्ध-तत्त्वज्ञ है, वह हिंसा करता हुआ भी पापकर्म का बन्ध नहीं करता अथवा स्वप्न में किसी प्राणी का घात करता हुआ भी काया से छेदनादि हिंसा नही करता। **अबुहो**—अनजान में, नहीं जानता हुआ। **पुट्ठो संवेदेति परं**—अविज्ञोपचित आदि चार प्रकार के कर्मों से कर्ता जरा-सा स्पृष्ट होता है, वह केवल स्पर्शमात्र का अनुभव करता है, क्योंकि उसका विपाक (फल) अधिक नहीं होता। जैसे—दीवार पर फेंकी हुई बालू की मुट्ठी स्पर्श के बाद ही झड़ जाती है। '**अवियत्तं खु सावज्जं**'-उक्त चतुर्विध कर्म अव्यक्त-अस्पष्ट हैं, क्योंकि विपाक का स्पष्ट अनुभव नहीं इसलिए परिज्ञोपचितादि कर्म अव्यक्त रूप से सावद्य हैं। **आयाणा**—पापकर्मों के आदान-ग्रहण या कर्मबन्ध के कारण। अर्थात् जिन दुष्ट अध्यवसायों से पापकर्म का उपचय किया जाता है, वे आदान कहलाते हैं। **भावविसोहीए**—राग-द्वेष रहित बुद्धि से। **चित्तं तेसिं न विज्जती**—प्राणिवध के परिणाम होने पर उनका चित्त शुद्ध नहीं रहता। **अणवज्जं अतहं तेसिं**—केवल मन से द्वेष करने पर भी उनके पाप कर्मबन्धन या कर्मोपचय नहीं होता, यह असत्य है।

परवादि-निरसन—

> ५७. **इच्चेयाहिं दिट्ठीहिं सातागारवणिस्सिता।**
> **सरणं ति मण्णमाणा सेवंती पावगं जणा॥ ३०॥**
>
> ५८. **जहा आसाविणिं णावं जातिअंधो दुरूहिया।**
> **इच्छेज्जा पारमागंतुं अंतरा य विसीयति॥ ३१॥**
>
> ५९. **एवं तु समणा एगे मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।**
> **संसारपारकंखी ते संसारं अणुपरियट्टंति॥ ३२॥ त्ति बेमि।**

५७. (अब तक बताई हुई) इन (पूर्वोक्त) दृष्टियों को लेकर सुखोपभोग एवं बड़प्पन (मान-बड़ाई) में आसक्त (विभिन्न दर्शन वाले) अपने-अपने दर्शन को अपना शरण (रक्षक) मानते हुए पाप का सेवन करते हैं।

---

३० चूर्णिकार के अनुसार—कर्मसमूह, वृत्तिकार के अनुसार—दुःख परम्परा बौद्ध सम्मत चार आर्य सत्यों में से दूसरा।

५८. जैसे चारों ओर से जल प्रविष्ट होने वाली (छिद्रयुक्त) नौका पर चढ़कर जन्मान्ध व्यक्ति पार जाना चाहता है, परन्तु वह बीच में ही जल में डूब जाता है।

५९. इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि, अनार्य श्रमण संसार सागर से पार जाना चाहते हैं, लेकिन वे संसार में ही बार-बार पर्यटन करते रहते हैं।

—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

विवेचन—**विभिन्न अन्यदृष्टियों की दशा**—५७ से लेकर ५९ तक की तीन गाथाओं में बताये गये विभिन्न एकान्त दर्शनों, वादों, दृष्टियों को सत्य मानकर उनकी शरण लेकर अन्धविश्वासपूर्वक चलने वाले व्यक्तियों की दुर्दशा का दो तरह से चित्रण किया गया है—(१) अपने दर्शन की शरण लेकर, कर्म बन्धन से निश्चिन्त होकर इन्द्रिय-सुखोपभोग एवं मान-बड़ाई में आसक्त वे लोग निश्शंक भाव से पापाचरण करते रहते हैं, (२) जैसे सच्छिद्र नौका में बैठा हुआ जन्मान्ध अधबीच में ही पानी में डूबता है, वैसे ही संसार सागर पार होने की आशा से मिथ्यात्व-अविरति आदि छिद्रों के कारण कर्म जल प्रविष्ट हो जाने वाली मिथ्यादृष्टि युक्त मत नौका में बैठे हुए मत-मोहान्ध व्यक्ति बीच में ही डूब जाते हैं।[31]

कठिन शब्दों की व्याख्या—सातागारवणिस्सिया—सुखशीलता में आसक्त। **सरणं ति मण्णमाणा**—हमारा यही दर्शन संसार से उद्धार करने में समर्थ है, इसलिए यही हमारा शरण-रक्षक होगा, यह मानकर। चूर्णिकार—**'हियंति मण्णमाणा तु सेवंती अहियं जणा'**—पाठान्तर मानकर इसकी व्याख्या करते हैं—'इसी से हमारा हित होगा' इस प्रकार वे इस अहितकर को हितकर मानते हुए सेवन करते हैं। **आसाविणीं णावं**—वृत्तिकार के अनुसार—जिसमें चारों ओर से पानी आता है, ऐसी सच्छिद्र नौका आस्रविणी कहलाती है। चूर्णिकार के अनुसार, जिसमें चारों ओर से पानी आकर गिरता है, इस कारण जिसके कोठे (प्रकोष्ठ) टूट गये हैं, या कोठे बनाये ही नहीं गये हैं ऐसी नाव। **अन्तरा य विसीयति**—बार-बार चतुर्गतिक परिभ्रमण रूप संसार में ही पर्यटन करते हैं।[32]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

३१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १९२ से १९६ तक

३२ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९-४०
(ख) सूयगडंग सुत्तं चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १०

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

आधाकर्म दोष—

६०. जं किंचि वि पूतिकडं सड्ढीमागंतुमीहियं ।
सहस्संतरियं भुंजे दुपक्खं चेव सेवती ॥ १ ॥

६१. तमेव अविजाणंता विसमंमि अकोविया ।
मच्छा वेसालिया चेव उदगस्सऽभियागमे ॥ २ ॥

६२. उदगस्सऽप्पभावेणं सुक्कंमि घातमिंति उ ।
ढंकेहि व कंकेहि य आमिसत्थेहिं ते दुही ॥ ३ ॥

६३. एवं तु समणा एगे वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव घातमेसंतऽणंतसो ॥ ४ ॥

६०. जो आहार आधाकर्मी आहार के एक कण से भी दूषित, मिश्रित या अपवित्र है, और श्रद्धालु गृहस्थ के द्वारा आगन्तुक मुनियों, श्रमणों के लिए बनाया गया है, उस (दोषयुक्त) आहार को जो साधक हजार घर का अन्तर होने पर भी खाता है वह साधक (गृहस्थ और साधु) दोनों पक्षों का सेवन करता है ।

६१. उस (आधाकर्म आदि आहारगत दोष) को नहीं जानते हुए तथा (अष्टविध कर्म के या संसार के) ज्ञान में अनिपुण वे (आधाकर्मादि दोषयुक्त आहारसेवी साधक) उसी प्रकार दुःखी होते हैं, जैसे वैशालिक जाति के मत्स्य जल की बाढ़ आने पर ।

६२. बाढ़ के जल के प्रभाव से सूखे और गीले स्थान में पहुँचे हुए वैशालिक मत्स्य जैसे मांसार्थी ढंक और कंक पक्षियों द्वारा सताये जाते हैं ।

६३. इसी प्रकार वर्तमान सुख के अभिलाषी कई श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्त बार (विनाश) को प्राप्त होंगे ।

विवेचन—दूषित आहार-सेवी साधकों की दशा—गाथा ६० से ६३ तक में शास्त्रकार ने स्व-समय (निर्ग्रन्थ श्रमणाचार) के सन्दर्भ में आधाकर्म आदि दोष से दूषित आहार-सेवन से हानि एवं दोषयुक्त आहार-सेवी की दुर्दशा का निरूपण किया है ।

छान्दोग्य उपनिषद में भी बताया है कि आहार-शुद्धि से सत्त्वशुद्धि होती है, सत्त्वशुद्धि से स्मृति स्थायी होती है, स्थायी स्मृति प्राप्त होने पर समस्त ग्रन्थियों का विशेष प्रकार से मोक्ष हो जाता है ।[1]

१ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।' —छान्दोग्योपनिषद् अ० ७, खण्ड २६/२

यहाँ शास्त्रकार ने भी आहार शुद्धि पर जोर दिया है। अगर साधु का आहार आधाकर्मादिदोष-दूषित होगा तो वह हिंसा का भागी तो होगा ही, उसके विचार, संस्कार एवं अन्तःकरण निर्बल हो जायेंगे दूषित आहार से साधु के सुख-शील कषाय युक्त प्रमादी बन जाने का खतरा है। ६३ वीं सूत्र गाथा में स्पष्ट कहा गया है—'**वट्टमाण सुहेसिणो**।' आशय यह है कि आहार-विहार की निर्दोषता को ठुकराकर वे साधक वर्तमान में सुख-सुविधाओं को ढूंढ़ते रहते हैं, प्रमादी बनकर क्षणिक वैषयिक सुखों को देखते हैं, भविष्य के महान् दुःखों को नहीं देखते।

प्रश्न होता है—आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार का सेवन करने से कौन-से दुःख और कैसे प्राप्त होते हैं ? इसके समाधान हेतु भगवती सूत्र में यह द्रष्टव्य है—श्रमण भगवान महावीर से गणधर गौतम ने एक प्रश्न पूछा—'भगवन् ! आधाकर्मी (दोषयुक्त) आहार का सेवन करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ किस कर्म का बन्ध करता है ? कौन-सा कर्म प्रबल रूप से करता है ? कितने कर्मों का चय-उपचय करता है ?"

उत्तर में भगवान ने कहा—"गौतम ! आधाकर्मी आहारकर्ता आयुष्य कर्म के सिवाय शेष ७ शिथिल नहीं हुई कर्म-प्रकृतियों को गाढ़-बन्धनों से बद्ध कर लेता है, कर्मों का चय-उपचय करता है यावत् दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है।[2]

यहाँ वैशालिक जाति के मत्स्य से तुलना करते हुए शास्त्रकार ने स्पष्ट बताया है जिस प्रकार वैशालिक या विशालकाय मत्स्य समुद्र में तूफान आने पर ऊँची-ऊंची उछलती हुई लहरों के थपेड़े खाकर चले जाते हैं। उन प्रबल तरंगों के हटते ही गीले स्थान के सूख जाने पर वे समुद्र तट पर ही पड़े-पड़े तड़फते हैं, उधर मांसलोलुप ढंकादि पक्षियों या मनुष्यों द्वारा वे नोंच-नोंचकर फाड़ दिये जाते हैं। रक्षक के अभाव में वे वहीं तड़फ-तड़फ कर मर जाते हैं। यही हाल आधाकर्मी आहारभोजी का होता है, उन्हें भी गाढ़ कर्म बन्धन के फलस्वरूप नरक तिर्यंच आदि दुर्गतियों में जाकर दुःख भोगने पड़ते हैं, नरक में परमाधार्मिक असुर हैं, तिर्यंच में मांसलोलुप शिकारी, कसाई आदि हैं, जो उन्हें दुःखी कर देते हैं।

आहार-दोष का ज्ञान न हो तो ? कोई यह पूछ सकता है कि अन्यतीर्थी श्रमण, भिक्षु आदि जो लोग आधाकर्मादि दोषों से बिलकुल अनभिज्ञ है, उनके ग्रन्थों में आहार-दोष बताया ही नहीं गया है, न हीं उनके गुरु, आचार्य आदि उन्हें आहार-शुद्धि के लिए आधाकर्मादि दोष बताते हैं। वे संसार परिभ्रमण के कारण और निवारण के सम्बन्ध में बिल्कुल अकुशल हैं। न वे दूषित आहार-ग्रहणजनित हिंसादि आस्रवों को पाप कर्मबन्ध का कारण मानते हैं, ऐसी स्थिति में उनकी क्या दशा होगी ? इसके उत्तर में दो शब्दों में यहाँ कहा गया—ते दुही—वे दुःखी होते हैं। चाहे आहार दोष जानता हो, या न जानता हो, जो भी साधक आधाकर्मी आहार करेगा, उसे उसका कटुफल भोगना ही पड़ेगा।

वृत्तिकार ने यहाँ निष्पक्ष दृष्टि से स्पष्ट कर दिया है—चाहे आहार दोषविज्ञ जैन श्रमण हो अथवा

---

२ 'आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ ? किं पकरेइ किं चिणाइ, किं उपचिणाइ ?"
गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिल बंधण-बद्धाओ धणियबंधण बद्धाओ पकरेइ, जाव अणुपरियट्टइ।"
—भगवती सूत्र शतक ७, उ० ६, सू० ७८

आजीवक, बौद्ध आदि आहार-दोष से अनभिज्ञ श्रमण हो, जो भी आधाकर्म दोष युक्त आहार करेगा, उसकी दुर्गति एवं अनन्त बार विनाश निश्चित है—'घातमेस्संति णंतसो'।

आधाकर्म दोषयुक्त आहार की पहचान—आहार आधाकर्म दोषयुक्त कैसे जाना जाये? क्या दूसरे शुद्ध आहार के साथ मिल जाने या मिला देने से वह आहार आधाकर्म दोषयुक्त नहीं रहता? इसके उत्तर में ६० वीं गाथा में स्पष्ट बता दिया गया है—'पूतिकडं सड्ढीमागंतुमीहियं।' किसी श्रद्धालु भक्त द्वारा गाँव में आये हुए साधु या श्रमणादि के लिए बनाया हुआ आहार आधाकर्म दोषयुक्त आहार है। विशुद्ध आहार में उसका अल्पांश भी मिल जाय तो वह पूतिकृत आहार कहलाता है और एक, दो नहीं चाहे हजार घरों का अन्तर देकर साधु को दिया गया हो, साधु उसका सेवन करे तो भी वह साधु उक्त दोष से मुक्त नहीं होता। बल्कि शास्त्रकार कहते हैं—दुपक्खं चेव सेवए। आशय यह है कि ऐसे आहार का सेवी साधु द्विपक्ष दोष-सेवन करता है।

'दुपक्ख' (द्विपक्ष) के तीन अर्थ यहाँ फलित होते हैं—

(१) स्वपक्ष में तो आधाकर्मी आहार-सेवन का दोष लगता ही है, गृहस्थ पक्ष के दोष का भी भोगी वह हो जाता है, अतः साधु होते हुए भी वह गृहस्थ के समान आरम्भ का समर्थक होने से द्विपक्ष-सेवी है।

(२) ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी दोनों क्रियाओं का सेवन करने के कारण द्विपक्ष-सेवी हो गया। आहार लाते समय ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है और दोषयुक्त आहार लेने व सेवन करने से माया और लोभ दोनों कषायों के कारण साम्परायिकी क्रिया भी लगती है।

(३) दोषयुक्त आहार लेने से पहले शिथिल रूप से बाँधी हुई कर्म प्रकृतियों को वह निधत्त और निकाचित रूप से गाढ़ स्थिति में पहुँचा देता है। अतः वह द्विपक्ष-सेवी है।[3]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**सड्ढीमागंतुमीहियं**—चूर्णिकार के शब्दों में—**श्रद्धा अस्यास्तीतिश्राद्धी आगच्छन्तीत्यागन्तुकाः। तैः श्राद्धीभिरागन्तूननुप्रेक्ष्य प्रतीत्य बक्खडियं। अथवा सड्ढित्ति जे एकतो वसंति तानुद्दिश्य कृतम्। तत् पूर्वपश्चिमानां आगन्तुकोऽपि यदि सहस्संतरकडं भुंजे दुपक्खं णाम पक्षौ द्वौ सेवते।** अर्थात्—जिसके हृदय में श्रद्धा (साधुजनों के प्रति) है, वह श्राद्धी है। जो नये आते हैं वे आगन्तुक हैं। उन श्रद्धालुओं द्वारा आगन्तुक साधुओं के उद्देश्य से अथवा उन्हें आये देख जो आहार तैयार कराया है। अथवा श्राद्धी का अर्थ है, जो साधक एक ओर रहते हैं, उन्हें उद्देश्य करके जो आहार बनाया है, उस आहार को यदि पहले या पीछे आये हुए आगन्तुक भिक्षु, श्रमण या साधु यदि हजार घर में ले जाने के पश्चात् भी सेवन करता है, तो द्विपक्ष दोष का सेवन करता है।

वृत्तिकार के अनुसार—**श्रद्धावताऽन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकान् उद्दिश्य ईहितं चेष्टितम् निष्पादितम्**—अर्थात् दूसरे भक्तिमान् श्रद्धालु ने दूसरे आये हुए साधकों के उद्देश्य (निमित्त) से बनाया है, तैयार किया है।

पूतिकडं—आधाकर्मादि दोष के कण से भी जो अपवित्र दूषित है। **तमेव अजाणंता विसमंसि अकोविया**—आधाकर्मादि आहार दोष के सेवन को न जानने वाले विषम अष्टविध कर्मबन्ध से करोड़ों जन्मों

---

३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४०-४१ के आधार पर

में भी छूटना कठिन है, ऐसे अष्टविध कर्मबन्धों को जानने में अकोविद-अनिपुण। यह कर्मबन्ध कैसे होता है, कैसे नहीं? यह संसार सागर कैसे पार किया जा सकता है? इन विषयों के ज्ञान में अकुशल। **आमिसत्थेहि**—मांसार्थी मछुओं (मछली पकड़ने वालों) द्वारा (जिंदा ही काटी जाती हैं)। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**आमिसासीहि** जिसकी व्याख्या की गयी है—**आमिषाशिनः—शृगाल-पक्षि-मनुष्यमार्जारादयस्तैः।** अर्थात् मांसभोजी शियार, पक्षी (गिद्ध आदि), मनुष्य (मछुए, कसाई आदि) तथा बिल्ली आदि के द्वारा। कहीं-कहीं **'सुक्कं सिग्घंतमिति उ'** पाठ की इस प्रकार संगति बिठायी गयी है—**'सुक्कंसि घंतमिति'**—पानी के सूख जाने पर वे (मत्स्य) अशरण—रक्षा रहित होकर घात—विनाश को प्राप्त होते हैं। **घंतमिति** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"घन्तमेतीति—घनघोतन वा अंतं करोतीति घन्तः—घातः तम् एति—प्राप्नोतीत्यर्थः अथवा घंतो णाममच्चू तं मच्चूमेति।' अर्थात् घनघात—सघन चोटें मारकर या पीट-पीटकर अन्त करने से विनाश को प्राप्त होते हैं, अथवा घंत का अर्थ मृत्यु, वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[४]

जगत् कर्तृत्ववाद—

६४ **इणमन्नं तु अण्णाणं इहमेगेसिमाहियं।**
देवउत्ते अयं लोगे बंभउत्ते त्ति आवरे ॥५॥

६५ **ईसरेण कडे लोए पहाणाति तहावरे।**
जीवा-ऽजीवसमाउत्ते सुह-दुक्खसमन्निए ॥६॥

६६ **सयंभुणा कडे लोए इति वुत्तं महेसिणा।**
मारेण संथुता माया तेण लोए असासते ॥७॥

६७ **माहणा समणा एगे आह अंडकडे जगे।**
असो तत्तमकासी य अयाणंता मुसं वदे ॥८॥

६८ **सएहिं परियाएहिं लोयं बूया कडे ति य।**
तत्तं ते ण विजाणंती ण विणासि कयाइ वि ॥९॥

६९ **अमणुण्णसमुप्पादं दुक्खमेव विजाणिया।**
समुप्पादमयाणंता किह नाहिंति संवरं ॥१०॥

६४. (पूर्वोक्त अज्ञानों के अतिरिक्त) दूसरा अज्ञान यह भी हैं—'इस लोक (दार्शनिक जगत्) में किसी ने कहा है कि यह लोक (किसी) देव के द्वारा उत्पन्न किया हुआ है और दूसरे कहते हैं कि ब्रह्मा ने बनाया है।'

---

४ (क) सूत्रकृ० शीला० वृ० पत्रांक ४०-४१
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (सूयगडंग मूलपाठ टिप्पण युक्त) पृ० १०-११

६५. जीव और अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से समन्वित (सहित) यह लोक ईश्वर के द्वारा कृत-रचित है (ऐसा कई कहते हैं) तथा दूसरे (सांख्य) कहते हैं कि (यह लोक) प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा कृत हैं ।

६६. स्वयम्भू (विष्णु या किसी अन्य) ने इस लोक को बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। यमराज ने यह माया रची है, इसी कारण यह लोक अशाश्वत-अनित्य (परिवर्तनशील) है।

६७. कई माहन (ब्राह्मण) और श्रमण जगत् को अण्डे के द्वारा कृत कहते हैं तथा (वे कहते हैं)— ब्रह्मा ने तत्त्व (पदार्थ-समूह) को बनाया है।

वस्तुतत्त्व को न जानने वाले ये (अज्ञानी) मिथ्या ही ऐसा कहते हैं।

६८. (पूर्वोक्त अन्य दर्शनी) अपने-अपने अभिप्राय से इस लोक को कृत (किया हुआ) बतलाते हैं। (वास्तव में) वे (सब अन्यदर्शनी) वस्तुतत्त्व को नहीं जानते, क्योंकि यह लोक कभी भी विनाशी नहीं है।

६९. दुःख अमनोज्ञ (अशुभ) अनुष्ठान से उत्पन्न होता है, यह जान लेना चाहिए। दुःख की उत्पत्ति का कारण न जानने वाले लोग दुःख को रोकने (संकट) का उपाय कैसे जान सकते हैं ?

विवेचन—**लोक कर्तृत्ववाद : विभिन्न मतवादियों की दृष्टि में**—गाथा ६४ से ६९ तक शास्त्रकार ने इसे अज्ञानवादियों का दूसरा अज्ञान बताकर लोक-रचना के सम्बन्ध में उनके विभिन्न मतों को प्रदर्शित किया है। इन सब मतों के बीज उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृतियों तथा सांख्यादि दर्शनों में मिलते हैं। यहाँ शास्त्रकार ने लोक रचना के विषय में मुख्य ७ प्रचलित मत प्रदर्शित किये हैं—

(१) यह किसी देव द्वारा कृत है, गुप्त (रक्षित) है, उप्त (बोया हुआ) है।

(२) ब्रह्मा द्वारा रचित है, रक्षित है या उत्पन्न किया गया है।

(३) ईश्वर द्वारा यह सृष्टि रची हुई है।

(४) प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा लोक कृत है।

(५) स्वयम्भू (विष्णु या अन्य किसी के) द्वारा यह लोक बनाया हुआ है।

(६) यमराज (मार या मृत्यु) ने यह माया बनायी है, इसलिए लोक अनित्य है।

(७) यह लोक अण्डे से उत्पन्न हुआ है।

(१) **देवकृत लोक**—वैदिक युग में मनुष्यों का एक वर्ग अग्नि, वायु, जल, आकाश, विद्युत, दिशा आदि शक्तिशाली प्राकृतिक तत्त्वों का उपासक था प्रकृति को ही देव मानता था। मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ, जो इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर सके, देव ही शक्तिशाली है। इस धारणा से देवकृत लोक की कल्पना प्रचलित हुई। इसलिए कहा गया—देवउत्ते। इसके संस्कृत में तीन रूप हो सकते हैं—देव—उप्त, देवगुप्त और देवपुत्र। 'देव—उप्त' का अर्थ है—देव के द्वारा बीज की तरह बोया गया। किसी देव ने अपना बीज (वीर्य) किसी स्त्री में बोया (डाला) और उससे मनुष्य तथा दूसरे प्राणी हुए। प्रकृति की सब वस्तुएं हुईं। ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् आदि में इसके प्रमाण मिलते हैं। देवगुप्त का अर्थ

है—देवों या देव द्वारा रक्षित। सारा जगत् किसी देव द्वारा रक्षित है। देवपुत्र का अर्थ है—यह जगत् तथाकथित देव का पुत्र सन्तान है, जिसने संसार को उत्पन्न किया है।[५]

(२) ब्रह्मरचितलोक—कोई प्रजापति ब्रह्मा द्वारा लोक की रचना मानते हैं। उनका कहना है—मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ कि इतनी विशाल व्यापक सृष्टि की रचना और सुरक्षा कर सके। और देव भले ही मनुष्यों से भौतिक शक्ति में बढ़े-चढ़े हों, लेकिन विशाल ब्रह्माण्ड को रचने में कहाँ समर्थ हो सकते हैं? वही सारे संसार को देख सकते हैं। जैसा कि उपनिषद में कहा है—"सृष्टि से पहले हिरण्य-गर्भ (ब्रह्मा) अकेला ही था।"[६]

मुण्डकोपनिषद् में तो स्पष्ट कहा है—विश्व का कर्ता और भुवन का गोप्ता (रक्षक) ब्रह्मा देवों में सर्वप्रथम हुआ। तैत्तिरीयउपनिषद में कहा गया है—उसने कामना की—"मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ।" उसने तप तथा तपश्चरण करके यह सब रचा—सृजन किया—प्रश्नोपनिषद में भी इसी का समर्थन मिलता है। इसी तरह छान्दोग्य-उपनिषद में पाठ है। बृहदारण्यक में ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि रचना की विचित्र कल्पना बतायी गयी है और क्रम भी। "ब्रह्मा अकेला रमण नहीं करता था। उसने दूसरे की इच्छा की। जैसे स्त्री-पुरुष परस्पर आश्लिष्ट होते हैं, वैसे ब्रह्मा ने अपने आपके दो भाग किये और वे पति-पत्नी के रूप में हो गये।····पहले मनुष्य फिर गाय, बैल, गर्दभी, गर्दभ, बकरी, बकरा, पशु-पक्षी आदि से लेकर चींटी तक सब के जोड़े बनाये। उसे विचार हुआ कि मै सृष्टि रूप हूँ, मैंने ही यह सब सृजन किया है, ····इस प्रकार सृष्टि हुई।[७] एक वैदिक पुराण में सृष्टि क्रम बताया है कि पहले

---

५ देवकृत जगत् के प्रमाण उपनिषदों में—

(क) "····दिवमेव भवामो····सुतेजा आत्मा वैश्वानरो····इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥········ ····वायुमेव भगवो····मुपास्से····इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति····बहुलोऽसि प्रजया धनेन च ॥१॥ इत्या एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रायिरात्मा वैश्वानरो····तस्मात्त्वं रयिमान् पुष्टिमानसि ॥····पृथिवीमेव भगवो राजन् इति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मा न मुपास्से····तस्मात्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥ ····यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वसोऽन्नमात्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेसमात्रमभि विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेष भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमस्ति ॥१॥

—छान्दोग्योपनिषद् खण्ड १२ से १८ तक अध्याय ५

(ख) ····स ईक्षत: लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचिर्मरमापोऽम्भ: परं दिवं द्यौ प्रतिष्ठाऽन्तरिक्ष मरीचय: ॥ —ऐतरेयोपनिषद्, प्रथम खण्ड

(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२ के आधार पर

६ ब्रह्मा द्वारा रचित जगत् के प्रमाण—

"हिरण्यगर्भ: समवर्तताऽग्रे, स ऐक्षत, ····तत्तेजाऽसृजत।" —छान्दोग्योपनिषद् खण्ड २ श्लोक ३

७ (क) ओ३म् ब्रह्मा देवानां प्रथम: सम्बभूव विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता। —मुण्डकोपनिषद खण्ड १ श्लोक १

(ख) सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत ॥

—तैत्तिरीयोपनिषद अनुवाक् ६

यह जगत् घोर अन्धकारमय था, बिलकुल अज्ञात, अविलक्षण, अतर्क्य और अविज्ञेय। मानो वह बिलकुल सोया हुआ था। वह एक समुद्र के रूप में था। उसमें स्थावर-जंगम, देव, मानव, राक्षस, उरग और भुजंग आदि सब प्राणी नष्ट हो गये थे। केवल गड्ढा-सा बना हुआ था, जो पृथ्वी आदि महाभूतों से रहित था। मन से भी अचिन्त्य विभु सोये हुए तपस्या कर रहे थे। सोये हुए विभु की नाभि से एक कमल निकला, जो तरुण सूर्य बिम्ब के समान तेजस्वी, मनोरम और स्वर्णकर्णिका वाला था। उस कमल में से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। जिन्होंने वहीं आठ जगन्माताएँ बनायीं—(१) दिति, (२) अदिति, (३) मनु, (४) विनता, (५) कद्रु, (६) सुलसा, (७) सुरभि, और (८) इला। दिति ने दैत्यों को, अदिति ने देवों को, मनु ने मनुष्यों को, विनता ने सभी प्रकार के पक्षियों को, कद्रु ने सभी प्रकार के सरीसृपों (सांपों) को, सुलसा ने नागजातीय प्राणियों को, सुरभि ने चौपाये जानवरों को और इला ने समस्त बीजों को उत्पन्न किया।[८]

ये और इस प्रकार के अनेक प्रसंग ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना के मिलते हैं। इसीलिए शास्त्रकार

(ग) प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्ये ॥४॥ —प्रश्नोपनिषत् प्रश्न १, श्लो० ४

(घ) ....स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावनास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्....। तस्मादिदं मर्धबृगलमिव स्व इतिह स्माह-याज्ञवल्क्य एतस्मादयमाकाशः, ...ततो मनुष्या अजायन्त, ...गौरभवदृषभः, ...ततो गावोऽजायन्त, वडवेतरा-भवदश्व वृषः इतरो गर्दभीतरा गर्दभः....अजेतरभवद्बस्त....यदिदं किं च मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत् सर्वम-सृजत ॥४॥ सेऽवेदहं वाव सृष्टिरस्मि, अहं सर्वमसृक्षीति, ततः सृष्टिरभवत्।

—बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रा० ४ सू० ३-४

८ आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजंगमे।
नष्टामरनरे चैव प्रणष्टे राक्षसोरगे ॥२॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तपः ॥३॥
तत्र तस्य शयानस्य नाभेः पद्मविनिर्गतम्।
तरुणार्क बिम्बनिभं हृद्यं कांचनकर्णिकाम् ॥४॥
तस्मिन् पद्मे भगवान् दण्डयज्ञोपवीतसंयुक्तः।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥५॥
अदितिः सुर-सन्घानां दितिरसुराणां, मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहंगमानां माता विश्वप्रकाराणाम् ॥६॥
कद्रुः सरीसृपानां सुलसा माता च नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुनः सर्वबीजानाम् ॥७॥ —वैदिक पुराण

है—देवों या देव द्वारा रक्षित। सारा जगत् किसी देव द्वारा रक्षित है। देवपुत्र का अर्थ है—यह जगत् तथाकथित देव का पुत्र सन्तान है, जिसने संसार को उत्पन्न किया है।[५]

(२) **ब्रह्मरचितलोक**—कोई प्रजापति ब्रह्मा द्वारा लोक की रचना मानते हैं। उनका कहना है—मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ कि इतनी विशाल व्यापक सृष्टि की रचना और सुरक्षा कर सके। और देव भले ही मनुष्यों से भौतिक शक्ति में बढ़े-चढ़े हों, लेकिन विशाल ब्रह्माण्ड को रचने में कहाँ समर्थ हो सकते हैं? वही सारे संसार को देख सकते हैं। जैसा कि उपनिषद में कहा है—"सृष्टि से पहले हिरण्य-गर्भ (ब्रह्मा) अकेला ही था।"[६]

मुण्डकोपनिषद् में तो स्पष्ट कहा है—विश्व का कर्ता और भुवन का गोप्ता (रक्षक) ब्रह्मा देवों में सर्वप्रथम हुआ। **तैत्तिरीयउपनिषद** में कहा गया है—उसने कामना की—"मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ।" उसने तप तथा तपश्चरण करके यह सब रचा—सृजन किया—**प्रश्नोपनिषद** में भी इसी का समर्थन मिलता है। इसी तरह छान्दोग्य-उपनिषद में पाठ है। बृहदारण्यक में ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि रचना की विचित्र कल्पना बतायी गयी है और क्रम भी। "ब्रह्मा अकेला रमण नहीं करता था। उसने दूसरे की इच्छा की। जैसे स्त्री-पुरुष परस्पर आश्लिष्ट होते हैं, वैसे ब्रह्मा ने अपने आपके दो भाग किये और वे पति-पत्नी के रूप में हो गये।....पहले मनुष्य फिर गाय, बैल, गर्दभी, गर्दभ, बकरी, बकरा, पशु-पक्षी आदि से लेकर चींटी तक सब के जोड़े बनाये। उसे विचार हुआ कि मै सृष्टि रूप हूँ, मैंने ही यह सब सृजन किया है, ...इस प्रकार सृष्टि हुई।[७] एक वैदिक पुराण में सृष्टि क्रम बताया है कि पहले

---

५ देवकृत जगत् के प्रमाण उपनिषदों में—

(क) "....दिवमेव भवामो....सुतेजा आत्मा वैश्वानरो....इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूपं आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥.........
....वायुमेव भगवो....मुपास्से....इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति....बहुलोऽसि प्रजया धनेन च ॥१॥ इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो....तस्मात्त्वं रयिमान् पुष्टिमानसि ॥....पृथिवीमेव भगवो राजन् इति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मा न मुपास्से....तस्मात्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥ ....यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वसोऽन्नमात्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेसमात्रमभि-विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेष भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमस्ति ॥१॥
—छान्दोग्योपनिषद् खण्ड १२ से १८ तक अध्याय ५

(ख) ....स ईक्षत: लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचिर्मरमापोऽम्भ: परं दिवं द्यौ: प्रतिष्ठाऽन्तरिक्ष मरीचय: ॥ —ऐतरेयोपनिषद्, प्रथम खण्ड

(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२ के आधार पर

६ ब्रह्मा द्वारा रचित जगत् के प्रमाण—
"हिरण्यगर्भ: समवर्तताऽग्रे, स ऐक्षत, ...तत्तेजाऽसृजत।" —छान्दोग्योपनिषद् खण्ड २ श्लोक ३

७ (क) ओ३म् ब्रह्मा देवानां प्रथम: सम्बभूत्र विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता। —मुण्डकोपनिषद खण्ड १ श्लोक १

(ख) सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत ॥
—तैत्तिरीयोपनिषद अनुवाक् ६

शान्ति प्राप्त कर लेता। वही समय पर भुवन (सृष्टि) का गोप्ता (रक्षक) है, वही विश्वाधिप है, सभी प्राणियों में गूढ है, जिसमें ब्रह्मर्षि और देवता लीन होते हैं। उसी को जानकर मृत्युपाश का छेदन करते हैं।'

नैयायिक जगत् को महेश्वर कृत सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते हैं—"पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, शरीर, इन्द्रिय आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। जो-जो कार्य होते हैं, वे किसी न किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा ही किए जाते हैं, जैसे कि घट। यह जगत् भी कार्य है, अतः वह भी किसी बुद्धिमान् द्वारा ही निर्मित होना चाहिए। वह बुद्धिमान जगत् का रचयिता ईश्वर (महेश्वर) ही है। जो बुद्धिमान द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये हैं, वे कार्य नहीं हैं, जैसे कि आकाश। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

ईश्वर को जगत् कर्ता मानने के साथ-साथ वे उसे एक, सर्वव्यापी (आकाशवत्) नित्य स्वाधीन, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान भी मानते हैं। संसारी प्राणियों को कर्मफल भुगतवाने वाला भी ईश्वर है, ऐसा कहते हैं। नैयायिक वेदान्तियों की तरह ईश्वर को उपादानकारण या समवायीकारण नहीं मानते, वे उसे निमित्तकारण मानते हैं। ईश्वर कर्तृत्व के विषय में वैशेषिकों की मान्यता भी लगभग ऐसी ही है।

प्रधानादिकृत लोक—सांख्यवादी कहते हैं—यह लोक प्रधान अर्थात् प्रकृति के द्वारा किया गया है। प्रकृति, सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था है। इसलिए जगत् का मूल कारण प्रधान को कहें या त्रिगुण (सत्त्व, रज और तम) को कहें, एक ही बात है। इन्हीं गुणों से सारा लोक उत्पन्न हुआ है। सृष्टि त्रिगुणात्मक कहलाती है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में तीन गुणों की सत्ता देखी जाती है। इसलिए सिद्ध है कि यह जगत त्रिगुणात्मक प्रकृति से बना है।[१३]

मूलपाठ में कहा गया है—'पहाणाइ तहावरे'—आदि पद से महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार आदि का ग्रहण करना चाहिए। सांख्य-दर्शन का सिद्धान्त है त्रिगुणात्मक प्रकृति सीधे ही इस जगत् को उत्पन्न नहीं करती। प्रकृति मूल, अविकृति (किसी तत्त्व के विकार से रहित) और नित्य है, उससे महत् (बुद्धि) तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से पांच तन्मात्रा (इन्द्रिय विषय) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन ये १६ तत्त्व (षोडशगण) उत्पन्न होते हैं, पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। इस क्रम से प्रकृति सारे लोक को उत्पन्न करती है।[१४]

---

१२ (क) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च त्यच्च।
—वृहदारण्यकोपनिषद् अ० २ ब्रा० ३।१

(ख) ततः परं ब्रह्म परं वृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्। —श्वेताश्वतर० अ० ३।७

(ग) 'जन्माद्यस्य यतः' —ब्रह्मसूत्र १।१।१

(घ) कर्तास्ति कश्चित् जगतः सचैकः, सः सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमा कुहेवाकविडम्बनास्युस्तेषां न येषमनुशासकस्त्वम्॥ —स्याद्वाद मंजरी

१३ (क) 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। —सांख्यतत्त्व कौमुदी

ने कहा—"बंभउत्ते त्ति आवरे।" देवउत्ते की तरह बंभउत्ते के भी तीन संस्कृत रूप होते हैं और अर्थ भी उसी अनुसार तीन होते हैं।

ईश्वरकृत लोक—उस युग में ईश्वर कर्तृत्ववादी मुख्यतया तीन दार्शनिक थे—वेदान्ती, नैयायिक और वैशेषिक।[९] वेदान्ती ईश्वर (ब्रह्मा) को ही जगत् का उपादान कारण एवं निमित्तकारण मानते हैं। उनके द्वारा अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में देखिए—"पहले एकमात्र यह ब्रह्म ही था, वही एक सत् था, जिसने इतने श्रेय रूप क्षेत्र का सृजन किया, फिर क्षत्राणी का, जिसने वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान आदि देवता उत्पन्न किये।....फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्त में सबके पोषक शूद्र वर्ण का सृजन किया।[१०]....तैत्तिरीयोपनिषद में कहा है—"जिस ब्रह्म-ईश्वर से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, जिसके कारण प्रयत्न (हलन-चलन आदि प्रवृत्ति) करते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, उन सबका तादात्म्य-उपादान कारण ईश्वर (ब्रह्म) ही है।[११]

बृहदारण्यक में ही आगे कहा है—'उस ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, अथवा मर्त्य और अमृत, जिसे यत् और त्यत् कहते हैं। वही एक ईश्वर सब प्राणियों के अन्तर में छिपा हुआ है।' बादरायण व्यास-रचित ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र में बताया—"सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इसी से होते हैं।" वेदान्ती अनुमान प्रमाण का प्रयोग भी करते हैं—'ईश्वर जगत् का कर्ता है, क्योंकि वह चेतन है, जो-जो चेतन होता है; वह वह कर्ता होता है जैसे—कुम्हार घट का कर्ता है।[१२]

दूसरे कर्तृत्ववादी नैयायिक हैं, नैयायिक मत अक्षपाद ऋषि प्रतिपादित हैं। इस मत के आराध्य देव महेश्वर (शिव) हैं, महेश्वर ही चराचर सृष्टि का निर्माण तथा संहार करते हैं।' श्वेताश्वतर उपनिषद में बताया है—वही देवों का अधिपति है, उसी में सारा लोक अधिष्ठित है। वही इस द्विपद चतुष्पद पर शासन करता हैं। वह सूक्ष्म रूप में कलिल (वीर्य) में भी है, विश्व का स्रष्टा है, अनेक रूप है। वही विश्व का एकमात्र परिवेष्ठिता (अपने में लपेटने वाला) है, उस शिव को जानकर (प्राणी) परम

---

९. (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २०६

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४२ के आधार पर

(ग) वर्तमान में वैदिक धर्म-सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म आदि भी ईश्वरकर्तृत्ववादी है, परन्तु उनके पास अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों में लिखित ईश्वरकर्तृत्ववाद पर आँखें मूँदकर श्रद्धा करने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रमाण, युक्ति या तर्क नहीं हैं।

१० (क) ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव, तदेकं सन्न व्यभवतच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं, यान्येतानि देवता क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणः....स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वे देवा मरुत इति ॥१२॥....स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्।....तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शुद्रः....॥ —बृहदा० अ० १ ब्रा० ४

११ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।.... —तैत्तिरीयोपनिषद् ३ भृगुवली

शान्ति प्राप्त कर लेता। वही समय पर भुवन (सृष्टि) का गोप्ता (रक्षक) है, वही विश्वाधिप है, सभी प्राणियों में गूढ है, जिसमें ब्रह्मर्षि और देवता लीन होते हैं। उसी को जानकर मृत्युपाश का छेदन करते हैं।'

नैयायिक जगत् को महेश्वर कृत सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते हैं—"पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, शरीर, इन्द्रिय आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। जो-जो कार्य होते हैं, वे किसी न किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा ही किए जाते हैं, जैसे कि घट। यह जगत् भी कार्य है, अतः वह भी किसी बुद्धिमान् द्वारा ही निर्मित होना चाहिए। वह बुद्धिमान जगत् का रचयिता ईश्वर (महेश्वर) ही है। जो बुद्धिमान द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये हैं, वे कार्य नहीं हैं, जैसे कि आकाश। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

ईश्वर को जगत् कर्ता मानने के साथ-साथ वे उसे एक, सर्वव्यापी (आकाशवत्) नित्य स्वाधीन, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान भी मानते हैं। संसारी प्राणियों को कर्मफल भुगतवाने वाला भी ईश्वर है, ऐसा कहते हैं। नैयायिक वेदान्तियों की तरह ईश्वर को उपादानकारण या समवायीकारण नहीं मानते, वे उसे निमित्तकारण मानते हैं। ईश्वर कर्तृत्व के विषय में वैशेषिकों की मान्यता भी लगभग ऐसी ही है।

प्रधानादिकृत लोक—सांख्यवादी कहते हैं—यह लोक प्रधान अर्थात् प्रकृति के द्वारा किया गया है। प्रकृति, सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था है। इसलिए जगत् का मूल कारण प्रधान को कहें या त्रिगुण (सत्त्व, रज और तम) को कहें, एक ही बात है। इन्हीं गुणों से सारा लोक उत्पन्न हुआ है। सृष्टि त्रिगुणात्मक कहलाती है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में तीन गुणों की सत्ता देखी जाती है। इसलिए सिद्ध है कि यह जगत त्रिगुणात्मक प्रकृति से बना है।[13]

मूलपाठ में कहा गया है—'पहाणाइ तहावरे'—आदि पद से महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार आदि का ग्रहण करना चाहिए। सांख्य-दर्शन का सिद्धान्त है त्रिगुणात्मक प्रकृति सीधे ही इस जगत् को उत्पन्न नहीं करती। प्रकृति मूल, अविकृति (किसी तत्त्व के विकार से रहित) और नित्य है, उससे महत् (बुद्धि) तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से पांच तन्मात्रा (इन्द्रिय विषय) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन ये १६ तत्त्व (षोडशगण) उत्पन्न होते हैं, पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। इस क्रम से प्रकृति सारे लोक को उत्पन्न करती है।[14]

---

१२ (क) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च त्यच्च।

—बृहदारण्यकोपनिषद् अ० २ ब्रा० ३।१

(ख) ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्। —श्वेताश्वतर० अ० ३।७

(ग) 'जन्माद्यस्य यतः' —ब्रह्मसूत्र १।१।१

(घ) कर्तास्ति कश्चिज्जगतः सचैकः, सः सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमा कुहेवाकविडम्बनास्युस्तेषां न येषमनुशासकस्त्वम्॥

—स्याद्वाद मंजरी

१३ (क) 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। —सांख्यतत्त्व कौमुदी

अथवा, प्रधानादि शब्द में आदि शब्द से काल, स्वभाव, नियति आदि का ग्रहण करके इस जगत् को कोई कालकृत, कोई स्वभावकृत, कोई नियतिकृत, कोई एकान्त कर्मकृत मानते हैं।

पूर्वोक्त कर्ताओं से उत्पन्न जगत् कैसा है ?—प्रश्न होता है—पूर्वोक्त विभिन्न जगत्कर्तृत्ववादियों के मत से उन-उन कारणों (कर्ताओं) द्वारा उत्पन्न जगत् कैसा है ? इस शंका के उत्तर में शास्त्रकार उनकी ओर से लोक के दो विशेषण व्यक्त करते हैं—**जीवाजीव समाउत्ते** और **सुहदुक्खसमन्निए**, अर्थात् वह लोक, जीव और अजीव दोनों से संकुल है, तथा सुख और दुःख से समन्वित ओत-प्रोत है।[१५]

स्वयम्भू द्वारा कृत लोक—महर्षि का कहना है—यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित है। महर्षि के दो अर्थ चूर्णिकार प्रस्तुत करते हैं—(१) महर्षि अर्थात् ब्रह्मा। अथवा (२) व्यास आदि ऋषि महर्षि हैं।

स्वयम्भू शब्द का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—विष्णु या अन्य कोई। स्वयम्भू शब्द ब्रह्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और विष्णु के अर्थ में भी। नारायणोपनिषद में कहा है—'अन्तर और बाह्य जो भी जगत् दिखायी देता है, सुना जाता है, नारायण (विष्णु) उस सारे जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं। नारायणार्थवशिर उपनिषद में कहा है—पुरुष नारायण (विष्णु) ने चाहा कि मैं प्रजाओं का सृजन करूँ और उससे प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्मा, रुद्र, वसु यहाँ तक कि सारा जगत् नारायण से ही उत्पन्न होता है।[१६]

पुराण में वर्णित ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना के क्रम की तरह मनुस्मृति में भी उसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यह 'जगत् सर्वत्र अन्धकारमय था, सुषुप्त-सा था। उसके पश्चात् महाभूतादि से ओज का वरण करके अन्धकार को हटाते हुए अव्यक्त स्वयम्भू इस (जगत्) को व्यक्त करते हुए स्वयं प्रादुर्भूत हुए। वे अतीन्द्रिय द्वारा ग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय एवं अचिन्त्य स्वयम्भू स्वतः उत्पन्न

---

१४ (क) मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ —सांख्यकारिका १

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२

१५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४२

(ख) सूत्रकृतांग अमर सुखबोधिनी व्याख्या पृ० २१२

१६ (क) सूत्रकृतांग चूर्णि

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १ पृ

(ग) यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥ —नारायणोपनिषद—१३ वाँ गुच्छ

(घ) अथ पुरुषो हवै नारायणोऽकामयत—प्रजाः सृजयेति। नारायणात् जायते, मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ नारायणाद् ब्रह्मा जायते, नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते····नारायणादेव समुत्पद्यते, नारायणात् प्रवर्तन्ते, नारायणे प्रणीयन्ते····।" —नारायणाथर्वशिर उपनिषद् १

हुए। ध्यान करके अपने शरीर से विविध प्रजाओं की सृष्टि की। उसने सर्वप्रथम पानी बनाया, फिर उसमें बीज उत्पन्न किया।"[१७]

मार द्वारा रचित माया : संसार प्रलयकर्ता मार—इसके पश्चात् शास्त्रकार ने कहा है—**मारेण संथुता माया, तेण लोए असासए** अर्थात् मार ने माया की रचना की। इस कारण यह जगत् अशाश्वत-अनित्य है।

मार के दो अर्थ यहाँ किये गये हैं—वृत्तिकार ने अर्थ इस प्रकार किया है 'कि जो मारता है, नष्ट करता है, वह मार—मृत्यु या यमराज। पौराणिक कहते हैं—स्वयम्भू ने लोक को उत्पन्न करके अत्यन्त भार के भय से जगत् को मारने वाला मार यानी मृत्यु-यमराज बनाया। मार (यम) ने माया रची, उस माया से प्राणी मरते हैं।" मार का अर्थ चूर्णिकार विष्णु करते हैं। वे नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर के रूप में एक नई गाथा उद्धृत करते हैं—

> **"अतिवड्ढीयजीवाणं मही विण्णवते पभुं।**
> **ततो से मायासंजुत्ते करे लोगस्सऽभिद्दवा॥"**

अर्थात् पृथ्वी अपने पर जीवों का भार अत्यधिक बढ़ जाने के कारण प्रभु (विष्णु) से विनती करती है। इस पर उस प्रभु ने लोक का विनाश (संहार) करने के लिए उसे (लोक को) माया से युक्त बनाया।[१८]

वैदिक ग्रन्थों में एक प्रसिद्ध उक्ति है—

> **"विष्णोर्माया भगवती, यया सम्मोहितं जगत्।"**

विष्णु की माया भगवती है, जिसने सारे जगत् को सम्मोहित कर दिया है। कठोपनिषद् में उस स्वयम्भू की माया के सम्बन्ध में कहा गया है—ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसके लिए भात (भोजन) है, मृत्यु जिसके लिए व्यंजन (शाकभाजी) के समान है, उस विष्णु (स्वयम्भू) को कौन यहाँ जानता है जहाँ वह है?" जो भी हो मृत्यु या विनाश प्रत्येक सजीव-निर्जीव पदार्थ के साथ लगा हुआ है, इसी कारण लोक का अनित्य विनाशशील होना स्वाभाविक है। मृत्यु की महिमा बताते हुए बृहदारण्यक में कहा है—"यहाँ पहले कुछ भी नहीं था। मृत्यु से ही यह (सारा जगत्) आवृत्त था। वह मृत्यु सारे जगत् को निगल जाने के लिए थी····।"[१९]

---

१७ आसीदिदं तमोभूत····मलक्षणम्।
अप्रतर्क्य·······प्रसुप्तमिव सर्वतः॥५॥
ततः स्वयम्भूर्भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः॥६॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्‌बभौ॥७॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमिवासृजत्॥८॥ —मनुस्मृति अध्याय १

१८ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२-४३ (ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० ११

१९ (क) यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः। —कठोपनिषद् १ वल्ली २।२४
(ख) नेवैह किंचनाग्र आसीन् मृत्युनैवेदमावृतमासीत्····। —बृहदारण्यक० ब्राह्मण २।१

मार्कण्ड ऋषि की एक कहानी मिलती है, जिसमें विष्णु द्वारा सृष्टि की रचना की जाने का रोचक वर्णन प्राकृत भाषा में निबद्ध है।

अण्डे से उत्पन्न जगत्—"कुछ (त्रिदण्डी आदि) श्रमणों-ब्राह्मणों ने या कुछ पौराणिकों ने अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानी है।" ब्रह्माण्ड पुराण में बताया गया है कि पहले समुद्र रूप था, केवल जलाकार ! उसमें से एक विशाल अण्डा प्रकट हुआ, जो चिरकाल तक लहरों से इधर-उधर बहता रहा। फिर वह फूटा तो उसके दो टुकड़े हो गये। एक टुकड़े से पृथ्वी और दूसरे से आकाश बना। फिर उससे देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी आदि के रूप में सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ। फिर जल, तेज, वायु, समुद्र, नदी, पहाड़ आदि उत्पन्न हुए। इस प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड (लोक) अण्डे से बना हुआ है।

मनुस्मृति में भी इसी से मिलती-जुलती कल्पना है—"वह अण्डा स्वर्णमय और सूर्य के समान *अत्यन्त प्रभावान् हो गया। उसमें से सर्वलोक पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए।.... उस अण्डे में वे भगवान्* परिवत्सर (काफी वर्षों) तक रहे, फिर स्वयं आत्मा का ध्यान करके उस अण्डे के दो टुकड़े कर डाले। उन दोनों टुकड़ों से आकाश और भूमि का निर्माण किया....।[२०]

लोक-कर्तृत्व के सम्बन्ध में ये सब मिथ्या एवं असंगत कल्पनाएँ—गाथा ६७ के उत्तरार्द्ध में ६८ वीं सम्पूर्ण गाथा में पूर्वोक्त जगत् कर्तृत्ववादियों को परामर्श से अनभिज्ञ, मृषावादी, अपने-अपने कृतवाद को अपनी अपनी युक्तियों या स्वशास्त्रोक्तियों को सच्ची बताने वाले कथञ्चित् नित्य—अविनाशी लोक को एकान्त अनित्य-विनाशी बताने वाले कहा है। मूल गाथाओं में केवल इतना-सा संकेत अवश्य किया है कि वे अविनाशी लोक को कृत—अर्थात् विनाशी कहते हैं। वे लोक के यथार्थ स्वभाव (वस्तुतत्त्व) को नहीं जानते। वृत्तिकार ने इसी पंक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है—वास्तव में यह लोक कभी सर्वथा नष्ट नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थित रहता है। यह लोक अतीत में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। अतः यह लोक पहले-पहल किसी देव, ब्रह्मा, ईश्वर, प्रकृति, विष्णु, शिव आदि के द्वारा बनाया हुआ नहीं है। यदि कृत (बनाया हुआ) होता तो सदैव सर्वथा नाशवान् होता; परन्तु लोक एकान्ततः ऐसा नहीं है। अतः लोक देव आदि के द्वारा भी बनाया हुआ

---

२० (क) तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मासर्वलोक पितामहः ॥९॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्येव्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥१३॥
उद्ववर्हात्मनश्चैव.......पंचेन्द्रियाणि च ॥१४-१५॥

—मनुस्मृति अ० १

(ख) कृतवाद-सम्बन्धित विचार के लिए देखिये सूत्रकृतांग सूत्र ६५९-६६२ में।

नहीं है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे विभिन्न कृतवादी अपने-अपने मान्य आराध्य द्वारा लोक का कर्तृत्व सिद्ध कर सकें। ईश्वर कर्तृत्ववादियों ने लोक के विभिन्न पदार्थों को कार्य बताकर कुम्हार के घट रूप कार्य के कर्ता की तरह ईश्वर को जगत् कर्तृत्व रूप कार्य का कर्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु लोक द्रव्य रूप से नित्य होने के कारण कार्य है ही नहीं। पर्याय रूप से अनित्य है, पर-कार्य का कर्ता के साथ कोई अविनाभाव नहीं है।

दूसरा प्रश्न कृतवादियों के समक्ष यह उपस्थित होता है कि उनका सृष्टि कर्ता इस सृष्टि को स्वयं उत्पन्न होकर बनाता है या उत्पन्न हुए बिना बनाता है? स्वयं उत्पन्न हुए बिना तो दूसरे को कैसे बना सकता है? यदि उत्पन्न होकर बनाता है तो स्वयं उत्पन्न होता है या दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया है? यदि माता-पिता के बिना स्वयमेव उत्पन्न होता है, तब तो इस जगत् को भी स्वयं उत्पन्न क्यों नहीं मानते? यदि दूसरे से उत्पन्न होकर लोक को बनाता है, तो यह बतायें कि उस दूसरे को कौन उत्पन्न करता है? वह भी तीसरे से उत्पन्न होगा, और तीसरा चौथे से उत्पन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्पत्ति का प्रश्न खड़ा रहने पर अनवस्था दोष आ जायेगा। इसका कृतवादियों के पास कोई उत्तर नहीं है।

तीसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि वह सृष्टिकर्ता नित्य है या अनित्य? नित्य तो एक साथ या क्रमशः भी अर्थक्रिया कर नहीं सकता, क्योंकि वह तो अपनी जगह से हिल भी नहीं सकता और न उसका स्वभाव बदल सकता है। यदि वह अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं विनाशी होने के कारण नष्ट हो सकता है, अतः उसका कोई भरोसा नहीं है कि वह जगत् को बनायेगा, क्योंकि नाशवान होने से अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो, वह दूसरे की उत्पत्ति के लिए व्यापार चिन्ता क्या कर सकता है?

अब प्रश्न यह है कि वह सृष्टि कर्ता मूर्त है या अमूर्त? यदि वह अमूर्त है तो आकाश की तरह वह भी अकर्ता है, यदि मूर्तिमान है, तब कार्य करने के लिए उसे साधारण पुरुष की तरह उपकरणों की अपेक्षा रहेगी। उपकरण बनायेगा तो उनके लिए दूसरे उपकरण चाहिए। वे उपकरण कहाँ से आयेंगे? यदि पहले ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानने से उसमें अन्यायी, अबुद्धिमान, अशक्तिमान, पक्षपाती, इच्छा, राग-द्वेष आदि विकारों से लिप्त आदि अनेक दोषों का प्रसंग होता है।[२१] इसीलिए भगवद् गीता में कहा गया है—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥"

ईश्वर न तो लोक का सृजन करता है, न ही कर्मों का और न लोकगत जीवों के शुभाशुभ कर्म-फल का संयोग करता है। लोक तो स्वभावतः स्वयं प्रवर्तित है—चल रहा है।[२२]

---

२१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४३-४४ के आधार पर

(ख) स्याद्वाद मंजरी—"कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः····कारिका की व्याख्या

२२ भगवद्गीता अ० ५, श्लोक १४

मार्कण्ड ऋषि की एक कहानी मिलती है, जिसमें विष्णु द्वारा सृष्टि की रचना की जाने का रोचक वर्णन प्राकृत भाषा में निबद्ध है।

अण्डे से उत्पन्न जगत्—"कुछ (त्रिदण्डी आदि) श्रमणों-ब्राह्मणों ने या कुछ पौराणिकों ने अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानी है।" ब्रह्माण्ड पुराण में बताया गया है कि पहले समुद्र रूप था, केवल जलाकार! उसमें से एक विशाल अण्डा प्रकट हुआ, जो चिरकाल तक लहरों से इधर-उधर बहता रहा। फिर वह फूटा तो उसके दो टुकड़े हो गये। एक टुकड़े से पृथ्वी और दूसरे से आकाश बना। फिर उससे देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी आदि के रूप में सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ। फिर जल, तेज, वायु, समुद्र, नदी, पहाड़ आदि उत्पन्न हुए। इस प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड (लोक) अण्डे से बना हुआ है।

मनुस्मृति में भी इसी से मिलती-जुलती कल्पना है—"वह अण्डा स्वर्णमय और सूर्य के समान अत्यन्त प्रभावान् हो गया। उसमें से सर्वलोक पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए।.... उस अण्डे में वे भगवान् परिवत्सर (काफी वर्षों) तक रहे, फिर स्वयं आत्मा का ध्यान करके उस अण्डे के दो टुकड़े कर डाले। उन दोनों टुकड़ों से आकाश और भूमि का निर्माण किया....।[२०]

लोक-कर्तृत्व के सम्बन्ध में ये सब मिथ्या एवं असंगत कल्पनाएँ—गाथा ६७ के उत्तरार्द्ध में ६८ वीं सम्पूर्ण गाथा में पूर्वोक्त जगत् कर्तृत्ववादियों को परामर्श से अनभिज्ञ, मृषावादी, अपने-अपने कृतवाद को अपनी अपनी युक्तियों या स्वशास्त्रोक्तियों को सच्ची बताने वाले कथञ्चित् नित्य—अविनाशी लोक को एकान्त अनित्य-विनाशी बताने वाले कहा है। मूल गाथाओं में केवल इतना-सा संकेत अवश्य किया है कि वे अविनाशी लोक को कृत—अर्थात् विनाशी कहते हैं। वे लोक के यथार्थ स्वभाव (वस्तुतत्त्व) को नहीं जानते। वृत्तिकार ने इसी पंक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है—वास्तव में यह लोक कभी सर्वथा नष्ट नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थित रहता है। यह लोक अतीत में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। अतः यह लोक पहले-पहल किसी देव, ब्रह्मा, ईश्वर, प्रकृति, विष्णु, शिव आदि के द्वारा बनाया हुआ नहीं है। यदि कृत (बनाया हुआ) होता तो सदैव सर्वथा नाशवान् होता; परन्तु लोक एकान्ततः ऐसा नहीं है। अतः लोक देव आदि के द्वारा भी बनाया हुआ

---

२० (क) तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मासर्वलोक पितामहः ॥९॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्येव्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥१३॥
उद्बबर्हात्मनश्चैव.......पंचेन्द्रियाणि च ॥१४-१५॥

—मनुस्मृति अ० १

(ख) कृतवाद-सम्बन्धित विचार के लिए देखिये सूत्रकृतांग सूत्र ६५९-६६२ में।

नहीं है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे विभिन्न कृतवादी अपने-अपने मान्य आराध्य द्वारा लोक का कर्तृत्व सिद्ध कर सकें। ईश्वर कर्तृत्ववादियों ने लोक के विभिन्न पदार्थों को कार्य बताकर कुम्हार के घट रूप कार्य के कर्ता की तरह ईश्वर को जगत् कर्तृत्व रूप कार्य का कर्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु लोक द्रव्य रूप से नित्य होने के कारण कार्य है ही नहीं। पर्याय रूप से अनित्य है, पर-कार्य का कर्ता के साथ कोई अविनाभाव नहीं है।

दूसरा प्रश्न कृतवादियों के समक्ष यह उपस्थित होता है कि उनका सृष्टि कर्ता इस सृष्टि को स्वयं उत्पन्न होकर बनाता है या उत्पन्न हुए बिना बनाता है ? स्वयं उत्पन्न हुए बिना तो दूसरे को कैसे बना सकता है ? यदि उत्पन्न होकर बनाता है तो स्वयं उत्पन्न होता है या दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया है ? यदि माता-पिता के बिना स्वयमेव उत्पन्न होता है, तब तो इस जगत् को भी स्वयं उत्पन्न क्यों नहीं मानते ? यदि दूसरे से उत्पन्न होकर लोक को बनाता है, तो यह बतायें कि उस दूसरे को कौन उत्पन्न करता है ? वह भी तीसरे से उत्पन्न होगा, और तीसरा चौथे से उत्पन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्पत्ति का प्रश्न खड़ा रहने पर अनवस्था दोष आ जायेगा। इसका कृतवादियों के पास कोई उत्तर नहीं है।

तीसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि वह सृष्टिकर्ता नित्य है या अनित्य ? नित्य तो एक साथ या क्रमशः भी अर्थक्रिया कर नहीं सकता, क्योंकि वह तो अपनी जगह से हिल भी नहीं सकता और न उसका स्वभाव बदल सकता है। यदि वह अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं विनाशी होने के कारण नष्ट हो सकता है, अतः उसका कोई भरोसा नहीं है कि वह जगत् को बनायेगा, क्योंकि नाशवान होने से अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो, वह दूसरे की उत्पत्ति के लिए व्यापार चिन्ता क्या कर सकता है ?

अब प्रश्न यह है कि वह सृष्टि कर्ता मूर्त है या अमूर्त ? यदि वह अमूर्त है तो आकाश की तरह वह भी अकर्ता है, यदि मूर्तिमान है, तब कार्य करने के लिए उसे साधारण पुरुष की तरह उपकरणों की अपेक्षा रहेगी। उपकरण बनायेगा तो उनके लिए दूसरे उपकरण चाहिए। वे उपकरण कहाँ से आयेंगे ? यदि पहले ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानने से उसमें अन्यायी, अबुद्धिमान, अशक्तिमान, पक्षपाती, इच्छा, राग-द्वेष आदि विकारों से लिप्त आदि अनेक दोषों का प्रसंग होता है।[२१] इसीलिए भगवद् गीता में कहा गया है—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥"

ईश्वर न तो लोक का सृजन करता है, न ही कर्मों का और न लोकगत जीवों के शुभाशुभ कर्म-फल का संयोग करता है। लोक तो स्वभावतः स्वयं प्रवर्तित है—चल रहा है।[२२]

---

२१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४३-४४ के आधार पर

(ख) स्याद्वाद मंजरी—"कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः····कारिका की व्याख्या

२२ भगवद्गीता अ० ५, श्लोक १४

ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरों से शूद्र की तथा अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानना एक तरह की असंगत है, अयुक्ति है। जब ईश्वर आदि भी जगत् के कर्ता न हो सके तो स्वयम्भू द्वारा मार की रचना, अण्डे की उत्पत्ति, (पंचभूतों के विना) आदि तथा अव्यक्त अमूर्त, अचेतन प्रकृति से मूर्त, सचेतन एवं व्यक्त की रचना आदि सब निरर्थक कल्पनाएँ हैं।

जैन दर्शन के अनुसार यह लोक अनादि-अनन्त है। लोक द्रव्यार्थ रूप से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य-परिवर्तनशील है। जीव अनादिकाल से और अजीव-जड़ पदार्थ अपने रूप में न कभी नष्ट होते हैं, न उत्पन्न होते हैं। उनमें मात्र अवस्थाओं का परिवर्तन हुआ करता है।

जो लोक के कर्ता नहीं, वे उसके दुःख-सुख संयोजनकर्ता कैसे?—गाथा ६९ भी लोककर्तृत्ववाद से सम्बन्धित है। पहले ६५वीं गाथा में, यह बताया गया था कि '*जीवाजीव समाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए*'—ईश्वर या प्रधानादि जीवाजीव एवं सुख-दुःख से युक्त लोक का निर्माण करते हैं। उसी सन्दर्भ में यहाँ उत्तर दिया गया है कि ये लोग मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग दुःख की उत्पत्ति के कारण हैं यह नहीं जानते तथा सम्यक्त्व, हिंसादि से विरति आदि की साधना-आराधना करना दुःख निवारण का उपाय है, ऐसा भी नहीं जानते-मानते हैं। इसलिए ६९वीं गाथा में कहा गया है—**अमणुण्ण समुप्पादं ··· कहं नाहिंति संवरं?** इसका आशय यह है—अपने द्वारा किये गये अशुभ अनुष्ठान (पापाचरण या अधर्माचरण) से दुःख की उत्पत्ति होती है, इसके विपरीत अपने द्वारा किये गये शुद्ध धर्मानुष्ठान (रत्नत्रयाचरण) से ही सुख की उत्पत्ति होती है। दूसरा कोई देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या ईश्वर किसी को सुख या दुःख से युक्त नहीं कर सकता। अगर ऐसा कर देता तो वह सारे जगत् को सुखी ही कर देता, दुःखी क्यों रहने देता? जो लोग सुख-दुःख की उत्पत्ति के कारणों को स्वयं नहीं जानते, वे दूसरों को सुख-दुःख दे पायेंगे? अथवा दूसरों को सुख-दुःख प्राप्त करने का उपाय भी कहाँ से बतायेंगे?

इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने '**अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य**' (आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का कर्ता एवं भोक्ता है) के सिद्धान्त को ध्वनित कर दिया है तथा दुःख रूप कर्म-बन्धन को तोड़ने के लिए किसी देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या परमात्मा के समक्ष गिड़गिड़ाने, याचना करने का खण्डन करके स्वकर्तृत्ववाद—स्वयं पुरुषार्थ द्वारा आत्म-शक्ति प्रकट करने का श्रमण संस्कृति का मूलभूत सिद्धांत व्यक्त कर दिया है।[२३]

कठिन शब्दों की व्याख्या—सएहिं परियाएहि लोयं बूया कडेति य—अपने-अपने पर्यायों-अभिप्रायों से युक्ति विशेषों से उन्होंने कहा कि यह लोक कृत (अमुक द्वारा किया हुआ) है। चूर्णिकार के अनुसार 'य' (च) शब्द से '**अकडेति च**' यह भी अध्याहृत होता है, अर्थ होता है—और (यह लोक) अकृत (नित्य) भी है। यहाँ '**लोयं बूया कडेविधि**' भी पाठान्तर मिलता है, उसका अर्थ किया गया है—विधि-विधान या प्रकार। लोक को 'कृत' का एक प्रकार कहते हैं। **ण '*विणासि कयाइ वि*'** इसके बदले चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है

---

२३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४४-४५ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २३० के आधार पर

—'णायं ण ऽऽसि कयाति वि' अर्थात् यह लोक कभी 'नहीं था' ऐसा नहीं है। अमणुन्नसमुप्पादं दुक्खमेव—
—जिस दुःख की उत्पत्ति अमनोज्ञ-असत् अनुष्ठान से होती है। विजाणीया—बुद्धि विशेष रूप से जाने।[२४]

अवतारवाद—

७० सुद्धे अपावए आया इहमेगेसि आहितं।
पुणो कीडा-पदोसेणं से तत्थ अवरज्झति ॥११॥

७१ इह संवुडे मुणी जाए पच्छा होति अपावए।
वियडं व जहा भुज्जो नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

७०. इस जगत् में किन्हीं (दार्शनिकों या अवतारवादियों) का कथन (मत) है कि आत्मा शुद्धाचारी होकर (मोक्ष में) पापरहित हो जाता है। पुनः क्रीड़ा (राग) या प्रद्वेष (द्वेष) के कारण वहीं (मोक्ष में ही) बन्ध युक्त हो जाता है।

७१. इस मनुष्य भव में जो जीव संवृत—संयम-नियमादि युक्त मुनि बन जाता है, वह बाद में निष्पाप हो जाता है। जैसे—रज रहित निर्मल जल पुनः सरजस्क मलिन हो जाता है, वैसे ही वह (निर्मल निष्पाप आत्मा भी पुनः मलिन हो जाती है।)

विवेचन—त्रैराशिकवाद बनाम अवतारवाद—वृत्तिकार के अनुसार दोनों गाथा में गोशालक मतानुसारी (आजीवक) मत की मान्यता का दिग्दर्शन कराया गया है। समवायांग वृत्ति और इसी आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में त्रैराशिकों को आजीवक या गोशालक मतानुसारी बताया है। त्रैराशिक का अर्थ है—जो मत या वाद सर्वत्र तीन राशियाँ मानता है, जैसे जीव राशि, अजीव राशि और नोजीव राशि। यहाँ आत्मा की तीन राशियों का कथन किया गया है। वे तीन अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(१) राग-द्वेष सहित कर्म-बन्धन से युक्त पाप सहित अशुद्ध आत्मा की अवस्था,

(२) अशुद्ध अवस्था से मुक्त होने के लिए शुद्ध आचरण करके शुद्ध निष्पाप अवस्था प्राप्त करना; तदनुसार मुक्ति में पहुंच जाना।

(३) इसके पश्चात् शुद्ध-निष्पाप आत्मा जब क्रीड़ा—राग अथव प्रद्वेष के कारण पुनः कर्मरज से

---

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४२ से ४५ तक

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १२

लिप्त (अशुद्ध) हो जाता है, वह तीसरी अवस्था। तीन अवस्थाओं की मान्यता के कारण इन्हें त्रैराशिक कहा जाता है। इन दोनों गाथाओं में इसी मत का निदर्शन किया गया है।[२५]

शुद्ध निष्पाप आत्मा पुनः अशुद्ध और सपाप क्यों?—प्रश्न होता है, जो आत्मा एक बार कर्मफल से सर्वथा रहित हो चुका है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, निष्पाप हो चुका है, वह पुनः अशुद्ध, कर्मफल युक्त और पापयुक्त कैसे हो सकता है? जैसे बीज जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न होना असम्भव है, वैसे ही कर्म-बीज के जल जाने पर फिर संसार रूपी (जन्म-मरण युक्त) अंकुर का फूटना असम्भव है। गीता में इसी तथ्य का समर्थन अनेक बार किया गया है।[२६] जितनी भी अध्यात्म साधनाएँ की जाती हैं, उन सबका उद्देश्य पाप से, कर्मबन्ध से, राग-द्वेष-कषायादि विकारों से सर्वथा मुक्त, शुद्ध एवं निष्पाप होना है। भला कौन ऐसा साधक होगा, जो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के बाद पुनः अशुद्धि और राग-द्वेष की गन्दगी में आत्मा को डालना चाहेगा? अगर ऐसा हुआ, तब तो सारा काता-पींजा कपास हो जायेगा। इतनी की हुई साधना मिट्टी में मिल जायेगी। परन्तु त्रैराशिक मतवादी इन सब युक्तियों की परवाह न करके मुक्त एवं शुद्ध आत्मा के पुनः प्रकट होने या पुनः कर्मरज से मलिन होकर कर्मबन्ध में जकड़ने के दो मुख्य कारण बताते हैं—'**पुणो कीडापदोसेण:**'—इसका आशय यह है कि उस मुक्तात्मा को अपने शासन की पूजा और पर-शासन (अन्य धर्मसंघ) का अनादर देखकर (क्रीड़ा) प्रमोद उत्पन्न होता है, तथा स्वशासन का पराभव और परशासन का अभ्युदय देखकर द्वेष होता है। इस प्रकार वह शुद्ध आत्मा राग-द्वेष से लिप्त हो जाता है, राग-द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इस कारण पुनः अशुद्ध-सापराध हो जाता है। वह आत्मा कैसे पुनः मलिन हो जाता है? इसके लिए वे एक दृष्टान्त देकर अपने मत का समर्थन करते हैं—"**वियडम्बु जहा भुज्जो नीरयं सरयं तहा।**" आशय यह है कि जैसे मटमैले पानी को निर्मली या फिटकरी आदि से स्वच्छ कर निर्मल बना लिया जाता है, किन्तु वही निर्मल पानी, आँधी, तूफान आदि के द्वारा उड़ायी

---

२५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ४५-४६

(ख) 'ते एव च आजीवकास्त्रैराशिका भणिताः—समवायांगवृत्ति अभयदेव सूरि पृ० १३०

(ग) स एवं गोशालकमतानुसारी त्रैराशिकः निराकृतः—सूत्रकृ० २ श्रु० ६ अ० गा—१४—

(घ) 'त्रैराशिकाः गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगत त्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि।" —सूत्र० १ श्रु. १ सूत्र गा ७० वृत्ति

२६ (क) सूत्रकृतांग अमरसुख बोधिनी व्याख्या पृ० २३३

(ख) "दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥

(ग) मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः॥१५॥
"……मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥
—गीता अ० ८। १५-१६-२१

(घ) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४५ के आधार पर

गयी रेत, मिट्टी, कचरा आदि के कारण पुनः मलिन हो जाता है, वैसे ही कोई जीव मनुष्य जन्म पाकर राग-द्वेष से, कषायादि से या कर्मों से मलिन बनी हुई अपनी आत्मा को मुनि बनकर संयम-नियमादि की साधना करके विशुद्ध बना लेता है, एक दिन वह आत्मा समस्त कर्मरहित होकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाता है, किन्तु पुनः पूर्वोक्त कारणवश राग-द्वेष की आँधी या तूफान आने से वह विशुद्धात्मा पुनः अशुद्ध एवं कर्म-मलिन हो जाता है।

इस सम्बन्ध में चूर्णिकार ७० वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में **कीलावणप्पदोसेणा रजसा अवतारते**, इस प्रकार का पाठान्तर मानकर अवतारवाद की झाँकी प्रस्तुत करते हैं—वह आत्मा मोक्ष प्राप्त (मुक्त) होकर भी क्रीड़ा और प्रदोष के कारण (कर्म) रज से (लिप्त होने से) संसार में अवतरित होता (जन्म लेता) है। इस कारण वह अपने धर्म शासन की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुण युक्त होकर अथवा उस कर्म रज से श्लिष्ट होकर अवतार लेता है।[२७]

कुछ-कुछ इसी प्रकार की मान्यता बौद्ध धर्म के एक सम्प्रदाय की तथा धर्म-सम्प्रदायों की भी है। उनका कथन है कि सुगत (बुद्ध) आदि धर्म तीर्थ के प्रवर्तक ज्ञानी तीर्थकर्ता (अवतार) परम पद (मोक्षावस्था) को प्राप्त करके भी जब अपने तीर्थ (धर्म-संघ) का तिरस्कार (अप्रतिष्ठा या अवनति) देखते हैं तो (उसका उद्धार करने के लिए) पुनः संसार में आते हैं (अवतार लेते हैं)।[२८]

धर्म का ह्रास और अधर्म का अभ्युत्थान (प्रतिष्ठा) होता देखकर मुक्त आत्मा के अवतरित होने की मान्यता वैदिक-परम्परा में प्रसिद्ध है और गीता आदि ग्रन्थों में अवतारवाद का स्पष्ट वर्णन है—"जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि-उन्नति होने लगती है, तब-तब मैं (मुक्त आत्मा) ही अपने रूप को रचता हूँ—प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषों की रक्षा तथा दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए मैं युग-युग में जन्म (अवतार) लेता हूँ।" अतः इसे अवतारवाद या पुनरागमनवाद भी कहा जा सकता है।[२९]

गाथा ७० में शुद्ध आत्मा के पुनः अशुद्ध एवं कर्मलिप्त होने के दो कारण—क्रीड़ा एवं प्रद्वेष बताये गये हैं, वे इस अवतारवाद में संगत होते हैं। क्रीड़ा का अर्थ जो भक्तिवादी सम्प्रदायों में प्रचलित है, वह है, 'लीला।' ऐसा कहा जाता है—'भगवान् अपनी लीला दिखाने के लिए अवतरित होते हैं। अथवा

२७ "स मोक्षप्राप्तोऽपि भूत्वा कीलावणप्पदोसेण रजसा अवतारते। तस्य हि स्वशासनं पूज्यमानं दृष्ट्वा अन्यशासनान्यपूज्यमानानि च क्रीडा भवति, मानसः प्रमोद इत्यर्थः, अपूज्यमाने वा प्रदोषः, ...तेन रजसाऽवतार्यते।"

—सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १२

२८ ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः॥

२९ यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥८॥ —गीता अ० ४/७-८

सज्जनों की रक्षा एवं दुर्जनों के संहार के रूप में अपनी लीला करते हैं। ऐसी लीला के समय जब वे दुष्टों का नाश करते हैं, तब अपने भक्त की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते हैं, ऐसा करने में उनमें द्वेष एवं राग का होना स्वाभाविक है। इसीलिए इस गाथा में उक्त 'कीडापदोसेणं' के साथ अर्थ संगति बैठ जाती है।

पाठान्तर एवं व्याख्याएं—७१ वीं गाथा की पूर्वार्द्ध-पंक्ति का चूर्णि सम्मत पाठान्तर इस प्रकार है—"इह संवुडे भवित्ताणं, (सुद्धे सिद्धीए चिट्ठती)—पेच्चा होति अपावए" इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—इह—यहाँ आकर मनुष्य भव में वयस्क होकर प्रव्रज्या ग्रहण करके संवृतात्मा होकर जानक अर्थात्—ज्ञानवान आत्मा (जिसका ज्ञान प्रतिपाती नहीं होता) (शुद्ध होकर सिद्धिगति-मुक्ति में स्थित हो जाता है।) अथवा यह (मेरे द्वारा प्रवर्तित) शासन (धर्म संघ) जाज्वल्यमान नहीं होता, इसलिए उसे जाज्वल्यमान करके कुछ काल तक संसार में अवस्थित होकर वहाँ से शरीर छोड़कर पुनः अपापक अर्थात् मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार ७० वीं गाथा के उत्तरार्द्ध का चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—"पुणोकालेणऽणंतेण तत्थ से अवरज्झति।" अर्थात् अनन्तकाल के बाद स्वशासन को पूज्यमान या अपूज्यमान (प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित) देखकर वह उस पर अवरज्झति—यानि अपराध करता है। अर्थात् राग या द्वेष को प्राप्त हो जाता है।[30] 'वियडं वा जहा भुज्जो नीरयं सरयं तथा' की व्याख्या वृत्तिकार के अनुसार—विकटवत्—उदक (पानी) के समान। जैसे रज (मिट्टी) रहित निर्मल पानी, हवा, आँधी आदि से उड़ायी हुई धूल से पुनः सरजस्क-मलिन हो जाता है।[31]

स्व-स्व-प्रवाद-प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा—

७२ एयाणुवीति मेधावि बंभचेरे ण ते वसे।
पुढो पावाउया सव्वे अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

७३ सए सए उवट्ठाणे सिद्धिमेव ण अन्नहा।
अहो वि होति वसवत्ती सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

७४ सिद्धा य ते अरोगा य इहमेगेसि आहितं।
सिद्धिमेव पुराकाउं सासए गढिया णरा ॥१५॥

७५ असंवुडा अणादीयं भमिहिंति पुणो पुणो।
कप्पकालमुवज्जंति ठाणा आसुर किब्बिसिय ॥१६॥ त्ति बेमि।

---

३० "इहेति—इह आगत्य मानुष्ये वयः प्राप्य प्रवर्ज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा भूत्वा, जानको नाम जानक एव आत्मा न तस्य तज् ज्ञानं प्रतिपतति, यदि वा एतत् (यतश्चैतत् शासनं न ज्वलति, तत एवं प्रज्वाल्य किञ्चित्कालं संसारेऽवस्थित्य प्रेत्य पुनरपापको भवति मुक्त इत्यर्थः।"
"एवं पुनरनन्तेन कालेन स्वशासनं पूज्यमानं वा अपूज्यमानं दृष्टवा तत्थ से अवरज्झति—अवराधो णाम रागं दोसं वा गच्छति।" —सूयगडंग (चूर्णि मू० पा० टिप्पण) पृ० १२

३१ विकटवद् उदकवद नीरजस्कं सद् वातोद्धूतरेणु निवहसम्पृक्तं सरजस्कं मलिनं भूयो यथा भवति, तथाऽयमप्यात्मा ॥ —सूत्र० शी० वृत्ति ४५

७२. बुद्धिमान् साधक इन (पूर्वोक्त वादियों के कथन पर) चिन्तन करके (मन में यह) निश्चित कर ले कि (पूर्वोक्त जगत् कर्तृत्ववादी या अवतारवादी) ब्रह्म=आत्मा की चर्या (सेवा या आचरण) में स्थित नहीं है। वे सभी प्रावादुक अपने-अपने वाद की पृथक्-पृथक् वाद (मान्यता) की बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा (बखान) करने वाले हैं।

७३. (विभिन्न मतवादियों ने) अपने-अपने (मत में प्ररूपित) अनुष्ठान से ही सिद्धि (समस्त सांसारिक प्रपञ्च रहित सिद्धि) होती है, अन्यथा (दूसरी तरह से) नहीं, ऐसा कहा है। मोक्ष प्राप्ति से पूर्व इसी जन्म एवं लोक में ही वशवर्ती (जितेन्द्रिय अथवा हमारे तीर्थ या मत के अधीन) हो जाए तो उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

७४. इस संसार में कई मतवादियों का कथन है कि (हमारे मतानुसार अनुष्ठान से) जो सिद्धि (रससिद्धि या अष्टसिद्धि प्राप्त) हुए हैं, वे नीरोग (रोग मुक्त) हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार की डींग हाँकने वाले) वे लोग (स्वमतानुसार प्राप्त) तथाकथित सिद्धि को ही आगे रखकर अपने-अपने आशय (दर्शन या मत) में ग्रथित (आसक्त/ग्रस्त-बँधे हुए) हैं।

७५. वे (तथाकथित लौकिक सिद्धिवादी) असंवृत-इन्द्रिय मनःसंयम से रहित होने से (वास्तविक सिद्धि मुक्ति तो दूर रही) इस अनादि संसार में बार-बार परिभ्रमण करेंगे। वे कल्पकाल पर्यन्त-चिरकाल तक असुरों-भवनपतिदेवों तथा किल्विषिक (निम्नकोटि के) देवों के स्थानों में उत्पन्न होते हैं।

विवेचन – **अन्यतीर्थिक मतवादी प्रावादुक और स्वमत प्रशंसक**—७२ वीं गाथा में शास्त्रकार ने पूर्वोक्त जगत्कर्तृत्ववादियों, अवतारवादियों को 'पृथक् प्रावादुक' कहकर उल्लिखित किया। प्रावादुक होने के दो कारण शास्त्रकार ने प्रस्तुत किये हैं—(१) कार्य-कारण विहीन तथा युक्ति रहित अपने ही मतवाद की प्रशंसा करते हैं, और (२) आत्म-भावों के विचार में स्थित नहीं हैं। इन्हीं दो कारणों को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार ने अगली दो गाथाएँ (७३-७४ वीं) प्रस्तुत की हैं।

इन भ्रान्त मान्यताओं के कारण राग-द्वेष-मुक्त एवं कर्म बीज रहित मुक्त जीवों का पुनः राग-द्वेष से प्रेरित होकर कर्मलिप्त बनना कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त के विरुद्ध है। जब मुक्त जीवों के जन्म-मरणरूप संसार के कारण कर्म बीज ही जल गये हैं, तब वे कर्म के बिना कैसे राग-द्वेष से लिपटेंगे और कैसे संसार में अवतरित होंगे?

देखा जाये तो इस भ्रान्त धारणा का कारण यह है कि वे अपने अवतारवाद के प्रवाह में इतने बह जाते हैं कि आत्मा की ऊर्ध्वगामिता के सिद्धान्त पर विचार करना भूल जाते हैं। जब एक आत्मा इतने उत्कर्ष पर पहुंच चुका है, जहाँ से उसका पुनः नीचे गिरना असम्भव है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव कर्म लेप से रहित होने पर अग्नि की लौ की तरह ऊर्ध्वगमन करना है, नीचे गिरना नहीं। ऐसी स्थिति में पूर्ण सिद्ध-मुक्तात्मा क्यों वापस संसार में आगमन रूप पतन के गर्त में गिरेगा? यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन को अवतारवादी अन्यतैर्थिकों की मोहवृत्ति को प्रगट करते हुए कहना पड़ा—

दग्धेन्धनः पुनरूपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् ।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरम्, त्वच्छासनप्रतिहतेस्विह मोहराज्यम् ॥[३२]

हे वीतराग प्रभो ! आपके शासन (संघ) को ठुकराने वाले व्यक्तियों पर मोह का प्रवल साम्राज्य छाया हुआ है। वे कहते हैं—जिस आत्मा ने कर्म रूपी ईन्धन (कारण) को जला कर संसार (जन्म-मरण) का नाश कर दिया है, वह भी मोक्ष को छोड़कर पुनः संसार में अवतार लेता है। स्वयं मुक्त होते हुए भी शरीर धारण करके पुनः संसारी बनता है, केवल दूसरों को मुक्ति दिलाने में शूरवीर वनकर वह कार्यकारण सिद्धान्त का विचार किये बिना ही लोकभीरु बनता है। यह है अपनी (शुद्ध) आत्मा का विचार किए बिना ही दूसरों की आत्माओं का उद्धार या सुधार करने की मूढ़ता।

यह निश्चित सिद्धान्त है कि मुक्त जीवों को राग-द्वेष नहीं हो सकता। उनके लिए फिर स्व-शासन या परशासन का भेद ही कहाँ रह जाता है ? जो सारे संसार को एकत्व दृष्टि से-आत्मौपम्य दृष्टि से देखता है, वहाँ अपनेपन-परायेपन या मोह का काम ही क्या ? जिनकी अहंता-ममता (परिग्रह वृत्ति) सर्वथा नष्ट हो चुकी है, जो राग-द्वेष, कर्म-समूह आदि को सर्वथा नष्ट कर चुके हैं, जो समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानते हैं, निन्दा-स्तुति में सम हैं, ऐसे निष्पाप, शुद्ध आत्मा में राग-द्वेष होना कदापि सम्भव नहीं और राग-द्वेष के अभाव में कर्म-बन्धन कैसे हो सकता है ? कर्म के सर्वथा अभाव में संसार में पुनरागमन (जन्म-मरण) हो ही नहीं सकता।[३३]

दूसरा कारण है—उन परतीर्थिकों का अपने ही ब्रह्मैकत्व-विचार में स्थित न रहना। जब वे संसार की समस्त आत्माओं को सम मानते हैं, तव उनके लिए कौन अपना, कौन पराया रहा ? फिर वे अपने-अपने भूतपूर्व शासन का उत्थान-पतन का विचार क्यों करेंगे ? यह तो अपने ब्रह्मैकत्व विचार से हटना है।

इस प्रकार कार्य-कारण भाव न होते हुए भी या सिद्धान्त एवं युक्ति से विरुद्ध होते हुए भी अपने-अपने मतवाद की प्रशंसा और शुद्ध आत्मभाव में अस्थिरता, ये दोनों प्रवल कारण अन्य मतवादियों की भ्रान्ति के सिद्ध होते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जैन-दर्शन जैसे शिव (निरुपद्रव-मंगलकर), अचल (स्थिर), अरूप (अमूर्त), अनन्त (अनन्त ज्ञानादियुक्त) अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति (संसार में आवागमन रहित) रूप सिद्धि-गति को ही मुक्ति मानता है और ऐसे सिद्ध को समस्त कर्म, काया, मोह-माया से सर्वथा रहित-मुक्त मानता है, वैसे अन्यतीर्थी नही मानते। उनमें से प्रायः कई तो सिद्धि को पुनरागमन युक्त मानते हैं, तथा सिद्धि का अर्थ कई मतवादी मुक्ति या मोक्ष मानते हैं, लेकिन सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप से या ज्ञान-

---

३२ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (सिद्धसेनकृत)

३३ (क) "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ? ॥६॥ —ईशोपनिषद्

(ख) तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केन चित् ॥ —गीता अ० १२/१९

क्रिया दोनों से अथवा समस्त कर्म क्षय से मोक्ष या सिद्धि न मानकर स्वकल्पित एकान्त ज्ञान से, क्रिया से, सिद्धि मानते हैं, या योगविद्या से अणिमादि अष्ट सिद्धि प्राप्ति या रससिद्धि (पारद या स्वर्ण की रसायन सिद्धि) को अथवा स्वकीयमतानुवर्ती होने या जितेन्द्रिय होने मात्र से यहाँ सर्वकामसिद्धि मानते हैं। ऐसे लौकिक सिद्धों (अष्टसिद्धि प्राप्त या स्वकीय मत के तत्त्वज्ञान में निपुण) की पहचान नीरोग होने मात्र से हो जाती है, ऐसा वे कहते हैं।[34] इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**सिद्धिमेव.......गढिया नरा ?** अर्थात्—वे सिद्धिवादी अपनी पूर्वोक्त युक्ति विरुद्ध स्वकल्पित सिद्धि को ही सामने (केन्द्र में) रखकर चलते हैं, उसी की प्रशंसा करते हैं, उसी से ही इहलौकिक-पारलौकिक सिद्धि को सिद्ध करने के लिए युक्तियों की खींचतान करते हैं, इस प्रकार वे अपने-अपने आशय (मत या कल्पना) में आसक्त है।

आशय यह है कि वे इतने मिथ्याग्रही हैं कि दूसरे किसी वीतराग सर्व हितैषी महापुरुष की युक्ति-युक्त बात को नहीं मानते।

अन्यमतवादियों के मताग्रह से मोक्ष वा संसार ?—७५ वीं गाथा में पूर्वोक्त अन्य मतवादियों द्वारा स्व-स्वमतानुसार कल्पित लौकिक सिद्धि से मोक्ष का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

"**असंवुडा...... ....आसुरकिब्बिसिया।**" इसका आशय यह है, जो दार्शनिक सिर्फ ज्ञान से, या सिर्फ क्रियाकाण्ड से, अथवा अष्ट-भौतिक ऐश्वर्य प्राप्ति अथवा अन्य लौकिक एवं यौगिक उपलब्धियों से सिद्धि (मुक्ति) मानते हैं, उनके मतानुसार हिंसा आदि पाँच आस्रवों से, अथवा मिथ्यात्वादि पाँच कर्मबन्ध के कारणों से अथवा इन्द्रिय और मन में असंयम से अपने आपको रोकने (संवृत्त होने) की आवश्यकता नहीं मानी जाती, कहीं किसी मत में कुछ तपस्या या शारीरिक कष्ट सहन या इन्द्रिय-दमन का विधान है, तो वह भी किसी न किसी स्वर्गादि कामना या इहलौकिक (आरोग्य, दीर्घायु या अन्य किसी लाभ की) कामना से प्रेरित होकर अज्ञानपूर्वक किया जाता है, इसलिए वे सच्चे माने में संवृत नहीं है। इस कारण वास्तविक सिद्धि (मुक्ति) से वे कोसों दूर रहते, बल्कि अज्ञानवश अपने आपको ज्ञानी, मुक्तिदाता, तपस्वी और क्रियाकाण्डी मानकर भोले लोगों को मिथ्यात्वजाल में फँसाने के कारण तीन दुष्फल बताये हैं—

---

३४ (क) सिद्धि (मुक्ति या मोक्ष) के सम्बन्ध में विभिन्न वाद—

(i) 'दीक्षातः एव मोक्षः—शैव

(ii) 'पंचविंशति तत्त्वज्ञो....मुच्यते नात्र संशयः।"—सांख्य

(iii) नवानामात्मगुणानामुच्छेदो मोक्षः।—वैशेषिक (प्रशस्तपाद भाष्य)

(iv) ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—वेदान्त

(v) योगाभ्यास से अष्टसिद्धियां प्राप्त होती हैं—योगदर्शन

"अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः।"—अमरकोश

कहीं-कहीं गरिमा और प्राप्ति के बदले अप्रतिघातित्व और यत्रकामावसायित्व नाम की सिद्धियाँ हैं।

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुख बोधिनी व्याख्या पृ० २४० से २४३ तक तथा सूत्र० शी० वृत्ति पत्र ४६ के आधार पर।

(१) अनादि संसार में बार-बार परिभ्रमण, (२) दीर्घ (कल्प) काल पर्यन्त भवनपति देव (असुर) में, (३) अल्पऋद्धि, अल्प आयु और अल्पशक्ति से युक्त अधम किल्विषिक देव के रूप में उत्पत्ति।[३५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—एयाणुवीति मेधावी—पूर्वोक्त कुवादियों के युक्ति विरुद्ध मतों पर गहराई से विचार करके मेधावी निश्चय करे कि इनके वाद सिद्धि-मुक्ति (निर्वाण या मोक्ष) के लिए नहीं है, **बंभचेरे ण ते वसे**—ब्रह्मचर्य (शुद्ध-आत्म-विचार) में वे स्थित नहीं है, अथवा वे संयम में स्थित नहीं है। **पावाउया**—प्रावादुक—वाचाल या मतवादी। **अक्खायारो** – अनुरागवश अच्छा बतलाने वाले। **सए-सए उवट्ठाणे**—अपने-अपने (मतीय) अनुष्ठानों से। **अन्नहा**—अन्यथा—दूसरे प्रकार से। **अहो विहोति वसवत्ती**—समस्त द्वन्द्वों (प्रपंचों) से निवृत्ति रूप सिद्धि की प्राप्ति से पूर्व भी इन्द्रियों को वशीभूत करने वालों को इसी जन्म में, हमारे दर्शन में प्रतिपादित अनुष्ठान के प्रभाव से अष्टविध ऐश्वर्य रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर हैं—**अधोधि होति वसवत्ती**..........**एवं अहो इहेव वसवत्ती**....। प्रथम, पाठान्तर की व्याख्या की गई है, दूसरे दर्शनों में तो उनके स्वकीय ग्रन्थोक्त चारित्र धर्म विशेष से व्यक्ति को इसी जन्म में, या इसी लोक में अष्टगुण रूप ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। दूसरे पाठान्तर की व्याख्या है—अधोधि-यानि अवधिज्ञान से सिद्धि होती है, किसको ? जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, न कि उसे जो इन्द्रियों के वश में है।[३६] **सव्वकाम समप्पिए**—समस्त कामनाएं उनके चरणों में समर्पित हो जाती हैं—अर्थात्—वह सभी कामनाओं से पूर्ण हो जाता है। **सिद्धिमेव पुराकाउं**—सिद्धि को ही आगे रखकर। **सासए गढिया णरा**—वृत्तिकार के अनुसार—वे लोग स्वाशय अपने-अपने आशय—दर्शन या मान्यता में ग्रथित-बँधे हुए हैं। चूर्णिकार ने **'आसएहिं गढिया णरा'** पाठान्तर मानकर व्याख्या की है—हिंसादि आश्रवों में वे लोग गृद्ध-मूर्च्छित हैं।[३७]

तृतीय उद्देशक समाप्त

---

३५ (क) 'कल्पकालं प्रभूतकालमुत्पद्यन्ते सम्भवन्ति आसुरा असुरस्थानोत्पन्नाः नागकुमारादय; तत्रापि न प्रधानाः, किंतर्हि ? किल्विषिकाः अधमाः।

(ख) कप्पकालुववज्जंति ठाणा आसुरकिब्विसा—कल्पपरिमाणः कालः कप्प एव वा काल :तिष्ठन्ति तस्मिन् इति स्थानम्। आसुरेषूत्पद्यन्ते किल्विषिकेषु च।

—सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० १३

३६ (क) 'अन्येषां तु स्वाख्यातचरणधर्मविशेषाद् इहैव अष्टगुणैश्वर्यप्राप्तो भवति। तद्यथा—अणिमानं लघिमानमित्यादि अहवा 'अधोधि होति वसवत्ती' अधोधि नाम—अवधिज्ञानं वशवर्ती नाम वशे तस्येन्द्रियाणि वर्तन्ते, नाऽसाविन्द्रियावशकः

—सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १३

(ख) सिद्धिप्राप्तेरधस्तात् प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्तिर्न भवति, तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानुभावादष्टगुणैश्वर्यसद्भावो भवतीति दर्शयति आत्मवशवर्त्तितु, शीलमस्येति वशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्तं भवति।

—सूत्र कृ० शीलांक वृत्ति पत्र ४६

३७ हिंसादिषु आश्रवेषु गढिता नाम मूर्च्छिताः —सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृष्ठ १३

"स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रथिताः सम्बद्धाः।" —सूत्र शी० वृत्ति पत्र ४६

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

मुनि धर्मोपदेश—

७६. एते जिता भो ! न सरणं बाला पंडितमाणिणो।
हेच्चा णं पुव्वसंजोगं सिया किच्चोवदेसगा ॥ १ ॥

७७. तं च भिक्खू परिण्णाय विज्जं तेसु ण मुच्छए।
अणुक्कसे अप्पलोणे मज्झेण मुणि जावए ॥ २ ॥

७८. सपरिग्गहा य सारंभा इहमेगेसि आहियं।
अपरिग्गहे अणारंभे भिक्खू ताणं परिव्वए ॥ ३ ॥

७६. कडेसु घासमेसेज्जा विऊ दत्तेसणं चरे।
अगिद्धो विप्पमुक्को य ओमाणं परिवज्जए ॥ ४ ॥

७६. हे शिष्यो ! ये (पूर्वोक्त अन्यतीर्थी) साधु [काम, क्रोध आदि से अथवा परीषह-उपसर्ग रूप शत्रुओं से] पराजित (जीते जा चुके) हैं, (इसलिए) ये शरण लेने योग्य नहीं हैं अथवा स्वशिष्यों को (शरण देने में समर्थ नहीं हैं। वे अज्ञानी हैं, (तथापि) अपने आपको पण्डित मानते हैं। पूर्व संयोग (बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति आदि) को छोड़कर भी (दूसरे आरम्भ-परिग्रह में) आसक्त हैं, तथा गृहस्थ को सावद्य कृत्यों का उपदेश देते हैं।

७७. विद्वान् भिक्षु उन (आरम्भ-परिग्रह में आसक्त साधुओं) को भली-भांति जानकर उनमें मूर्च्छा (आसक्ति) न करे; अपितु (वस्तुस्वभाव का मनन करने वाला) मुनि किसी प्रकार का मद न करता हुआ उन अन्यतीर्थिकों, गृहस्थों एवं शिथिलाचारियों के साथ संसर्गरहित होकर, मध्यस्वभाव से संयमी जीवन-यापन करे; या मध्यवृत्ति से निर्वाह करे।

७८. मोक्ष के सम्बन्ध में कई (अन्यतीर्थी) मतवादियों का कथन है कि परिग्रहधारी और आरम्भ (आलम्भन हिंसाजनक प्रवृत्ति) से जीने वाले जीव भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु निर्ग्रन्थ भावभिक्षु अपरिग्रही और अनारम्भी (आरम्भरहित महात्माओं) की शरण में जाए।

७६. सम्यग्ज्ञानी विद्वान् भिक्षु (गृहस्थ द्वारा अपने लिए) किये हुए (चतुर्विध) आहारों में से (कल्पनीय) ग्रास—यथोचित आहार की गवेषणा करे, तथा वह दिये हुए आहार को (विधिपूर्वक) लेने की इच्छा (ग्रहणैषणा) करे। (भिक्षा प्राप्त आहार में वह) गृद्धि (आसक्ति) रहित एवं (राग-द्वेष से) विप्रमुक्त (रहित) होकर (सेवन करे), तथा (किसी के द्वारा कुछ कह देने पर) मुनि उसका अपमान न करे, (दूसरे के द्वारा किये गये) अपने अपमान को मन से त्याग (निकाल) दे।

विवेचन—निर्ग्रन्थ को संयम धर्म का उपदेश—प्रस्तुत चतु:सूत्री में निर्ग्रन्थ भिक्षु को संयमधर्म का अथवा स्वकर्तव्य का बोध दिया गया है। भिक्षुधर्म की चतु:सूत्री इस प्रकार है—

(१) पूर्व सम्बन्ध त्यागी अन्ययूथिक साधु सावद्य-कृत्योपदेशक होने से शरण ग्रहण करने योग्य नहीं हैं,

(२) विद्वान् मुनि उन्हें भलीभाँति जानकर उनसे आसक्तिजनक संसर्ग न रखे, मध्यस्थभाव से रहे,

(३) परिग्रह एवं आरम्भ से मोक्ष मानने वाले प्रव्रज्याधारियों का संग छोड़कर निष्परिग्रही, निरारम्भी महात्माओं की शरण में जाये, और

(४) आहार सम्बन्धी ग्रासैषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा आसक्तिरहित एवं राग-द्वेषमुक्त होकर करे। इस चतु:सूत्री में स्व-पर-समय (स्वधर्माचार एवं परधर्माचार) का विवेक बताया गया है।

प्रथम कर्तव्यबोध : ये साधु शरण योग्य नहीं—भिक्षुधर्म के प्रथम सूत्र (गाथा ७६) में 'भो' शब्द से शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ शिष्यों का ध्यान केन्द्रित किया है कि ऐसे तथाकथित साधुओं की शरण में न जाओ, अथवा वे शरण (आत्मरक्षण) देने में असमर्थ-अयोग्य हैं। वे शरण के अयोग्य क्यों हैं? इसके लिए उन्होंने ५ कारण बतलाये हैं—

(१) ये बाल-मुक्ति के वास्तविक मार्ग से अनभिज्ञ हैं,

(२) फिर भी अपने आपको पण्डित तत्त्वज्ञ मानते हैं,

(३) साधु जीवन में आने वाले परीषहों एवं उपसर्गों से पराजित हैं, अथवा काम, क्रोधादि रिपुओं द्वारा विजित हारे हुए हैं,

(४) वे बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद तथा गृहस्थ प्रपञ्चरूप पूर्व (परिग्रह) सम्बन्ध को छोड़कर भी पुनः दूसरे प्रकार के परिग्रह में आसक्त हैं, और

(५) गृहस्थ को सावद्य (आरम्भ-समारम्भयुक्त) कृत्यों का उपदेश देते हैं।

बाला पंडितमाणिणो—इस अध्ययन की प्रथम सूत्र गाथा में बोधि प्राप्त करने और बन्धन तोड़ने कहा गया था, परन्तु बन्धन तोड़ने के लिए उद्यत साधकों को बन्धन-अबन्धन का बोध न हो, बन्धन समझ कर गृह-त्याग कर देने के पश्चात् भी जो पुनः गृहस्थ सम्बन्धी या गृहस्थवत् आरम्भ एवं परिग्रह में प्रवृत्त हो जायें, जिन्हें अपने संन्यास धर्म का जरा भी भान न रहे, वे लोग बालक के समान विवेक न होने से जो कुछ मन में आया कह या कर डालते हैं, इसी तरह ये तथाकथित गृहत्यागी भी कह या कर डालते हैं, इसीलिए शास्त्रकार ने इन्हें 'बाला' कहा है, पूर्वोक्त कारणों से ये अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको महान् तत्त्वज्ञानी समझते हैं, रटा-रटाया शास्त्रज्ञान बघारते हैं। इस कारण शास्त्रकार ने इन्हें '**पण्डितमानी**' कहा है।

यहाँ वृत्तिकार एक पाठान्तर सूचित करते हैं कि '**बाला पंडित माणिणो**' के बदले कहीं '**जत्थ बाले-**

ऽवसीयइ' पाठ है, जिसका अर्थ होता है—"जिस अज्ञान में पड़कर अज्ञजीव दु:खित होते हैं, उसी अज्ञान में ये अन्यतीर्थी बाल (अज्ञ) पड़कर दु:खित होते हैं।"[1]

एते जिता—'एते' शब्द से वृत्तिकार पंचभूतवादी, एकात्मवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी, कृतवादी अवतारवादी, सिद्धिवादी आदि पूर्वोक्त सभी मतवादियों का ग्रहण कर लेते हैं, क्योंकि तथाकथित मत-वादी गृहत्यागियों में ये सब कारण पाये जाते हैं, जो उन्हें शरण के अयोग्य सिद्ध करते हैं। जिन्हें आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ कर्मों का ही यथार्थ बोध नहीं है, जो बन्ध और मोक्ष के तत्त्व से अनभिज्ञ हैं, अथवा जो देव, ब्रह्मा, ईश्वर, अवतार आदि किसी न किसी शक्ति के हाथों में अपने बन्ध-मोक्ष या डूबने-तरने का भार सौंपकर निश्चिन्त हो जाते हैं, वे भला हिंसादि पापों या आरम्भ-परिग्रह से बचने की चिन्ता क्यों करेंगे ? वे तो बेखटके परिग्रह में आसक्त होंगे और नाना आरम्भजनक प्रवृत्ति करेंगे। प्रव्रजित जीवन में आने वाले कष्टों या उपसर्गों को भी क्यों सहन करेंगे ? तथा काम, क्रोध आदि को भी घटाने या मिटाने का पुरुषार्थ क्यों करेंगे ? इसीलिए शास्त्रकार ठीक कहते हैं—'एते जिता'—अर्थात् ये परीषहों, उपसर्गों तथा कामादि शत्रुओं से हारे हुए हैं, उनका सामना नहीं कर सकते।[2]

हेच्चा णं····सिया किच्चोवदेसगा—इसका भावार्थ यह है कि जिस घर बार, कुटुम्ब-कवीला, जमीन-जायदाद, धन-धान्य, आरम्भ-समारम्भ (गार्हस्थ्य-प्रपञ्च) आदि को पहले त्याज्य समझकर छोड़ा था, प्रव्रजित होकर मोक्ष के लिए उद्यत हुए थे, उन्हीं गृहस्थ सम्बन्ध परिग्रहों को शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, आश्रम ,जमीन-जायदाद, धान्य-संग्रह, भेंट-दान आदि के रूप में सम्पत्ति ग्रहण तथा आये दिन बड़े भोजन समारोह के लिए आरम्भ-समारम्भ आदि के रूप में पुन: स्वीकार कर लिया, साथ ही गृहस्थों को उन्हीं सावद्य (आरम्भ-समारम्भ युक्त) कृत्यों का उपदेश देने लगे। अत: वे प्रव्रजित होते हुए भी गृहस्थों से भिन्न नहीं, अपितु उन्हीं के समान परिग्रहधारी एवं समस्त सावद्य प्रवृत्तियों के अनुमोदक, प्रेरक एवं प्रवर्तक वन बैठे।

इन सब कारणों से वे शरण-योग्य नहीं है, क्योंकि जब वे स्वयं आत्मरक्षा नहीं कर सकते तो

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृ० पत्रांक ४६-४७ के आधार पर
(ख) देखिये—सुत्तपिटक दीघनिकाय (पालि भा० १) सामञ्ञफल सुत्त पृ० ४१-५३ में पूरण काश्यप का मत—"पूरणो कस्सपो मं एतदवोच—करोतो खो, महाराज, कारयतो छिन्दते छेदापयतो····न करीयति पापं···· नत्थि ततो निदानं पापं, नत्थि पापस्स आगमो। दानेन, दमेन, सच्चवज्जे नत्थि पुञ्ञं, नत्थि पुञ्ञस्स आगमो ति····

२ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० २४७-२४८ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ४७-४८ के आधार पर
(ग) पंचशूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कुण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यन्ते यास्तु वाहयन्॥ —मनुस्मृति
गृहस्थ के घर में पांच कसाईखाने (हिंसा के उत्पत्तिस्थान) होते हैं, जिन्हें निभाता हुआ वह हिंसा (आरम्भ-जन्य) में प्रवृत्त होता है। वे पांच ये हैं—चूल्हा, चक्की, झाडू, ऊखली और पानी का स्थान (परिंडा)।

शरणागत अनुयायी (शिष्य) की आत्मरक्षा कैसे करेंगे ? इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—'**न सरणं**'। कहीं-कहीं '**भोऽसरणं**' पाठ भी है, उसका भी अर्थ यही है।

सरलात्मा निर्ग्रन्थ साधुओं को सावधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसे तथाकथित प्रव्रजितों के आडम्बर एवं वाक्छटा से प्रभावित होकर उनके चक्कर में साधु न आयें।[3]

अणुक्कसे—आठ प्रकार के मदों में से कोई भी मद न करे।

तीन सावधानियाँ—पूर्वोक्त अन्यतीर्थिक साधु के मिल जाने पर उसे भली-भाँति जान-परख लेने के बाद यदि विज्ञ साधु को ऐसा प्रतीत हो कि तथाकथित अन्यतीर्थी साधु मूढ़ मान्यताओं का है, मिथ्याभिमानी है, हठाग्रही है, उसके मन में रोष एवं द्वेष है, उसका आचार-विचार अतीव निकृष्ट है, न उसमें जिज्ञासा है, न सरलता, तब क्या करे ? उसके साथ कैसे वरते, कैसे निपटे ? इसके लिए शास्त्रकार ने तीन सावधानियाँ, तीन विवेक सूत्रों-के रूप में प्रस्तुत की हैं—

(१) **विज्जं तेसु ण मुच्छए,**
(२) **अप्पलीणे,**
(३) **मज्झेण मुणि जावए**

इनका आशय यह है कि विज्ञ साधु उक्त साधु के प्रति किसी प्रकार की ममता-मूर्च्छा न रखे, उसके साथ अन्तर् से लिप्त-संसक्त, संसर्गयुक्त न हो।

तृतीय कर्तव्यबोध : निरारम्भी निष्परिग्रहियों की शरण में जाये—सूत्रगाथा ७८ में शास्त्रकार ने आरम्भ-परिग्रह में आसक्त पुरुष भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, इस सस्ते मोक्षवाद के प्रवर्तकों या मतवादियों से सावधान रहने तथा निरारम्भी निष्परिग्रही महान् आत्माओं की शरण में जाने का निर्देश दिया है।

प्रश्न होता है—७६वीं सूत्रगाथा में भी शरण के अयोग्य व्यक्तियों की पहचान बतायी गयी थी, उससे यह स्पष्ट प्रतिफलित होता था कि जो साधक आरम्भ-परिग्रह से मुक्त हैं, उन्हीं की शरण लेनी चाहिए, फिर यहाँ पुनः उस बात को शास्त्रकार ने क्यों दुहराया ? इसका समाधान यह है कि "शास्त्रकार यहाँ एक विचित्र मोक्षवादी मत का रहस्योद्घाटन करते हुए उक्त मतवादी साधकों की शरण कतई न स्वीकारने का स्पष्ट रूप से निर्देश कर रहे हैं कि निरारम्भी और निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ की शरण में जाओ।" यद्यपि शास्त्रकार ने '**सपरिग्गहा या सारम्भा**' इन दो शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु वृत्तिकार आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं—सपरिग्रह और सारम्भ प्रव्रजित भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। मोक्ष के विषय में ऐसा कतिपय मतवादियों का कथन है। जो धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, मकान, जमीन-जायदाद, शारीरिक सुखोपभोग सामग्री तथा स्त्री-पुत्र आदि पर स्व-स्वामित्व एवं ममत्व रखते हैं, वे '**सपरिग्रहः**' कहलाते हैं। जो षट्कायिक जीवों का उपमर्दन करने वाली प्रवृत्तियाँ करते हैं, अथवा जो

---

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४८-४९ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० २५२ से २५५ तक

स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करते हुए भी आरम्भानुमोदक-औद्देशिक आहार करते हैं, वे सारम्भ कहलाते हैं। फिर वे प्रव्रजित हों, किसी भी वेश में हों या अप्रव्रजित, आरम्भ-परिग्रह से युक्त हों तो भी वे मोक्षमार्ग के साधक हैं। इन दो कारणों से ये तथाकथित मोक्षवादी शरण ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

ऐसी सुविधाजनक, आसान, सस्ती आरम्भ-परिग्रहवादियों की मोक्ष-कल्पना के चक्कर में आकर कोई मुमुक्षु साधक फँस न जाये, इसीलिए शास्त्रकार को स्पष्ट कहना पड़ा—जो आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा रहित, भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ साधक हैं, जो संयम-पालन के लिए-जीवन टिकाने हेतु नियम-प्राप्त भोजन, वस्त्र आदि लेते हैं, धर्मोपकरण, पुस्तक आदि सामग्री के सिवाय वे अपने स्वामित्व या ममत्व से युक्त कोई भी धन-धान्यादि नहीं रखते, न ही पचन-पाचनादि आरम्भ करते हैं, अहिंसादि महाव्रतों में लीन समताधारी उन निर्ग्रन्थों की शरण में जाना चाहिए। यही शास्त्रकार का आशय है।[4]

चतुर्थ कर्तव्यबोध : आसक्ति से मुक्त एवं त्रिविध एषणा से युक्त आहार करे—सूत्रगाथा ७९ में आरम्भ एवं परिग्रहों से मुक्त होने के लिए राग-द्वेष, आसक्ति आदि से मुक्त होकर त्रिविध एषणाओं से युक्त आहार-ग्रहण एवं उपभोग करने का विधान है। साधु-जीवन में मुख्यतया तीन आवश्यकताएँ होती हैं—भोजन, वस्त्र और आवास। तीनों में मुख्य समस्या भोजन की है, क्योंकि अहिंसा महाव्रती साधु न स्वयं भोजन पकाता है, न पकवाता है और न ही भोजन बनाने का अनुमोदन करता है क्योंकि इस कार्य से हिंसा होती है। हिंसाजनक कार्य को ही आरम्भ कहा जाता है। अतः साधु को आहार सम्बन्धी उक्त आरम्भ से बचना आवश्यक है। तब फिर प्रश्न हुआ कि आहार कैसे, किससे और कहाँ से ले, जिससे आरंभदोष से बच सके? इसी समस्या का समाधान शास्त्रकार ने चार विवेक-सूत्रों में दिया है—

(१) **कडेसु घासमेसेज्जा,**
(२) **विऊ दत्तेसणं चरे,**
(३) **अगिद्धो विप्पमुक्को य,**
(४) **ओमाणं परिवज्जए।**

इन्हें शास्त्रीय परिभाषा में आहार-सम्बन्धी तीन एषणाएँ कह सकते हैं—(१) गवेषणा, (२) ग्रहणैषणा, (३) ग्रासैषणा या परिभोगैषणा। इन्हीं तीनों के कुल मिलाकर ४७ दोष होते हैं, वे इस प्रकार वर्गीकृत किये जा सकते हैं—गवेषणा के ३२ दोष (१६ उद्‍गम के एवं १६ उत्पाद के), ग्रहणैषणा के १० एवं परिभोगैषणा के ५ दोष।

१६ उद्‍गम दोष ये हैं, जो मुख्यतया गृहस्थ से आहार बनाते समय लगते हैं—

(१) आधाकर्म, (२) औद्देशिक, (३) पूतिकर्म, (४) मिश्रजात, (५) स्थापना, (६) प्राभृतिका, (७) प्रादुष्करण, (८) क्रीत, (९) प्रामित्य (१०) परिवर्तित, (११) अभिहृत, (१२) उद्‍भिन्न, (१३) मालाहृत, (१४) आच्छेद्य, (१५) अनिःसृष्ट (१६) अध्यवपूरक दोष।

---

४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २५६ से २६१ तक

१६ प्रकार के उत्पाद दोष ये हैं, जो साधु की असावधानी एवं रसलोलुपता से उसके स्वयं के निमित्त से लगते हैं—

(१) धात्री दोष, (२) दूति दोय या दौत्य दोष, (३) निमित्त दोष (४) आजीव दोष। (५) वनीमक दोष, (६) चिकित्सा दोष, (७) क्रोध दोष, (८) मान दोष, (९) माया दोष, (१०) लोभ दोष, (११) पूर्व-पश्चात् संस्तव दोष, (१२) विद्या दोष, (१३) मन्त्र दोष, (१४) चूर्ण दोष, (१५) योग दोष (१६) मूलकर्म दोष।

ये दोनों प्रकार के दोष आहार की गवेषणा करते समय साधु की असावधानी से लगते हैं। आहार लेते समय पूछताछ, खोज-बीन करके लेना गवेषणा है, यहाँ 'कडेसु घासमेसेज्जा' कहकर गृहस्थ द्वारा अपने लिए कृत चतुर्विध आहारों में से ग्राह्य आहार की एषणा करनी आवश्यक बतायी है।[५]

इसके पश्चात् 'दत्तेसेणं चरे' इस वाक्य से शास्त्रकार ने ग्रहणैषणा के १० दोषों से बचने का संकेत किया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) शंकित, (२) म्रक्षित, (३) निक्षिप्त, (४) पिहित, (५) संहृत, (६) दायक दोष, (७) उन्मिश्र दोष (८) अपरिणत दोष, (९) लिप्त दोष (१०) छर्दित दोष।

इसके अनन्तर तीन विवेक-सूत्र परिभोगैषणा या ग्रासैषणा के ५ दोषों के सम्बन्ध में बताये हैं—

(१) **अगिद्धो,** (२) **विप्पमुक्को,** (३) **ओमाणं परिवज्जए।**

---

५ आहार ग्रहण-सेवन आदि के ४७ दोष इस प्रकार हैं—

१६ उद्गम दोष—

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओअरकीयपामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
आच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोवरए य सोलसमे ॥२॥

१६ उत्पाद दोष—

धाई दुई निमित्ते आजीव-वणीमगे तिगिच्छाय।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥१॥
पुव्विंपच्छासंथवविज्जामंते य चुण्णजोगे य।
उप्पायणाइदोसा सोलसमे मूलकम्मे ॥२॥

१० एषणा (ग्रहणैषणा) दोष—

संकिय-मक्खिय-निक्खित्त-पिहिय-साहरिय-दायगुम्मीसे।
अपरिणय-लित्ति-छड्डिय एषणदोसा दस हवंति ॥१॥

५ परिभोगैषणा दोष—

(१) इंगाले, (२) धूमे, (३) संजोयणा; (४) पमाणे, (५) कारणे चेव।
पंच एए हवंति घासेसण-दोसा ॥

नोट—इनका समस्त वर्णन दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, आचारांग आदि से जान लेना चाहिए। —सम्पादक

गृद्धि, राग-द्वेषलिप्तता एवं अपमान या अवमान—ये तीनों दोष हैं

परिभोगैषणा के ५ दोष इस प्रकार हैं—

१. अंगार दोष, २. धूम दोष, ३. संयोजना दोष, ४. प्रमाण दोष
५. कारण दोष ।

ओमाणं परिवज्जए—वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या यों की है—भिक्षा के समय साधु गृहस्थ के यहाँ जाये, उस समय यदि कोई उसे झिड़क दे, अपमानित कर दे या अपशब्द या मर्मस्पर्शी शब्द कह दे तो भी साधु उस अपमान को दिल-दिमाग से निकाल दे, या गृहस्थ कोई सरस चीज न दे, बहुत ही कम दे या तुच्छ रूखा-सूखा आहार देने लगे, तब उस पर झुंझलाकर उसका अपमान न करे। ज्ञान और तप के मद का परित्याग करे। ये चारों आहार विवेक-सूत्र साधु को आरम्भ-मुक्त होने के लिए बताये हैं।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**जिता**=जो परीषह-उपसर्ग तथा काम-क्रोधादि ६ शत्रुओं से पराजित हैं। **हेच्चा**=छोड़कर। **विज्जं**=विद्वान्। **अणुक्कसे**=वृत्तिकार के अनुसार—अनुत्कर्षवान् अर्थात्—आठ प्रकार के मदस्थानों में से किसी भी प्रकार का मद न करता हुआ। चूर्णिकार ने '**अणुक्कसो**' और '**अणुवकसायो**', ये दो पाठान्तर माने हैं। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—अनुत्कर्ष का अर्थ है, जो जाति आदि मदस्थानों द्वारा उत्कर्ष (गर्व) को प्राप्त नहीं होता और अनुत्कषाय का अर्थ है—जो तनुकषाय हो, जिसका कषाय मन्द हो। **अप्पलीणं**=वृत्तिकार के अनुसार—अप्रलीन का अर्थ है—असम्बद्ध=अन्य-तीर्थी, गृहस्थ या पार्श्वस्थ आदि के साथ संसर्ग न रखता हुआ। चूर्णिकार के अनुसार—**अप्पलीणे** का अर्थ—अपलीन हो, अर्थात् अपने आप का उन अन्यतीर्थिकों आदि से ग्रहण—सम्पर्क न होने दे। '**मज्झेण मुणि जावए**'=मध्यस्थभाव से मुनि जीवनयापन करे अर्थात् न तो उन पर राग करे, न ही द्वेष, अथवा मुनि उनकी निन्दा-प्रशंसा से बचता हुआ व्यवहार करे। **ताणं परिव्वए**=शरण प्राप्त करे। चूर्णिकार ने '**जाणं परिव्वए**' पाठ मानकर अर्थ किया है—ज्ञान भिक्षु (अनारम्भी-अपरिग्रही की सेवा में) पहुँचे। **विउ**=विज्ञ। **कडेसु**=दूसरों द्वारा कृत—बनाये हुए में से। **घासमेसेज्जा**=कल्पनीय ग्राह्य ग्रास—आहार की एषणा=गवेषणा करे। **विप्पमुक्को**=राग-द्वेष से मुक्त होकर। **ओमाणं**=अपमान या अष्टविध मद।[६]

लोकवाद-समीक्षा—

८०. लोगावायं निसामेज्जा इहमेगेसि आहितं।
विवरीतपण्णसंभूतं अण्णण्णबुतिताणुयं ॥ ५ ॥

८१. अणंते णितिए लोए सासते ण विणस्सति।
अंतवं णितिए लोए इति धीरोऽतिपासति ॥ ६ ॥

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४८-४९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० २४७ से २६१ तक
(ग) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १३-१४

८२. अपरिमाणं विजाणाति इहमेगेसि आहितं।
सव्वत्थ सपरिमाणं इति धीरोऽतिपासति ॥ ७ ॥

८३. जे केइ तसा पाणा चिट्ठंति अदु थावरा।
परियाए अत्थि से अंजू तेण ते तस-थावरा ॥ ८ ॥

८०. इस लोक में किन्हीं लोगों का कथन है कि लोकवाद—पौराणिक कथा या प्राचीन लौकिक लोगों द्वारा कही हुई बातें सुनना चाहिए, (किन्तु वस्तुतः पौराणिकों का वाद) विपरीत बुद्धि की उपज है—तत्त्वविरुद्ध प्रज्ञा द्वारा रचित है, परस्पर एक दूसरों द्वारा कहो हुई मिथ्या बातों (गप्पों) का ही अनुगामी यह लोकवाद है।

८१. यह लोक (पृथ्वी आदि लोक) अनन्त (सीमारहित) है, नित्य है और शाश्वत है, यह कभी नष्ट नहीं होता; (यह किसी का कथन है।) तथा यह लोक अन्तवान्, ससीम और नित्य है। इस प्रकार व्यास आदि धीर पुरुष देखते अर्थात् कहते हैं।

८२. इस लोक में किन्हीं का यह कथन है कि कोई पुरुष सीमातीत पदार्थ को जानता है, किन्तु सर्व को जानने वाला नहीं। समस्त देश-काल की अपेक्षा वह धीर पुरुष सपरिमाण—परिमाण सहित—एक सीमा तक जानता है।

८३. जो कोई त्रस अथवा स्थावर प्राणी इस लोक में स्थित हैं, उनका अवश्य ही पर्याय (परिवर्तन) होता है, जिससे वे त्रस से स्थावर और स्थाविर से त्रस होते हैं।

विवेचन—लोकवाद : एक समीक्षा—प्रस्तुत चतुःसूत्री में लोकवाद-सम्बन्धी मीमांसा है। प्रस्तुत चतुःसूत्री को देखते हुए लोकवाद के प्रस्तुत समय-अध्ययन की दृष्टि से चार अर्थ फलित होते हैं—(१) लोकों=पौराणिक लोगों का वाद-कथा या मत प्रतिपादन, (२) लोकों—पाषण्डियों द्वारा प्राणिग्रों के जन्म-मरण (इहलोक-परलोक) के सम्बन्ध में कही हुई विसंगत बातें, (३) लोक की नित्यता-अनित्यता, अनन्तता-सान्तता आदि के सम्बन्ध में विभिन्न पौराणिकों के मत, और (४) प्राचीन लोगों द्वारा प्रचलित परम्परागत अन्धविश्वास की बातें—लोकोक्तियाँ। वृत्तिकार ने इन चारो ही अर्थों को प्रस्तुत चारों सूत्रगाथाओं (८० से ८३ तक) की व्याख्या में ध्वनित कर दिया है। शास्त्रकार ने प्रस्तुत चतुःसूत्री की चारो गाथाओं में निम्नोक्त समीक्षा की है—(१) लोकवाद : कितना हेय-ज्ञेय या उपादेय है? (२) कुछ कहते हैं—यह लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत एवं अविनाशी है। दूसरे कहते हैं—लोक अन्तवान है, किन्तु नित्य है, (३) पौराणिकों आदि का अवतार लोकवादी है, जो अपरिमित ज्ञाता है तथा सपरिमाण ज्ञाता है, और (४) त्रस त्रस ही रहते हैं, स्थावर स्थावर ही, इस लोकवाद का खण्डन।

बहुचर्चित लोकवाद क्यों और कब से?—शास्त्रकार ने लोकवाद की चर्चा इसलिए छेड़ो है कि उस युग में पौराणिकों का बहुत जोर था। लोग उन पौराणिकों को सर्वज्ञ मानते और कहते थे; उनसे आगम-निगम की, लोक-परलोक की, मरणोत्तर लोक के रहस्य की या प्राणी की मरणोत्तर दशा की, अथवा प्रत्यक्ष दृश्यमान सृष्टि (लोक) की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की बहुत चर्चाएँ करते थे। उस युग में जो

व्यक्ति बहुत वाचाल होता और तर्क-युक्तिपूर्वक लोकमानस में अपनी बात बिठा देता, उसे अन्धविश्वास पूर्वक अवतारी, सर्वज्ञ, ऋषि, पुराण-पुरुष आदि मान लिया जाता था। कई बार ऐसे लोग अपने अन्ध-विश्वासी लोगों में ब्राह्मण, कुत्ता, गाय आदि प्राणियों के सम्बन्ध में अपनी सर्वज्ञता प्रमाणित करने के लिए आश्चर्यजनक, विसंगत एवं विचित्र मान्यताएँ फैला देते थे।

भगवान महावीर के युग में पूरण काश्यप, मक्खली गोशालक, अजितकेश कम्बल, पकुद्ध कात्यायन, गौतम बुद्ध एवं संजय बेलट्ठिपुत्त आदि कई तीर्थंकर माने जाने वाले व्यक्ति थे, जो सर्वज्ञ कहे जाते थे; उधर वैदिक पौराणिकों में व्यास, बादरायण, भारद्वाज, पाराशर, हारीत, मनु आदि भी थे, जिन्हें लोग उस युग के सर्वज्ञाता मानते थे यही कारण है कि शास्त्रकार ने ८०वीं सूत्रगाथा में प्रस्तुत किया है—आम जनता में प्रचलित लोकवाद को सुनने का कुछ लोगों ने हमसे अनुरोध किया है, किन्तु हमने बहुत कुछ सुन रखा है, प्रचलित लोकवाद उन्हीं विपरीत बुद्धि वाले पौराणिकों की बुद्धि की उपज है, जिसमें उन्होंने कोई यथार्थ वस्तुस्वरूप का कथन नहीं किया है। जैसे उन लोकवादियों की मान्यता भी परस्पर-विरुद्ध है, वैसे यह लोकवाद भी उसी का अनुगामी है। निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत लोक ज्ञेय और हेय अवश्य हो सकता है, उपादेय नहीं।[७]

लोकवाद : परस्पर विरुद्ध क्यों और कैसे ?—प्रश्न होता है, जब प्रायः हर साधारण व्यक्ति इस लोक-वाद को मानता है, तब आप (शास्त्रकार) उसे क्यों ठुकराते हैं? इसके उत्तर में ८१वीं सूत्रगाथा प्रस्तुत की गई है। कुछ वादियों के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी हैं, वे सब मिलकर लोक कहलाता है। इस प्रकार के लोक का निरन्वय नाश नहीं होता। उनका आशय यह है कि जो जीव इस जन्म में जैसा है, परलोक में भी, यहाँ तक कि सदा काल के लिए वह वैसा ही उत्पन्न होता है। पुरुष पुरुष ही होता है, स्त्री स्त्री ही होती है। अन्वय (वंश या नस्ल) के रूप में कभी उसका नाश नहीं होता। इसलिए उन्होंने कह दिया—लोक अविनाशी है; फिर उन्होंने कहा—लोक नित्य है, उत्पत्ति-विनाश रहित, सदैव स्थिर एवं एक सरीखे स्वभाव वाला रहता है। तथा यह लोक शाश्वत है—बार-बार उत्पन्न नहीं होता, सदैव विद्यमान रहता है। यद्यपि द्व्यणुक आदि कार्य-द्रव्यों (अवयवियों) की उत्पत्ति की दृष्टि से यह शाश्वत नहीं है, तथापि कारण-द्रव्य परमाणुरूप से इसकी कदापि उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए यह शाश्वत ही माना जाता है, क्योंकि उनके मतानुसार काल, दिशा, आकाश, आत्मा और परमाणु नित्य है। तथा यह लोक अनन्त है, अर्थात् इसकी कालकृत कोई अवधि नहीं है, यह तीनों कालों में विद्यमान है।

---

७ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० २६६-२६७

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४६

(ग) देखिये दीघनिकाय में—अयं देव ! **पूरणो कस्सपो** संघी चेव गणी च गणायरियो च ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधु सम्मतो बहुजनस्य रत्तञ्ञू, चिर पव्वजितो, अद्धगतो, वयो अनुप्पत्तो····मक्खलि गोसालो····अजितो केस कम्बलो····पकुधो कच्चायनो····सञ्जयो वेलट्ठपुत्तो····निगण्ठो नायपुत्तो····भगवा अरहं सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू, अनुत्तरो, पुरिस दम्म सारथिसत्थादेव मनुस्सानं, बुद्धो भगवा ति।

—सुत्त पिटके दीघनिकाय, पालि भा० १ में पृ० ४१-५३

कुछ पौराणिकों के मतानुसार यह लोक अन्तवान् है। जिसका अन्त अथवा सीमा हो, उसे अन्तवान् कहते हैं। लोक ससीम-परिमित है। क्योंकि पौराणिकों ने बताया है—"**यह पृथ्वी सप्तद्वीप पर्यन्त है, लोक तीन है, चार लोक संनिवेश है,** इत्यादि। इस दृष्टि से लोकसीमा दृष्टिगोचर होने के कारण यह अन्तवान् है। किन्तु सपरिमाण (ससीम) होते हुए भी यह लोक नित्य है, क्योंकि प्रवाहरूप से यह सदैव दृष्टिगोचर होता है।

बौद्धधर्म के दीर्घनिकाय ग्रन्थ के ब्रह्मजाल सुत्त में बताया गया है कि "कितने ही श्रमण ब्राह्मण एक या अनेक पूर्वजन्मों के स्मरण के कारण कहते हैं—यह आत्मा और लोक नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और अचल हैं, प्राणी चलते-फिरते, उत्पन्न होते और मर जाते हैं, लेकिन अस्तित्व नित्य है।......कितने ही श्रमण और ब्राह्मण हैं, जो आत्मा और लोक को अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य मानते हैं......लोक का प्रलय हो जाता है, तब पहले-पहल जो उत्पन्न होता है वह पीछे जन्म लेने वाले प्राणियों द्वारा नित्य, ध्रुव, शाश्वत अपरिणामधर्मा और अचल माना जाता है, अपने आपको उस (ब्रह्मा) से निर्मित किये जाने के कारण अपने को अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत, परिणामी और मरणशील मानता है।"

"........कितने ही श्रमण-ब्राह्मण लोक को सान्त और अनन्त मानते हैं।........यह लोक ऊपर से सान्त और दिशाओं की ओर से अनन्त है।"[८]

शास्त्रकार ने इसका खण्डन करते हुए कहा है—'**इति धीरोऽतिपासति**' इसका आशय यह है कि लोकवाद इस प्रकार की परस्पर-विरोधी और विवादास्पद बातों का भण्डार है, जो व्यास आदि के समान किसी साहसिक बुद्धिवादी (धीर) पुरुष का अतिदर्शन है—अर्थात् वस्तुस्वरूप के यथार्थ दर्शन का अतिक्रमण है। इस वाक्य में से यह भी ध्वनित होता है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ दर्शन वही कर सकता है जिसका दर्शन सम्यक् हो। इसीलिए चूर्णिकार ने पाठान्तर माना है, **एवं 'वीरोऽधिपासति'** इस प्रकार वादवीर सामान्य जनों से अधिक देखता है, वह सर्वज्ञ नहीं है।[९]

लोकवाद की ऐकांतिक एवं युक्तिविरुद्ध मान्यताएं—पौराणिक आदि लोकवादियों की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने यहाँ दो मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं—(१) एक मान्यता तो यह है, जो पौराणिकों

---

८ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २६२-२६३ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४९-५० के आधार पर

(ग) 'सप्तद्वीपा वसुन्धरा' इत्यादि बातें पुराणों में वर्णित हैं।

(घ) "...एकच्चो समणो ब्राह्मणो वा...अन्तसञ्ञी लोकस्सिं विहरति। सो एवमाह—अन्तवा सयं लोको परिवटुमो...। ...एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा...अनन्तसञ्ञी लोकस्सि विहरति...सो एवमाह—अनन्तो अयं लोको अपरियन्तो...।

९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४९ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० २६३ के आधार पर

(ग) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १४

की है कि हमारा मान्य अवतार या ईश्वर अपरिमित पदार्थों को जानता है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञाता है। दूसरी मान्यता यह है कि हमारा ईश्वर या अवतारी पुरुष अपरिमित पदार्थों का ज्ञाता अवश्य है, मगर वह सर्वज्ञ नहीं है—सर्वक्षेत्र-काल के सब पदार्थों-का ज्ञाता नहीं है। सीमित क्षेत्रकालगत पदार्थों को ही जानता-देखता है।

कई अतीन्द्रिय द्रष्टा सर्वज्ञ एवं अपने मत के तीर्थंकर कहलाते थे, तथापि वे कहते थे—जो अतीन्द्रिय पदार्थ उपयोगी हों, जिनसे कोई प्रयोजन हो, उन्हीं को हमारे तीर्थंकर जानते हैं। जैसे कि आजीवक मतानुयायी अपने तीर्थंकर मक्खली गोशालक के सम्बन्ध में कहते थे—

तीर्थंकर सभी पदार्थों को देखे या न देखे, जो पदार्थ अभीष्ट एवं मोक्षोपयोगी हों, उन्हें देख ले, इतना ही काफी है। कीड़ों की संख्या का ज्ञान भला हमारे किस काम का? कीड़ों की संख्या जानने से हमें क्या प्रयोजन? अतएव हमें उस (तीर्थंकर) के अनुष्ठान सम्बन्धी या कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी ज्ञान का विचार करना चाहिए। अगर दूर तक देखने वाले को ही प्रमाण मानेंगे तब तो हम उन दूरदर्शी गिद्धों के उपासक माने जायेंगे।[10]

यह सर्वत्र को पूर्णज्ञता न मानने वालों का मत है।

इस गाथा में प्रथम मत पौराणिकों का है, और द्वितीय मत है—आजीवक आदि मत के तीर्थंकरों का। एक प्रकार से सारी गाथा में पौराणिकों के मत का ही प्ररूपण है। पुराण के मतानुसार 'ब्रह्माजी का एक दिन चार हजार युगों का होता है' और रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है।[11] ब्रह्माजी दिन में जब पदार्थों की सृष्टि करते हैं, तब तो उन्हें पदार्थों का अपरिमित ज्ञान होता है, किन्तु रात में जब वह सोते है तब उन्हें परिमित ज्ञान भी नहीं होता। इस प्रकार परिमित अज्ञान होने से ब्रह्माजी में ज्ञान और अज्ञान दोनों की सम्भावना है। अथवा वे कहते हैं—ब्रह्माजी एक हजार दिव्य वर्ष सोये रहते हैं, उस समय वह कुछ भी नहीं देखते और जब उतने ही काल तक वे जागते हैं, तब वे देखते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'धीरोऽतिपासई' अर्थात्—धीर ब्रह्मा का यह (लोकवाद सूचित) अतिदर्शन है।[12]

अपुत्रस्य गतिर् (लोको) नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च—पुत्रहीन की गति (लोक) नहीं होती, स्वर्ग तो उसे हर्गिज नहीं मिलता। इस प्रकार की धारणाएँ लोकवाद है।

लोकवाद युक्ति-प्रमाण विरुद्ध है—सूत्रगाथा ८३ में लोकवाद के रूप में प्रचलित युक्ति-प्रमाण विरुद्ध मान्यताओं का निराकरण किया गया है। जैसे कि लोकवादी यह कहते हैं—यह लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत और अविनाशी है। इस विषय में जैनदर्शन यह कहता है कि अगर लोकगत पदार्थों को उत्पत्ति-

---

१० सर्वंपश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥१॥
तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
प्रमाणं दूरदर्शी चेद्देते गृद्धानुपास्महे ॥२॥

११ "चतुर्युग सहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।" —पुराण

१२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति ५०
(ख) सूत्रकृतांग अमर सुख बोधिनी व्याख्या २६८-२६९

विनाश रहित, स्थिर, एक स्वभाव वाले कूटस्थ नित्य मानते हैं तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्ध है। इस जगत् में जड़-चेतन कोई भी पदार्थ ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता, जो क्षण-क्षण में उत्पन्न न हो। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण पर्याय रूप से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ दिखता है। अतएव लोकगत पदार्थ सर्वथा पर्याय रहित कूटस्थ नित्य कैसे हो सकते हैं? लोकवाद की इसी कूटस्थ नित्य की मान्यता को लेकर जो यह कहा जाता है कि त्रस सदैव त्रस पर्याय में ही होता है, स्थावर स्थावर पर्याय में ही होता है, तथा पुरुष मरकर पुरुष ही बनता है, स्त्री मरकर पुनः स्त्री ही होती है, यह लोकवाद सत्य नहीं है। आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—"स्थावर (पृथ्वीकाय आदि) जीव त्रस (द्वीन्द्रियादि) के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं और त्रसजीव स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों से पृथक्-पृथक् रूप रचते हैं।"[१३]

यदि यह लोकवाद सत्य हो कि जो मनुष्य इस जन्म में जैसा है, अगले जन्म में भी वह वैसा ही होता है, तब तो दान, अध्ययन, जप, तप, यम, नियम आदि समस्त अनुष्ठान व्यर्थ हो जाएँगे, फिर क्यों कोई दान देगा यम नियमादि की साधना करेगा? क्योंकि उस साधना या धर्माचरण से कुछ भी परिवर्तन होने वाला नहीं है। परन्तु स्वयं लोकवाद के समर्थकों ने जीवों का एक पर्याय से दूसरी पर्याय में उत्पन्न होना स्वीकार किया है—

'स वै एष श्रृगालो जायते, यः सपुरीषो दह्यते।'

अर्थात्—'वह पुरुष अवश्य ही सियार होता है, जो विष्ठा सहित जलाया जाता है।

तथा— **"गुरुं तुंकृत्य हुंकृत्य, विप्रान्निर्जित्य वादतः।**
श्मशाने जायते वृक्षः, कंक-गृध्रोपसेवितः॥"

अर्थात्—जो गुरु के प्रति 'तुं' या 'हुं' कहकर अविनयपूर्ण व्यवहार करता है, ब्राह्मणों को वाद में हरा देता है, वह मरकर श्मशान में वृक्ष होता है, जो कंक, गिद्ध आदि नीच पक्षियों द्वारा सेवित होता है।

इसलिए पूर्वोक्त लोकवाद का खण्डन उन्हीं के वचनों से हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि त्रस हो या स्थावर, सभी प्राणियों का अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न गतियों और योनियों के रूप में पर्याय परिवर्तन होता रहता है। स्मृतिकार ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[१४]

एक द्रव्यविशेष की अपेक्षा से कार्यद्रव्यों को अनित्य और आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को सर्वथा नित्य कहना भी लोकवाद का असत्य है क्योंकि सभी पदार्थ उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त होते हैं। ऐसा न मानने पर आकाश-कुसुमवत् वस्तु का वस्तुत्व ही नहीं रहेगा। पदार्थों

---

१२ अदु थावरा य तसत्ताए, तस जीवा य थावरत्ताए।
अदुवा सव्व जोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला॥ —आचारांग १, श्रु० ६, अ० १, उ० गा० ५४

१३ देखिये स्मृति में—"अन्तः प्रज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःख समन्विताः।
शारीरजैः कर्मदोषैर्यान्ति स्थावरतां नरः॥"

की अपनी-अपनी जाति (सत्ता) का नाश नहीं होता फिर भी वे परिणामी हैं, यही (परिणामी नित्य) मानना ही जैनदर्शन को अभीष्ट है।

लोक को अन्तवान् सिद्ध करने के लिए लोक (पृथ्वी) को सात द्वीपों से युक्त कहना भी प्रमाण-विरुद्ध है। क्योंकि इस बात को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

लोकवादियों के द्वारा मान्य अवतार या भगवान् अपरिमितदर्शी होते हुए भी सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिए उनका भी यदि यह कथन हो तो प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो पुरुष अपरिमितदर्शी होकर भी सर्वज्ञ नहीं हैं, वे हेय-उपादेय का उपदेश देने में भी समर्थ नहीं है, अतीन्द्रिय पदार्थों का उपदेश देना तो दूर रहा।

लोकवाद मान्य अवतार या तीर्थंकर यदि अपरिमित पदार्थदर्शी या अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा है, तो उनका सर्व-देश-कालज्ञ होना अत्यावश्यक है। यदि उन्हें कीड़ों की संख्या का उपयोगी ज्ञान भी नहीं होगा तो बुद्धिमान पुरुष शंका करने लगेंगे कि उन्हें उसी प्रकार अन्य पदार्थों का भी ज्ञान नहीं होगा। ऐसे शंकित-मानस उनके द्वारा उपदिष्ट हेयोपादेय में निवृत्त-प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे।

लोकवादियों का यह कथन भी कोई अपूर्व नहीं है कि "ब्रह्मा सोते समय कुछ नहीं जानता, जागते समय सब कुछ जानता है," यह तो सभी प्राणियों के लिए कहा जा सकता है। तथा ब्रह्मा के सोने पर जगत् का प्रलय और जागने पर उत्पाद (सर्जन) होता है, यह कथन भी प्रमाणशून्य होने से उपादेय नहीं है।

वास्तव में लोक का न तो एकान्त रूप से उत्पाद होता है और न ही सर्वथा विनाश (प्रलय)। द्रव्य रूप से लोक सदैव बना (नित्य) रहता है, पर्याय रूप से बदलता (अनित्य) रहता है।

लोकवादियों का यह कथन भी छोटे बालक के समान हास्यास्पद है कि पुत्रहीन पुरुष की कोई गति (लोक) नहीं। अगर पुत्र के होने मात्र से विशिष्ट लोक प्राप्त होता हो, तब तो बहुपुत्रवान् कुत्तों और सूअरों से लोक परिपूर्ण हो जाएगा। हर कुत्ता या सूअर विशिष्ट लोक (सुगति) में पहुँच जाएगा, विना ही कुछ धर्माचरण किये, शुभकर्म किये। पुत्र के द्वारा किये गए अनुष्ठान से उसके पिता को विशिष्ट लोक प्राप्त होता हो, तब तो कुपुत्र के द्वारा किये गए अशुभ अनुष्ठान से कुलोक (कुगति) में भी जाना पड़ेगा, फिर उस पिता के स्वकृत शुभाशुभ कर्मों का क्या होगा? वे तो व्यर्थ ही जाएँगे? अतः कर्म-सिद्धान्त-विरुद्ध, प्रमाण-विरुद्ध लोकवादीय कथन कथमपि उपादेय नहीं है।

'कुत्ते यक्ष हैं', 'ब्राह्मण देव हैं' इत्यादि लोकोक्तियाँ भी लोकवाद के युक्ति-प्रमाण शून्य विधान है। अतः ये विश्वसनीय नहीं हो सकते।[१५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**णिसामिज्जा**—सुनना चाहिए, अर्थात् जानना चाहिए। **विपरीतपण्णसंभूतं**—परमार्थ-वस्तुतत्त्व से विपरीत प्रज्ञा (बुद्धि) द्वारा उत्पन्न-सम्पादित-रचित। **अण्णण्णवुतिताणुगं**—चूर्णिकार के

१५ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुख बोधिनी व्याख्या पृ० २६९-२७०

अनुसार—अन्योन्य—एक दूसरे के उक्त कथन का अनुगामी है। वृत्तिकार ने **अन्नउत्त तयाणुयं**—पाठान्तर मानकर व्याख्या की है—विपरीत स्वरूप बनाने वाले अन्य अविवेकियों ने जो मिथ्या अर्थ बतलाया है, उसी का अनुगामी (लोकवाद है।) **अणंत**—जिसका अन्त—निरन्वय नाश नहीं है, अथवा अनन्त यानी परिमाण रहित—निरवधि। **इहमेगेसि आहितं**—इस लोक में किन्हीं सर्वज्ञापह्नववादियों का यह कथन या मत है। **अपरिमाणं विजानाति**—क्षेत्र और काल की जिसमें इयत्ता—सीमा नहीं है, ऐसा अपरिमित ज्ञाता अतीन्द्रियदर्शी **सव्वत्थ सपरिमाणं इति धीरोऽतिपासति**=बुद्धिमान (धीर) (व्यास आदि) सर्वार्थ देशकालिक अर्थ सपरिमाण-सीमित जानता है, यह अतिदर्शन है। **अदु**—अथवा, **अंजु**—अवश्य, **परियाए**—पर्याय में।[१६]

अहिंसा धर्म-निरूपण—

> ८४. **उरालं जगओ जोयं विपरीयासं पलेंति य।**
> **सव्वे अक्कंत दुक्खा य अतो सव्वे अहिंसिया ॥९॥**
>
> ८५. **एतं खु णाणिणो सारं जं न हिंसति किंचणं।**
> **अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया ॥१०॥**

८४. (औदारिक त्रस-स्थावर जीव रूप) जगत् का (बाल्य-यौवन-वृद्धत्व आदि) संयोग—अवस्था-विशेष अथवा योग—मन वचन काया का व्यापार (चेष्टाविशेष) उदार-स्थूल है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। और वे (जीव) विपर्यय (दूसरे पर्याय) को भी प्राप्त होते हैं तथा सभी प्राणी दुःख से आक्रान्त—पीड़ित हैं, (अथवा सभी प्राणियों को दुःख अकान्त—अप्रिय है, और सुखप्रिय है) अतः सभी प्राणी अहिंस्य—हिंसा करने योग्य नहीं—है।

८५. विशिष्ट विवेकी पुरुष के लिए यही सार—न्याय संगत निष्कर्ष है कि वह (स्थावर या जंगम) किसी भी जीव की हिंसा न करे। अहिंसा के कारण सब जीवों पर समता रखना और (उपलक्षण से सत्य आदि) इतना ही जानना चाहिए, अथवा अहिंसा का समय (सिद्धान्त या आचार) इतना ही समझना चाहिए।

विवेचन—अहिंसा के सिद्धान्त या आचार का निरूपण—इस गाथा द्वय (८४-८५) में स्व-समय के सन्दर्भ में अहिंसा के सिद्धान्त एवं आचार का प्रतिपादन किया गया है।

लोकवाद के सन्दर्भ में कहा गया था कि उसकी यह मान्यता है कि त्रस या स्थावर, स्त्री या पुरुष, जो इस लोक में जैसा है, अगले लोकों में भी वह वैसा ही होता है, इसलिए कोई श्रमण निर्ग्रन्थ अहिंसादि के आचरण से विरत न हो जाये, इसीलिए ये दोनों गाथाएँ तथा आगे की गाथाएँ शास्त्रकार ने प्रस्तुत की हैं। प्रस्तुत गाथा द्वय से मिलती-जुलती गाथाएँ इसी सूत्र के १२ वें अध्ययन की सूत्रगाथा ५०५ और ५०६ में भी हैं।

---

१६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक-४९-५०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १४

समस्त प्राणी अहिंस्य क्यों ?—प्रस्तुत गाथा में संसार के समस्त जीव अहिंस्य क्यों हैं ? अर्थात् जीव की हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए ? इसके तीन कारण बताये हैं—

(१) इस दृश्यमान त्रस-स्थावर जीव रूप जगत् की मन-वचन-काया की प्रवृत्तियाँ (योग) अथवा बाल्य-यौवन-वृद्धत्व आदि (अवस्थाएँ) स्थूल (प्रत्यक्ष) हैं,

(२) स्थावर-जंगम सभी प्राणियों की पर्याय—अवस्थाएँ सदैव एक-सी नहीं रहतीं, तथा

(३) सभी प्राणी शारीरिक-मानसिक दुःखों से पीड़ित रहते हैं, अथवा सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है।

बहुत से मतवादियों का कथन है आत्मा कूटस्थनित्य, एक-से स्वभाव का, उत्पत्ति-विनाश से रहित है, इसलिए वे यह तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि आत्मा की बाल्यादि अवस्थाएं नहीं होतीं, न ही अवस्था परिवर्तन होता है, और न कभी सुख-दुःख आदि होते हैं, इसलिए किसी जीव को मारने-पीटने, सताने आदि से कोई हिंसा नहीं होती है। यह वाद दीघनिकाय में वर्णित पकुद्धकात्यायन के अकृततावाद से प्रायः मिलता-जुलता है।[१७] इसी मिथ्यात्वग्रस्त पर-समय का निराकरण करने हेतु आत्मा की कथंचित् अनित्यता, परिणामधर्मिता तथा तदनुसार सुख-दुःखादि प्राप्ति, दुःख से अरुचि आदि स्वसमय का प्रतिपादन किया गया है और यह स्पष्ट बता दिया गया है कि समस्त प्राणि-जगत् की विविध चेष्टाएँ तथा बाल्यादि अवस्थाएँ प्रत्यक्ष हैं, अवस्थाएँ (पर्यायें) भी सदा एक-सी नहीं रहती, प्राणिमात्र मरणधर्मा है। वह एक शरीर नष्ट होते ही स्व-स्वकर्मानुसार आत्मा दूसरे मनुष्य, तिर्यंच, नरक आदि गतियों और योनियों रूप पर्यायों में पर्यटन करती रहती है, और एक पर्याय (अवस्था) से दूसरी पर्याय बदलने पर जन्म, जरा, मृत्यु, शारीरिक-मानसिक चिन्ता, सन्ताप आदि नाना प्रकार के दुःख भी भोगने पड़ते हैं, जो कि उन प्राणियों को अप्रिय हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि कोई भी व्यक्ति जब किसी भी प्राणी को सतायेगा, पीड़ा देगा, मारेगा-पीटेगा, डरायेगा या किसी भी प्राणी को हानि पहुँचायेगा, प्राणों से रहित कर देगा तो उसे दुःखानुभव होगा, इसलिए शास्त्रकार ने इन्हीं तीन मुख्य प्रत्यक्ष दृश्यमान स्थूल कारणों को प्रस्तुत करके बता दिया कि प्राणी सदैव एक-से नहीं रहते—उनमें पविर्तन होना प्रत्यक्ष-सिद्ध है। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

---

१७. (क) तुलना कीजिए—सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया
एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं।
अहिंसा समयं चेव एतावंतं विजाणिया॥
—सूत्रकृ० १ श्रु० अ० ११, गा० ९-१०, सू० ५०५-६

(ख) ····पकुधो कच्चायनो यं एतदवोच—सत्तिमे महाराज, काया अकटा, अकटविधा अनिम्मिता अनिम्माता, वञ्झा कूटट्ठा एसिकट्ठायिट्ठिता। तेन इञ्जन्ति, न विपरिणामेन्ति, अञ्ञमञ्ञं व्याबाधेंति, नालं अञ्ञमञ्ञस्स सुखाय वा दुक्खाय वा, सुखदुक्खाय वा। कतमे सत्त ? पठविकायो, आपोकायो, तेजोकायो, वायोकायो, सुखे, दुक्खे, जीवे सत्तमे।···· —सुत्तपिटके दीघनिकाय पालि भा० १, सामञ्ञफलसुत्त

(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५१ के आधार पर

(घ) सूत्रकृतांग अमरसुख बोधिनी व्याख्या २७४-२७५ के आधार पर

"अओ सव्वे अहिंसिया"—किसी भी प्राणी को किसी भी रूप से पीड़ा देना, सताना, मारना-पीटना डराना आदि हिंसा है, और किसी भी प्रकार की हिंसा से प्राणी को दुःख होता है। हिंसा करना निर्ग्रन्थ क्यों छोड़ते हैं? इस प्रश्न का उत्तर दशवैकालिक एवं आचारांग में स्पष्ट दिया गया है कि समस्त जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, सभी को अपना जीवन प्रिय है, सभी सुख चाहते हैं, दुःख सभी को अप्रिय है, इसीलिए निर्ग्रन्थ प्राणिवध को घोर पाप समझकर उसका त्याग करते हैं।[१८]

यह भी सत्य है कि असत्य, चोरी, मैथुन-सेवन, परिग्रह वृत्ति आदि पापास्रवों से भी प्राणियों को शारीरिक-मानसिक दुःख होता है, इसलिए ये सब हिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'य' (च) शब्द से उपलक्षण से असत्यादि का त्याग भी समझ लेना चाहिए।

हिंसा आदि पापास्रव अविरति के अन्तर्गत हैं, जो कि अशुभ कर्मबन्धन का एक कारण है। इस दृष्टि से भी शास्त्रकार ने प्राणिहिंसा का निषेध किया है।

ज्ञानी के ज्ञान का सार : हिंसा न करे—प्राणिहिंसा निषेध के पूर्वोक्त विवेक सूत्र को और स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार सूत्र गाथा ८५ में कहते हैं—**'एवं खु नाणिणो सारं.....किंचणं'**—अर्थात् ज्ञानी होने का सार—निष्कर्ष यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

ज्ञानी कौन? उसके ज्ञान का सार क्या?—यहाँ ज्ञानी उसे नहीं बताया गया है, जो पोथी-पण्डित हो, रटारटाया शास्त्र पाठ जिसके दिमाग में भरा हो, अथवा जो केवल शास्त्रीय ज्ञान बघारता हो, अथवा जिसका लौकिक या भौतिक विद्याओं का पाठन-अध्ययन प्रचुर हो। यहाँ ज्ञानी के मुख्य दो अर्थ फलित होते हैं—(१) अध्यात्म-ज्ञानवान्—जो आत्मा से सम्बन्धित पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बन्ध-मोक्ष, निर्जरा, आत्मा का स्वरूप, कर्मबन्ध, शुद्धि, विकास-ह्रास आदि का सम्यग् ज्ञाता हो।

(२) सभी प्राणियों को मेरे समान ही सुख प्रिय हैं, दुःख अप्रिय, सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, सभी जीना चाहते हैं, मरना नहीं। हिंसा, असत्य आदि से मेरे समान सभी प्राणियों को दुःख होता हैं, इस प्रकार आत्मवत सर्वभूतेषु सिद्धान्त का जिसे अनुभव ज्ञान हो। इसीलिए शास्त्रकार का यहाँ आशय यह है **'ज्ञानस्य सारो विरतिः'** ज्ञान का सार है—(पाप कर्मबन्ध या दुःख प्रदान से) विरति। इस दृष्टि से आत्मा को कर्मबन्ध से मुक्त कराने और बन्धन को भली-भाँति समझकर तोड़ना ही जब ज्ञानी के ज्ञान का सार है, तब हिंसादि जो कर्मबन्ध या कर्मास्रव के कारण हैं, उनमें वह कैसे पड़ सकता है। इसीलिए यहाँ कहा गया—**'जं न हिंसति किंचणं'**। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के लिए न्याय संगत (सार) यही है कि पाप कर्मबन्धन के मुख्य कारण हिंसा को छोड़ दे। किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार से हिंसा न

---

१८ (क) सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥ —दशवैकालिक अ० ६ गा० १०

(ख) सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।" —आचारांग श्रु० १, अ० २, सू० २४०-२४१

(ग) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योग-युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ —गीता ६/२९

करे, परितापना पीड़ा न दे। उपलक्षण से पाप कर्मबन्ध के अन्य कारण तथा पीड़ाजनक (हिंसाजनक) —मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन सेवन, परिग्रह वृत्ति से भी दूर रहे।

अहिंसा से समता या समय को जाने—ज्ञानी के लिए सारभूत दूसरा तथ्य यहाँ बताया गया है—'**अहिंसा-समयं चेव···वियाणिया**' इसके तीन अर्थ यहाँ फलित होते हैं—

(१) अहिंसा से समता को जाने, इतना ही सार है,

(२) अहिंसा रूप समता को विशेष रूप से जाने, इतना ही सार है,

(३) इतना ही (यही) अहिंसा का समय (सिद्धान्त या आचार या प्रतिज्ञा) है, यह जाने।

तीनों अर्थों का आशय यह है कि साधु ने दीक्षा ग्रहण करते समय '**करेमि भन्ते सामाइयं**' के पाठ से समता की प्रतिज्ञा ली है। अहिंसा भी एक प्रकार की समता है अथवा समता का कारण है। क्योंकि साधक अहिंसा का पालन या आचरण तभी कर सकता है, जब वह प्राणिमात्र के प्रति समभाव-आत्मौपम्य भाव रखे। दूसरों की पीड़ा, दुःख, भय, त्रास को भी अपनी ही तरह या अपनी ही पीड़ा, दुःख, भय, त्रास आदि समझे। जैसे मेरे शरीर में विनाश, प्रहार, हानि एवं कष्ट से मुझे दुःख का अनुभव होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों को भी उनके शरीर के विनाशादि से दुःखानुभव होता है। इसी प्रकार मुझे कोई मारे-पीटे, सताये, मेरे साथ झूठ बोले, धोखा करे, चोरी और बेईमानी करे, मेरी बहन-बेटी की इज्जत लूटने लगे या संग्रहखोरी करे तो मुझे दुःख होगा, उसी तरह दूसरों के साथ मैं भी वैसा व्यवहार करूं तो उसे भी दुःख होगा। इस प्रकार समतानुभूति आने पर ही अहिंसा का आचरण हो सकता है।[१९]

भगवान महावीर ने तो स्पष्ट कहा है—'**अप्पणा सच्चमेसेज्जा**'—अपनी आत्मा की तराजू पर तोलकर सत्य का अन्वेषण करे। ऐसा करने पर ही मालूम होगा कि दूसरे प्राणी को मारने, सताने आदि से उतनी ही पीड़ा होती है जितनी तुम्हें होती है। आचारांग सूत्र में तो यहाँ तक कह दिया है कि "जिस प्राणी को तुम मारना, पीटना, सताना, गुलाम बनाकर रखना, त्रास देना, डराना आदि चाहते हो, वह तुम्हीं हो, ऐसा सोच लो कि उसके स्थान पर तुम्हीं हो।"[२०]

---

१९ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २७६

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५१

(ग) 'करेमि भन्ते सामाइयं'—आवश्यक सूत्र, सामायिक सूत्र सभाष्य

२० (क) अहिंसया समता अहिंसा समता तां चैतावद् विजानीयात्। —शीलांकवृत्ति पत्र ५१

(ख) अप्पणा सच्चमेसेज्जा.... —उत्तराध्यन सूत्र अ० ६

(ग) तुमं सि णाम तं चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि, तुमं सि०····जं अज्जावेतव्वं ति०····तुमंसि····परितावेतव्वं ति मण्णसि, तुमंसि····परिघेतव्वं ति····; तुमंसि····उद्दवेतव्वंति मण्णसि।····

—आचारांग श्रु० १, अ० ५, उ० ५, सू० १७०

निष्कर्ष यह है—इस प्रकार की समता का जीवन में आ जाना ही अहिंसा है। इसी समता सूत्र से अहिंसा आदि का आचरण होता है। यही अहिंसा का सिद्धान्त है। इसे भलीभाँति हृदयंगम कर लेना ही ज्ञानी होने का सार है। अगर पुरुष इतना भी न कर सकता, तो उनका ज्ञान निरर्थक ही नहीं, भार-भूत है, परिग्रह रूप है। एक आचार्य ने कहा है कि "भूसे के ढेर के समान उन करोड़ों पदों के पढ़ने से क्या लाभ, जिनसे इतना भी ज्ञान न हुआ कि दूसरों को पीड़ा नहीं देनी चाहिए।[२१]

इस समग्र गाथा का निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी पुरुष के लिए यही न्यायोचित है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का भाव रखकर अहिंसा का आचरण करे।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**उरालं**=उदार, स्थूल है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है, आँखों से प्रत्यक्ष दृश्यमान है। **जोगं**=प्राणियों के योग-व्यापार, चेष्टा या अवस्था विशेष को। **विवज्जासं पलिंति**=औदारिक शरीरधारी जीव गर्भ, कलल और अर्बुदरूप पूर्वावस्था छोड़कर उससे विपरीत बाल्य-कौमार्य-यौवन-वृद्धत्व आदि स्थूल पर्यायों (अवस्था विशेषों) को प्राप्त करते हैं। **अक्कंतदुक्खा**=असातावेदनीय के उदय से, शारीरिक-मानसिक दुःखों से आक्रान्त-पीड़ित हैं। चूर्णिकार 'अकंतदुक्खा' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—कान्त का अर्थ है—प्रिय। जिन्हें दुःख अकान्त-अप्रिय अनिष्ट है।[२२]

अहिंसिया=सभी प्राणी साधु के लिए अहिंसनीय—अवध्य हैं। चूर्णिकार 'अहिंसगा' पाठान्तर मान कर अर्थ करते हैं—इस कारण से साधु अहिंसक होते हैं। **सारं**=न्याय-संगत या निष्कर्ष।[२३]

चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश—

८६. वुसिए य विगयगेही य आयाणं संरक्खए।
चरियाऽऽसण-सेज्जासु भत्तपाणे य अंतसो ॥११॥

८७. एतेहिं तिहिं ठाणेहिं संजते सततं मुणी।
उक्कसं जलणं णूमं मज्झत्थं च विगिंचए ॥१२॥

८८. समिते उ सदा साहू पंचसंवरसंवुडे।
सितेहिं असिते भिक्खू आमोक्खाए परिवएज्जासि ॥१३॥

त्ति बेमि

८६. दस प्रकार की साधु समाचारी में स्थित और आहार आदि में गृद्धि (आसक्ति) रहित साधु (मोक्ष प्राप्ति के) आदान (साधन-ज्ञानदर्शन-चारित्र) की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे। (तथा) चर्या

---

२१ किं तया पठितया पदकोट्या पलालभूतया।
येनैतन्न ज्ञातं परस्य पीडा न कर्तव्या ॥

२२ "कान्तं प्रियमित्यर्थः, न कान्तमकान्त दुक्खं अणिट्ठं—अकंतदुक्खा" —चूर्णि

२३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १५

(चलने-फिरने), आसन (बैठने) और शय्या (सोने) के विषय में और अन्ततः आहार-पानी के सम्बन्ध में (सदा उपयोग रखे।)

८७ इन (पूर्वोक्त) तीनों (ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और एषणासमिति रूप) स्थानों में सतत संयत (संयमरत) मुनि मान (उत्कर्ष), क्रोध (ज्वलन), माया (णूम) और लोभ (मध्यस्थ) का परिहार (विवेकपूर्वक त्याग) करे।

८८. भिक्षाशील साधु सदा पंच समितियों से युक्त (होकर) पाँच संवर (अहिंसादि) से आत्मा को आस्रवों से रोकता (सुरक्षित रखता हुआ) गृहपाश—(गृहस्थ के बन्धन में) बद्ध—श्रित गृहस्थों में न बँधता (मूर्च्छा न रखता) हुआ मोक्ष प्राप्त होने तक सब ओर से संयम (परिव्रज्या) में उद्यम करे।

(श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—) इस प्रकार मैं कहता हूँ।

विवेचन—चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश—प्रस्तुत त्रिसूत्री में कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिए चारित्र-शुद्धि का उपदेश दिया गया है। वास्तव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र (चारित्र के अन्तर्गत तप) यह रत्नत्रय मिलकर मोक्षमार्ग कर्मबन्धनों से छुटकारे का एकमात्र साधन है। मोक्षरूप शुद्ध साध्य के लिए पिछली गाथाओं में पर्याप्त चर्चा की गयी है। शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिए साधनों (रत्नत्रय) की शुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है। इसी दृष्टि से ज्ञान और दर्शन की शुद्धि के हेतु पिछली अनेक गाथाओं में शास्त्रकार ने सुन्दर ढंग से निर्देश किया है। बाकी रही चारित्र-शुद्धि। अतः पिछली दो अहिंसा निर्देशक गाथाओं के अतिरिक्त अब यहाँ तीन गाथाओं में चारित्र-शुद्धि पर जोर दिया है। हिंसा आदि पाँच आस्रवों से अविरति, प्रमाद, कषाय और मन-वचन-काया-योग का दुरुपयोग, ये सब चारित्र-दोष के कारण हैं, और कर्मबन्धन के भी मुख्य कारण हैं। चारित्रशुद्धि से ही आत्मशुद्धि (निर्जरा या कर्मक्षय, कर्मास्रव-निरोध) होती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने आत्म शुद्धि (निर्जरा) के लिए समिति, गुप्ति, दशविध धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप की आराधना-साधना बतायी है। इसी प्रकार चारित्रशुद्धि के परिप्रेक्ष्य में शास्त्रकार ने प्रस्तुत तीन गाथाओं में १० विवेकसूत्र बताये हैं—

(१) दस प्रकार की समाचारी में स्थित रहे।

(२) आहार आदि में गृद्धि-आसक्ति न रखे।

(३) अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का या रत्नत्रय का संरक्षण करे।

(४) गमनागमन, आसन, शयन, खान-पान (भाषण एवं परिष्ठापन) में विवेक रखे।

(५) पूर्वोक्त तीन स्थानों (समितियों) अथवा इनके मन-वचन-काया गुप्ति रूप तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे।

(६) क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करे।

(७) सदा पंच समिति से युक्त अथवा सदा समभाव में प्रवृत्त होकर रहे।

(८) प्राणातिपातादि-विरमण रूप पंच महाव्रत रूप संवरों से युक्त रहे।

(९) भिक्षाशील साधु गार्हस्थ्य बन्धनों से बँधे हुए गृहस्थों से आसक्तिपूर्वक बँधा हुआ न रहे।

(१०) मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में प्रगति करे—डटा रहे।

इस प्रकार चारित्र शुद्धि के लिए साधु को दस विवेकसूत्रों का उपदेश शास्त्रकार ने प्रस्तुत प्रसंग में दिया है।[२४]

इस दस विवेक सूत्री पर क्रमशः चिन्तन-विश्लेषण करना आवश्यक है—

१. **समाचारी में विविध प्रकार से रमा रहे**—चारित्र शुद्धि के लिए यह प्रथम विवेकसूत्र है। समाचारी साधु संस्था की आचार संहिता है, उस पर साधु की श्रद्धा, आदर एवं निष्ठा होनी आवश्यक है। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने एक शब्द प्रयुक्त किया है—'वुसिए' जिसका शब्दशः अर्थ होता है—विविध प्रकार से वसा हुआ। वृत्तिकार उसका आशय खोलते हुए कहते हैं—अनेक प्रकार से दशविध साधु समाचारी में स्थित—वसा रहने वाला। क्योंकि यह समाचारी भगवदुपदिष्ट हैं, संसार सागर से तारने वाली एवं साधु के चारित्र को शुद्ध रखती हुई उसे अनुशासन में रखने वाली है। समाचारी के दस प्रकार क्रमशः ये हैं—

(१) **आवस्सिया**—उपाश्रय आदि स्थान से बाहर कहीं भी जाना हो तो 'आवस्सही आवस्सही कहना आवश्यकी है।

(२) **निसीहिया**—वापस लौटकर स्वस्थान (उपाश्रयादि) में प्रवेश करते समय निस्सिही—निस्सिही कहना नैषिधिकी है।

(३) **आपुच्छणा**—कार्य करते समय ज्येष्ठ दीक्षित से पूछना आपृच्छना हैं।

(४) **पडिपुच्छणा**—दूसरों का कार्य करते समय बड़ों से पूछना प्रतिपृच्छना है।

(५) **छंदणा**—पूर्वगृहीत द्रव्यों के लिए गुरु आदि को आमन्त्रित (मनुहार) करना 'छन्दना' है।

(६) **इच्छाकार**—अपने और दूसरे के कार्य की इच्छा बताना या स्वयं दूसरों का कार्य अपनी सहज इच्छा से करना, किन्तु दूसरों से अपना कार्य कराने (कर्तव्यनिर्देश करने) से पहले विनम्र निवेदन करना कि आपकी इच्छा हो तो अमुक कार्य करिए, अथवा दूसरों की इच्छा अनुसार चलना 'इच्छाकार' है।

(७) **मिच्छाकार**—दोष की निवृत्ति के लिए गुरुजन के समक्ष आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना अथवा आत्मनिन्दापूर्वक 'मिच्छामि दुक्कडं' कहकर उस दोष को मिथ्या (शुद्ध) करना 'मिथ्याकार' है।

(८) **तहक्कार**—गुरुजनों के वचनों को, तहत्ति—आप जैसा कहते हैं, वैसा ही है।" कहकर यों सम्मानपूर्वक स्वीकार करना तथाकार है।

(९) **अब्भुट्ठाण**—गुरुजनों का सत्कार-सम्मान या बहुमान करने के लिए उद्यत रहना, उनके सत्कार के लिए आसन से उठकर खड़ा होना अभ्युत्थान—समाचारी है।

(१०) **उपसंपया**—शास्त्रीय ज्ञान आदि विशिष्ट प्रयोजन के लिए किसी दूसरे आचार्य के पास विनयपूर्वक रहना 'उपसम्पदा' समाचारी है।

यों दस प्रकार की समाचारी में हृदय से स्थित रहना, सतत निष्ठावान रहना चारित्र-शुद्धि का महत्त्वपूर्ण अंग है।[२५]

---

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५२ के आधार पर।
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २७७ के आधार पर

२५ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, तथा उत्तराध्ययनसूत्र अ० २६, गाथा १ से ४ तक देखें।

२. आहारादि में गृद्धि (आसक्ति) रहित रहे—समस्त प्रपंच-त्यागी साधु जब जिह्वालोलुप अथवा प्रलोभनकारी आहार, वस्त्र या अन्य धर्मोपकरण-सामग्री, अथवा संघ, पंथ, गच्छ, उपाश्रय, शिष्य-शिष्या भक्त-भक्ता आदि की आसक्ति में फँस जाता है तो उसका अपरिग्रह महाव्रत दूषित होने लगता है। वह बाहर से तो साधुवेष एवं साधु समाचारी (क्रिया आदि) से ठीक-ठीक लगता है, पर अन्दर से सजीव-निर्जीव, मनोज्ञ अभीष्ट पदार्थों की ममता, मूर्च्छा, आसक्ति एवं वासना से उसका चारित्र खोखला होने लगता है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार चारित्र शुद्धि हेतु कहते हैं—**विगयगेही**। इसका संस्कृत रूपान्तर **'विगतगृद्धिः'** के बदले **विगतगेही** भी हो सकता है, जिसका अर्थ होता है—गृहस्थों से या घर से जिसका ममत्व-सम्बन्ध हट गया है, ऐसा साधु।[२६]

३. रत्नत्रयरूप मोक्ष साधन का संरक्षण करे—साधु दीक्षा लेते समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं पंचमहाव्रतादि रूप सम्यक् चारित्र अंगीकार कर लेता है। इनकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है, किन्तु बाद में हीनाचार, संसर्ग, शिथिल वातावरण आदि के कारण प्रमादी बन जाता है, वह लापरवाही करने लगता है, बाहर से वेष साधु का होता है, क्रिया भी साधु की करता है, किन्तु प्रमादी होने के कारण सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में दोष लगाकर मलिन करता जाता है। अतः शास्त्रकार चारित्र शुद्धि की दृष्टि से कहते हैं—**आयाणं संरक्खए**—अर्थात् जिसके द्वारा मोक्ष का आदान—ग्रहण हो, वह आदान या आदानीय ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय है।[२७] उस मोक्षमार्ग—कर्मबन्धन से मुक्ति के साधन का सम्यक् प्रकार से रक्षण करना—उसे सुरक्षित रखना चाहिए। रत्नत्रय की उन्नति या वृद्धि हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिए।

४. इर्यादि समितियों का पालन करे—साधु को अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति (गमनागमन, आसन, शयन, भोजन, भाषण, परिष्ठापन, निक्षेपण आदि हर क्रिया) विवेकपूर्वक करनी चाहिए। अगर वह अपनी प्रवृत्ति विवेकपूर्वक नहीं करेगा तो उसकी प्रवृत्ति, हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील, परिग्रह आदि दोषों से दूषित होनी सम्भव है, ऐसी स्थिति में उसका चारित्र विराधित—खण्डित हो जायेगा, उसके महाव्रत दूषित हो जायेंगे। अतः चारित्र शुद्धि की दृष्टि से इर्या समिति; आदाननिक्षेपण समिति एवं एषणा समिति को अप्रमत्ततापूर्वक पालन करने का संकेत है। उपलक्षण से यहाँ भाषासमिति और परिष्ठापना समिति का संकेत भी समझ लेना चाहिए। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'चरियाऽऽसणसेज्जासु भत्तपाणे य अंतसो'**—अर्थात्—चर्या एवं आसन (चलने-फिरने एवं बैठने आदि) में सम्यक् उपयोग रखे—इर्यासमिति का पालन करे, तथा शय्या (सोने तथा शयनीय बिछौने, पट्टे आदि) का भलीभाँति प्रतिलेखन (अवलोकन) प्रमार्जन करे—आदान निक्षेपणा समिति का पालन करे, एवं निर्दोष आहारपानी ग्रहण-सेवन का ध्यान रखे—एषणासमिति का पालन करे। आहारपानी के लिए जब भिक्षाटन करेगा—गृहस्थ के घर में प्रवेश करेगा, तब भाषण-सम्भाषण होना भी सम्भव है, तथा आहार-पानी का सेवन करने पर उच्चार-प्रस्रवण भी अवश्यम्भावी है, इसलिए इन दोनों में विवेक के लिए एषणासमिति के साथ ही भाषा समिति और परिष्ठापन समिति का भी समावेश यहाँ हो जाता है।

---

२६ विगता अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्याऽसौ विगतगृद्धिः साधुः।

२७ 'आदीयते····मोक्षो येन तदादानीयं—ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयम्।"—सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५२

५. **इन तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे**—पूर्व गाथा में क्रियापद नहीं है, इसलिए ८७वीं सूत्र गाथा के पूर्वार्द्ध में शास्त्रकार ने यह पंक्ति प्रस्तुत की है कि **एतेहिं तिहिं ठाणेहिं संजते सततं मुणी**—अर्थात्—इन (पूर्वोक्त) तीन स्थानों (समितियों) में मुनि सतत सम्यक् प्रकार से यतनाशील रहे। इससे प्रतिक्षण अप्रमत्त होकर रहना भी सूचित कर दिया है।

६. **कषाय-चतुष्टय का परित्याग करे**—कषाय भी कर्मवन्ध का एक विशिष्ट कारण है। कषाय मुख्यतया चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। साधु जीवन में कोई भी कषाय भड़क उठेगा, या तीव्र हो जायेगा, वह सीधा चारित्र का घात कर देगा। बाहर से उच्च क्रिया पालन करने पर भी साधक में अभिमान, कपट, लोभ (आसक्ति) या क्रोध की माता घटने के वजाय वढ़ती गई तो वह उसके साधुत्व को चौपट कर देगी, साधु धर्म का मूल चारित्र है, वह कषाय विजय न होने से दूषित हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—"**उक्कसं जलणं णूमं मज्झत्थं च विगिंचए**'—मान, क्रोध, माया और लोभ का परित्याग करे, इन चारों के लिए क्रमशः इन चार पदों का प्रयोग किया गया है।[२८]

७. **साधु सदा समित होकर रहे**—यद्यपि वृत्तिकार '**समिते सदा साहू**' इस विवेकसूत्र का अर्थ करते हैं कि 'साधु पंच समितियों से समित—युक्त हो।'[२९]

८. **पंच महाव्रत रूप संवर से संवृत्त हो**—पाँच महाव्रत कहें या प्राणातिपात-विरमण आदि पाँ संवर कहें, बात एक ही है। ये पंच संवर कर्मास्रव को रोकने वाले हैं, कर्मबन्ध के निरोधक हैं। दूस शब्दों में कहें तो साधु-जीवन के ये पंच प्राण हैं। इनके बिना साधु-जीवन निष्प्राण हैं। इसलिए साधु क चाहिए कि चारित्र के मूलाधार, इन पाँच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) क प्राणप्रण से सुरक्षित (गुप्त) रखें। अन्यथा चारित्रशुद्धि तो दूर रही, चारित्र का ही विनाश हो जायेगा इसीलिए शास्त्रकार ने विवेकसूत्र बताया "**पंचसंवर संवुडे**।"[३०]

९. **गृहपाश-बद्ध गृहस्थों में आसक्त न हो**—यह विवेकसूत्र भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्थविरकल्पी साधु को आहार, पानी, आवास, प्रवचन आदि को लेकर बार-बार गृहस्थ वर्ग से सम्पर्क आता है। ऐसी स्थिति में उससे सम्वन्ध रखे बिना कोई चारा नहीं, किन्तु साधुगृहस्थों से—गृहस्थ के पत्नी, पुत्र, माता-पिता आदि पारिवारिकजनों से सम्पर्क रखते हुए भी उनके मोहरूपी पाश-बन्धनों में न फँसे, वह राग-द्वेषादिवश गृहस्थ वर्ग की झूठी निन्दा-प्रशंसा, चाटुकारी आदि न करे, न ही उसके समक्ष दीनता-हीनता

---

२८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५२
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २७९

२९ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५२
(ख) देखिये आचारांगसूत्र में 'समित' के तीन अर्थ—(१) समिते एयाणुपस्सी (आचा० १।२।३।७६) समिते—सम्यग्दृष्टिसम्पन्न, (२) "....उवसंते समिते सहिते....।"-(१।३।२।११६) समिते=सम्यक्‌प्रवृत्त। "अहियासए सदा समिते"....समिते—समभाव में प्रवृत्त-युक्त होकर (आचा० १।९।२।२८६)

३० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ५२
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या आ० १ पृ० २७९

प्रकट करे, उससे किसी प्रकार का मोह सम्बन्ध भी न रखे। उससे निर्लिप्त, अनासक्त, निःस्पृह और निर्मोह रहने का प्रयत्न करे, अन्यथा उसका पंच महाव्रत रूप चारित्र खतरे में पड़ सकता है, आचार शैथिल्य आने की सम्भावना है, वह समाज (गृहस्थ वर्ग) के बीच रहता हुआ भी उसके गार्हस्थ्य प्रपंच (व्यवसाय या वैवाहिक कर्म आदि) से जलकमलवत् निर्लिप्त रहे। इसीलिए चारित्रशुद्धि हेतु शास्त्रकार कहते हैं—**'सितेहिं असिते भिक्खू'**—अर्थात् भिक्षु गृहपाशादि में सित-बद्ध-आसक्त गृहस्थों में असित—अनवबद्ध अर्थात् मूर्च्छा न करता हुआ जल-कमलवत् अलिप्त होकर रहे।[31]

१०. **मोक्ष होने तक संयम में उद्यम करे**—यह अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण विवेकसूत्र है। चारित्र पालन के लिए साधु को तन-मन-वचन से होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति में सावधान रहना आवश्यक है। उसे प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम में दृढ़ रहना है। मुक्त होने के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप संयम में सतत उद्यम करते रहना है, उसकी कोई भी प्रवृत्ति कर्मबन्धनयुक्त न हो, प्रत्येक प्रवृत्ति कर्मबन्धन से मुक्ति के लिए हो। प्रवृत्ति करने से पहले उसे उस पर भलीभाँति चिन्तन कर लेना चाहिए कि मेरी इस प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होगा या कर्म-मोक्ष? अगर किसी प्रवृत्ति के करने से सस्ती प्रतिष्ठा या क्षणिक वाहवाही मिलती हो, अथवा प्रसिद्धि होती हो, किन्तु वह कर्मबन्धनकारक हो तो उससे दूर रहना उचित है। किसी प्रवृत्ति के करने से मोक्षमार्ग का मुख्य अंग—चारित्र या संयम जाता है, नष्ट होता है, तो उसे भी करने का विचार न करे। अथवा इस विवेक सूत्र का यह आशय भी सम्भव है कि मोक्ष होने तक बीच में साधनाकाल में कोई परीषह, उपसर्ग, संकट या विषम परिस्थिति आ जाए, तो भी साधु अपने संयम में गति-प्रगति करे, वह संयम (चारित्र) को छोड़ने का कतई विचार न करे। जैसे सत्त्वशाली प्रवासी पथिक जब तक अपनी इष्ट मंजिल नही पा लेता, तब तक चलना बन्द नहीं करता, या नदी तट का अन्वेषक जब तक नदी तट न पाले, तब तक नौका का परित्याग नहीं करता, इसी तरह जब तक समस्त दुःखों (कर्मों) को दूर करने वाले सर्वोत्तम सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति न हो जाये तब तक मोक्षार्थी को संयम-पालन करना चाहिए। अन्यथा, कर्मबन्धन काटने के लिए किया गया उसका अब तक का सारा पुरुषार्थ निष्फल हो जायेगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**"आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।"** निष्कर्ष यह है कि समस्त कर्मों के क्षय (मोक्ष) के लिए सतत संयम में पराक्रम करता रहे; ऐसा करना चारित्र शुद्धि के लिए आवश्यक है।[32]

---

३१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५२

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २८०

(ग) सितेहिं—सितेषु गृहपाशादिषु सिताः-बद्धाः-आसक्ताः ये ते सिताः-गृहस्थास्तेषु गृहस्थेषु असितः-अनवबद्धः-मूर्च्छामकुर्वाणः। यथा पंके जायमाने जले च वर्धमानमपि कमलं न पंकेन जलेन वा स्पृष्टं भवति, किन्तु निर्लिप्तमेव तिष्ठति जलोपरि, तथैव तेषु सम्बन्धरहितो भवेत्।"

—सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी भा० १ पृ० ४५९

३२ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २८०

(ख) सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका भा० १ पृ० ४६०-४६१

(ग) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति; भाषानुवाद सहित भा० १ पृ १६१

कठिन शब्दों की व्याख्या—उक्कसं=उत्कर्ष—जिससे मनुष्य उकसा जाए—गर्वित हो जाए वह उत्कर्ष—मान। जलणं=जिससे व्यक्ति अन्दर ही अन्दर जलता है, वह जलन यानी क्रोध। णूमं=नूथ का अर्थ है—जो प्रच्छन्न-अप्रकट-गहन-गूढ़ हों; वह माया। मज्झत्थं=मध्यस्थ—अर्थात् जो सारे संसार के प्राणियों के मध्य-अन्तर में रहता है, वह मध्यस्थ—लोभ। अथवा मज्झत्थं के बदले 'अज्झत्थं' पाठान्तर मानकर चूर्णिकार अर्थ करते हैं—'अज्झत्थो णाम अभिप्रेयः, स च लोभः''—अध्यस्थ यानी अभिप्रेत (अभीष्ट) और वह है लोभ।[33]

चतुर्थ उद्द शक समाप्त

सूत्रकृतांग सूत्र प्रथम अध्ययन : समय—समाप्त

□□

वैतालीय—द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

- ☐ सूत्रकृतांगसूत्र (प्र० श्रु०) के द्वितीय अध्ययन का नाम 'वैतालीय' है।
- ☐ प्राकृत में इसका नाम वेयालीय है, संस्कृत में उसके दो रूप होते हैं—वैतालीय और वेदारिक, जिन्हें निर्युक्तिकार, चूर्णिकार और वृत्तिकार तीनों स्वीकार करते हैं।
- ☐ कर्मों के या कर्मों के बीज—रागद्वेष-मोह के संस्कारों के विदार (विदारण-विनाश) का उपदेश होने से इस अध्ययन को वैदारिक कहा गया है। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में **'वेयालिय-मग्गमागओ'** का अर्थ चूर्णि और वृत्ति में 'कर्म-विदारण, का अथवा कर्म-विदारक भगवान महावीर का मार्ग' किया गया है।
- ☐ इस अध्ययन की रचना वैतालीय वृत्त (छन्द) में की गई है, इस कारण भी इस अध्ययन का नाम 'वैतालीय' है।[1]
- ☐ मोहरूपी वैताल (पिशाच) साधक को सामाजिक, पारिवारिक, शारीरिक, मानसिक, आदि रूप में कैसे-कैसे पराजित कर देता है? उससे कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे बचना चाहिए?, इस प्रकार मोह वैताल-सम्बन्धी वर्णन होने के कारण इसका नाम वैतालीय या वैतालिक सार्थक है।[2]

---

१ (क) वेयालियं इह देसियंति, वेयालियं तओ होइ।
वेयालियं तहा वित्तमत्थि, तेणेव य णिबद्धं॥
—सूत्रकृ० निर्युक्ति गाथा ३८

(ख) वैयालियमग्गमागओ—कर्मणां विदारणमार्गमागतो भूत्वा……। —सूत्र कृ० शीलांक वृत्ति पत्र ५६

(ग) "विदार का अर्थ है—विनाश। यहाँ रागद्वेष रूप संस्कारों का विनाश विवक्षित है। जिस अध्ययन में रागद्वेष के विदार का वर्णन हो, उसका नाम है वैदारिक।"
—जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४०

(घ) "वैतालीयं र्लगनैर्धनाः षड्युक्पादेऽष्टौ समे च लः।
न समोऽत्र परेण युज्यते, नेतः षट् च निरन्तरा युजोः॥"
—जिस वृत्त (छन्द) के प्रत्येक पाद के अन्त में रगण, लघु और गुरु हों, तथा प्रथम और तृतीय पाद में ६-६ मात्राएँ हों, एवं द्वितीय और चतुर्थ पाद में ८-८ मात्राएँ हों, तथा समसंख्या वाला लघु परवर्ण से गुरु न किया जाता हो, एवं दूसरे व चौथे चरण में लगातार छह लघु न हों, उसे वैतालीय छन्द कहते हैं।
—सूत्र शी० वृत्ति पत्रांक ५३

२ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २८२ के आधार पर
(ख) जैन-आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ० ८१ के आधार पर

- अष्टापद पर्वत पर विराजमान भगवान् ऋषभदेव ने मार्गदर्शन के लिए अपने समीप समागत ९८ पुत्रों को जो प्रतिबोध दिया था, जिसे सुनकर उनका मोहभंग हो गया, वे प्रतिबुद्ध होकर प्रभु के पास प्रव्रजित हो गए, वह प्रतिबोध इस अध्ययन में संगृहीत है[3], ऐसा निर्युक्तिकार का कथन है।
- यहाँ द्रव्य विदारण का नहीं, भाव विदारण का प्रसंग है। दर्शन, ज्ञान, तप, संयम आदि भाव विदारण हैं, कर्मों को या राग-द्वेष-मोह को विदारण (नष्ट) करने का सामर्थ्य इन्हीं में है।[४]
- भाव विदारण के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत अध्ययन के तीन उद्देशकों में वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन वैशालिक ज्ञातपुत्र महावीर भगवान् द्वारा किया गया है, जिसका उल्लेख अध्ययन के अन्त में है।[५]
- प्रथम उद्देशक में सम्बोध (हित-प्राप्ति और अहित-त्याग के सम्यक् बोध) और संसार की अनित्यता का उपदेश है।
- द्वितीय उद्देशक में मद, निन्दा, आसक्ति आदि के त्याग का तथा समता आदि मुनिधर्म का उपदेश है।
- तृतीय उद्देशक में अज्ञान-जनित कर्मों के क्षय का उपाय, तथा सुखशीलता, काम-भोग, प्रमाद आदि के त्याग का वर्णन है।
- प्रथम उद्देशक में २२, द्वितीय उद्देशक में ३२ और तृतीय उद्देशक में २२ गाथाएँ हैं। इस प्रकार इस वैतालीय या वैदारिक अध्ययन में कुल ७६ गाथाएँ हैं, जिनमें मोह, असंयम, अज्ञान, राग-द्वेष आदि के संस्कारों को नष्ट करने का वर्णन है।[६]
- सूत्र गाथा संख्या ८९ से प्रारम्भ होकर सूत्रगाथा १६४ पर द्वितीय अध्ययन समाप्त होता है।

---

३ (क) कामं तु सासणमिणं कहियं अट्ठावयंमि उसभेणं।
अट्ठाणंउति सुयाणं सोऊण ते वि पव्वइया॥ —सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ३९

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५३

४ "भावविदारणं तु दर्शन-ज्ञान-तपः-संयमाः, तेषामेव कर्मविदारणे सामर्थ्यमित्युक्तं भवति। विदारणीयं···· पुनरष्टप्रकारं कर्मेति····।" सूत्र० शी० वृत्ति, पत्रांक ५३

५ "वेसालिए वियाहिए।" —सूत्र शी० वृत्ति भाषानुवादसहित भा० १ पृ० ३००

६ (क) पढमे संबोहो अणिच्चया य, बीयंमि माणवज्जणया।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ॥ ४०॥
उद्देसंमि य तइए अन्नाणचियस्स अवचओ भणिओ।
वज्जेयव्वो य सया सुहप्पमाओ जइजणेणं॥ ४१॥ —सूत्र कृ० निर्युक्ति

(ख) जैन-अगम-साहित्य: मनन और मीमांसा पृ० ८१

बिइयं अज्झयणं 'वेयालियं'

पढमो उद्देसओ

वैतालीय : द्वितीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

भगवान् ऋषभदेव द्वारा अठानवें पुत्रों को सम्बोध –

८९. संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति रातिओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥ १ ॥

९०. डहरा वुड्ढा य पासहा, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टती ॥ २ ॥

९१. मातांहि पितांहि लुप्पति, णो सुलभा सुगई वि पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वते ॥ ३ ॥

९२. जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहती, णो तस्सा मुच्चे अपुट्ठवं ॥ ४ ॥

८९. (हे भव्यो !) तुम बोध प्राप्त करो। बोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? (मरने के पश्चात्) परलोक में सम्बोधि प्राप्त करना अवश्य ही दुर्लभ है। बीती हुई रातें लौटकर नहीं आतीं, और संयमी जीवन फिर (पुनः पुनः) सुलभ नहीं है।

९०. छोटे बच्चे, बूढ़े और गर्भस्थ शिशु भी अपने जीवन (प्राणों) को छोड़ देते हैं, मनुष्यों ! यह देखो ! जैसे बाज बटेर पक्षी को (झपट कर) मार डालता है; इसी तरह आयुष्य क्षय (नष्ट) होते ही (मृत्यु भी प्राणियों के प्राण हर लेती है, अथवा) जीवों का जीवन भी टूट (नष्ट हो) जाता है।

९१. कोई व्यक्ति माता-पिता आदि (के मोह में पड़कर, उन्हीं) के द्वारा मार्ग भ्रष्ट कर दिया जाता है, या वे संसार-परिभ्रमण कराते हैं। उन्हें मरने पर (परलोक में) सुगति (मनुष्यगति या देवगति) सुलभ नहीं होती—आसानी से प्राप्त नहीं होती। इन भयस्थलों (खतरों) को देख जानकर व्यक्ति सुव्रती (व्रतधारी) बनकर आरम्भ (हिंसादि जनित भयंकर पापकर्म) से विरत-निवृत्त हो जाय।

९२. क्योंकि (मोहान्ध होकर सावद्य कार्यों से अविरत) प्राणी इस संसार में अलग-अलग अपने-अपने (स्वयं) किये हुए कर्मों के कारण दुःख पाते हैं, तथा (स्वकृत कर्मों के ही फलस्वरूप) नरकादि यातना स्थानों में जाते हैं। अपने कर्मों का स्वयं फलस्पर्श किये (फल भोगे) विना (उनसे) वे छूट (मुक्त) नहीं (हो) सकते।

विवेचन—सम्बोधि प्राप्ति का उपदेश—इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत ने जब अपने ९८ लघु भ्राताओं को अधीनता स्वीकार करने का संदेश भेजा, तब वे मार्गदर्शन के लिए प्रथम तीर्थंकर पितामह भगवान ऋषभदेव की सेवा में पहुंचे और हम क्या करें ?' का समाधान पूछा। तब आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव अपने गृहस्थपक्षीय पुत्रों को लक्ष्य करके विभिन्न पहलुओं से त्याग, वैराग्य का बोध प्राप्त करने का उपदेश देते हैं, जो इस उद्देशक में संकलित है। प्रस्तुत चतुःसूत्री में वे चार तथ्यों का बोध देते हैं—

(१) यहीं और अभी जीते जी बोध प्राप्त कर लो, परभव में पुनः बोध-प्राप्ति सुलभ नहीं,
(२) मृत्यु सभी प्राणियों की निश्चित है,
(३) माता-पिता आदि का मोह सुगति से वंचित कर देगा,
(४) मोहान्ध जीव अपने दुष्कृत कर्मों के फलस्वरूप स्वयं दुःखित एवं दुर्गतियों में पीड़ित होते हैं।

सम्बोध क्या और वह दुर्लभ क्यों—प्रथम गाथा (सूत्र ८९) में यथाशीघ्र सम्बोध प्राप्त करने की प्रेरणा दी गयी है वह सम्बोध क्या है ? वृत्तिकार कहते हैं—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र, इस रत्नत्रय रूप उत्तम धर्म का बोध ही सम्बोध है।

पहले तो मनुष्य जन्म प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति के साथ आर्य देश, कर्म भूमि, उत्तम कुल, कार्यक्षम पांचों इन्द्रियाँ, स्वस्थ शरीर, दीर्घायु, नीरोगता तथा उत्तम सद्धर्म की प्राप्ति आदि अनेक दुर्लभ घाटियाँ पार करने के बाद भी मनुष्य प्रमाद में पड़ जाये तो सद्धर्म श्रवण और उस पर श्रद्धा करना अत्यन्त कठिन है। जब तक व्यक्ति सद्धर्म का श्रवण और उस पर श्रद्धा न कर ले, तब तक सम्बोध प्राप्ति भी दूर है, ऐसा समझकर ही सम्बोध दुर्लभतम बताया है।

सद्धर्म-श्रवण से पहले ही दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त होने पर अधिकांश लोग सोचने लगते हैं कि परलोक में बोध प्राप्त कर लेंगे, अभी क्या जल्दी है ? उसका निराकरण करते हुए कहा गया है—'**नो सुलहं पुणरावि जीवियं**' अर्थात् यह मनुष्य जीवन अथवा संयमी जीवन पुनः मिलना सुलभ नहीं है।

दो कारण से मनुष्य वर्तमान में प्राप्त उत्तम अवसर को आगे पर टालता है—(१) देवलोक या पुनः मनुष्य लोक मिलने की आशा से, अथवा (२) इस जन्म में भी वृद्धावस्था आने पर या भोगों से तृप्त हो जाने पर, परन्तु शास्त्रकार स्पष्ट कह देते हैं कि यह निश्चित नहीं है कि तुम्हें मरने के बाद देवलोक मिलेगा ही ! तिर्यञ्चगति या नरकगति मिल गई तो वहाँ सम्बोध पाना प्रायः असम्भव-सा है। देवगति मिल गई तो भी वहाँ सम्यग्दर्शन बोध उसी को प्राप्त होता है, जो मनुष्य-जन्म में उत्तम धर्मकरणी करते हैं, और बड़ी कठिनता से अगर वहाँ सम्बोध मिल भी गया तो भी देवता धर्माचरण या संयमी जीवन स्वीकार नहीं कर सकते, उसे मनुष्य ही कर सकते हैं। मनुष्य जन्म भी तभी मिलता है, जबकि प्रकृति भद्रता, विनीतता, सहृदयता एवं दया भाव हो। मान लो, मनुष्य जन्म मिल भी गया तो भी पूर्वोक्त विकट घाटियाँ पार होनी अत्यन्त कठिन है, फिर यदि मनुष्य जन्म को भी विषय-भोगों में फँसकर खो दिया अथवा बुढ़ापा आदि आने पर धर्म-बोध पाने की आशा से कुछ किया नहीं, यों ही हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे—क्या पता है, बुढ़ापा आयेगा या नहीं ? मान लो, बुढ़ापा भी आ गया, तो भी उस समय मनोवृत्ति कैसी होगी ? धर्म-श्रवण की जिज्ञासा होगी या नहीं? सद्धर्म पर श्रद्धा होगी या नहीं ?

किसे पता है ? और फिर बुढ़ापे में जब इन्द्रियाँ क्षीण हो जायेगी, शरीर जर्जर हो जायेगा धर्माचरण या संयम पालन करने की शक्ति नहीं रह जायेगी। इसलिए शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि संयमयुक्त मानव जीवन पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है। 'णो हूवणमंति राइओ' इस बोध वाक्य का भी आशय यही है कि बीता हुआ समय या अवसर लौटकर नहीं आता। इसलिए इस जन्म में भी जो क्षण बीत गया है, वह वापस लौटकर नहीं आयेगा, और न यह भरोसा है कि इस क्षण के बाद अगले क्षण तुम्हारा जीवन रहेगा या नहीं ? जीवन के इस परम सत्य को प्रकट करते हुए कहा गया है—"संबुज्झह, किं न बुज्झह ?" इसका आशय यही है कि इसी जन्म में और अभी बोध प्राप्त कर लो। जब इतने सब अनुकूल संयोग प्राप्त है तो तुम बोध क्यों नहीं प्राप्त कर लेते ?

भगवान् ऋषभदेव का यह वैराग्यप्रद उपदेश समस्त भव्य मानवों के राग-द्वेष-मोह-विदारण करने एवं बोध प्राप्त करने में महान् उपयोगी है। केनोपनिषद् में भी इसी प्रकार की प्रेरणा है— "यहां जो कुछ (आत्मज्ञान) प्राप्त कर लिया, वही सत्य है, अगर यहाँ उसे (आत्मादि तत्त्व को) नहीं जाना तो (आगे) महान् विनाश है।"[1]

द्रव्य सम्बोध की अपेक्षा भाव सम्बोध दुर्लभतर—द्रव्यनिद्रा से जागना द्रव्य सम्बोध है, और भाव-निद्रा (ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शून्यता या प्रमाद) से जागना भाव सम्बोध है, जिसे प्राप्त करने की ओर शास्त्रकार का इंगित है; क्योंकि द्रव्य सम्बोध की अपेक्षा भाव सम्बोध दुर्लभ है। यहाँ निर्युक्तिकार ने द्रव्य और भाव से जागरण और शयन को लेकर चतुर्भंगी सूचित की है—(१) एक साधक द्रव्य से सोता है, भाव से जागता है, (२) दूसरा द्रव्य से जागता है, भाव से सोता है, (३) तीसरा साधक द्रव्य से भी सोता है, भाव से भी, और (४) चौथा साधक द्रव्य और भाव दोनों से जागता है; यह चतुर्थभंग है और यही सर्वोत्तम है। इसके बाद प्रथम भंग ठीक है। शेष दोनों भंग निकृष्ट है।[2]

मृत्यु किसी को, किसी अवस्था में नहीं छोड़ती—वीतराग केवली चरमशरीरी या तीर्थंकर आदि इने-गिने महापुरुषों के सिवाय मृत्यु पर किसी ने भी विजय प्राप्त नहीं की। आयुष्य की डोरी टूटते ही मृत्यु निश्चित है। जैसे—बाज बटेर पर झपटकर उसका जीवन नष्ट कर देता है, वैसे ही मृत्यु आयुष्य क्षय होते ही मनुष्य जीवन पर टूट पड़ती है। इसी आशय से दूसरी गाथा में कहा गया है—**डहरा बुड्ढाय ....आउक्खयम्मि तुट्टइ।'**

मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाने पर भी मृत्यु निश्चित है, वह कब आकर गला दबोच देगी, यह निश्चित नहीं है, इसलिए सम्बोध प्राप्त करने तथा धर्माराधना करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए, यह आशय इस गाथा में गर्भित है।

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ५४ के आधार पर
(ख) इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीन्महती विनष्टिः —केनोपनिषद्

२ (क) दव्वं निद्दावेओ दंसणणाणतवसंजमा भावे।
अहिगारी पुण भणिओ, णाणे तव-दंसण-चरित्ते ॥ —सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा० ४२
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद भाग १, पृ० १९९

माता-पिता आदि का मोह दुर्गति से नहीं बचा पाता—कई लोग यह सोच लेते हैं कि माता-पिता के कारण हम तर जायेंगे। इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुये ततीय गाथा (९१) में कहा गया है—**'मायाहिं पियाहिं लुप्पई।'** /

एआइं भयाइं पेहिया..........सुव्वए—इस पंक्ति का आशय यह है कि माता-पिता आदि स्वजनों के मोह से विवेक विकल होकर उनके निमित्त से नाना पापकर्म करने से दुर्गतिगमनादि जो खतरे पैदा होते हैं, उन्हें जान-देखकर (कम-से-कम) व्रतधारी-श्रावक बनकर उक्त निरर्थक आरम्भादि सावद्य (पाप) कार्यों से रुके—बचे।

यहाँ माता-पिता आदि की गृहस्थ श्रावक-धर्मोचित सेवा आज्ञापालन आदि कर्तव्य-पालन का निषेध नहीं किया है, किन्तु उनके प्रति मोहान्ध होकर श्रावक धर्म विरुद्ध अन्ध-परम्परागत हिंसाजनक कुप्रथाओं का पालन करने तथा पशुबलि, मदिरापानादि दुर्व्यसन, हिंसा, झूठ, चोरी, लूटपाट, डकैती, गिरहकटी आदि भयंकर पापकर्म से बचने की प्रेरणा दी गई है।

स्वकृत कर्मों का फलभोग स्वयं को ही करना होगा—पूर्वगाथा के सन्दर्भ में "माता-पिता आदि पारिवारिकजनों के लिए किये गये पापकर्म का फल स्वयं (पुत्र) को नहीं भोगना पड़ेगा", इस भ्रान्ति के शिकार व्यक्तियों को लक्ष्य में रखकर चतुर्थ गाथा (सू० ९२) में कहा गया है—"जमिणं जगती ...मुच्चे अपुट्ठवं :" इसका आशय यह है कि जगत् में समस्त प्राणियों के कर्म पृथक्-पृथक् हैं, उन स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप व्यक्ति स्वयं ही यातना स्थानों में (फल भोगने के लिए) जाता है। कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं हो सकता। इस गाथा में तीन रहस्यार्थ छिपे हैं—(१) पुत्रादि के बदले में माता-पिता आदि उन पुत्रादि-कृतकर्मों का फल नहीं भोगेंगे, (२) सबके कर्म सम्मिलित नहीं है कि एक के बदले दूसरा उस कर्म का फल भोग ले, इसलिए व्यक्ति को स्वयं ही स्वकृत कर्मफल भोगना पड़ेगा। (३) स्वकृत कर्मफल से छुटकारा न तो माता-पिता आदि स्वजन दिला सकेंगे, न देवता, ईश्वर या कोई विशिष्ट शक्तिशाली व्यक्ति ही दिला सकेंगे, स्वकृत कर्म से छुटकारा व्यक्ति स्वयं ही कर्मोदय के समय समभाव से भोगकर पा सकेगा। अथवा अहिंसा, संयम (महाव्रत ग्रहण) एवं विशिष्ट तपस्या से उन कर्मों की निर्जरा किए विना उन (कर्मों) से छुटकारा नहीं हो सकेगा।[3]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**पेच्च**=परलोक में जाने पर। '**णो हूवणमंति रातिओ**=निःसन्देह रात्रियाँ (व्यतीत समय) वापस नहीं लौटती, **डहरा**=छोटे बच्चे। **चयंति**=जीवन या प्राणों को छोड़ देते हैं। **सेणे**=श्येनबाज। **वट्टयं**=वर्तक=बतक या बटेर पक्षी। **हरे**=मार डालता है। **माताहि पिताहि लुप्पति, णो सुलभा सुगई वि पेच्चओ**=कोई व्यक्ति माताओं (माता, दादी, नानी, चाची, ताई, मौसी, मामी आदि) तथा पिताओं (पिता, दादा, ताऊ, चाचा, नाना, बाबा, मौसा, मामा आदि) के मोह में पड़कर धर्म आचरण से विरत हो जाता है, उसे उन्हीं के द्वारा संसार भ्रमण कराया जाता है। परलोक में उसके लिए सुगति

---

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ५५ के आधार पर

(ख) स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

भी सुलभ नहीं है। किसी प्रति में **मायाइ पियाइ लुप्पति**···पाठान्तर है, अर्थ होता है—माता के द्वारा, या पिता के द्वारा धर्ममार्ग से भ्रष्ट कर दिया जाता है। चूर्णिकार ने नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर सूचित किया है—"**मातापितरो य भातरो विलभेज्ज सुकेण पच्चए।**" पुत्रादि के बदले माता, पिता, पितामहादि या भाई आदि भी मरने के बाद परलोक में कैसे उनके कर्मफल प्राप्त कर सकते हैं? या पुत्रादि को माता-पिता आदि परलोक में कैसे प्राप्त हो सकते हैं? **पेहिया**=देखकर, चूर्णि में पाठान्तर है—देहिया। अर्थ समान है। **सुव्वते**=सुव्रत—श्रेष्ठ व्रतधारी बनकर। वृत्तिकार इसके बदले 'सुट्ठिते' पाठान्तर सूचित करके व्याख्या करते हैं—भली भाँति धर्म में स्थित—स्थिर होकर। **जमिणं**=क्योंकि जो पुरुष सावद्य-अनुष्ठानों से निवृत्त नहीं होते, उनकी यह दशा होती है। **पुढो**=पृथक्-पृथक्। **जगा पाणिणो**=जीवधारी प्राणी। **लुप्पंति**=विलुप्त-दुःखित होते हैं। **गाहती**=नरकादि यातना स्थानों में अवगाहन करते हैं—भटकते हैं। अथवा उन दुःख हेतुक कर्मों का गाहन-वर्धन (वृद्धि) करते हैं। '**णो तस्सा मुच्चे अपुट्ठवं**'=अशुभाचरण जन्य पापकर्मों के विपाक से अस्पृष्ट—अछुए रहकर (भोगे बिना) वे मुक्त नहीं हो सकते।[४]

अनित्यभाव-दर्शन

६३ देवा गंधव्व-रक्खसा, असुरा भूमिचरा सिरीसिवा।
राया नर-सेट्ठि-माहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया ॥ ५ ॥

६४ कामेहि य संथवेहि य, गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बंधणच्चुते, एवं आउखयम्मि तुट्टती ॥ ६ ॥

६३. देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर (भूमि पर चलने वाले), सरीसृप (सरक कर चलने वाले सांप आदि तिर्यंच), राजा, मनुष्य, नगरसेठ या नगर का श्रेष्ठ पुरुष और ब्राह्मण, ये सभी दुःखित हो कर (अपने-अपने) स्थानों को छोड़ते हैं।

६४. काम-भोगों (की तृष्णा) में और (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि)परिचितजनों में गृद्ध-आसक्त प्राणी (कर्मविपाक के समय) अवसर आने पर अपने कर्म का फल भोगते हुए आयुष्य के क्षय होने पर ऐसे टूटते (मर जाते) हैं, जैसे बन्ध से छुटा हुआ तालफल (ताड़ का फल) नीचे गिर जाता है।

विवेचन—सभी प्राणियों के जीवन की अस्थिरता एवं अनित्यता—प्रस्तुत दो गाथाओं में दो पहलुओं से जीवन की समाप्ति बताई है—(१) चारों ही गति के जीवों के स्थान अनित्य हैं, (२) आसक्त प्राणी आयुष्य क्षय होते ही समाप्त हो जाते हैं। **सभी स्थान अनित्य** हैं—संसार में कोई भी गति, योनि पद, शारीरिक स्थिति या आर्थिक स्थिति आदि स्थायी नहीं है, चाहे वह देवगति का किसी भी कोटि का देव हो, चाहे मनुष्य गति का किसी भी श्रेणी का मानव हो, चाहे तिर्यञ्चगति का किसी भी जाति का विशालकाय जन्तु हो, अथवा और कोई हो, सभी को मृत्यु आते ही, अथवा अशुभ कर्मों का उदय होते ही अपनी पूर्व स्थिति विवश व दुःखित होकर छोड़नी पड़ती है, इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**देवा गंधव्व-**

---

४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति ५४
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १६

रक्खसा····चयंति दुक्खिया। आशय यह है—मनुष्य भ्रान्तिवश यह सोच लेता है कि मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य ही बनता है, अतः मुझे फिर यही गति मिलेगी, अथवा मैं राजा, नगरसेठ या ब्राह्मण आदि पद पर वर्ण—जाति में सदैव स्थायी रहूँगा, या मेरी वर्तमान सुखी स्थिति, यह परिवार, धन, धाम आदि सदैव ऐसे ही बने रहेंगे, परन्तु मृत्यु आती है, या पापकर्म उदय में आते हैं, तब सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है, सभी स्थान उलट-पलट जाते हैं। व्यक्ति अपने पूर्व स्थानों या स्थितियों के मोह में मूढ़ होकर उनसे चिपका रहता है, परन्तु जब उस स्थिति को छोड़ने का अवसर आता है, तो भारी मन से विलाप-पश्चात्ताप करता हुआ दुःखित होकर छोड़ता है, क्योंकि उसे उस समय बहुत बड़ा धक्का लगता है।[५]

देवता को अमर (न मरने वाला) बताया गया है; इस भ्रान्ति के निवारणार्थ इस गाथा में देव, गन्धर्व, राक्षस एवं असुर आदि प्रायः सभी प्रकार के देवों की स्थिति भी अनित्य, विनाशी एवं परिवर्तनशील बताई है। गीता में भी देवों की स्थिति अनित्य बताई गई है।[६]

शास्त्रकार का यह आशय गर्भित है कि सुज्ञ मानव अपनी गति, जाति, शरीर, धन, धाम, परिवार, पद आदि समस्त स्थानों को अनित्य एवं त्याज्य समझ कर इनके प्रति मोह ममता स्वयं छोड़ दे, ताकि इन्हें छोड़ते समय दुःखी न होना पड़े। वास्तव में देवों को अमर कहने का आशय केवल यही है कि वे अकालमृत्यु से नहीं मरते।

विषय-भोगों एवं परिचितों में आसक्त जीवों की दशा भी वही—इस द्वितीय गाथा में भी उसी अस्थिरता की झांकी देकर मनुष्य की इस भ्रान्ति को तोड़ने का प्रयास किया गया है कि वह यह न समझ ले कि पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का अधिकाधिक सेवन करने से तृप्ति हो जाएगी और ये विषय-भोग मेरा साथ कभी नहीं छोड़ेंगे, तथा माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सजीव तथा धन, धाम, भूमि आदि निर्जीव परिचित पदार्थ सदा ही मेरे साथ रहेंगे, ये मुझे मौत से या दुःख से बचा लेंगे। जब अशुभ कर्म उदय में आएँगे और आयुष्य क्षय हो जाएगा, तब न तो ये विषय-भोग साथ रहेंगे और न ही परिचित पदार्थ। इन सभी को छोड़कर जाना पड़ेगा, अथवा पापकर्मोदयवश भयंकर दुःख के गर्त में गिरना पड़ेगा। फिर व्यर्थ ही काम-भोगों पर या परिचित पदार्थों पर आसक्ति करके क्यों पाप कर्म का बन्ध करते हो, जिससे फल भोगते समय दुःखित होना पड़े ? **'कामेहि संथवेहि····तुट्टती'** गाथा का यही आशय है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—राया=चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, सम्राट्, राणा, राव राजा, ठाकुर जागीरदार आदि सभी प्रकार के शासक। **कामेहि**=इच्छाकाम (विषयेच्छा) और मदनकाम (कामभोग)

---

५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ५५ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या के आधार पर पृ० २६३

६ (क) ·········"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते········।" —कठोपनिषद् अ० १: वल्ली ३, श्लो० १२-१३
(ख) "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।"—भगवद्गीता अ० ९/२१
(ग) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २६३

में। संथवेहिय=और माता-पिता, स्त्री पुत्र आदि सजीव एवं धन, धाम, जमीन-जायदाद आदि निर्जीव परिचित पदार्थों में। कम्मसहा—वृत्तिकार के अनुसार—कर्मविपाक (कर्मफल) को सहते भोगते हुए। चूर्णिकार—'कम्मसहे' पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—कामेभ्यः संस्तवेभ्यश्च कम्मसहित्ति—कर्मभिः सह त्रुट्यतीति।' कर्मों के साथ ही आयु कर्मों के क्षय होने के साथ ही उन काम-भोगों एवं परिचित पदार्थों से सम्बन्ध टूट जाता है। अर्थात्—वुट्टती=जीवन रहित हो जाते हैं। ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया—ये सभी अपने स्थानों को दुःखित होकर छोड़ते हैं।[7]

कर्म-विपाक-दर्शन—

> ९५ जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मिए माहणे भिक्खुए सिया।
> अभिनूमकडेहि मुच्छिए, तिव्वं से कम्मेहिं किच्चती ॥ ७ ॥

> ९६ अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिण्णे इह भासती धुवं।
> णाहिसि आरं कतो परं, वेहासे कम्मेहिं किच्चती ॥ ८ ॥

९५. यदि कोई बहुश्रुत—अनेक शास्त्र पारंगत हो, चाहे धार्मिक-धर्मक्रियाशील हो, ब्राह्मण (माहन) हो या भिक्षु (भिक्षाजीवी) हो, यदि वह मायामय-प्रच्छन्न दाम्भिक कृत्यों में आसक्त (मूर्च्छित) हैं तो वह कर्मों द्वारा अत्यन्त तीव्रता से पीड़ित किया जाता है।

९६. अब तुम देखो कि जो (अन्यतीर्थी साधक) (परिग्रह का) त्याग अथवा (संसार की अनित्यता का) विवेक (ज्ञान) करके प्रव्रज्या ग्रहण करने को उद्यत होता है, परन्तु वह संसार-सागर से पार नहीं हो पाता, वह यहाँ या धार्मिक जगत् में ध्रुव—मोक्ष के सम्बन्ध में भाषण मात्र करता है। (हे शिष्य!) तुम (भी उन मोक्षवादी अन्यतीर्थियों का आश्रय लेकर) इस लोक तथा परलोक को कैसे जान सकते हो? वे (अन्यतीर्थी उभय भ्रष्ट होकर) मध्य में ही कर्मों के द्वारा पीड़ित किये जाते हैं।

विवेचन—दाम्भिक एवं भाषणशूर साधक: कर्मों से पीड़ित—प्रस्तुत गाथा द्वय में उन साधकों से सावधान रहने का संकेत किया गया है, जो मायायुक्त कृत्यों में आसक्त हैं, अथवा जो मोक्ष के विषय में केवल भाषण करते हैं, क्योंकि ये दोनों राग-द्वेष (माया-मान-कषाय) के वश होकर ऐसा करते हैं, और रागद्वेष कर्मबन्ध के बीज है, अतः वे नाना कर्मबन्ध करके कर्मोदय के समय दुःखित-पीड़ित होते हैं। इसलिए दोनों गाथाओं के अन्त में कहा गया है''''कम्मेहि किच्चति।

प्रथम प्रकार के अन्यतीर्थी साधक (बहुश्रुत, धार्मिक, ब्राह्मण या भिक्षु) अथवा अन्य साधक गृहत्यागी एवं प्रव्रजित होते हुए भी सस्ते, सुलभ मोक्ष पथ का सब्जबाग दिखाते हैं, किन्तु वे स्वयं मोक्ष-पथ से काफी दूर हैं, मोक्ष तो क्या, लोक-परलोक का भी पुण्य-पाप आदि का भी उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं है, न ही अन्तर में मोक्ष मार्ग पर श्रद्धा है, और न रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग पर चलते हैं, तब भला वे

---

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५४-५५
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृष्ठ १७

कैसे संसार सागर को पार कर सकते हैं? सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही तो मोक्षपथ है, जिसका उन्हें सम्यग्ज्ञान—बोध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि मायाचार युक्त अनुष्ठानों में अधिकाधिक आसक्ति अथवा मोक्ष का भाषण मात्र करने वाले कोई भी साधक प्रव्रजित या धार्मिक होकर कर्मक्षय करने के बदले घोर कर्मबन्धन कर लेते हैं, जो कर्मोदय के समय उन्हें अत्यन्त पीड़ा देते हैं। कदाचित् हठपूर्वक अज्ञानतप, कठोर क्रियाकाण्ड या अहिंसादि के आचरण के कारण उन्हें स्वर्गादि सुख या इहलौकिक विषय-सुख मिल भी जाएँ, तो भी वे सातावेदनीय कर्मफल भोग के समय अतीव गृद्ध होकर धर्म मार्ग से विमुख हो जायेंगे। फलतः वे सातावेदनीय कर्म भी उनके लिए भावी पीड़ा के कारण बन जायेंगे।

णाहिसि आरं कतो परं—यह वाक्य शिष्यों को पूर्वोक्त दोनों कोटि के अन्यतीर्थी साधकों से सावधान रहने के लिए प्रयुक्त है। इसका आशय यह है कि शिष्यों! यदि तुम मोक्ष और लोक से अनभिज्ञ कोरे भाषणभट्टों का आश्रय लेकर उनके पक्ष को अपनाओगे तो कैसे संसार और मोक्ष को जान सकोगे ?[९]

कठिन शब्दों की व्याख्या—अभिणूमकडेहिं मुच्छिए=अभिमुख रूप से (चलाकर) 'णूम' यानि मायाचार कृत असदनुष्ठानों में मूर्च्छित—गृद्ध।[१०] **कम्मेहिं किच्चति**=वे (पूर्वोक्त साधक) कर्मों से छेदे जाते हैं—पीड़ित किये जाते हैं। **विवेगं**=विवेक के दो अर्थ हैं—परित्याग और परिज्ञान। यहाँ कुछ अनुरूप प्रासंगिक शब्दों का अध्याहार करके इसकी व्याख्या की गयी है—परिग्रह का त्याग करके[११] या संसार की अनित्यता जानकर। **अवितिण्णे**=संसार सागर को पार नहीं कर पाते। ध्रुव=शाश्वत होने से ध्रुव यहाँ मोक्ष अर्थ में हैं। अतः ध्रुव का अर्थ है मोक्ष या उसका उपायरूप संयम।[१२]

णाहिसि आरं कतो परं=वृत्तिकार के अनुसार उन अन्यतीर्थिकों के पूर्वोक्त मार्ग का आश्रय करके आरं—इस लोक को तथा परं—परलोक को कैसे जान सकेगा? अथवा आरं यानी गृहस्थ धर्म और परं (पारं) अर्थात् प्रव्रज्या के पर्याय को····अथवा आरं यानी संसार को और परं यानी मोक्ष को····[१३] चूर्णिकार इसके बदले '**ण णेहिसि आरं परं वा**' पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—'णणेहिसित्ति····न नयिष्यसि मोक्षम् आत्मानं परं वा। तत्रात्मा आरं, परं पर एव।" अर्थात् उन अन्यतैर्थिकों के मत का आश्रय लेने पर आरं यानी आत्मा स्वयं और परं यानी पर-दूसरे को मोक्ष नहीं ले जा सकोगे। **वेहासे**=अन्तराल (मध्य) में ही, इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः होकर मझधार में ही।

---

९ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ५६ के आधार पर

१० आभिमुख्येन णूमंति कर्ममाया वा तत्कृतैरसदनुष्ठानैः मूर्च्छिता गृद्धाः।

११ विवेकं परित्यागं परिग्रहस्य, परिज्ञानं वा संसारस्य····।

१२ ध्रुवो मोक्षस्तं, तदुपायं वा संयमं····।

१३ कथं ज्ञास्यस्यारं इहभवं कुतो वा परं परलोकं; यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्रव्रज्यापर्यायम्, अथवा आरमिति संसारं, परमिति मोक्षम्····।" सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ५६ के अनुसार

मायाचार का कटुफल

> ६७ जइ वि य णिगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो ।
> जे इह मायाइ मिज्जती, आगंता गब्भायऽणंतसो ॥६॥

६७. जो व्यक्ति इस संसार में माया आदि से भरा है, वह यद्यपि (चाहे) नग्न (निर्वस्त्र) एवं (घोर तप से) कृश होकर विचरे और (यद्यपि) कदाचित् मासखमण करे; किन्तु (माया आदि के फल-स्वरूप) वह अनन्त काल तक गर्भ में आता रहता है — गर्भवास को प्राप्त करता है।

विवेचन—मायादि युक्त उत्कृष्ट क्रिया और तप : संसार-वृद्धि के कारण—प्रस्तुत सूत्र गाथा में कर्मक्षय के लिए स्वीकार की गयी माया युक्त व्यक्ति की नग्नता, कृशता एवं उत्कृष्ट तपस्या को कर्मबन्ध की और परम्परा से जन्म-मरण रूप संसार परिभ्रमण की जड़ बतायी जाती है, कारण बताया गया है—'**जे इह मायाइ मिज्जइ**'। आशय यह है कि जो साधक निष्किञ्चन है, निर्वस्त्र है, कठोर क्रियाओं एवं पंचाग्नि तप आदि से जिसने शरीर को कृश कर लिया है, उत्कृष्ट दीर्घ तपस्या करता है, किन्तु यदि वह माया(कपट), दम्भ, वञ्चना, धोखाधड़ी; अज्ञान एवं क्रोध, अहंकार, लोभ, मोह आदि से लिपटा हुआ है, तो उससे मोक्ष दूराति दूर होता चला जाता है, वह अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। यहाँ माया शब्द से उपलक्षण से समस्त कषायों और आभ्यन्तर परिग्रहों का ग्रहण कर लेना चाहिए। वास्तव में कर्मों से मुक्त हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकती, और कर्मों से मुक्ति राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि के छूटे बिना हो नहीं सकती। व्यक्ति चाहे जितनी कठोर साधना कर ले, जब तक उसके अन्तर से राग, द्वेष, मोह, माया आदि नहीं छूटते, तब तक वह चतुर्गति रूप संसार में ही अनन्त बार परिभ्रमण करता रहेगा। यद्यपि तपस्या साधना कर्म-मुक्ति का कारण अवश्य है, लेकिन वह राग, द्वेष, काम, मोह, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि से युक्त होगी तो संसार का कारण बन जायेगी।

इसी आशय से उत्तराध्ययन सूत्र, इसिभासियाइं एवं धम्मपद आदि में बताया गया है कि जो अज्ञानी मासिक उपवास के अन्त में कुश की नोंक पर आये जितना भोजन करता है, वह जिनोक्त रत्न-त्रय रूप धर्म की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकता।[१४]

'जे इह मायाइ····णंत सो' वाक्य की व्याख्या—वृत्तिकार के अनुसार—जो (तीर्थिक) इस लोक में माया आदि से परिपूर्ण है, उपलक्षण से कषायों से युक्त है, वह गर्भ में बार-बार आता रहेगा, अनन्त बार यानी अपरिमित काल तक। चूर्णिकार '**जइ विह मायाइ मिज्जति**····' ऐसा पाठान्तर मानकर व्याख्या

---

१४ देखिये—इसी के समर्थक पाठ :—

(क) मासे-मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥ —उत्तराध्ययन अ० ६/४४

(ख) मासे-मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेय्य भोजनं।
न सो संखत धम्मानं कलं अग्घति सोलसिं ॥ —धम्मपद ७०

(ग) इन्दनागेण अरहता इसिणा बुइतं—मासे मासे य जो बालो कुसग्गेण आहारए।
ण से सुक्खाय धम्मस्स अग्घती सतिमं कलं ॥१३॥
—इसिभासियाइं अ० १३ पृ० ६३

करते हैं—माया का अर्थ है—जहाँ निदश (कथन) अनिर्दिष्ट—अप्रकट रखा जाता है। उन माया प्रमुख कषायों से यदि वह साधक भरा (युक्त) है तो····।[१५]

पाप-विरति-उपदेश—

९८. पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

९९. जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेदियं ॥११॥

१००. विरया वीरा समुट्ठिया, कोहाकातरियाविपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावातो विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१२॥

९८. हे पुरुष! पापकर्म से उपरत—निवृत्त हो जा। मनुष्यों का जीवन सान्त—नाशवान् है। जो मानव इस मनुष्य जन्म में या इस संसार में आसक्त हैं, तथा विषय-भोगों में मूच्छित—गृद्ध हैं, और हिंसा, झूठ आदि पापों से निवृत्त नहीं हैं, वे मोह को प्राप्त होते हैं, अथवा मोहकर्म का संचय करते हैं।

९९. (हे पुरुष!) तू यतना (यत्न) करता हुआ, पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त होकर विचरण कर, क्योंकि सूक्ष्म प्राणियों से युक्त मार्ग को (उपयोग यतना के बिना) पार करना दुष्कर-दुस्तर है। अतः शासन—जिन प्रवचन के अनुरूप (शास्त्रोक्त विधि के अनुसार) (संयम मार्ग में) पराक्रम (संयमानुष्ठान) करो। सभी रागद्वेष विजेता वीर अरिहन्तों ने सम्यक् प्रकार से यही बताया है।

१००. जो (हिंसा आदि पापों से) विरत हैं, जो (कर्मों को विदारण—विनष्ट करने में) वीर है, (गृह—आरम्भ-परिग्रह आदि का त्याग कर संयम पालन में) समुत्थित—उद्यत है, जो क्रोध और माया आदि कषायों तथा परिग्रहों को दूर करने वाले हैं, जो सर्वथा (मन-वचन-काया से) प्राणियों का घात नहीं करते, तथा जो पाप से निवृत्त हैं, वे पुरुष (क्रोधादि शान्त हो जाने से मुक्त जीव के समान) शान्त हैं।

विवेचन—पापकर्म से विरत होने का उपदेश—प्रस्तुत त्रिसूत्री में साधु-जीवन में पापकर्म से दूर रहने का परम्परागत उपदेश विविध पहलुओं से दिया गया है। इनमें पापकर्म से निवृत्ति के लिए निम्नोक्त बोधसूत्र है—

(१) जीवन नाशवान् है, इसलिए विविध पापकर्मों से दूर रहो।

(२) विषयासक्त मनुष्य हिंसादि पापों में पड़कर मोहमूढ़ बनते हैं।

---

१५ (क) सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्र ५७,
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० १७

(३) यतनापूर्वक समिति-गुप्तियुक्त होकर प्रवृत्ति करने से पापकर्मबन्ध नहीं होता।

(४) जो हिंसादि पापों तथा क्रोधादि कषायों से विरत होकर संयम में उद्यत हैं, वे मुक्त आत्मा के समान शान्त एवं सुखी हैं।

पाप कर्म क्या है, कैसे बंधते-छूटते हैं?—बहुत से साधक साधु-जीवन को तो स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु पाप-पुण्य का सम्यक् परिज्ञान उन्हें नहीं होता, न ही वे यह जानते हैं कि पापकर्म कैसे-कैसे बँध जाते हैं? और कैसे उन पापकर्मों से छुटकारा हो सकता है? प्रस्तुत त्रिसूत्री में भगवान् ऋषभदेव ने समस्त कर्म-विदारण वीर तीर्थंकरों द्वारा उपादिष्ट पापकर्म विषयक परिज्ञान दिया है। पापकर्म वे हैं, जो आत्मा को नीचे गिरा देते हैं, उसकी शुद्धता, स्वाभाविकता और निर्मलता पर अज्ञान, मोह आदि का गाढ़ आवरण डाल देते हैं, जिससे आत्मा ऊर्ध्वगमन नहीं कर पाता, विकास नहीं कर पाता। पापकर्मों के कारण ही तो प्राणी को सम्यक् धर्ममार्ग नहीं मिल पाता और बार-बार मोह एवं अज्ञान के कारण पाप में अधिकाकिध वृद्धि करके नरक, तिर्यंच आदि दुःख प्रदायक गतियों में भटकता रहता है। इसीलिए गाथा ९८ में स्पष्ट कहा गया है—'**पुरिसोरम पावकम्मुणा**'। इसका आशय यह है कि अब तक तुम अज्ञानदिवश पापकर्मों में बार-बार फँसते रहे, जन्म-मरण करते रहे, किन्तु अब इस पापकर्म से विरत हो जाओ। इस कार्य में शीघ्रता इसलिए करनी है कि जिंदगी का कोई भरोसा नहीं है, वह नाशवान है। जो मनुष्य इस शरीरादि जीवन को, मोह में पड़कर इसे विषय-भोगों में नष्ट कर देते हैं, विविध हिंसादि पाप करके शरीर को पोषते रहते हैं, तप-संयम के कष्ट से कतराते हैं, वे मोहनीय प्रमुख अनेक पापकर्मों का संचय कर लेते हैं, उनका फल भोगते समय फिर मोहावृत हो जाते हैं। इसलिए सद्धर्माचरण एवं तप-संयम द्वारा पापकर्म से शीघ्र विरत हो जाना चाहिए।

प्रश्न होता है—पापकर्म तो प्रत्येक प्रवृत्ति में होना सम्भव है, इससे कैसे बचा जाय? इसके लिए ९९ गाथा में कहा गया—'जययं विहराहि……पवेइयं'। अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करने से पापकर्म का बन्ध नहीं होता। दशवैकालिक आदि शास्त्रों में यही उपाय पापकर्मबन्ध से बचने का बताया है। आचारांग आदि शास्त्रों में यत्रतत्र पापकर्म से बचने की विधि बतायी गयी है। पाँच समिति, तीन-गुप्ति, पंचमहाव्रत, दशयतिधर्म आदि सब पापकर्म से बचने के शास्त्रोक्त एवं जिनोक्त उपाय हैं।

पापकर्म का बन्ध प्रमत्त योग से, कषाय से, हिंसादि में प्रवृत्त होने से होता है।

पापकर्म से विरत साधक कैसा होता है, उसकी क्या पहिचान है? इसके लिए गाथा १०० में स्पष्ट बताया है—(१) वे हिंसा आदि पापों से निवृत्त होते हैं, (२) कर्मक्षय करने के अवसर पर वीरवृत्ति धारण कर लेते हैं, (३) संयमपालन में उद्यत होते हैं, (४) क्रोधादि कषायों को पास नहीं फटकने देते, (५) मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से प्राणिहिंसा नहीं करते, (६) पापकर्मबन्ध होने के कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग, से दूर रहते हैं, (७) ऐसे साधक मुक्त जीवों के समान शान्त होते हैं।

१६　सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्र ५६ के आधार

कठिन शब्दों की व्याख्या—पलियंतं=वृत्तिकार ने इसके संस्कृत में दो रूप—'पल्यान्त' एवं 'पर्यन्त' मानकर व्याख्या की है कि पुरुषों का जीवन अधिक से अधिक तीन पल्य (पल्योपम) पर्यन्त टिकता है। और पुरुषों का संयम जीवन तो पल्योपम के मध्य में होता है। अथवा पुरुषों का जीवन पर्यन्त=सान्त—नाशवान् है। जोगवं=संयम-योग से युक्त यानी पंचसमिति—त्रिगुप्ति से युक्त होकर। अणुसासणं=शास्त्र या आगम के अनुसार। अणुपाणा=सूक्ष्म प्राणियों से युक्त। वीरेहिं=कर्मविदारण—वीर अरिहन्तों ने। कोहकायरियाइपीसणा=क्रोध और कातरिका=माया, आदि शब्द से मान, लोभ, मोहनीय कर्म आदि से दूर। अभिनिव्वुड़ा=शान्त।[17]

परीषहसहन-उपदेश

१०१ **ण वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोगंसि पाणिणो।**
एवं सहिएऽधिपासते, अणिहे से पुट्ठोऽधियासए ॥१३॥

१०२ **धुणिया कुलियं व लेववं, कसए देहमणासणादिहिं।**
अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ।१४॥

१०३ **सउणी जह पंसुगुंडिया, विधुणिय धंसयती सियं रयं।**
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवति तवस्सि माहणे ॥१५॥

१०१. ज्ञानादि से सम्पन्न साधक इस प्रकार देखे (आत्म-निरीक्षण करे) कि शीत-उष्ण आदि परीषहों (कष्टों) से केवल मैं ही पीड़ित नहीं किया जा रहा हूँ, किन्तु संसार में दूसरे प्राणी भी (इनसे) पीड़ित किये जाते हैं। अत: उन परीषहों का स्पर्श होने पर वह (संयमी) साधक क्रोधादि या राग-द्वेष-मोह से रहित होकर उन्हें (समभावपूर्वक) सहन करे।

१०२. जैसे लीपी हुई दीवार—भींत (लेप) गिरा कर पतली कर दी जाती है, वैसे ही अनशन के द्वारा देह को कृश कर देना—सुखा देना चाहिए। तथा (साधक को) अहिंसा धर्म में ही गति प्राप्ति करनी चाहिए। यही अनुधर्म—परीषहोपसर्ग सहन रूप एवं अहिंसादि धर्म समयानुकूल या मोक्षानुकूल है, जिसका प्ररूपण मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने किया है।

१०३. जैसे धूल से भरी हुई पक्षिणी अपने अंगों या पंखों को फड़फड़ाकर शरीर में लगी हुई रज को झाड़ देती है, इसी प्रकार भव्य उपधान आदि तपस्या करने वाला तपस्वी पुरुष कर्मरज को झाड़ (नष्ट कर) देता है।

विवेचन—परीषह और उपसर्ग : क्यों और कैसे सहे ?—प्रस्तुत त्रिसूत्री में शीत और उष्ण परीषहों—उपसर्गों को सहन करने का उपदेश क्यों है ? तथा परीषहादि कैसे किस पद्धति से सहना चाहिए ? इस सम्बन्ध में मार्ग निर्देश किया गया है। परीषह जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है....'**मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः**,—धर्ममार्ग से विचलित या भ्रष्ट न होने तथा निर्जरा के लिए जो कष्ट मन-वचन-काया से सहे जाते हैं, वे परीषह कहलाते हैं।[18] ऐसे परीषह २२ हैं।

---

१७ (क) सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्र ५७

१८ तत्त्वार्थसूत्र अ० ९/३

आचारांग-सूत्र में दो प्रकार के परीषह बताये गये हैं—शीत और उष्ण। जिन्हें अनुकूल और प्रतिकूल परीषह भी कहा जाता है। २२ परीषहों में से स्त्री और सत्कार, ये दो शीत या अनुकूल परीषह कहलाते हैं, तथा शेष २० परीषह उष्ण या प्रतिकूल कहलाते हैं। इसीप्रकार उपसर्ग भी शीत और उष्ण दोनों प्रकार के होते हैं।[19] उपसर्ग परीषह सहन क्यों करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार चिन्तन सूत्र प्रस्तुत करते हैं—(१) ये उपसर्ग और परीषह मुझे ही पीड़ित नहीं करते, संसार के सभी प्राणियों को पीड़ित करते हैं। परन्तु पूर्वकृत कर्मोदयवश जब ये कष्ट साधारण व्यक्ति पर आते हैं, तो वह हाय-हाय करता हुआ इन्हें भोगता है, जिससे कर्मक्षय (निर्जरा) के बदले और अधिकाधिक कर्म बंध कर लेता हैं, ज्ञानादि सम्पन्न साधक पूर्वकृत अशुभ कर्मों का फल जानकर इन्हें शत्रु नहीं, मित्र के रूप में देखता है, क्योंकि ये परीषह या उपसर्ग साधक को कर्मनिर्जरा का अवसर प्रदान करते हैं, धर्म पर दृढ़ता की भी कसौटी करते हैं। अत: परीषहों और उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय न तो उन कष्टदाताओं या कष्टों पर क्रोध करे, और न कष्टसहिष्णु होने का गर्व करे। अनुकूल परीषह या उपसर्ग आने पर विषयसुख लोलुपतावश विचलित न हो, अपने धर्म पर डटा रहे। इन्हें सहन करने से साधक में कष्टसहिष्णुता, धीरता, कायोत्सर्ग-शक्ति, आत्म-शक्ति आदि गुणों में वृद्धि होती है।

अज्ञानी लोग विविध कष्टों को सहते हैं, पर विवश होकर, समभाव से नहीं, इसी कारण वे निर्जरा के अवसरों को खो देते हैं।

परीषह और उपसर्ग सहने के सहज उपाय—शास्त्रकार ने परीषह और उपसर्ग को सहजता से सहने के लिए तीन उपाय बताये हैं—

(१) शरीर को अनशन आदि (उपवासादि) तपश्चर्या के द्वारा कृश कर दें;

(२) परीषह या उपसर्ग के आने पर अहिंसा धर्म में डटा रहे;

(३) उपसर्ग या परीषह को पूर्वकृत कर्मोदयजन्य जानकर समभाव से भोग कर कर्मरज को झाड़ दे।[20]

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि स्वेच्छा से अपनाये हुए कष्टों को मनुष्य कष्ट अनुभव नहीं करता, किन्तु जब दूसरा उन्हीं कष्टों को देने लगता है तो कष्ट असह्य हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक हँसते-हँसते सहने के लिए पहले साधक को स्वेच्छा से विविध कष्टों को—अनशनादि तपस्या, त्याग, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, सेवा, आतापना, वस्त्रसंयम, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, ऊनोदरी, रसपरित्याग, वृत्ति संक्षेप आदि के माध्यम से अपनाकर अभ्यास करना चाहिए। आचारांग सूत्र में इसके लिए सम्यक् मार्गदर्शन दिया गया है।

---

१९ इत्थीसक्कार-परीसहो य दो भाव सीयला एए।
सेसा वीसं उण्हा परीसहा हुंति नायव्वा॥ —आचा० निर्युक्ति गा० २०३

२० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्र ५७-५८ के आधार पर
(ख) 'कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं —आचारांग श्रु० १ अ० ४ उ० ३/१४१

अभ्यास परिपक्व हो जाने पर साधु-जीवन में अकस्मात् कोई भी उपसर्ग या परीषह आ पड़े तो उस समय अहिंसा धर्म के गुणों—क्षमा, दया, धैर्य आदि को धारण करना चाहिए। उस समय न तो उस परीषह या उपसर्ग के निमित्त को कोसना चाहिए और न ही झुंझलाना या झल्लाना चाहिए। विलाप, आर्त्तध्यान, रोष, या द्वेष करना भावहिंसा है, और यह प्रकारान्तर से आत्महिंसा (आत्म गुणों का घात) है।

जैन दर्शन का माना हुआ सिद्धान्त है कि मनुष्य पर कोई भी विपत्ती, संकट, यातना या कष्ट अथवा दुःख पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय के कारण आते हैं, परन्तु अज्ञानी व्यक्ति असातावेदनीय कर्मों को भोगने के साथ आकुल-व्याकुल एवं शोकार्त्त होकर नया कर्मबन्ध कर लेता है, इसलिए शास्त्रकार ने १०१ सूत्र गाथा में बताया है कि ज्ञानी साधक उपसर्ग या परीषहजन्य कष्ट आने पर पूर्वकृत कर्मफल जानकर उन्हें समभाव से भोगकर उस कर्मरज को इस तरह झाड़ दे, जिस तरह धूल से सना हुआ पक्षी अपने पंख फड़फड़ा कर उस धूल को झाड़ देता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—लुप्पए=शीतोष्णादिदुःख विशेषों,(परीषहों) से पीड़ित होता है। **लुप्पंती**=अतिदुःसह, दुःखों से परितप्त—पीड़ित होते हैं। **सहितेऽधिपासते** वृत्तिकार के अनुसार—'**सहितोज्ञानादिभिः, स्वहितो वा आत्महितः सन् पश्येत्**=ज्ञानादि से युक्त-सम्पन्न, अथवा स्वहित यानी आत्म-हितैषी होकर कुशाग्र बुद्धि से देखे—पर्यालोचन करे। चूर्णिकार के अनुसार—"**सहिते**......अधिकं पृथग् जनान् पश्यति-अधिपश्यति"—अर्थात् ज्ञानादि सहित साधक पृथक-पृथक अपने से अधिक लोगों को देखता है। **अणिहे से पुट्ठोऽधियासए**=निह कहते हैं—पीड़ित को। जो क्रोधादि द्वारा पीड़ित न हो, वह अनिह कहलाता है। ऐसा महासत्व परीषहों से स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर समभाव से सहन करे, अथवा अनिह अर्थात् अनिगूहित—नहीं छिपाने वाला। अर्थात् तप-संयम में तथा परीषह सहन में अपने बल-वीर्य को न छिपाए। **कुलियं व लेववं**=लेप वाली (लीपी हुई) भींत या दीवार को। **कसए**=पतली, कृश कर दे। **अविहिंसा पव्वए**—विविध प्रकार की हिंसा विहिंसा है। विहिंसा न करना अविहिंसा है, उस अविहिंसा धर्म पर प्रबल रूप में चलना या डटे रहना चाहिए। **अणुधम्मो** वृत्तिकार के अनुसार '**अनुगतो मोक्षम्प्रति अनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः अहिंसालक्षणः परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मः**" अर्थात् मोक्ष के अनुकूल अहिंसा रूप और परीषहोपसर्ग सहनरूप धर्म अनुधर्म है। अनुधर्म शब्द आचारांग सूत्र में तथा बौद्ध ग्रन्थों में भी प्रयुक्त है, वहाँ इसका अर्थ किया गया है—पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आचरित धर्म के अनुरूप, अथवा पूर्व तीर्थंकर चरित धर्म का अनुसरण अथवा धर्म के अनुरूप—धर्म सम्मत।[२१] **पंसुगुंडिया**=धूल से सनी हुई। **धंसयती**=झाड़ देती है। **सियं रयं**=लगी हुई रज को। **दविओ**=द्रव्य अर्थात् भव्य—मुक्ति गमन योग्य व्यक्ति। **उवहाणवं**=जो मोक्ष के उप=समीप, स्थापित कर देता है, वह उपधान (अनशनादि तप) कहलाता है, उपधान रूप तप के आराधक को उपधानवान कहते हैं।

---

२१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५७-५८

(ख) सूयगडंग चूर्णि, (मू० पा० टिप्पण) पृ० १८

(ग) देखो आचारांग में—'एतं खु अणुधम्मियं तस्स' का विवेचन—आचारांग विवेचन ९/१/४२ पृ० ३०७

अनुकूल-परीषह-विजयोपदेश—

१०४ उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठियं तवस्सिणं।
डहरा वुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभे जणा ॥१६॥

१०५ जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोवंति व पुत्तकारणा।
दवियं भिक्खुं समुट्ठितं, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१७॥

१०६ जइ वि य कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि णं बंधिउं घरं।
जति जीवित णावकंखए, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१८॥

१०७ सेहंति य णं ममाइणो, माय पिया य सुता य भारिया।
पोसाहि णे पासओ तुमं, लोयं परं पि जहाहि पोस णे ॥१९॥

१०८ अन्ने अन्नेहिं मुच्छिता, मोहं जंति नरा असंवुडा।
विसमं विसमेहि गाहिया, ते पावेहि पुणो पगब्भिता ॥२०॥

१०४. गृह त्याग कर अनगार बने हुए तथा एषणा पालन के लिए उत्थित—तत्पर अपने संयम स्थान में स्थित तपस्वी श्रमण को उसके लड़के-बच्चे तथा बड़े-बूढ़े (मां-बाप आदि) (प्रव्रज्या छोड़ देने की) चाहे जितनी प्रार्थना करें, चाहे (प्रार्थना करते-करते) उनका गला सूखने लगे—(वे थक जाएँ, परन्तु वे) उस (श्रमण) को पा नहीं सकते, अर्थात्—मनाकर अपने अधीन नहीं कर सकते।

१०५. यदि वे (साधु के माता-पिता आदि स्वजन) (उसके समक्ष) करुणा-प्रधान वचन बोलें या कारुण्योत्पादक कार्य करें और यदि वे अपने पुत्र के लिए रोयें-विलाप करें, तो भी मोक्ष-साधना या साधु-धर्म का पालन करने में उद्यत उस द्रव्य (भव्य=मुक्तिगमन योग्य) उस (परिपक्व) भिक्षु को प्रव्रज्या भ्रष्ट नहीं कर सकते, न ही वे उसे पुनः गृहस्थ वेष में स्थापित कर सकते हैं।

१०६. चाहे (साधु के पारिवारिक जन उसे) काम-भोगों का प्रलोभन दें, वे उसे बाँधकर घर पर ले जाएँ, परन्तु वह साधु यदि असंयमी जीवन नहीं चाहता है, तो वे उसे अपने वश में नहीं कर सकते, और न ही उसे पुनः गृहवास में रख सकते हैं।

१०७. 'यह साधु मेरा है,' ऐसा जानकर साधु के प्रति ममत्व करने वाले उसके माता-पिता और पत्नी-पुत्र आदि (कभी-कभी) साधु को शिक्षा भी देते हैं—तुम तो प्रत्यक्षदर्शी हो या सूक्ष्म (दूर) दर्शी हो, अतः हमारा भरण-पोषण करो। ऐसा न करके, तुम इस लोक और परलोक दोनों के कर्तव्य को छोड़ रहे हो। (अतः किसी भी तरह से) हमारा पालन-पोषण करो।

१०८. संयम भाव से रहित (असंवृत) कोई-कोई मनुष्य—(अपरिपक्व साधक) (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) अन्यान्य पदार्थों में मूर्च्छित-आसक्त होकर मोहमूढ़ हो जाते हैं। विषम व्यक्तियों—संयम रहित मानवों द्वारा विषम-असंयम ग्रहण कराये हुए वे मनुष्य पुनः पापकर्म करने में धृष्ट हो जाते हैं।

विवेचन—**अनुकूल परीषह-उपसर्ग—सहन का उपदेश**—प्रस्तुत पाँच सूत्रों में शास्त्रकार ने माता-पिता आदि स्वजनों द्वारा साधु को संयम छोड़ने के लिए कैसे-कैसे विवश किया जाता है ? उस समय साधु क्या करे ? कैसे उस उपसर्ग या परीषह पर विजय प्राप्त करे ? अथवा साधु धर्म पर कैसे डटा रहे ? यह तथ्य विभिन्न पहलुओं से प्रस्तुत किया है।

स्वजनों द्वारा असंयमी जीवन के लिए विवश करने के प्रकार—यहाँ पाँच सूत्रों में क्रमशः अनुकूल उपसर्ग का चित्रण किया है, साथ ही साधु को दृढ़ता रखने का भी विधान किया है—

(१) संयमी तपस्वी साधु को गृहवास के लिए उसके गृहस्थ पक्षीय स्वजन प्रार्थना एवं अनुनय-विनय करें,

(२) दीनतापूर्वक करुण विलाप करें या करुणकृत्य करें,

(३) उसे गृहवास के लिए विविध काम-भोगों का प्रलोभन दें,

(४) उसे भय दिखाएँ, मारें-पीटें, बाँधकर घर ले जाएँ,

(५) नव दीक्षित साधु को उभय-लोक भ्रष्ट हो जाने की उलटी शिक्षा देकर संयम से भ्रष्ट करें,

(६) जरा-सा फिसलते ही उसे मोहान्ध बनाकर निःसंकोच पाप-परायण बना देते हैं।

पाँचवीं अवस्था तक सर्व विरति संयमी साधु को स्वजनों द्वारा चलाए गए अनुकूल उपसर्ग बाणों से अपनी सुरक्षा करने का अभेद्य संयम कवच पहनकर उनके उक्त प्रक्षेपास्त्रों को काट देने और दृढ़ता बताने का उपदेश दिया है।

उपसर्ग का प्रथम प्रकार—जो अनगार तपस्वी, संयमी और महाव्रतों में दृढ़ है, उसे उसके बेटे, पोते या माता-पिता आदि आकर बार-बार प्रार्थना करते हैं—आपने बहुत वर्षों तक संयम पालन कर लिया, अब तो यह सब छोड़कर घर चलिए। आपके सिवाय हमारा कोई आधार नहीं है, हम सब आपके बिना दुःखी हो रहे हैं, घर चलिए, हमें संभालिए।" इसीलिए इस गाथा में कहा गया है—'**डहरा वुड्ढा य पत्थए।**'

उपसर्ग का द्वितीय प्रकार—अब दूसरा प्रकार है—करुणोत्पादक वचन या कृत्य का। जैसे—उसके गृहस्थ पक्षीय माता, दादी, या पिता, दादा आदि करुण स्वर में विलाप करके कहें—बेटा ! तुम हम दुःखियों पर दया करके एक बार तो घर चलो, देखो, तुम्हारे बिना हम कितने दुःखी हैं ? हमें दुःखी करके कौन सा स्वर्ग पा लोगे ?" यह एक पहलू है, संयम से विचलित करने का, जिसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—"**जइ कालुणियाणि कासिया।**" इसी का दूसरा पहलू है, जिसे शास्त्रकार इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—'**जइ रोयंति य पुत्तकारणा**'—आशय यह है कि उस साधु की गृहस्थ पक्षीय पत्नी रो-रोकर कहने लगे—हे नाथ ! हे हृदयेश्वर ! हे प्राणवल्लभ ! आपके बिना सारा घर सूना-सूना लगता है। बच्चे आपके बिना रो रहे हैं, जब देखो, तब वे आपके ही नाम की रट लगाया करते हैं। उन्हें आपके बिना कुछ नहीं सुहाता। मेरे लिए नहीं तो कम से कम उन नन्हें-मुन्नों पर दया करके ही घर चलो ! आपके घर पर रहने से आपके बूढ़े माता-पिता का दिल भी हरा-भरा रहेगा। अथवा उक्त साधु की पत्नी अश्रुपूरित नेत्रों से गद्गद होकर कहे—'आप घर नहीं चलेंगे तो मैं यहीं प्राण दे दूंगी। आपको नारी हत्या का पाप लगेगा।

इतने निष्ठुर मत बनिये।" अथवा उसके बूढ़े स्वजन रो-रोकर कहें—"बेटा ! एक बार तो घर चलो। कुलदीपक पुत्र के बिना घर में सर्वत्र अन्धेरा है। हमारा वंश, कुल या घर सूना-सूना है। अतः और कुछ नहीं तो अपनी वंशवृद्धि के लिए कम से कम एक पुत्र उत्पन्न करके फिर तुम भले ही संयम पालना। हम फिर तुम्हें नहीं रोकेंगे। केवल एक पुत्र की हमारी मनोकामना पूर्ण करो।"

उपसर्ग का तीसरा प्रकार—यह प्रारम्भ होता है—प्रलोभन से। साधु के स्वजन प्रलोभन भरे मधुर शब्दों में कहते हैं—तुम हमारी बात मानकर घर चले चलो। हम तुम्हारी सुख-सुविधा में कोई कमी नहीं आने देंगे। तुम्हारी सेवा में कोई कमी नहीं आने देंगे। उत्तमोत्तम नृत्य, गायन, वादन, राग-रंग आदि से तुम्हारी प्रसन्नता बढ़ा देंगे। बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट खानपान से तुम्हें तृप्त कर देंगे। मनचाहे सुगन्धित पदार्थों से तुम्हारा मन जरा भी नहीं ऊबेगा, एक से एक बढ़कर स्वर्ग की अप्सरा-सी सुन्दरियाँ तुम्हारी सेवा में तत्पर रहेंगीं। तुम्हारे उपभोग के लिए सब तरह की सुख-सामग्री जुटा देंगे।" इसी तथ्य को उजागर करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**जइ विय कामेहि लाविया**'।

उपसर्ग का चौथा प्रकार—इसी गाथा में उपसर्ग के चौथे प्रकार का रूप दिया गया है—'**जइ णेज्जाहि य बंधिउं घरं**'—आशय यह है कि प्रलोभन से जब साधु डिगता न दीखे तो पारिवारिक जन भय का अस्त्र छोड़ें—"उसे डराएँ-धमकाएँ, मारें-पीटें या जबरन रस्सी से बाँधकर घर ले जाएँ, अथवा उसे वचनबद्ध करके या स्वयं स्वजन वर्ग उसके समक्ष वचनबद्ध होकर घर ले जाएँ।

उपसर्ग का पाँचवाँ प्रकार—इतने पर भी जब संयमी विचलित न हो तो स्वजन वर्ग नया मोह प्रक्षेपास्त्र छोड़ते हैं, शिक्षा देने के बहाने से कहते हैं—"यह तो सारा संसार कहता है कि माता-पिता एवं परिवार को दुःखी, विपन्न, अर्थ-संकटग्रस्त एवं पालन-पोषण के अभाव में त्रस्त बनाकर साधु बने रहना धर्म नहीं है, यह पाप है। माता-पिता आदि का पालन-पोषण करने वाला घर में कोई नहीं है, और एक तुम हो कि उनके पालन-पोषण की जिम्मेदारी से छिटककर साधु बन गये हो। चलो, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। घर में रहकर हमारा भरण-पोषण करो। अथवा वे कहते हैं—तुम तो प्रत्यक्षदर्शी हो, घर की सारी परिस्थिति तुम्हारी आँखों देखी है, तुम्हारे बिना यह घर बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। अथवा तुम तो दूरदर्शी हो या सूक्ष्मदर्शी, जरा बुद्धि से सोचो कि तुम्हारे द्वारा पालन-पोषण के अभाव में हमारी कितनी दुर्दशा हो जायेगी ? अथवा वे यों कहते हैं—ऐसे समय में दीक्षा लेकर तुमने इहलोक भी बिगाड़ा, इस लोक का भी कोई सुख नहीं देखा, और अब परलोक भी बिगाड़ रहे हो, माता-पिता एवं परिवार के पालन-पोषण के प्रथम कर्तव्य से विमुख होकर ! दुःखी परिवार का पालन-पोषण करना तुम्हारा प्रथम धर्म है,[22] इस पुण्य लाभ को छोड़कर भला परलोक का सुख कैसे मिलेगा ?"

---

२२ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५८ पर से

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुख बोधिनी व्याख्या पृ० ३१० से ३१२ तक

(ग) देखिये उनके द्वारा दिया जाने वाला शिक्षासूत्र—

"या गतिः क्लेशदग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम्।
बिभ्रताम् पुत्र दारांस्तु तां गतिं व्रज पुत्रक !"

अर्थात्—हे पुत्र ! पुत्र और पत्नी का भरण पोषण करने हेतु क्लेश सहने वाले गृहस्थों का (गृहस्थी का) जो मार्ग है, उसी मार्ग से तुम भी चलो।" —सूत्र कृ० शीलांक वृत्ति भाषानुवाद भा० १ पृ० २२२

अतः घर में रहकर हमारा पालन-पोषण करो। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—"सेहंतिय''''जहासि पोसणे।'

सच्चा साधु बहके-फिसले नहीं—ये और इस प्रकार के अनेक अनुकूल उपसर्ग साधु को संयम मार्ग एवं साधुत्व से विचलित एवं भ्रष्ट करने और उसे किसी तरह से मनाकर पुनः गृहस्थ भाव में स्थापित करने के लिए आते हैं. परन्तु शास्त्रकार उपदेश की भाषा में कहते हैं कि वह अनगार, श्रमण संयम स्थान में स्थित तपस्वी, भिक्षु मोही स्वजनों की प्रार्थना पर जरा भी ध्यान न दे। वे प्रार्थना करते-करते थक जाएँ फिर भी साधु इस प्रकार की दृढ़ता दिखाए कि वे उसे अपने वश—अधीन न कर सकें; न ही गृहस्थी में उसे स्थापित कर सकें। इस बात को शास्त्रकार ने तीनों गाथाओं में दोहराया है। उसे संयम पर दृढ़ रहने के लिए यहाँ शास्त्रकार ने ७ बातें ध्वनित की हैं—(१) उनकी प्रार्थना पर ध्यान न दे, (२) उनकी बातों से जरा भी न पिघले, (३) उनके करुण-विलाप आदि से जरा भी विचलित न हो, (३) उनके द्वारा प्रदर्शित प्रलोभनों से बहके नहीं, भयों से घबराकर डिगे नहीं, (५) उनकी बातों में जरा भी रुचि न दिखाए, (६) उनकी संयम भ्रष्टकारिणी शिक्षा पर जरा भी विचार न करे, (७) असंयमी जीवन की जरा भी आकांक्षा न करे।

शास्त्रकार उन सच्चे साधुओं को अपने साधुत्व—संयम और श्रमणत्व में दृढ़ एवं पक्के रखने के आशय से कहते हैं—*अन्ने अन्नेहि मुच्छिता मोहं जंति''''''पुणो पगब्भिता*—अर्थात् वे दूसरे हैं, कच्चे साधु हैं, जो माता-पिता आदि अन्य असंयमी लोगों द्वारा प्रलोभनों से बहकाने-फुसलाने से, भय दिखाने से मूर्च्छित हो जाते हैं, और उनके चक्कर में आकर दीर्घकालीन अथवा महामूल्य अति दुर्लभ संयम धन को खोकर असंयमी बन जाते हैं। उन मूढ़ साधकों को उन असंयमी लोगों के द्वारा विषम (सिद्धान्त एवं संयम से हीन) पथ पकड़ा दिया जाता है, फलतः वे गृहस्थ-जीवन में पड़कर अपने परिजनों या कामभोगों में इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर वे किसी भी पाप को करने में कोई संकोच नहीं करते। यहाँ तक कि फिर गृहस्थोचित धर्म-मर्यादाओं को भी वे ताक में रख देते हैं। संयम भ्रष्ट पुरुष अठारह ही प्रकार के पापों को करने में धृष्ट एवं निरंकुश हो जाते हैं।

अन्ने अन्नेहि मुच्छिया—आदि पाठ से शास्त्रकार ने उन सच्चे श्रमणों को सावधान कर दिया है कि वे दूसरे हैं, तुम वैसे नहीं हो, वे मन्द पराक्रमी, आचार-विचार शिथिल, साधुत्व में अपरिपक्व, असंयम रुचि व्यक्ति हैं, जो परायों (असंयमियों) को अपने समझकर उनके चक्कर में पड़ जाते हैं, पर तुम ऐसे कदापि नहीं बनोगे, अपने महामूल्य संयम धन को नहीं खोओगे।[२३]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**उट्ठियमणगारमेसणं**=घर-बार, धन-सम्पत्ति, एवं सांसारिक कामभोगों को छोड़कर गृह-त्यागी होकर मुनि धर्मोचित एषणा-पालन के लिए उद्यत है। **समणं ठाणठियं**—श्रमण (संयम में पुरुषार्थी) है तथा उत्तरोत्तर विशिष्ट संयम स्थानों में स्थित है। चूर्णिकार के अनुसार—**'समणट्ठाणठिय'** पाठान्तर सम्भावित है, क्योंकि इसकी व्याख्या की गयी है—**'समणाणं ठाणे ठितं चरित्ते णाणातिसु'**—अर्थात् श्रमणों के स्थान में—चारित्र में या ज्ञानादि में स्थित है। **अवि सुस्से**=(यों कहते-कहते) उनका गला सूख जाए अर्थात् वे थक जाएँ अथवा इसका **'अपि श्रोष्ये'** रूप भी संस्कृत में होता है, अर्थ होता है—वह साधु

---

२३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५८-५६ पर से

उनकी बात सुनेगा, किन्तु वाग्जाल में न फँसेगा। काम रूप, काम भोगों—इन्द्रियविषयों से ललचाएँ, प्रलोभन दें; भोगों का निमन्त्रण दें। **णेज्जाहि णं बंधिउं घरं**=यदि बाँधकर घर ले जायें। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर— **आणेज्ज णं बंधित्ता घरं**— या बाँधकर घर ले आएँ। "**जीवियं णावकंखए**" इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) यदि जीवित रहने (जीने) की आकांक्षा-आसक्ति नहीं है, अथवा (२) यदि असयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करता या उसे पसन्द नहीं करता। **ममाइणो**=यह साधु मेरा है, इस प्रकार ममत्व रखने वाले। **सेहंति**=शिक्षा देते हैं। **अन्ने**=कई अल्प पराक्रमी कायर। **अन्नेहिं**=माता-पिता आदि द्वारा। **विसमं**=असंयम। साधक के लिए संयम सम हैं, असंयम विषम है। **विसमेहिं**=असंयमी पुरुषों—उन्मार्ग में प्रवृत्त होने और अपाय— विपत्ति से न डरने के कारण राग-द्वेष युक्त विषम पथ को ग्रहण करने वालों द्वारा। अथवा विषमों—यानी राग-द्वेषों के द्वारा।[२४]

कर्मविदारक वीरों को उपदेश—

१०९ **तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे।**
पणया वीरा महाविहिं, सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं ॥२१॥

११० **वेतालियमग्गमागओ, मण वयसा काएण संवुडो।**
चेच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जासि ॥२२॥
त्ति बेमि।

१०९. [माता-पिता आदि के मोह बन्धन में पड़कर कायर पुरुष संयम भ्रष्ट हो जाते हैं] इसलिए द्रव्यभूत भव्य (मुक्तिगमन योग्य अथवा राग-द्वेष रहित) होकर अन्तर्निरीक्षण करे। पण्डित-सद्-असद् विवेकयुक्त पुरुष पापकर्म से सदा विरत होकर अभिनिवृत्त (शान्त) हो जाता है। वीर (कर्म-विदारण में समर्थ पुरुष) उस महावीथी (महामार्ग) के प्रति प्रणत-सर्मपित होते हैं, जो कि सिद्धि पथ (मोक्षमार्ग) है, न्याय युक्त अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला और ध्रुव (निश्चित या निश्चल) है।

११०. (अब तुम) वैदारिक (कर्मों को विदारण-विनष्ट करने में समर्थ) मार्ग पर आ गए हो! अतः मन, वचन और काया से संवृत (गुप्त-संयत) होकर, धन-सम्पत्ति तथा ज्ञाति जनों (कुटुम्बियों) एवं आरम्भ (सावद्य कार्य) को छोड़कर श्रेष्ठ इन्द्रिय संयमी (सुसंवृत) होकर विचरण करो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—कर्म-विदारण-वीर साधकों को उपदेश—प्रस्तुत सूत्र गाथा द्वय (१०९-११०) में संयम भ्रष्ट साधकों की अवदशा बताकर सुविहित साधकों को महापथ पर चलने का उपदेश दिया है। उक्त महापथ पर चलने की विधि के लिए सात निर्देश सूत्र हैं—(१) भव्य-मोक्षगमन के योग्य हो, (२) स्वयं अन्तर्निरीक्षण करो, (३) सद्-असद् विवेक युक्त पण्डित हो, (४) पाप-कर्म से विरत हो, (५) कषायों से निवृत्त

---

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्र ५८-५९
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १८-१९

अतः घर में रहकर हमारा पालन-पोषण करो। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—"सेहंतिय''''जहासि पोसणे।'

सच्चा साधु बहके-फिसले नहीं—ये और इस प्रकार के अनेक अनुकूल उपसर्ग साधु को संयम मार्ग एवं साधुत्व से विचलित एवं भ्रष्ट करने और उसे किसी तरह से मनाकर पुनः गृहस्थ भाव में स्थापित करने के लिए आते हैं, परन्तु शास्त्रकार उपदेश की भाषा में कहते हैं कि वह अनगार, श्रमण संयम स्थान में स्थित तपस्वी, भिक्षु मोही स्वजनों की प्रार्थना पर जरा भी ध्यान न दे। वे प्रार्थना करते-करते थक जाएँ फिर भी साधु इस प्रकार की दृढ़ता दिखाए कि वे उसे अपने वश—अधीन न कर सकें; न ही गृहस्थी में उसे स्थापित कर सकें। इस बात को शास्त्रकार ने तीनों गाथाओं में दोहराया है। उसे संयम पर दृढ़ रहने के लिए यहाँ शास्त्रकार ने ७ बातें ध्वनित की हैं—(१) उनकी प्रार्थना पर ध्यान न दे, (२) उनकी बातों से जरा भी न पिघले, (३) उनके करुण-विलाप आदि से जरा भी विचलित न हो, (३) उनके द्वारा प्रदर्शित प्रलोभनों से बहके नहीं, भयों से घबराकर डिगे नहीं, (५) उनकी बातों में जरा भी रुचि न दिखाए, (६) उनकी संयम भ्रष्टकारिणी शिक्षा पर जरा भी विचार न करे, (७) असंयमी जीवन की जरा भी आकांक्षा न करे।

शास्त्रकार उन सच्चे साधुओं को अपने साधुत्व—संयम और श्रमणत्व में दृढ़ एवं पक्के रखने के आशय से कहते हैं—**अन्ने अन्नेहिं मुच्छिता मोहं जंति''''''पुणो पगब्भिता**—अर्थात् वे दूसरे हैं, कच्चे साधु हैं, जो माता-पिता आदि अन्य असंयमी लोगों द्वारा प्रलोभनों से बहकाने-फुसलाने से, भय दिखाने से मूर्च्छित हो जाते हैं, और उनके चक्कर में आकर दीर्घकालीन अथवा महामूल्य अति दुर्लभ संयम धन को खोकर असंयमी बन जाते हैं। उन मूढ़ साधकों को उन असंयमी लोगों के द्वारा विषम (सिद्धान्त एवं संयम से हीन) पथ पकड़ा दिया जाता है, फलतः वे गृहस्थ-जीवन में पड़कर अपने परिजनों या कामभोगों में इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर वे किसी भी पाप को करने में कोई संकोच नहीं करते। यहाँ तक कि फिर गृहस्थोचित धर्म-मर्यादाओं को भी वे ताक में रख देते हैं। संयम भ्रष्ट पुरुष अठारह ही प्रकार के पापों को करने में धृष्ट एवं निरंकुश हो जाते हैं।

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया—आदि पाठ से शास्त्रकार ने उन सच्चे श्रमणों को सावधान कर दिया है कि वे दूसरे हैं, तुम वैसे नहीं हो, वे मन्द पराक्रमी, आचार-विचार शिथिल, साधुत्व में अपरिपक्व, असंयम रुचि व्यक्ति हैं, जो परायों (असंयमियों) को अपने समझकर उनके चक्कर में पड़ जाते हैं, पर तुम ऐसे कदापि नहीं बनोगे, अपने महामूल्य संयम धन को नहीं खोओगे।[२३]

कठिन शब्दों की व्याख्या—उट्ठियमणगारमेसणं=घर-बार, धन-सम्पत्ति, एवं सांसारिक कामभोगों को छोड़कर गृह-त्यागी होकर मुनि धर्मोचित एषणा-पालन के लिए उद्यत है। **समणं ठाणठियं**—श्रमण (संयम में पुरुषार्थी) है तथा उत्तरोत्तर विशिष्ट संयम स्थानों में स्थित है। चूर्णिकार के अनुसार—**'समणट्ठाणठिय'** पाठान्तर सम्भावित है, क्योंकि इसकी व्याख्या की गयी है—**'समणाणं ठाणे ठितं चरित्ते णाणातिसु'**—अर्थात् श्रमणों के स्थान में—चारित्र में या ज्ञानादि में स्थित है। **अवि सुस्से**=(यों कहते-कहते) उनका गला सूख जाए अर्थात् वे थक जाएँ अथवा इसका **'अपि शोष्ये'** रूप भी संस्कृत में होता है, अर्थ होता है—वह साधु

---

२३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ५८-५९ पर से

उनकी बात सुनेगा, किन्तु वाग्जाल में न फँसेगा। काम रूप, काम भोगों—इन्द्रियविषयों से ललचाएँ, प्रलोभन दें; भोगों का निमन्त्रण दें। णेज्जाहि णं बंधिउं घरं=यदि बाँधकर घर ले जायें। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर—आणेज्ज णं बंधित्ता घरं—या बाँधकर घर ले आएँ। "जीवियं णावकंखए" इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) यदि जीवित रहने (जीने) की आकांक्षा-आसक्ति नहीं है, अथवा (२) यदि असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करता या उसे पसन्द नहीं करता। ममाइणो=यह साधु मेरा है, इस प्रकार ममत्व रखने वाले। सेहंति=शिक्षा देते हैं। अन्ने=कई अल्प पराक्रमी कायर। अन्नेहिं=माता-पिता आदि द्वारा। विसमं=असंयम। साधक के लिए संयम सम हैं, असंयम विषम है। विसमेहिं=असंयमी पुरुषों—उन्मार्ग में प्रवृत्त होने और अपाय—विपत्ति से न डरने के कारण राग-द्वेष युक्त विषम पथ को ग्रहण करने वालों द्वारा। अथवा विषमों—यानी राग-द्वेषों के द्वारा।[२४] ||

कर्मविदारक वीरों को उपदेश—

१०९ तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे।
पणया वीरा महाविहिं, सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं ॥२१॥

११० वेतालियमग्गमागओ, मण वयसा काएण संवुडो।
चेच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जासि ॥२२॥
त्ति बेमि।

१०९. [माता-पिता आदि के मोह बन्धन में पड़कर कायर पुरुष संयम भ्रष्ट हो जाते हैं] इसलिए द्रव्यभूत भव्य (मुक्तिगमन योग्य अथवा राग-द्वेष रहित) होकर अन्तर्निरीक्षण करे। पण्डित-सद्-असद् विवेकयुक्त पुरुष पापकर्म से सदा विरत होकर अभिनिवृत्त (शान्त) हो जाता है। वीर (कर्म-विदारण में समर्थ पुरुष) उस महावीथी (महामार्ग) के प्रति प्रणत-समर्पित होते हैं, जो कि सिद्धि पथ (मोक्षमार्ग) है, न्याय युक्त अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला और ध्रुव (निश्चित या निश्चल) है।

११०. (अब तुम) वैदारिक (कर्मों को विदारण-विनष्ट करने में समर्थ) मार्ग पर आ गए हो! अतः मन, वचन और काया से संवृत (गुप्त-संयत) होकर, धन-सम्पत्ति तथा ज्ञाति जनों (कुटुम्बियों) एवं आरम्भ (सावद्य कार्य) को छोड़कर श्रेष्ठ इन्द्रिय संयमी (सुसंवृत) होकर विचरण करो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—**कर्म-विदारण-वीर साधकों को उपदेश**—प्रस्तुत सूत्र गाथा द्वय (१०९-११०) में संयम भ्रष्ट साधकों की अवदशा बताकर सुविहित साधकों को महापथ पर चलने का उपदेश दिया है। उक्त महापथ पर चलने की विधि के लिए सात निर्देश सूत्र हैं—(१) भव्य-मोक्षगमन के योग्य हो, (२) स्वयं अन्तर्निरीक्षण करो, (३) सद्-असद् विवेक युक्त पण्डित हो, (४) पाप-कर्म से विरत हो, (५) कषायों से निवृत्त

---

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्र ५८-५९
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १८-१९

शान्त हो, कर्म विदारण वीर साधक इस सिद्ध पथ, न्याय युक्त और ध्रुव महा मार्ग के प्रति समर्पित होते हैं, तुम भी समर्पित हो जाओ, इसी वैदारिक महामार्ग पर आ जाओ, (६) मन-वचन-काया से संयत-संवृत्त बनो, तथा (७) धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब कबीला; एवं सावद्य आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर उत्तम संयमी बनकर विचरण करो।

पणया वीरा महावीहिं—आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में भी यह वाक्य आता है। सम्भव है, सूत्रकृतांग के द्वितीय अध्ययन की २१ वीं गाथा में इस वाक्य सहित पूरा पद्य दे दिया हो। यहाँ वृत्तिकार ने इस वाक्य का विवेचन इस प्रकार किया है—वीर-परीषह-उपसर्ग और कषाय सेना पर विजय प्राप्त करने वाले—वीर्यवान (आत्म-शक्तिशाली) पुरुष, महावीथी—सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग के प्रति प्रणत हैं—झुके हुए हैं—समर्पित हैं। यहाँ 'वीरा' का अर्थ वृत्तिकार ने कर्म-विदारण समर्थ' किया है। '**महावीहिं**' शब्द के ही यहाँ '**सिद्धिपहं; णेयाउयं**' एवं '**धुवं**' विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। 'णेयाउयं' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—मोक्ष के प्रति ले जाने वाले किन्तु आवश्यकसूत्रान्तर्गत श्रमण सूत्र में तथा उत्तराध्ययन में समागत '**णेयाउयं**' का अर्थ न्याययुक्त या न्यायपूर्ण किया गया है।[२५]

'**पणया वीरा महावीहिं**' के स्थान पर शीलांकाचार्यकृत वृत्ति सहित मूलपाठ में '**पणए वीरं महाविहिं**' पाठान्तर है। चूर्णिकार ने एक विशेष पाठान्तर उद्धृत किया है—'**पणता वीधेतऽणुत्तरं**' व्याख्या इस प्रकार है—'**एतदितिभावविधी जं भणिहामि, अणुत्तरं असरिसं, अणुत्तरं वा ठाणादि**'– अर्थात् यह भावविधि (जिसका वर्णन आगे कहेंगे) अनुत्तर-असदृश-अप्रतिम है, अथवा स्थानादि अनुत्तर है। उसके प्रति प्रणत=समर्पित हो।[२६] **तम्हा दवि इक्ख पंडिए**=इस गाथा में सर्वप्रथम आन्तरिक निरीक्षण करने को कहा गया है, उसके लिए दो प्रकार से योग्य बनने का निर्देश भी है। '**दवि**' और '**पंडिए**'। दविए' के जैसे दो अर्थ होते हैं—द्रव्य अर्थात् भव्य मोक्ष गमन योग्य, अथवा राग-द्वेष रहित; वैसे 'पंडिए' के भी मुख्य चार अर्थ होते हैं—(१) सद्-असद्-विवेकशील, (२) पाप से दूर रहने वाला, (३) इन्द्रियों से अखण्डित अथवा (४) ज्ञानाग्नि से अपने कर्मों को जला डालने वाला।[२७]

---

२५ (क) प्रणताः प्रह्वाः वीराः परीषहोपसर्ग—कषाय सेनाविजयात् वीथिः पन्थाः महांश्चासौ वीथिश्च महावीथि=सम्यग्दर्शनादिरूपो मोक्षमार्गो····जिनेन्द्रचन्द्रादिभिः प्रहतः तं प्रति प्रह्वाः—वीर्यवन्तः।

—आचारांग श्रु० १, अ. १,३-१, सूत्र २० की वृत्ति पत्रांक ४३

(ख) प्रणताः—प्रह्वीभूताः वीराः कर्मविदारणसमर्थाः महावीथिं महामार्गं —सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६०

(ग) णेआउयं—मोक्षम्प्रति नेतारं प्रापकं। —सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक ६०

२६ क) 'पणए वीरं महाविहिं—सूत्रकृतांग मूलपाठ शीलांक वृत्ति युक्त पत्रांक ६०

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि—(मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० १९-२०

२७ (क) दवि-द्रव्यभूतो भव्यः मुक्ति गमनयोग्यः रागद्वेष रहितो वा सन् —सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक ६०

(ख) पंडिए—पण्डा—सदसद्विवेकशालिनी बुद्धिः संजाता अस्येति पण्डितः

—वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (भट्टोजिदीक्षित)

पापाड्डीनः पण्डितः—दशवैकालिक हारी० वृत्ति

स पण्डितो यः करणैरखण्डितः—उपाध्याय यशोविजयजी

"····ज्ञानादिदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः—गीता० अ० ४/१९

"'''''पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे—इस पंक्ति का आशय यह है कि "साधक पुरुष ! तुम भव्य हो, राग-से ऊपर उठकर, स्व-पर के प्रति निष्पक्ष, सद्-असद् विवेकी या पापों से दूर रहकर ठण्डे दिल-दिमाग से उन पाप कर्मों के परिणामों पर विचार करो अथवा अपने जीवन आदि पापजनक जो भी स्थान या कार्य हों, उनसे विरत होकर तथा कषाय और राग-द्वेष आदि से या इन्हें उत्पन्न करने वाले कार्यों से सर्वथा निवृत्त-शान्त हो जाओ। शान्ति से आत्म-स्वभाव में या आत्म-भाव में रमण करो, यह आशय भी यहाँ गर्भित है।

'वेतालियमग्ग'''चरेज्जासि—इस गाथा का यह आशय ध्वनित होता है कि आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश देने के साथ समस्त मोक्ष-पथिक गृहत्यागी साधुओं को उपदेश दिया है कि हे साधको ! अब तुम कर्मबन्धन का मार्ग छोड़कर पूर्वोक्त वीरतापूर्वक विदारण समर्थ (वैदारक) मार्ग पर चल पड़े हो। अब तुम्हें संयम पालन के तीन साधनों—मन-वचन-काया पर नियन्त्रण रखना है। मन को सावद्य (पापयुक्त) विचारों से रोककर निर्वद्य (मोक्ष एवं संयम) विचारों में आत्मभाव में लगाना है, वचन को पापोत्पादक शब्दों को व्यक्त करने से रोककर धर्म (संवर निर्जरा) युक्त वचनों को व्यक्त करने में लगाना है या मौन रहना है और काया को सावद्य कार्यों से रोककर निर्वद्य सम्यग्दर्शनादि धर्माचरण में लगाना है। साथ ही धन-सम्पत्ति, परिवार, स्वजन या गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति जो पहले लगाव रहा है, उसे अब सर्वथा छोड़ देना है, बिलकुल भूल जाना है, और मन तथा इन्द्रियों के विजेता जागरूक संयमी बनकर इस वैदारिक महापथ पर विचरण करना है।[30]

प्रथम उद्देशक समाप्त

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

मद-त्याग-उपदेश :—

१११ तयसं व जहाति से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जती।
गोतण्णतरेण माहणे, अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी ॥१॥

११२ जो परिभवती परं जणं, संसारे परियत्तती महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥२॥

११३ जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसए सिया।
जे मोणपदं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे ॥३॥

३० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६० के आधार पर

१११. जैसे सर्प अपनी त्वचा—केंचुली को छोड़ देता है, यह जानकर (वैसे) माहन (अहिंसा प्रधान) मुनि गोत्र आदि का मद नहीं करता (छोड़ देता है) दूसरों की निन्दा अश्रेयस्कारिणी-अकल्याणकारिणी है। (मुनि उसका भी त्याग करता है।)

११२. जो साधक दूसरे व्यक्ति का तिरस्कार (प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अवज्ञा) करता है, वह चिर-काल तक या अत्यन्त रूप से चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता है। अथवा (या क्योंकि) पर निन्दा पापिका-पापों की जननी-दोषोत्पादिका ही है; यह जानकर मुनिवर जाति आदि का मद नहीं करते।

११३. चाहे कोई अ-नायक (स्वयं नायक-प्रभु चक्रवर्ती आदि) हो (रहा हो); अथवा जो दासों का भी दास हो (रहा हो); (किन्तु अब यदि वह) मौनपद-संयम मार्ग में उपस्थित (दीक्षित) हैं तो उसे (मदवश या हीनतावश) लज्जा नहीं करनी चाहिए। अपितु सदैव समभाव का आचरण करना चाहिए।

विवेचन—मद का विविध पहलुओं से त्याग क्यों और कैसे?—प्रस्तुत त्रिसूत्री में मुख्य रूप से मद त्याग का उपदेश विविध पहलुओं से दिया गया है। मद त्याग के विविध पहलू ये हैं—(१) साधु, कर्म बन्धन के कारण मूल अष्टविध मद का त्याग करे, (२) साधु मदान्ध होकर अकल्याणकारी परनिन्दा न करे (३) जाति आदि मद के वशीभूत होकर पर का तिरस्कार न करे, (४) मद के कारण पूर्व दीक्षित दास और वर्तमान में मुनि को वन्दनादि करने में लज्जित न हो, न ही हीन भावनावश साधु अपने से बाद में दीक्षित भूतपूर्व स्वामी से वन्दना लेने में लज्जित हो।" इसमें प्रस्तुत गाथा में मद त्याग क्यों करना चाहिए? इसका निर्देश है और शेष दो गाथाओं में यह बताया गया है कि मद कैसे-कैसे उत्पन्न होता है तथा साधक मद के कारण किन-किन दोषों को अपने जीवन में प्रविष्ट कर लेता है? उन्हें आते ही कैसे और क्यों खदेड़े?

इति संखाय मुणी न मज्जती—वह महत्त्वपूर्ण मद त्याग सूत्र है। इसका आशय यह है कि मद चाहे किसी भी प्रकार का हो, वह पाप-कर्मबन्ध का कारण है। सर्प जैसे अपनी त्वचा (केंचुली) को सर्वथा छोड़ देता है, इसी तरह साधु को कर्म आस्रव को या कर्मबन्ध को सर्वथा त्याज्य समझकर कर्मजनक जाति, गोत्र (कुल), बल, रूप, धन-वैभव, आदि मद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

'**अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी**'—इस पंक्ति का आशय यह है कि साधक में दीक्षा लेने के बाद जरा-सा भी जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, शास्त्रज्ञान, ऐश्वर्य (पद या अधिकार) का मद होता है, तो उसके कारण वह दूसरों का उत्कर्ष, किसी भी बात में उन्नति सह नहीं सकता, दूसरों की (मनुष्यों, साधकों या सम्प्रदायों की) उन्नति, यशकीर्ति, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा वृद्धि देखकर वह मन-ही-मन कुढ़ता है, जलता है, ईर्ष्या करता है, दोष-दर्शन करता रहता है। फलतः अपने मद को पोषण देने के लिए वह दूसरों की निन्दा, चुगली, बदनामी मिथ्यादोषारोपण, अप्रसिद्धि या अपकीर्ति करता रहता है। इस प्रकार अपने मद की वह वृद्धि करके भारी पाप कर्मबन्धन कर लेता है।[1]

शास्त्रकार ने यहाँ संकेत कर दिया है कि साधु अपने आत्म-कल्याण के लिए कर्मबन्धजनक समस्त बातों का त्याग कर चुका है, फिर आत्मा का अकल्याण करने वाली पापकर्मबद्धक परनिन्दा को वह क्यों

---

१ सूत्रकृतांग मूलपाठ एवं शीलांकवृत्ति भाषानुवाद, पृ० २२६ से २३०

अपनाएगा ? और क्यों परनिन्दा तथा उसके समकक्ष ईर्ष्यादि अनेक दोषों को पैदा करने वाले मद को अपनाएगा ? इसीलिए सूत्रगाथा ११२ के उत्तरार्द्ध में इसी तथ्य को पुनः अभिव्यक्त किया है—'अदु **इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जति।**" यहाँ शास्त्रकार ने 'इंखिणी' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका संस्कृत रूप होता है—ईक्षिणी अर्थात् देखने वाली परदोषदर्शिनी। परनिन्दा, चुगली, बदनामी, अपकीर्ति, मिथ्या दोषारोपण आदि सब परदोष दर्शन से होते हैं, इसलिए ये सब ईक्षिणी के अन्तर्गत हैं। वृत्तिकार ने इसीलिए 'इंखिणी' का अर्थ परनिन्दा किया है। साधक मदावेश में आकर ही अनेक पापों की जननी ईक्षिणी को पालता है, यह समझकर उसे मूल में ही मद को तिलांजलि दे देनी चाहिए। निर्युक्तिकार ने इसी सन्दर्भ में परनिन्दा-त्याग एवं मद-त्याग की प्रेरणा देने वाली दो गाथाएँ प्रस्तुत की हैं।[2]

जो परिभवई परं जणं····महं— इस गाथा के पूर्वार्द्ध में मदावेश से होने वाले अन्य विकार और उसके भयंकर परिणाम का संकेत किया है। इसका आशय यह है कि जाति आदि के मद के कारण साधक अपने से जाति, कुल, वैभव (पदादि या अधिकारादि का), बल, लाभ, शास्त्रीय ज्ञान, तप आदि में हीन या न्यून व्यक्ति का तिरस्कार, अवज्ञा, अपमान या अनादर करने लगता है, उसे दुरदुराता है, धिक्कारता, डाँटता-फटकारता है, बात-बात में नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है, अपनी बड़ाई करके दूसरों को नगण्य-तुच्छ बताता है, लज्जित करता है, लांछित करता है, उसे अपने अधीनस्थ बनाकर मनमाना काम लेता है, चुभते मर्मस्पर्शी वचन या अपशब्द भी कह देता है, क्योंकि ये सब 'पर-परिभव' की ही संतति हैं। इसलिए मदजनित पर-परिभव भी त्याज्य है।

संसारे परिवत्तती महं—परिभव आदि भी ईक्षिणी के ही परिवार हैं। ईक्षिणी को पापों की जननी बताया गया था कि परनिन्दा करते समय साधु दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष करता है, यह भी पाप स्थान है। पर-परिवाद भी अपने-आप में पाप स्थान है, पर-परिभव भी अपने को अधिक गुणी, उत्कृष्ट मानने से होता है, अतः मान रूपी पाप स्थान भी आ जाता है, साथ ही क्रोध, माया, असत्य (मिथ्या दोषारोपण के कारण), पैशुन्य (चुगली), कपट-क्रिया आदि बताकर अपने मद का पोषण करने से मायामृषा, माया, उच्च पदादि प्राप्ति का लोभ, अहर्निश दूसरों के दोष या छिद्र देखने की वृत्ति के कारण आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान रूप पाप आता है। अपना स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन-मनन, आत्म-चिन्तन, परमात्म-स्मरण आदि आत्म-कल्याण की चर्चा का अधिकांश समय परनिन्दा आदि में व्यतीत करके तीर्थंकर-आज्ञा के उल्लंघन रूप अदत्तादान एवं ईर्ष्या-द्वेष-कषायादि के कारण भावहिंसा रूप पाप आता है। यों उसका जीवन अनेक पापों का अड्डा बन जाता है। उन संचित पापों के फलस्वरूप वह मदोन्मत्त साधक मोक्ष (कर्म-

---

२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ६०-६१ के आधार पर

(ख) तव-संजम-णाणेसु वि जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं।
अत्तसमुक्करिसत्थं किं पुण हीला उ अन्नेसिं ॥४३॥
जइ ताव निज्जरमाओ पडिसिद्धो अट्ठमाण महेणहिं।
अवसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥४४॥

अर्थात्—जब तप, संयम और ज्ञान का अभिमान भी महर्षियों ने त्याज्य कहा है, तब अपना बड़प्पन प्रकट करने के लिए दूसरों की निन्दा या अवज्ञा को प्रयत्नपूर्वक छोड़ ही देना चाहिए।" —सूत्रकृतांग निर्युक्ति

मुक्ति) की ओर गति-प्रगति करने के बजाय दीर्घकाल या महाकाल तक संसार-सागर में ही भटकता रहता है, अतः मुनि चाहे कितना ही क्रियाकाण्डी हो, आचारवान् हो, विशिष्ट कुल जाति में उत्पन्न हो, शास्त्रज्ञ हो, तपस्वी हो अथवा उच्च पदाधिकारी आदि हो, उसे मदावेश में किसी की निन्दा या तिरस्कार आदि नहीं करना चाहिए। दूसरों के दोष-दर्शन में पड़कर अपने आत्म-कल्याण के अमूल्य अवसर को खोना तथा पापपुंज इकट्ठा करके अनन्त संसार परिभ्रमण करना है। यही इस गाथा का आशय है।[3]

उत्कर्ष और अपकर्ष के समय सम रहे—एक साधु अपनी भूतपूर्व गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती राजा, मन्त्री या उच्च प्रभुत्व सम्पन्न पदाधिकारी था। दूसरा एक व्यक्ति उसके यहाँ पहले नौकरी करता था, अथवा वह उसके नौकर का नौकर था, किन्तु प्रबल पुण्योदयवश वह संसार से विरक्त होकर मुनि बन गया और उसका मालिक या ऊपरी अधिकारी कुछ वर्षों बाद मुनि बनता है। अब वह अपनी पूर्व जाति कुल आदि की उच्चता के मद में कुसंस्कारवश अपने से पूर्व दीक्षित (अपने भूतपूर्व दास) के चरणों में वन्दन-नमन करने में लज्जा करता है, कतराता है, अपनी हीनता महसूस करता है, यह ठीक नहीं है। इसीलिए सूत्र गाथा ११३ में कहा गया है—**"जं यावि अणायगे सिया····णो लज्जे।"** इस गाथा का यह आशय भी हो सकता है—जो पहले किसी प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति के नौकर का नौकर था, वह पहले मुनि-पदारूढ़ हो जाने पर अपने भूतपूर्व प्रभुत्व सम्पन्न, किन्तु बाद में दीक्षित साधु द्वारा वन्दना किये जाने पर जरा भी लज्जित न हो, अपने में हीन-भावना न लाये, अपने को नीचा न माने।

'समयं सयाचरे'—इसीलिए अन्त में, दोनों कोटि के साधकों को विवेक सूत्र दिया गया है कि वे दोनों सदैव समत्व में विचरण करे। 'मुनि-पद' समता का मार्ग है, इसलिए वह कभी हीन तो हो ही नहीं सकता। वह तो सर्वदा, सर्वत्र विश्ववन्द्य पद है, उसे प्राप्त कर लेने के बाद तो भूतपूर्व जाति, कुल आदि सब समाप्त हो जाते हैं। वीतराग मुनीन्द्र के धर्म संघ में आकर सभी साधु समान हो जाते हैं। इसीलिए मदावेश में आकर कोई साधु अपने से जाति आदि से हीन पूर्व दीक्षित साधु का न तो तिरस्कार करे, न ही उसको वन्दनादि करने में लज्जित हो। इसी कारण **'समयं सयाचरे'** का अर्थ यह भी सम्भव है—समय-जैन सिद्धान्त पर या साध्वाचार पर सदा चले।' साधक में उत्कर्ष तो मदजनित है ही, अपकर्ष भी दूसरे के वृद्धिगत उत्कर्ष मद को देखकर होता है, इसलिए यह भी मदकारक होता है। क्योंकि ऐसा करने से कषायवश अधिक पाप कर्मबन्ध होगा, इसलिए समभाव या साधुत्व (संयम) में विचरण करना चाहिए। मान और अपमान दोनों ही साधु के लिए त्याज्य है।"[4]

---

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ६१ के आधार पर

(ख) तुलना कीजिये—अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥ —गीता० अ० १६/१८-१९

४ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ६१ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३२२ से ३२६ के आधार पर

समताधर्म उपदेश—

> ११४ सम अन्नयरम्मि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए।
> जे आवकहा समाहिए, दविए कालमकासि पंडिए ॥ ४ ॥
>
> ११५ दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा।
> पुट्ठे फरुसेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंसि रीयति ॥ ५ ॥
>
> ११६ पण्णसमत्ते सदा जए, समिया धम्ममुदाहरे मुणी।
> सुहुमे उ सदा अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥ ६ ॥
>
> ११७ बहुजणणमणम्मि संवुडे, सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिते।
> हरए व सया अणाविले, धम्मं पादुरकासि कासवं ॥ ७ ॥
>
> ११८ बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं उवेहिया।
> जे मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं तत्थमकासि पंडिते ॥ ८ ॥

११४. सम्यक् प्रकार से शुद्ध श्रमण जीवनपर्यन्त (पाँच प्रकार के चारित्र संयम में से) किसी भी एक संयम (संयम स्थान) में स्थित होकर समभाव के साथ प्रव्रज्या का पालन करे। वह भव्य पण्डित ज्ञानादि समाधि से युक्त होकर मृत्यु काल तक संयम पालन करे।

११५. मुनि (तीनों काल की गतिविधि पर मनन करने वाला) मोक्ष (दूर) को तथा जीवों को अतीत एवं अनागतकालीन धर्म—जीवों के स्वभाव को देखकर (जानकर) कठोर वाक्यों या लाठी आदि के द्वारा स्पर्श (प्रहार) किया जाता हुआ अथवा हनन किया (मारा) जाता हुआ भी समय में—(संयम में) विचरण करे।

११६. प्रज्ञा में परिपूर्ण मुनि सदा (कषायों पर) विजय प्राप्त करे तथा समता धर्म का उपदेश दे। संयम का विराधक न हो। माहन (साधु) न तो क्रोध करे, न मान करे।

११७. अनेक लोगों द्वारा नमस्करणीय-वन्दनीय अर्थात् धर्म में सावधान रहने वाला मुनि समस्त (बाह्याभ्यन्तर) पदार्थों या इन्द्रिय-विषयों में—अप्रतिबद्ध होकर ह्रद—सरोवर की तरह सदा अनाविल (निर्मल) रहता हुआ काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर के धर्म—समता धर्म को प्रकाशित-प्रकट करे।

११८. बहुत से प्राणी पृथक्-पृथक् इस जगत् में निवास करते हैं। अतः प्रत्येक प्राणी को समभाव से सम्यक् जान-देखकर जो मुनिपद संयम में उपस्थित—पण्डित साधक है, वह उन प्राणियों की हिंसा से विरति—निवृत्ति करे।

विवेचन—समता-धर्म की आराधना के विविध पहलू—प्रस्तुत पंचसूत्री (११४ से ११८ तक) में साधु को समता धर्म कहाँ-कहाँ, किस-किस अवसर पर कैसे-कैसे पालन करना चाहिए? इस पर सम्यग् प्रकाश डाला गया है। जो सरल सुबोध है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**अन्नयरंमि संजमे**=सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय और यथाख्यात। इन पाँचों में से किसी एक संयम में या संयम में ६ प्रकार का तारतम्य होने से ६ स्थानों में से किसी भी संयम स्थान में स्थित होकर। **समणे**=सम, श्रम (तप) एवं शम करने वाला या सममना। **आवकहा**=यावत्कथा—जहाँ तक देवदत्त, यज्ञदत्त इस प्रकार के नाम की कथा चर्चा हो, वहाँ तक, यानी जीवन की समाप्ति तक। **समाहिए**=सम्यक् रूप से ज्ञानादि में आत्मा को स्थापित करने वाला अथवा समाधिभाव-शुभ अध्यवसाय से युक्त। **दूरं**=अति दूर होने के कारण, दूर का अर्थ मोक्ष किया गया है। अथवा सुदूर अतीत एवं सुदूर भविष्य काल को भी 'दूर' कहा जा सकता है। **धम्मं**=जीवों के उच्च-नीच स्थान गति रूप अतीत-अनागत धर्म यानी स्वभाव को। **'अविहण्णू'**=प्राणों से वियुक्त किये जाने पर भी। **समयंमि रीयइ**=समता धर्म में या संयम में विचरण करे। **पण्णसमत्ते**=प्रज्ञा में समाप्त पूर्ण अथवा पटु प्रज्ञावाला। वृत्तिकार द्वारा सूचित पाठान्तर है—**पेण्हसमत्थे**=इसके दो अर्थ किये गये हैं—प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ अथवा जिसके प्रश्न (संशय) समाप्त हो गये हों वह संशयातीत—समाप्त प्रश्न। **'समयाधम्ममुदाहरे'**=समताधर्म का कथन-प्ररूपण करे अथवा समता धर्म का उदाहरण-आदर्श प्रस्तुत स्थापित करे। चूर्णिकार—**समिया धम्ममुदाहरेज्ज**=इस प्रकार का पाठान्तर स्वीकार करके व्याख्या करते हैं—**समिता णाम सम्मं धम्मं उदाहरेज्ज**=अर्थात् समिता यानी सम्यक् धर्म का उपदेश करे। **सुहुमेउ सदा अलूसए**=सूक्ष्म अर्थात् संयम में सदा अविराधक रहे। **बहुजण णमणंमि**=बहुत-से लोगों द्वारा नमस्करणीय धर्म में। **अणाविले**=अनाकुल-अकलुष हृदय की तरह क्रोधादि से अक्षुब्ध अनाकुल, अथवा चूर्णिकार के अनुसार—**अणाइल इति निरुद्धाश्रवः अणातुरो न ग्लायति धर्मं कथयन्**=अर्थात् अनाविल का अर्थ है जिसने आश्रवों को निरोध कर लिया है, जो अनातुर होगा, वही क्षमादि रूप धर्म का धर्मोपदेश देता हुआ नहीं घबरायेगा। **समयं उवेहिया**=समता माध्यस्थ्य वृत्ति या आत्मौपम्य भाव धारण करके अथवा पाठान्तर है 'समीहिया' उसके अनुसार अर्थ होता है—स्वयम्-आत्मरूप जान-देखकर। अथवा प्रत्येक प्राणी में दुःख की अप्रियता एवं सुख की प्रियता समान भाव से जानकर। **मौणपदं**=मौनीन्द्र-तीर्थंकर के पद—पथ=संयम में अथवा आचारांग के अनुसार साम्य या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप मौन-पद में।[५]

परिग्रह त्याग-प्रेरणा—

११९. **धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए।**
सोयंति य णं ममाइणो, नो य लभंति णियं परिग्गहं ॥९॥

१२०. **इहलोग दुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं।**
विद्धंसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ॥१०॥

---

५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६१ से ६३

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ३२८ से ३३५ पृष्ठ तक

(ग) सूयगडंग चूर्णि (जम्बूविजयजी सम्पादित टिप्पण) पृ० २१

(अ) पण्हसमत्थे—समाप्तप्रश्न इत्यर्थः।

(ब) सदाजतेत्ति—ज्ञानवान् अप्रमत्तश्च।

(स) अणाइले हरदेत्ति—पद्म महापद्मादयो वा ह्रदा अनाकुलाः, क्रोधादीहि वा अणाइलो, अथवा अणाइल इति निरुद्धाश्रवः अनातुरो, न ग्लायति धर्मं कथयन्।"

११९. जो पुरुष धर्म का पारगामी और आरम्भ के अन्त (अभाव) में स्थित है, (वही) मुनि है। ममत्वयुक्त पुरुष (परिग्रह का) शोक (चिन्ता) करते हैं, फिर भी अपने परिग्रह (परिग्रह रूप पदार्थ) को नहीं पाते।

१२०. (सांसारिक पदार्थों और स्वजन वर्ग का) परिग्रह इस लोक में दुःख देने वाला है और परलोक में भी दुःख को उत्पन्न करने वाला है, तथा वह (ममत्व करके गृहीत पदार्थ समूह) विध्वंस-विनश्वर स्वभाव वाला है, ऐसा जानने वाला कौन पुरुष गृह-निवास कर सकता है?

विवेचन—परिग्रह-त्याग : क्यों और किसलिए? प्रस्तुत त्रि-सूत्री में परिग्रह त्याग की प्रेरणा दी गई है। सूत्रगाथा ११९ में सच्चे अपरिग्रही मुनि की दो अर्हताएँ बतायी हैं—(१) जो श्रुतचारित्र रूप धर्म के सिद्धान्तों में पारंगत हो, (२) जो आरम्भ के कार्यों से दूर रहता है। जो इन दो अर्हताओं से युक्त नहीं है, अर्थात् जो मुनि धर्म के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ है, आरम्भ में आसक्त रहता है, धर्माचरण करने में मन्द रहता है, वह इष्ट पदार्थों और इष्टजनों को 'वे मेरे हैं, उन पर मेरा स्वामित्व या अधिकार है,' इस प्रकार ममत्व करता है, उनके वियोग में झूरता रहता है, शोक करता है, किन्तु वे पदार्थ उनके हाथ में नहीं आते। तात्पर्य यह है कि इतनी आकुलता-व्याकुलता करने पर भी वे उस पदार्थ को प्राप्त नहीं कर पाते। इसीलिए कहा गया है—"**धम्मस्स य पारए""नो य लभंति णियं परिग्गहं।**"

इस गाथा का यह अर्थ भी सम्भव है—जो मुनि धर्म में पारंगत है, और आरम्भ कार्यों से परे है, उसके प्रति ममत्व और आसक्ति से युक्त स्वजन उसके पास आकर शोक, विलाप और रुदन करते हैं, उस साधु को ले जाने का भरसक प्रयत्न करते हैं, परन्तु वे अपने माने हुए उस परिग्रहभूत (ममत्व के केन्द्र) साधु को नहीं प्राप्त कर सकते, उसे वश करके ले जा नहीं सकते।[७]

परिग्रह उभयलोक में दुःखद व विनाशी होने से त्याज्य—इस सूत्र गाथा १२० में परिग्रह क्यों त्याज्य है? इसके कारण बताये गये हैं—(१) सांसारिक पदार्थ और स्वजन वर्ग के प्रति परिग्रह (ममत्व) रखता है, वह इस लोक में तो दुःखी होता ही है, परलोक में भी दुःख पाता है। (२) परिग्रहीत सजीव-निर्जीव सभी पदार्थ नाशवान हैं। यह जानकर कौन विज्ञ पुरुष परिग्रह के भण्डार गृहस्थवास में रह सकता है? अर्थात् परिग्रह का आगार गृहस्थवास पूर्वोक्त कारणों से त्याज्य ही है।

इह लोक में परिग्रह दुःखदायी है—धन, सोना-चाँदी, जमीन, मकान आदि निर्जीव पदार्थों का परिग्रह (ममत्व) इस लोक में चार कारणों से दुःखदायक होता है—(१) पदार्थों को प्राप्त करने में, (२) फिर उनकी रक्षा करने में, (३) उनके व्यय में दुःख तथा (४) उनके वियोग में दुःख।[८]

---

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६३
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३३६

८ (क) अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः॥ —नीतिकार

(ख) राजतः सलिलादग्नेश्चौरतः स्वजनादपि।
नित्यं धनवतां भीतिर्दृश्यते भुवि सर्वदा॥

इसी प्रकार माता-पिता आदि स्वजनों के प्रति ममत्व (परिग्रह) भी दुःखदायी है, क्योंकि रोग, कष्ट, निर्धनता, आफत आदि के समय स्वजनों से लगाई हुई सहायता, तथा मोत, संकट आदि के समय सुरक्षा की आशा प्रायः सफल नहीं होती, क्योंकि संसार में प्रायः स्वार्थ का वोलबाला है। स्वार्थपूर्ति न होने पर स्वजन प्रायः छोड़ देते हैं।

परलोक में भी परिग्रही दुःखदायी—इहलोक में इष्ट पदार्थों पर किये गये राग के कारण जो कर्मबन्धन हुआ, उसके फलस्वरूप परलोक में भी नाना दुःख भोगने पड़ते हैं। उन दुःखों को भोगते समय फिर शोक, चिन्ता या विषाद के वश नये कर्मबन्धन होते हैं, फिर दुःख पाता है, इस प्रकार दुःखपरम्परा बढ़ती जाती है।

गृहवास : परिग्रह भण्डार होने से गृहपाश हैं—शास्त्रकार ने स्पष्ट कह दिया—**इति विज्जा कोऽगारमावसे ?**—आशय यह है कि परिग्रह को उभयलोक दुःखद एवं विनाशवान जानकर कौन विज्ञ परिग्रह के भण्डार गृहस्थ में आवास करेगा ? कौन उस गृहपाश में फँसेगा ?

अतिपरिचय-त्याग-उपदेश—

१२१ महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वंदण-पूयणा इहं।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विदुमं ता पयहेज्ज संथवं ॥ ११ ॥

१२१. (सांसारिकजनों का) अतिपरिचय (अतिसंसर्ग) महान् पंक (परिगोप) है, यह जानकर तथा (अतिसंसर्ग के कारण प्रव्रजित को राजा आदि द्वारा) जो वंदना और पूजा (मिलती) है उसे भी इस लोक में या जिन-शासन में स्थित विद्वान् मुनि (वन्दन-पूजन को) गर्वरूप सूक्ष्म एवं कठिनता से निकाला जा सकने वाला शल्य (तीर) जानकर उस (गर्वोत्पादक) संस्तव (सांसारिकजनों के अतिपरिचय) का परित्याग करे।

विवेचन—अतिपरिचय : कितना सुहावना, कितना भयावना ? प्रस्तुत सूत्र में सांसारिक जनों के अतिपरिचय के गुण-दोषों का लेखा-जोखा दिया गया है। सांसारिक लोगों के अतिपरिचय को शास्त्रकार ने तीन कारणों से त्याज्य बताया है—(१) गाढ़ा कीचड़ है, (२) साधु को वन्दना-पूजा मिलती है, उसके कारण साधु-जीवन में गर्व (ऋद्धि, रस और साता रूप गौरव) का तीखा और बारीक तीर गहरा घुस जाता है कि उसे फिर निकालना अत्यन्त कठिन होता है यद्यपि अपरिपक्व साधु को धनिकों और शासकों आदि का गाढ़ संसर्ग बहुत मीठा और सुहावना लगता है, अपने भक्त-भक्ताओं के अतिपरिचय के प्रवाह में साधु अपने ज्ञान-ध्यान, तप-संयम और साधु-जीवन की दैनिकचर्या से विमुख होने लगता है, भक्तों द्वारा की जाने वाली प्रशंसा और प्रसिद्धि, भक्ति और पूजा से साधु के मन में मोह, अहंकार और राग घुस जाता है, जो भयंकर कर्मवन्ध का कारण है। इसीलिए इसे गाढ़ कीचड़ एवं सूक्ष्म तथा दुरुद्धर शल्य की उपमा दी है। अतः साधु अतिपरिचय को साधना में भयंकर विघ्नकारक समझकर प्रारम्भ में ही इसका त्याग करे। यह इस गाथा का आशय है।[९]

---

९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६३
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३३७

महयं पलिगोव जाणिया—सांसारिकजनों का अति परिचय साधकों के लिए परिगोप है—पंक (कीचड़) है। परिगोप दो प्रकार का है—द्रव्य-परिगोप और भाव परिगोप। द्रव्यपरिगोप कीचड़ को कहते हैं, और भावपरिगोप कहते हैं आसक्ति को। इसके स्वरूप और परिणाम को जानकर····। जैसे कीचड़ में पैर पड़ने पर आदमी या तो फिसल जाता है या उसमें फँस जाता है, वैसे ही सांसारिकजनों के अतिपरिचय से ये दो खतरे हैं।

जावि वंदणपूयणा इह—मुनि धर्म में दीक्षित साधु के त्याग-वैराग्य को देखकर बड़े-बड़े धनिक, शासक, अधिकारी लोग उसके परिचय में आते हैं, उसकी शरीर से, वचन से वन्दना, भक्ति, प्रशंसा की जाती है और वस्त्रपात्र आदि द्वारा उसकी पूजा-सत्कार या भक्ति की जाती है। अधिकांश साधु इस वन्दना एवं पूजा से गर्व में फूल जाते हैं। यद्यपि जो वन्दना-पूजा होती है वह जैन सिद्धान्तानुसार कर्मोपशमजनित फल मानी जाती है अतः उसका गर्व न करो।

नागार्जुनीय पाठान्तर—यहाँ वृत्तिकार एक नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर सूचित करते हैं—

पलिमंथ महं विजाणिया, जा वि य वंदनपूयणा इधं।
सुहुमं सल्लं दुरुल्लसं, तं पि जिणे एएण पंडिए॥

अर्थात्—स्वाध्याय-ध्यानपरायण एवं एकान्तसेवी निःस्पृह साधु का जो दूसरों—सांसारिक लोगों द्वारा वन्दन-पूजनादि रूप में सत्कार किया जाता है वह भी साधु के धर्म के सदनुष्ठान या सद्गति में महान् पलिमन्थ—विघ्न है, तब फिर शब्दादि विषयों में आसक्ति का तो कहना ही क्या? अतः बुद्धिमान् साधक इस दुरुद्धर सूक्ष्म शल्य को छोड़ दें।[10]

चूर्णिकार '**महयं पलिगोव जाणिया**' के बदले '**महता पलिगोह जाणिया**' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—"**परिगोहो णाम परिष्वंगः····भावे अभिलाषो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु।**" अर्थात् परिगोह कहते हैं—परिष्वंग (आसक्ति) को, द्रव्यपरिगोह पंक है, जो मनुष्य के अंगों में चिपक जाता है, भावपरिगोह है—बाह्य—आभ्यन्तर पदार्थों की अभिलाषा-लालसा।[11]

इसी आशय को बोधित करने वाली एक गाथा सुत्तपिटक में मिलती है। उसमें भी सत्कार को सूक्ष्म दुरुह शल्य बताया गया है।[12]

---

१० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ६४
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४०-३४१

११ (क) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० ६३
(ख) सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका आ० १ पृ० ४६०-४६१

१२ पङ्कोति हि नं पवेदयुं यायं, वन्दनपूजना कुलेसु।
सुखुमं सल्लं दुरुव्वहं सक्कारो कापुरिसेन दुज्जहो॥
—सुत्त पिटक खुद्दकनिकाये थेरगाथा २६३, ३१४, ३७२

एकलविहारीमुनि-चर्या—

१२२ एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया।
भिक्खू उवधाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे ॥ १२ ॥

१२३ णो पीहे णावऽवंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजते।
पुट्ठो ण उदाहरे वयं, न समुच्छे नो य संथरे तणं ॥ १३ ॥

१२४ जत्थऽत्थमिए अणाउले, सम-विसमाणि मुणीऽहियासए।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सिरीसिवा सिया ॥ १४ ॥

१२५ तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽधियासिया।
लोमादीयं पि ण हरिसे, सुन्नागारगते महामुणी ॥ १५ ॥

१२६ णो अभिकंखेज्ज जीवियं, णो वि य पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थमुवेंति भेरवा, सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥ १६ ॥

१२७ उवणीततरस्स ताइणो, भयमाणस्स विवित्तमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाणं भए ण दंसए ॥ १७ ॥

१२८ उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गि असाहु रायिहिं, असमाही उ तहागयस्स वि ॥ १८ ॥

१२२. भिक्षु वचन से गुप्त और अध्यात्म-संवृत (मन से गुप्त) तथा तपोवली (उपधान-वीर्य) होकर अकेला (द्रव्य से सहायरहित एकाकी, और भाव से रागद्वेष रहित) विचरण करे। कायोत्सर्ग, आसन और शयन अकेला ही करता हुआ समाहित (समाधियुक्त धर्मध्यान युक्त होकर) रहे।

१२३. संयमी (साधु) सूने घर का द्वार न खोले और न ही बन्द करे, किसी से पूछने पर (सावद्य) वचन न बोले, उस मकान (आवासस्थान) का कचरा न निकाले, और तृण (घास) भी न बिछाए।

१२४. जहाँ सूर्य अस्त हो जाए, वहीं मुनि क्षोभरहित (अनाकुल) होकर रह जाए। सम-विषम (कायोत्सर्ग, आसन एवं शयन आदि के अनुकूल या प्रतिकूल) स्थान हो तो उसे सहन करे। वहाँ यदि डांस-मच्छर आदि हो, अथवा भयंकर प्राणी या सांप आदि हों तो भी (मुनि इन परीषहों को सम्यक् रूप से सहन करे।)

१२५. शून्य गृह में स्थित महामुनि तिर्यञ्चजनित, मनुष्यकृत एवं देवजनित त्रिविध उपसर्गों को सहन करे। भय से रोमादि-हर्षण (रोमांच) न करे।

१२६. (पूर्वोक्त उपसर्गों से पीड़ित साधु) न तो जीवन की आकांक्षा करे और न ही पूजा का

प्रार्थी (सत्कार-प्रशंसा का अभिलाषी) बने। शून्यगृह-स्थित (जीवन-मरण और पूजा से निरपेक्ष) भिक्षु को (धीरे-धीरे) भैरव (भयंकर) प्राणी अभ्यस्त-सह्य हो जाते हैं।

१२७. जिसने अपनी आत्मा को ज्ञानादि के समीप पहुंचा दिया है, जो त्रायी (अपना और दूसरों का उपकार कर्त्ता या त्राता) है, जो स्त्री-पशु-नपुंसक-संसर्ग से रहित विविक्त (विजन) स्थान का सेवन करता है तथा जो अपनी आत्मा में भय प्रदर्शित नहीं करता उस साधु का जो चारित्र है, उसे तीर्थंकरों ने सामायिक चारित्र कहा है।

१२८. गर्मजल को गर्म (विना ठंडा किये) ही पीने वाले, (श्रुत-चारित्र-रूप) धर्म में स्थित (स्थिर) एवं (असंयम से) लज्जित होने वाले मुनि को राजा आदि से संसर्ग करना अच्छा नहीं है। (क्योंकि वह) उक्त प्रकार के शास्त्रोक्त आचार-पालन में स्थित तथागत मुनि का भी समाधिभंग करता है।

विवेचन—एकाकी-विचरणशील साधु की आचार-संहिता—प्रस्तुत सप्तसूत्री (सूत्रगाथा १२२ से १२८ तक) में एकाकी विचरणशील विशिष्ट साधु की योग्यता एवं आचार संहिता की झांकी दी गई है। वह २२ सूत्री आचार संहिता इस प्रकार है—

(१) एकचारी साधु स्थान (कायोत्सर्गादि), आसन और शयन अकेला ही करे, (२) सभी परिस्थितियों में समाधियुक्त होकर रहे, (३) मनोगुप्त, वाग्गुप्त और तपस्या में पराक्रमी हो, (४) शून्यगृह का द्वार न खोले, न वन्द करे, (५) प्रश्न का उत्तर न दे, (६) मकान का कचरा न निकाले, (७) वहाँ घास भी न बिछाएँ, (८) जहाँ सूर्य अस्त हो जाए, वहीं क्षोभरहित होकर ठहर जाए, (९) अनुकूल-प्रतिकूल आसन, शयन और स्थान को सहन करे, (१०) वहाँ डांस-मच्छर आदि का उपद्रव हो या भयंकर राक्षस आदि हों, अथवा सर्प आदि हो तो भी समभावपूर्वक सहन करे, (११) शून्यागार स्थित साधु दिव्य, जो मानुष और तिर्यंचगत उपसर्ग आएँ उन्हें सहन करे, (१२) भय से जरा भी रोंगटे खड़े न होने दे, (१३) भयंकर उपसर्ग-पीड़ित होने पर न तो जीने की इच्छा करे नहीं पूजा प्रार्थी हो, (१४) शून्य-गृह स्थित साधु के सतत अभ्यास से भयंकर प्राणी भी सह्य हो जाते हैं। (१५) अपनी आत्मा ज्ञानादि में स्थापित करे (१६) स्व-परत्राता बने, (१७) विविक्तासनसेवी हो, (१८) अपनी आत्मा में भय का संचार न होने दे (१९) उष्णोदक, गर्म जल पीए, (२०) श्रुत-चारित्र धर्म में स्थित रहे, (२१) असंयम से लज्जित हो, (२२) शास्त्रोक्त आचारवान मुनि भी असमाधिकारक राजादि का संसर्ग न करे।

ये मुख्य-मुख्य अर्हताएँ हैं, जो एकाकीचर्याशील साधु में होनी चाहिए या उसे प्राप्त करनी चाहिए।[13]

एकाकीचर्या : लाभ या हानि ?—प्रस्तुत सात गाथाओं में एकाकी विचरण की विशिष्ट साधना से सम्वन्धित निरूपण है। समूह के साथ साधु रहेगा तो उसे समूह की रीति-नीति के अनुसार चलना पड़ेगा। सामूहिक रूप से कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, शयन एवं आसन का उपयोग करना होगा। समूह में

---

१३ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति मूल भाषानुवाद भा० १ पृ० २४४ से २५० तक का सार
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४२ से ३५२ तक का सार

रहने पर गृहस्थों का सम्पर्क अधिक होगा, साधु को उनसे सम्मान, प्रतिष्ठा, कल्पनीय यथोचित साधन सुख-सुविधाएँ योग्य वस्त्र, पात्र, आवासस्थान आदि मिलने सम्भव है। ऐसे समय में वह साधु अगर सावधानी न रखे तो उसका जीवन संसर्गजनित दोषों और गर्वादि जनित अनिष्टों से बचना कठिन है। इसी दृष्टि से तथा उक्त दोनों दोषों से दूर रहकर साधु जीवन कीसमाधि और यथार्थ आनन्द प्राप्त करने हेतु शास्त्रकार ने एक विशिष्ट उच्च साधना—एकचर्या-साधना बताई है—**एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए।** इस पंक्ति का आशय यह हैं कि इन सब दोषों तथा राग-द्वेष कषाय आदि से बचने के लिए साधु अकेला विचरण करे, अकेला ही कायोत्सर्ग करे, अकेला ही ठहरे-बैठे और अकेला ही शयन करे। यहाँ जितनी भी एकाकीचर्या बताई है, वहाँ द्रव्य और भाव दोनों से वह एकाकी होनी चाहिए। द्रव्य से एकाकी का मतलब है—दूसरे-साधु श्रावकवर्ग से सहायता लेने में निरपेक्ष। भाव से एकाकी का अर्थ है—राग-द्वेषादि दोषों से तथा जनसम्पर्क-जनित दोषों से रहित एकमात्र आत्मभावों में या आत्म गुणों में स्थित रहकर विचरण करना। अपना स्थान भी ऐसा चुने, जो एकान्त, विजन, पवित्र, शान्त और स्त्री-पशु-नपुंसक संसर्ग रहित हो। जिसके लिए शास्त्रकार ने आगे निर्देश किया है—**'भयमाणस्स विवित्तमासणं'**। यदि साधु एकलविहारी भी हो गया, किन्तु ग्राम के बाहर अथवा कहीं एकान्त में रहकर भी अपना अखाड़ा जमाना शुरु कर दिया, जनता की भीड़ वहाँ भी आने लगी, अथवा वह स्थान एकान्त में होते हुए भी मुर्दाघाट है या गन्दगी (मल-मूत्र) डालने का स्थान है तो वह भी ठीक नहीं। अथवा एकान्त होते हुए भी वहाँ आस-पास कल-कारखानों का या अन्य कोई कोलाहल होता है, अथवा वह पशुओं को बांधने का बाड़ा हो, अथवा किसी स्त्री या नपुंसक का वहाँ रात्रिकाल में आवागमन होता हो तो वह विविक्त नहीं कहलाता, अपवित्र, अशान्त, कोलाहल युक्त या स्त्री-पशु-नपुंसक संसक्त जन समुदाय के जम घट वाले स्थान में रहने से साधु के एकाकीचर्या की साधना स्वीकार करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। वहाँ उसके स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि साधना में विक्षेप पड़ेगा लौकिक स्वार्थ वश सांसारिक लोगों का जमघट शुरू हो गया तो साधु को उनके झमेले से ही अवकाश नहीं मिल पाएगा इन सब खतरों से बचे रहने के लिए एकचर्या के विशिष्ट साधक को यहाँ सावधान किया है। १२८वीं गाथा में इसी बात को स्पष्ट कर दिया है—**'संसग्गी असाहु रायिहिं।'**—अर्थात् राजा आदि राजनीतिज्ञों या सत्ताधारियों के साथ संसर्ग ठीक नहीं है, वह आचारवान् साधु के लिए असमाधिकारक है।[१४]

एकाकीचर्या के योग्य कौन और कौन नहीं?—एकाकी विचरण करने वाले साधु को कठोर साधना करनी पड़ती है, क्योंकि एकाकी विचरण-साधना अंगीकार करने के बाद जरा-सी स्थान की, आहार-पानी की असुविधा हुई, सम्मान-सत्कार में लोगों की अरुचि देखी कि मन में उचाट आ गया, अथवा वाणी में रोष, कठोरता एवं अपशब्द आ गये, या किसी सूने घर में ठहर जाने पर भी वहाँ किसी प्रकार का दैवी, मानुषी, या पाशविक उपद्रव खड़ा हो गया, तो साधु की समाधि भंग हो जायेगी, मन में राग-द्वेष-मोह का उफान आने लागेगा। दशाश्रुतस्कन्ध में कहा है—उक्त बीस असमाधि स्थानों से दूर रहकर श्रुत, विनय, आचार एवं तप, इन चार प्रकार की समाधि में स्थित रहना चाहिए। वस्तुतः एकचर्या का लाभ उसी को मिल सकता है, जो पहले अपने आपको एकचर्या के योग्य बना ले। अन्यथा,

१४ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४३-३४४ के आधार पर

एकचर्या से लाभ के वदले हानि ही अधिक उठानी पड़ सकती है।[१५] चित्त समाधि युक्त साधक की इस प्रकार की विशिष्ट उपलब्धियाँ भी हो सकती है। इसलिए इन सूत्रगाथाओं में एकचारी साधक में १२ विशिष्ट गुणों का होना अनिवार्य बताया है—

(१) वह समाधियुक्त हो, (२) वचनगुप्ति (मौन या विवेकपूर्वक अल्प भाषण) से युक्त हो, (३) मन को भी राग-द्वेष-कषायोत्पादक विचारों से रोककर (संवृत-गुप्त) रखे, (४) वाह्य एवं आभ्यन्तर तप करने में शक्तिशाली (पराक्रमी) हो, (५) भिक्षणशील हो, (६) जीने की आकांक्षा (प्राणों का मोह) न हो, (७) पूजा-प्रतिष्ठा की चाह न हो, (८) सभी प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने में सक्षम हो, (९) भय से रोमांच या अंग विकार न हो, (१०) अपनी आत्मा में परीषहोपसर्ग जनित भय का भूत खड़ा न करे और (११) श्रुत-चारित्रधर्म या मुनिधर्म में स्थिर रहे तथा (१२) असंयम के कार्य करने में लज्जित हो।

इसके अतिरिक्त एकचारी साधु के लिए अहिंसादि की दृष्टि से कुछ कठोरचर्याओं का भी निर्देश किया है—

(१) **शून्यगृह का द्वार न खोले, न बंद करे**—वर्षों से विना सफाई किये पड़े हुए जन शून्य मकान में जाले जम जाते हैं, मकड़ी आदि कई जीव आकर बसेरा कर लेते हैं, चिड़िया-कबूतर आदि पक्षी भी, छिपकली आदि भी वहाँ अपना घोंसला बना लेते हैं, अण्डे दे देते हैं, साँप विच्छू आदि विषैले जन्तु भी वहाँ अपना डेरा जमा लेते हैं। कीड़े वहाँ रेंगते रहते हैं। इसलिए साधु वर्षा, सर्दी या गर्मी का परीषह सह ले, किन्तु उसके द्वार को न तो खोले, न वन्द करे, यह निर्देश किया गया है।

(२) **न सफाई करे, न घास विछाए**—साथ ही उस दीर्घकाल से सूने पड़े हुए मकान की सफाई (प्रमार्जन) करने और घास विछाने का निषेध इसलिए किया गया है कि वहाँ रहने वाले जीव-जन्तुओं की इससे विराधना होगी।

(३) **पूछने पर बोलते नहीं**—साधु को कायोत्सर्ग में सूने घर में खड़े देख बहुत से लोग उस पर चोर, डाकू, गुप्तचर, लुटेरा या अन्य अपराधी होने का सन्देह कर बैठते हैं, और उससे पूछते हैं—"कौन है? कहाँ से आया है?" इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—**पुट्ठे ण उदाहरे वयं**। प्रश्न होता है—विलकुल न बोलने पर लोग कदाचित् कुपित होकर मारें-पीटें, सताएँ, उस समय समभावपूर्वक सहन करने की शक्ति न हो तो मुनि क्या करें? यहाँ वृत्तिकार अभिग्रहधारी या जिनकल्पिक साधु के लिए तो निरवद्य-वचन भी बोलने का निषेध करते हैं, किन्तु स्थविरकल्पी गच्छगत साधु के लिए व कहते हैं—"शून्य

---

१५ (क) देखिये दशाश्रुतस्कन्ध में २० असमाधिस्थान।—दशाश्रुतस्कन्ध सू० १-२

(ख) "चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता—तंजहा विणयसमाही, सुयसमाही, तवसमाही, आयारसमाही।"

—दशवै० अ० ९, ३-४

(ग) ····इमाइं दस चित्तसमाहिठाणाइं असमुप्पण्णपुव्वाइं समुपज्जेज्जा····(१) धम्मचिंता····(२) सण्णिजाइसरणेणं ····(३) सुमिणदंसणे····(४) देवदंसणे····(५)····ओहिणाणे····(६) ओहिदंसणे····(७) मणपज्जवणाणे···· (८) केवलणाणे····(९) केवलदंसणे····, (१०) केवलमरणे वा····।"

—दशा० श्रु० दशा ५ सू० ६

आगार में या अन्यत्र स्थित (स्थविरकल्पी) साधु से यदि कोई धर्म आदि के सम्बन्ध में या मार्ग अथवा परिचय पूछे तो सावद्य (समाप) भाषा न बोले।"

(४) **सूर्य अस्त हो जाए वहाँ शान्ति से रह जाए**—इस निर्देश के पीछे यह रहस्य है कि रात के अँधेरे में साँप, बिच्छू आदि दिखाई न देने के कारण काट सकते हैं, हिंस्र वन्य पशु भी आक्रमण कर सकते हैं, चोर-लुटेरे आदि के सन्देह में वह पकड़ा जा सकता है, अन्य सूक्ष्म व स्थूल जीव भी पैर के नीचे आकर कुचले जाने सम्भव हैं। इसलिए सूर्यास्त होते ही वह उचित स्थान देखकर वहीं रात्रि-निवास करे।

(५) **प्रतिकूल एवं उपद्रव युक्त स्थान में समभाव से परीषह सहे**—कदाचित् कोई ऊबड़-खाबड़ खुला या बिलकुल बन्द स्थान मिल गया, जहाँ डांस, मच्छर आदि का उपद्रव हो, जंगली जानवरों का भय हो, जहरीले जन्तु निकल आयें तो साधु व्याकुल हुए बिना शान्ति से उन परीषहों को सह ले।

(६) **गर्म पानी गर्म-गर्म ही पीये**—यह स्वाद-विजय एवं कष्टसहिष्णुता की दृष्टि से एकचारी साधु-का विशिष्ट आचार बताया है।[१६]

एकचर्या की विकट साधना का अधिकारी साधक—सूत्रगाथा १२२ से १२८ तक जो एकचर्या की विशिष्ट साधना, उसकी योग्यता तथा उस साधना की कुछ विशिष्ट आचार-संहिता को देखते हुए निःसन्देह कहा जा सकता है कि इस कठोर साधना का अधिकारी या तो कोई विशिष्ट अभिग्रहधारी साधु हो सकता है, या फिर जिनकल्पिक साधु। स्थविरकल्पी साधु के वश की बात नहीं है कि वह दैवी, मानुषी या तिर्यञ्चकृत उपसर्गों या विविध परीषहों के समय उक्त प्रकार से अविचल रह सके, भय से कांपे नहीं, जीवन का मोह या यश-प्रतिष्ठा की आकांक्षा का मन से जरा भी स्पर्श न हो। वृत्तिकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है।[१७]

इतनी विशिष्ट योग्यता कैसे आये? प्रश्न होता है—इतने भयंकर कष्टों, उपद्रवों एवं संकटों का सामना करने की शक्ति किसी भी साधक में एकदम तो आ नहीं सकते। कोई दैवी वरदान से तो यह शक्ति और योग्यता प्राप्त होने वाली नहीं, ऐसी स्थिति में एकचारी साधक में ऐसी क्षमता और योग्यता कैसे आ पायेगी? शास्त्रकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं—'**अब्भत्थमुवेंति भेरवा····भिक्खुणे**।" इसका आशय यह है कि ऐसा विशिष्ट साधक महामुनि जब जीने की आकांक्षा और पूजा-प्रतिष्ठा की लालसा का बिलकुल त्याग करके बार-बार शून्यागार में कायोत्सर्गादि के लिए जायेगा, वहाँ पूर्वोक्त दंश-मशक आदि के उपद्रव तथा भयंकर उपसर्ग आदि सहने का अभ्यास हो जायेगा, तब उसे ये सब उपसर्गकर्ता प्राणी आत्मीय मित्रवत् प्रतीत होने लगेंगे, और मतवाले हाथी के समान उसके मन पर

---

१६ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६४

१७ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ३४२ से ३५२

(ख) I....शून्यागारगतः शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादि स्थितो महामुनिर्जिनकल्पादिरिति। II तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद् धर्मादिकं मार्गं वा पृष्टः—सन् सावद्यां वाचं नोदाहरेन्नब्रूयात्, आभिग्रहिको जिनकल्पादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्।····नाऽपि शयनार्थी कश्चिदाभिग्रहिकः तृणादिकं संस्तरेत्—तृणैरपि-संस्तेरकं न कुर्यात् किं पुनः कम्बलादिना?

—सूत्रकृ० वृत्ति पत्रांक ६४-६५

शीत-उष्ण, दंश-मशक आदि परीषहों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उसके लिए ये भयंकर परीषह या उपसर्ग सह्य हो जायेंगे।[१७]

कठिन शब्दों की व्याख्या—ठाणं=कायोत्सर्ग, या एक स्थान में स्थित होना। **उवधाणवीरिए**=तपस्या में पराक्रमी। **अज्झप्पसंवुडे**=आत्मा में लीन अथवा मनोगुप्ति से युक्त। **णो पीहे**=न वन्द करे, **णाऽवंगुणे**=नहीं खोले। **ण समुच्छे**=इसके दो अर्थ फलित होते हैं—वृत्तिकार ने व्याख्या की है—**न समुच्छिन्द्यात् तृणानि कचवरं च प्रमार्जनेन नापनयेत्**- अर्थात्—घास-तिनके एवं कचरा झाड़-बुहार कर निकाले-हटाए नहीं। **चरगा**=डांस, मच्छर आदि काटने वाले जीव। **समविसमाइं**=अनुकूल-प्रतिकूल शयन, आसन आदि। **मुणी**—यथार्थ संस्कार का वेत्ता-मननकर्ता। **महामुणी** - जिनकल्पिक मुनि या उच्च अभिग्रहधारी साधक। **समाहिए**=वृत्तिकार के अनुसार—'विचरण-निवास, आसन, कायोत्सर्ग, शयन आदि विविध अवस्थाओं में राग-द्वेष रहित होने से ही समाहित-समाधियुक्त होता है।' चूर्णिकार के अनुसार—'एकाकी विचरण समाहित अर्थात्—आचार्य, गुरु आदि से अनुमत होकर करे।' **तिविहाऽधिवासिया**=तीनों प्रकार के उपसर्गों को सम्यक् सहन करे। चूर्णिकार **'तिविहावि सेविया'** पाठान्तर मानते हैं। **अब्भत्थमुवेंति भेरवा**=भयानक परिषह-उपसर्ग (उपद्रव) आदि अभ्यस्त—आसेवित या सुसह हो जाते हैं। **उवणीततरस्स**=जिस साधक ने अपनी आत्मा ज्ञानादि के निकट पहुँचा दी है, उस उपनीततर साधु का। **धम्मट्ठियस्स**=वृत्तिकार के अनुसार—धर्म में स्थित साधु के, चूर्णिकार के अनुसार—जिसका धर्म से ही अर्थ—प्रयोजन है, वह धर्मार्थी। **असमाही उ तहागयस्स वि**—शास्त्रोक्त आचारपालक साधु का भी राजा आदि के संसर्ग से असमाधि अर्थात्—अपध्यान ही सम्भव है। **उसिणोदगतत्तभोइणो**=तीन बार उकाला आये हुए गर्म जल का सेवन करने वाला अथवा उष्णजल को ठंडा न करके गर्म-गर्म ही सेवन करने वाला। **हीमतो**=असंयम के प्रति लज्जावान् है।[१८]

उवणीयतरस्स………… अप्पाणं भए ण दंसए=इसी गाथा से मिलती-जुलती गाथा बौद्ध-धर्म ग्रन्थ सुत्तपिटक में मिलती है।[१९]

अधिकरण-विवर्जना—

> १२६ **अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।**
> **अट्ठे परिहायती बहू, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए॥ १९॥**

---

१७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६४-६५

(ख) अब्भत्थमवेंति भेरवा=अभ्यस्ता नाम आसेविता……नीराजितवारणस्यैऽभैरवा एव भवन्ति।

—सूत्रकृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० २३

१८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६४-६५

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २२-२३

१९ तुलना—पतिलीनचरस्स भिक्खुनो भजमानस्स विवित्तमासनं।
सामाग्गियमाहु तस्स तं यो अत्तानं भवने न दस्सये।

—सुत्तपिटके खुद्दकनिकाये सुत्तनिपाते अट्ठकवग्गे पृ० ३६४

१२९. जो साधु अधिकरण (कलह या विवाद) करता है, और हठपूर्वक या मुँहफट होकर भयंकर कठोर वचन बोलता है, उसका बहुत-सा अर्थ (संयमधन या मोक्षरूप प्रयोजन) नष्ट हो जाता है। इसलिए पण्डित (सद्-असद् विवेकी) मुनि अधिकरण न करे।

विवेचन—अधिकरण निषेध—प्रस्तुत गाथा में साधु के लिए अधिकरण सर्वथा वर्जनीय बताया है। इसके दो लक्षण बताये गये हैं—अधिकरणशील साधु रौद्रध्यान ईर्ष्या, रोष, द्वेष, छिद्रान्वेषण, कलह आदि पाप-दोष बटोरता है, (२) वह हठपूर्वक प्रकट रूप में भयंकर कठोर वचन बोलता है।

परिणाम—अधिकरण करने वाले साधु का बहुत-सा संयमधन लुट जाता है, अथवा उसका मोक्ष-रूप प्रयोजन सर्वथा नष्ट हो जाता है। कहा भी है—

"जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवनियमबंभमाइएहिं।
माहु तयं कलहंता छड्डे अहसागपत्तेहिं॥

—चिरकाल तक कठोर तप, नियम एवं ब्रह्मचर्य आदि बड़ी मुश्किल से जो सत्फल उपार्जित किया है, उसे तुच्छ बातों के लिए कलह करके नष्ट मत करो, ऐसा पण्डितजन उपदेश देते हैं।

अधिकरणकर का अर्थ—बात को अधिकाधिक बढ़ा-चढ़ाकर करना, उसे बतंगड़ बना देना, और विवाद खड़ा करके कलह करना अधिकरण है। बात-बात में जिसका अधिकरण करने का स्वभाव हो जाता है, उसे 'अधिकरण कर' कहते हैं।[२०]

सामायिक-साधक का आचार—

१३० **सीओदगपडिदुगुञ्छिणो, अपडिण्णस्स लवावसक्किणो।**
सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुञ्जती॥ २०॥

१३१ **न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणे पगब्भती।**
बाले पावेहिं मिज्जती, इति संखाय मुणी ण मज्जती॥ २१॥

१३२ **छंदेण पलेतिमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा।**
वियडेण पलेति माहणे, सीउण्हं वयसाऽहियासए॥ २२॥

१३० जो साधु ठण्डे (कच्चे=अप्रासुक) पानी से घृणा (अरुचि) करता है, तथा मन में किसी प्रकार की प्रतिज्ञा (सांसारिक कामना पूर्ति का संकल्प—निदान) नहीं करता, कर्म (बन्धन) से दूर रहता है, तथा जो गृहस्थ के भाजन (वर्तन) में भोजन नहीं करता, उस साधु के समभाव को सर्वज्ञों ने सामायिक (समतायोग) कहा है।

---

२० (क) सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका, भाग १, पृ० ५८५
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३५४
(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ६६

१३१. जीवन संस्कार करने (जोड़ने) योग्य नहीं है ऐसा (सर्वज्ञों ने) कहा है, तथापि अज्ञानीजन (पाप करने में) धृष्टता करता है। वह अज्ञजन (अपने बुरे कार्यों से उपार्जित पापों के कारण) पापी माना जाता है, यह जानकर (यथावस्थित पदार्थवेत्ता) मुनि मद नहीं करता।

१३२. वहुमायिक एवं मोह से प्रावृत (आच्छादित) ये प्रजाएँ (विभिन्न जाति के प्राणी) अपने स्वच्छन्दाचार के कारण नरक आदि गतियों में जाकर लीन (प्रविष्ट) होती हैं, किन्तु अहिंसा महाव्रती महामाहन (कपट रहित कर्म के कारण मोक्ष अथवा संयम में) प्रलीन होता है। और शीत (अनुकूल) और उष्ण (प्रतिकूल) परीषहों को मन-वचन-काया से सहता है।

विवेचन—सामायिक-साधक के मौलिक आचारसूत्र—प्रस्तुत तीन गाथाओं में शास्त्रकार ने सामायिक साधक के कुछ मौलिक आचारसूत्र बताये हैं—(१) वह ठण्डे (कच्चे-अप्रासुक) जल से घृणा (अरुचि) करता है, (२) किसी भी प्रकार का निदान (सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति का संकल्प) नहीं करता (३) कर्मबन्धन के कारणों से दूर हट जाता है, (४) गृहस्थ के भाजन (बर्तन) में भोजन नहीं करता, (५) जीवन को क्षणभंगुर (असंस्कृत) जानकर मद (घमण्ड) नहीं करता, (६) स्वच्छन्दाचार, मायाचार एवं मोह प्रवृत्ति के दुष्परिणाम जानकर इनसे रहित होकर संयमसाधना में लीन रहता है, (७) अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों को मन-वचन-काया से समभावपूर्वक सहता है।[21]

सीओदगपडिदुगुञ्छिणो=शीतोदक—ठण्डे-अप्रासुक-सचित्त पानी के सेवन के प्रति जुगुप्सा-घृणा=अरुचि करने वाला। कैसा भी विकट प्रसंग हो, साधु जरा-सा भी अप्रासुक जल-सेवन करना पसन्द नहीं करता क्योंकि जल-जीवों की विराधना को वह आत्म-विराधना समझता है।

अपडिण्णस्स=प्रतिज्ञा—किसी भी अभीष्ट मनोज्ञ इहलौकिक-पारलौकिक विषय को प्राप्त करने का निदान रूप संकल्प (नियाणा) न करने वाला साधु।

'लवावसक्किणो'—शब्द का अर्थ है—लेशमात्र कर्मबन्धन से भी दूर रहने वाला। वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**लवावसप्पिणो**। व्याख्या की है—**लवं कर्म तस्मात् अवसर्पिणः यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानरूपं तत्परिहारिण इत्यर्थः**। अर्थात्—लव कहते हैं कर्म को, उससे अलग हट जाने वाला, अर्थात् जो कार्य कर्मबन्धन का कारण है, उसे जानते ही तुरन्त छोड़ देने वाला। वह लेशमात्र भी कर्मबन्धन के कारण के पास नहीं फटकता।[22]

'गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती'—गृहस्थ के वर्तनों में भोजन नहीं करता। दशवैकालिक सूत्र में साधु को गृहस्थ के वर्तन में भोजन करने का निषेध निम्नोक्त कारणों से किया है—(१) पश्चात्कर्म और पुरःकर्म की सम्भावना है, (२) बर्तनों को गृहस्थ द्वारा सचित्त जल से धोने और उस धोए हुए पानी को

---

२१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६६ का सारांश
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुख बोधिनी व्याख्या ३५५-३५७ के आधार पर

२२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६६
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३५५ के आधार पर
सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० २३

अयतनापूर्वक फेंकने से प्राणियों की हिंसा होती है, (३) गृहस्थ के कांसे आदि के बर्तनों में भोजन करने वाला श्रमण आचारभ्रष्ट हो जाता है। यही कारण है कि गृहस्थ के बर्तन में भोजन आदि करने से समत्वयोग भंग होता है।[२३]

इति संखाय मुणी ण मज्जती—जीवन को क्षणभंगुर जानकर भी धृष्टतापूर्वक बेखटके पापकर्म में प्रवृत्त होने वाले पापीजनों को जान-देखकर तत्त्वज्ञ मुनि किसी प्रकार का मद—घमण्ड नहीं करता। इसका अर्थ वृत्तिकार ने किया है—ऐसी स्थिति में मुनि के लिए ऐसा मद करना (अभिमान या घमण्ड करना) पाप है कि इन बुरे कार्य करने वालों में मैं ही सत्कार्य करने वाला हूँ, मैं ही धर्मात्मा हूँ, अमुक मनुष्य तो पापी है, मैं उच्च क्रियापात्र हूँ, ये सब तो शिथिलाचारी हैं। असन्ध्येय—असंस्कृत जिन्दगी में मानव किस बूते पर अभिमान कर सकता है ?"

अथवा इस पंक्ति का आशय यह भी हो सकता है—आयुष्य के क्षण नष्ट होते ही जीवन समाप्त हो जाता है, किसी का भी जीवन स्थायी और आयुष्य के टूटने पर जुड़ने वाला नहीं है, फिर कोई भी तत्त्वज्ञ विचारशील मुनि अपने पद, ज्ञान, विद्वत्ता, वक्तृत्वकला, तपश्चरणशक्ति, या अन्य किसी लब्धि-उपलब्धि या योग्यता विशेष का मद (अभिमान) कैसे कर सकता है ?

"छंदेण पले इमा पया····वियडेंण पलेंति माहणे" इस पंक्ति का आशय यह है कि अज्ञ-प्रजाजन अपने-अपने स्वच्छन्द आचार-विचार के कारण, तथा मायाप्रधान आचार के कारण मोह से—मोहनीय कर्म से आवृत्त होकर नरकादि गतियों में जाते हैं। स्वत्वमोह से उनकी बुद्धि आवृत्त हो जाने से वे लोग **'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत'** इत्यादि श्रुति वाक्यों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करके देवी-देवों के नाम से या धर्म के नाम से बकरे, मुर्गे आदि पशु-पक्षियों की बलि करते हैं। इसे वे यज्ञ—अभीष्ट कल्याण साधक मानते हैं। कई विभिन्न यज्ञों में अश्व, गौ, मनुष्य आदि को होमने का विधान करते हैं। कई मोहमूढ़ लोग अपने धर्मसंघ, आश्रम, मन्दिर, संस्था या जाति आदि की रक्षा के नाम पर दासी-दास अथवा पशु तथा धनधान्य आदि का परिग्रह करते हैं। भोले-भाले लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने हेतु तथा क्रियाकाण्डों का सब्जबाग दिखाकर उनसे धन-साधन आदि बटोरने-ठगने के लिए बाह्य शौच को धर्म बताकर शरीर पर बार-बार पानी छींटने, स्थान को बार-बार धोने, बर्तनों को बार-बार रगड़ने तथा कान का स्पर्श करने आदि माया प्रधान वंचनात्मक प्रवृत्ति करते हैं, और उसी का समर्थन करते हुए वे कहते हैं—

---

२३ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६६

(ख) तुलना कीजिए—कंसेसु कंसपाएसु कुण्डमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥
सीओदगसमारंभे, मत्तधोयण-छड्डणे।
जाइं छन्नंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥
पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिया तत्थ न कप्पई।
एयमट्ठं न भुंजंति निग्गंथा गिहिभायणे ॥

—दसवेआलियं (मुनि नथमलजी) अ० ६ गा० ५०, ५१, ५२

"कुक्कुटसाध्यो लोको, नाकुक्कुटतः प्रवर्त्तते किंचित् ।
तस्याल्लोकस्यार्थे स्वपितरमपि कुक्कुटं कुर्यात् ॥

अर्थात्—'यह संसार कपट से ही साधा (वश में किया) जाता है, बिना कपट किए जरा-सा भी लोक-व्यवहार नहीं चल सकता। इसलिए लोक-व्यवहार के लिए व्यक्ति को अपने पिता के साथ भी कपट करना चाहिए। जो भी हो, स्वेच्छाचार और मायाचार, उसके कर्त्ता को नरकादि दुर्गतियों में ले डूबते हैं। अतः सामायिक साधक महामुनि को कपटाचार एवं स्वैराचार का दुष्परिणाम बताकर सावधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—वह इस मायाचार एवं स्वच्छन्दाचार से बचकर वीतरागोक्त शास्त्रविहित साध्वाचार में या मोक्ष प्रदायक संयम में लीन रहे।[२४]

'वियडेण' पलेंति का अर्थ—प्रकटेनाऽमायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण—कई बार सरल निश्चल एवं चमत्कार, आडम्बर आदि से रहित सीधे-सादे साधु को विवेक—विकल लोग समझ नहीं पाते, उसकी अवज्ञा, अपमान एवं तिरस्कार कर बैठते हैं। कई बार गृहस्थ लोग अपने पुत्र धनादि प्राप्ति का रोग निवारण इत्यादि स्वार्थों के लिए तपस्वी संयमी साधु के पास आते हैं। उसके द्वारा कुछ भी न बतलाने या प्रपंच न करने पर वे लोग उसे मारते-पीटते हैं या उसे बदनाम करके गाँव से निकाल देते हैं। अपशब्द भी कहते हैं। ऐसी स्थिति में समतायोगी साधु को क्या करना चाहिए ? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—सीउण्ह वयसाऽहियासए—शीत या उष्ण परीषह या उपसर्ग वचन एवं उपलक्षण से मन और शरीर से समभावपूर्वक सहने चाहिए। शीत और उष्ण शब्द यहाँ अनुकूल और प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग के द्योतक हैं।[२५]

चूर्णिकार 'छन्देण पलेतिमा पया' के बदले 'छण्णेण पलेतिया पया' पाठान्तर मानकर छण्णेण का अर्थ करते हैं—छण्णेणंति डम्भेणोवहिणा वा'—छन्न अर्थात् गुप्त—मायालिप्त, दम्भ या उपधि (कपट) के कारण।[२६]

अनुत्तरधर्म और उसकी आराधना—

१३३ कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दिव्वयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तेयं नो चेव दावरं ॥ २३ ॥

१३४ एवं लोगंमि ताइणा, बुइएऽयं धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हितं ति उत्तमं, कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥ २४ ॥

---

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ३४६ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २६६ के आधार पर

२५ सूत्रकृतांग अमर सुख बोधिनी व्याख्या पृ० ३७५ के आधार पर

२६ सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २४

१३५ उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा इति मे अणुस्सुतं ।
जंसी विरता समुट्ठिता, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥ २५ ॥

१३६ जे एय चरंति आहियं, नातेणं महता महेसिणा ।
ते उट्ठित ते समुट्ठिता, अन्नोन्नं सारेंति धम्मओ ॥२६॥

१३७ मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धुणित्तए ।
जे दूवणतेहि णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं ॥२७॥

१३८ णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए ।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए य ण यावि मामए ॥२८॥

१३९ छण्णं च पसंस णो करे, न य उक्कास पगास माहणे ।
तेसिं सुविवेगमाहिते, पणया जेहिं सुझोसितं धुयं ॥२९॥

१४० अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहितिंदिए, आयहियं खु दुहेण लब्भई ॥३०॥

१४१ ण हि णूण पुरा अणुस्सुतं, अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइयाहितं, णाएणं जगसव्वदंसिणा ॥३१॥

१४२ एवं मत्ता महंतरं, धम्ममिणं सहिता बहू जणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा, विरता तिन्न महोघमाहितं ॥३२॥
त्ति बेमि ॥

१३३. कभी पराजित न होने वाला चतुर जुआरी (कुजय) जैसे कुशल पासों से जुआ खेलता हुआ कृत नामक चतुर्थ स्थान को ग्रहण करता है, कील को नहीं, (इसी तरह) न तो तृतीय स्थान (त्रेता) को ग्रहण करता है, और न ही द्वितीय स्थान (द्वापर) को ।

१३४. इसी तरह लोक में जगत् (षड्जीवनिकायरूप) के त्राता (रक्षक) सर्वज्ञ के द्वारा कथित जो अनुत्तर (सर्वोत्तम) धर्म है, उसे वैसे ही ग्रहण करना चाहिए; जैसे कुशल जुआरी शेष समस्त स्थानों को छोड़कर कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है; क्योंकि वही (धर्म) हितकर एवं उत्तम है ।

१३५. मैंने (सुधर्मा स्वामी ने) परम्परा से यह सुना है कि ग्राम-धर्म (पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि विषय अथवा मैथुन सेवन) इस लोक में मनुष्यों के लिए उत्तर (दुर्जेय) कहे गये हैं। जिनसे विरत (निवृत्त) तथा संयम (संयमानुष्ठान) में उत्थित (उद्यत) पुरुष ही काश्यपगोत्रीय भगवान ऋषभदेव अथवा भगवान् महावीर स्वामी के धर्मानुयायी साधक हैं ।

१३६. जो पुरुष महान् महर्षि ज्ञातपुत्र के द्वारा कथित इस धर्म का आचरण करते हैं, वे ही मोक्ष-मार्ग में उत्थित (उद्यत) हैं, और वे सम्यक् प्रकार से समुत्थित (समुद्यत) हैं. तथा वे ही धर्म से (विचलित या भ्रष्ट होते हुए) एक-दूसरे को सँभालते हैं, पुनः धर्म में स्थिर या प्रवृत्त करते हैं।

१३७. पहले भोगे हुए शब्दादि विषयों (प्रणामकों) का अन्तर्निरीक्षण या स्मरण मत करो। उपधि (माया या अष्टविध कर्म-परिग्रह) को धुनने-दूर करने की अभिकांक्षा (इच्छा) करो। जो दुर्मनस्कों (मन को दूषित करने वाले शब्दादि विषयों) में नत (समर्पित या आसक्त) नहीं है, वे (साधक) अपनी आत्मा में निहित समाधि (राग-द्वेष से निवृत्ति या धर्मध्यानस्थ चित्तवृत्ति) को जानते हैं।

१३८. संयमी पुरुष विरुद्ध काथिक (कथाकार) न बने, न प्राश्निक (प्रश्नफल वक्ता) बने, और न ही सम्प्रसारक (वर्षा, वित्तोपार्जन आदि के उपाय निर्देशक) बने, न ही किसी वस्तु पर ममत्ववान् हो; किन्तु अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) धर्म को जानकर संयमरूप धर्म-क्रिया का अनुष्ठान करे।

१३९. माहन (अहिंसाधर्मी साधु) माया और लोभ न करे, और न ही मान और क्रोध करे। जिन्होंने धुत (कर्मों के नाशक– संयम) का अच्छी तरह सेवन—अभ्यास किया है, उन्हीं का सुविवेक (उत्कृष्ट विवेक) प्रसिद्ध हुआ है, वे ही (अनुत्तर धर्म के प्रति) प्रणत—समर्पित हैं।

१४०. वह अनुत्तर-धर्मसाधक किसी भी वस्तु की स्पृहा या आसक्ति न करे, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि करने वाले हितावह कार्य करे, इन्द्रिय और मन को गुप्त—सुरक्षित रखे, धर्मार्थी तपस्या में पराक्रमी बने, इन्द्रियों को समाहित—वशवर्ती रखे, इस प्रकार संयम में विचरण करे, क्योंकि आत्महित (स्वकल्याण) दुःख से प्राप्त होता है।

१४१. जगत् के समस्त भावदर्शी ज्ञातपुत्र मुनिपुंगव भगवान् महावीर ने जो सामायिक आदि का प्रतिपादन किया है, निश्चय ही जीवों ने उसे सुना ही नहीं है, (यदि सुना भी है तो) जैसा (उन्होंने) कहा, वैसा (यथार्थरूप से) उसका आचरण (अनुष्ठान) नहीं किया।

१४२. इस प्रकार जानकर सबसे महान् (अनुत्तर) आर्हद्धर्म को मान (स्वीकार) करके ज्ञानादि-रत्नत्रय—सम्पन्न गुरु के छन्दानुवर्ती (आज्ञाधीन या अनुज्ञानुसार चलने वाले) एवं पाप से विरत अनेक मानवों (साधकों) ने इस विशालप्रवाहमय संसारसागर को पार किया है, यह भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है।

—ऐसा मैं तुमसे कहता हूँ।

विवेचन—अनुत्तरधर्म और उसकी आराधना के विविध पहलू—सूत्रगाथा १३३ से १४२ तक दस सूत्रों में शास्त्रकार ने तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित अनुत्तरधर्म का माहात्म्य और उसकी विविध प्रकार से आराधना की प्रक्रिया बतायी है। प्रथम दो सूत्र गाथाओं में अनुत्तर धर्म की महत्ता और उपादेयता कुशल दुर्जेय जुआरी की उपमा देकर समझायी है। तदनन्तर अनुत्तरधर्म की साधना के अधिकारी कौन हो सकते हैं? इसके लिए दो अर्हताएँ बतायी हैं—(१) जो दुर्जेय ग्रामधर्म (शब्दादि विषय या काम) से निवृत्त हैं, तथा (२) जो मोक्षमार्ग में उत्थित-समुत्थित है। इसके बाद चार सूत्रगाथाओं (१३७ से १४० तक) में अनुत्तर-धर्म के आराधक के लिए निषेध-विधान के रूप में कुछ आचारधाराएँ बतायी हैं—

(१) वह पूर्वभुक्त शब्दादि विषयों का स्मरण न करे, (२) अष्टविध कर्मपरिग्रह या माया (उपधि)

को दूर करने की अभिकांक्षा करे, ताकि समाधि के दर्शन कर सके, (३) आत्महित-विरुद्ध कथा करने वाला न बने, (४) न प्राश्निक (प्रश्नों का फलादेश बताने वाला) बने, और (५) न सम्प्रसारक (अपने व्यक्तित्व का प्रसार (प्रसिद्धि) करने हेतु धनादि के सम्बन्ध में उपाय निर्देशक) बने, (६) किसी भी वस्तु पर ममता न रखे, (७) अनुत्तरधर्म को जानकर संयम साधक क्रिया करे, (८) क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करे, (९) कर्मनाशक संयम (धुत) का सम्यक् अभ्यास करे, (१०) अनुत्तरधर्म के प्रति सर्वथा प्रणत - समर्पित हो, ताकि उसका सुविवेक जागृत हो, (११) संसार के सभी सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति अनासक्त, निरपेक्ष एवं निरीह रहे, (१२) ज्ञानादि की वृद्धि वाले हित कार्य करे, (१३) इन्द्रियों और मन को अशुभ में जाने से बचाए—गुप्त रखे, (१४) धर्मार्थी बने, (१५) तपस्या में पराक्रमी हो, (१६) इन्द्रियाँ वश में रखें; (१७) प्रतिक्षण संयम में विचरण करे, ताकि आत्महित सिद्ध हो।

यह धर्म अनुत्तर और उपादेय क्यों? प्रश्न होता है—यही धर्म अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) क्यों हैं? दूसरे क्यों नहीं? इसके लिए दो विशेषताएँ यहाँ बताई गयी हैं—(१) यह लोक में त्राता सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित है, (२) यह आत्मा के लिए हितकर है। इसी कारण चतुर अपराजेय जुआरी जैसे जुए के अन्य पाशों को छोड़कर कृत नामक पाशों को ही ग्रहण करता है, वैसे ही जिन-प्रवचन कुशल साधु को गृहस्थ, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ आदि के धर्मों को छोड़कर सर्वज्ञ वीतरागोक्त सर्वोत्तम, सर्व महा सर्वहितकर, सार्वभौम, दशविध श्रमण धर्म रूप या श्रुत-चारित्र रूप अनुत्तर धर्म का ग्रहण कर चाहिए।

'उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा····' इस वाक्य का आशय यह है कि ग्राम—इन्द्रिय समूह का धर विषय (स्वभाव), और इन्द्रिय—विषय ही काम है। काम मनुष्यों के लिए उत्तर—प्रधान या दुर्जेय ब गये हैं। 'उत्तर' का अर्थ यों तो प्रधान होता है, किन्तु लक्षणा से यहाँ वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'दुर्जे किया है। संयमी पुरुषों को छोड़कर काम प्रायः सभी प्राणियों पर हावी हो जाता है. इसलिए यह दुर्जे है। काम में सर्वेन्द्रिय-विषयों का एवं मैथुन के अंगों का समावेश हो जाता है।

इति मे अणुस्सुतं - इसका आशय यह है कि गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वाम आदि से कहते हैं—ऐसा मैंने कर्णोपकर्ण सुना है। अर्थात् जो पहले कहा गया है और आगे कहा जायेग यह सब आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा था, इसके पश्चात् मैंने (आर्य सुधर्मा ने भगवान महावीर से सुना था।

'जं सि विरता समुट्ठिता····अणुधम्मचारिणो'—इस पंक्ति से श्री सुधर्मास्वामी का यह आशय प्रती होता है कि यद्यपि काम दुर्जेय है, तथापि जो पवित्रात्माएँ आत्मधर्म को तथा आत्मशक्तियों को सर्वोपरि जान-मानकर संयम-पथ पर चलने के लिए कटिबद्ध हैं, उनके लिए काम-विजय दुष्कर नहीं है। वास्त में वे ही साधक भगवान ऋषभदेव या भगवान महावीर के धर्मानुगामी है।

'अणुधम्मचारिणो'—आचारांग आदि में अणुधम्म (अनुधर्म) का अर्थ है—पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आच रित धर्म का अनुगमन-अनुसरण-पाली शब्द-कोष में अनुधर्म का अर्थ किया गया है—धर्म के अनुरूप-धर्म सम्मत। बौद्धग्रन्थ 'सुत्तपिटक' में भी **अनुधम्मचारिनो'** शब्द का यही अर्थ आता है।[२७]

---

२७ भगवतो सावका वियत्ता विनीता विसारदा····अनुधम्मचारिनो —सुत्तपिटके उदानं पृ० १३८

आहियं नातेणं महता महेसिया—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनों ने इस पंक्ति का अर्थ किया है-"ज्ञातेन ज्ञातपुत्रेण, ज्ञातकुलीयेन···ज्ञातृत्वेऽपि सति राजसूनुना केवलज्ञानवेत्ता वा, महेय त्ति-महाविषयस्य ज्ञान-स्यानन्त्यभूतत्वान्महान् तेन तथाऽनुकूल-प्रतिकूलोपसर्ग-सहिष्णुत्वान्महर्षिणा"—अथवा ज्ञात के द्वारा यानी ज्ञातपुत्र द्वारा, ज्ञातकुलोत्पन्न के द्वारा, राजपुत्र होने से ज्ञातृकुलत्व होने पर भी केवलज्ञान सम्पन्न द्वारा महाविषयरूप ज्ञान के अनन्त होने से भगवान् महान् थे, अतः उस महान् के द्वारा तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहिष्णु होने से वे महर्षि थे, अतः महर्षि द्वारा जो (अनुत्तरधर्म) कहा गया है।"

अन्नोन्नं सारेंति धम्मओ—अन्योन्य—परस्पर, धर्मतः यानी धर्म से सम्बन्धित या धर्म से भ्रष्ट व्यक्ति को धर्म में प्रेरित करते हैं।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**पणामए**=दुर्गति या संसार की ओर प्राणियों को झुकाने वाले शब्दादि विषय। **उवहिं**=जिसके द्वारा आत्मा दुर्गति के समीप पहुंचा दिया है, उसे उपधि कहते हैं, वह माया एवं अष्टविध कर्म परिग्रह है। **काहिए**=जो कथा से आजीविका करता है, वह काथिक—कथाकार। आचारांग चूर्णिकार के अनुसार '**णो काहिए**' का अर्थ है—श्रृंगारकथा (श्रृंगार सम्बन्धी बात) न कहे। विरुद्ध कथा कहते हैं विकथा को। जिससे कामोत्तेजना भड़के, भोजन लालसा बढ़े, जिससे युद्ध, हत्या, दंगा, लड़ाई या वैमनस्य बढ़े तथा देश-विदेश के गलत आचार-विचारों के संस्कारों का बीजारोपण हो, ये चारों विकथाएँ हैं, ऐसा संयम-विरुद्ध कथाकार न बने। **पासणिए**=प्राश्निक वह है, जो गृहस्थों के व्यवहारों या व्यापार वगैरह या संतान आदि के विषय में प्रश्नों का फल ज्योतिषी की तरह बताता हो। प्राश्निक का विशेष अर्थ आचारांग चूर्णि में बताया गया है—स्वप्नफल या किसी स्त्री के विषय में यह पूछने पर कि यह कला-कुशल या सन्तानवती होगी या नहीं? इत्यादि प्रश्नों का फल बताने वाला साधु। **णो पासणिए** का अर्थ आचारांगवृत्ति में किया गया है—स्त्रियों के अंगोपांग न देखे।[२८]

---

२८ कथया चरति कथिकः··· प्रश्ननिमित्तरूपेण चरतीति प्राश्निकः—सम्प्रसारक····देववृष्ट्यर्थकाण्डादिसूचक कथा—विस्तारकः। कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः। तथाभूतश्च न चापि **मामको—ममेद-महमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाग्रही**।—सूत्र० वृत्ति

(ख) कथयतीति कथकः, पासणिओ-णाम गिहीणं व्यवहारेषु प्रस्तुतेषु पणियगादिषु वा प्राश्निको····।····संपसारको-नाम सम्प्रसारकः, तद्यथा—इमं वरिसं किं देवो वासिस्सति ण वेत्ति।····कतकिरिओ—णाम कृतं परैः कर्म पुट्ठो अपुट्ठो वा भणति शोभनमशोभनं वा····मामको णाम ममीकारं करेति। —सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० २५

तुलना—से णो काहिए, णो पासणिए, णो संपसारए, णो मामए, णो कतकिरिए····।"

—आचारांग श्रु० १, अ० ५, उ० ४, सू० १६५ पृ० १७३

(ग) से णो काहीए····सिंगारकहा ण कहेयव्वा····। पासणितत्तंपि ण करेति। कयरी अम्ह सा भवति सुमंडिता वा कलाकुसला वा।··· संपसारतो णामा उवसमंतिआ····। एरिसिया मम भाउज्जा, भइणी, भज्जा वा····ममीकारं करेइ। कतकिरियो णाम के ते किरियं करेइ····अहो सोभसि न व सोभसि। —आचा० चूर्णि

(घ) से णो काहिए—स्त्रीसंगपरित्यागी स्त्रीनेपथ्यकथां श्रृगारकथां वा नो कुर्यात्····तया नो पासणिए····तासा-मङ्ग प्रत्यंगादिकं न पश्येत्····। नो संपसारणाए····ताभिः न सम्प्रसारणं पर्यालोचनमेकान्ते····कुर्यात्। णो मामए ····न तासु ममत्वं कुर्यात्। णो कयकिरिए····कृता मण्डनादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवंभूतो न भूयात्।

—आचारांग शीला० वृत्ति

संपसारए—वृत्तिकार के अनुसार—वर्षा आदि के लिए आरम्भजनक या आरम्भोत्तेजक कथा-विस्तारक सम्प्रसारक है। आचारांग चूर्णि के अनुसार—सम्प्रसारक का अर्थ मिथ्या सम्मति देने वाला है। वास्तव में सम्प्रसारक वह है, जो वर्षा, धन-प्राप्ति, रोग-निवारण आदि के लिए आरम्भ-समारम्भजनक उपाय बताये। आचारांगवृत्ति में सम्प्रसारण का अर्थ किया गया है—स्त्रियों के सम्बन्ध में एकान्त में पर्यालोचन करना। **मामए**=वृत्तिकार के अनुसार—'यह मेरा है', मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार का परिग्रहाग्रही मामक है। आचारांग चूर्णि के अनुसार—गृहस्थ के घर में जाकर जो यह कहता है कि मेरी पत्नी ऐसी थी, मेरी भौजाई या मेरी बहन ऐसी थी, इस प्रकार जो मेरी-मेरी करता है, वह मामक है।' इस प्रकार ममत्व करने से उसके वियोग में या न मिलने पर दुःख होगा, उसकी रक्षा की चिन्ता बढ़ेगी, उसके चुराये जाने या नष्ट होने पर भी आर्त्तध्यान होगा। ऐसा साधु व्यर्थ की आफत मोल ले लेता है।

कयकिरिए=वृत्तिकार के अनुसार—जिसने अच्छी तरह संयमानुष्ठान रूप क्रिया की है, वह कृत-क्रिय है। परन्तु चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है जो दूसरों के द्वारा किये हुए कर्म के विषय में पूछने या न पूछने पर अच्छा या बुरा बताता है, वह कृतक्रिय है। आचारांगवृत्ति के अनुसार इसका अर्थ है—जिसने शृंगारादि या मण्डनादि क्रिया की है, वह कृतक्रिय है।[२९]

छण्णं=छन्न का अर्थ है गुप्त क्योंकि उसमें अपने अभिप्राय को छिपाया जाता है। **पसंस**=जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं, जिसे आदर देते हैं, उसे प्रशंसा यानी लोभ कहते हैं। **उक्कोसं**=जो नीच प्रकृति वाले व्यक्ति को जाति आदि मदस्थानों द्वारा मदमत्त बना देता है, उसे उत्कर्ष—मान कहते हैं।

पगासं=जो अन्तर में स्थित होते हुए भी मुख आदि के विकारों से प्रकट हो जाता है, उसे प्रकाश—क्रोध कहते हैं।[30]

तेसिं सुविवेगमाहिते=इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) उन कषायों का सम्यक् विवेक परित्याग आहित—उत्पन्न किया है, अथवा (२) उन्हीं सत्पुरुषों का सुविवेक प्रसिद्ध हुआ है। **जेहिं सुझोसितं धुयं**=जिससे कर्मों का धूनन-क्षपण किया जाए, उसे धुत कहते हैं, वह है—ज्ञानादिरत्नत्रय या संयम अथवा ज्ञानादि या संयम जिनके द्वारा भलीभाँति सेवित—अभ्यस्त हैं, उन्हें सुजोषितं' कहते हैं। **सहिए** के भी संस्कृत में तीन अर्थ होते हैं—(१) जो हित सहित हो, वह सहित है, (२) ज्ञानादि से युक्त—सहित, (३) 'सहिए' का संस्कृत रूप=**स्वहित** मानने पर अर्थ होता है—जो सदनुष्ठान के कारण आत्मा का हितैषी हो।[31] **महंतरं**=सब धर्मों से महान् अन्तर रखने वाले धर्म-विशेष को अथवा कर्म के अन्तर को।

---

२९ देखिए टिप्पण २८; पृष्ठ १५३ पर

३० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६९

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृष्ठ २५

३१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६९-७०—
"सह हितेन वर्तत इति सहितः; सहितो युक्तो वा ज्ञानादिभिः, स्वहितः आत्महितो वा सदनुष्ठाने प्रवृत्तः।

जे दूवणतेहि णो णया=चूर्णिकार के अनुसार—दुष्प्रवृत्तियों-आरम्भपरिग्रहादि में प्रणत—झुके हुए हैं, वे दूपनत—शाक्यादि धर्मानुयायी हैं, उनके धर्मों में जो नत-झुके हुए नहीं हैं, अर्थात् उनके आचार के अनुसार प्रवृत्ति नहीं करते। वृत्तिकार के अनुसार—(१) दुष्ट धर्म के प्रति जो उपनत हैं—कुमार्गानुष्ठान-कर्ता हैं। जो उनके चक्कर में नहीं है। अथवा 'दूयणतेहिं' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—मन को दूषित करने वाले जो शब्दादि विषय हैं, उनके समक्ष नत—दास नहीं है।[३२] **समाहिमाहियं**—(अपनी आत्मा में) निहित स्थित राग-द्वेष परित्यागरूप समाधि या धर्मध्यानरूप समाधि को। **आयहियं खु दुहेण लब्भइ**=अर्थात् आत्महित की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है। क्यों? इसका उत्तर वृत्तिकार देते हैं कि 'संसार में परिभ्रमण करने वाले प्राणी को धर्माचरण किये बिना आत्म-कल्याण कैसे प्राप्त होगा? गहराई से विचार करने पर इस कथन की यथार्थता समझ में आ जावेगी, क्योंकि सभी प्राणियों में जंगम (त्रस) प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनमें भी पंचेन्द्रिय जीव उत्कृष्ट हैं, और पंचेन्द्रिय प्राणियों से भी मनुष्यभव विशिष्ट है। मनुष्यभव में भी आर्यदेश, फिर उत्तमकुल और उसमें भी उत्तम जाति, उसमें भी रूप, समृद्धि, शक्ति, दीर्घायु, विज्ञान (आत्मज्ञान), सम्यक्त्व, फिर शील यों उत्तरोत्तर विशिष्ट पदार्थ की प्राप्ति दुर्लभ होने से आत्महित का साधन दुर्लभतम है। इतनी घाटियाँ पार होने के बाद आत्महित की प्राप्ति सम्भव है, इससे आत्महित की दुष्प्राप्यता सहज ही जानी जा सकती है।

द्वितीय उद्देशक सामाप्त

□□□

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

संयम से अज्ञानोपचित कर्म-नाश और मोक्ष—

१४३ संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए।
तं संजमओऽवचिज्जइ, मरणं हेच्च वयंति पंडिता ॥१॥

१४३. अष्टविध कर्मों का आगमन जिसने रोक दिया है, ऐसे भिक्षु को अज्ञानवश जो दुःख (या दुःखजनक कर्म) स्पृष्ट हो चुका है; वह (कर्म) (सत्रह प्रकार के) संयम (के आचरण) से क्षीण हो जाता है। (और) वे पण्डित मृत्यु को छोड़ (समाप्त) कर (मोक्ष को) प्राप्त कर लेते हैं।

विवेचन—मुक्तिप्राप्ति के लिए नवीन कर्मों के आस्रव का निरोध अर्थात् संवर पूर्वबद्ध कर्मों का

---

३२ (क) जे दूवणतेहि णो णता—जे....दुष्टं प्रणताः दूपनताः शाक्यादयः, ...आरम्भ-परिग्रहेषु ये न नताः।
—सू० कृ० चूर्णि० (मू० पा० टि०) पृ० २४

(ख) दुष्टं धर्मं प्रति उपनता दुरूपनताः, कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः, यदि वा दूमणत्ति दुष्ट मनःकारिणः....विषया तेषु ये महासत्त्वा न नताः तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति।"
—सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक ६२

क्षय—निर्जरा अनिवार्य है। जिस साधक ने मिथ्यात्व आदि आस्रवों को रोक दिया है वह नवीन कर्मबन्ध नहीं करता किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय हुए बिना तो मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। प्रस्तुत गाथा में उन कर्मों के क्षय का उपाय बतलाया गया है। संयम के द्वारा—जिसमें तपश्चर्या भी गर्भित है, पूर्वकर्मों का क्षय किया जाता है - इस संवर और निर्जरा द्वारा मुक्तिप्राप्ति का निरूपण किया गया है।

संयम से ही अज्ञानोपचित कर्मनाश और मोक्ष—प्रस्तुत में समस्त कर्मों से रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेने हेतु संयम की प्रेरणा दी गयी है।

कर्मों के आस्रव या बन्ध के कारण तथा प्रकार—कर्मों के आगमन द्वार एवं बन्धन के कारण मुख्यतया पाँच हैं—(१) मिथ्यादर्शन, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। इन पाँचों आस्रवद्वारों से उपरति—विरति संयम है। कर्मबन्ध की चार अवस्थाएँ हैं—(१) स्पृष्ट, (२) बद्ध, (३) निधत्त और (४) निकाचित। इसे कर्मग्रन्थ में सूइयों का दृष्टान्त देकर समझाया गया है—किसी ने बिखरी हुई सुईयाँ को एकत्र कर दिया, ऐसा एकत्र किया हुआ ढेर आसानी से पृथक् हो सकता है। इसी प्रकार जो कर्म केवल स्पृष्ट रूप से बँधे हुए हैं, वे प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दा आदि के अल्प प्रयत्न से आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। किसी ने उन सूइयों के ढेर को सूत के धागे से बाँध दिया जो कुछ परिश्रम से ही खुल जाता है, इसी प्रकार कुछ कर्म ऐसे बँधते हैं, जो कुछ तप, संयम के परिश्रम से छूट जाते हैं, वे बद्धरूप में बँधे हुए होते हैं। किसी ने सूइयों के उस ढेर को तार से बाँध दिया, अब उस ढेर को खोलने में काफी श्रम करना पड़ता है, इसी प्रकार निधत्त रूप में बँधे हुए जिन कर्मों के कुंज को आत्मा से छुड़ाने में कठोर तप-संयम का आचरण करना पड़ता है, और एक सूइयों का ढेर ऐसा है, जिसे आग में गर्म करके एक लोहपिण्ड बना दिया गया है, उसमें सूइयों का अलग-अलग करना असम्भव है। इसी प्रकार जिन कर्मों को निकाचित रूप में बाँध लिया है, सम्पूर्ण रूप से उन कर्मों का फल भोगे बिना अन्य उपायों से उनसे छुटकारा होना असम्भव है। प्रस्तुत में 'दुक्खं पुट्ठं' शब्द हैं, जिनका अर्थ वृत्तिकार ने किया है—जो दुःख यानी, असाता-वेदनीय, उसके उपादान रूप अष्टविधकर्म स्पृष्ट रूप से बँध गये हैं; अथवा उपलक्षण से बद्ध, स्पष्ट एवं निकाचित रूप से कर्म उपचित हुए हैं।[1]

'मरणं हेच्च वयंति'……इस वाक्य का आशय यह है कि पुरुष संवृतात्मा हैं और वे मरण यानी मरणस्वभाव को तथा उपलक्षण से जन्म, जरा, मरण, शोक आदि के क्रम को छोड़—मिटाकर मोक्ष में चले जाते हैं।[2]

संयम के १७ भेद—(१—५) पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर-संयम, (६) द्वीन्द्रिय-संयम, (७) त्रीन्द्रिय संयम, (८) चतुरिन्द्रिय संयम, (९) पंचेन्द्रिय संयम, (१०) अजीव संयम, (११) प्रेक्षासंयम, (१२) उपेक्षा संयम, (१३) प्रमार्जना संयम, (१४) परिष्ठापना संयम, (१५) मनः संयम, (१६) वचन संयम (१७) काय संयम।

दूसरी प्रकार से भी संयम के १७ भेद होते हैं—(१-५) हिंसादि पाँच आस्रवों से, (६-१०) स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पाँच इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर से रोकना, (११-१४) क्रोध,

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६० के आधार पर

२ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ६०

मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का त्याग करना, (१५-१७) मन-वचन-काया की अशुभ-प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों से विरति।[३]

कामासक्ति-त्याग का उपदेश—

१४४ जे विण्णवणाहिऽझोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढं ति पासहा, अद्दक्खु कामाइं रोगवं ॥२॥

१४५ अग्गं वणिएहिं आहियं, धारेंती राईणिया इहं।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ॥३॥

१४६ जे इह सायाणुगा णरा, अज्झोववन्ना कामेसु मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहियं ॥४॥

१४७ वाहेण जहा व विच्छते, अबले होइ गवं पचोइए।
से अंतसो अप्पथामए, नातिवहति अबले विसीयति ॥५॥

१४८ एवं कामेसणं विदू, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं।
कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कन्हुई ॥६॥

१४९ मा पच्छ असाहुया भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयती, से थणती परिदेवती बहुं ॥७॥

१५० इह जीवियमेव पासहा, तरुणए वाससयाउ तुट्टती।
इत्तरवासे व बुज्झहा, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥८॥

१४४. जो साधक स्त्रियों से सेवित नहीं हैं, वे मुक्त (संसार-सागर-सन्तीर्ण) पुरुषों के समान कहे गये हैं। इसलिए कामिनी या कामिनी-जनित कामों के त्याग से ऊर्ध्व—ऊपर उठकर (मोक्ष) देखो। जिन्होंने काम-भोगों को रोगवत् देखा है, (वे महासत्त्व साधक भी मुक्त तुल्य हैं।)

१४५. जैसे इस लोक में वणिकों—व्यापारियों के द्वारा (सुदूर देशों से) लाये हुए (वा लाकर भेंट किये हुए) उत्तमोत्तम सामान (पदार्थ) को राजा-महाराजा आदि सत्ताधीश या धनाढ्य लेते हैं, या खरीदते हैं, इसी प्रकार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रात्रिभोजनत्यागसहित पाँच परम (उत्कृष्ट) महाव्रतों को कामविजेता श्रमण ग्रहण—धारण करते हैं।

---

३ (क) समवायांग, समवाय १७ देखिए
(ख) प्रवचन सारोद्धार द्वार, गाथा ५५५-५५६

१४६. इस लोक में जो मनुष्य सुखानुगामी (सुख के पीछे दौड़ते) हैं, वे (ऋद्धि-रस-साता-गौरव में अत्यासक्त हैं, और काम-भोग में मूर्च्छित हैं, वे दयनीय (इन्द्रियविषयों से पराजित) के समान काम-सेवन में धृष्ट बने रहते हैं। वे कहने पर भी समाधि को नहीं समझते।

१४७. जैसे गाड़ीवान के द्वारा चाबुक मारकर प्रेरित किया हुआ बैल कमजोर हो जाता है, (अतः वह विषम—कठिन मार्ग में चल नहीं सकता, अथवा उसे पार नहीं कर सकता।) आखिरकार वह अल्पसामर्थ्य वाला (दुर्बल बैल) भार वहन नहीं कर सकता, (अपितु कीचड़ आदि में फँसकर) क्लेश पाता है।

१४८. इसी तरह काम के अन्वेषण में निपुण पुरुष; आज या कल में कामभोगों का संसर्ग (एषणा) छोड़ देगा, (ऐसा सिर्फ विचार किया करता है, छोड़ नहीं सकता।) अतः कामी पुरुष काम-भोग की कामना ही न करे, तथा कहीं से प्राप्त हुए कामभोग को अप्राप्त के समान (जाने, यही अभीष्ट है।)

१४९. पीछे (मरण के पश्चात्) दुर्गति (बुरी दशा) न हो, इसलिए अपनी आत्मा को (पहले से ही) (विषय-संग से हटा लो, उसे शिक्षा दो कि असाधु (असंयमी) पुरुष अत्यधिक शोक करता है, वह चिल्लाता है, और बहुत विलाप करता है।

१५०. इस लोक में अपने जीवन को ही देख लो; सौ वर्ष की आयु वाले मनुष्य का जीवन तरुणावस्था (युवावस्था) में ही नष्ट हो जाता है। अतः इस जीवन को थोड़े दिन के निवास के समान समझो। (ऐसी स्थिति में) क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य ही काम-भोगों में मूर्च्छित होते हैं।

विवेचन—कामासक्ति-त्याग की प्रेरणा—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं (१४४ से १५० तक) में विविध पहलुओं से कामभोगों की आसक्ति के त्याग की प्रेरणा दी गई है। वे प्रेरणासूत्र ये हैं—(१) कामवासना को व्याधि समझ कर जो कामवासना की जड़-कामिनियों से असेवित-असंसक्त हैं, वे ही पुरुष मुक्ततुल्य हैं; (२) जैसे व्यापारियों द्वारा दूरदेश से लाई हुई उत्तमसामग्री को राजा आदि ही ग्रहण करते हैं, वैसे ही कामभोगों से ऊपर उठे हुए महापराक्रमी साधु ही रात्रिभोजन-विरमण व्रतसहित पंचमहाव्रतों को धारण करते हैं। (३) विषयसुखों के पीछे दौड़ने वाले त्रिगौरव में आसक्त कामभोगों में मूर्च्छितजन, इन्द्रियों के गुलाम के समान ढीठ होकर कामसेवन करते हैं, वे लोग समाधि का मूल्य नहीं समझते। (४) जैसे गाड़ीवान के द्वारा चाबुक मार-मारकर प्रेरित किया हुआ दुर्बल बैल चल नहीं सकता, भार भी नहीं ढो सकता और अन्त में कहीं कीचड़ आदि में फँसकर क्लेश पाता है, वैसे ही कामभोगों से पराजित मनोदुर्बल मानव भी कामैषणा को छोड़ नहीं सकता, काम-भोगों के कीचड़ में फँसकर दुःख पाता है। (५) कामभोगों को छोड़ने के दो ठोस उपाय हैं—(१) कामभोगों की कामना ही न करे, (२) प्राप्त कामभोगों को भी अप्राप्तवत् समझे। (६) मरणोपरान्त दुर्गति न हो, पीछे असंयमी (कामी-भोगी) की तरह शोक, रुदन और विलाप न करना पड़े, इसलिए पहले से ही अपनी आत्मा को विषय सेवन से अलग रखो, उसे ठीक अनुशासित करो; और (७) जीवन अल्पकालीन है यह देखकर अविवेकी मनुष्यों की तरह काम-भोगों में मूर्च्छित नहीं होना चाहिए।[४]

---

४ सूत्रकृतांग सूत्र मूलपाठ, शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित भाग १, पृ० २७३ से २८० तक का सार।

कामिनीसंसर्गत्यागी मुक्तसदृश क्यों और कैसे ?—साधक को मुक्ति पाने में सबसे बड़ी बाधा है—कामवासना। कामवासना जब तक मन के किसी भी कोने में हलचल करती रहती है, जब तक मुक्ति दूर रहती है। और कामवासना की जड़ कामिनी है, वास्तव में कामिनी का संसर्ग ही साधक में कामवासना उत्पन्न करता है। कामिनी-संसर्ग जब तक नहीं छूटता, तब तक मनुष्य चाहे जितनी उच्च क्रिया कर ले, साधुवेष पहन ले, और घरबार आदि छोड़ दे, उसकी मुक्ति दूरातिदूर है। मुक्ति के निकट पहुँचने के लिए, दूसरे शब्दों में संसारसागर को पार करने के लिए कामिनियों के काम-जाल से सर्वथा मुक्त-असंसक्त रहना आवश्यक है। जो व्यक्ति कामवासना की जड़ कामिनियों के संसर्ग से सर्वथा दूर हैं, वे मुक्तसदृश हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं **"जे विण्णवणाहिऽज्झोसिया, संतिण्णेहि समं वियाणिया।"** यहाँ **'विण्णवणा'** (विज्ञापना) शब्द कामिनी का द्योतक है। जिसके प्रति कामीपुरुष अपनी कामवासना प्रकट करता है, अथवा जो कामसेवन के लिए प्रार्थना-विज्ञपना या निवेदन करती है, इस दृष्टि से कामिनी को यहाँ विज्ञापना कहा गया है। विज्ञापनाओं—कामिनियों से जो महासत्त्व साधक असंसक्त हैं, सन्तीर्ण—संसारसागरसमुत्तीर्ण करने वाले मुक्त पुरुष के समान कहे गए हैं। यद्यपि उन्होंने अभी तक संसारसागर पार नहीं किया, तथापि वे निष्किंचन और कंचनकामिनी में संसक्त होने से संसारसागर के किनारे पर ही स्थित हैं।[५]

यहाँ मूल में **'अज्झोसिया'** पाठ है, उसका वृत्तिकार अर्थ करते हैं—जो स्त्रियों से **अजुष्टाः असेविताः क्षयं वा अवसायलक्षणमतीताः**"—अर्थात्—अजुष्ट यानी असेवित हैं, अथवा जो कामिनियों द्वारा विनाशरूप क्षय को प्राप्त नहीं हैं। चूर्णिकार अर्थ करते हैं—**अज्झूषिता नाम अनाद्रियमाणा इत्यर्थः**—अर्थात्—जो कामिनियों द्वारा अज्झूषित—अनादृत हैं। तात्पर्य यह है कि जो काम और कामिनियों से इतने विरक्त हैं कि स्वयं कामिनियाँ उनका अनादर करती हैं, उपेक्षा करती हैं; क्योंकि उनका त्याग, रहन-सहन, वेशभूषा या चर्या ही ऐसी है कि कामिनियाँ उनसे कामवासना पूर्ति की दृष्टि से अपेक्षा ही नहीं करतीं, वे उनके पास आएँगी तो भी उनकी कामवासना भी उनके सान्निध्य प्रभाव से ही शान्त हो जाएँगी।[६]

'तम्हा उड्ढंति पासहा'—इस वाक्य का आशय यह है कि स्त्रीसंसर्गरूप महासागर को पार करने वाला, संसारसागर को लगभग पार कर लेता है, इस दृष्टि से कामिनीसंसर्ग से ऊपर उठकर देखो क्योंकि कामिनीसंसर्गत्याग के बाद ही मोक्ष का सामीप्य होता है। इस वाक्य के बदले **"उड्ढं तिरियं अहे तहा"** पाठ भी मिलता है जिसका **'अद्दक्खु कामाइं रोगवं'** पाठ के साथ सम्बन्ध जोड़कर अर्थ किया जाता है—सौधर्म आदि ऊर्ध्व (देव) लोक, तिर्यक्लोक में, एवं भवनपति आदि अधोलोक में भी कामभोग विद्यमान हैं, उन्हें जिन महासत्त्वों ने रोगसदृश जान-देख लिया, वे भी संसारसमुद्र से तीर्ण—मुक्त पुरुष के समान कहे गये हैं। इसी से मिलते-जुलते आशय का एक श्लोक वैदिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है—

**"वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे, कान्तासु कनकेषु च ॥
तासु तेष्वनासक्तः साक्षात् भर्गो नराकृतिः ॥"**

---

५ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ७०

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति ७०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० २६

अर्थात्—विधाता (कर्मरूपी विधाता ने दो भ्रम (संसार परिभ्रमण के कारण) पैदा किये हैं—एक तो कामिनियों में, दूसरा कनक में। उन कामनियों में और उन धन-साधनों में जो अनासक्त है, समझ लो मनुष्य की आकृति में वह साक्षात् परमात्मा है।[७]

काम सामग्री के बदले मोक्ष सामग्री ग्रहण करना ही अभीष्ट—साधु-जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है, और मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, सम्यक्चारित्र का ध्यान करना आवश्यक है; किन्तु अगर कोई साधक इस तथ्य को भूलकर मोक्षसामग्री के लिए कामसामग्री (स्त्री तथा अन्य पंचेन्द्रिय विषय आदि) इकट्ठी करने लगे, या इन्हीं के चिन्तन में रात-दिन डूबे रहे तो यह उसकी उच्चश्रेणी के अनुरूप नहीं है।[८] इसीलिए १४५वीं गाथा में कहा गया है—'**अग्गं वणिएहिं आहियं**····**सराइ भोयणा**'। इसका तात्पर्य यह है कि व्यापारियों के द्वारा दूर देश से लाया हुआ उत्तम पदार्थ राजादि ले लेते हैं वैसे साधु आचार्यों द्वारा प्रतिपादित या प्रदत्त रात्रि-भोजन विरमण व्रत सहित पंचमहाव्रतों को ही धारण करे। काम सामग्री को नहीं।[९]

काम-भोगों में आसक्त : समाधिसुख से अनभिज्ञ—शास्त्रकार ने इस गाथा १४६ के द्वारा उन लोगों की आँखें खोल दी हैं कि जो तुच्छ प्रकृति के लोग साधुवेष धारण करके भी परीषहों—उपसर्गों से घबराकर रात-दिन सुख-सुविधाओं के पीछे या वैषयिक सुखों की तलाश में भाग-दौड़ करते रहते हैं वे अपनी समृद्धि (पद प्रसिद्धि एवं धनिक भक्तों द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा), रस (स्वाद) एवं साता (सुख-सुविधाओं) के अहंकार (गौरव) में डूबे हुए तथा काम-भोगों में इतने आसक्त रहते हैं कि उन्हें समाधि के परम सुख को जानने-समझने की भी परवाह नहीं रहती। इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—"**जे इह सायाणुगा**····**समाहिमाहियं।**" इसके द्वारा शास्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि सुख भोगों के पीछे पड़कर वास्तविक सुख और बहुमूल्य जीवन को नष्ट कर डालना बुद्धिमानी नहीं है। काम, कामनाओं या सुख-सुविधाओं के पीछे दीवाने बन श्वेत वस्त्र सम अपने संयम को मलिन बनाने से सारी ही मोक्ष सुख-साधना चौपट हो जाती है[१०]

काम-भोगों की चाट छूटती नहीं—जैसे मरियल बैल चाबुकों की मार खाकर भी विषम मार्ग में चल नहीं पाता, भार ढो नहीं सकता और अन्त में वह कीचड़ आदि में फँसकर दुःख पाता है, वैसे ही काम-भोगों का गुलाम और दुर्बल मन का साधक गुरुवचनों की फटकार पड़ने पर भी परीषहादि सहन रूप विषम मार्ग में चल नहीं पाता, नाम की एषणा छोड़ न पाने के कारण वह संयम का भार ढो नहीं सकता और अन्त में शब्दादि विषय-भोगों के कीचड़ में फँसकर दुःखी होता है। यही तथ्य (१४७-१४८)

---

७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ७१ में उद्धृत

८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति० पृ० ७१ के आधार पर

९ इस गाथा की व्याख्या में चूर्णिकार ने दो मतों का उल्लेख किया है—पूर्व में रहने वाले आचार्यों के मत का एवं पश्चिम दिशा में रहने वाले आचार्यों के मत का। सम्भव है—चूर्णिकार का तात्पर्य पूर्व दिशागत मथुरा या पाटलिपुत्र के सम्बन्ध से स्कन्दिलाचार्य आदि से एवं पश्चिम दिशागत वल्लभी के सम्बन्ध से नागार्जुन या देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण आदि से हो।
—जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १ पृ० १४१

१० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ७१

द्वय में बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि काम-भोगों के चक्कर में पड़ने वाला साधक इस भ्रम में न रहे कि मैं कुछ दिनों बाद ही जब चाहे तब इसे छोड़ दूँगा, बल्कि एक बार काम-भोगों की चाट लग जाने पर शास्त्र चाहे कितनी ही प्रेरणा देते रहें, गुरुजन आदि चाहे जितनी शिक्षाएँ दें, उसे फटकारें तो भी वह चाहता हुआ भी काम-भोगों की लालसा को छोड़ नहीं सकेगा।

काम-भोगों के त्याग के ठोस उपाय—दो ही उपाय है कामभोगों की आसक्ति से छूटने के—(१) कामी काम-भोगों की कामना ही न करे, (२) प्राप्त कामभोगों को अप्राप्त के समान समझे, उनसे बिलकुल उदासीन रहे। **कामी कामे ण''''अलद्धे कण्हुई।**'' इस पंक्ति का आशय यह है कि अगर कोई साधक अपने पूर्व (गृहस्थ) जीवन में कदाचित् काम से अतृप्त रहा हो तो उसे काम-सेवन के दुष्परिणामों पर विचार करके साधु-जीवन में वज्रस्वामी या जम्बूस्वामी की तरह मन में कामभोगों की जरा भी कामना-वासना न रखनी चाहिए। स्थूलभद्र एवं क्षुल्लककुमार की तरह किसी भी निमित्त से प्रतिबद्ध साधक कदाचित् पूर्व जीवन में कामी रहा हो, तो उसे पूर्वभुक्त कामभोगों का कदापि स्मरण नहीं करना चाहिए, और कदाचित् कोई इन्द्रिय-विषय (काम) प्राप्त भी हो जाये तो नहीं मिले के समान जानकर उसके प्रति निरपेक्ष, निःस्पृह एवं उदासीन रहना चाहिए।[११]

काम-त्याग क्यों?—साधु को काम-त्याग क्यों करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार गाथाद्वय द्वारा दो प्रबल युक्तियों से काम-त्याग की अनिवार्यता समझाते हैं—(१) मृत्यु के बाद अगले जन्म में दुर्गति न हो, वहाँ की भयंकर यातनाएँ सहनी न पड़े, वहाँ असंयमी की तरह रोना-पीटना न पड़े। (२) इसी जन्म में देखो न, सौ वर्ष की आयु वाला मानव जवानी में ही चल बसता है, अतः इस अल्पकालिक जीवन में अविवेकी मानव की भाँति कामभोग में मूर्च्छित हो जाना ठीक नहीं है।

'मा पच्छा असाधुता भवे''''परिदेवती बहु' एवं **इह जीवियमेव पासहा''''कामेसु मुच्छिया।**'' इन दोनों गाथाओं द्वारा साधक को कामभोगों के त्याग की प्रेरणा देने के पीछे पहली युक्ति यह है कि कामभोगों में जो भ्रमवश सुख मानते हैं, वे उनके भावी दुष्परिणामों पर विचार करें कि क्षणिक कामसुख कितने भयंकर चिरकालीन दुःख लाता है, जिन्हें मनुष्य को रो-रोकर भोगना पड़ता है। कामभोगों को शास्त्रों में किंपाकफल की उपमा देकर समझाया है कि किंपाकफल जैसे दिखने में सुन्दर, खाने में मधुर एवं सुगन्ध सुरस से युक्त होता है; परन्तु उसके खाने पर परिणाम मृत्यु रूप में आता है, वैसे ही ये कामभोग आपात रमणीय, उपभोग करने में मधुर एवं सुहावने लगते हैं, परन्तु इनका परिणाम दुर्गति गमन अवश्यम्भावी है, जहाँ नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—

---

११ (क) चूर्णिकार १४७ वीं सूत्रगाथा—'से अंतसो''''विसीयति' का पाठान्तर—'से अंतए अप्पथामए णातिचए अवसे विसीदति' मानकर कहा है—'से अंतए—अन्त्यायामपि अवस्थायां अन्तशः णातिचए—ण सक्केति, अवसे विसीदति एव। सोवि संयमादि निरुद्यमः।' अर्थात्—वह (मरियल बैल) अन्तिम अवस्था में भी अल्प सामर्थ्य होने से बोझ नहीं ढो सकता, न विषम मार्ग में चल सकता है, अतः विवश होकर दुःख पाता है। इसी प्रकार साधु भी संयमादि में निरुद्यम हो जाता है। —सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृ० २७

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ७१ के आधार पर

"सल्लं कामा, विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं॥"

अर्थात्—ये काम शल्य के समान है, काम विषवत् है, काम आशीविष सर्प तुल्य हैं, जो व्यक्ति कामभोगों की लालसा करते हैं, वे काम-भोग न भोगने पर भी, केवल कामभोग की लालसा मात्र से ही दुर्गति में चले जाते हैं।

दूसरी युक्ति यह दी गयी है कि मनुष्य की जिन्दगी कितनी अल्प है? कई लोग जवानी में और कई बचपन में ही चल देते हैं। इतनी छोटी-सी अल्पकालीन जिन्दगी है, उसमें भी साधारण मनुष्यों की आयु सोपक्रमी (अकाल में ही नष्ट होने वाली) होती है। वह कब, किस दुर्घटना से या रोगादि निमित्त से समाप्त हो जायेगी, कोई पता नहीं। ऐसी स्थिति में कौन दूरदर्शी साधक अपनी अमूल्य, किन्तु अल्प स्थायी जिन्दगी को कामभोगों में खोकर अपने आपको नरकादि दुर्गतियों में डालना चाहेगा? वर्तमान काल में मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष की मानी जाती है, वह भी अकाल में ही नष्ट हो जाने पर बहुत थोड़ी रहती है। सागरोपम कालिक आयु के समक्ष तो यह आयु पलक झपकने समान है। जीवन की ऐसी अनित्यता, अस्थिरता एवं अनिश्चितता जानकर क्षुद्रप्रकृति के जीव ही शब्दादि कामभोगों में आसक्त हो सकते हैं, बुद्धिमान साधक नहीं।

बुद्धिमान दूरदर्शी साधक को कामत्याग के लिए दो बातों की प्रेरणा दी है—"अच्चेही अणुसास अप्पगं।" अर्थात्—(१) साधु को पहले से ही सावधान होकर इन कामभोगों से अपने आपको मुक्त (दूर) रखना चाहिए, और (२) कदाचित पूर्वभुक्त कामभोग स्मृति-पट पर आ जाए या कभी काम-कामना *मन में उत्पन्न हो जाये तो अविलम्ब उस पर नियन्त्रण करना चाहिए, आत्मा को इस प्रकार अनुशासित* (प्रशिक्षित) करना चाहिए—"हे आत्मन्! पहले ही हिंसादि पापकर्मों के कारण पुण्यहीन हुआ है, फिर कामभोग-सेवन करके या कामभोगों की अभिलाषा करके क्यों नये कर्म बाँधता है? क्या इनका दुष्परिणाम नहीं भोगना पड़ेगा?" इस प्रकार मन में काम का विचार आते ही उसे खदेड़ दे।[12]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**अग्गं**=प्रधान या वरिष्ठ रत्न, वस्त्र, आभूषण आदि। **आहियं**=देशान्तर से लाये हुए। **राइणिया**=राजा या राजा के समान, सामन्त, जागीरदार आदि शासक। **अज्झोववन्ना**=समृद्धि, रस और साता इन तीन गौरवों में गृद्ध आसक्त। **किवणेण समं पगब्भिया**=इन्द्रियों के गुलाम (इन्द्रियों से पराजित) होने के कारण दीन, बेचारे, दयनीय, इन्द्रियलम्पट के समान काम-सेवन में ढीठाई धारण किए हुए। **समाहि**=धर्मध्यानादि, या मोक्ष सुख। **वाहेण जहा व विच्छते**⋯=वृत्तिकार के अनुसार

---

१२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७२

(ख) सूयगडंग चूर्णि में 'तरुणए स दुब्बलं वाससयं तिउट्टति' इस प्रकार का पाठान्तर मानकर अर्थ किया गया है—"तरुणगो असम्पूर्णवया अन्यो वा कश्चित्, दुर्बलं वाससयं परमायुः, ततो तिउट्टति।" अर्थात् तरुण का अर्थ है—अपूर्ण वय वाला अथवा और कोई, शतवर्ष की परमायु (उत्कृष्ट आयु) होने पर भी दुर्बल होने से बीच में टूट जाती है।
—सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृ० २७

—'वाह' अर्थात् व्याध (शिकारी) जैसे मृगादि पशु विविध प्रकार के कूटपाश आदि से क्षत—घायल, परवश किया हुआ, या थकाया हुआ दुर्बल हो जाता है। दूसरा अर्थ है—'वाह' यानी शाकटिक—गाड़ीवान वह गाड़ी को ठीक से चलाने के लिए चाबुक आदि से प्रहार करके चलने को प्रेरित करता है। **अप्पथामए**=अल्पसामर्थ्य वाला। **कामेसणं विऊ**=कामभोगों के अन्वेषण में विद्वान्(निपुण) पुरुष। **असाधुता**=कुगतिगमन आदि रूप दुःस्थिति—दुर्दशा। **सोयती**=शोक करता है। **थणति**=सिसकता है या सशब्द निःश्वास छोड़ता हैं। **परिदेवती**=विलाप करता है, बहुत रोता-चिल्लाता है। **वाससयाउ**=सौ वर्ष से। **इत्तरवासेव**=थोड़े दिन के निवास के समान।[13]

आरम्भ एवं पाप में आसक्त प्राणियों की गति एवं मनोदशा—

१५१. जे इह आरंभनिस्सिया, आयदंड एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

१५२. ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणे पगब्भती।
पच्चुप्पन्नेण कारितं, के दट्ठुं परलोगमागते ॥१०

१५१. इस लोक में जो मनुष्य आरम्भ में आसक्त, आत्मा को दण्ड देने वाले एवं एकान्त रूप से प्राणि-हिंसक हैं, वे चिरकाल के लिए पापलोक (नरक) में जाते हैं, (कदाचित् बालतप आदि के कारण देव हों तो) आसुरी दिशा में जाते हैं।

१५२. (सर्वज्ञ पुरुषों ने) कहा है—यह जीवन संस्कृत करने (जोड़ने) योग्य नहीं हैं, तथापि अज्ञानी-जन (पाप करने में) धृष्टता करते हैं। (वे कहते हैं—) (हमें तो) वर्तमान (सुख) से काम (प्रयोजन) है, परलोक को देखकर कौन आया है ?

विवेचन—आरम्भासक्त एवं पापाचरण धृष्ट व्यक्तियों की दशा—यहाँ सूत्रगाथाद्वय में से प्रथम में आरम्भजीवी या आरम्भाश्रित साधकों की दशा का और द्वितीय गाथा में वर्तमानदर्शी अज्ञानीजनों की मनोदशा का वर्णन किया है।

अरम्भासक्त साधक: दुष्कृत्य और उनका फल—आरम्भ निश्रित साधकों के लिए यहाँ दो विशेषण ध्यान देने योग्य हैं—"आयदंडा तथा एगंतलूसगा।' यहाँ शास्त्रकार ने आरम्भनिश्रित शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ वृत्तिकार करते हैं—'आरम्भों यानी हिंसादि सावद्यानुष्ठान रूप कार्यों में जो निश्चयत: (निःसंकोच) श्रित—यानी सम्बद्ध हैं, आरम्भ पर ही आश्रित हैं, आसक्त हैं।'

आरम्भ जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है, उसका एक खास अर्थ है। जिस कार्य या प्रवृत्ति से जीवों का द्रव्य और भाव से, चारों ओर से प्राणातिपात (हिंसा) हो, उसे 'आरम्भ' कहते हैं। आरम्भ

१३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्र ७०—७२
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २६-२७

अनेक प्रकार का होता है—जैसे भोजन पकाना, हरी वनस्पति तोड़ना, मकान बनवाना, जमीन खोदना, खेती करना, आग जलाना; कलकारखाने चलाना; युद्ध करना, लड़ाई-झगड़े करना दूसरों को सताना, मारपीट, दंगा, आगजनी, चोरी, डकैती, धोखाधड़ी आदि सब प्रकार की हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापजनक (सावद्य) कार्य आरम्भ हैं।[१४] आत्म-कल्याण की इच्छा रखने वाले को सभी प्रकार के आरम्भों का त्याग करना आवश्यक है। परन्तु कई साधक शरीर या जीवन की सुख-सुविधा के मोह में पड़कर ऐसे आरम्भों में स्वयं प्रवृत्त हो जाते हैं, अथवा दूसरों से करवाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी वृत्ति इतनी आरम्भाश्रित हो जाती है कि वे आरम्भ के बिना जी नहीं सकते। ऐसे आत्मार्थी साधक दूसरे प्राणियों को दण्डित (हिंसा) करने के बदले उक्त आरम्भजन्य पाप कर्म के कारण स्वयं आत्मा (निज) को उनके फलस्वरूप दण्डित करते हैं। वास्तव में आरम्भ आसक्त साधक एकान्तलूसक (प्राणि-हिंसक) या सत्कर्म के ध्वंसक है।

उक्त आरम्भासक्ति के फलस्वरूप वे या तो मरकर पापलोक में जाते हैं। पापलोक से यहाँ शास्त्रकार का तात्पर्य पापियों के लोक से है, वह पापियों का लोक नरक तो है ही तिर्यंचगति भी है, और मनुष्यगति में भी निकृष्ट पापी-म्लेच्छ क्षेत्र सम्भव हैं अथवा कदाचित् ऐसे व्यक्ति बालतप या अकाम-निर्जरा कर लेते हैं तो उसके फलस्वरूप मरकर वे आसुरी योनि में उत्पन्न होते हैं।

'आसुरियं दिसं' की व्याख्या वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—**'असुराणामियं आसुरी, तां दिशं यन्ति, अपरप्रेष्याः किल्विषिकाः देवाधमाः भवन्तीत्यर्थः।'** असुरों की दिशा आसुरी दिशा है, वे आसुरी दिशा में जाते हैं, अर्थात् दूसरों के दासरूप किल्विषी देव बनते हैं, परमाधार्मिक असुर बनते हैं। चूर्णिकार **'आसूरियं'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—**'न तत्थ सूरो विद्यते'**—अर्थात् जहाँ सूर्य नहीं होता है, यानी सूर्य प्रकाश के बिना अन्धकार छाया रहता है, द्रव्य अन्धकार भी तथा अज्ञान मोहरूप भावान्धकार भी। जैसे कि ईशावस्योपनिषत् में कहा है—

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति, ये केचात्महनो जनाः।"

अर्थात् असूर्य नामक लोक वे हैं, जो गाढ़ अन्धकार से आवृत्त हैं। जो कोई भी आत्मघातक (आत्मदण्डक) जन हैं, वे यहाँ से मरकर उन लोकों में जाते हैं।[१५]

वर्तमानदर्शी अज्ञानी जीवों की मनोवृत्ति एवं पापप्रवृत्ति—गाथा १५२ में सर्वप्रथम उन अज्ञानियों की मनोदशा बतायी है कि यह तो प्रत्यक्ष अनुभव है कि यह प्रत्यक्ष दृश्यमान जीवन; आयुष्य के टूटने पर

---

१४ (क) अभिधान राजेन्द्रकोश भाग १ 'आरम्भ' शब्द देखिए।
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पृ० ७२-७३

१५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पृ० ७३
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण), पृ० २७
(ग) ईशावास्योपनिषद श्लोक ३
(घ) वैदिक मतानुसार 'दक्षिण दिशा'—असुरों की दिशा है।

वस्त्र की तरह फिर साधा (जोड़ा) नहीं जा सकता, ऐसा जीवन के रहस्य वेत्ता सर्वज्ञों ने कहा है। फिर भी अज्ञान और मोह के अन्धकार से व्याप्त मूढ़जन पापकर्म में निःसंकोच धृष्टतापूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। उन्हें यह भान ही नहीं रहता कि वे जो पापकर्म करते हैं, उसके कितने दारुण-दुष्परिणाम भोगने होंगे। और जिस जीवन के लिए वे पापकर्म करते हैं, वह जीवन भी तो पानी के बुलबुले या काँच की तरह एक दिन नष्ट हो जायेगा। उनसे जब कोई कहता है कि तुम्हें परलोक में (अगले जन्मों में) इन पापकर्मों का भयंकर फल भोगना पड़ेगा, उसका तो विचार करो।' तब वे उत्तर दे देते हैं—'पच्चुपन्नेन कारियं'····परलोकमागते।' अरे! परलोक किसने देखा है? कौन परलोक देखकर आया है? परलोक की बातें गप्प लगती हैं। मुझे तो बस वर्तमान काम-भोगजन्य सुख से मतलब (काम) है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है—"जो काम भोग अभी हस्तगत है, प्रत्यक्ष हैं, वे ही हैं, जिन्हें बहुत-सा काल व्यतीत हो गया, वे तो अतीत (नष्ट) हो गये और अनागत भी अभी अविद्यमान एवं अनिश्चित है। कौन जानता है—परलोक है या नहीं है?" ऐसे लोग जो परलोक, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप का फलभोग आदि को नहीं मानते, वे बेखटके अहर्निश मन चाहे पाप में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोगों को इस बात की तो कोई परवाह नहीं होती कि कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। उन वर्तमानजीवियों का तर्क है—वर्तमान काल में होमे वाले पदार्थ ही वस्तुतः सत् है। अतीत और अनागत विनष्ट और अनुत्पन्न होने से अविद्यमान है। इसलिए प्रेक्षा-पूर्वक कार्य करने वाले के लिए वर्तमानकालीन पदार्थ ही प्रयोजन साधक होने से उपादेय हो सकता है।[१६] शास्त्रकार ने परोक्षरूप से इन दोनों गाथाओं द्वारा सुविदित साधु को आरम्भ एवं पापकर्मों से बचने का उपदेश दिया है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**चिररायं**=दीर्घकाल तक। **आरम्भनिस्सिया**=आरम्भ में रचे-पचे। **पच्चुपन्नेन**=प्रत्युत्पन्न—वर्तमानकालवर्ती। **कारियं**=कार्य, प्रयोजन।[१७]

सम्यग्दर्शन में साधक-बाधक तत्त्व—

१५३. अदक्खुव दक्खुवाहितं, सद्दहसु अद्दक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥

१५४. दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विदेज्ज सिलोग-पूयणं।
एवं सहिते ऽहिपासए, आयतुलं पाणेहिं संजते ॥१२॥

---

१६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७२
(ख) अमरसुखबोधिनी व्याख्या; पृ० ३८३
(ग) सूत्रकृतांग मूलपाठ टिप्पण युक्त पृ० २७;
(घ) उत्तराध्ययन अ० ५, गाथा ६

१७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्र ७२-७३

१५३. अद्रष्टावत् (अन्धतुल्य) पुरुष ! प्रत्यक्षदर्शी (सर्वज्ञ) द्वारा कथित दर्शन (सिद्धान्त) में श्रद्धा करो। हे असर्वज्ञदर्शन पुरुषो ! स्वयंकृत मोहनीय कर्म से जिसकी दृष्टि (ज्ञान दृष्टि) अवरुद्ध (बन्द) हो गई है; (वह सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त को नहीं मानता) यह समझ लो।

१५४. दुःखी जीव पुनः-पुनः मोह—विवेकमूढ़ता को प्राप्त करता है। (अतः मोहजनक) अपनी स्तुति (श्लाघा) और पूजा (सत्कार-प्रतिष्ठा) से साधु को विरक्त रहना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सम्पन्न (सहित) संयमी साधु समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य देखे।

विवेचन—सम्यग्दर्शन में साधक एवं बाधक तत्व—इन दो सूत्रगाथाओं में सम्यग्दर्शन में साधक-बाधक निम्नोक्त ६ तथ्यों का दिग्दर्शन कराया गया है—(१) सम्यग्द्रष्टा बनने के लिए केवलज्ञान-केवल दर्शन-सम्पन्न वीतरागोक्त-दर्शन (सिद्धान्त) पर दृढ़ श्रद्धा करो, (२) स्वयंकृत मोहकर्म के कारण सम्यग्-दृष्टि अवरुद्ध हो जाने से व्यक्ति सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त पर श्रद्धा नहीं करता, (३) अज्ञान एवं मिथ्यात्व के कारण जीव दुःखी होता है, (४) दुःखी जीव बार-बार अपनी दृष्टि एवं बुद्धि पर पर्दा पड़ जाने के कारण विवेकमूढ़ (मोह-प्राप्त) होता है, (५) साधक को मोह पैदा करने वाली आत्मश्लाघा और पूजा से विरक्त रहना चाहिए, (६) समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य देखने वाला संयमी साधु ही सम्यग्दर्शी एवं रत्नत्रय सम्पन्न होता है।[१८]

'अद्दक्खु व दक्खुवाहितं सद्दहसु'—'अद्दक्खुव' यह सम्बोधन हैं। संस्कृत में इसके पाँच रूप वृत्तिकार ने प्रस्तुत किये हैं—(१) हे अपश्यवत्। (२) हे अपश्यदर्शन ! (३) अदक्षवत्। (४) अदृष्टदर्शिन्। (५) अदृष्ट-दर्शन। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जो देखता है, वह 'पश्य' है, जो नहीं देखता वह 'अपश्य' कहलाता है। अपश्य को व्यवहार में अन्धा कहते हैं। यहाँ दार्शनिक क्षेत्र में द्रव्य-अन्ध से मतलब नहीं है, भाव-अन्ध ही यहाँ विवक्षित है। भावअन्ध तुल्य यहाँ तीन कारणों से माना गया है—(क) एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण, (ख) कर्तव्य-अकर्तव्य, हिताहित के विवेक से रहित होने के कारण, (ग) व्यवहार मात्र का लोप हो जाने के कारण।

(२) 'पश्य' कहते हैं सर्वज्ञ—सर्वदर्शी को, अपश्य कहते हैं—जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं है, उसे। अतः यहाँ **'अपश्यदर्शन'** का अर्थ हुआ हे असर्वज्ञ—असर्वदर्शी के दर्शन को मानने वाले पुरुष ! इसे दूसरे शब्दों में 'अन्य दर्शनानुयायी पुरुष' कह सकते हैं।

(३) दक्ष का अर्थ है निपुण। दर्शनिक क्षेत्र में निपुण उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से तत्व को सिद्ध करने में निपुण हो। जो ऐसा न हो, वह 'अदक्ष' कहलाता है। अतः **'अदक्षवत्'** का अर्थ हुआ—'हे अदक्ष के समान पुरुष।'

अदृष्टदर्शिन्—अदृष्ट उसे कहते हैं—जैसे सूक्ष्म, व्यवहित, दूर, परोक्ष (क्षेत्र और काल से) भविष्य एवं इन्द्रिय-क्षीणता आदि के कारण सूक्ष्मादि पदार्थ दृष्ट नहीं है—दिखाई नहीं देते। इस कारण उसे

---

१८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भाग-१, पृष्ठ २८४ से २८७ तक का सारांश

अदृष्टदर्शी—अर्वाग्दर्शी—जो सामने निकटवर्ती-प्रत्यक्ष है, उसे ही देखने वाला कहते हैं। उसका सम्बोधन में अदृष्टदर्शिन् रूप होता है।

(५) अदृष्ट असर्वज्ञ-असर्वदर्शी को भी कहते हैं, इस दृष्टि से **अदृष्टदर्शन** का अर्थ हुआ—जो अदृष्ट (असर्वदर्शी) के दर्शन वाला है। जो भी हो, अपश्यदर्शन या अदृष्टदर्शी भावतः अन्ध होने के कारण सम्यग्दर्शन युक्त नहीं होता। अतः उसे सम्बोधन करते हुए परमहितैषी शास्त्रकार कहते हैं—"**दक्खुवाहियं सद्दहसु**' इसका भावार्थ यह है कि तुम कब तक सम्यग्दृष्टि विहीन रहोगे? सम्यग्दर्शन सम्पन्न बनने के लिए सर्वज्ञ सर्वदर्शी द्वारा कथित तत्त्वों या सिद्धान्तों या आगमों पर श्रद्धा करो। एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने से समस्त व्यवहार का लोप हो जाने से मनुष्य बहुत-सी बातों में अप्रामाणिक एवं नास्तिक बन जाता है, फिर पुण्य-पाप स्वर्ग-नरक, कर्तव्य-अकर्तव्य, कर्म-अकर्म को नहीं मानने पर उसका सारा ही बहुमूल्य जीवन (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप) धर्म से विहीन हो जाता है। यह कितनी बड़ी हानि है। इसीलिए इस गाथा के उत्तरार्द्ध में कहा गया है—'**हंदिहु सुनिरुद्धदंसणे....कम्मुणा**' सम्यग्दर्शन प्राप्ति का अवसर खो देने से अपने पूर्वकृत मोहनीय कर्म के कारण मनुष्य की सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञानदृष्टि बन्द हो जाती है।[१९]

दुक्खी मोहे पुणो पुणो—इस पंक्ति में शास्त्रकार के दो आशय छिपे हैं—पहला आशय यह है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के अभाव में अज्ञान, अन्धविश्वास और मिथ्यात्व के कारण मनुष्य पाँच तरह से दुःखी हो जाता है—(१) हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य, श्रेय-प्रेय, हेय-उपादेय का भान भूल जाने, से, धर्म-विरुद्ध कार्य करके, (२) वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान न होने से इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग में आर्तध्यान या चिन्ता करके; (३) परम हितैषी या आप्त वीतराग सर्वज्ञ सिद्धान्त या दर्शन पर विश्वास न करने से; तथा (४) अज्ञानवश मान-अपमान, निन्दा प्रशंसा, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों में समभाव न होने से। (५) मिथ्यात्वादि के कारण भयंकर पाप कर्मबन्ध हो जाने से बार-बार कुगतियों में जन्म-मरणादि करके।

शास्त्रीय परिभाषा में उदयावस्था को प्राप्त असातावेदनीय को या असातावेदनीय के कारण को दुःख कहते हैं, अथवा जो प्राणी को बुरा (प्रतिकूल) लगता है, सुहाता नहीं, उसे भी दुःख कहते हैं। दुःख जिसको हो रहा हो, उसे दुःखी कहते हैं। वही असातावेदनीय कर्म जब उदय में आता है, तब मूढजीव ऐसे दुष्कर्म करता है, जिससे वह बार-बार दुःखी होता है।

दूसरा आशय है—दुःखी मनुष्य पुनः-पुनः मोहग्रस्त विवेकमूढ़ हो जाता है। उपर्युक्त छः प्रकारों में से किसी भी प्रकार से दुःखी मानव अपनी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का पर्दा पड़ जाने से सही सोच नहीं सकता, वास्तविक निर्णय नहीं कर सकता, तत्त्व पर दृढ़ श्रद्धा नहीं कर सकता, सर्वज्ञोक्त वचनों पर उसका विश्वास नहीं जम सकता; फलतः वह बार-बार कुकृत्य करके विपरीत चिन्तन करके मूढ़ या मोहग्रस्त होता रहता है। अथवा मोहनीय कर्मबन्धन करके फिर चतुर्गतिक रूप भयंकर दुःखकारी अनन्त संसाराटवी में चक्कर काटता रहता है।[२०]

---

१९ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७३ के आधार पर

२० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७३ के आधार पर

१५३. अद्रष्टावत् (अन्धतुल्य) पुरुष ! प्रत्यक्षदर्शी (सर्वज्ञ) द्वारा कथित दर्शन (सिद्धान्त) में श्रद्धा करो। हे असर्वज्ञदर्शन पुरुषो ! स्वयंकृत मोहनीय कर्म से जिसकी दृष्टि (ज्ञान दृष्टि) अवरुद्ध (बन्द) हो गई है; (वह सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त को नहीं मानता) यह समझ लो।

१५४. दुःखी जीव पुनः-पुनः मोह—विवेकमूढ़ता को प्राप्त करता है। (अतः मोहजनक) अपनी स्तुति (श्लाघा) और पूजा (सत्कार-प्रतिष्ठा) से साधु को विरक्त रहना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सम्पन्न (सहित) संयमी साधु समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य देखे।

विवेचन—सम्यग्दर्शन में साधक एवं बाधक तत्त्व—इन दो सूत्रगाथाओं में सम्यग्दर्शन में साधक-बाधक निम्नोक्त ६ तथ्यों का दिग्दर्शन कराया गया है—(१) सम्यग्द्रष्टा बनने के लिए केवलज्ञान-केवल दर्शन-सम्पन्न वीतरागोक्त-दर्शन (सिद्धान्त) पर दृढ़ श्रद्धा करो, (२) स्वयंकृत मोहकर्म के कारण सम्यग्-दृष्टि अवरुद्ध हो जाने से व्यक्ति सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त पर श्रद्धा नहीं करता, (३) अज्ञान एवं मिथ्यात्व के कारण जीव दुःखी होता है, (४) दुःखी जीव बार-बार अपनी दृष्टि एवं बुद्धि पर पर्दा पड़ जाने के कारण विवेकमूढ़ (मोह-प्राप्त) होता है, (५) साधक को मोह पैदा करने वाली आत्मश्लाघा और पूजा से विरक्त रहना चाहिए, (६) समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य देखने वाला संयमी साधु ही सम्यग्दर्शी एवं रत्नत्रय सम्पन्न होता है।[१८]

'अद्दक्खु व दक्खुवाहितं सद्दहसु'—'अद्दक्खूव' यह सम्बोधन हैं। संस्कृत में इसके पाँच रूप वृत्तिकार ने प्रस्तुत किये हैं—(१) हे अपश्यवत्। (२) हे अपश्यदर्शन ! (३) अदक्षवत्। (४) अदृष्टदर्शिन्। (५) अदृष्ट-दर्शन। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जो देखता है, वह 'पश्य' है, जो नहीं देखता वह 'अपश्य' कहलाता है। अपश्य को व्यवहार में अन्धा कहते हैं। यहाँ दार्शनिक क्षेत्र में द्रव्य-अन्ध से मतलब नहीं है, भाव-अन्ध ही यहाँ विवक्षित है। भावअन्ध तुल्य यहाँ तीन कारणों से माना गया है—(क) एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण, (ख) कर्तव्य-अकर्तव्य, हिताहित के विवेक से रहित होने के कारण, (ग) व्यवहार मात्र का लोप हो जाने के कारण।

(२) 'पश्य' कहते हैं सर्वज्ञ—सर्वदर्शी को, अपश्य कहते हैं—जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं है, उसे। अतः यहाँ **'अपश्यदर्शन'** का अर्थ हुआ हे असर्वज्ञ—असर्वदर्शी के दर्शन को मानने वाले पुरुष ! इसे दूसरे शब्दों में 'अन्य दर्शनानुयायी पुरुष' कह सकते हैं।

(३) दक्ष का अर्थ है निपुण। दर्शनिक क्षेत्र में निपुण उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से तत्त्व को सिद्ध करने में निपुण हो। जो ऐसा न हो, वह 'अदक्ष' कहलाता है। अतः **'अदक्षवत्'** का अर्थ हुआ—'हे अदक्ष के समान पुरुष !'

अदृष्टदर्शिन्—अदृष्ट उसे कहते हैं—जैसे सूक्ष्म, व्यवहित, दूर, परोक्ष (क्षेत्र और काल से) भविष्य एवं इन्द्रिय-क्षीणता आदि के कारण सूक्ष्मादि पदार्थ दृष्ट नहीं है—दिखाई नहीं देते। इस कारण उसे

---

१८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भाग-१, पृष्ट २८४ से २८७ तक का सारांश

अदृष्टदर्शी—अर्वाग्दर्शी—जो सामने निकटवर्ती-प्रत्यक्ष है, उसे ही देखने वाला कहते हैं। उसका सम्बोधन में अदृष्टदर्शिन् रूप होता है।

(५) अदृष्ट असर्वज्ञ-असर्वदर्शी को भी कहते हैं, इस दृष्टि से **अदृष्टदर्शन** का अर्थ हुआ—जो अदृष्ट (असर्वदर्शी) के दर्शन वाला है। जो भी हो, अपश्यदर्शन या अदृष्टदर्शी भावतः अन्ध होने के कारण सम्यग्दर्शन युक्त नहीं होता। अतः उसे सम्बोधन करते हुए परमहितैषी शास्त्रकार कहते हैं—"**दक्खुवाहियं सद्दहसु**' इसका भावार्थ यह है कि तुम कब तक सम्यग्दृष्टि विहीन रहोगे? सम्यग्दर्शन सम्पन्न बनने के लिए सर्वज्ञ सर्वदर्शी द्वारा कथित तत्त्वों या सिद्धान्तों या आगमों पर श्रद्धा करो। एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने से समस्त व्यवहार का लोप हो जाने से मनुष्य बहुत-सी बातों में अप्रामाणिक एवं नास्तिक बन जाता है, फिर पुण्य-पाप स्वर्ग-नरक, कर्तव्य-अकर्तव्य, कर्म-अकर्म को नहीं मानने पर उसका सारा ही बहुमूल्य जीवन (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप) धर्म से विहीन हो जाता है। यह कितनी बड़ी हानि है। इसीलिए इस गाथा के उत्तरार्द्ध में कहा गया है—'**हंदिहु सुनिरुद्धदंसणे····कम्मुणा**' सम्यग्दर्शन प्राप्ति का अवसर खो देने से अपने पूर्वकृत मोहनीय कर्म के कारण मनुष्य की सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञानदृष्टि बन्द हो जाती है।[१६]

दुक्खी मोहे पुणो पुणो—इस पंक्ति में शास्त्रकार के दो आशय छिपे हैं—पहला आशय यह है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के अभाव में अज्ञान, अन्धविश्वास और मिथ्यात्व के कारण मनुष्य पाँच तरह से दुःखी हो जाता है—(१) हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य, श्रेय-प्रेय, हेय-उपादेय का भान भूल जाने, से. धर्म-विरुद्ध कार्य करके, (२) वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान न होने से इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग में आर्त्तध्यान या चिन्ता करके; (३) परम हितैषी या आप्त वीतराग सर्वज्ञ सिद्धान्त या दर्शन पर विश्वास न करने से; तथा (४) अज्ञानवश मान-अपमान, निन्दा प्रशंसा, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों में समभाव न होने से। (५) मिथ्यात्वादि के कारण भयंकर पाप कर्मबन्ध हो जाने से बार-बार कुगतियों में जन्म-मरणादि करके।

शास्त्रीय परिभाषा में उदयावस्था को प्राप्त असातावेदनीय को या असातावेदनीय के कारण को दुःख कहते हैं, अथवा जो प्राणी को बुरा (प्रतिकूल) लगता है, सुहाता नहीं, उसे भी दुःख कहते हैं। दुःख जिसको हो रहा हो, उसे दुःखी कहते हैं। वही असातावेदनीय कर्म जब उदय में आता है, तब मूढजीव ऐसे दुष्कर्म करता है, जिससे वह बार-बार दुःखी होता है।

दूसरा आशय है—दुःखी मनुष्य पुनः-पुनः मोहग्रस्त विवेकमूढ़ हो जाता है। उपर्युक्त छः प्रकारों में से किसी भी प्रकार से दुःखी मानव अपनी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का पर्दा पड़ जाने से सही सोच नहीं सकता, वास्तविक निर्णय नहीं कर सकता, तत्त्व पर दृढ़ श्रद्धा नहीं कर सकता, सर्वज्ञोक्त वचनों पर उसका विश्वास नहीं जम सकता; फलतः वह बार-बार कुकृत्य करके विपरीत चिन्तन करके मूढ़ या मोहग्रस्त होता रहता है। अथवा मोहनीय कर्मबन्धन करके फिर चतुर्गतिक रूप भयंकर दुःखकारी अनन्त संसाराटवी में चक्कर काटता रहता है।[२०]

---

१६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७३ के आधार पर

२० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७३ के आधार पर

मोह के दो प्रबल कारणों—श्लाघा और पूजा से विरक्त रहे—यहाँ एक प्रश्न होता है कि साधु-जीवन अंगीकार करने के पश्चात् तो सम्यग्दर्शनादि का उत्कट आचरण होने लगता है, फिर वहाँ मोह का और दुःख का क्या काम है? इसका समाधान इसी पंक्ति में गर्भित है कि साधु-साध्वी सांसारिक पदार्थों की मोह-ममता त्याग कर सम्यक् प्रकार से संयम के लिए उत्थित हुये हैं फिर भी जब तक साधक वीतराग नहीं हो जाता, तब तक उसे कई प्रकार से मोह घेर सकता है जैसे—

(१) शिष्य-शिष्याओं, (२) भक्त-भक्ताओं, (३) वस्त्र-पात्रादि उपकरणों, (४) क्षेत्र-स्थान, (५) शरीर, (६) प्रशंसा-प्रसिद्धि, (७) पूजा-प्रतिष्ठा आदि का मोह। इसीलिए आचारांग सूत्र में दुःखी **'मोहे पुणो-पुणो'** के बदले **'एत्थ मोहे पुणो-पुणो'** पाठ है, जिसका आशय है—इस साधु-जीवन में भी पुनः-पुनः मोह का ज्वार आता है। प्रस्तुत गाथा में विशेष मोहोत्पादक दो बातों से खासतोर से विरक्त होने की प्रेरणा दी गयी है—**निव्विदेज्ज सिलोग-पूयणं**—श्लोक का अर्थ है—आत्मश्लाघा, या स्तुति, प्रशंसा, यश-कीर्ति, प्रसिद्धि या वाहवाही। और पूजा का अर्थ हैं—वस्त्रादि दान द्वारा सत्कार, अथवा प्रतिष्ठा, बहुमान, भक्ति आदि। साधु-जीवन में और बातों का मोह छूटना फिर भी आसान है, परन्तु अपनी प्रशंसा, प्रसिद्धि, पूजा-सम्मान और प्रतिष्ठा की लालसा छूटनी बहुत कठिन है, क्योंकि वह चुपके-चुपके साधक के मानस में घुसती हैं, और सम्प्रदाय, धर्म, कुल, तप, ज्ञान, अहंकार प्रभुत्व आदि कई रूपों में साधक का दिल-दिमाग भ्रान्त करती हुई आती हैं। इसीलिए शास्त्रकार यहाँ उसका समूलोच्छेदन करने के लिए कहते हैं—**'निव्विदेज्ज'** अर्थात् इन दोनों मोह जननियों से विरक्त हो जाओ। मन से भी इन्हें मत चाहो, न इनका चिन्तन करो। इनकी जरा-सी भी चाट लगी कि मोह मूढ़ बना साधक बात-बात में अपना अपमान, तिरस्कार, अपकीर्ति आदि मानकर दुःखी हो जायेगा।[२१]

सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है—सर्वप्राणियों के आत्मवत् दर्शन से—१५४वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में समस्त प्राणियों को आत्मवत् दृष्टि से देखने की प्रेरणा है। संयमी साधु के लिए स्व-पर का भेदभाव, स्व-सुख की ममता, और पर-सुख की उपेक्षा, स्वजीवन का मोह, परजीवन की उपेक्षा आदि विषमभाव निकालकर दूर कर देना चाहिए। इस विषमभाव को मिटाने का सबसे सरल तरीका है—साधक समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य दृष्टि से देखें। अपने सुख-दुःख, जीवन-मरण के समान ही उनके सुख-दुःखादि को जाने। इसीलिए कहा गया है—***"एवं सहितेऽहिपासए······संजते।"*** चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—इस प्रकार संयमी साधु ज्ञानादि सम्पन्न होकर सभी प्राणियों को आत्मतुल्य से भी अधिक देखे।[२२]

'दक्खु' वाहितं' आदि पदों का अर्थ—दक्खुवाहितं=सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा व्याहृत-कथित, वृत्तिकार के

---

२१ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३८७ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७३
(ग) आचारांग सूत्र श्रु०१ अ०२ उ०२ सू० ७० पृ० ४६ में देखिए 'एत्थ मोहे पुणो-पुणो सण्णा, णो हव्वाए, णो पाराए।'

२२ (क) शीलांक वृत्ति (सू० कृ०) पत्रांक ७३ का सारांश
(ख) अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३८७ का सारांश
(ग) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ. २८

अनुसार—'अचक्षुदर्शनः=केवलदर्शनः—सर्वज्ञः, तस्माद् यदाप्यते हितं तत्।' अर्थात् अचक्षुदर्शन वाला—यानी केवलदर्शनी जो सर्वज्ञ है, उससे जो हित (हितकर वचन) प्राप्त होता है उस पर। अद्दक्खूदंसणा—असर्वज्ञ के दर्शन वालो! वृत्तिकार ने 'अचक्खुदंसणा' पाठान्तर मानकर उपर्युक्त अर्थ ही किया है।[२३]

सुव्रती समत्वदर्शी-गृहस्थ देवलोक में—

१५५. गारं पि य आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समया सव्वत्थ सुव्वए, देवाणं गच्छे स लोगयं ॥१३॥

१५५. घर (गृहस्थ) में भी निवास करता हुआ मनुष्य क्रमशः प्राणियों पर (यथाशक्ति) संयम रखता है, तथा सर्वत्र (सब प्राणियों में) समता रखता है, तो वह (समत्वदर्शी) सुव्रती (श्रावकव्रती गृहस्थ) भी देवों के लोक में जाता है।

विवेचन—सुव्रती समत्वदर्शी गृहस्थ भी देवलोकगामी—प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि गृहस्थी भी तीन गुणों से समन्वित होकर देवों के लोक में चला जाता है। वे तीन विशिष्ट गुण ये हैं—(१) वह गृहस्थ में रहता हुआ मर्यादानुसार प्राणिहिंसा पर संयम (नियन्त्रण) रखे, (२) आर्हत्प्रवचनोक्त समस्त एकेन्द्रियादि प्राणियों पर समभाव-आत्मवद्भाव रखे, तथा (३) श्रावक के व्रत धारण करे। उत्तराध्ययन-सूत्र में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है कि सुव्रती भिक्षु हो या गृहस्थ, दिव्यलोक में जाता है।[२४]

कठिन शब्दों की व्याख्या—'समया सव्वत्थ सुव्वए'—वृत्तिकार के अनुसार—इस वाक्य के दो अर्थ हैं—(१) समता यानी समभाव—स्व-पर तुल्यता सर्वत्र—साधु और गृहस्थ के प्रति रखता है, अथवा आर्हत्-प्रवचनोक्त एकेन्द्रियादि समस्त प्राणियों पर समभाव रखता है, ऐसा सुना जाता है, कहा जाता है। चूर्णि-कार के अनुसार—जो सर्वत्र समताभाव रखता है, वह गृहस्थ भले ही सामायिक आदि क्रियाएँ न करता हो, फिर भी समताभाव के कारण। **देवाणं गच्छे स लोगयं**—वह देवों (वैमानिकों) के लोक में जाता है। चूर्णिकार **'स लोगयं'** को **'सलोगतं'** पाठ मानकर अर्थ करते हैं—**'देवाणं गच्छे सलोगतं—समानलोगतं सलोगतं'**। अर्थात्—देवों का समान लोकत्व (स्थान या अवधिज्ञान दर्शन) पा जाता है अथवा देवों का श्लोकत्व=प्रशंसनीयत्व प्राप्त कर लेता है।[२५] **गारं पि य आवसे नरे**—आगर—गृह में निवास करता हुआ भी।

मोक्षयात्री भिक्षु का आचरण—

१५६. सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेहुवक्कमं।
सव्वत्थऽवणीयमच्छरे, उंछं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

---

२३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७३

२४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७४

(ख) तुलना 'भिक्खाए व गिहत्थे वा सुव्वए कम्मइ दिवं।' —उत्तराध्ययन अ० ५/२२

२५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७४

(ख) 'सव्वत्थ समतां भावयति, तदनु चाकृतसामायिकः शोभनव्रतः सुव्रतः।'

—सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २८

१५७. सव्वं णच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सदा जए, आय-परे परमाययट्ठिए ॥१५॥

१५६. भगवान् (वीतराग सर्वज्ञ प्रभु) के अनुशासन (आगम या आज्ञा) को सुनकर उस प्रवचन (आगम) में (कहे हुए) सत्य (सिद्धान्त या संयम) में उपक्रम (पराक्रम) करे। भिक्षु सर्वत्र (सब पदार्थों में) मत्सररहित होकर शुद्ध (उञ्छ) आहार ग्रहण करे।

१५७. साधु सब (पदार्थों या हेयोपादेयों) को जानकर (सर्वज्ञोक्त सर्वसंवर का) आधार (आश्रय) ले; धर्मार्थी (धर्म का अभिलाषी) रहे; तप (उपधान) में अपनी शक्ति लगाये; मन-वचन-काया की गुप्ति (रक्षा) से युक्त होकर रहे; सदा स्व-पर-कल्याण के विषय में अथवा आत्मपरायण होकर यत्न करे और परम-आयत (मोक्ष) के लक्ष्य में स्थित हो।

विवेचन—मोक्षयात्री भिक्षु का आचरण—प्रस्तुत सूत्र गाथाद्वय में मोक्षयात्री भिक्षु के लिए ग्यारह आचरणसूत्र प्रस्तुत किये गये हैं—(१) सर्वज्ञोक्त अनुशासन (शिक्षा, आगम या आज्ञा) को सुने, (२) तदनुसार सत्य (सिद्धान्त या संयम) में पराक्रम करे, (३) सर्वत्र मत्सरहित (रागद्वेष रहित या क्षेत्र, गृह, उपाधि, शरीर आदि पदार्थों में लिप्सारहित) होकर रहे, (४) शुद्ध भिक्षुचर्या करे; (५) हेय-ज्ञेय-उपादेय को जानकर सर्वज्ञोक्त संवर का ही आधार ले; (६) धर्म से ही अपना प्रयोजन रखे, (७) तपस्या में अपनी शक्ति लगाये; (८) तीन गुप्तियों से युक्त होकर रहे; (९) सदैव यत्नशील रहे; (१०) आत्मपरायण या स्व-पर-हित में रत रहे, और (११) परमायत-मोक्षरूप लक्ष्य में दृढ़ रहे।[२६]

भगवदनुशासन—श्रवण क्यों आवश्यक ?—मोक्षयात्री के लिए पाथेय के रूप में सर्वप्रथम भगवान का अनुशासन-श्रवण करना इसलिए आवश्यक है कि जिस मोक्ष की वह यात्रा कर रहा है, भगवान उस मोक्ष के परम अनुभवी, मार्गदर्शक हैं, क्योंकि ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री, समग्र ऐश्वर्य एवं मोक्ष इन छः विभूतियों से वे (भगवान) सम्पन्न होते हैं। वे वीतराग एवं सर्वज्ञ होते हैं, वे निष्पक्ष होकर वास्तविक मोक्ष-मार्ग ही बताते हैं। उनकी आज्ञाएँ या शिक्षाएँ (अनुशासन) आगमों में निहित हैं, इसलिए गुरु या आचार्य से उनका प्रवचन (आगम) सुनना सर्वप्रथम आवश्यक है। सुनकर ही तो साधक श्रेय-अश्रेय का ज्ञान कर सकता है।[२७]

सर्वज्ञोक्त सत्य-संयम में पराक्रम करे—जब श्रद्धापूर्वक श्रवण होगा, तभी साधक उस सुने हुए सत्य को सार्थक करने हेतु अपने जीवन में उतारने का पुरुषार्थ करेगा। अन्यथा कोरा श्रवण या कोरा भाषण तो व्यर्थ होगा। शास्त्र में बताया है—"सच्चे सच्चपरक्कमे" साधु सत्य में सच्चा पराक्रम करे।[२८] परन्तु साधक का सत्य-संयम में पुरुषार्थ मत्सरहित—राग-द्वेष रहित—होगा तभी वह सच्चा पुरुषार्थ होगा।

---

२६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७४

२७ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३८९ के अनुसार

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७४

(ग) सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं—दशवै० ४।११

२८ उत्तराध्ययन सूत्र अ० १८/२४

सब पदार्थों में मत्सररहित होकर रहे—मूल में 'सव्वत्थ विणीयमच्छरे' पाठ है, उसका शब्दशः अर्थ तो यही होता है, किन्तु वृत्तिकार ने इसके दो और विशेष अर्थ प्रस्तुत किये हैं—(१) सर्वत्र यानी क्षेत्र, गृह, उपाधि, शरीर आदि पदार्थों की तृष्णा (लिप्सा) को मन से हटा दे, अथवा (२) सर्व पदार्थों के प्रति न तो राग या मोह करे, न ही द्वेष, घृणा या ईर्ष्या करे; क्योंकि मत्सर होगा, वहाँ द्वेष तो होगा ही, जहाँ एक ओर द्वेष होगा, वहाँ दूसरी ओर राग-मोह अवश्यम्भावी है। साधक की मोक्षयात्रा में ये बाधक हैं; अतः इनसे दूर ही रहे।[29]

शुद्ध भिक्षाचरी क्या, क्यों और कैसे ? साधु भिक्षाजीवी होता है, परन्तु उसकी भिक्षाचरी ४७ एषणा दोषों से रहित होनी चाहिए, वही विशुद्ध भिक्षा कहलाती है। औद्देशिक आदि दोषों से युक्त भिक्षा होगी तो साधु अहिंसा महाव्रत, संयम, एषणा समिति अथवा तप का आचरण यथार्थ रूप से नहीं कर सकेगा। दोषयुक्त भिक्षा ग्रहण एवं सेवन से साधु की तेजस्विता समाप्त हो जायेगी, उसमें निःस्पृहता, निर्लोभता (मुत्ती), त्याग एवं अस्वादवृत्ति नहीं रह पायेगी। यहाँ **भिक्षा** के बदले शास्त्रकार ने **'उंछं'** शब्द का प्रयोग किया है, प्राकृत शब्दकोश के अनुसार उसका अर्थ होता है—"क्रमशः (कण-कण करके) लेना।" इसका तात्पर्य है—अनेक गृहस्थों के घरों से थोड़ी-थोड़ी भोजन सामग्री ग्रहण करना।[30]

जाने सब, पर आधार सर्वज्ञोक्त शास्त्र का ले—साधु यद्यपि बहुत-सी चीजों को जानता-देखता है, उनमें कई हेय होती हैं, कई ज्ञेय और कई उपादेय। साधु राजहंस की तरह सर्वज्ञोक्त शास्त्ररूपी चोंच द्वारा हेय-ज्ञेय-उपादेय का नीर-क्षीर-विवेक करे, यही अभीष्ट है। अथवा सर्वज्ञोक्त पंचसंवर को आधारभूत मानकर उसी कसौटी पर उन पदार्थों को कसे और जो संवर के अनुकूल हो, उसे ग्रहण करे शेष को छोड़ दे या जानकर ही विराम करे। साधु स्वयं हेयादि का निर्णय करने जायेगा तो छद्मस्थता (अल्पज्ञता) वश गड़बड़ा जायेगा, इसलिए सर्वज्ञोक्त पंचसंवर के माध्यम से निर्णय करे।[31]

सया जए—यह छोटा-सा आचरण सूत्र हैं, लेकिन इसमें गम्भीर अर्थ छिपा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु चलना-फिरना, उठना-सोना, खाना-पीना, बोलना आदि प्रत्येक क्रिया यत्नपूर्वक करे। वह इस बात का विवेक रखे कि इस प्रवृत्ति या क्रिया के करने में कहीं हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि आस्रवों से तो मैं नहीं लिप्त हो जाऊँगा ? अगर कोई क्रिया हिंसादि दोषयुक्त हो, या भविष्य में अनर्थकारक, हिंसादि पापवर्द्धक हो तो उसे न करना। यह इस सूत्र का आशय है।[32]

आय-परे—का वृत्तिकार ने तो **'यतेताऽऽत्मनि परस्मिंश्च'** अपने और पर के सम्बन्ध में यत्न करे'। यही अर्थ किया है, परन्तु हमारी दृष्टि से इसका दूसरा अर्थ **'आत्म-परायण हो'** यह होना चाहिए। इसका आशय यह है कि साधु की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा को केन्द्र में रखकर होनी चाहिए। जो प्रवृत्ति आत्मा के लिए अहितकर, आत्मशुद्धिबाधक, कर्मबन्धजनक एव दोषवर्द्धक हो, आत्म-गुणों (ज्ञानादि रत्नत्रयादि) के

---

२९ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७४

३० सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३९० पर से

३१ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३९०

३२ दशवैकालिक अ०४/गा०१ से ९ तक की हारिभद्रीय टीका

घातक हों, उससे सतत बचना ही आत्मपरकता या आत्मपरायणता है। जो प्रवृत्ति आत्मा के लिए अकल्याणकर अहितकर हो, किन्तु दूसरों को उससे अर्थादिलाभ होता हो तो भी उसे न करे।[33]

परमाययट्ठिए—परमायत—मोक्ष (मोक्ष के लक्ष्य) में स्थित रहे। परम उत्कृष्ट आयत-दीर्घ हो, वह परमायत है, अर्थात् जो सदा काल शाश्वत स्थान है, श्रेष्ठ धाम है। साधु उस परमायत लक्ष्य में स्थित-परमायतस्थित तथा उस परमायत का अर्थी परमायतार्थिक-मोक्षाभिलाषी हो। अथवा अपने मन, वचन और काया को साधु मोक्षरूप लक्ष्य में ही स्थिर रखे, डाँवाडोल न हो कि कभी तो मोक्ष को लक्ष्य बना लिया, कभी अर्थ-काम को या कभी किसी क्षुद्र पदार्थ को।[34]

शेष आचरण-सूत्र तो स्पष्ट हैं। इन ११ आचरणसूत्रों को हृदयंगम करके साधु को मोक्षयात्रा करनी चाहिए।

अशरण भावना—

१५८. वित्तं पसवो य णातयो, तं बाले सरणं ति मण्णती।
एते मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं च विज्जइ ॥१६॥

१५९. अब्भागमितम्मि वा दुहे, अहवोवक्कमिए भवंतए।
एगस्स गती य आगती, विदुमं ता सरणं न मन्नती ॥१७॥

१६०. सव्वे सयकम्मकप्पिया, अव्वत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिंडंति भयाउला सढा, जाति-जरा-मरणेहऽभिद्दुता ॥१८॥

१५८. अज्ञानी जीव धन, पशु और ज्ञातिजनों को अपने शरणभूत (शरणदाता या रक्षक) समझता है कि ये मेरे हैं, मैं भी उनका हूँ। (किन्तु वस्तुतः ये सब उसके लिए) न तो त्राणरूप हैं और न शरण-रूप हैं।

१५९. दुःख आ पड़ने पर, अथवा उपक्रम (अकालमरण) के कारणों से आयु समाप्त होने पर या भवान्त (देहान्त) होने पर अकेले को जाना या आना होता है। अतः विद्वान् पुरुष धन, स्वजन आदि को अपना शरण नहीं मानता।

१६०. सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के कारण विभिन्न अवस्थाओं में व्यवस्थित—विभक्त हैं और सभी प्राणी अव्यक्त (अलक्षित) दुःख से दुःखी हैं। भय से व्याकुल शठ (अनेक दुष्कर्मों के कारण दुष्ट) जन जन्म, जरा और मरण से पीड़ित होकर (बार-बार संसार-चक्र में) भ्रमण करते हैं।

---

३३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७४
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. ३९०

३४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७

विवेचन—कोई भी त्राता एवं शरणदाता नहीं—प्रस्तुत तीन गाथाओं में अशरण-अनुप्रेक्षा (भावना) का विविध पहलुओं से चित्रण किया गया है—(१) अज्ञानी जीव धन, पशु एवं स्वजनों को भ्रमवश त्राता एवं शरणदाता मानता है, परन्तु कोई भी सजीव-निर्जीव त्राण एवं शरण नहीं देता। (२) दुःख, रोग, दुर्घटना, मृत्यु आदि आ पड़ने पर प्राणी को अकेले ही भोगना या परलोक जाना-आना पड़ता है। (३) विद्वान् (वस्तुतत्त्वज्ञ) पुरुष किसी भी पदार्थ को अपना शरणरूप नहीं मानता। (४) सभी प्राणी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मानुसार विभिन्न अवस्थाओं (गतियों-योनियों) को प्राप्त किये हुए हैं। (५) समस्त प्राणी अव्यक्त दुःखों से दुःखित हैं। (६) दुष्कर्म करने वाले जीव जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु आदि से पीड़ित एवं भयाकुल होकर संसार चक्र में परिभ्रमण करते हैं।

धन आदि शरण योग्य एवं रक्षक क्यों नही ?—प्रश्न होता है कि धन आदि शरण्य एवं रक्षक क्यों नहीं होते ? इसके उत्तर में एक विद्वान् ने कहा है—

> "रिद्धि सहावतरला, रोग-जरा-भंगुरं हयसरीरं ।
> दोण्हं पि गमणसीलाणं कियच्चिरं होज्ज संबंधो ?"

अर्थात्—ऋद्धि (धन-सम्पत्ति) स्वभाव से ही चंचल है, यह विनश्वर शरीर रोग और बुढ़ापे के कारण क्षणभंगुर है। अतः इन दोनों (गमनशील-नाशवान) पदार्थों का सम्बन्ध कब तक रह सकता है ? वास्तव में जिस शरीर के लिए धनादि वस्तुओं के संचय की इच्छा की जाती है, वह शरीर ही विनाशशील है। फिर वे धनादि चंचल पदार्थ शरीर आदि को कैसे नष्ट होने से बचा सकेंगे ? कैसे उन्हें शरण दे सकेंगे ?

जिन पशुओं (हाथी, घोड़ा, बैल, गाय, भैंस, बकरी आदि) को मनुष्य अपनी सुख-सुविधा, सुरक्षा एवं आराम के लिए रखता है, क्या वे मनुष्य की मृत्यु, व्याधि, जरा आदि को रोक सकते हैं ? वे ही स्वयं जरा मृत्यु, व्याधि आदि से ग्रस्त होते हैं; ऐसी स्थिति में वे मनुष्य की सुरक्षा कैसे कर सकते हैं ? युद्ध के समय योद्धा लोग हाथी, घोड़ा आदि को अपना रक्षक मानकर मोर्चे पर आगे कर देते हैं, परन्तु क्या वे उन्हें मृत्यु से बचा सकते हैं ? जो स्वयं अपनी मृत्यु आदि को रोक नहीं सकता, वह मनुष्य की कैसे रक्षा कर सकता है, शरण दे सकता है ?

इसी प्रकार माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहन आदि ज्ञाति (स्व) जन भी स्वयं मृत्यु, जरा, व्याधि आदि से असुरक्षित है, फिर वे किसी की कैसे रक्षा कर सकेंगे, कैसे शरण दे सकेंगे ? इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**वित्तं पसवो**···**सरणं मण्णती ।**'—इसका आशय यही है कि धनादि पदार्थ शरण योग्य नहीं हैं, फिर भी अज्ञानी जीव मूढ़तावश इन्हें शरणरूप मानते हैं। वे व्यर्थ ही ममत्ववश मानते हैं कि ये सजीव-निर्जीव पदार्थ मेरे हैं, मैं भी उनका हूँ।[३५]

---

३५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति सहित भाषानुवाद भा० १, पृ० २९१ से २९५ तक का सार

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३९१ से ३९३ तक का सारांश

(ग) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ७५ के आधार पर

मान लो, माता-पिता आदि स्वजनों को कोई भ्रान्तिवश अपना शरणदाता एवं त्राता मानता है, परन्तु अशुभ -कर्मोदयवश उस व्यक्ति पर कोई दुःख, संकट आ गया, सोपक्रमी आयु वाला होने से अकस्मात् कोई दुर्घटना हो गयी, इस कारण आयु नष्ट हो गयी तथा देहान्त हो गया। ऐसे समय में उस व्यक्ति के माता-पिता आदि स्वजन न तो उसके बदले में दुःख भोग सकते हैं, न ही दुर्घटना से उसे बचा सकते हैं, और न ही आयुष्य नष्ट होने से रोक सकते हैं, तथा शरीर छुटने से भी यानी मृत्यु से भी उसे बचा नहीं सकते, क्यों ? इसलिए कि उसके स्वकृत कर्म अलग हैं, माता-पिता आदि स्वजन के कृतकर्म अलग हैं। उसके कर्मों का फल न तो उसके माता-पिता आदि भोग सकते हैं और न ही पुत्र आदि अपने माने हुए माता-पिता आदि के द्वारा किये गये कर्मों का फल भोग सकते हैं। कोई भी स्वजन उसके रोग को न तो घटा सकता है और न ही नष्ट कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि कर्मों का सुखद या दुःखद फल भोगते समय व्यक्ति अकेला ही होता है। अकेला ही परलोक में जाता है, अकेला ही वहाँ से दूसरे लोक में जन्म लेता है। दूसरा कोई भी उसके साथ परलोक में नहीं जाता और न वहाँ से आता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—"**अब्भागमितम्मि वा दुहे ···विदुमं ता सरणं न मन्नती।**" आशय उपर स्पष्ट किया जा चुका है। निष्कर्ष यह है कि इन सब कारणों से वस्तुतत्वज्ञ विद्वान् किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ को अपना शरणभूत नहीं मानते।

स्वकर्म-सूत्र से ग्रथित सारा संसार—प्रश्न होता है कि जीव अकेला ही जन्मता-मरता और अकेला ही किसी गति या योनि में क्यों जाता-आता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस गाथा में दिया गया है— **सव्वे सयकम्मकप्पिया···जाइजरामरणे हऽभिद्दुता।**' सभी जीव अपने-अपने कर्मों के कारण नाना गतियाँ योनियाँ, शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्राप्त करते हैं। अपने ही ज्ञानावरणीयादि कर्मों के कारण जीव सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, सम्मूर्च्छिम-गर्भज तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रियों में भी मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नरक आदि विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि इन विभिन्न अवस्थाओं में भी प्राणी अपने-अपने कर्मों के प्रभाव से रोग, निर्धनता, अभाव, अपमान, संकट कर्जदारी, आदि विभिन्न कारणों से स्वयं ही शारीरिक, मानसिक एवं प्राकृतिक दुःख पाता है। ये समस्त दुःख मन में ही महसूस होते हैं, इसलिए इन्हें अव्यक्त-अप्रकट कहा है, क्योंकि साधारण अल्पज्ञ व्यक्ति इन्हे सहसा जान नहीं पाता। हाँ, असातावेदनीय के फलस्वरूप दुःख आ पड़ने पर व्यक्ति के वाणी तथा आकृति आदि पर से दुःख को अनुमानतः व्यक्त रूप से जाना जा सकता है, परन्तु सामान्यतया दुःख अव्यक्त होता। दुःख एक मानसिक अवस्था है, प्रतिकूल रूप से वेदन भी मानसिक होता है, जो प्रत्येक प्राणी का अपना अलग-अलग होता है।[३६]

कई लोग कहते हैं कि समस्त प्राणियों को अपने-अपने कर्मों का फल मिलता है, किन्तु प्रायः देखा जाता है कि कई दुष्कर्म करने वाले पापी लोग पापकर्म (हत्या, लूटपाट, चोरी, व्यभिचार आदि) करते हैं, फिर भी वे यहाँ मौज से रहते हैं, वे सम्पन्न हैं, समाज में भी प्रशंसित हैं, ऐसा क्यो ? इसी का समाधान देने हेतु सूत्रगाथा ६० का उत्तरार्द्ध प्रस्तुत है—

---

३६ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ ३९४
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ७५

"हिंडंति भयाउला सढा जाति जरामरणेहऽभिद्दुता" इससे दो तथ्य प्रतिफलित होते हैं—(१) यहाँ वे भयाकुल होकर ही घूमते हैं, (२) अथवा वे जन्म, जरा; मरण आदि से यहाँ या आगे पीड़ित रहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि चोरी, डकैती, हत्या, लूटपाट, बलात्कार आदि भयंकर पाप करने वाले दुष्ट (शठ) लोग प्रतिक्षण आशंकित, भयभीत, दण्डभय से व्याकुल और समाज में बेइज्जती हो जाने की आशंका से चिन्तित रहते हैं। कई लोग तो एकान्त स्थानों में छिपकर या सरकार की नजर बचाकर अपनी जिन्दगी बिताते हैं। उनका पाप उन्हें हरदम कचोटता रहता है। कोई उसकी हत्या न कर दे, बदला न ले ले, बुरी तरह मारपीट कर अधमरा न कर दे, इस प्रकार उन दुष्कर्मियों का वह जीवन मुट्ठी में रहता है। चिन्ता ही चिन्ता के कारण उनका मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। विक्षिप्त, अर्धविक्षिप्त-सा हो जाते हैं। कभी हृदय-रोग का हमला, रक्तचाप, क्षय आदि रोगों के कारण जिन्दगी बर्बाद हो जाती है, असमय में ही बुढ़ापा आ जाता है। इसलिए बहुत-से लोगों को तो इसी जन्म में दुष्कर्म का फल मिल जाता है। मृत्यु के समय भी कई अत्यन्त भयभीत रहते हैं। अगर किसी को इस जन्म में अपने दुष्कर्मों का फल नहीं मिलता तो अगले जन्मों में अवश्य ही मिलता है। वे जन्म-मृत्यु के चक्के में पिसते रहते हैं। निःसन्देह कहा जा सकता है कि संसार में कोई किसी का त्राता एवं शरणदाता नहीं हो सकता, सभी को अपने-अपने कर्मों से तथा तदनुसार दुःखों से निपटना होता है। उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में भी इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है।[३७]

कठिन शब्दों की व्याख्या—'**अव्वत्तेण दुहेण पाणिणो**' का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार है—अव्यक्त—अपरिस्फुट शिरोवेदना आदि अलक्षित स्वभावरूप दुःख से प्राणी दुःखित हैं। चूर्णिकार '**अव्वत्तेण**' के बदले **अवियत्तेण** पाठ मानकर इसके संस्कृत में दो रूप बनाकर अर्थ करते हैं—'**अवियत्तेण कृती छेदने, न विकृतं अच्छिन्नमित्यर्थस्तेन, अथवा अवियत्तेन अधिगच्छन्तेनेत्यर्थः।**" कृती धातु छेदने अर्थ में है। विकृत नहीं, अर्थात् अविकृत-अविच्छिन्न, उस (दुःख) से, अथवा अवियत्तेन का अर्थ—जानते हुए या स्मरण करते हुए' भी होता है। पहले अर्थ के अनुसार—अविच्छिन्न (लगातार) दुःख से प्राणी दुःखी होते हैं, दूसरे अर्थ के अनुसार—ज्ञात और संस्मृत दुःख से प्राणी दुःखी होते है, '**जातिजरामरणे हऽभिद्दुता**' के बदले चूर्णिकार ने '**वाधिजरामरणेहिंऽभिद्दुता**' पाठान्तर माना है, जिसका अर्थ होता है—यहाँ व्याधि, जरा एवं मरण से पीड़ित। '**विदुमंता**' का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार है—विद्वान्-विवेकी-संसार स्वभाव का यथार्थवेत्ता। चूर्णिकार 'विदु मंता' इन दोनों पदों को 'विदु मत्वा' के रूप में पृथक्-पृथक् करके अर्थ करते हैं—विद्वान इस प्रकार जान-मानकर (पूर्वोक्त ज्ञाति आदि वस्तुओं को शरण नहीं मानते।)[३८]

---

३७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ७५ के आधार पर

(ख) देखिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में प्रथम आस्रव द्वार और तृतीय आस्रव द्वार का वर्णन।

(ग) माणुसत्ते असारंमि वाहीरोगाण आलए।
जरा-मरणघत्थंमि खणंपि न रमामहं॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ० १९/१४

३८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पृ० ७५

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० २९

बोधिदुर्लभता की चेतावनी—

१६१. इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहियं ।
एवं सहिएऽहिपासए, आह जिणे इणमेव सेसगा ॥१६॥

१६१. ज्ञानादि सम्पन्न या स्वहितैषी मुनि इस प्रकार विचार (या पर्यालोचन) करे कि यही क्षण (बोधि प्राप्ति का) अवसर है, बोधि (सम्यग्दर्शन या सद्बोध की प्राप्ति) सुलभ नहीं है; ऐसा जिन-राग-द्वेष विजेता (तीर्थंकर ऋषभदेव) ने और शेष तीर्थंकरों ने (भी) कहा है।

विवेचन—बोधिदुर्लभता की चेतावनी—इस गाथा में शास्त्रकार वर्तमान क्षण का महत्व बताकर चेतावनी देते हैं कि बोधि दुर्लभ है। उत्तरार्द्ध में इस तथ्य की पुष्टि के लिए—समस्त राग-द्वेष-विजेता तीर्थंकरों की साक्षी देते हैं।

इणमेव खणं—इस वाक्य में 'इणं' (इदं) शब्द प्रत्यक्ष और समीप का और 'खणं' अवसर अर्थ का बोधक है। 'एव' शब्द निश्चय अर्थ में है। शास्त्रकार के आशय को खोलते हुए वृत्तिकार कहते हैं—मोक्ष साधना के लिए यही क्षेत्र और यही काल, तथा यही द्रव्य और यही भाव श्रेष्ठ अवसर है।

द्रव्यतः श्रेष्ठ अवसर—जंगम होना, पंचेन्द्रिय होना, उत्तमकुलोत्पत्ति तथा मनुष्य जन्म प्राप्ति है—**क्षेत्रतः श्रेष्ठ अवसर है**—साढे पच्चीस जनपद रूप आर्यदेश प्राप्त होना। **कालतः श्रेष्ठ अवसर है**—अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आदि आरा तथा वर्तमान काल धर्म प्राप्ति के योग्य है। **भावतः श्रेष्ठ अवसर है**—सम्यक् श्रद्धान एवं चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न सर्वविरति स्वीकार करने में उत्साह रूप भाव अनुकूलता।

सर्वज्ञोक्त (शास्त्रोक्त) कथन से ऐसा क्षण (अवसर) प्राप्त होने पर भी जो जीव धर्माचरण या मोक्षमार्ग की साधना नहीं करेगा उसे फिर बोधि प्राप्त करना सुलभ नहीं होगा, यही इस गाथा का आशय है।[३९]

इस प्रेरणा सूत्र के द्वारा साधक को गम्भीर चेतावनी शास्त्रकार ने दे दी है—**'एवं सहिएऽहियासए'** इस प्रकार (पूर्वोक्त कथन को जानकर) ज्ञानादि सहित या स्वहितार्थी साधक को अपनी आत्मा में (भीतर) झांकना चाहिए। इस चेतावनी के रहस्य को खोलने के लिए वृत्तिकार एक गाथा प्रस्तुत करते हैं—

लद्धेलियं बोहिं, अकरें तो अणागयं च पत्थेंतो।
अन्नं दाइं बोहिं, लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ?"

---

३९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ७५ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३६५ के आधार पर
(ग) तुलना—'खणं जाणाहि पंडिए'—आचारांग सूत्र १, अ०२ उ०२ सू० ६८ ०४४

अर्थात्—जो पुरुष उपलब्ध बोधि को सार्थक नहीं करता और भविष्य काल में बोधि प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है अर्थात् यह चाहता है कि मुझे भविष्य में बोधि मिले, वह दूसरों को बोधि देकर क्या मूल्य चुकाकर पुनः बोधि लाभ करेगा ?

तात्पर्य यह है कि आत्महितार्थी साधक को दीर्घदृष्टि से यह सोचना चाहिए कि अगर एक बार बोधिलाभ का अवसर खो दिया तो अर्धपुद्गल-परावर्तन काल तक फिर बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त करना दुर्लभ होगा। अतः साधक सदैव बोधि दुर्लभता का ध्यान रखे। वह अपने अंतरतम में झांककर सदैव पता लगाता रहे कि बोधि-लाभ को सार्थक करने का कोई भी क्षण खोय तो नहीं है।

बोधिदुर्लभता का यह उपदेश केवल शास्त्रकार ही नहीं कर रहे हैं; अष्टापद पर्वत पर प्रथम तीर्थंकर ने अपने पुत्रों को यह उपदेश दिया था, शेष तीर्थंकरों ने भी यही बात कही है।

पाठान्तर 'अहियासए' के बदले 'अधियासए' पाठान्तर भी है, जिसका अर्थ होता है—'परिषहोपसर्गो को समभाव से सहन करे।[४०]

भिक्षुओं के मोक्षसाधक गुणों में ऐकमत्य—

१६२. **अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भविंसु सुव्वता।**
एताइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

१६३. **तिविहेण वि पाणि मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे।**
एवं सिद्धा अणंतगा, संपति जे य अणागयाऽवरे ॥२१॥

१६२. भिक्षुओ ! पूर्वकाल में भी जो (सर्वज्ञ) हो चुके हैं और भविष्य में भी जो होंगे, उन सुव्रत पुरुषों ने इन्हीं गुणों को (मोक्ष साधन) कहा है। काश्यपगोत्रीय (भगवान् ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर स्वामी) के धर्मानुगामी साधकों ने भी यही कहा है।

१६३. मन, वचन और काया इन तीनों से प्राणियों का प्राणातिपात (हिंसा) न करे तथा-हित (अपने कल्याण) में रत रहे, स्वर्गादि सुखों की वाञ्छा (निदान) से रहित, सुव्रत होकर रहे। इस प्रकार (रत्नत्रय की साधना से) अनन्त जीव (भूतकाल में) सिद्ध-मुक्त हुए हैं, (वर्तमानकाल में हो रहे हैं) और भविष्य में भी अनन्त जीव सिद्ध-बुद्ध मुक्त होंगे।

विवेचन—**भिक्षुओं के मोक्षसाधक गुण : सभी तीर्थंकरों का एकमत**—प्रस्तुत गाथाद्वय में पूर्वोक्त गाथाओं में निरूपित मोक्ष साधक गुणों के सम्बन्ध में सभी तीर्थंकरों की एक वाक्यता बतायी गयी है, तथा पंचमहाव्रत आदि अन्य चारित्र गुणों से युक्त साधकों की तीनों कालों में मुक्ति भी बतायी गयी है।[४१]

'अभविंसु पुरावि....एताइं गुणाइं आएसा—।' इस गाथा पंक्ति का आशय यह है कि पूर्व गाथाओं में

---

४० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ७५
४१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पृ० ७५

जिन मोक्ष साधक गुणों का निरूपण किया गया है, उस सम्बन्ध में अतीत, अनागत वर्तमान के सर्वज्ञ एक मत है, इतना ही नहीं काश्यप गोत्रीय भगवान् ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर के धर्मानुगामी साधकों का भी यही मत है।

'सुव्वआ'—शब्द इस बात का सूचक है कि इन पुरुषों को जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई थी, वह उत्तम व्रतों के पालन से ही हुई थी और होगी।

तिविहेण वि पाणि मा हणे—संवुडे—यद्यपि मोक्ष-साधन तीन है—सम्यग् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र, परन्तु यहां केवल सम्यक् चारित्र (महाव्रतादि) से मुक्त-सिद्ध होने का जो वर्णन किया है—वह इस अपेक्षा से है कि जहां सम्यक् चारित्र आयेगा, वहां सम्यक् ज्ञान अवश्यम्भावी है और ज्ञान सम्यक् तभी होता है, जब दर्शन सम्यक् हों। अतः सम्यक् चारित्र में सम्यक् ज्ञान और सम्यग्दर्शन का समावेश हो ही जाता है। अथवा पूर्व गाथाओं में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा ही जा चुका है, इसीलिए शास्त्रकार ने पुनरुक्ति न करते हुए इतना सा संकेत कर दिया है—**'एताइं गुणाइं आहु ते'**। फिर भी शास्त्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में उक्त **'अगुणिस्स नत्थि मोक्खो'**[४२] चारित्र गुण रहित को मोक्ष नहीं होता, इस सिद्धान्त की दृष्टि से यहां कुछ मूलभूत चारित्र गुणों का उल्लेख मात्र कर दिया है—**'तिविहेण वि पाणि मा हणे'**। यहां सर्वचारित्र के प्रथम गुण—अहिंसा महाव्रत पालन का निर्देश समझ लेना चाहिए। अन्य चारित्र से सम्बन्ध मुख्य तीन गुणों का भी यहां उल्लेख है—(१) आत्महित तत्पर, (२) निदान (स्वर्गादि-सुख भोग प्राप्ति की वाञ्छा रूप) से मुक्त, तथा (३) सुव्रत (तीन गुप्तियों से गुप्त, या पंचसंवर से युक्त।) निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान युक्त चारित्र गुणों से अतीत में अनन्त जीव सिद्ध मुक्त हुए हैं, भविष्य में भी होंगे और वर्तमान में भी। चूर्णिकार के **'संपतं संखेज्जा सिज्झंति'** इस मतानुसार 'वर्तमान में संख्यात जीव सिद्ध होते हैं।

१६४. एवं से उदाहु अणत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा णायपुत्ते भगवं वेसालीए वियाहिए ॥२२॥ त्ति

१६४. इस प्रकार उस (भगवान् ऋषभदेव स्वामी) ने कहा था, जिसे अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन-धारक, इन्द्रादि देवों द्वारा पूजनीय (अर्हन्त) ज्ञातपुत्र तथा ऐश्वर्यादि गुण युक्त भगवान् वैशालिक महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी में कहा था—'सो मैं (सुधर्मा स्वामी) तुमसे (जम्बू स्वामी आदि शिष्य वर्ग से) कहता हूँ।'

विवेचन—प्रस्तुत गाथा वैतालीय या वैदारिक अध्ययन की अन्तिम गाथा है। इसमें इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी आदि से इस अध्ययन रचना का

---

४२ (क) देखिए उत्तराध्ययन (अ० २८/३०) में मोक्ष-विषयक सिद्धान्त—
'नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा ण हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥'
(ख) (अ) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति सहित भाषानुवाद भा०१, पृ० २९८ पर से
(ब) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० २९

इतिहास बताते हुए कहते हैं—'एवं से उदाहु—वेसालिए वियाहिए'। इसका आशय यह है कि 'तीन उद्देशकों से युक्त इस वेतालीय अध्ययन में जो उपदेश है, वह आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने ९८ पुत्रों को लक्ष्य करके अष्टापद पर्वत पर दिया था, उसे ही भगवान महावीर स्वामी ने हमें (गणधरों को) विशाला नगरी में फरमाया था। उसी उपदेश को मैं तुमसे कहता हूँ।'

भगवान महावीर के विशेषणों के अर्थ—प्रस्तुत गाथा में भगवान् महावीर के ७ विशेषण उनकी मोक्ष प्राप्ति की गुणवत्ता एवं योग्यता बताने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। उनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—**अणुत्तर णाणी**—केवलज्ञानी जिससे उत्तम (बढ़कर और कोई ज्ञान कहीं ऐसे अनुत्तर ज्ञान से सम्पन्न। **अणुत्तरदंसी**—केवलदर्शन, जिससे बढ़कर कोई दर्शन न हो, ऐसे अनुत्तर दर्शन से सम्पन्न। **अणुत्तर णाणदंसण धरे**=केवल (अनुत्तर) ज्ञान-दर्शन के धारक। **अरहा**=इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य अर्हन्। **नायपुत्ते**=ज्ञातृकुल में उत्पन्न होने से ज्ञातपुत्र। **भगवं**=ऐश्वर्यादि छः गुणों से युक्त भगवान्। **वेसालिए**—इसके संस्कृत में दो रूप बनते हैं वैशालिकः और वैशाल्याम्। अतः 'वेसालिए' के तीन अर्थ निकलते हैं—(१) वैशाली में, अथवा विशाला नगरी में किया गया प्रवचन, (२) विशाल कुल में उत्पन्न होने से वैशालिक भगवान् ऋषभदेव, (३) अथवा वैशालिक भगवान् महावीर। पिछले अर्थ का समर्थन करने वाली एक गाथा वृत्तिकार ने दी —

"विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा।
विशालं वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः ॥[४३]

अर्थात् (भगवान महावीर) की माता विशाला थी, उनका कुल भी विशाल था, तथा उनका प्रवचन भी विशाल था, इसलिए जिनेन्द्र (भगवान् महावीर) को वैशालिक कहा गया है। इसलिए **'वेसालिए वियाहिए'** का अर्थ हुआ—(१) वैशाली नगरी में (यह उपदेश) कहा गया था, अथवा (२) वैशालिक भगवान् महावीर ने (इसका) व्याख्यान किया था।

अधिक गाथा—एक प्रति में चूर्णिकार एवं वृत्तिकार के द्वारा व्याख्या न की हुई एक गाथा इस अध्ययन के अन्त में मिलती है—

'इति कम्मवियालमुत्तमं जिणवरेण सुदेसियं सया।
जे आचरंति आहियं खवितरया वईहिति ते सिवं गतिं।'[४४] त्ति बेमि

अर्थ—इस प्रकार उत्तम कर्मविदार नामक अध्ययन का उपदेश श्री जिनवर ने स्वयं फरमाया है, इसमें कथित उपदेश के अनुसार जो आचरण करते हैं, वे अपने कर्मरज का क्षय करके मोक्षगति प्राप्त कर लेते हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

तृतीय उद्देशक समाप्त

॥ वैतालीय : द्वितीय अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

४३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७६ के आधार पर

४४ सूयगडंग सुत्तं मूल (जम्बूविजयजी-सम्पादित) पृ० ३०

उपसर्ग-परिज्ञा : तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांगसूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम है—'उपसर्गपरिज्ञा'—

☐ प्रतिबुद्ध (सम्यक् उत्थान से उत्थित) साधक जब मोक्ष प्राप्ति हेतु रत्नत्रय की साधना करने जाता है, तब से लेकर साधना के अन्त तक उसके समक्ष कई अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग आते हैं। कच्चा साधक उस समय असावधान हो तो उनसे परास्त हो जाता है, उसकी की हुई साधना दूषित हो जाती है। अतः साधक उन उपसर्गों को भलीभाँति जाने और उनसे पराजित न होकर समभाव पूर्वक अपने धर्म पर डटा रहे तभी वह वीतराग, प्रशान्तात्मा एवं स्थितप्रज्ञ बनता है। यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

☐ उपसर्गों की परिज्ञा दो प्रकार से की जाती है—(१) ज्ञपरिज्ञा से उन्हें जाने और (२) प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनके समक्ष डटा रहकर प्रतीकार करे। यही तथ्य उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन में प्रतिपादित है।

☐ 'उपसर्ग' जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। निर्युक्तिकार ने उपसर्ग का निर्वचन इस प्रकार किया है—'जो किसी देव, मनुष्य या तिर्यञ्च आदि दूसरे पदार्थों से (साधक के समीप) आता है तथा जो साधक के देह और संयम को पीड़ित करता है वह 'उपसर्ग' कहलाता है।[2] उपताप, शरीर-पीड़ोत्पादन इत्यादि उपसर्ग के पर्यायवाची/शब्द हैं। प्रचलित भाषा में कहें तो, साधना-काल में आने वाले इन विघ्नों, बाधाओं, उपद्रवों और आपत्तियों को उपसर्ग कहा जाता हैं।

☐ निर्युक्तिकार ने **'उपसर्ग'** को विभिन्न दृष्टियों से समझाने के लिए ६ निक्षेप किये हैं—(१) नाम उपसर्ग, (२) स्थापना-उपसर्ग, (३) द्रव्य-उपसर्ग, (४) क्षेत्र-उपसर्ग, (५) काल-उपसर्ग और (६) भाव-उपसर्ग।

☐ किसी का गुण शून्य उपसर्ग नाम रख देना **'नाम-उपसर्ग'** हैं, उपसर्ग सहने वाले या उपसर्ग सहते समय की अवस्था को चित्रित करना, या उसका कोई प्रतीक रखना **'स्थापना-उपसर्ग'** है, उपसर्ग

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७७

२ (क) "आगंतुगो य पीलागरो य जो सो उवसग्गो।" —सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ४५

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७७

(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४२

कर्ता या उपसर्ग करने का साधन **द्रव्य उपसर्ग** है। यह दो प्रकार का है—चेतन द्रव्यकृत, अचेतन द्रव्यकृत। तिर्यञ्च, मनुष्य आदि सचेतन प्राणी अंगों का घात करके जो उपसर्ग (देह पीड़ा) उत्पन्न करते हैं, वह **सचित्त द्रव्यकृत** है और काष्ठ आदि अचित्त द्रव्यों द्वारा किया गया आघात **अचित्त द्रव्यकृत उपसर्ग** है।

- जिस क्षेत्र में क्रूर जीव, चोर आदि द्वारा शरीर पीड़ा, संयम-विराधना आदि होती है, अथवा कोई वस्तु किसी क्षेत्र में दुःख उत्पन्न करती है, उसे **क्षेत्रोपसर्ग** कहते हैं। जिस काल में एकान्त दुःख ही होता है, वह दुःषम आदि काल, अथवा-ग्रीष्म, शीत आदि ऋतुओं का अपने-अपने समय में दुःख उत्पन्न करना **कालोपसर्ग** है। ज्ञानावरणीय, असातावेदनीय आदि कर्मों का उदय होना भावोपसर्ग है।
- नाम और स्थापना को जोड़कर पूर्वोक्त सभी उपसर्ग **औधिक** और **औपक्रमिक** के भेद से दो प्रकार के होते हैं।
- अशुभकर्म प्रकृति से उत्पन्न उपसर्ग औधिक उपसर्ग है, और डंडा, चाबुक, शस्त्र, मुट्ठी आदि के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है, वह औपक्रमिक उपसर्ग है।
- यहाँ 'उपक्रम' का अर्थ है—जो कर्म उदय-प्राप्त नहीं है, उसका उदय होना। अतः औपक्रमिक उपसर्ग का अर्थ हुआ—जिस द्रव्य का उपयोग करने से, या जिस द्रव्य के निमित्त से असातावेदनीय आदि अशुभकर्मों का उदय होता है, और जब अशुभकर्मोदय होता है, तब अल्प पराक्रमी साधक के संयम में विघ्न, दोष या विघात आ जाता है, उस द्रव्य द्वारा उत्पन्न उपसर्ग को 'औपक्रमिक उपसर्ग' कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रवृत्त मुनियों का संयम (रत्नत्रय साधक) ही मोक्ष का अंग है। अतः उस संयम में विघ्नकारक औपक्रमिक उपसर्ग का ही इस अध्ययन में वर्णन है, औधिक उपसर्ग का नहीं।
- औपक्रमिक उपसर्ग द्रव्य रूप से चार प्रकार का होता है—दैविक, मानुष्य, तिर्यञ्चकृत और आत्म-संवेदन रूप।
- इनमें से प्रत्येक के चार-चार प्रकार होते हैं। दैविक (देवकृत) उपसर्ग हास्य से, द्वेष से, परीक्षा करने के लिए तथा अन्य अनेक कारणों से होता है। मनुष्यकृत उपसर्ग भी हास्य से, द्वेष से, परीक्षा करने के लिए एवं कुशील सेवन निमित्त से होता है। तिर्यञ्चकृत उपसर्ग भय से, द्वेष से, आहार के लिए तथा अपनी संतान आदि की रक्षा के लिए होता है आत्म संवेदन रूप उपसर्ग भी चार प्रकार का होता है (१) अंगों के परस्पर रगड़ने से, (२) अँगुलि आदि अंगों के चिपक जाने या कट जाने से (३) रक्त संचार रुक जाने से एवं ऊपर से गिर जाने से। अथवा (४) वात, पित्त, कफ और इन तीनों के विकार से भी आत्म-संवेदनरूप उपसर्ग चार प्रकार का होता है। पूर्वोक्त देवकृत आदि चारों उपसर्ग अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से ८ प्रकार के है। तथा पूर्वोक्त चारों के ४ भेदों को परस्पर मिलाने से कुल १६ भेद उपसर्गों के होते हैं।[3]

(क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति-गा० ४५, ४६, ४७, ४८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७७-७८

☐ प्रस्तुत अध्ययन के में चार तथ्यों का सांगोपाँग निरुपण किया गया है—
(१) कैसे-कैसे उपसर्ग किस-किस रूप में आते हैं।
(२) उन उपसर्गों को सहने में क्या-क्या पीड़ा होती है,
(३) उपसर्गों से सावधान न रहने या उनके सामने झुक जाने से कैसे संयम का विघात होता है ?
(४) उपसर्गो के प्राप्त होने पर साधक को क्या करना चाहिए ?[४]

☐ प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक हैं—प्रथम उद्देशक में प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन हैं। द्वितीय उद्देशक में स्वजन आदिकृत अनुकूल उपसर्गों का निरूपण है। तृतीय उद्देशक में आत्मा में विषाद पैदा करने वाले अन्यतीर्थिकों के तीक्ष्णवचन रूप उपसर्गों का विवेचन है और चतुर्थ उद्देशक में अन्यतीर्थिकों के हेतु सदृश प्रतीत होने वाले हेत्वाभासों से वस्तुस्वरूप को विपरीत रूप में ग्रहण करने से चित्त को विभ्रान्त एवं मोहित करके जीवन को आचार भ्रष्ट करने वाले उपसर्गों का तथा उन उपसर्गों के समय स्वसिद्धान्त प्रसिद्ध मुक्ति संगत हेतुओं द्वारा यथार्थ बोध देकर संयम में स्थिर रहने का उपदेश है।

चारों उद्देशकों में क्रमशः १७, २२, २१ और २२ गाथाएँ हैं।

☐ इस अध्ययन की सूत्र गाथा संख्या १६५ से प्रारम्भ होकर गाथा २४६ पर समाप्त है।

☐ ☐ ☐

---

४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ७८
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०२

५ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ४६, ५०
(क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७८
(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १, पृ० १४२, १४३, १४४

उवसग्गपरिण्णा—तइयं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

उपसर्ग-परिज्ञा : तृतीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

प्रतिकूल-उपसर्ग विजय :—

१६५. सूरं मन्नति अप्पाणं जाव जेतं न पस्सति ।
जुज्झंतं दढधम्माणं सिसुपाले व महारहं ॥ १ ॥

१६६. पयाता सूरा रणसीसे संगामम्मि उवट्ठिते ।
माता पुत्तं ण याणाइ जेतेण परिविच्छए ॥ २ ॥

१६७. एवं सेहे वि अप्पुट्ठे भिक्खाचरियाअकोविए ।
सूरं मन्नति अप्पाणं जाव लूहं न सेवई ॥ ३ ॥

१६५. जब तक विजेता पुरुष को नहीं देख लेता, (तब तक कायर) अपने आपको शूरवीर मानता है। युद्ध करते हुए दृढधर्मा (अपने प्रण पर दृढ़) महारथी (श्रीकृष्ण) को देखकर जैसे शिशुपाल के छक्के छूट गए थे।

१६६. युद्ध छिड़ने पर युद्ध के अग्रभाग में (मोर्चे पर) पहुंचे हुए शूरवीर (वीराभिमानी पुरुष), (जिस युद्ध में) माता अपनी गोद से गिरते हुए बच्चे को नहीं जानती, (ऐसे कलेजा कंपा देने वाले भयंकर युद्ध में), जब विजेता पुरुष के द्वारा क्षत-विक्षत (घायल) कर दिये जान पर दीन हो जाते हैं।

१६७. इसी प्रकार भिक्षाचर्या में अनिपुण तथा परीषहों और उपसर्गों का स्पर्श नहीं पाया हुआ नवदीक्षित साधु (शैक्ष) भी अपने आपको तभी तक शूरवीर मानता है, जब तक वह संयम का सेवन—आचरण नहीं करता।

विवेचन—उपसर्ग विजय—कितना सरल, कितना कठिन?—प्रस्तुत तीन गाथाओं में शास्त्रकार साधक को दृष्टान्तों द्वारा उपसर्ग विजय की महत्ता समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि (१) उपसर्ग पर विजय पाना कायर एवं शूराभिमानी पुरुष के लिए उतना आसान नहीं, जितना वह समझता है, (२) कदाचित युद्ध के मोर्चे पर कोई वीराभिमानी कायर पुरुष आगे बढ़ भी जाए, किन्तु भीषण युद्ध में विजेता द्वारा घायल कर दिये जाने पर वह दीन हो जाता है, (३) भिक्षाचरी आदि साधुचर्या में

इसी प्रकार उपसर्गों को सहन करने में कायर, अथवा उपसर्गों से अछूता नवदीक्षित साधक, जो उपसर्ग के साथ जूझने से पहले अपने आपको शूरवीर मानता था, प्रबल उपसर्गों से पराजित हो जाता है। वह दीन बन जाता है, अतएव उपसर्ग पर डटे रहने, और उसके सामने हार न मानने के लिए संयम का सतत अभ्यास आवश्यक है। जब तक संयम का सतत आचरण नहीं होगा तब तक साधक के लिए उपसर्ग—विजय अत्यन्त कठिन है। लूहं—अर्थात् रूक्ष—संयम। अष्टविध कर्म नहीं चिपकने (राग रहित होने) के कारण संयम को रूक्ष कहा गया है।[3]

दढधम्माणं—का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार—"दृढ़: समर्थो धर्मो स्वभाव: संग्रामाभंगरूपो यस्य स तथा तम् दृढ़धर्माणम्" जिसका स्वभाव संग्राम में पलायित न होने का दृढ़ है; वही। चूर्णिकार के अनुसार—"दढधन्नाणं" पाठान्तर है, अर्थ है—जिसका धनुष्य दृढ़ है।[4]

शीतोष्ण परीषह-रूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की दशा—

> १६८. **जदा हेमंतमासम्मि सीतं फुसति सवातगं।**
> **तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तिया ॥ ४ ॥**
>
> १६९. **पुट्ठे गिम्हाभितावेणं विमणे सुप्पिवासिए।**
> **तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा ॥ ५ ॥**

१६८. हेमन्त (ऋतु) के मास (मौसम) में जब शीत (ठण्ड) (सभी अंगों को) स्पर्श करती है, तब मन्द पराक्रमी (मनोदुर्बल साधक) राज्यविहीन क्षत्रिय की तरह विषाद का अनुभव करते हैं।

१६९. ग्रीष्म (ऋतु) के प्रचण्ड ताप (गर्मी) से स्पर्श पाया हुआ (साधक) उदास (अनमना-सा) और पिपासाकुल (हो जाता है।) उस (भयंकर उष्ण परीषह) का उपसर्ग प्राप्त होने पर मन्द (शिथिल या मूढ़) साधक इस प्रकार विषाद अनुभव करते हैं, जैसे थोड़े-से जल में मछली।

विवेचन—शीतोष्णपरिषह रूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की मनोदशा—प्रस्तुत गाथाद्वय में हेमन्त ऋतु में शीत और ग्रीष्मऋतु में ताप-परीषह रूप उपसर्गों के समय मन्द साधक किस प्रकार विषाद का अनुभव करते हैं, इसे उपमा द्वारा समझाया गया है।

जदा हेमन्तमासम्मि····रज्जहीणा व खत्तिया'—इसका आशय यह है कि जब कभी हेमन्त ऋतु के पौष-माघ महीनों में ठण्डी-ठण्डी कलेजे को चीरने वाली बर्फीली हवाओं के साथ ठण्ड शरीर के सभी अंगों को स्पर्श करने लगती है, तब असह्यशीतस्पर्श से कई मन्द—अल्पपराक्रमी भारीकर्मी साधक इस प्रकार दुःखानुभव करते हैं, जिस प्रकार राज्यभ्रष्ट होने पर क्षत्रिय (शासक) विषाद का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह है—जैसे राज्यभ्रष्ट शासक मन में खेद खिन्न होता है कि लड़ाई भी लड़ी, इतने सैनिक भी

---

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ४०५

४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७८-७९

अनिपुण एवं अभी तक उपसर्गों से अछूता नवदीक्षित साधु तभी तक अपने आपको उपसर्ग विजयी शूर मान सकता है, जब तक वह संयम का सेवन नहीं करता।

उपसर्ग देखते ही सूराभिमानी के छक्के छूट जाते है—साधु का वेष पहन लेने और महाव्रतों का एवं संयम का स्वीकार कर लेने मात्र से कोई उपसर्ग विजेता साधक नहीं हो जाता।

उपसर्गों पर विजय पाना युद्ध में विजय पाने से भी अधिक कठिन है। उपसर्गों से लड़ना भी एक प्रकार का धर्मयुद्ध है। इसीलिए शास्त्रकार यहाँ दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि युद्ध में जब तक अपने सामने विजयशील प्रतियोद्धा को नहीं देखता, तभी तक वीराभिमानी होकर गर्जता है। जैसे माद्रीपुत्र शिशुपाल योद्धा के रूप में तभी तक अपनी प्रशंसा करता रहा, जब तक युद्ध में अपने समक्ष प्रण-दृढ़ महारथी प्रतियोद्धा श्रीकृष्ण को सामने जूझते हुए नहीं देखा। यह इस गाथा का आशय है।

शिशुपाल श्रीकृष्ण जी की फूफी (बुआ) का लड़का था। एक बार माद्री (फूफी) ने पराक्रमी श्रीकृष्णजी के चरणों में शिशुपाल को झुकाकर प्रार्थना की—'श्रीकृष्ण! यदि यह अपराध करे तो भी तू क्षमा कर देना। श्रीकृष्णजी ने भी सौ अपराध क्षमा करने का वचन दे दिया। शिशुपाल जब जवान हुआ तो यौवन मद से मत्त होकर श्रीकृष्ण को गालियां देने लगा। दण्ड देने में समर्थ होते हुए भी श्रीकृष्णजी ने प्रतिज्ञा बद्ध होने से उसे क्षमा कर दिया। जब शिशुपाल के सौ अपराध पूरे हो गए, तब श्रीकृष्णजी ने उसे बहुत समझाया, परन्तु वह नहीं माना।

एक बार किसी बात को लेकर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के साथ युद्ध छेड़ दिया। जब तक श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध के मैदान में नहीं आए, तब तक शिशुपाल अपने और प्रतिपक्षी सैन्य के लोगों के सामने अपनी वीरता की डींग हांकता रहा, किन्तु ज्यों ही शस्त्रास्त्र का प्रहार करते हुए श्रीकृष्ण को प्रतियोद्धा के रूप में सामने उपस्थित देखा, त्यों ही उसका साहस समाप्त हो गया, घबराहट के मारे पसीना छूटने लगा, फिर भी अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए वह श्रीकृष्ण पर प्रहार करने लगा। श्रीकृष्णजी ने उसके सौ अपराध पूरे हुए देख चक्र से उसका मस्तक काट डाला।[1]

इसी दृष्टि से शास्त्रकार कहते हैं। सूरंमन्नति''''महारहं। अपने को शूरवीर मानने वाला घायल होते ही दीन बन जाता है—कई शूराभिमानी अपनी प्रशंसा से उत्तेजित होकर युद्ध के मोर्चे पर तो उपस्थित हो जाते हैं, किन्तु जब दिल दहलाने वाला युद्ध होता है, तब वे घबराने लगते हैं। युद्ध की भीषणता तो इतनी होती है कि युद्ध की भयंकरता से घबराई हुई माता को अपनी गोद से गिरते हुए प्यारे पुत्र का भी ध्यान नहीं रहता। और जब विजेता प्रतिपक्षी सुभटों द्वारा चलाए गए शस्त्रास्त्र से वे क्षत-विक्षत कर दिये जाते हैं, तब तो वे दीन-हीन होकर गिर जाते हैं, उनका साहस टूट जाता है। यह भाव इस गाथा में व्यक्त किया गया है **'पयाता सूरा '''परिविच्छए।'**[2]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति सहित भाषानुवाद भा० २ पृ० ५ से ९ तक का सार

२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७८ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०४

इसी प्रकार उपसर्गों को सहन करने में कायर, अथवा उपसर्गों से अछूता नवदीक्षित साधक, जो उपसर्ग के साथ जूझने से पहले अपने आपको शूरवीर मानता था, प्रबल उपसर्गों से पराजित हो जाता है। वह दीन बन जाता है, अतएव उपसर्ग पर डटे रहने, और उसके सामने हार न मानने के लिए संयम का सतत अभ्यास आवश्यक है। जब तक संयम का सतत आचरण नहीं होगा तब तक साधक के लिए उपसर्ग—विजय अत्यन्त कठिन है। लूहं—अंर्थात् रूक्ष—संयम। अष्टविध कर्म नहीं चिपकने (राग रहित होने) के कारण संयम को रूक्ष कहा गया है।[3]

दढधम्माणं—का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार—"दृढ़: समर्थो धर्मो स्वभावः संग्रामाभंगरूपो यस्य स तथा तम् दृढधर्माणम्" जिसका स्वभाव संग्राम में पलायित न होने का दृढ़ है; वही। चूर्णिकार के अनुसार—"दढधन्नाणं" पाठान्तर है, अर्थ है—जिसका धनुष्य दृढ़ है।[4]

शीतोष्ण परीषह-रूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की दशा—

> १६८. **जदा हेमंतमासम्मि सीतं फुसति सवातगं।**
> **तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तिया॥ ४॥**
>
> १६९. **पुट्ठे गिम्हाभितावेणं विमणे सुप्पिवासिए।**
> **तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा॥ ५॥**

१६८. हेमन्त (ऋतु) के मास (मौसम) में जब शीत (ठण्ड) (सभी अंगों को) स्पर्श करती है, तब मन्द पराक्रमी (मनोदुर्बल साधक) राज्यविहीन क्षत्रिय की तरह विषाद का अनुभव करते हैं।

१६९. ग्रीष्म (ऋतु) के प्रचण्ड ताप (गर्मी) से स्पर्श पाया हुआ (साधक) उदास (अनमना-सा) और पिपासाकुल (हो जाता है।) उस (भयंकर उष्ण परीषह) का उपसर्ग प्राप्त होने पर मन्द (शिथिल या मूढ़) साधक इस प्रकार विषाद अनुभव करते हैं, जैसे थोड़े-से जल में मछली।

विवेचन—शीतोष्णपरिषह रूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की मनोदशा—प्रस्तुत गाथाद्वय में हेमन्त ऋतु में शीत और ग्रीष्मऋतु में ताप-परीषह रूप उपसर्गों के समय मन्द साधक किस प्रकार विषाद का अनुभव करते हैं, इसे उपमा द्वारा समझाया गया है।

जदा हेमन्तमासम्मि····रज्जहीणा व खत्तिया'—इसका आशय यह है कि जब कभी हेमन्त ऋतु के पौष-माघ महीनों में ठण्डी-ठण्डी कलेजे को चीरने वाली बर्फीली हवाओं के साथ ठण्ड शरीर के सभी अंगों को स्पर्श करने लगती है, तब असह्यशीतस्पर्श से कई मन्द—अल्पपराक्रमी भारीकर्मी साधक इस प्रकार दुःखानुभव करते हैं, जिस प्रकार राज्यभ्रष्ट होने पर क्षत्रिय (शासक) विषाद का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह है—जैसे राज्यभ्रष्ट शासक मन में खेद खिन्न होता है कि लड़ाई भी लड़ी, इतने सैनिक भी

---

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ४०५

४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७८-७९

मारे गये और राज्य भी हाथ से गया, वैसे ही उपसर्ग सहने में कायर साधक भी कड़ाके की ठण्ड का उपसर्ग आने पर यह सोचकर खिन्न होता है कि 'मैंने घरबार भी छोड़ा, सुख-सुविधाएँ भी छोड़ी, परिवार वालों को भी रुष्ट किया, फिर भी ऐसी असह्य शर्दी का सामना करना पड़ रहा है।[५]

पुट्ठे गिम्हाभितावेणं ''मच्छा अप्पोदए जहा—इस गाथा का आशय यह है कि ग्रीष्मऋतु—ज्येष्ठ और आषाढ़मास में जब भयंकर गर्मी पड़ती है, लू चलती है, सनसनाती हुई गर्म हवाएँ शरीर को स्पर्श करती है, कण्ठ प्यास से व्याकुल हो जाता है, उस समय अल्पपराक्रमी साधक उदास, खिन्न एवं अनमना-सा हो जाता है। ऐसी स्थिति में विवेकमूढ़ अल्पसत्व नव दीक्षित साधक एकदम तड़प उठते हैं। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे कि किसी जलाशय में पानी सूखने लगता है, तब अत्यन्त अल्पजल में मछलियाँ गर्मी से संतप्त होकर तड़प उठती हैं, वहाँ से हटने में असमर्थ होकर वे वहीं मरणशील हो जाती हैं।[६]

फलितार्थ—दोनों ही गाथाओं का यह उपदेश फलित होता है कि शर्दी का उपसर्ग हो या गर्मी का, साधक को अपना मनोबल, धैर्य और साहस नहीं खोना चाहिए। उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने से कर्मनिर्जरा, आत्मबल, और सहनशक्ति में वृद्धि होगी यह सोचकर उपसर्ग-सहन के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए। दोनों उपसर्गों में शीतोष्ण, पिपासा, अचेलक, अरति आदि परीषहों का समावेश हो जाता है।

कठिन शब्दों का अर्थ—**सवालगं**=हवा के साथ, किसी प्रति में इसके बदले पाठान्तर हैं—**सव्वंगं**= अर्थात् सभी अंगों को। **रज्जहीणा**=राज्य-विहीन, राज्य से भ्रष्ट, चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**रट्ठहीणा** अर्थात्—राष्ट्र से हीन, राष्ट्र से निष्कासित। **गिम्हाभितावेणं**=ग्रीष्मऋतु ज्येष्ठ आषाढ़मास के अभिताप-गर्मी से। **अप्पोदए**=थोड़े पानी में।[७]

याचना—आक्रोश परीषह उपसर्ग—

१७०. सदा दत्तेसणा दुक्खं जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव इच्चाहंसु पुढो जणा ॥ ६ ॥

१७१. एते सद्दे अचायंता गामेसु नगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति संगामंसि व भीरुणो ॥ ७ ॥

१७०. साधुओं के लिए दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दी हुई वस्तु ही एषणीय (उत्पादादि दोषरहित होने पर ग्राह्य या उपभोग्य) होती हैं। सदैव यह दुःख (बना रहता) है, (क्योंकि) याचना (भिक्षा माँगने)

---

५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८० पर से
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०७ पर से

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८० पर से
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०८ पर से

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३१

की पीड़ा दुस्त्याज्य (या दुःसह) होती है। प्राकृत जन (अज्ञ लोग) इस प्रकार कहते हैं कि ये (भिक्षु-साधु) पूर्वकृत पापकर्म का फल भोग रहे हैं, ये अभागे हैं।

१७१. गाँवों में या नगरों में इन (पूर्वोक्त आक्रोशजनक) शब्दों को सहन न कर सकने वाले मन्द (अल्पसत्व साधक) आक्रोश परीषह रूप उपसर्ग के प्राप्त होने पर इस प्रकार विषाद पाते हैं, जैसे संग्राम में डरपोक लोग (विषाद पाते हैं)।

विवेचन—याचना—आक्रोश परीषह रूप उपसर्गों के समय कच्चे साधक की मनोदशा—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय में दो उपसर्गों के समय अल्पपराक्रमी साधकों की मनोदशा का वर्णन किया गया है। वे दो उपसर्ग हैं—याचना परिषहरूप एवं आक्रोश परीषहरूप।

याचना—साधु के लिए कष्टदायिनी, क्यों और कैसे?—प्रश्न होता है कि साधु तो भिक्षाजीवी होता है फिर उसे भिक्षा माँगने में कष्ट क्यों होता है? इसके उत्तर में कहा गया है—**सया दत्तेसणा दुक्खं ···दुप्पणोल्लिया**—साधु भिक्षाजीवी है, इसीलिए तो प्रत्येक वस्तु याचना (माँग) करके गृहस्थ से (उसके द्वारा) दी जाने पर लेनी या उपभोग करनी होती है। ऐसी स्थिति में पहले तो साधु को भिक्षा के लिए घर-घर घूमना, गृहस्थ (चाहे परिचित हो या अपरिचित) के घर में प्रवेश करना, आवश्यक वस्तु भिक्षाचरी के ४२ दोषों में से किसी दोष से युक्त तो नहीं है, इस प्रकार की एषणा करना, सदैव दुःखदायक होता है। तत्पश्चात् दाता से आवश्यक वस्तु की याचना करना असह्य दुःखद होता है। क्षुधावेदना से पीड़ित किन्तु पूर्व (गृहस्थ) जीवन में अभिमानी नवदीक्षित, परीषहोपसर्ग से अनभ्यस्त अल्पसत्व साधक किसी के द्वार पर निर्दोष आहारादि लेने जाता है, उस समय उसकी मनःस्थिति का वर्णन विद्वानों ने यों किया है—

खिज्जइ मुखलावण्णं वाया घोलेइ कंठमज्झंमि।
कहकहकहेइ हिययं देहित्ति परं भणंतस्स॥

गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं गात्रस्वेदो विवर्णता।
मरणे यानि चिन्हानि तानि चिन्हानि याचके॥

अर्थात्—याचना करने से गौरव समाप्त हो जाता है, इसलिए चेहरे की कांति क्षीण हो जाती है, वाणी कंठ में ही घुटती रहती है, सहसा यह नहीं कहा जाता कि मुझे अमुक वस्तु दो, हृदय धक्-धक् करने लगता है।

माँगने के लिए जाने में उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं, उसके मुख पर दीनता छा जाती है, शरीर से पसीना छुटने लगता है, चेहरे का रंग उड़ जाता है। इस प्रकार मृत्यु के समय जो चिन्ह दिखाई देते हैं, वे सब याचक में दृष्टिगोचर होते हैं। 'कवि रहीम' ने भी एक दोहे द्वारा याचक को मृतक-सा बताया है—

"रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुं माँगन जाहि।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाँहि॥"

सका अर्थ यह नहीं हैं कि याचना परीषहरूप उपसर्ग प्रत्येक साधक के लिए ही दुःखदायी महासत्त्व उपसर्ग सहिष्णु एवं अभ्यस्त संयमी साधक होते हैं, वे याचना के समय मन में

दीनता-हीनता, ग्लानि एवं मिथ्या गौरव भावना नहीं लाते, वे स्वाभिमान पूर्वक निर्दोष भिक्षा प्राप्त होने पर ही लेते हैं, गृहस्थदाता द्वारा इन्कार करने पर या, रसहीन रूक्ष, तुच्छ एवं अल्प आहारादि देने पर भी वह विषण्ण नहीं होते यही इस गाथा के पूर्वार्द्ध का फलिताशय है।

आक्रोश परीषह के रूप में उपसर्ग : किनके लिए सह्य-असह्य ? इसी गाथा के उत्तरार्द्ध में बतलाया गया है कि आक्रोशपरीषह रूप उपसर्ग किस रूप में आता है—साधुओं को ग्राम या नगर में प्रवेश करते या भिक्षा विहार आदि करते देखकर कई अनाड़ी लोग उन पर तानाकशी करते हैं "अरे ! देखो तो, इनके कपड़े कितने गंदे एवं मैले हैं। शरीर भी गंदा है, इनके शरीर और मुंह से बदबू आती है, इनके सिर मुंडे हुए हैं, ये बेचारे भूखे-प्यासे अधनंगे एवं भिखमंगे साधु अपने पूर्वकृत अशुभकर्मों (के फल) से पीड़ित हैं, अथवा ये अपने पूर्वकृत पापकर्मों का फल भोग रहे हैं। अथवा ये लोग घर में खेती, पशुपालन आदि काम धंधा नहीं कर सकते थे, या उन कामों के बोझ से दुःखी एवं उद्विग्न (आर्त्त) थे, इनसे काम-धाम होता नहीं था, निकम्मे और आलसी थे, घर में इन्हें कोई पूछता नहीं था सभी पदार्थों से तंग थे, इसलिए साधु बन गए हैं। ये लोग अभागे हैं, स्त्रीपुत्रादि सभी लोगों ने इन्हें निकाल (छोड़) दिया है, जहाँ जाते हैं वहाँ इनका दुर्भाग्य साथ-साथ रहता है।' इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'कम्मत्ता दुब्भगा....जणा' अर्थात्—अज्ञानीजन इस प्रकार के आक्रोशमय (ताने भरे) शब्द उन्हें कहते हैं।

जो नाजुक, तुच्छ, उपसर्ग सहन में अनभ्यस्त अल्पसत्त्व (मंद) साधक होते हैं, वे अज्ञानीजनों के इन तानों तथा व्यंग्य वचनों को सुनकर एकदम क्षुब्ध हो जाते हैं। ऐसे आक्षेप, निन्दा, तिरस्कार एवं व्यंग से युक्त तथा कलेजे में तीर से चुभने वाले कटुवचनों को सुनते ही उनके मन में दो प्रकार की प्रतिक्रिया होती है—(१) आक्रोश—शब्दों को सुनकर उन्हें सहने में असमर्थ होने से मन ही मन कुढ़ते या खिन्न होते रहते हैं, या (२) वे क्रुद्ध होकर वाद-विवाद आदि पर उतर आते हैं। उस समय उन कायर एवं अपरिपक्व साधकों की मनःस्थिति इतनी दयनीय एवं भयाक्रान्त हो जाती है, जैसी कायर और भगौड़े सैनिकों की युद्ध क्षेत्र में पहुँचने पर या युद्ध में जब तलवारें चमकती हैं, शस्त्रास्त्र उछलने लगते हैं, तब होती है। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—**एते सद्दे अचायंता....भीरुणो**।[५]

आक्रोश-उपसर्ग विषयक इस गाथा में से यह आशय फलित होता है कि महाव्रती साधक उपसर्ग सहिष्णु बनकर ऐसे आक्रोशमय वचनों को समभाव से सहन करे।

कठिन शब्दों की व्याख्या—दुप्पणोल्लिया—दुस्त्याज्य या दुःसह। **कम्मत्ता दुब्भगा चेव—**वृत्तिकार के अनुसार कर्मों से अति-पीड़ित हैं, पूर्व-स्वकृत कर्मों का फल भोग रहे हैं, अथवा कृषि आदि कर्मों (अजीविका कार्यों) से आर्त्त—पीड़ित हैं, उन्हें करने में असमर्थ एवं उद्विग्न हैं, और दुर्भाग्य युक्त हैं।[६]

---

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८० के आधार पर

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८० में देखिए

(अ) कर्मभिरार्ताः, पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदि वा कर्मभिः कृष्यादिभिः आर्त्ताः, तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्नाः सन्तः।"

(ब) दुर्भगाः—सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामभ्युपगताः।

चूर्णिकार ने '**कम्मंता दुब्भगा चेव**'—पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—कृषि-पशु-पालनादि कर्मों का अन्त-विनाश हो जाने, छूट जाने से ये आप्त-अभिभूत (पीड़ित) हैं और दुर्भागी हैं। **पुढोजणा**—पृथक्जन=प्राकृत (सामान्य) लोग। **अचायंता**=सहन करने में अशक्त।[10]

वध-परीषह रूप उपसर्ग—

१७२. **अप्पेगे झुंझियं भिक्खुं सुणी दसति लूसए।**
तत्थ मंदा विसीयंति तेजपुट्ठा व पाणिणो ॥८॥

१७२. (भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए) क्षुधार्त भिक्षु को यदि प्रकृति से क्रूर कुत्ता आदि प्राणी काटने लगता है, तो उस समय अल्पसत्व विवेक मूढ़ साधु इस प्रकार दुःखी (दीन) हो जाते हैं, जैसे अग्नि का स्पर्श होने पर प्राणी (वेदना से) आर्त्तध्यानयुक्त हो जाते हैं।

विवेचन—वधपरीषह के रूप में उपसर्ग आने पर—प्रस्तुत सूत्र में वधपरीषह के रूप उपसर्ग का वर्णन और उस मौके पर कायर साधक की मनोदशा का चित्रण किया है।

अप्पेगे झुंझियं''''तेजपुट्ठा व पाणिणो—प्रस्तुत गाथा का आशय यह है कि एक तो बेचारा साधु भूख से व्याकुल होता है, उस पर भिक्षाटन करते समय कुत्ते आदि प्रकृति से क्रूर प्राणी उसकी विचित्र वेष-भूषा देखकर भोंकने, उस पर झपटने या काटने लगते हैं, दाँतों से उसके अंगों को नोंच डालते हैं, ऐसे समय में नवदीक्षित या साधु संस्था में नवप्रविष्ट परीषह एवं उपसर्ग से अपरिचित अल्पसत्व साधक घबरा जाते हैं। वे उसी तरह वेदना से कराहते हैं, तथा आर्त्तध्यान करते हैं, जैसे आग से जल जाने पर प्राणी आर्तनाद करते हुए अंग पकड़ या सिकोड़ कर बैठ जाते हैं। वे कदाचित् संयम से भ्रष्ट भी हो जाते हैं।[11]

कठिन शब्दों का अर्थ—अप्पेगे—'अपि' शब्द सम्भावना अर्थ में हैं। 'एगे' का अर्थ है-कई। आशय है-कई साधु ऐसे भी हो सकते हैं। '**खुधियं**—इसके दो और पाठान्तर हैं--**खुज्झितं** और **झुंझियं**—तीनों का अर्थ है क्षुधित--भूखा, क्षुधार्त्त साधक। **सुणी दसति लूसए**=प्रकृति से क्रूर कुत्ता आदि प्राणी काटने लगता है। **तेजपुट्ठा**=तेज—अग्नि से स्पृष्ट--जला हुआ।[12]

---

१० (क) कम्मंता—कृषी पशुपाल्यादिभिः कर्मान्तैः आप्ताः अभिभूता इत्यर्थः।—सूयगडंग चूर्णि पृ० ३१
(ख) पुढो जणा—पृथक् जनाः, प्राकृत पुरुषाः, अनार्यकल्पाः,।

११ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८०-८१ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४१२

१२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८०-८१
(ख) सूयगडंग मूल तथा टिप्पणयुक्त (जम्बूविजय जी सम्पादित) पृ० ३२

आक्रोश परीषह के रूप में उपसर्ग—

१७३. अप्पेगे पडिभासंति पाडिपंथियमागता ।
पडियारगया एते जे एते एवंजीविणो ॥ ९ ॥

१७४. अप्पेगे वइं जुंजंति नगिणा पिंडोलगा ऽहमा ।
मुंडा कंडूविणट्ठंगा उज्जल्ला असमाहिया ॥ १० ॥

१७५. एवं विप्पडिवण्णेगे अप्पणा तु अजाणगा ।
तमाओ ते तमं जंति मंदा मोहेण पाउडा ॥ ११ ॥

१७३. कई (-पुण्यहीन) साधुजनों के प्रति द्रोही (प्रतिकूलाचारी) लोग (उन्हें देखकर) इस प्रकार प्रतिकूल बोलते हैं—ये जो भिक्षु इस प्रकार (भिक्षावृत्ति से) जी रहे हैं, ये (अपने) पूर्वकृत पापकर्मों का (फल भोग कर) बदला चुका रहे हैं।

१७४. कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये लोग नंगे हैं, परपिण्ड पर पलने वाले (टुकड़ैल) हैं, तथा अधम हैं, ये मुण्डित हैं, खुजली से इनके अंग गल गए हैं (या शरीर विकृत हो गए हैं), ये लोग सूखे पसीने से युक्त हैं तथा प्राणियों को असमाधि उत्पन्न करने वाले दुष्ट या बीभत्स है।

१७५. इस प्रकार साधु और सन्मार्ग के द्रोही कई लोग स्वयं अज्ञानी; मोह से आवृत (घिरे हुए) और विवेकमूढ़ हैं। वे अज्ञानान्धकार से (निकल कर फिर) गहन अज्ञानान्धकार में जाते हैं।

विवेचन—*साधु द्वेषीजनों द्वारा-आक्रोश उपसर्ग*—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय में साधु-विद्वेषी प्रतिकूलाचारी लोगों द्वारा किये जाने वाले आक्रोशपरीषह रूप उपसर्ग का वर्णन है। साथ ही अन्त में, इस प्रकार द्रोह मोह-युक्त मूढ़जनों को मिलने वाले दुष्कर्म के परिणाम का निरूपण हैं।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**पडिभासंति**=प्रतिकूल बोलते हैं, या चूर्णिकार सम्मत '**परिभासंति**' पाठान्तर के अनुसार—**परि-समन्ताद् भाषन्ते परिभाषन्ते**' अर्थात् वे अत्यन्त बड़बड़ाते हैं। **पाडिपंथियमागता-प्रतिपथ:=प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति—प्रातिपथिका:—साधुविद्वेषिण तद्भावमागत: कथञ्चित् पतिपथे वा दृष्टा अनार्या:।**—अर्थात्-प्रतिपथ से यानी प्रतिकूलरूप से जो चलते हैं वे प्रातिपथिक है, अर्थात् साधु-विद्वेषी है। साधुओं के प्रति द्वेषभाव (द्रोह) पर उतरे हुए, कथञ्चित् असत्-पथ पर देखे गए अनार्य लोग।

पडियारगया—वृत्तिकार के अनुसार—**प्रतीकार:—पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तं गता:-प्राप्ता:—स्वकृत-कर्मफल-भोगिन:**=प्रतीकार अर्थात् पूर्वाचरित कर्मफल के अनुभव—भोग को गत=प्राप्त। यानी स्वकृत पापकर्म का फल-भोग करते हैं। चूर्णिकार इसके बदले '**तद्दारवेदणिज्जं ते**' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं-'**जेहिं चेव दारेहिं कतं तेहिं चेव वेदिज्जतित्ति तद्दारवेदणिज्जं, जधा अदत्तादाणा तेण ण लभंते**। अर्थात्—जिन द्वारों (रूपों) में कर्म किये है, उन्हीं द्वारों से इन्हें भोगना पड़ेगा, जैसे—इन्होंने पूर्वजन्म में अदत्त (विना दिया हुआ) आदान (ग्रहण) कर लिया था (चोरी की थी), अत: अब ये विना दिया ले नहीं सकते। **एवंजीविणो**=इस प्रकार जीने वाले—अर्थात् भिक्षा के लिए ये दूसरों के घरों में घूमते है, इसलिए अन्त-

प्रान्तभोजी, दिया हुआ ही आहार लेते हैं, सिर का लोच करते हैं, समस्त भोगों से वंचित रहकर दुःखमय जीवन व्यतीत करने वाले हैं। **वइं जुंजंति**=वाणी का प्रयोग करते हैं—बोलते हैं। **नगिणा**=नग्न। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'**चरगा**' अर्थात्—ये लोग परिव्राजक है, घुमक्कड़ है। **पिंडोलगा**=दूसरों से पिंड की याचना करते हैं। **अहमा**=अधम है, मैले-गंदे या घिनौने है। **कंडूविणट्ठगा**=खुजाने से हुए घावों या रगड़ के निशानों से जिनके अंग विकृत हो गए। **उज्जल्ला**—'**उद्गतो जल्लः—शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः**—स्नान न करने से सूखे पसीने के कारण शरीर पर मैल जम गया है। चूर्णिकार ने इसके बदले '**उज्जाया**'—पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—'**उज्जातो—मृगोनष्ट इत्यर्थः** :' बेचारे ये नष्ट हो गए है—उजड़ गए है।

असमाहिता—अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति—अर्थात् ये असमाहित है—भद्दे बीभत्स, दुष्ट है या प्राणियों को असमाधि उत्पन्न करते हैं। **विप्पडिवन्ना=विप्रतिपन्नाः—साधु-सन्मार्गद्वेषिणः**।' अर्थात्—साधुओं और सन्मार्ग के द्वेषी-द्रोही। **अप्पणा तु अजाणगा**=स्वयं अपने आप तो अज्ञ ही है, तु शब्द से यह अर्थ फलित होता है—अन्य विवेकीजनों के वचन को भी नहीं मानते। **मन्दा मोहेण पाउडा**=ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से तथा मोह—मिथ्यादर्शन से प्रावृत—आच्छादित है। चूर्णिकार ने इस वाक्य की एक और व्याख्या की है—**अथवा मतिमन्दा इत्थिगाउवा मन्दविण्णाणा स्त्री मोहेन**। अर्थात् स्त्री के अनुचर बन जाने से मतिमन्द हैं, अथवा नारीमोह के कारण मन्द विज्ञानी हैं। **तमाओ ते तमं जंति**—अज्ञान रूप अन्धकार से पुनः गाढ़ान्धकार में जाता है, अथवा नीचे से नीची गति में जाता हैं।[13] वस्तुतः विवेकहीन और साधु विद्वेषी होने से मोहमूढ़ होकर वे अन्धकाराच्छन्न रहते हैं।[14]

दंश—मशक और तृणस्पर्श परीषह के रूप में उपसर्ग—

> १७६ **पुट्ठो य दंस-मसएहिं तणफासमचाइया।**
> **न मे दिट्ठे परे लोए जइ परं मरणं सिया ॥ १२ ॥**

१७६. डांस और मच्छरों के द्वारा स्पर्श किये (काटे) जाने पर तथा तृण-स्पर्श को न सह सकता हुआ (साधक) (यह भी सोच सकता है कि) मैंने परलोक को तो नहीं देखा, किन्तु इस कष्ट से मरण तो सम्भव ही है (साक्षात् ही दीखता है)।

---

१३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८१ का सार
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०)

१४ विवेकान्ध लोगों की वृत्ति के लिए एक विद्वान् ने कहा—

एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकः तद्वद्भिरेव सह संवसति द्वितीयम्।
एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धः तस्यापमार्गे चलने खलु कोऽपराधः ?

—एक पवित्र नेत्र तो सहज विवेक है, दूसरा है—विवेकी जनों के साथ निवास। संसार में ये दोनों आँखें जिसके नहीं है, वह वस्तुतः अन्धा है। अगर वह कुमार्ग पर चलता है, तो अपराध ही क्या है ?

विवेचन—दंश-मशक परीषह और तृणस्पर्श परीषह के रूप में उपसर्ग : कायर साधक का दुश्चिन्तन— प्रस्तुत सूत्र में दो परीषहों के रूप में उपसर्गों का निरूपण करते हुए कायर एवं मनोदुर्बल साधक का दुश्चिन्तन अभिव्यक्त किया है—**पुट्ठोय····तणफासमचाइया। न मे दिट्ठे····परं मरणं सिया।**' इसका आशय यह है कि साधु प्रायः सभी प्रान्तों-प्रदेशों में विचरण करता है। कोंकण आदि देशों में साधु को बहुत डांस-मच्छरों से पाला पड़ता है। वे साधु के तन पर सहसा टूट पड़ते हैं, साथ ही घास की शय्या पर जब नवदीक्षित साधु सोता है तो उसका खुर्दरा स्पर्श चुभता है। इस प्रकार डांस-मच्छरों के उपद्रव तथा तृण स्पर्श के कारण उपसर्ग सहन में अनभ्यस्त नवदीक्षित साधु एकदम झुँझला उठता है। वह प्रायः ऐसा सोचता है कि आखिरकार मैं यह सब कष्ट क्यों सहन कर रहा हूँ? व्यर्थ ही कष्ट में अपने को क्यों डालूँ? कष्ट सहन तो तभी सार्थक हो, जबकि परलोक हो, न तो मैंने परलोक को देखा है और न ही परलोक से लौटकर कोई मुझे वहाँ की बातें बताने आया है। प्रत्यक्ष से जब परलोक नहीं देखा तो उसका अनुमान भी सम्भव नहीं। अतः मेरे इस वृथा कष्ट सहन का नतीजा सिर्फ कष्ट सहकर मर जाने के सिवाय और क्या हो सकता है?

इस प्रकार दुश्चिन्तन करके कच्चा और कायर साधक उपसर्ग-सहन या उपसर्ग-विजय का सुपथ छोड़कर सुकुमार एवं असंयमी बन जाता है।[१५] उत्तराध्ययन सूत्र में भी उपसर्ग विजयोद्यत साधु को इस प्रकार का दुश्चिन्तन करने का निषेध किया गया है।[१६]

केशलोच और ब्रह्मचर्य के रूप में उपसर्ग—

१७७. संतत्ता केसलोएणं बंभचेरपराजिया।
तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा पविट्ठा व केयणे॥ १३॥

१७७. केश-लुञ्चन से संतप्त (पीड़ित) और ब्रह्मचर्य पालन से पराजित (असमर्थ) मन्द (जड़-तुच्छ प्रकृति के साधक (प्रव्रज्या लेकर) मुनिधर्म में इस प्रकार क्लेश पाते हैं, जैसे जाल में फंसी हुई मछलियाँ तड़फती हैं।

विवेचन—केशलोच एवं ब्रह्मचर्य पालन रूप उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथा (१७७) में केशलोच और ब्रह्मचर्य पालन रूप उपसर्गों के समय नवदीक्षित साधक की मनोदशा का चित्रण किया गया है। दोनों उपसर्गों पर विजय पाने की प्रेरणा इस गाथा का फलितार्थ है।

केशलोच : दीक्षा के पश्चात् सबसे कठोर परीक्षा रूप उपसर्ग—साधु-दीक्षा लेने के बाद जब सर्वप्रथम

---

१५ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४१६ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८१ के आधार पर

१६ देखिये उपसर्ग या परीषह को सहने में कायरों के वाक्य—
(अ) 'को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो। —उत्तरा० अ० ५/६
(ब) "नत्थि नूणं परे लोए, इड्ढी वा वि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओमित्ति, इइ भिक्खू न चिंतए॥" —उत्तराध्ययन अ० २/४४

केशों को जड़ से उखाड़ा जाता है, उस समय कई बार रक्त बह जाता है, कच्चा और कायर साधक घबरा जाता है; मन ही मन संतप्त होता रहता है। इसलिए कहा है—"संतत्ता केसलोएणं।"

ब्रह्मचर्य-पालन भी कम कठिन उपसर्ग नहीं—जो साधक कच्ची उम्र का होता है, उसे कामोन्माद का पूरा अनुभव नहीं होता। इसलिए कह देता है—कोई कठिन नहीं है मेरे लिए ब्रह्मचर्य पालन! परन्तु मनरूपी समुद्र में जब काम का ज्वार आता है, तब वह हार खा जाता है, मन में पूर्वभुक्त भोगों या गृहस्थ लोगों के दृष्ट भोगों का स्मरण, और उससे मन में रह रह कर उठने वाली भोगेच्छा की प्रबल तरंगों को रोक पाना उसके लिए बड़ा कठिन होता है। वह उस समय घोर पीड़ा महसूस करता है, जैसे जाल में पड़ी हुई मछली उसमें से निकलने का मार्ग न पाकर वहीं छटपटाती रहती है, और मर जाती है, वैसे ही साधु संघ में प्रविष्ट साधु भी काम से पराजित होकर भोगों को पाने के लिए छटपटाते रहते हैं और अन्त में संयमी जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए कहा है—**'बंभचेरपराइया' मच्छा पविट्ठा केयणे**—का अर्थ—केतन यानी मत्स्यबन्धन में प्रविष्ट—फंसी हुई मछलियाँ। **'विद्धा'** पाठान्तर भी है। उसका अर्थ होता है—(कांटे) से बींधी हुई मछलियाँ जैसे बन्धन में पड़ी तड़फती हैं।[१७]

वध-बंध-परीषह के रूप में उपसर्ग—

> १७८. **आतदंडसमायारा मिच्छासंठियभावणा।**
> **हरिसप्पदोसमावण्णा केयि लूसंतिऽणारिया॥ १४॥**
>
> १७९. **अप्पेगे पलियंतंसि चारि चोरो त्ति सुव्वयं।**
> **बंधंति भिक्खुयं बाला कसायवयणेहि य॥ १५॥**
>
> १८०. **तत्थ दंडेण संवीते मुट्ठिणा अदु फलेण वा।**
> **णातीणं सरती बाले इत्थी वा कुद्धगामिणी॥ १६॥**

१७८. जिससे आत्मा दण्डित होता है, ऐसे (कल्याण-भ्रष्ट) आचार वाले, जिनकी भावना (चित्तवृत्ति) मिथ्या बातों (आग्रहों) में जमी हुई है, और जो राग (—हर्ष) और प्रद्वेष से युक्त हैं, ऐसे कई अनार्य पुरुष साधु को पीड़ा देते हैं।

१७९. कई अज्ञानी लोग अनार्यदेश की सीमा पर विचरते हुए सुव्रती साधु को यह गुप्तचर है, यह चोर है, इस प्रकार (के सन्देह में पकड़ कर) (रस्सी आदि में) बांध देते हैं और कषाययुक्त (—कटु) वचन कहकर (उसे हैरान करते हैं।)

---

१७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८२
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३२

१८०. उस अनार्य देश की सीमा पर विचरण करने वाले साधु को डंडों से, मुक्कों से अथवा बिजोरा आदि फल से (या फलक=पटिये से, अथवा भाले आदि से) पीटा जाता है, तब वह नवदीक्षित अज्ञ साधक अपने बन्धु—बन्धवों को उसी प्रकार स्मरण करता है, जिस प्रकार रुष्ट होकर घर से भागने वाली स्त्री अपने स्वजनवर्ग को (स्मरण करती है।)

विवेचन—वध-बन्ध परीषह रूप उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय में वध और बन्ध परीषह के रूप में उपसर्ग साधक को किस प्रकार पीड़ित करते हैं ? उसका विशद निरूपण है।

पीड़ा देने वाले कौन ? कई सुव्रती साधु सहज भाव से अनार्य देश के पारिपार्श्विक सीमावर्ती प्रदेश में विचरण करते हैं, उस समय उन्हें कई अनार्य पीड़ा देते हैं। अनार्यों के लिए यहाँ तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं—(१) **आतदण्ड समायारा,** (२) **मिच्छासंठिय भावणा** और (३) **हरिसप्पदोसमावण्णा** : अर्थात् जो अनार्य अपनी आत्मा को ही कर्मबन्ध से दण्डित करने वाले कल्याण भ्रष्ट आचारों से युक्त होते हैं, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व दोष से जकड़ी हुई है, तथा जो राग और द्वेष से कलुषित हैं।

किस पकार पीड़ित करते हैं ?—वे अनार्य लोग सीमाचारी सुविहित साधु को यह खुफिया हैं, या यह चोर है, इस प्रकार के सन्देह में पकड़ करके बांध देते हैं, कषायवश अपशब्द भी कहते हैं, फिर उसे डंडों, मुक्कों और लाठियों से पीटते भी हैं।

उस समय उपसर्ग से अनभ्यस्त साधक की मनोदशा—उस समय अनाड़ी लोगों द्वारा किये गए प्रहार से घबराकर संयम से भाग छूटने की मनोवृत्तिवाला कच्चा और अज्ञ नवदीक्षित साधक अपने माता-पिता या स्वजन वर्ग को याद करके उसी प्रकार पछताता रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री घर से रूठकर भाग जाती है, किन्तु कामी लोगों द्वारा पीछा करके बलात् पकड़ ली जाती है, उस समय वह अपने स्वजनों को याद करके पश्चात्ताप करती है।

शास्त्रकार ने ऐसे उपसर्गों के समय साधक को सावधान करने के लिए ऐसी सम्भावनाएँ व्यक्त की है।[१८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—पलियंतंसि=अनार्य देश के पर्यन्त सीमाप्रदेश में विचरण करते हुए। **चारि—** चारिक गुप्तचर, चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—**चारिकोऽयं चारयतीति चारकः येषां परस्पर विरोधस्ते चारिक मित्येन संवदन्ते।** अर्थात्—यह चारिक है। जिन राज्यों का परस्पर विरोध होता है, वे उसे चारिक—विरोधी-गुप्तचर समझते हैं। **कसायवयणेहिं**—क्रोधादि कषाय युक्त वचनों से पीड़ित करते हैं। चूर्णिकार '**कसायवसणेहिं**—पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—काषायरंग के वस्त्रों से सज्जित करके कई कार्पटिक पाषण्डिक लोग उस साधु की भर्त्सना करते हैं, रोकते है या नचाते हैं। अथवा कषाय के वश होककर के पीड़ित करते हैं। **संवीते**=पीटे जाने पर या प्रहत-घायल किये जाने पर।[१९]

---

१८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ८२ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४१७ से ४१९ तक का सारांश

१९ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ८२
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३३

उपसर्गों से आहत : कायर साधकों का पलायन—

१८१. **एते भो कसिणा फासा फरुसा दुरहियासया।**
हत्थी वा सरसंवीता कीवाऽवसा गता गिहं ॥ १७ ॥ त्ति बेमि ॥

१८१. हे शिष्यो ! ये (पूर्वोक्त) समस्त (उपसर्गों और परीषहों के) स्पर्श (अवश्य ही) दुःस्सह और कठोर है, किन्तु बाणों से आहत (घायल) हाथियों की तरह विवश (लाचार) होकर वे ही (संयम को छोड़कर) घर को चले जाते हैं, जो (कायर) हैं। —यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपसर्गों से आहत : असमर्थ साधकों का पलायन—इस गाथा में पूर्वगाथाओं में उक्त दुःसह एवं कठोर परीषहोपसर्गों के समय कायर पुरुष की पलायनवृत्ति का उल्लेख शिष्यों को सम्बोधित करते हुए किया गया है।

पूर्वोक्त उपसर्गों के स्पर्श कैसे ? इस उद्देशक में जितने भी परीषहों या उपसर्गों का निरूपण किया गया है, उन सब के स्पर्श- स्पर्शेन्द्रियजनित अनुभव—अत्यन्त कठोर हैं तथा दुःसह्य हैं।

उन उपसर्गस्पर्शों का प्रभाव किन पर कितना ? उपसर्ग या परीषह तो जैसे हैं, वैसे ही हैं, अन्तर तो उनकी अनुभूति में होता है। जो साधक कायर, कच्चे और गुरुकर्मी होते हैं, उन्हें ये स्पर्श अत्यन्त तीव्र, असह्य लगते हैं। फलतः जिस तरह रणक्षेत्र में वाणों के प्रहार से पीड़ित (घायल) हाथी मैदान छोड़कर भाग जाते हैं, उसी तरह वे अपरिपक्व साधक परीषहों और उपसर्गों की मार से पीड़ित एवं विवश होकर संयम को छोड़कर पुनः गृहवास में प्रवृत्त हो जाते हैं, लेकिन जो परिपक्व वीर साधक होते हैं, वे संयम में डटे रहते हैं।[20]

कठिन शब्दों की व्याख्या—सरसंवीता—वाणों के प्रहार से आकुल या पीड़ित। **कीवा**—असमर्थ, कायर साधक। **अवसा**—परवश या गुरु कर्माधीन (भारीकर्मा) चूर्णिकार **'कीवाऽवसा'** के बदले दो पाठान्तर प्रस्तुत करते हैं—**'कीवा वसगा'** और **'तिव्वसढगा'** प्रथम पाठान्तर का अर्थ किया गया है—**'क्लीवा वशका नाम परीषहे वशकाः'**—अर्थात्—क्लीव (असमर्थ कायर) और वशक अर्थात्—परीषहों से विवश। द्वितीय पाठान्तर का अर्थ है—"तीव्रं शठाः तीव्रशठाः तीव्रैर्वा शठाः तीव्रशठाः, तीव्रैःपरीषहैः प्रतिहताः।" अर्थात् तीव्र शठता (धृष्टता) धारण किये हुए तीव्रशठ, अथवा तीव्र परीषहों से शठ प्रतिहत-पीड़ित। वृत्तिकार ने भी 'तिव्वसढा पाठान्तर का उल्लेख करके अर्थ किया है—तीव्रैरूपसर्गैरभिद्रुताः शठाः शठानुष्ठानाः संयमं परित्यज्य गृहंगताः।" अर्थात्—तीव्र उपसर्गों से पीड़ित शठ यानी शठता का कार्य करने वाले।[21]

प्रथम उद्देशक समाप्त

□□

---

२० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८३ के आधार पर

२१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८३
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ३३

१८०. उस अनार्य देश की सीमा पर विचरण करने वाले साधु को डंडों से, मुक्कों से अथवा बिजोरा आदि फल से (या फलक=पटिये से, अथवा भाले आदि से) पीटा जाता है, तब वह नवदीक्षित अज्ञ साधक अपने बन्धु—बन्धवों को उसी प्रकार स्मरण करता है, जिस प्रकार रुष्ट होकर घर से भागने वाली स्त्री अपने स्वजनवर्ग को (स्मरण करती है।)

विवेचन—वध-बन्ध परीषह रूप उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय में वध और बन्ध परीषह के रूप में उपसर्ग साधक को किस प्रकार पीड़ित करते हैं ? उसका विशद निरूपण है।

पीड़ा देने वाले कौन ? कई सुव्रती साधु सहज भाव से अनार्य देश के पारिपार्श्विक सीमावर्ती प्रदेश में विचरण करते हैं, उस समय उन्हें कई अनार्य पीड़ा देते हैं। अनार्यों के लिए यहाँ तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं—(१) **आतदण्ड समायारा**, (२) **मिच्छासंठिय भावणा** और (३) **हरिसप्पदोसमावण्णा** : अर्थात् जो अनार्य अपनी आत्मा को ही कर्मबन्ध से दण्डित करने वाले कल्याण भ्रष्ट आचारों से युक्त होते हैं, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व दोष से जकड़ी हुई है, तथा जो राग और द्वेष से कलुषित हैं।

किस पकार पीड़ित करते हैं ?—वे अनार्य लोग सीमाचारी सुविहित साधु को यह खुफिया हैं, या यह चोर है, इस प्रकार के सन्देह में पकड़ करके बांध देते हैं, कषायवश अपशब्द भी कहते हैं, फिर उसे डंडों, मुक्कों और लाठियों से पीटते भी हैं।

उस समय उपसर्ग से अनभ्यस्त साधक की मनोदशा—उस समय अनाड़ी लोगों द्वारा किये गए प्रहार से घबराकर संयम से भाग छूटने की मनोवृत्तिवाला कच्चा और अज्ञ नवदीक्षित साधक अपने माता-पिता या स्वजन वर्ग को याद करके उसी प्रकार पछताता रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री घर से रूठकर भाग जाती है, किन्तु कामी लोगों द्वारा पीछा करके बलात् पकड़ ली जाती है, उस समय वह अपने स्वजनों को याद करके पश्चात्ताप करती है।

शास्त्रकार ने ऐसे उपसर्गों के समय साधक को सावधान करने के लिए ऐसी सम्भावनाएँ व्यक्त की है।[१८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**पलियंतंसि**=अनार्य देश के पर्यन्त सीमाप्रदेश में विचरण करते हुए। **चारि**—चारिक गुप्तचर, चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—**चारिकोऽयं चारयतीति चारकः येषां परस्पर विरोधस्ते चारिक मित्येन संवदन्ते।** अर्थात्—यह चारिक है। जिन राज्यों का परस्पर विरोध होता है, वे उसे चारिक—विरोधी-गुप्तचर समझते हैं। **कसायवयणेहिं**—क्रोधादि कषाय युक्त वचनों से पीड़ित करते हैं। चूर्णिकार '**कसायवसणेहिं**—पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—काषायरंग के वस्त्रों से सज्जित करके कई कार्पटिक पाषण्डिक लोग उस साधु की भर्त्सना करते हैं, रोकते है या नचाते हैं। अथवा कषाय के वश होककर के पीड़ित करते हैं। **संवीते**=पीटे जाने पर या प्रहत-घायल किये जाने पर।[१९]

---

१८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ८२ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४१७ से ४१९ तक का सारांश

१९ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ८२
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३३

उपसर्गों से आहत : कायर साधकों का पलायन—

१८१. **एते भो कसिणा फासा फरुसा दुरहियासया।**
हत्थी वा सरसंवीता कीवाऽवसा गता गिहं ॥ १७ ॥ ति बेमि ॥

१८१. हे शिष्यो ! ये (पूर्वोक्त) समस्त (उपसर्गों और परीषहों के) स्पर्श (अवश्य ही) दुःस्सह और कठोर है, किन्तु बाणों से आहत (घायल) हाथियों की तरह विवश (लाचार) होकर वे ही (संयम को छोड़कर) घर को चले जाते हैं, जो (कायर) हैं। —यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपसर्गों से आहत : असमर्थ साधकों का पलायन—इस गाथा में पूर्वगाथाओं में उक्त दुःसह एवं कठोर परीषहोपसर्गों के समय कायर पुरुष की पलायनवृत्ति का उल्लेख शिष्यों को सम्बोधित करते हुए किया गया है।

पूर्वोक्त उपसर्गों के स्पर्श कैसे ? इस उद्देशक में जितने भी परीषहों या उपसर्गों का निरूपण किया गया है, उन सब के स्पर्श- स्पर्शेन्द्रियजनित अनुभव—अत्यन्त कठोर हैं तथा दुःसह्य हैं।

उन उपसर्गस्पर्शों का प्रभाव किन पर कितना ? उपसर्ग या परीषह तो जैसे हैं, वैसे ही हैं, अन्तर तो उनकी अनुभूति में होता है। जो साधक कायर, कच्चे और गुरुकर्मी होते हैं, उन्हें ये स्पर्श अत्यन्त तीव्र, असह्य लगते हैं। फलतः जिस तरह रणक्षेत्र में बाणों के प्रहार से पीड़ित (घायल) हाथी मैदान छोड़कर भाग जाते हैं, उसी तरह वे अपरिपक्व साधक परीषहों और उपसर्गों की मार से पीड़ित एवं विवश होकर संयम को छोड़कर पुनः गृहवास में प्रवृत्त हो जाते हैं, लेकिन जो परिपक्व वीर साधक होते हैं, वे संयम में डटे रहते हैं।[20]

कठिन शब्दों की व्याख्या—सरसंवीता—बाणों के प्रहार से आकुल या पीड़ित। **कीवा**—असमर्थ, कायर साधक। **अवसा**—परवश या गुरु कर्माधीन (भारीकर्मा) चूर्णिकार '**कीवाऽवसा**' के बदले दो पाठान्तर प्रस्तुत करते हैं—'**कीवा वसगा**' और '**तिव्वसढगा**' प्रथम पाठान्तर का अर्थ किया गया है—'**क्लीवा वशका नाम परीषहे वशकाः**''—अर्थात्—क्लीव (असमर्थ कायर) और वशक अर्थात्—परीषहों से विवश। द्वितीय पाठान्तर का अर्थ है—''तीव्रं शठाः तीव्रशठाः तीव्रैर्वा शठाः तीव्रशठाः, तीव्रैः परीषहैः प्रतिहताः।'' अर्थात् तीव्र शठता (धृष्टता) धारण किये हुए तीव्रशठ, अथवा तीव्र परीषहों से शठ प्रतिहत-पीड़ित। वृत्तिकार ने भी '**तिव्वसढा**' पाठान्तर का उल्लेख करके अर्थ किया है—तीव्रैरूपसर्गैरभिद्रुताः शठाः शठानुष्ठानाः संयमं परित्यज्य गृहंगताः।'' अर्थात्—तीव्र उपसर्गों से पीड़ित शठ यानी शठता का कार्य करने वाले।[21]

प्रथम उद्देशक समाप्त

□□

२० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८३ के आधार पर

२१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८३

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ३३

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अनुकूल उपसर्ग : सूक्ष्म संग रूप एवं दुस्तर—

१८२ अहिमे सुहुमा संगा भिक्खूणं जे दुरुत्तरा।
जत्थ एगे विसीयंति ण चयंति जवित्तए ॥ १ ॥

१८२. इसके (प्रतिकूल उपसर्ग के वर्णन के) पश्चात् ये सूक्ष्म (स्थूल रूप से प्रतीत न होने वाले—अनुकूल) संग बन्धु-बान्धव आदि के साथ सम्बन्ध रूप उपसर्ग हैं, जो भिक्षुओं के लिए दुस्तर—दुरतिक्रमणीय होते हैं। उन सूक्ष्म आन्तरिक उपसर्गों के आने पर कई (कच्चे) साधक व्याकुल हो जाते हैं—वे संयमी जीवन-यापन करने में असमर्थ बन जाते हैं।

विवेचन—सूक्ष्म-अनुकूल उपसर्गः दुस्तर एवं संयमच्युतिकर—प्रस्तुत सूत्रगाथा में अनुकूल उपसर्गों का वर्णन प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार उनका परिचय देते हैं। अनुकूल उपसर्गों की पहिचान दो प्रकार से होती है—(१) ये सूक्ष्म संग रूप होते हैं, (२) दुरुत्तर होते हैं। इनका प्रभाव विवेकमूढ़ साधक पर दो तरह से होता है—(१) वे घबरा जाते हैं, या (२) संयमी जीवन निभाने में असमर्थ हो जाते हैं ?

ये उपसर्ग सूक्ष्म और दुरुत्तर क्यों?—स्थूल दृष्टि से देखने वाला इन्हें सहसा उपसर्ग नहीं कहेगा, बल्कि यह कहेगा कि इन आने वाले उपसर्गों को तो आसानी से सहन किया जा सकता है। इनको सहने में काया को कोई जोर नहीं पड़ता। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**अहिमे सुहुमा संगा भिक्खूणं जे दुरुत्तरा**', आशय यह है कि अपने पूर्वाश्रम के माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदि स्वजनों का मधुर एवं स्नेहस्निग्ध संसर्ग (सम्बन्ध) रूप उपसर्ग इतना सूक्ष्म होता है कि वह साधक के शरीर पर हमला नहीं करता, अपितु उसके मन पर घातक आक्रमण करता है, उसकी चित्तवृत्ति में उथल-पुथल मचा देता है। इसीलिए इस संगरूप उपसर्ग को सूक्ष्म यानी आन्तरिक बताया गया है। प्रतिकूल उपसर्ग तो प्रकट रूप से बाह्य शरीर को विकृत करते हैं, किन्तु ये (अनुकूल) उपसर्ग बाह्य शरीर को विकृत न करके साधक के अन्तर्हृदय को विकृत बना देते हैं।

इन सूक्ष्मसंगरूप उपसर्गों को दुस्तर (कठिनता से पार किये जा सकनेवाले) इसलिए बताया गया है कि प्राणों को संकट में डालने वाले प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर तो साधक सावधान होकर मध्यस्थवृत्ति धारण कर सकते हैं, जबकि अनुकूल उपसर्ग आने पर मध्यस्थ वृत्ति का अवलम्बन लेना अतिकठिन होता है। इसीलिए सूक्ष्म या अनुकूल उपसर्ग को पार करना अत्यन्त दुष्कर बताया गया है।[1]

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति सहित भाषानुवाद भा० २, पृ० २५ का सारांश
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८ पर से
(ग) सूत्रकृतांग अमर सुख बोधिनी व्याख्या पृ० ४२३ के आधार पर

इन उपसर्गों का प्रभाव—गाथा के उत्तरार्द्ध में इन उपसर्गों का प्रभाव बताया गया है। इन अनुकूल उपसर्गों के आने पर कई महान् कहलाने वाले साधक भी धर्माराधना या संयम-साधना से विचलित एवं भ्रष्ट हो जाते हैं, सुकुमार एवं सुखसुविधा-परायण कच्चे साधक तो बहुत जल्दी अपने संयम से फिसल जाते हैं, सम्बन्धियों के मोह में पड़कर वे संयम पालन में शिथिल अथवा धीरे-धीरे सर्वथा भ्रष्ट हो जाते हैं। वे संयम पूर्वक अपनी जीवन यात्रा करने में असमर्थ हो जाते हैं। सदनुष्ठान के प्रति वे विषण्ण (उदासीन) हो जाते हैं, संयम पालन उन्हें दुःखदायी लगने लगता है। वे संयम को छोड़ बैठते हैं या छोड़ने को उद्यत हो जाते हैं।[2]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**सुहुमा**—प्रायः चित्त विकृतिकारी होने से आन्तरिक हैं, तथा प्रतिकूल उपसर्गवत् प्रकटरूप से शरीर विकृतिकारी एवं स्थूल न होने से सूक्ष्म हैं। **संगा**—माता-पिता आदि का सम्बन्ध। '**जत्थ एगे विसीयंति**'—जिन उपसर्गों के आने पर अल्पपराक्रमी साधक विषण्ण हो जाते हैं, शिथिलाचार-परायण हो जाते हैं, संयम को छोड़ बैठते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'**जत्थ मंदा विसीदंति**' अर्थ प्रायः एक-सा ही है। '**ण चयंति जवित्तए**' नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन यापयितुं, वर्तयितुं तस्मिन् वा व्यवस्थापयितुं शक्नुवन्ति समर्था भवन्ति।' अर्थात्—अपने आपको संयमानुष्ठान के साथ जीवन-निर्वाह करने में, संयम में टिकाए रखने में समर्थ नहीं होते।[3]

स्वजनसंग रूप उपसर्ग : विविध रूपों में—

१८३. अप्पेगे णायओ दिस्स रोयंति परिवारिया।
पोस णे तात पुट्ठोऽसि कस्स तात चयासि णे॥ २॥

१८४. पिता ते थेरओ तात ससा ते खुड्डिया इमा।
भायरो ते सगा तात सोयरा किं चयासि णे॥ ३॥

१८५. मातरं पितरं पोस एवं लोगो भविस्सइ।
एयं खु लोइयं ताय जे पोसे पिउ-मातरं॥ ४॥

१८६. उत्तरा महुरुल्लावा पुत्ता ते तात खुड्डगा।
भारिया ते णवा तात मा से अण्णं जणं गमे॥ ५॥

१८७. एहि ताय घरं जामो मा तं कम्म सहा वयं।
बीयं पि तात पासामो जामु ताव सयं गिहं॥ ६॥

---

२ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४२३ पर से

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८३

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृष्ठ ३३

१८८. गंतुं तात पुणाऽऽगच्छे ण तेणऽसमणो सिया ।
अकामगं परक्कम्मं को ते वारेउमरहति ॥ ७ ॥

१८९. जं किंचि अणगं तात तं पि सव्वं समीकतं ।
हिरण्णं ववहारादी तं पि दासामु ते वयं ॥ ८ ॥

१९०. इच्चेव णं सुसेहंति कालुणिया समुट्ठिया ।
विबद्धो नातिसंगेहिं ततोऽगारं पधावति ॥ ९ ॥

१९१. जहा रुक्खं वणे जायं मालुया पडिबंधति ।
एवं णं पडिबंधंति णातओ असमाहिणा ॥ १० ॥

१९२. विबद्धो णातिसंगेहिं हत्थी वा वि नवग्गहे ।
पिट्ठतो परिसप्पंति सूतीगो व्व अदूरगा ॥ ११ ॥

१९३. एते संगा मणुस्साणं पाताला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य कीसंति नातिसंगेहिं मुच्छिता ॥ १२ ॥

१९४. तं च भिक्खू परिण्णाय सव्वे संगा महासवा ।
जीवितं नाभिकंखेज्जा सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥ १३ ॥

१९५. अहिमे संति आवट्टा कासवेण पवेदिता ।
बुद्धा जत्थावसप्पंति सीयंति अबुहा जहिं ॥ १४ ॥

१८३. कई-कई ज्ञातिजन साधु को देखकर उसे घेर कर रोते हैं—विलाप करते हैं, (वे कहते हैं) "तात ! अब आप हमारा भरण-पोषण करें, हमने आपका पालन-पोषण किया है। हे तात ! (अब) हमें आप क्यों छोड़ते हैं ?

१८४. हे पुत्र (तात) ! तुम्हारे पिता अत्यन्त बूढ़ हैं, और यह तुम्हारी बहन (अभी) छोटी है। हे पुत्र ! ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई हैं। (फिर) तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?

१८५. हे पुत्र ! अपने माता-पिता का पालन-पोषण करो। ऐसा करने से ही लोक (लोक—इह-लोक-परलोक) सुधरेगा—बनेगा। हे तात ! यही लौकिक आचार है कि जो पुत्र हैं, वे अपने माता-पिता का पालन करते हैं।

१८६. हे तात ! तुम्हारे उत्तरोत्तर (एक के बाद एक) जन्मे हुए पुत्र मधुरभाषी (तुतलाते हुए मीठी बोली में बोलते) हैं तथा वे अभी बहुत छोटे हैं। हे तात ! तुम्हारी पत्नी अभी नवयोवना है, वह (कहीं) दूसरे पुरुष के पास न चली जाए।

१८७. आओ, तात ! घर चलें। (अब से) तुम कोई काम मत करना, हम लोग तुम्हारे काम में सहायक होंगे। हे तात ! (अब) दूसरी वार (चलो) (तुम्हारा काम) हम देखेंगे। अतः चलो, हम लोग अपने घर चलें।

१८८. हे तात ! (अच्छा) एक वार घर जा कर फिर लौट आना। (इससे तुम) अश्रमण नहीं हो जाओगे। (घर के काम में) तुम इच्छारहित (अनिच्छुक) हो तो तुम्हें स्वेच्छानुसार कार्य करने से कौन रोक सकता है ?

१८९. हे तात ! जो कुछ ऋण था, वह भी सारा का सारा हमने वरावर (समभाग में) वाँटकर ठीक कर (उतार) दिया है। तुम्हारे व्यवहार आदि के लिए उपयोगी जो हिरण्य (सोना-चाँदी आदि) है, वह भी हम लोग तुम्हें देंगे।

१९०. करुणाजनक वचनों से (साधक को फुसलाने हेतु) भलीभाँति उद्यत (कटिवद्ध) वन्धु-वान्धव इसी प्रकार साधु को शिक्षा देते हैं (वरगलाते हैं।) (ऐसी स्थिति में) ज्ञातिजनों के संगों—सम्बन्धों से विशेष रूप से (स्नेह वन्धन में) बंधा (जकड़ा) हुआ साधक उस निमित्त (बहाने) से घर की ओर चल पड़ता है।

१९१. जैसे वन में उत्पन्न वृक्ष के लता (लिपट कर) बाँध लेती है, इसी तरह ज्ञातिजन (स्वजन) (साधक के चित्त में) असमाधि उत्पन्न (समाधिभंग) करके (उसे) बांध लेते हैं।

१९२. (माता-पिता आदि) स्वजनवर्ग के स्नेह सम्बन्धों से बंधे हुए साधु के पीछे-पीछे (स्वजन वर्ग) चलते हैं और नये-नये पकड़े हुए हाथी के समान (उसके अनुकूल चलते हैं)। तथा जैसे नई ब्याई हुई गाय अपने बछड़े के पास रहती है, वैसे पारिवारिक जन भी उसके पास ही रहते हैं।

१९३, ये (माता-पिता आदि स्वजनों के प्रति) संग (स्नेह सम्बन्ध रूप उपसर्ग) मनुष्यों के लिए समुद्र के समान अतल और दुस्तर हैं। इस प्रकार उपसर्ग के आने पर ज्ञातिजनों के संग (सम्बन्ध) में मूर्च्छित—आसक्त होकर अल्प पराक्रमी साधक क्लेश पाते हैं।

१९४. भिक्षु उस ज्ञातिजन सम्बन्धरूप उपसर्ग को भलीभाँति जान कर छोड़ देता है। क्योंकि सभी संग (आसक्तियुक्त सम्बन्ध) कर्म के महान् आस्रव द्वार हैं। अनुत्तर (वीतरागप्ररूपित) धर्म का श्रवण करके साधु असंयमी जीवन की आकाँक्षा न करे।

१९५. इसके अनन्तर काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने विशेषरूप से बता दिया कि ये संग (जातिजनों के साथ स्नेहसम्बन्ध) आवर्त्त (भँवरजाल या चक्कर) हैं। जिस उपसर्ग के आने पर प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) पुरुष इनसे शीघ्र ही अलग (दूर) हट जाते हैं, जबकि अदूरदर्शी विवेकमूढ़ इनमें फंसकर दुःख पाते हैं।

विवेचन—स्वजनसंगरूप उपसर्गः कैसे-कैसे, किस-किस रूप में ? इन (१८३ से १९५ तक १३ सूत्रगाथाओं ज्ञातिजन-संग रूप अनुकूल उपसर्ग का विविध पहलुओं से वर्णन किया गया है। ज्ञातिजनों द्वारा आसक्ति मय वचनों से साधक को फुसलाने के सात मुख्य प्रकारों का यहाँ वर्णन है—(१) सम्बन्धीजन रो-रो

कर अपने भरणपोषण के लिए, कहते हैं; (२) बूढ़े पिता, छोटी बहन, तथा सहोदर भाइयों को छोड़ने का अनुरोध, (३) माता-पिता का भरण-पोषण करना लौकिक आचार है, इससे लोक सुधरता है, (४) छोटे-छोटे दुध मुँह बच्चे और नवयौवना पत्नी को सँभालने का आग्रह, (५) तुम्हारे जिम्मे का सब काम हम कर लेंगे इस प्रकार कह कर घर चलने का आग्रह, (६) घर जाकर वापस लौट आना, वहाँ तुम्हें स्वेच्छा से काम करने से कोई नहीं रोकेगा (७) तुम्हारे सब कर्ज हमने बराबर बाँटकर चुका दिया है, तथा तुम्हें अब घरबार चलाने एवं व्यापार के लिए हम सोना आदि देंगे। इस प्रकार बहकाना।

इस प्रकार के अनुकूल उपसर्ग का ४ प्रकार का प्रभाव—(१) स्वजनों के करुणाजनक वार्तालाप से उनके स्नेह सम्बन्धों में बद्ध साधक घर की ओर चल पड़ता है, (२) बेल द्वारा वृक्ष को बाँधने की तरह स्वजन समाधि रहित साधक को बांध लेते हैं, (३) नये पकड़े हुए हाथी की तरह वे उसके पीछे-पीछे चलते हैं, वे उसे अपने से दूर नहीं छोड़ते। (४) समुद्र की तरह गम्भीर एवं दुस्तर इन ज्ञाति-संगों में आसक्त होकर कायर साधक कष्ट पाते हैं।

इन उपसर्गों के समय साधक का कर्तव्य—(१) इस उपसर्गों को भली-भाँति जान कर छोड़ दे, (२) सभी संग रूप उपसर्ग महास्रवरूप हैं, (३) अनुत्तर निर्ग्रन्थ धर्म का श्रवण-मनन करे, (४) असंयमी जीवन की आकांक्षा न करे, (५) भगवान् महावीर ने इन्हें भंवरजाल बताया है, (६) अज्ञानी साधक ही इनमें फँस कर दुःखी होते हैं, ज्ञानी जन इनसे दूर हट जाते हैं।[४]

स्वजन संगरूप उपसर्ग के मुख्य सात रूप—प्रथमरूप—साधुधर्म में दीक्षित होते या दीक्षित हुए देखकर स्वजनवर्ग जोर-जोर से रोने लगते है, आँसू बहाते हैं, स्वजनों की आँखों में आँसू देखकर कच्चे साधक का मन पिघल जाता है। जब वह उनके मोहगर्भित वचनों को सुनने के लिए तैयार होता है, तब वे कहते हैं —पुत्र ! हमने बचपन से तुम्हारा पालन-पोषण इसलिए किया था कि बुढ़ापे में तुम हमारा भरण-पाषण करोगे, लकिन तुम तो हमें अधबीच में ही छिटका कर जा रहे हो। अतः चलो, हमारा भरण पोषण करो। तुम्हारे सिवाय हमारा पोषक-रक्षक कौन है ? हमें असहाय छोड़कर क्यों जा रहे हो ?

दूसरा रूप—पुत्र ! देखो तो सही, तुम्हारे पिता बहुत बूढ़े हैं, इन्हें तुम्हारी सेवा की आवश्यकता है ! यह तुम्हारी बहन अभी बहुत छोटी है, ये तुम्हारे सहोदर भाई हैं, इनकी ओर भी देखो इन सबको छोड़कर क्यों जा रहे हो ? घर चलो !

तीसरा रूप—बेटा ! माँ-बाप का भरण पोषण करो, इसी से लोक-परलोक सुधरेगा। लौकिक आचारशास्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि पुत्र अपनी जन्मदात्री मां का तथा गुरुजनों का अवश्य ही पालन करते हैं, तभी वे माता-पिता के उपकारों से किंचित उऋण हो सकते हैं।

चौथा रूप—अभी तुम्हारे एक के बाद एक पैदा हुए सुन्दर सलौने मधुर भाषी दुध मुँहे बच्चे हैं। तुम्हारी पत्नी अभी नवयौवना है। तुम्हारे द्वारा परित्यक्त होने पर यह किसी दूसरे पुरुष के साथ

---

४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति युक्त भाषानुवाद भा० २ पृ० २५ से ३७ तक का सार

चली जायगी तो उन्मार्गगामिनी एवं स्वच्छन्दाचारिणी वन जायगी। यह वड़ा लोकापवाद होगा। इन सब बातों पर विचार करके अपने स्त्री-पुत्रों की ओर देखकर तुम घर चलो।

पांचवां रूप—घर के कामधन्धों से कतरा कर तुमने घर छोड़ा है, परन्तु अब हमने निश्चय कर लिया है कि हम तुम्हें किसी काम के लिए नहीं कहेंगे। तुम्हारे काम में सहायता करेंगे, तुम्हारे जिम्मे के कामों को हम देखेंगे। अतः घर चलो, तुम कोई काम मत करना।

छठा रूप—प्रिय पुत्र ! तुम एक वार घर चल कर अपने स्वजन वर्ग से मिलकर, उन्हें देखकर फिर लौट आना। घर चलने मात्र से तुम कोई असाधु नहीं हो जाओगे। अगर तुम्हें घर में रहना नापसन्द हो तो पुनः यहाँ आ जाना। यदि तुम्हारी इच्छा घर का काम-काज करने की न हो तो तुम्हें अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने से कौन रोकता है ? अथवा तुम्हारी इच्छा काम-भोगों से निवृत्त होकर बुढ़ापे में पुनः संयमानुष्ठान करने की हो तो कौन मना करता है ? संयमाचरण योग्य अवसर आने पर तुम्हें कोई रोकेगा नहीं। अतः हमारा साग्रह अनुरोध मानकर एकबार घर चलो।

सातवाँ रूप—बेटा ! तुम पर जो भारी कर्ज था, उसे हम लोगों ने परस्पर बराबर हिस्से में बाँट लिया है, एवं चुका दिया है। अथवा ऋण चुकाने के भय से तुमने घरवार छोड़ा था, उसे हम लोगों ने आसानी से चुकाने की व्यवस्था कर ली है। रहा व्यापार एवं घर खर्च का व्यवहार तो उसे चलाने के लिए हम तुम्हें सोना-चाँदी आदि द्रव्य देंगे। जिस निर्धनता से घबरा कर तुमने घर छोड़ा था। अब उस भय को मन से निकाल दो, और घर चलो। अब घर में रहने में तुम्हारे लिए कोई विघ्न-बाधा नहीं रही। स्वजनों द्वारा इन और ऐसे ही मोहोत्पादक विभिन्न आकर्षक तरीकों से कच्चे साधक को पुनः गृहस्थ-जीवन में खींच लिया जाता है। संयमी जीवन में इस प्रकार के प्रलोभन अनुकूल उपसर्ग हैं, कच्चा साधक स्वजनों के मोह सम्बन्ध में पड़कर संयम से फिसल जाता है।

ये समस्त सूत्रगाथाएँ साधु को इस प्रकार के अनुकूल उपसर्गों के समय सावधान रहने तथा संयम छोड़कर पुनः गृहवास में जाने का जरा भी विचार न करने की प्रेरणा देती हैं।[६]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**दिस्स**=देखकर। **अप्पेगे**=(अपि सम्भावना अर्थ में होने से) सम्भव है, कई तथाकथित। **णायओ**=ज्ञातिजन। **परिवारिया**=घेरकर। **कस्स चयासि णे ?** किसलिए, किस कारण से हमें तू छोड़ रहा है। '**चयासि**' के बदले पाठान्तर है=जहासि। अर्थ समान है। **खुड्डिया**=छोटी बच्ची है। **सगा**=अपने, सगे। '**सवा**' पाठान्तर भी है, जिसके संस्कृत में दो रूप होते हैं—स्वकाः; श्रवाः। स्वका का अर्थ अपने निजी है, और श्रवा का अर्थ होता हैं—तुम्हारे वचन या आज्ञा आदि को सुनने वाले। **कम्मसहा**=कर्मों (कामों) में सहायक। चूर्णिकार के अनुसार **इदाणिं वयं कम्मसमत्या-कम्मसहा कम्मसहायकत्व प्रतिभवतः**। अर्थात्—अब हम काम करने में समर्थ हैं, आपके कामों में सहायता करने में भी। **लोगो भविस्सइ**—तुम्हारा इहलोक—परलोक बनेगा—सुधरेगा। **जे पोसे पिउमातरं**—जो पुत्र पिता-माता का पालनपोषण करता है। इसके बदले पाठान्तर है—'**जे पालंति य मातरं**। अर्थ होता है—जो पुत्र होते हैं,

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८४ से ८६ तक का सार

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४२४ से ४३४ तक के आधार पर

वे माता और अन्य गुरुजनों का पालन करते हैं। उत्तरा='उत्तरोत्तरजाता' यानी एक के बाद एक जन्मे हुए। कहीं-कहीं 'उत्तमा' पाठान्तर भी है; अर्थ होता है—सुन्दर श्रेष्ठ महुरुल्लावा=मधुरो—मनोज्ञ उल्लापः—आलापो तेषां ते तथाविधाः, जिनकी बोली मधुर—मनोज्ञ है, गंतु—घर जाकर अपने स्वजन-वर्ग को देखकर। अकामगं=अनिच्छन्तं—गृहव्यापारेच्छारहितं=घर के कामकाज करने की इच्छा से रहित (अनिच्छुक)। परक्कमं=स्वेच्छानुसार अवसर प्राप्त किसी काम को करने से। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—परक्कमंतं अर्थ किया गया है—अपनी रुचि अनुसार पराक्रम करते हुए तुम को। हत्थीवा वि नवग्गहे=नये पकड़े हुए हाथी की तरह।' 'सूतीगोव्व'=प्रसूता गाय की तरह। पाताला व अतारिया=अतल समुद्र की तरह दुस्तर। मालुया=लता। असमाहिणा=असमाधि पैदा करने वाले रुदन-विलापादि कृत्यों से। चूर्णिकार असमाधिता पाठान्तर भी मानते हैं। अर्थ है—असमाधिपन। कीवाजत्थ य कीसंति—असमर्थ साधक इन अनुकूल उपसर्गों के आने पर क्लेश (जन्ममरणादिरूप संसार भ्रमण का दुःख) पाते हैं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—कीवा जत्थावकीसंति—अल्पसत्व साधक जिस उपसर्ग के आने पर मोक्षगुण से या धर्म से अपकृष्ट—दूर हो जाते हैं। एक और चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—कीवा जत्थ विसण्णे सी=कीवा जत्थ विसण्णं एसंतीति विसण्णेसी······विसण्णा वा आसन्ति विसण्णासी। अर्थात्—जहाँ कायर साधक विषाद को प्राप्त करते हैं, अथवा विषण्ण होकर बैठ जाते हैं। महासंवा—महान् कर्मों के आस्रवद्वार हैं। अहिमे—अथ का अर्थ है—इसके अनन्तर ये (पूर्वोक्त स्वजन संगरूप उपसर्ग)। 'अहो इमे' इस प्रकार का पाठान्तर भी वृत्तिकार ने सूचित किया है। जिसका अर्थ होता है—आश्चर्य है, ये प्रत्यक्ष निकटवर्ती एवं सर्वजन-विदित। अवसप्पंति—अप्रमत्तता-सावधानीपूर्वक उससे दूर हट जाते हैं।[७]

भोग निमंत्रण रूप उपसर्ग : विविध रूपों में—

१९६. **रायाणो रायमच्चा य माहणाऽदुव खत्तिया।**
निमंतयंति भोगेहिं भिक्खुयं साहुजीविणं॥ १५॥

१९७. **हत्थऽस्स-रह-जाणेहिं विहारगमणेहि य।**
भुंज भोगे इमे सग्घे महरिसी पूजयामु तं॥ १६॥

१९८. **वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।**
भुंजाहिमाइं भोगाइं आउसो पूजयामु तं॥ १७॥

१९९. **जो तुमे नियमो चिण्णो भिक्खुभावम्मि सुव्वता।**
अगारमावसंतस्स सव्वो संविज्जए तहा॥ १८॥

२००. **चिरं दूइज्जमाणस्स दोसो दाणि कुतो तव।**
इच्चेव णं निमंतेंति नीवारेण व सूयरं॥ १९॥

---

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८४ से ८६ तक
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ३४-३५

२०१. चोदिता भिक्खुचज्जाए अचयंता जवित्तए।
तत्थ मंदा विसीयंति उज्जाणंसि व दुब्बला ॥ २० ॥

२०२. अचयंता व लूहेण उवहाणेण तज्जिता।
तत्थ मंदा विसीयंति उज्जाणंसि जरग्गवा ॥ २१ ॥

२०३. एवं निमंतणं लद्धु मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु।
अज्झोववण्णा कामेहिं चोइज्जंता गिहं गया ॥ २२ ॥ त्ति बेमि।

१९६. राजा-महाराजा और राजमन्त्रीगण, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय साध्वाचार (उत्तमाचार) जीवी भिक्षु को विविध भोग भोगने के लिए निमन्त्रित करते हैं।

१९७. हे महर्षे ! ये हाथी, घोड़े, रथ और पालकी आदि सवारियों पर आप बैठिये और मनोविनोद या आमोद-प्रमोद के लिए बाग-बगीचों में सैर करिए। इन उत्तमोत्तम (श्लाघ्य) भोगों का (मनचाहा) उपभोग कीजिए। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा (आदर-सत्कार) करते हैं।

१९८. हे आयुष्मन् ! वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, ललनाएँ और शय्या तथा शयनसामग्री, इन भोगों (—भोगसामग्री) का मनचाहा उपभोग करें। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं।

१९९. हे सुन्दर व्रतधारी (मुनिवर) ! मुनिभाव में (रहते हुए) जिस नियम (महाव्रतादि यम-नियम) का आपने आचरण (अनुष्ठान) किया है, वह सब घर (गृहस्थ) में निवास करने पर भी उसी तरह (पूर्ववत्) बना रहेगा।

२००. (हे साधकवर !) चिरकाल से (संयमाचरणपूर्वक) विहरण करते हुए आपको अब (भोगों का उपभोग करने पर भी) दोष कैसे (लग सकता है) ? (इस प्रकार लोभ दिखाकर) जैसे चावलों के दानों (के प्रलोभन) से सूअर को फँसा लेते हैं, इसी प्रकार (विविध भोगों का) निमन्त्रण देकर (साधु को गृहवास में फँसा लेते हैं।)

२०१. संयमी साधुओं की चर्या (समाचारी-पालन) के लिए (आचार्य आदि के द्वारा) प्रेरित संयमी जीवन यापन करने में असमर्थ, मन्द (अल्पपराक्रमी) साधक उस उच्च संयम मार्ग पर प्रयाण करने में उसी तरह दुर्बल (मनोदुर्बल) होकर बैठ जाते हैं जिस तरह ऊँचे मार्ग के चढ़ाव में मरियल बैल दुर्बल होकर बैठ जाते हैं।

२०२. रुक्ष (संयम) के पालन में असमर्थ तथा तपस्या से पीड़ा पाने वाले मन्द (अल्पसत्व अदूरदर्शी) साधक उस उच्च संयम मार्ग पर चलने में उसी प्रकार कष्ट महसूस करते हैं, जिस प्रकार ऊँचे चढ़ाई वाले मार्ग पर चलने में बूढ़े बैल कष्ट-अनुभव करते हैं।

२०३. इस (पूर्वोक्त) प्रकार से भोग-भोगने के लिए निमन्त्रण पाकर विविध भोगों में मूर्च्छित (अत्यासक्त) स्त्रियों में गृद्ध—मोहित एवं काम-भोगों में रचे-पचे दत्तचित्त(—कई साधुवेषी) (उच्चाचारपरायण आचार्यादि द्वारा संयम पालनार्थ) प्रेरित किये जाने पर भी घर (गृहवास) को चले गये।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—भोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग और उनसे पराजित साधक—प्रस्तुत आठ सूत्र गाथाओं (१९६ से २०३ तक) में साधु-जीवन में भोग निमन्त्रणरूप उपसर्ग कैसे-कैसे और किस रूप के अनुसार किनके निमित्त से आते हैं और मोहमूढ़ मनोदुर्बल साधक कैसे उन भोगों के जाल में फँस जाते हैं ? विस्तार पूर्वक यह वर्णन किया, गया है।

भोगों का निमन्त्रण देने वाले—सूत्रगाथा १९६ के अनुसार साधु को भोगों का निमन्त्रण देकर काम-भोगों एवं गृहवास के जाल में फँसाने वाले ४ कोटि के लोग होते हैं—(१) राजा-महाराजादि, (२) राजमन्त्री वर्ग, (३) ब्राह्मण वर्ग एवं (४) क्षत्रिय वर्ग। भोगपरायण शासक वर्ग ही प्रायः भोग निमन्त्रणदाता प्रतीत होते हैं। वे अपने किसी लौकिक स्वार्थवश या स्वार्थपूर्ति हो जाने के बाद अथवा स्वयं के भोग में साधु बाधक न बने इस कारण साधुओं को भी अपने जैसा भोगासक्त बना देने का कुचक्र चलाते हैं। जैसे-ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चित्त (चित्र) नामक साधु को विविध विषयों के उपभोग के लिए आमंत्रित किया था।

भोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग किस-किस रूप में ?—प्रथमरूप—पहले तो समुच्चय रूप से वे साधु को भोगों के लिए इस प्रकार आमंत्रित करते हैं—पधारिये, मुनिवर ! आप हमारे घर को पावन कीजिए। जितने दिन आपकी इच्छा हो, खुशी से रहिये, आपके लिये यहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ हैं। शास्त्रकार कहते हैं—**निमंतयंति भोगेहिं ······साहुजीविणं ।**

दूसरा रूप—इस पर जब सुविहित साधु सहसा भोगों का आसेवन करने में संकोच करता है, तब वे अपने यहाँ लाकर उन्हें खुल्लमखुल्ला भोग प्रलोभन देते हैं—'देखिये, महात्मन् ! ये हाथी, घोड़े, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके लिए प्रस्तुत हैं। आपको मेरे गुरु होकर पैदल नहीं चलना है। इनमें जो भी सवारी आपको अभीष्ट हो, उसका मन चाहा उपयोग करें। और जब कभी आपका मन उचट जाए और सैर करने की इच्छा हो तो ये बाग-बगीचे हैं, इनमें आप मनचाहा भ्रमण करें, ताजे फूलों की सुगन्ध लें, प्राकृतिक सौन्दर्य की बहार का आनन्द लूटें। अथवा यह भी कह सकते हैं—'इन्द्रियों और मन को रंजित करने वाले अन्य खेलकूद, नाचगान, रंग राग आदि विहारों का भी आनन्द लें।' 'हम आपके परमभक्त हैं। आप जो भी आज्ञा देंगे, उसे हम सहर्ष शिरोधार्य करेंगे, आपकी पूजा प्रतिष्ठा में कोई कमी न आने देंगे। शास्त्रकार कहते हैं—"**हत्थऽस्स·······पूजयामु तं ।**'

तीसरा रूप—जब वे यह देखते हैं कि जब यह साधु इतनी भोग्य-सामग्री एवं सुख-सुविधाओं का उपभोग करने लग गया है, तब अन्तरंग मित्र बनकर संयम विघातक अन्यान्य भोगसामग्री के लिए आमन्त्रण देते हैं—महाभाग ! आयुष्मन् ! आप हमारे पूज्य हैं, आपके चरणों में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ भोगसामग्री अर्पित है। आप इन उत्तमभोग्य साधनों का उपभोग करेंगे तो हम अपना अहोभाग्य समझेंगे ये चीनांशुक आदि मुलायम रेशमी वस्त्र हैं, ये इत्र, तेल, फुलैल, सुगन्धित चूर्ण, पुटपाक, आदि सुगन्धित पदार्थ हैं, ये हैं कड़े, बाजूबन्द, हार, अंगूठी आदि आभूषण, ये नवयुवती गौरवर्णा मृगनयनी सुन्दरियाँ हैं, ये गद्दे, तकिये, पलंग, पलंगपोश, मखमली शय्या आदि शयनीय सामग्री है, यह सब इन्द्रियों और मन को प्रसन्न करने वाली उत्तमोत्तम भोग्य सामग्री है। आप इनका खुलकर जी चाहा उपयोग करके अपने जीवन को सार्थक करें। हम इन भोग्यपदार्थों से आपका सत्कार करते हैं।'

इस प्रकार का खुला आमन्त्रण पाने पर भी साधु के मन में संकोच होता है कि मुझे इन पदार्थों का उपभोग करते देख नये बने हुए राजा आदि भक्तों के मन में कदाचित् अश्रद्धा-अप्रतिष्ठा का भाव पैदा हो, इस संकोच के निवारणार्थ साधु को आश्वस्त करते हुए वे कहते हैं—हे पूज्य ! आप निश्चिन्त रहें। इन चीजों के उपभोग से आपकी पूजा-प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आएगी। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं। राजा या समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति सत्कार सम्मान करता है तो जनता तो अवश्य ही करेगी, क्योंकि साधारण जनता तो श्रेष्ठ कहलाने वाले व्यक्तियों का अनुसरण करती है।' इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—**वत्थगंध''''आउसो पूजयामु तं :''** साधु को पूजा-प्रतिष्ठा की ओर से आश्वस्त करने हेतु शास्त्रकार 'पूजयामु तं' वाक्य का दो गाथाओं में प्रयोग करते हैं।

चौथा रूप—कई साधनाशील साधक इन संयम विघातक भोगों का खुला उपभोग करके भिक्षुभाव से गृहवास में जाने से यों कतराते हैं कि ऐसा करने से हमारे यम-नियम आदि सब भंग हो जाएँगे, आज तक की-कराई संयम साधना चौपट हो जायगी। अतः सुविहित एवं संकोचशील साधु को आश्वस्त करने एवं गृहवास में फँसाने की दृष्टि से वे कहते हैं—हे सुव्रतधारिन् महामुने ! आपने मुनिभाव में महाव्रत आदि यम-नियमों का पालन किया है, गृहवास में जाने पर वे उसी तरह बरकरार रहेंगे, उनका फल कभी समाप्त नहीं होगा, या गृहवास में भी वे पूर्ववत् पाले जा सकेंगे, उनका फल भी पूर्ववत् मिलता रहेगा, क्योंकि स्वकृत पुण्य-पाप के फल का कभी नाश नहीं होता। अतः नियमभंग के भय से सुखोपभोग करने में संकोच न कीजिए। इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—**''जो तुमे नियमो चिण्णो''''''''सव्वो संविज्जए तहा।''**

पांचवाँ रूप—इतना आश्वासन देने के बावजूद भी सुसंयमी साधु का मन सहसा यह सोचकर गृहवास में जाने को तैयार नहीं होता कि गृहस्थावास में जाने से मुझे पूर्व स्वीकृत यम-नियमों को भंग करने का महादोष लगेगा, अतः वे फिर दूसरा पासा फैंकते हैं—''साधकवर ! आपने बहुत वर्षों तक संयम में रमण कर लिया, यम-नियमों से युक्त होकर विहार कर लिया, अब आप अनायास प्राप्त उन भोगों को निर्लिप्त भाव से भोगेंगे तो आपको कोई भी दोष नहीं लगेगा। इसी आशय को शास्त्रकार व्यक्त करते हैं—'**चिरं दूइज्जमाणस्स''''''''कुतो तव ?**

उपसर्ग के प्रभाव—ये और इस प्रकार के अन्य अनेक भोग निमन्त्रणरूप उपसर्ग के रूप हो सकते हैं। इस प्रकार के अनुकूल उपसर्ग हैं; जिन पर विजय करने में कच्चा साधक असमर्थ रहता है। एक बार भोग बुद्धि साधु के हृदय में उत्पन्न हुई कि फिर पतन का दौर शुरू हो जाता है, फिर वह उत्तरोत्तर फिसलता ही चला जाता है। जैसे लोग चावलों के दाने डालकर सूअर को फँसा लेते हैं, वैसे ही भोगवृत्ति-परायण लोग भोग सामग्री के टुकड़े डालकर साधु को भोगों के जाल में या गृहवास में फंसा लेते हैं। यह इस उपसर्ग का प्रथम प्रभाव हैं।

दूसरा प्रभाव—यह होता है कि जो साधक पूर्वोक्त भोग निमन्त्रण के प्रलोभन में फंसकर एक बार संयम में शिथिल हो जाता है, भोगपरायण बन जाता है, वह साधुचर्या के लिए प्रेरित किये जाने पर भी उसे क्रियान्वित नहीं कर पाता। संयम का नाम उसे नहीं सुहाता।

तीसरा प्रभाव—वह फिर संयम पालनपूर्वक जीवनयापन करने में असमर्थ हो जाता है। उसे रात-दिन भोग्य सामग्री पाने की धुन लगी रहती है।

चौथा प्रभाव—मन्द पराक्रमी (शिथिलाचारी) साधक उच्च संयमाचरण में फिर इतने दुर्बल होकर बैठ जाते हैं, जैसे मरियल बैल ऊँचे चढ़ाई वाले मार्ग पर चलने में अशक्त होकर बैठ जाता है। आशय यह है कि फिर वह पंचमहाव्रत तथा साधुसमाचारी के भार को वहन करने में अशक्त, मनोदुर्बल होकर संयमभार को त्याग कर या संयम में शिथिल होकर नीची गर्दन करके बैठ जाता है।

पाँचवाँ प्रभाव—फिर वे कठोर एवं नीरस संयम का पालन करने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं।

छठा प्रभाव—तपस्या का नाम सुनते ही उनको बैचेनी हो जाती है। तपस्या से उन्हें बिच्छु के डंक-सी पीड़ा हो जाती है।

सातवाँ प्रभाव—बूढे बैल जैसे ऊँची-चढ़ाई वाले मार्ग में कष्ट पाते हैं, वैसे ही वे संयम से हारे-थके, अनुकूल उपसर्ग से पराजित विवेकमूढ़ साधक संयम साधना की ऊँचाइयों पर चढ़ने में पद-पद पर कष्टानुभव करते हैं।

आठवां प्रभाव—वे फिर नाना भोग सामग्री में लुब्ध-मूर्च्छित हो जाते हैं, कामिनियों के प्रणय में आबद्ध—आसक्त हो जाते हैं, और कामभोगों में अधिकाधिक ग्रस्त रहते हैं।

नौवा प्रभाव—ऐसे कामि-भोगासक्त साधकों को फिर आचार्य आदि कितनी ही प्रेरणा दें, संयमी संयम जीवन में रहने की, किन्तु वे बिलकुल नहीं सुनते और गृहस्थजीवन स्वीकार करके ही दम लेते हैं। वे संयम में नहीं टिकते।

पिछली साढ़े तीन गाथाओं (सू० गा० २०० के उत्तरार्द्ध से लेकर सू० गा० २०३ तक) द्वारा शास्त्रकार ने उपभोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग के मन्दसत्व साधक पर नौ प्रभावों का उल्लेख किया है।[८]

पाठान्तर—*'भिक्खुभावम्मि सुव्वता'* के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—*'सव्वो सो चिट्ठती तधा'* अर्थ होता है (जो भी तुमने आज तक यम-नियमों का आचरण किया है) वह सब ज्यों का त्यों (वैसा ही) रहेगा।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**नीवारेण**=वृत्तिकार के अनुसार—**'व्रीहिविशेषकणदानेन**—विशेष प्रकार के चावलों के कण डालकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**णीयारेण**—अर्थ है—**णीयारे कुण्डगादि**—चावल आदि देकर। **उज्जाणं सि**=चूर्णिकार के अनुसार—*ऊर्ध्वं यानम् उद्यानम् तच्च नदी, तीर्थ-स्थलं गिरिपब्भारो वा'* ऊर्ध्वयान=चढ़ाई को उद्यान कहते है, वह हैं नदीतट, तीर्थस्थल पर्वतशिखर उस पर गमन करने में। वृत्तिकार के अनुसार—*ऊर्ध्वं यानमुद्यानम् मार्गस्योन्नतो भाग; उट्टङ्कमित्यर्थः तस्मिन्नुद्यानशिरसि।* अर्थात्—मार्ग का उन्नत ऊँचा या उठा हुआ भाग उद्यान है। उस उद्यान के लिए-चोटी पर दूसरी बार उज्जाणंसि के बदले (२०२ सू० गाथा में) **पंकंसि** पाठान्तर चूर्णिसम्मत प्रतीत होता है, क्योंकि इस वाक्य की व्याख्या चूर्णिकार ने की है—**पंके जीर्णगौः जरद्गववत्**! अर्थात् कीचड़ में फँसे हुए बूढ़े बैल की तरह।[९]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पृ० ८६ से ८८ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४३५ से ४४३ तक के आधार पर

९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८६ से ८८ तक
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ ३६-३७

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

आत्म-संवेदनरूप उपसर्ग : अध्यात्म विषाद के रूप में—

२०४. जहा संगामकालम्मि पिट्ठतो भीरु पेहति ।
वलयं गहणं णूमं को जाणेइ पराजयं ॥ १ ॥

२०५. मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स मुहुत्तो होति तारिसो ।
पराजियाऽवसप्पामो इति भीरु उवेहति ॥ २ ॥

२०६. एवं तु समणा एगे अबलं नच्चाण अप्पगं ।
अणागतं भयं दिस्स अवकप्पंतिमं सुयं ॥ ३ ॥

२०७. को जाणति विओवातं इत्थीओ उदगाओ वा ।
चोइज्जंता पवक्खामो न णे अत्थि पकप्पितं ॥ ४ ॥

२०८. इच्चेवं पडिलेहंति वलाइ पडिलेहिणो ।
वितिगिञ्छ समावण्णा पंथाणं व अकोविया ॥ ५ ॥

२०४. जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष पीछे की ओर गड्डा, (वृक्षों और बेलों से) आच्छादित गहन तथा प्रच्छन्न स्थान (पर्वत की गुफा आदि) देखता है। (वह सोचता है—) कौन जाने (कि युद्ध में) किसकी हार होगी ?

२०५. बहुत-से मुहूर्तों में से, अथवा एक ही मुहूर्त में कोई ऐसा अवसर विशेष (मुहूर्त) होता है, (जिसमें जय या पराजय सम्भव है।) (अतः शत्रु के द्वारा) पराजित होकर जहाँ भाग (कर छिप) जाएँ ऐसे स्थान के सम्बन्ध में कायर पुरुष (पहले से) सोचता (ढूँढता) है।

२०६. इसी प्रकार कई श्रमण अपने आपको जीवन-पर्यन्त संयम-पालन करने में दुर्बल (असमर्थ) जानकर तथा भविष्यकालीन भय (खतरा) देखकर यह (व्याकरण, ज्योतिष; वैद्यक आदि) शास्त्र (मेरे जीवननिर्वाह का साधन बनेगा,) ऐसी कल्पना कर लेते हैं।

२०७. कौन जानता है—मेरा पतन (संयम से पतन) स्त्री-सेवन से या (स्नानादि के लिए) सचित्त जल के उपयोग से हो जाए ? (या और किसी उपसर्ग से पराजित होने से हो जाए ?) (ऐसी स्थिति में) मेरे पास पूर्वोपार्जित द्रव्य भी नहीं है। अतः किसी के द्वारा पूछे जाने पर हम हस्तिशिक्षा, धनुर्वेद आदि विद्याएँ बता देंगे।

२०८. (मैं इस संयम का पालन कर सकूंगा या नहीं ?)इस प्रकार के संशय (विचिकित्सा) से घिरे हुए (आकुल), (मोक्षपथ के विषय में) अनिपुण (अनभिज्ञ) अल्प पराक्रमी कच्चे साधक भी(युद्ध के समय) गड्डा (या छिपने का स्थान) आदि ढूंढ़ने वाले कायर पुरुषों के समान (संयमविघातक रास्ते) ढूंढते हैं।

विवेचन—आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग : प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं (२०४ से २०८ तक) में संयमपालन में अल्पसत्व कायर साधक के मन में होने वाले भय, कुशंका और अस्वस्थ चिन्तन का निरूपण कायर योद्धा के साथ तुलना करते हुए किया गया है।

युद्ध के समय कायर पुरुष के चिन्तन के विविध पहलू—जब रणभेरी वजती है, युद्ध प्रारम्भ होता है, तव युद्ध विद्या में अकुशल, मनोदुर्वल, कायर योद्धा सोचता है—(१) पता नहीं इस युद्ध में किसकी हार या जीत होगी ? (२) युद्ध क्षेत्र में शत्रुपक्ष के वड़े-वड़े योद्धा उपस्थित हैं, दुर्भाग्य से हार हो गई तो फिर प्राण वचाने मुश्किल होंगे, अतः पहले से ही भाग कर छिपने का स्थान ढूंढ़ लेना चाहिए। (३) वह स्थान इतना गहरा तथा वेलों और झाड़ियों से कमर तक ढका हुआ होना चाहिए कि शत्रु पीछा न कर सके, न पता लगा सके। (४) पता नहीं युद्ध कितने लम्वे समय तक चले, (५) इतने लम्बे काल तक युद्ध चलने के वाद भी विजय या पराजय की घड़ी तो एक ही बार आएगी। (६) उस घड़ी में हम शत्रु से हार खा गये तो फिर कहीं के न रहेंगे। अतः पहले से ही भाग कर छिपने का गुप्त स्थान ढूंढ लेना अच्छा है।"

संयम-पालन में कायर, संशयशील एवं मनोदुर्वल साधकों का चिन्तन—संयम पालन में उपस्थित होने वाले परिषह-उपसर्गरूप शत्रुओं से जीवन के अन्त तक जूझना और उन पर विजय पाना भी संशयशील मनोदुर्बल एवं कायर साधकों के लिए अत्यन्त कठिन होता है, इसलिए ऐसे नाजुक साधक कोई भी परीषह और उपसर्ग उपस्थित न हो तो भी मन से इनकी कल्पना करके स्वयं को भारी विपत्ति में फंसा हुआ मान लते हैं। वे संयम को भारभूत समझते हैं, और कायर योद्धा की तरह उन जरा-जरा-सी कठिनाइयों से बचने तथा संयममार्ग से पराजित होने पर अपने जीवन को बचाने और जीवनयापन करने के संयम विघातक तरीके सोच लेते हैं। उनके अस्वस्थ चिन्तन के ये पहलू हैं—(१) यहाँ रूखा-सूखा और ठन्डा आहार मिलता है। सो भी भोजन का समय वीत जाने पर, और वह भी नीरस। प्रव्रजित साधक को भूमि पर सोना पड़ता है। फिर लोच करना, स्नान न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना इत्यादि संयमाचरण कितना कठोर और कठिन है ! और फिर इस प्रकार कठोर संयमपालन एक-दो दिन या वर्ष तक नहीं, जीवन भर करना है। यह मुझसे सुकोमल, सुकुमार और आराम से पले हुए व्यक्ति से कैसे हो सकेगा ? हाय ! मैं तो इस बन्धन में फंस गया ! (२) जीवन भर चारित्रपालन में अब मैं असमर्थ हूँ। अतः संयमत्याग करना ही मेरे लिए ठीक है। परन्तु संयम त्याग करने से सर्व-प्रथम मेरे समक्ष जीविका का संकट उपस्थित होगा, जीविका का कोई न कोई साधन हुए विना मैं सुख से कैसे जी सकूंगा ? (३) इस संकट से बचने तथा सुख से जीवनयापन करने के लिए मैं अपनी सीखी हुई गणित, ज्योतिष, वैद्यक. व्याकरण और होराशास्त्र आदि विद्याओं का उपयोग करूँगा। (४) ओ हो ! मैं बहुत दूर चला गया। यह कौन जानता है कि संयम से पतन स्त्री-सेवन से या सचित्त (कच्चे) पानी के उपयोग से ? या और किसी उपसर्ग से होगा ! (५) फिर पता नहीं, मैं किस उपसर्ग से, कब संयम से भ्रष्ट हो जाऊँ ? (६) मान, लो मैं संयम से भ्रष्ट हो गया तो फिर तो मैं घर का रहा, न घाट का ! मेरे पास पहले का कमाया हुआ कोई धन भी नहीं है, बड़ी समस्या खड़ी होगी, मेरे सामने। (७) कोई पूछेगा कि संयमत्याग करने के वाद आप क्या करेंगे, कैसे जीयेंगे ? तो हम झूठ-मूठ यहीं कहेंगे कि हमारे पास हस्तिविद्या, धनुर्वेद आदि विद्याएँ हैं, उन्हीं का उपयोग हम करेंगे ! (८) कभी वह सहसा संशयशील

बन जाता है, और इस प्रकार के संशयों में डूबता-उतराता रहता है—(क) पता नहीं, मैं जीवन के अन्त तक संयमपालन कर सकूँगा या नहीं ? (ख) यदि सचमुच ही मुझे संयम छोड़ना पड़ा तो मेरे लिए कौन-सा मार्ग हितकर होगा ? (ग) फिर इतने कठोर संयम के पालन का फल भी मिलेगा या नहीं ? यदि कुछ भी अच्छा फल न मिला तो इस व्यर्थ कष्ट सहन से क्या लाभ ? (घ) इससे तो बेहतर यही था कि मैं आराम की जिन्दगी जीता, यहाँ तो पद-पद पर कष्ट है। परन्तु आराम की जिन्दगी जीने के साधन न हुए तो मैं कैसे इसमें सफल हो पाऊँगा ? (ङ) क्या मेरी पहली सीखी हुई विद्याएँ काम नहीं आएँगी ? (च) पर वे तो मोक्षमार्ग या संयम मार्ग से विरुद्ध होंगी; ऐसी स्थिति में अशुभकर्मों का बंध होने से मुझे सुख के बदले फिर दुःख ही दुःख नहीं उठाने पड़ेंगे ?

इस प्रकार अल्पसत्त्व साधक की चित्तवृत्ति डांवाडोल एवं संशयशील हो जाती है। वह **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** जैसी स्थिति में पड़ जाता है। फलतः वह अपनी तामसिक एवं राजसी बुद्धि से अज्ञान एवं मोह से प्रेरित संयम विरुद्ध चिन्तन और तदनुरूप कुकृत्य करता है।[2] फिर भी उस अभागे का मनोरथ सिद्ध नहीं होता। ये सब आध्यात्मिक विषाद के रूप में स्वसंवेदन रूप उपसर्ग के नमूने हैं। जिनसे कायर साधक पराजित हो जाता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—वलयं=यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम्, उदक रहिता वा गर्त्ता दुःखनिर्गमन प्रवेशा=अर्थात् वलय का अर्थ है—जहाँ पानी वलय-चूड़ी के आकार के समान ठहरा हुआ हो। अथवा वलय का अर्थ है—जल से रहित सूखा गहरा गड्ढा, जिसमें कठिनता से निकलना और प्रवेश करना हो सके। **गहणं=धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीयम्**—गहन का अर्थ है—वह वन या स्थान जो धव (खैर) आदि वृक्षों से मनुष्य की कमर तक आच्छादित हो। **नूमं='प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम्'**—अर्थात्—प्रच्छन्न (गुप्त) पर्वत-गुफा आदि स्थान। **अवसप्पामो=नश्यामः**। अर्थात्—भाग सकें या भागकर छिप सकें। **उवेहति=** उत्प्रेक्षा करता है—कल्पना करता है। "अवकप्पंति=अवकल्पयन्ति, मन्यन्ते।" अर्थात्—व्याकरणादि शास्त्रों को संकट के समय रक्षा के लिए उपयुक्त मान लेते हैं **विओवातं**—चूर्णिकार के अनुसार—**'विओवातो णाम व्यापातः'** अर्थात्—विओवातो का अर्थ है—व्यापात—विशेषरूप से (संयम से) पतन या विनाश। **न णे अत्थि पकप्पितं**=हमारे पास अपना प्रकल्पित पूर्वोपार्जित द्रव्य कुछ नहीं है, **वितिगिच्छा समावण्णा='विचिकित्सा**—चित्तविप्लुति। अर्थात् विचिकित्सा का अर्थ चित्त की उछलकूद है, मैंने यह जो संयमभार उठाया है, इसे मैं अन्त तक पार लगा सकूँगा या नहीं ? इस प्रकार के संशय से घिरे हुए।[3]

आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग विजयी वीर साधक—

२०९. जे उ संगामकालम्मि नाता सूरपुरंगमा।
ण ते पिट्ठमुवेहंति किं परं मरणं सिया ॥ ६ ॥

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २ पृ० ४४

२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८८-८९ के आधार पर

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ८८-८९
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण), पृ० ३७

विवेचन—आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग : प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं (२०४ से २०८ तक) में संयमपालन में अल्पसत्व कायर साधक के मन में होने वाले भय, कुशंका और अस्वस्थ चिन्तन का निरूपण कायर योद्धा के साथ तुलना करते हुए किया गया है।

युद्ध के समय कायर पुरुष के चिन्तन के विविध पहलू—जब रणभेरी वजती है, युद्ध प्रारम्भ होता है, तब युद्ध विद्या में अकुशल, मनोदुर्बल, कायर योद्धा सोचता है—(१) पता नहीं इस युद्ध में किसकी हार या जीत होगी ? (२) युद्ध क्षेत्र में शत्रुपक्ष के बड़े-बड़े योद्धा उपस्थित हैं, दुर्भाग्य से हार हो गई तो फिर प्राण बचाने मुश्किल होंगे, अत: पहले से ही भाग कर छिपने का स्थान ढूंढ़ लेना चाहिए। (३) वह स्थान इतना गहरा तथा वेलों और झाड़ियों से कमर तक ढका हुआ होना चाहिए कि शत्रु पीछा न कर सके, न पता लगा सके। (४) पता नहीं युद्ध कितने लम्बे समय तक चले, (५) इतने लम्बे काल तक युद्ध चलने के बाद भी विजय या पराजय की घड़ी तो एक ही बार आएगी। (६) उस घड़ी में हम शत्रु से हार खा गये तो फिर कहीं के न रहेंगे। अतः पहले से ही भाग कर छिपने का गुप्त स्थान ढूंढ लेना अच्छा है।"

संयम-पालन में कायर, संशयशील एवं मनोदुर्बल साधकों का चिन्तन—संयम पालन में उपस्थित होने वाले परिषह-उपसर्गरूप शत्रुओं से जीवन के अन्त तक जूझना और उन पर विजय पाना भी संशयशील मनोदुर्बल एवं कायर साधकों के लिए अत्यन्त कठिन होता है, इसलिए ऐसे नाजुक साधक कोई भी परीषह और उपसर्ग उपस्थित न हो तो भी मन से इनकी कल्पना करके स्वयं को भारी विपत्ति में फंसा हुआ मान लेते हैं। वे संयम को भारभूत समझते हैं, और कायर योद्धा की तरह उन जरा-जरा-सी कठिनाइयों से बचने तथा संयममार्ग से पराजित होने पर अपने जीवन को बचाने और जीवनयापन करने के संयम विघातक तरीके सोच लेते हैं। उनके अस्वस्थ चिन्तन के ये पहलू हैं—(१) यहाँ रूखा-सूखा और ठन्डा आहार मिलता है। सो भी भोजन का समय बीत जाने पर, और वह भी नीरस। प्रव्रजित साधक को भूमि पर सोना पड़ता है। फिर लोच करना, स्नान न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना इत्यादि संयमाचरण कितना कठोर और कठिन है ! और फिर इस प्रकार कठोर संयमपालन एक-दो दिन या वर्ष तक नहीं, जीवन भर करना है। यह मुझसे सुकोमल, सुकुमार और आराम से पले हुए व्यक्ति से कैसे हो सकेगा ? हाय ! मैं तो इस वन्धन में फंस गया ! (२) जीवन भर चारित्रपालन में अब मैं असमर्थ हूँ। अत: संयमत्याग करना ही मेरे लिए ठीक है। परन्तु संयम त्याग करने से सर्व-प्रथम मेरे समक्ष जीविका का संकट उपस्थित होगा, जीविका का कोई न कोई साधन हुए विना मैं सुख से कैसे जी सकूंगा ? (३) इस संकट से वचने तथा सुख से जीवनयापन करने के लिए मैं अपनी सीखी हुई गणित, ज्योतिष, वैद्यक. व्याकरण और होराशास्त्र आदि विद्याओं का उपयोग करूँगा। (४) ओ हो ! मैं वहुत दूर चला गया। यह कौन जानता है कि संयम से पतन स्त्री-सेवन से या सचित्त (कच्चे) पानी के उपयोग से ? या और किसी उपसर्ग से होगा ! (५) फिर पता नहीं, मैं किस उपसर्ग से, कब संयम से भ्रष्ट हो जाऊँ ? (६) मान, लो मैं संयम से भ्रष्ट हो गया तो फिर तो मैं घर का रहा, न घाट का ! मेरे पास पहले का कमाया हुआ कोई धन भी नहीं है, वड़ी समस्या खड़ी होगी, मेरे सामने। (७) कोई पूछेगा कि संयमत्याग करने के वाद आप क्या करेंगे, कैसे जीयेंगे ? तो हम झूठ-मूठ यहीं कहेंगे कि हमारे पास हस्तिविद्या, धनुर्वेद आदि विद्याएँ हैं, उन्हीं का उपयोग हम करेंगे ! (८) कभी वह सहसा संशयशील

वन जाता है, और इस प्रकार के संशयों में डूबता-उतराता रहता है—(क) पता नहीं, मैं जीवन के अन्त तक संयमपालन कर सकूँगा या नहीं ? (ख) यदि सचमुच ही मुझे संयम छोड़ना पड़ा तो मेरे लिए कौन-सा मार्ग हितकर होगा ? (ग) फिर इतने कठोर संयम के पालन का फल भी मिलेगा या नहीं ? यदि कुछ भी अच्छा फल न मिला तो इस व्यर्थ कष्ट सहन से क्या लाभ ? (घ) इससे तो बेहतर यही था कि मैं आराम की जिन्दगी जीता, यहाँ तो पद-पद पर कष्ट है। परन्तु आराम की जिन्दगी जीने के साधन न हुए तो मैं कैसे इसमें सफल हो पाऊँगा ? (ङ) क्या मेरी पहली सीखी हुई विद्याएँ काम नहीं आएँगी ? (च) पर वे तो मोक्षमार्ग या संयम मार्ग से विरुद्ध होंगी; ऐसी स्थिति में अशुभकर्मों का बंध होने से मुझे सुख के बदले फिर दुःख ही दुःख नहीं उठाने पड़ेंगे ?

इस प्रकार अल्पसत्त्व साधक की चित्तवृत्ति डांवाडोल एवं संशयशील हो जाती है। वह **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** जैसी स्थिति में पड़ जाता है। फलतः वह अपनी तामसिक एवं राजसी बुद्धि से अज्ञान एवं मोह से प्रेरित संयम विरुद्ध चिन्तन और तदनुरूप कुकृत्य करता है।[2] फिर भी उस अभागे का मनोरथ सिद्ध नहीं होता। ये सब आध्यात्मिक विषाद के रूप में स्वसंवेदन रूप उपसर्ग के नमूने हैं। जिनसे कायर साधक पराजित हो जाता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—वलयं=यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम्, उदक रहिता वा गर्त्ता दुःखनिर्गमन प्रवेशा=अर्थात् वलय का अर्थ है—जहाँ पानी वलय-चूड़ी के आकार के समान ठहरा हुआ हो। अथवा वलय का अर्थ है—जल से रहित सूखा गहरा गड्ढा, जिसमें कठिनता से निकलना और प्रवेश करना हो सके। **गहणं=धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीयम्**—गहन का अर्थ है—वह वन या स्थान जो धव (खैर) आदि वृक्षों से मनुष्य की कमर तक आच्छादित हो। **नूमं='प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम्'**—अर्थात्—प्रच्छन्न (गुप्त) पर्वत-गुफा आदि स्थान। **अवसप्पामो=नश्यामः।** अर्थात्—भाग सकें या भागकर छिप सकें। **उवेहति=** उत्प्रेक्षा करता है—कल्पना करता है। "अवकप्पंति=अवकल्पयन्ति, मन्यन्ते।" अर्थात्—व्याकरणादि शास्त्रों को संकट के समय रक्षा के लिए उपयुक्त मान लेते हैं **विओवातं—**चूर्णिकार के अनुसार—**'विओवातो णाम व्यापातः'** अर्थात्—विओवातो का अर्थ है—व्यापात—विशेषरूप से (संयम से) पतन या विनाश। **न णे अत्थि पकप्पितं=**हमारे पास अपना प्रकल्पित पूर्वोपार्जित द्रव्य कुछ नहीं है, **वितिगिच्छा समावण्णा='विचिकित्सा—**चित्तविप्लुति। अर्थात् विचिकित्सा का अर्थ चित्त की उछलकूद है, मैंने यह जो संयमभार उठाया है, इसे मैं अन्त तक पार लगा सकूँगा या नहीं ? इस प्रकार के संशय से घिरे हुए।[3]

आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग विजयी वीर साधक—

२०६. जे उ संगामकालम्मि नाता सूरपुरंगमा।
ण ते पिट्ठमुवेहंति किं परं मरणं सिया॥ ६॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २ पृ० ४४

[2] सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८८-८६ के आधार पर

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ८८-८६

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण), पृ० ३७

विवेचन—आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग : प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं (२०४ से २०८ तक) में संयमपालन में अल्पसत्व कायर साधक के मन में होने वाले भय, कुशंका और अस्वस्थ चिन्तन का निरूपण कायर योद्धा के साथ तुलना करते हुए किया गया है।

युद्ध के समय कायर पुरुष के चिन्तन के विविध पहलू—जब रणभेरी बजती है, युद्ध प्रारम्भ होता है, तब युद्ध विद्या में अकुशल, मनोदुर्बल, कायर योद्धा सोचता है—(१) पता नहीं इस युद्ध में किसकी हार या जीत होगी ? (२) युद्ध क्षेत्र में शत्रुपक्ष के बड़े-बड़े योद्धा उपस्थित हैं, दुर्भाग्य से हार हो गई तो फिर प्राण बचाने मुश्किल होंगे, अतः पहले से ही भाग कर छिपने का स्थान ढूंढ़ लेना चाहिए। (३) वह स्थान इतना गहरा तथा बेलों और झाड़ियों से कमर तक ढका हुआ होना चाहिए कि शत्रु पीछा न कर सके, न पता लगा सके। (४) पता नहीं युद्ध कितने लम्बे समय तक चले, (५) इतने लम्बे काल तक युद्ध चलने के बाद भी विजय या पराजय की घड़ी तो एक ही बार आएगी। (६) उस घड़ी में हम शत्रु से हार खा गये तो फिर कहीं के न रहेंगे। अतः पहले से ही भाग कर छिपने का गुप्त स्थान ढूंढ लेना अच्छा है।"

संयम-पालन में कायर, संशयशील एवं मनोदुर्बल साधकों का चिन्तन—संयम पालन में उपस्थित होने वाले परिषह-उपसर्गरूप शत्रुओं से जीवन के अन्त तक जूझना और उन पर विजय पाना भी संशयशील मनोदुर्बल एवं कायर साधकों के लिए अत्यन्त कठिन होता है, इसलिए ऐसे नाजुक साधक कोई भी परीषह और उपसर्ग उपस्थित न हो तो भी मन से इनकी कल्पना करके स्वयं को भारी विपत्ति में फंसा हुआ मान लेते हैं। वे संयम को भारभूत समझते हैं, और कायर योद्धा की तरह उन जरा-जरा-सी कठिनाइयों से बचने तथा संयममार्ग से पराजित होने पर अपने जीवन को बचाने और जीवनयापन करने के संयम विघातक तरीके सोच लेते हैं। उनके अस्वस्थ चिन्तन के ये पहलू हैं—(१) यहाँ रूखा-सूखा और ठन्डा आहार मिलता है। सो भी भोजन का समय बीत जाने पर, और वह भी नीरस। प्रव्रजित साधक को भूमि पर सोना पड़ता है। फिर लोच करना, स्नान न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना इत्यादि संयमाचरण कितना कठोर और कठिन है ! और फिर इस प्रकार कठोर संयमपालन एक-दो दिन या वर्ष तक नहीं, जीवन भर करना है। यह मुझसे सुकोमल, सुकुमार और आराम से पले हुए व्यक्ति से कैसे हो सकेगा ? हाय ! मैं तो इस बन्धन में फंस गया ! (२) जीवन भर चारित्रपालन में अब मैं असमर्थ हूँ। अतः संयमत्याग करना ही मेरे लिए ठीक है। परन्तु संयम त्याग करने से सर्व-प्रथम मेरे समक्ष जीविका का संकट उपस्थित होगा, जीविका का कोई न कोई साधन हुए बिना मैं सुख से कैसे जी सकूंगा ? (३) इस संकट से बचने तथा सुख से जीवनयापन करने के लिए मैं अपनी सीखी हुई गणित, ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण और होराशास्त्र आदि विद्याओं का उपयोग करूँगा। (४) ओ हो ! मैं बहुत दूर चला गया। यह कौन जानता है कि संयम से पतन स्त्री-सेवन से या सचित्त (कच्चे) पानी के उपयोग से ? या और किसी उपसर्ग से होगा ! (५) फिर पता नहीं, मैं किस उपसर्ग से, कब संयम से भ्रष्ट हो जाऊँ ? (६) मान, लो मैं संयम से भ्रष्ट हो गया तो फिर तो मैं घर का रहा, न घाट का ! मेरे पास पहले का कमाया हुआ कोई धन भी नहीं है, बड़ी समस्या खड़ी होगी, मेरे सामने। (७) कोई पूछेगा कि संयमत्याग करने के बाद आप क्या करेंगे, कैसे जीयेंगे ? तो हम झूठ-मूठ यहीं कहेंगे कि हमारे पास हस्तिविद्या, धनुर्वेद आदि विद्याएँ हैं, उन्हीं का उपयोग हम करेंगे ! (८) कभी वह सहसा संशयशील

बन जाता है, और इस प्रकार के संशयों में डूबता-उतराता रहता है—(क) पता नहीं, मैं जीवन के अन्त तक संयमपालन कर सकूँगा या नहीं ? (ख) यदि सचमुच ही मुझे संयम छोड़ना पड़ा तो मेरे लिए कौन-सा मार्ग हितकर होगा ? (ग) फिर इतने कठोर संयम के पालन का फल भी मिलेगा या नहीं ? यदि कुछ भी अच्छा फल न मिला तो इस व्यर्थ कष्ट सहन से क्या लाभ ? (घ) इससे तो बेहतर यही था कि मैं आराम की जिन्दगी जीता, यहाँ तो पद-पद पर कष्ट है। परन्तु आराम की जिन्दगी जीने के साधन न हुए तो मैं कैसे इसमें सफल हो पाऊँगा ? (ङ) क्या मेरी पहली सीखी हुई विद्याएँ काम नहीं आएँगी ? (च) पर वे तो मोक्षमार्ग या संयम मार्ग से विरुद्ध होंगी; ऐसी स्थिति में अशुभकर्मों का बंध होने से मुझे सुख के बदले फिर दुःख ही दुःख नहीं उठाने पड़ेंगे ?

इस प्रकार अल्पसत्त्व साधक की चित्तवृत्ति डांवाडोल एवं संशयशील हो जाती है। वह **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** जैसी स्थिति में पड़ जाता है। फलतः वह अपनी तामसिक एवं राजसी बुद्धि से अज्ञान एवं मोह से प्रेरित संयम विरुद्ध चिन्तन और तदनुरूप कुकृत्य करता है।[2] फिर भी उस अभागे का मनोरथ सिद्ध नहीं होता। ये सब आध्यात्मिक विषाद के रूप में स्वसंवेदन रूप उपसर्ग के नमूने हैं। जिनसे कायर साधक पराजित हो जाता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**वलयं=यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम्, उदक रहिता वा गर्त्ता दुःखनिर्गमन प्रवेशा**=अर्थात् वलय का अर्थ है—जहाँ पानी वलय-चूड़ी के आकार के समान ठहरा हुआ हो। अथवा वलय का अर्थ है—जल से रहित सूखा गहरा गड्ढा, जिसमें कठिनता से निकलना और प्रवेश करना हो सके। **गहणं=धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीयम्**—गहन का अर्थ है—वह वन या स्थान जो धव (खैर) आदि वृक्षों से मनुष्य की कमर तक आच्छादित हो। **नूमं='प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम्'**—अर्थात्—प्रच्छन्न (गुप्त) पर्वत-गुफा आदि स्थान। **अवसप्पामो=नश्यामः**। अर्थात्—भाग सकें या भागकर छिप सकें। **उवेहति=** उत्प्रेक्षा करता है—कल्पना करता है। "अवकप्पंति=अवकल्पयन्ति, मन्यन्ते।" अर्थात्—व्याकरणादि शास्त्रों को संकट के समय रक्षा के लिए उपयुक्त मान लेते हैं **विओवातं**—चूर्णिकार के अनुसार—**'विओवातो णाम व्यापातः'** अर्थात्—विओवातो का अर्थ है—व्यापात—विशेषरूप से (संयम से) पतन या विनाश। **न णे अत्थि पकप्पितं**=हमारे पास अपना प्रकल्पित पूर्वोपार्जित द्रव्य कुछ नहीं है, **वितिगिच्छा समावण्णा**='विचिकित्सा—चित्तविप्लुति। अर्थात् विचिकित्सा का अर्थ चित्त की उछलकूद है, मैंने यह जो संयमभार उठाया है, इसे मैं अन्त तक पार लगा सकूँगा या नहीं ? इस प्रकार के संशय से घिरे हुए।[3]

आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग विजयी वीर साधक—

२०९. **जे उ संगामकालम्मि नाता सूरपुरंगमा।**
ण ते पिट्ठमुवेहंति किं परं मरणं सिया॥ ६॥

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २ पृ० ४४

२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८८-८९ के आधार पर

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ८८-८९
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण), पृ० ३७

२१०. एवं समुट्ठिए भिक्खू वोसिज्जाऽगारबंधणं।
आरंभं तिरियं कट्टु अत्तत्ताए परिव्वए ॥ ७ ॥

२०९. परन्तु जो पुरुष जगत्-प्रसिद्ध एवं शूरवीरों में अग्रगण्य हैं, वे युद्ध के समय पीछे (युद्ध के फल) की बात की कल्पना तक नहीं करते। (वे समझते हैं कि) मरण से बढ़कर और क्या हो सकता है?

२१०. इसी प्रकार गृहबन्धन का त्याग करके और आरम्भ को त्यागकर संयम पालन के लिए समुत्थित-समुद्यत भिक्षु आत्मभाव की प्राप्ति के लिए संयम में पराक्रम करे।

विवेचन—आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग पर विजयी साधक कौन कैसे?—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय में संग्राम में सच्चे वीर योद्धा की उपमा देकर आत्म-संवेदन रूप उपसर्ग पर विजयी साधक के स्वरूप, लक्ष्य और कर्तव्य का निरूपण किया गया है।

विश्वविख्यात वीर योद्धाओं की मनोवृत्ति—जो पुरुष संसार में प्रसिद्ध तथा वीरों में अग्रगण्य है, वे युद्ध के अवसर पर कायरों की तरह आगा-पीछा नहीं सोचते कि युद्ध में हार गये या मारे गये तो क्या होगा? न ही उनके मन में युद्ध में पराजित होने पर पलायन का या गुप्तस्थान को पहले से टटोलने का विचार आता है और न वे दुर्गम स्थानों में छिपकर अपनी रक्षा के लिए पीछे की ओर झांकते हैं। बल्कि वे युद्ध के समय अग्रिम मोर्चे पर रहते है, युद्धक्षेत्र छोड़ कर भागने का उन्हें विचार तक नहीं होता। वे समझते हैं—इस युद्ध में अधिक से अधिक हानि मृत्यु से बढ़कर और क्या हो सकती है? वह मृत्यु हमारी दृष्टि में सदा स्थायी रहने वाली कीर्ति की अपेक्षा तुच्छ है। इसीलिए इस गाथा में कहा गया है—**जे उ संगामकालंमि"" ""मरणं सिया।"**

आत्मसंवेदनोपसर्ग—विजेता साधक की मनोवृत्ति—विश्व-विख्यात सुभटों की-सी ही मनोवृत्ति उपसर्ग विजयी संयमवीर की होनी चाहिए, इसे बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—"एवं समुट्ठिए…… अत्तत्ताए परिव्वए।" इसका तात्पर्य यह है कि विश्वविख्यात वीर सुभटों की तरह पराक्रमशाली साधु कषायों और इन्द्रिय विषयों रूपी शत्रुओं पर विजय पाने, परीषहों और उपसर्गों का सामना करने, एवं जन्म-मरणचक्र का भेदन करने हेतु संयम भार को लेकर जब उद्यत—उत्थित हो जाता है, तब वह पीछे की ओर मुड़कर नहीं देखता कि मेरे घरवालों का क्या होगा? ये विविध भोगोपभोग के साधन न मिले तो क्या होगा? अथवा 'मैं संयम-पालन न कर सका या कभी संयमभ्रष्ट हो गया तो भविष्य में मेरा क्या होगा? उसके मन में ये दुर्विकल्प उठते ही नहीं। वह दृढ़ता पूर्वक यही चिन्तन करता है कि जब एक बार मैंने गार्हस्थ्यबन्धन को काटकर फैंक दिया है और आरम्भ-समारम्भों को तिलांजलि दे दी है, और संयमपालन के लिए कटिबद्ध हुआ हूँ, तब वापस पीछे मुड़कर देखने और भविष्य की निरर्थक चिन्ता करने का मेरे मन में कोई विकल्प ही नहीं उठना चाहिए। मेरा प्रत्येक कदम वीर की तरह आगे की ओर होगा, पीछे की ओर नहीं। अधिक से अधिक होगा तो किसी प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग को सहने में प्राणों की बलि हो जायेगी। परन्तु सच्चे साधक के लिए तो 'समाधिमरण' सर्वश्रेष्ठ अवसर है, कर्मों के जन्ममरण के बन्धनों को काटने का।[४]

अत्तत्ताए परिव्वए—ऐसे संयमवीर साधक का यह मूलमन्त्र है। इसका अर्थ है—'आत्मत्व के लिए

पराक्रम करें।' आत्मत्व कहते हैं— आत्मभाव—आत्मा के स्वभाव को। आत्मा का पूर्णतया शुद्ध स्वभाव समस्त कर्मकलंक से रहित होने—मोक्ष प्राप्त होने पर होता है। निष्कर्ष यह है कि आत्मत्व की यानी मोक्ष की प्राप्ति के लिए सुविहित साधु को अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करना चाहिए। अथवा साधु-जीवन का ध्येय आत्मा का मोक्ष या संयम है। चूर्णिकार ने आतत्थाए पाठ मानकर यही अर्थ किया है—आतो मोक्षः संजमो वा अस्यार्थस्य—आतत्थाए। अर्थात् आत्मा मोक्ष या संयम को कहते हैं, वही आत्मा का आत्मत्व स्वभाव है। जिसे प्राप्त करने लिए वह सर्वतोमुखी प्रयत्न करे। आत्मा पर कषायादि लग कर उसे विकृत करते हैं, स्वस्वरूप में स्थिर नहीं रहने देते। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है—

> कोहं माणं च मायं च लोहं पंचेदियाणि य।
> दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए-जियं॥"

"क्रोध, मान, माया और लोभ; ये चार कषाय तथा पाँचों इन्द्रियाँ, ये आत्मा के लिए दुर्जेय हैं। अतः आत्मा को जीत लेने (यानी आत्मा पर लगे कषाय विषयसंग आदि को हावी न होने देने) पर सभी को जीत लिया जाता है।"[५]

पाठान्तर— 'ण ते पिट्ठमुवेहंति, किं परं मरणं सिया?' के बदले चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'ण ते पिट्ठतो पेहंति, किं परं मरणं भवे।"—अर्थात्—वे पीछे मुड़कर नहीं देखते। यही सोचते हैं कि मृत्यु से बढ़कर और क्या होगा?"[६]

उपसर्ग : परवादिकृत आक्षेप के रूप में—

> २११. तमेगे परिभासंति भिक्खुयं साहुजीविणं।
> जे ते उ परिभासंति अंतए ते समाहिए॥ ८॥
>
> २१२. संबद्धसमकप्पा हु अन्नमन्नेसु मुच्छिता।
> पिंडवायं गिलाणस्स जं सारेह दलाह य॥ ९॥
>
> २१३. एवं तुब्भे सरागत्था अन्नमन्नमणुव्वसा।
> नट्ठसप्पहसब्भावा संसारस्स अपारगा॥ १०॥

२११. साध्वाचार—(उत्तम आचार) पूर्वक जीने वाले उस (सुविहित) भिक्षु के विषय में कई (अन्यदर्शनी) (आगे कहे जाने वाले) आक्षेपात्मक वचन कहते हैं, परन्तु जो इस प्रकार (—के आक्षेपात्मक वचन) कहते हैं, वे समाधि से बहुत दूर हैं।

---

५ (क) उत्तराध्ययन अ० ९, गा० ३६
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८९
(ग) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३८

६ सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३८

२१२. (उपकार्य-उपकारक रूप से—) सम्बद्ध गृहस्थ के समान व्यवहार (अनुष्ठान) वाले आप लोग परस्पर (एक दूसरे में) मूर्च्छित (आसक्त) हैं: क्योंकि आप रुग्ण (ग्लान साधु) के लिए भोजन लाते और देते हैं।

२१३. इस प्रकार (परस्पर उपकार के कारण) आप सराग (स्वजनों के प्रति रागी) और एक दूसरे के वश में रहते हैं। अतः आप सत्पथ (सन्मार्ग) और सद्भाव (परमार्थ) से भ्रष्ट (दूर) हैं, तथा संसार (चतुर्गतिक भ्रमणरूप संसार) के पारगामी नहीं हो सकते।

विवेचन—स्वसंवेदनरूप उपसर्ग—परवादिकृत आक्षेप के रूप में—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय (२११ से २१३ तक) में अन्य दर्शनियों द्वारा सुविहित साधुओं पर किये जाने वाले मिथ्या आक्षेपों का वर्णन है।

यद्यपि इन मिथ्या आक्षेपों का सम्यग्दृष्टि एवं मोक्षविशारद, तत्त्व-चिन्तक साधुओं के मन पर कोई असर नहीं होता, किन्तु जो साधक अभी तक सिद्धान्तनिष्ठ, तत्त्वज्ञ एवं साध्वाचारदृढ़ नहीं है, उनका चित्त उक्त आक्षेपों को सुनकर संशयग्रस्त या कषायोत्तेजनाग्रस्त हो सकता है, इस कारण ऐसे आक्षेपवचनों को उपसर्ग माना गया है। शास्त्रकार ऐसे आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग की सम्भावना होने पर साधु को अपना मन समाधिस्थ रखने हेतु संकेत करते हैं—**तमेगे परिभासन्ति****····****अन्तर से समाहिए**' आशय यह है कि जो साधुताजीवी भिक्षुओं पर ऐसा मिथ्या आक्षेप करते हैं, ज्ञानादि से मोक्षरूप अथवा कषाय की उपशान्ति रूप समाधि से दूर हैं, अर्थात्—वे बेचारे असमाधि में हैं, सांसारिक भ्रमणा में हैं। शास्त्रकार का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ऐसे मिथ्या-आक्षेपवादियों के द्वारा किये गये असत् आक्षेपों को सुनकर सुविहित साधु को न तो उत्तेजित होकर अपनी चित्त समाधि भंग करनी चाहिए और न उनके मिथ्या-आक्षेपों को सुनकर, क्षुब्ध होना चाहिए, अर्थात् स्वयं को समाधि से दूर नहीं करना चाहिए, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप समाधि में स्थिर रहना चाहिए।

वृत्तिकार और चूर्णिकार 'एगे' शब्द की व्याख्या करते हुए इन आक्षेपकों को गोशालकमतानुसारी आजीवक या दिगम्बर परम्परा के भिक्षु बताते हैं, वृत्तिकार आगे कहते हैं—उत्तम साधु यह तटस्थ (राग-द्वेष-पक्षपात रहित) चिन्तन करे कि ये जो साध्वाचार की निन्दा या आलोचना करते हैं, या आक्षेपात्मक वचन बोलते हैं, उनका धर्म पुष्ट-सुदृढ़ नहीं है, तथा वे समाधि से दूर हैं। वे परस्पर उपकार से रहित दर्शन (दृष्टि) से युक्त हैं, लोहे की सलाइयों की तरह परस्पर मिलते नहीं, दूर-दूर अलग अलग रहते हैं। पृथक्-पृथक् विचरण करते हैं।

तात्पर्य यह है कि उत्तम साध्वाचार परायण एवं वीतरागता का पथिक साधु उन निन्दकों या आलोचकों के प्रति तरस खाएँ, भड़के नहीं; उनकी आक्षेपात्मक बातों पर कोई ध्यान न दे, मोक्षमार्ग पर अबाध गति से चलता रहे। हाँ, अपने संयमाचरण में कोई त्रुटि या भूल हो तो उसे अवश्य सुधार ले, उसमें अवश्य सावधानी रखे। यही इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने ध्वनित किया है।

आक्षेप कितने और किस प्रकार के ? उत्तम साधुओं पर लगाये जाने वाले मिथ्या आक्षेपों के कुछ नमूने यहाँ शास्त्रकार ने प्रस्तुत किये हैं, वैसे उनकी कोई निश्चित गणना नहीं की जा सकती, ऐसे और आक्षेप भी अन्य आक्षेपकों द्वारा किये जा सकते हैं।

कुछ आक्षेप इस प्रकार हैं :—(१) परस्पर उपकार्य—उपकारक सम्बन्ध से बँधे हुए गृहस्थों का-सा इनका व्यवहार है, (२) ये परस्पर एक-दूसरे में आसक्त हैं, (३) रोगी साधु के प्रति अनुरागवश ये उसके लिए भोजन लाते हैं, और देते हैं। (४) आप लोग स्पष्टतः सरागी हैं, (५) परस्पर एक-दूसरे के वश—अधीन हैं। (६) सद्भाव और सन्मार्ग से दूर हैं, (७) आप संसार को पार नहीं कर सकते।"[७]

परोक्ष आक्षेप की झांकी—कोई-कोई परोक्ष में आक्षेप करते हैं, जैसे—देखो तो सही ! ये लोग घरबार कुटुम्ब परिवार और रिश्ते-नाते छोड़कर साधु बने हैं, परन्तु इनमें अब भी एक-दूसरे साधुओं के साथ पुत्र कलत्र आदि स्नेह-पाशों से बन्धे हुए गृहस्थों का-सा व्यवहार है। गृहस्थ लोग परस्पर एक-दूसरे के सहायक उपकारक होते हैं, वैसे ही ये साधु भी परस्पर सहायक उपकारक होते हैं। जैसे गृहस्थ-जीवन में पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, भाई-बहन में परस्पर गाढ़ अनुराग होता है, वैसे ही इन साधुओं में गुरु-शिष्य का, गुरू भाइयों का तथा गुरु-भाईयों गुरु-बहनों का परस्पर गाढ़ अनुराग होता है। इन्होंने गृहस्थी के नाते-रिश्ते छोड़े, यहाँ नये रिश्ते-नाते बना लिये। आसक्ति तो वैसी की वैसी ही बनी रही, केवल आसक्ति के पात्र बदल गये हैं। फिर इनमें और गृहस्थों में क्या अन्तर रहा ? फिर ये परस्पर आसक्त होकर एक-दूसरे का उपकार भी करते हैं, जैसे कि कोई साधु बीमार हो जाता है तो ये उस रुग्ण साधु के प्रति अनुराग वश उसके योग्य पथ्ययुक्त आहार अन्वेषण करके लाते हैं और उसे देते हैं। यह गृहस्थ के समान व्यवहार नहीं तो क्या है ? "यही बात शास्त्रकार कहते हैं"—**संबद्ध……दलाहय**।

कोई आक्षेपकर्ता साधुओं से कहते हैं—"अजी ! आप लोग गृहस्थों की तरह परस्पर राग-भाव से ग्रस्त हैं, अपने माने हुए लोगों का परस्पर उपकार करते हैं, इसलिए रागयुक्त हैं—राग-सहित स्वभाव में स्थित (सरागस्थ) हैं। बन्धनबद्ध या एक-दूसरे के अधीन रहना तो गृहस्थों का व्यवहार है। इसी कारण आप लोग सत्पथ (मोक्ष के यथार्थ मार्ग) तथा सद्भाव (परमार्थ) से भ्रष्ट हैं। इसीलिए आप चतुर्गति परिभ्रमणरूप संसार के पारगामी नहीं हो सकते। मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते।[८]

पाठान्तर और व्याख्या—'**जे तेउ (तेवं) परिभासन्ति अन्तए ते समाहिए**'—वृत्तिकार के अनुसार—'ये ते अपुष्टधर्माणः, एवं वक्ष्यमाणं परिभाषन्ते, त एवम्भूताः अन्तके=पर्यन्ते=दूरे समाधेः मोक्षाख्यात्…· वर्तन्त इति।" वे अपुष्ट धर्मा (आक्षेपक) ऐसा (आगे कहे जाने वाला आक्षेपात्मक वचन) कहते हैं, वे मोक्ष नामक समाधि से दूर हैं। चूर्णिकार '**जे ते एवं भासन्ति, अन्तए (ते) समाहिते**' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—**अन्तए** नाम नाभ्यन्तरतः, दूरतः ते समाहिए, णाणादिमोक्खा परमसमाधी, अत्यन्त असमाधौ वर्तन्ते, '**असमाहिए**' अकारलोपं कृत्वा **संसारे** इत्यर्थः।" अर्थात्—**अन्तए** का अर्थ है—आभ्यन्तर से नहीं, अपितु वे समाधि से दूरतः हैं। ज्ञानादिमोक्षरूप परमसमाधि होती है। अतः ऐसा अर्थ सम्भव है कि वे अत्यन्त असामधि में हैं। **असमाहिए** पाठ में अकार का लोप करने से असमाहिए (असमाधि में) का फलितार्थ होता है—संसार में हैं। **सारेह**=अन्वेषयत=अन्वेषण करते हैं। **दलाहय**—ग्लान के योग्य आहार का

---

७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६० के आधार पर

८ वृत्तिकार के कथनानुसार यह चर्चा दिगम्बर पक्षीय साधुओं और श्वेताम्बर परम्परा के साधुओं के बीच है। वृत्तिकार का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है। —जैन साहित्यका बृहत् इतिहास भा० १ पृ० १४३

अन्वेषण करके उसके उपकारार्थ लाकर देते हैं। 'च' शब्द से आचार्यादि की वैयावृत्य करने आदि उपकार करते हैं।[९]

परवादिकृत आक्षेप निवारण : कौन, क्यों और कैसे करें ?

२१४. अह ते परिभासेज्जा भिक्खू मोक्खविसारए।
एवं तुब्भे पभासेंता दुपक्खं चेव सेवहा ॥ ११ ॥

२१५ तुब्भे भुंजह पाएसु गिलाणाऽभिहडं ति य।
तं च बीओदगं भोच्चा तमुद्देसादि जं कडं ॥ १२ ॥

२१६. लित्ता तिव्वाभितावेण उज्जया असमाहिया।
नातिकंडुइतं सेयं अरुयस्सावरज्झती ॥ १३ ॥

२१७. तत्तेण अणुसिट्ठा ते अपडिण्णेण जाणया।
ण एस णियए मग्गे असमिक्खा वई किती ॥ १४ ॥

२१८. एरिसा जा वई एसा अग्गे वेणु व्व करिसिता।
गिहिणो अभिहडं सेयं भुंजितुं न तु भिक्खुणो ॥ १५ ॥

२१९. धम्मपण्णवणा जा सा सारंभाण विसोहिया।
न तु एताहिं दिट्ठीहिं पुव्वमासि पकप्पियं ॥ १६ ॥

२२०. सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं अचयंता जवित्तए।
ततो वायं णिराकिच्चा ते भुज्जो वि पगब्भिता ॥ १७ ॥

२२१. रागदोसाभिभूतप्पा मिच्छत्तेण अभिद्दुता।
अक्कोसे सरणं जंति टंकणा इव पव्वयं ॥ १८ ॥

२२२. बहुगुणप्पगप्पाइं कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणऽण्णो ण विरुज्झेज्जा तेण तं तं समायरे ॥ १९ ॥

२२३ इमं च धम्ममादाय कासवेण पवेइयं।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिते ॥ २० ॥

---

९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३८

२१४. इसके पश्चात् मोक्षविशारद (ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष की प्ररूपणा करने में निपुण) साधु उन (अन्यतीर्थिकों) से (इस प्रकार) कहे कि यों कहते (आक्षेप करते) हुए आप लोग दुष्पक्ष (मिथ्या-पक्ष) का सेवन करते (आश्रय लेते) हैं।

२१५. आप सन्त लोग (गृहस्थ के कांसा, तांबा आदि धातु के) पात्रों में भोजन करते हैं; रोगी सन्त के लिए गृहस्थों से (अपने स्थान पर) भोजन मँगवा कर लेते हैं; तथा आप बीज और सचित्त (कच्चे) जल का उपभोग करते हैं एवं जो आहार किसी सन्त के निमित्त (उद्देश्य से) वना है उस औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार का सेवन करते हैं।

२१६. आप लोग तीव्र कषायों अथवा तीव्र बन्ध वाले कर्मों से लिप्त (सद्विवेक से—) रहित तथा समाधि (शुभ अध्यवसाय) से रहित हैं। (अतः हमारी राय में) घाव (व्रण) का अधिक खुजलाना अच्छा नहीं है, क्योंकि उससे दोष (विकार) उत्पन्न होता है।

२१७. जो प्रतिकूल ज्ञाता नहीं है अथवा जिसे मिथ्या (विपरीत) अर्थ वताने की प्रतिज्ञा नहीं है; तथा जो हेय-उपादेय का ज्ञाता साधु है; उसके द्वारा उन (आक्षेपकर्ता अन्य दर्शनियों) को सत्य (तत्त्व वास्तविक) वात की शिक्षा दी जाती है कि यह (आप लोगों द्वारा स्वीकृत) मार्ग (निन्दा का रास्ता) नियत (युक्ति-संगत) नहीं है, आपने सुविहित साधुओं के लिए जो (आक्षेपात्मक) वचन कहा है, वह बिना विचारे कहा है, तथा आप लोगों का आचार भी विवेक शून्य है।

२१८. आपका यह जो कथन है कि साधु को गृहस्थ के द्वारा लाये हुए आहार का उपभोग (सेवन) करना श्रेयस्कर है, किन्तु साधु के द्वारा लाये हुए का नहीं; यह बात बांस के अग्रभाग की तरह कमजोर है (वजनदार नहीं है।)

२१९. (साधुओं को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए), यह जो धर्म-प्रज्ञापना (धर्म-देशना) है, वह आरम्भ-समारम्भयुक्त गृहस्थों की विशुद्धि करने वाली है, साधुओं की नहीं, इन दृष्टियों से (सर्वज्ञों ने) पूर्वकाल में यह प्ररूपणा नहीं की थी।

२२०. समग्र युक्तियों से अपने पक्ष की सिद्धि (स्थापना) करने में असमर्थ वे अन्यतीर्थी तब वाद को छोड़कर फिर अपने पक्ष की स्थापना करने की धृष्टता करते हैं।

२२१. राग और द्वेष से जिनकी आत्मा दबी हुई है, जो व्यक्ति मिथ्यात्व से ओतप्रोत हैं, वे अन्य तीर्थी शास्त्रार्थ में हार जाने पर आक्रोश (गाली या अपशब्द आदि) का आश्रय लेते हैं। जैसे (पहाड़ पर रहने वाले) टंकणजाति के म्लेच्छ (युद्ध में हार जाने पर) पर्वत का ही आश्रय लेते हैं।

२२२. जिसकी चित्तवृत्ति समाधि (प्रसन्नता या कषायोपशान्ति) से युक्त है, वह मुनि, (अन्य-तीर्थी के साथ विवाद के समय) अनेक गुण निष्पन्न हों, जिससे इस प्रकार का अनुष्ठान करे और दूसरा कोई व्यक्ति अपना विरोधी न बने।

२२३. काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए इस धर्म को स्वीकार करके समाधि युक्त भिक्षु रुग्ण साधु की सेवा (वैयावृत्य) ग्लानि रहित होकर करे।

विवेचन—**परवादिकृत-आक्षेपरूप उपसर्ग-निवारण कौन, क्यों और कैसे करें**—इससे पूर्व परवादिकृत आक्षेपरूप उपसर्ग के कुछ नमूने प्रस्तुत किये गये हैं। अब सूत्रगाथा २१४ से २२३ तक १० सूत्रगाथाओं में बताया गया है कि परवादिकृत पूर्वोक्त आक्षेपों का निराकरण करे या नहीं? करे तो कौन करे? कैसे करे? किस पद्धति से करे?

आक्षेप निवारण करे या नहीं? सर्वप्रथम यह प्रश्न होता है कि सुसाधुओं की या उनके आचार-विचार पर कोई अन्यतीर्थी छींटाकशी करे, नुक्ता-चीनी करे, अथवा निन्दा, आलोचना या मिथ्या आक्षेप करे तो क्या वे उसे चुपचाप सुन लें, सहलें, या उसका प्रतिवाद करें, या उनके गलत आक्षेपों का निराकरण करें और भ्रान्ति में पड़े हुए लोगों को यथार्थ वस्तुस्थिति समझाए?

यद्यपि इससे पूर्व गाथा २११ में इस प्रकार के मिथ्या आक्षेपकों को समाधि से दूर मानकर शास्त्रकार ने साधुओं को उनके प्रति उपेक्षा करने, ध्यान न देने की बात ध्वनित की है।

परन्तु आक्षेपक जब व्यक्तिगत आक्षेप तक सीमित न रहकर उसे समूह में फैलाए, उसे निन्दा और बदनामी का रूप देने लगें, जैसा कि पूर्वोक्त सूत्र-गाथाओं में वर्णित है, तब शास्त्रकार उक्त मिथ्या आक्षेपों का प्रतिवाद करने का निर्देश करते हैं—"**अह ते परिभासेज्जा भिक्खू मोक्ख विसारए।**"

शास्त्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि अगर वस्तुतत्त्व प्रतिपादन में निपुण तत्त्ववेत्ता स्वयं की व्यक्तिगत आलोचना या निन्दा को चुपचाप समभावपूर्वक सहलेता है, बदले में कुछ नहीं कहता तो यह अपनी आत्मा के लिए निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण होने से ठीक है, परन्तु जब समग्र साधु-संस्था या संघ पर मिथ्या आक्षेप होता है, तब उसे चुपचाप सुन लेना अच्छा नहीं; ऐसा करने से वस्तु तत्त्व से अनभिज्ञ साधारण जनता प्रायः यही समझ लेती है कि इनके धर्म, संघ या साधु वर्ग में कोई दम नहीं है। ये तो गृहस्थों की तरह अपने-अपने दायरे में, अपने-अपने गुरु-शिष्यों में मोहवश बन्धे हुए हैं। इस प्रकार एक ओर धर्मतीर्थ (संघ) की अवहेलना हो, दूसरी ओर साधु-संस्था के प्रति जनता में अश्रद्धा बढ़े, तथा मिथ्यावाद को उत्तेजना मिले तो यह दोहरी हानि है। इससे संघ में नवीन मुमुक्षु साधकों का प्रवेश तथा सद्गृहस्थों द्वारा व्रत में धारण रुकना सम्भव है। इसलिए शास्त्रकार ने इस गाथा द्वारा मार्ग-दर्शन दिया है कि ऐसे समय साधु तटस्थ भावपूर्वक आक्षेपकर्ताओं से प्रतिवाद के रूप में कहे।[10]

आक्षेप निवारणकर्ता भिक्षु की योग्यता—शास्त्रकार ने आक्षेप का प्रतिवाद करने का निर्देश किया है, किन्तु साथ ही कौन साधु प्रतिवाद कर सकता है? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार ने सूत्रगाथा २१४, २१६, २२१ और २२२ में आक्षेप निवारक भिक्षु के विशेष गुणों के सम्बन्ध में क्रमशः प्रकाश डाला है। वे गुण क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) वह साधु मोक्षविशारद हो, (२) वह अप्रतिज्ञ हो, (३) वह हेयोपादेय का सम्यग् ज्ञाता हो, (४) क्रुद्ध, द्वेषी विरोधियों का प्रतिवाद क्रोध-द्वेष-वधादिपूर्वक न करे, (५) आत्म-समाधि से युक्त हो, (६) अनेक गुणों का लाभ हों, तभी प्रतिवाद करता हो, (७) दूसरे लोग विरोधी न बन जाएँ, ऐसा आचरण करता हो।

---

१० सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या; पृ० ४५६

मोक्ख विसारए—प्रतिवादकर्ता साधु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करने में प्रवीण होना चाहिए। अगर वह साधु स्वयं ही शिथिल आचार का पोषक हुआ तो वह आक्षेपकों के आक्षेप का निराकरण ठीक से न कर सकेगा और न ही उसके द्वारा किये गये निराकरण का साधारण जनता पर या आक्षेपकों पर प्रभाव पड़ेगा। इसलिए आक्षेप-निवारक साधु का मोक्ष-प्ररूपणा में विशारद होना आवश्यक है।

अपडिण्णेण—जो किसी प्रकार की मिथ्या अर्थ बताने की प्रतिज्ञा—से रहित है, वह अप्रतिज्ञ होता है, प्रतिवादकर्ता साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञावाला न हो कि मुझे अपनी बात की सिद्धि के लिए असत्य अर्थ का भी समर्थन कर देना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार असत्य बातों का समर्थक साधु होगा तो वह आक्षेपकों के प्रति न्यायी, एवं विश्वस्त नहीं रहेगा। वह स्व-मोह एवं पर-द्वेष में पड़ जायगा। राग और द्वेष आदि सिद्धान्त-प्रतिकूल विचारों के प्रवाह में बह जायेगा। अथवा अप्रतिज्ञ यानी उसकी जान-कारी सिद्धान्त-प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए। सिद्धान्त-प्रतिकूल जानकारी वाला साधक स्वयं अपने सिद्धान्त से च्युत हो जायेगा, आक्षेपकों का निराकरण सिद्धान्तानुकूल नहीं कर सकेगा।

जाणया—फिर वह प्रतिवादकर्ता साधक स्वयं हेयोपादेय का सम्यक् ज्ञाता होना चाहिए तभी वह आक्षेपकों को उपादेय तत्त्व के अनुरूप शिक्षा दे सकेगा तथा आक्षेपकों की बातों में हेयोपादेय तत्त्व का विश्लेषण करके समझा सकेगा।

रागदोसाभिभूतप्पा''''अक्कोसे सरणं जंति—प्रतिवादकर्ता साधु को इस बात को समझने में कुशल होना चाहिए कि प्रतिपक्षी विवाद में न टिक पाने के कारण अपनी हार की प्रतिक्रिया स्वरूप अपशब्द, गाली, या डंडे, मुक्के या शस्त्रादि द्वारा प्रहार करने आदि पर उतर आया है, तो उन्हें राग-द्वेष कषाय, मिथ्यात्व, आक्रोश आदि विकारों के शिकार जानकर उनसे विवाद में नहीं उलझना चाहिए न ही आक्रमण के बदले प्रत्याक्रमण या आक्रोश प्रहार आदि हिंसक तरीकों का आश्रय लेना चाहिए। विश्व-बन्धु साधु को उस समय उनके प्रति उपेक्षा भाव रखकर मौन हो जाना ही श्रेयस्कर है। जैसा कि वृत्तिकार कहते हैं—

> 'अक्कोस-हणण-मारण-धम्मब्भंसाण बालसुलभाणं।
> लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अभावंमि॥"

अर्थात्—गाली देना, रोष करना, मारपीट या प्रहार करना अथवा धर्मभ्रष्ट करना; ये सब कार्य निपट नादान बच्चों के से हैं। धीर साधु पुरुष ऐसे लोगों की बातों का उत्तर न देना ही लाभदायी समझते हैं।

इस दृष्टि से शास्त्रकार ने प्रतिवादकर्ता साधु का आवश्यक गुण ध्वनित कर दिया है कि वह इतना अवसरज्ञ हो कि आक्षेपक यदि हिंसा पर उतर आए तो उसके साथ प्रतिहिंसा से पेश न आकर शान्त एवं मौन हो जाए।

अत्तसमाहिए—प्रतिवादकर्ता साधु में आत्म-समाधि में दृढ़ रहने का गुण होना चाहिए। कैसी भी परिस्थिति हो, वह अपनी आत्मसमाधि—मानसिक शान्ति, प्रसन्नता या चित्त की स्वस्थता न खोए।

आशय यह है कि वह आक्षेपकों के साथ विवाद करते समय उखड़े नहीं, झल्लाए नहीं, विक्षुब्ध न हो। अथवा वह आत्म-समाधान पर दृढ़ रहे, जिस प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त आदि से स्वपक्ष सिद्धि होती हो, उसी का प्रतिपादन करे।

बहुगुणप्पगप्पाइ कुज्जा—प्रतिवादकर्ता साधु 'बहुगुणप्रकल्पक' होना चाहिए। जिस विवाद से प्रतिपक्षी के हृदय में स्नेह, सद्भावना, आत्मीयता, धर्म के प्रति आकर्षण, साधु संस्था के प्रति श्रद्धा, वीतराग देवों के प्रति बहुमान आदि अनेक गुण निष्पन्न होते हों, उसे बहुगुण प्रकल्प कहते हैं। वृत्तिकार की दृष्टि से **बहुगुणप्रकल्प** का अर्थ है—(१) जिन बातों से स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष के दोषों की अभिव्यक्ति हो अथवा (२) जिन अनुष्ठानों से माध्यस्थ्यभाव आदि प्रकट हो, ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि का प्रयोग करे या वचन प्रयोग करे।

इस दृष्टि से प्रतिवादकर्ता साधु उसी प्रकार का विवाद करता हो, जो बहुगुणप्रकल्प हो। प्रशान्तात्मा मुनि को ऐसा प्रतीत हो कि प्रतिपक्षी विवाद में पराजित होता जा रहा है, और इस विवाद से आत्मीयता, मैत्री, स्नेह-सद्भावना, देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा आदि गुण बढ़ने के बजाय रोष, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, प्रतिक्रिया, अश्रद्धा आदि दोषों के बढ़ने की सम्भावना है, तब वह उस विवाद को वहीं स्थगित कर दे। यह गुण प्रतिवादकर्ता साधु में अवश्य होना चाहिए। प्रतिपक्षी को कायल, अश्रद्धालु एवं हैरान करने तथा उसे बार-बार चिढ़ाने से उपर्युक्त बहुगुण नष्ट होने की सम्भावना है।

जेणऽण्णो ण विरुज्झेज्जा तेण तं तं समायरे—प्रतिवादकर्ता में यह खास गुण होना चाहिए कि वह प्रतिपक्षी के प्रति ऐसा वचन न बोले, न ही ऐसा व्यवहार या आचरण करे, जिससे वह विरोधी, विद्वेषी या प्रतिक्रियावादी बन जाए। धर्मश्रवण करने आदि सद्भावों में प्रवृत्त अन्यतीर्थी या अन्य व्यक्ति में अपने प्रतिवाद रूप वचन अनुष्ठान से विरोध, विद्वेष, चित्त में दुःख या विषाद उत्पन्न हो, वैसा वचन या अनुष्ठान न करे।

इन गुणों से युक्त साधक ही आक्षेपकर्ताओं के आक्षेपरूप उपसर्ग पर यथार्थरूप से विजय प्राप्त कर सकता है।[११]

प्रतिपक्षी के पूर्वोक्त आक्षेपों का उत्तर किस पद्धति से दे?—पूर्वगाथाओं में प्रतिवादी के द्वारा सुविहित साधुओं पर परोक्ष एवं प्रत्यक्षरूप से मिथ्या आक्षेपों का निदर्शन बताया गया है। और यह भी कहा जा चुका है कि प्रतिपक्षी के आक्षेपों का प्रतिवाद मोक्ष विशारद आदि सात गुणों से सम्पन्न साधु यथायोग्य अवसर देखकर कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि प्रतिपक्षी के पूर्वोक्त आक्षेपों का उत्तर पूर्वोक्त गुणसम्पन्न साधु को किस पद्धति से देना चाहिए? इस विषय में शास्त्रकार ने सूत्रगाथा २१४ से २१९ तक प्रकाश डाला है। आक्षेपों के उत्तर के मुख्य मुद्दे ये हैं—(१) आपके आक्षेपयुक्त वचनों से आप द्विपक्ष या दुष्पक्ष का सेवन करते प्रतीत होते हैं, (२) आप गृहस्थ के कांसा, तांबा आदि धातु के बर्तनों में भोजन करते हैं, (३) रोगी संत के लिए गृहस्थ से आहारादि मँगवाते हैं, (४) सचित्त बीज और जल

---

११ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९१ से ९३ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४५६ से ४६२

का उपभोग करते हैं, (५) औद्देशिक आदि दोषों से बने आहार का सेवन करते हैं। (६) आप लोग तीव्र कषाय या कर्मबन्ध से लिप्त हैं, (७) सद्विवेक से शून्य हैं, (८) शुभ अध्यवसाय (समाधि) से रहित हैं, (९) जिस प्रकार घाव के अधिक खुजलाने से विकारवृद्धि होती है, इसी तरह मिथ्या-आक्षेपात्मक चर्चा भी बार-बार रागद्वेष युक्त होकर छेड़ने से कोई लाभ नहीं, वह कषायादि वर्द्धक ही है। (१०) निन्दा आदि करने का मार्ग भगवान् की नीति के अनुकूल या युक्तिसंगत नहीं है। (११) आपके आक्षेपात्मक वचन विना सोचे विचारे कहे गए हैं, (१२) आपके कार्य भी विवेक-विचार शून्य हैं, (१३) "साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेयस्कर है किन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं," यह कथन बांस के अग्रभाग की तरह दमदार नहीं है, (१४) साधुओं को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए यह धर्मदेशना गृहस्थों को ही शुद्धि करने वाली है साधुओं को नहीं, इस दृष्टि से पूर्वकालिक सर्वज्ञों ने प्ररूपणा नहीं की थी।[१२]

दुपक्खं चेव सेवहा—वृत्तिकार ने 'दुपक्खं' आदि वाक्य की व्याख्या चार प्रकार से की है—(१) दुष्पक्ष=आप मिथ्या, असत् पक्ष का आश्रय लेते हैं (२) द्विपक्ष=राग और द्वेष रूप दो पक्षों का सेवन करते हैं। क्योंकि आप अपने दोषयुक्त पक्ष का भी समर्थन करते हैं, इस कारण आपका अपने पक्ष में राग है, तथा हमारा सिद्धान्त दोष रहित है उसे आप दूषित बतलाते हैं, इसलिए उस पर आपका द्वेष हैं। (३) आप लोग द्विपक्षों का आश्रय लेते हैं। जैसे—आप लोग सचित्त बीज, कच्चा पानी और उद्दिष्ट आहार आदि का सेवन करने के कारण गृहस्थ हैं और साधु का वेष रखने के कारण साधु हैं। (४) अथवा आप दो पक्षों का सेवन करते हैं। जैसे—स्वयं असद् अनुष्ठान करते हैं और सद् अनुष्ठान करने वाले दूसरों की निन्दा करते हैं।

तात्पर्य यह है कि आपने जो साधु वर्ग पर सरागस्थ और परस्पर आसक्त होने का आक्षेप लगाया, वह गलत है, दुष्पक्ष है—मिथ्यापूर्वपक्ष से युक्त है।

लित्ता तिव्वाभितावेणं····असमाहिया—इस गाथा में तीन प्रत्याक्षेप आक्षेपकर्ताओं पर लगाए हैं—१. तीव्र अभिताप से लिप्त, २. सद्विवेक से विहीन, तथा ३. समाधि (शुभ अध्यवसाय) से रहित। ये तीनों प्रत्याक्षेप इस प्रकार प्रमाणित होते हैं—(१) षट्कायिक जीवों का उपमर्दन करके जो आहार उनके निमित्त तैयार किया जाता है, उसका सेवन करने से, झूठी बात को भी दृढ़तापूर्वक पूर्वाग्रहवश पकड़ने से; मिथ्या-दृष्टित्व के स्वीकार से एवं सुविहित साधुओं की निन्दा करने के कारण वे लोग तीव्र कषाय या तीव्र कर्मबन्धन के अभिताप से लिप्त हैं। सुविवेक से विहीन इसलिए हैं कि भिक्षापात्र न रखकर किसी एक गृहस्थ के घर में भोजन करने के कारण तथा रुग्ण साधु के लिए गृहस्थ से बनवाकर भोजन मँगाने के कारण वे उद्दिष्ट आदि दोष युक्त आहार करते हैं। तथा शुभ अध्यवसाय से रहित इसलिए हैं कि वे उत्तम साधुओं से द्वेष करते हैं, उनको झूठमूठ बदनाम करते हैं।

नातिकंडुइतं सेयं अरुयस्सावरज्झती—इस प्रत्याक्षेप वाक्य में सुसाधु द्वारा सामान्य नीति की प्रेरणा है। इसका अर्थ है—घाव को अधिक खुजलाना अच्छा नहीं होता उससे विकार उत्पन्न होता है, इस

---

१२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति सहित भाषानुवाद भा० २ पृ० ५७ से ६३ तक का सार

न्याय से हम लोग आपके दोषों को अधिक कुरेदना ठीक नहीं समझते। इससे आप में राग-द्वेष वृद्धिरूप दोष उत्पन्न होने की सम्भावना है।

'ण एस णियए मग्गे'—इसका आशय यह है कि आक्षेपकर्ताओं के प्रति प्रत्याक्षेप करते हुए सुसाधु कहते हैं—आपके द्वारा अपनाया हुआ सुसाधुओं की निन्दा करने का यह मार्ग या रवैया भगवान् के द्वारा नियत—निश्चित या युक्तिसंगत नहीं है, अथवा चूर्णिकार सम्मत 'णितिए' पाठान्तर के अनुसार "यह मार्ग भगवान् की नीति के अनुकूल (नैतिक) नहीं है।"।

तत्तेण अणुसिट्ठाते—जो साधक हेयोपादेय ज्ञाता है, तथा रोषद्वेष रहित होकर सत्य बातें कहने के लिए कृतप्रतिज्ञ है, वह उन गोशालक मतानुसारी आजीवक आदि श्रमणों से तू-तू मैं-मैं, वाक्कलह, व्यर्थ विवाद या झगड़ा करने की अपेक्षा वस्तु तत्त्व की दृष्टि से, जिनेन्द्र के अभिप्राय के अनुसार यथार्थ परमार्थ प्ररूपणा के द्वारा बहुत ही मधुर शब्दों में नम्रतापूर्वक सच्ची और साफ-साफ बातें समझा दे, उन्हें हितकर और वास्तविक बातों की शिक्षा दें। यही इस पंक्ति का आशय है।

असमिक्खा वई किती—'आपका यह कथन अविचारपूर्वक है कि जो भिक्षु रोगी साधु को आहार लाकर देते हैं, वे गृहस्थ के समान हैं। तथा आप जो कार्य, आचरण या व्यवहार करते हैं, वह भी विवेक विचार शून्य हैं।

एरिसा सा वई''''न तु भिक्खुणं—इस गाथा का निष्कर्ष यह है कि "साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेयस्कर है, मगर साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं," आपकी इस बात में भी बांस के अग्रभाग की तरह कोई दम नहीं है, क्योंकि एक तो इस कथन के पीछे कोई प्रमाण, कोई तर्कसंगत तथ्य या कोई हेतु सहित युक्ति नहीं है। वीतराग महर्षियों द्वारा चलाई हुई प्राचीन परम्परा से भी यह संगत नहीं है। आपका यह कथन इसलिए निःसार है कि गृहस्थों के द्वारा बना कर लाये हुए आहार में षट्कायिक जीवों का घात स्पष्ट है, साथ ही वह आहार आधाकर्म, औद्देशिक आदि दोषों से युक्त अशुद्ध होता है, जबकि साधुओं के द्वारा अनेक घरों से गवेषणा करके लाया हुआ भुक्त-शिष्ट आहार उद्गमादि दोषों से रहित, साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ से वर्जित एवं अमृत भोजन होता है।

धम्मपण्णवणा जा सा''''पुव्वमासि पकप्पियं—सर्वज्ञों की एक धर्मदेशना है—'साधुओं को दान देकर उपकार करना चाहिए' यह गृहस्थों की शुद्धि करने वाली है, साधुओं की नहीं, क्योंकि साधु तो अपने ही तप-संयम का आचरण करके शुद्ध होते हैं, यह वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों की धर्म देशना का गलत अर्थ लगाना है। इसी गलत अर्थ को लेकर आक्षेपकर्तागण यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि रोगादि अवस्था में साधु को आहारादि लाकर देने का (साधु के प्रति) उपकार गृहस्थ को ही करना चाहिए, साधुओं को नहीं, परन्तु पूर्वकालीन सर्वज्ञों की धर्म देशना ऐसी नहीं रही है, आप (आक्षेपकर्ताओं) अपनी मिथ्या दृष्टि के कारण सर्वज्ञोपदिष्ट कथन का विपरीत अर्थ करते हैं। सर्वज्ञपुरुष ऐसी तुच्छ या विपरीत बात की प्ररूपणा नहीं करते अतः रोगी साधु की वैयावृत्य साधु को नहीं करनी चाहिए, इत्यादि आजीवकादि आक्षेपकों का आक्षेप शास्त्र-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध एवं अयथार्थ है।

वस्तु स्थिति यह है कि आप (आजीवकादि) लोग रुग्ण साधु की वैयावृत्य करने के लिए गृहस्थ

को प्रेरणा देते हैं, तथा इस कार्य का अनुमोदन करके रुग्ण साधु का उपकार करना स्वीकार भी करते हैं, अतः आप एक ओर रुग्ण साधु के प्रति उपकार भी करते हैं, दूसरी ओर इस उपकार का विरोध भी करते हैं। यह 'वदतो व्याघात' सा है।[13]

रुग्ण साधु की सेवा प्रसन्नचित्त साधु का धर्म : प्रतिवादी द्वारा किये गए आक्षेप का निवारण करने के पश्चात् शास्त्रकार २२३वीं सूत्रगाथा में स्वपक्ष की स्थापना के रूप में स्वस्थ साधु द्वारा ग्लान (रुग्ण, वृद्ध, अशक्त आदि) साधु की सेवा को अनिवार्य धर्म बताते हुए कहते हैं—

"इमं च धम्म'''कुज्जा भिक्खु गिलाणस्स अगिलाए समाहिते—इसका आशय यह है कि साधु के लिए इस सेवाधर्म का प्रतिपादन मैं (सुधर्मास्वामी) ही नहीं कर रहा हूँ, अपितु काश्यपगोत्रीय भगवान महावीर ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् देव, मनुष्य आदि की परिषद् में किया था।

ग्लान साधु की सेवा दूसरा साधु किस प्रकार करे ?—इसके लिए यहाँ दो विशेषण अंकित किये हैं—(१) **अगिलाए** (२) **समाहिते**। अर्थात्—ग्लानि रहित एवं समाहित—समाधियुक्त—प्रसन्नचित्त होकर। इन दो विशेषताओं से युक्त होकर रुग्ण साधु की सेवा करेगा, तभी वह धर्म होगा—संवर-निर्जरा का कारण होगा, कदाचित् पुण्यबन्ध हो तो शुभगति का कारण होगा।

ग्लानिरहित एवं समाधि युक्त होकर सेवा करने के विधान के पीछे एक अन्य आशय भी वृत्तिकार अभिव्यक्त करते हैं—यदि साधु स्वयं समाधियुक्त होकर अग्लानभाव से रुग्ण साधु की सेवा नहीं करेगा या सेवा से जी चुराएगा; तो भविष्य में कदाचित् वह भी किसी समय अशुभ कर्मोदयवश रुग्ण, अस्वस्थ या अशक्त हो सकता है, उस समय उसकी सेवा से दूसरे साधु कतराएँगे, तब उक्त साधु के मन में असमाधिभाव उत्पन्न होगा। अतः स्वयं को तथा रुग्ण साधु को जिस प्रकार से समाधि उत्पन्न हो उस प्रकार से आहारादि लाकर देना व उसकी सेवा करना स्वस्थ साधु का मुख्य धर्म है।[14]

परास्तवादियों के साथ विवाद के दौरान मुनि का धर्म—यहाँ सूत्रगाथा २२० से २२२ तक में अन्य-मतवादियों के मिथ्या आक्षेपों का उत्तर देते समय कैसी विकट परिस्थितियों की सम्भावना है, और वैसी स्थिति में मुनि का धर्म क्या है ? यह संक्षेप में निर्देश किया गया है। यहाँ तीन परिस्थितियों की सम्भावनाएँ व्यक्त की हैं—(१) परास्तवादी वाद को छोड़कर धृष्टतापूर्वक अपने पक्ष को ही यथार्थ मानने पर अड़ जाएँ, (२) रागद्वेष एवं मिथ्यात्व से ग्रस्त होकर प्रतिवाद आक्रोश (गाली-गलौज, मार-पीट आदि) का आश्रय लें, अथवा (३) विवाद के दौरान कठोरता, अपशब्द-व्यंग्यवचन आदि के प्रयोग या बाध्य) करने की नीति को देखकर कोई अन्यतीर्थी धर्मजिज्ञासु विरोधी न बन जाए।

वृत्तिकार का आशय यह प्रतीत होता है कि ऐसी परिस्थिति में मुनि को इस प्रकार मनःसमाधान से युक्त एवं कषायोत्तेजना से रहित होकर ऐसे हठाग्रहियों से विवाद न करना ही श्रेयस्कर है।

---

१३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९१ से ९४
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४५६ से ४६२

१४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ९३ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४६८ के आधार पर

न्याय से हम लोग आपके दोषों को अधिक कुरेदना ठीक नहीं समझते। इससे आप में राग-द्वेष वृद्धिरूप दोष उत्पन्न होने की सम्भावना है।

'ण एस णियए मग्गे'—इसका आशय यह है कि आक्षेपकर्ताओं के प्रति प्रत्याक्षेप करते हुए सुसाधु कहते हैं—आपके द्वारा अपनाया हुआ सुसाधुओं की निन्दा करने का यह मार्ग या रवैया भगवान् के द्वारा नियत—निश्चित या युक्तिसंगत नहीं है, अथवा चूर्णिकार सम्मत **'णितिए'** पाठान्तर के अनुसार "यह मार्ग भगवान् की नीति के अनुकूल (नैतिक) नहीं है।"

तत्तेण अणुसिट्ठाते—जो साधक हेयोपादेय ज्ञाता है, तथा रोषद्वेष रहित होकर सत्य बातें कहने के लिए कृतप्रतिज्ञ है, वह उन गोशालक मतानुसारी आजीवक आदि श्रमणों से तू-तू मैं-मैं, वाक्कलह, व्यर्थ विवाद या झगड़ा करने की अपेक्षा वस्तु तत्त्व की दृष्टि से, जिनेन्द्र के अभिप्राय के अनुसार यथार्थ परमार्थ प्ररूपणा के द्वारा बहुत ही मधुर शब्दों में नम्रतापूर्वक सच्ची और साफ-साफ बातें समझा दे, उन्हें हितकर और वास्तविक बातों की शिक्षा दें। यही इस पंक्ति का आशय है।

असमिक्खा वई किती—'आपका यह कथन अविचारपूर्वक है कि जो भिक्षु रोगी साधु को आहार लाकर देते हैं, वे गृहस्थ के समान हैं। तथा आप जो कार्य, आचरण या व्यवहार करते हैं, वह भी विवेक विचार शून्य हैं।

एरिसा सा वई''''न तु भिक्खुणं—इस गाथा का निष्कर्ष यह है कि "साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेयस्कर है, मगर साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं," आपकी इस बात में भी बांस के अग्रभाग की तरह कोई दम नहीं है, क्योंकि एक तो इस कथन के पीछे कोई प्रमाण, कोई तर्कसंगत तथ्य या कोई हेतु सहित युक्ति नहीं है। वीतराग महर्षियों द्वारा चलाई हुई प्राचीन परम्परा से भी यह संगत नहीं है। आपका यह कथन इसलिए निःसार है कि गृहस्थों के द्वारा बना कर लाये हुए आहार में षट्कायिक जीवों का घात स्पष्ट है, साथ ही वह आहार आधाकर्म, औद्देशिक आदि दोषों से युक्त अशुद्ध होता है, जबकि साधुओं के द्वारा अनेक घरों से गवेषणा करके लाया हुआ भुक्त-शिष्ट आहार उद्गमादि दोषों से रहित, साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ से वर्जित एवं अमृत भोजन होता है।

धम्मपण्णवणा जा सा''''पुव्वमासि पकप्पियं—सर्वज्ञों की एक धर्मदेशना है—'साधुओं को दान देकर उपकार करना चाहिए' यह गृहस्थों की शुद्धि करने वाली है, साधुओं की नहीं, क्योंकि साधु तो अपने ही तप-संयम का आचरण करके शुद्ध होते हैं, यह वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों की धर्म देशना का गलत अर्थ लगाना है। इसी गलत अर्थ को लेकर आक्षेपकर्तागण यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि रोगादि अवस्था में साधु को आहारादि लाकर देने का (साधु के प्रति) उपकार गृहस्थ को ही करना चाहिए, साधुओं को नहीं, परन्तु पूर्वकालीन सर्वज्ञों की धर्म देशना ऐसी नहीं रही है, आप (आक्षेपकर्ताओं) अपनी मिथ्या दृष्टि के कारण सर्वज्ञोपदिष्ट कथन का विपरीत अर्थ करते हैं। सर्वज्ञपुरुष ऐसी तुच्छ या विपरीत बात की प्ररूपणा नहीं करते अतः रोगी साधु की वैयावृत्य साधु को नहीं करनी चाहिए, इत्यादि आजीवकादि आक्षेपकों का आक्षेप शास्त्र-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध एवं अयथार्थ है।

वस्तु स्थिति यह है कि आप (आजीवकादि) लोग रुग्ण साधु की वैयावृत्य करने के लिए गृहस्थ

को प्रेरणा देते हैं, तथा इस कार्य का अनुमोदन करके रुग्ण साधु का उपकार करना स्वीकार भी करते है, अतः आप एक ओर रुग्ण साधु के प्रति उपकार भी करते हैं, दूसरी ओर इस उपकार का विरोध भी करते हैं। यह 'वदतो व्याघात' सा है।[13]

रुग्ण साधु की सेवा प्रसन्नचित्त साधु का धर्म : प्रतिवादी द्वारा किये गए आक्षेप का निवारण करने के पश्चात् शास्त्रकार २२३वीं सूत्रगाथा में स्वपक्ष की स्थापना के रूप में स्वस्थ साधु द्वारा ग्लान (रुग्ण, वृद्ध, अशक्त आदि) साधु की सेवा को अनिवार्य धर्म बताते हुए कहते हैं—

"इमं च धम्म''''कुज्जा भिक्खु गिलाणस्स अगिलाए समाहिते—इसका आशय यह है कि साधु के लिए इस सेवाधर्म का प्रतिपादन मैं (सुधर्मास्वामी) ही नहीं कर रहा हूँ, अपितु काश्यपगोत्रीय भगवान महावीर ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् देव, मनुष्य आदि की परिषद् में किया था।

ग्लान साधु की सेवा दूसरा साधु किस प्रकार करे ?—इसके लिए यहाँ दो विशेषण अंकित किये हैं—(१) **अगिलाए** (२) **समाहिते**। अर्थात्—ग्लानि रहित एवं समाहित—समाधियुक्त—प्रसन्नचित्त होकर। इन दो विशेषताओं से युक्त होकर रुग्ण साधु की सेवा करेगा, तभी वह धर्म होगा—संवर-निर्जरा का कारण होगा, कदाचित् पुण्यबन्ध हो तो शुभगति का कारण होगा।

ग्लानिरहित एवं समाधि युक्त होकर सेवा करने के विधान के पीछे एक अन्य आशय भी वृत्तिकार अभिव्यक्त करते हैं—यदि साधु स्वयं समाधियुक्त होकर अग्लानभाव से रुग्ण साधु की सेवा नहीं करेगा या सेवा से जी चुराएगा; तो भविष्य में कदाचित् वह भी किसी समय अशुभ कर्मोदयवश रुग्ण, अस्वस्थ या अशक्त हो सकता है, उस समय उसकी सेवा से दूसरे साधु कतराएँगे, तब उक्त साधु के मन में असमाधिभाव उत्पन्न होगा। अतः स्वयं को तथा रुग्ण साधु को जिस प्रकार से समाधि उत्पन्न हो उस प्रकार से आहारादि लाकर देना व उसकी सेवा करना स्वस्थ साधु का मुख्य धर्म है।[14]

परास्तवादियों के साथ विवाद के दौरान मुनि का धर्म—यहाँ सूत्रगाथा २२० से २२२ तक में अन्य-मतवादियों के मिथ्या आक्षेपों का उत्तर देते समय कैसी विकट परिस्थितियों की सम्भावना है, और वैसी स्थिति में मुनि का धर्म क्या है ? यह संक्षेप में निर्देश किया गया है। यहाँ तीन परिस्थितियों की सम्भावनाएँ व्यक्त की हैं—(१) परास्तवादी वाद को छोड़कर धृष्टतापूर्वक अपने पक्ष को ही यथार्थ मानने पर अड़ जाएँ, (२) रागद्वेष एवं मिथ्यात्व से ग्रस्त होकर प्रतिवाद आक्रोश (गाली-गलौज, मार-पीट आदि) का आश्रय लें, अथवा (३) विवाद के दौरान कठोरता, अपशब्द-व्यंग्यवचन आदि के प्रयोग, या बाध्य) करने की नीति को देखकर कोई अन्यतीर्थी धर्मजिज्ञासु विरोधी न बन जाए।

वृत्तिकार का आशय यह प्रतीत होता है कि ऐसी परिस्थिति में मुनि को इस प्रकार मनःसमा-धान से युक्त एवं कषायोत्तेजना से रहित होकर ऐसे हठाग्रहियों से विवाद न करना ही श्रेयस्कर है।

---

१३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९१ से ९४
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४५६ से ४६२

१४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ९३ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४६८ के आधार पर

पाठान्तर और व्याख्या—परिभासेज्जा=कहे, बतलाए। चूर्णिकार 'पडिभासेज्ज' पाठान्तर मानते हैं, जिसका अर्थ होता है—प्रतिवाद करे प्रत्याक्षेप करे। उज्जया=उज्जात यानी उज्जड़ या अक्खड़ लोग, वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—उज्झिया अर्थ किया है—सद्विवेकशून्याः—सद्विवेक से शून्य। किसी-किसी प्रति में 'उज्जुया', 'उज्जुत्ता' पाठान्तर हैं, जिनका अर्थ होता है—लड़ाई करने को उद्यत अथवा अपनी जिद्द पर अड़े हुए। 'ण एस णियए मग्गे'=वृत्तिकार के अनुसार—आपके द्वारा स्वीकृत यह मार्ग कि "साधुओं को निश्चित न होने के कारण परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव नहीं होता" नियत=निश्चित या युक्ति संगत नहीं है। चूर्णिकार 'ण एस णितिए मग्गे' पाठान्तर मानकर दो अर्थ प्रस्तुत करते हैं—'न एष भगवतां नीतिको मार्गः, नितिको नाम नित्यः।'—भगवान् की (अनेकान्तमयी) नीति के अनुरूप यह मार्ग नहीं है, अथवा नितिक का अर्थ 'नित्य' है, यह मार्ग नित्य (उत्सर्ग) मार्ग नहीं है, अर्थात् अपवाद मार्ग है। 'अग्गे वेणुव्व करिसिता'=वृत्तिकार के अनुसार—'अग्रे वेणुवत् वंशवत् कर्षिता दुर्बलेत्यर्थः।' अर्थात् बांस के अग्रभाग की तरह आपका कथन दुर्बल है, वजनदार नहीं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—'अग्गे बेलुव्व करिसिति=बिल्वो हि मूले स्थिरः अग्रे कर्षितः। अर्थात् बिल्व की तरह मूल में स्थिर और अग्रभाग में दुर्बल वायं णिराकिच्चा—वृत्तिकार के अनुसार—'सम्यग्हेतु दृष्टान्तैर्यो वादो—जल्पस्तं परित्यज्य' अर्थात् सम्यक् हेतु, दृष्टान्त आदि से युक्त जो वाद—जल्प है, उसका परित्याग करके। चूर्णिकार सम्मत एक पाठान्तर है—वादं निरे किच्चा—अर्थ इस प्रकार है—निरं णाम पृष्ठतः वादं निरेकृत्वा=अर्थ है वाद को पीठ करके यानी पीछे धकेलकर।[१५] वृत्तिकार ने कहा है–अनेक असत्वादियों की अपेक्षा एक सत्यवादी ज्ञानी का कथन प्रमाणभूत होता है। 'अचयंता जवित्तए'=स्वपक्ष में अपने आपको संस्थापित करने में असमर्थ। पाठान्तर है—"अचयंता जहित्तते" अर्थ होता है—अपने पक्ष को छोड़ने में असमर्थ। अगिलाए समाहिते=वृत्तिकार के अनुसार 'अग्लानतया समाहितः समाधि प्राप्तः।' अर्थात् स्वयं अग्लान भाव को प्राप्त एवं समाधि युक्त होकर। चूर्णिकार 'अगिलाणेण समाधिए' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—अगिलाणेण-अनाविलेन अव्यथि तेन समाधिएत्ति समाधिहेतोः।' अर्थात्—समाधि के हेतु अग्लान यानी अव्यथित होते (मन में किसी प्रकार का दुःख या पीड़ा महसूस न करते हुए)।[१६]

टंकणा इव पव्वयं—वृत्तिकार के अनुसार पहाड़ में रहने वाली म्लेच्छों की एक जाति विशेष टंकण

---

१५ (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४६३ से ४६७ तक का सारांश

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पृ० ९२-९३

१६ एरंडकट्ठरासी जहा य गोसीसचन्दनपलस्स।
मोल्ले न होज्ज सरिसो कित्तियमेत्तो गणिज्जंती ॥१॥
तह वि गणणातिरेगो जह रासी सो न चन्दनसरिच्छो।
तह निव्विण्णाणमहाजणो वि सोज्झइ विसंवयति ॥२॥
एक्को सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं बहुएहिं।
होइ वरं दट्ठव्वो णहु ते बहु गा अपेच्छंता ॥३॥
एवं बहुगा वि मूढा ण पमाणं जे गई ण याणंति।
संसारगमणगुविलं णिउणस्स य बंधमोक्खस्स ॥४॥

—सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति में उद्धृत पत्रांक ९३

कहलाती है। सूत्रकृतांग अंग्रेजी अनुवाद के टिप्पण में टंकण जाति को मध्यप्रदेश के ईशानकोण में रहने वाली पर्वतीय जाति बतलाई है। जैसे दुर्जेय टंकण जाति के भील किसी प्रबल शक्तिशाली पुरुष की सेना द्वारा हराकर खदेड़ दिये जाते हैं, तब वे आखिर पर्वत का ही आश्रय लेते हैं, वैसे ही विवाद में परास्त लोग और कोई उपाय न देखकर आक्रोश का ही सहारा लेते हैं।[17]

उपसर्ग विजय का निर्देश—

२२४ संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।
उवसग्गे नियामित्ता आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥ २१ ॥ त्ति बेमि।

२२४. सम्यग् दृष्टिसम्पन्न (पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता-द्रष्टा), प्रशान्त (रागद्वेष रहित-कषायोपशान्तियुक्त) मुनि (इस सर्वज्ञप्रणीत श्रुत-चारित्र रूप) उत्तम धर्म को जानकर उपसर्गों पर नियन्त्रण (उन्हें वश में) करता हुआ मोक्ष प्राप्ति-पर्यन्त संयम में पराक्रम करे।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त उपसर्ग-विजय करे—तृतीय उद्देशक के अन्त में उपसर्ग विजय के निर्देश के सन्दर्भ में तीन तथ्यों को अभिव्यक्त किया है—(१) उत्तम धर्म को जानकर, (२) दृष्टिमान् एवं उपशान्त मुनि (३) मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में उद्यम करे। संक्षेप में उपसर्ग विजय, क्या करके, कौन और कब तक करता रहे? इन तीन तथ्यों का उद्घाटन किया गया है।[18]

पाठान्तर और व्याख्या—पेसलं=सुन्दर—अहिंसादि में प्रवृत्ति होने के कारण प्राणियों की प्रीति का कारण। **उवसग्गो नियामित्ता** वृत्तिकार के अनुसार—"उपसर्गान् अनुकूल-प्रतिकूलान् नियम्य संयम्य सोढा, नोपसर्गैरुपसर्गितोऽसमंजसं विदध्यात्।" अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों पर नियमन-संयम करके सहन (वश में) करे। उपसर्गों से पीड़ित होने पर असमंजस (उलझन) में न पड़े। चूर्णिकार '**उवसग्गे अधियासेंतो**' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं उपसर्गों को सहन करता हुआ। '**आमोक्खाए**' चूर्णिकार के अनुसार—**मोक्षापरिसमाप्ते····मोक्षो द्विविधः भवमोक्षो सव्वकम्ममोक्खो य, उभयहेतोरपि आमोक्षाय परिव्रजे**—अर्थात् मोक्ष की परिसमाप्ति—पूर्णता तक····मोक्ष दो प्रकार का है—भवमोक्ष जन्ममरण रूप संसार से मुक्ति, सर्व कर्ममोक्ष—समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष। इन दोनों मोक्षों की प्राप्ति के हेतु संयम में पराक्रम करे। वृत्तिकार '**आमोक्खाय**' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—"आमोक्षाय अशेषकर्मक्षयप्राप्ति यावत्—अर्थात् मोक्ष प्राप्ति समस्त कर्मक्षय प्राप्ति तक।[19]

□□□

---

१७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९४

(ख) "This hill-tribe lived some-where in the north-east of Madhyapradesa, see Peterburg Dictionary. S. V." —Sacred Books of the East Vol—XIV, p. 268

(ग) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ३८ से ४० तक

१८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ७०

१९ (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४०

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९४

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

महापुरुषों की दुहाई देकर संयम-भ्रष्ट करने वाले उपसर्ग—

२२५. आहंसु महापुरिसा पुव्वि तत्ततवोधणा ।
उदएण सिद्धिमावण्णा तत्थ मंदे विसीयती ॥ १ ॥

२२६. अभुंजिया णमी वेदेही रामगुत्ते य भुंजिया ।
बाहुए उदगं भोच्चा तहा तारागणे रिसी ॥ २ ॥

२२७. आसिले देविले चेव दीवायण महारिसी ।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥ ३ ॥

२२८. एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेतमणुस्सुतं ॥ ४ ॥

२२९. तत्थ मंदा विसीयंति वाहछिन्ना व गद्दभा ।
पिट्ठतो परिसप्पंति पीढसप्पी व संभमे ॥ ५ ॥

२२५. कई (परमार्थ से अनभिज्ञ) अज्ञजन कहते हैं कि प्राचीनकाल में तप्त (तपे तपाए) तपोधनी (तपरूप धन से सम्पन्न) महापुरुष शीतल (कच्चे) पानी का सेवन करके सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हुए थे। (ऐसा सुनकर) अपरिपक्व बुद्धि का साधक उसमें (शीतजल के सेवन में) प्रवृत्त हो जाता है।

२२६. वैदेही (विदेह देश के राजा) नमिराज ने आहार छोड़कर और रामगुप्त ने आहार का उपभोग करके, तथा बाहुक ने एवं तारायण (तारायण या नारागण) ऋषि ने शीतल जल आदि का सेवन करके (मोक्ष पाया था।)

२२७. आसिल और देवल ऋषि ने, तथा महर्षि द्वैपायन एवं पाराशर ऋषि (आदि) ने शीतल (सचित्त) जल बीज एवं हरी वनस्पतियों का उपभोग करके (मोक्ष प्राप्त किया था।)

२२८. पूर्वकाल में ये महापुरुष सर्वत्र विख्यात थे। और यहाँ (आर्हत प्रवचन में) भी ये (इनमें से कोई-कोई) सम्मत (माने गये) हैं। ये सभी सचित्त बीज एवं शीतजल का उपभोग करके सिद्ध (मुक्त) हुए थे; ऐसा मैंने (कुतीर्थिक या स्वयूथिक ने) (महाभारत आदि पुराणों से) परम्परा से सुना है।

२२९. इस प्रकार की भ्रान्तिजनक (बुद्धिभ्रष्ट या आचारभ्रष्ट करने वाले) दुःशिक्षणरूप उपसर्ग के होने पर मन्दबुद्धि साधक भारवहन से पीड़ित गधों की तरह दुःख का अनुभव करते हैं। जैसे लकड़ी के टुकड़ों को पकड़कर चलने वाला (पृष्ठसर्पी) लंगड़ा मनुष्य अग्नि आदि का उपद्रव होने पर (भगदड़

के समय) भागने वाले लोगों के पीछे-पीछे (सरकता हुआ) चलता है, उसी तरह मन्दमति साधक भी संयमनिष्ठ मोक्षयात्रियों के पीछे-पीछे रेंगता हुआ चलता है (अथवा वह उन दुःशिक्षकों का पिछलग्गू हो जाता है।)

विवेचन—महापुरुषों की दुहाई देकर संयमभ्रष्ट करने वाले—प्रस्तुत पंचसूत्रगाथाओं (सूत्रगाथा २२५ से २२६ तक) में एक ऐसे अनुकूल उपसर्ग और मन्दबुद्धि साधकों पर उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन किया गया है, जिसमें कुछ शिथिल साधकों द्वारा अपनी अनाचाररूप प्रवृत्तियों को आचार में समाविष्ट करने हेतु प्रसिद्ध पूर्वकालिक ऋषियों की दुहाई देकर कुतर्कों द्वारा मन्दसाधक की बुद्धि को भ्रष्ट किया जाता है और उन्हें अनाचार में फँसाने का प्रयत्न किया जाता है।

प्रस्तुत पंचसूत्री में कुछ ऋषियों के नाम लिए विना, तथा कुछ प्रसिद्ध ऋषियों के नाम लेकर इस उपसर्ग के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं—

(१) पूर्वकाल में वल्कलचीरी, तारागण आदि महापुरुषों ने पंचाग्नि आदि तप करके शीतजल; कन्दमूल-फल आदि का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी। (२) वैदेही नमिराज ने आहार त्यागकर (३) रामगुप्त ने आहार का उपभोग करके, (४) बाहुकऋषि ने शीतल जल का उपभोग करके, (५) इसी तरह तारायण या नारायण ऋषि ने भी जल सेवन करके, (६, ७, ८, ९) असिल, देवल, द्वैपायन एवं पाराशर महर्षि ने शीत (कच्चा) जल, वीज और हरी वनस्पति का उपभोग करके, सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की है, ऐसा मैंने महाभारत आदि पुराणों से सुना है। पूर्वकाल (त्रेता-द्वापर आदि युगों) में ये महापुरुष प्रसिद्ध रहे हैं और आर्हत प्रवचन में ये माने गये हैं।[1]

ये महापुरुष कहाँ तथा किस रूप में प्रसिद्ध हैं?—नमिवैदेही—भागवत-पुराण में निमि का चरित्र अंकित है। वहाँ निमि के 'जनक', 'वैदेह' और 'मिथिल' नाम क्यों पड़े? इसका भी कारण बताया गया है। वौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक में '**निमिराजचरिया**' के नाम से निमि का चरित मिलता है। जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में '**नमिपव्वज्जा**' अध्ययन में नमिराजर्षि और इन्द्र का संवाद अंकित है।[2]

---

१ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा० १

२ (क) सूयगडंग सुत्तं (मू० पा० टिप्पण) प्रस्तावना एवं टिप्पण पृ० १४, १५ तथा ४०-४१

(ख) णमी वेदेही—देखिये श्रीमद् भागवत० (९।१३।१ से १ से १३ श्लो० तक) में—'श्री शुक उवाच—

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वशिष्ठमवृतर्त्विजम्। आरभ्य''''वृतोऽस्मि भोः ॥१॥

तं निर्वृत्या''''करोन्मखम् ॥२॥

निमिश्चलमिदं विद्वान्''''यावता गुरुः ॥३॥

शिष्यव्यतिक्रमं''''निमेः पण्डितमानिनः ॥४॥

निमिः प्रतिददौ शापं''''धर्ममजानतः ॥५॥

इत्युससर्ज एवं देहं निमिध्यात्मकोविदः''''प्रपितामहः ॥''''देवा ऊचुः—विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम्। उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः ॥११॥

जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः। मिथिलो मथनाज्जातो, मिथिला येन निर्मितः ॥१३॥

रामगुत्त-रामपुत्त—इसिभासियाइं (ऋषिभाषित) के रामपुत्तिय नामक २३वें अध्ययन में रामपुत्त नाम मिलता है। वृत्तिकार के अनुसार रामगुप्त एक राजर्षि थे।[3] **बाहुक-आर्हतऋषि**—इसिभासियाइं के १४वें बाहुक अध्ययन में बाहुक को आर्हतऋषि कहा गया है। महाभारत के तीसरे आरण्यकपर्व में नल राजा का दूसरा नाम 'बाहुक' बताया गया है, पर वह तो राजा का नाम है।[4] **तारागण-तारायण या नारायण ऋषि**—इसिभासियाइं के ३६वें तारायणिज्ज नामक अध्ययन में तारायण या तारागण ऋषि का नामोल्लेख आता है।[5] **आसिल (असित ?) देविल (देवल) ऋषि**—वृत्तिकार ने असिल और देविल दोनों अलग-अलग नाम वाले ऋषि माने हैं। किन्तु '**इसिभासियाइं**' के तृतीय दविल अध्ययन में असित दविल आर्हतऋषि के रूप में एक ही ऋषि का नामोल्लेख है। सूत्रकृतांग चूर्णि का भी यही आशय प्रतीत होता है। महाभारत में भी तथा भगवद्‌गीता में आसित देवल के रूप में एक ही नाम का कई जगह उल्लेख है। इस पर से ऋषि का देवल गोत्र और असित नाम प्रतीत होता है। वायुपुराण के प्रथम खण्ड में ऋषिलक्षण के प्रकरण के अनुसार असित और देवल ये दोनों पृथक्-पृथक् ऋषि मालूम होते हैं।[6]

दीवायण महारिसी और पारासर—इसिभासियाइं के ४०वें '**दीवायणिज्ज**' नामक अध्ययन में द्वीपायन ऋषि का नामोल्लेख मिलता है, वहाँ पाराशर ऋषि का नामोल्लेख नहीं है। महाभारत में 'द्वैपायन' ऋषि का नाम मिलता है। व्यास, पाराशर (पराशर पुत्र) ये द्वैपायन के ही नाम हैं। ऐसा वहाँ उल्लेख है। वृत्तिकार ने द्वैपायन और पाराशर इन दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसी तरह औपपातिक

II देखिये सुत्तपिटक चरियापिटक पालि, निमिराज चरिया (पृ० ३६०) में—
"पुनापरं यदा होमि मिथिलायं पुरिसुत्तमे। निमि नाम महाराजा, पण्डितो कुसलत्थिको ॥१॥
तदाहं मापयित्वा न चतुस्सालं चतुम्मुखं। तत्थ दानं पवत्तेसिं मिगपक्खिनरादिनं ॥२॥"

III देखिए—उत्तराध्ययन नमि पविज्जा अध्ययन ९ में—
तओ नमि रायरिसी देविंदं इण मव्ववी

३ रामगुत्ते—(I) इसिभासियाइं अ० १३ रामपुत्तिय अध्ययन देखिये।
(II) रामगुप्तश्च राजर्षिः —वृत्तिकार शीलांकाचार्य

४ इसिभासियाइं में १४ वाँ अध्ययन बाहुकज्झयणं देखिये।

५ इसिभासियाइं में ३६ वाँ तारायणिज्जज्झयणं देखिये।

६ (क) (I) इसिभासियाइं में तीसरे दविलज्झयणं में—"असिएण दविलेणं अरहता इसिणा बुइतं।"
(II) आसिलो नाम महर्षिः देविलो द्वैपायनश्च तथा पाराशराख्यः॥ —शीला० वृत्ति
(III) असितो देवलो व्यासः स्वयंचैव ब्रवीषि मे॥ —भगवद्‌गीता अ० १०/१३
(IV) वायुपुराण में ऋषि लक्षण में—
काश्यपश्चैव वत्सारो विश्रनोरैभ्य एव च।
असितो देवलश्चैव षडेते ब्रह्मवादिनः॥
(V) देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् (महा० भीष्म पर्व ६।६४।६)
"नारदस्य च संवादं देवलस्यासितस्य च।" (शान्ति पर्व १२।२६७।१)

(उववाइय) सूत्र में आठ माहन-परिव्राजकों में 'परासर' और 'दीवायण' इन दो परिव्राजकों (ऋषियों) के नामोल्लेख हैं।[७]

मोक्षप्राप्ति का कारण शीतलजलादि था या और कुछ ?—भ्रान्ति उत्पादक एवं बुद्धिवञ्चक अन्यतीर्थिक लोग मोक्ष के वास्तविक कारणों से अनभिज्ञ होते हैं, इसलिए वे प्रसिद्ध ऋषियों के नाम के साथ कच्चे पानी, पंचाग्नि आदि तप, हरी वनस्पति आदि के उपभोग को जोड़कर उसी को मोक्ष का कारण बताते हैं। वृत्तिकार कहते हैं कि वे परमार्थ से अज्ञ यह नहीं जानते कि वल्कलचीरी आदि जिन ऋषियों या तापसों को सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हुई थी, उन्हें किसी निमित्त से जातिस्मरण आदि ज्ञान उत्पन्न हुआ था, जिससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र प्राप्त हुआ था, किन्तु सर्वविरति परिणामरूप भावलिंग के बिना केवल जीवोपमर्दक शीतजल-बीज-वनस्पति आदि के उपभोग से सर्वथा कर्मक्षय नहीं हो सकता। चूर्णिकार भी यही बात कहते हैं कि अज्ञलोग कहते हैं—इन प्रत्येकबुद्ध ऋषियों को वनवास में रहते हुए बीज, हरितवनस्पति आदि के उपभोग से केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था, जैसे कि भरतचक्रवर्ती को शीशमहल में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। वे कुतीर्थी यह नहीं जानते कि किस भाव में प्रवर्त्तमान व्यक्ति को केवलज्ञान होता है? किस रत्नत्रय से सिद्धत्व प्राप्त होता है, इस सैद्धान्तिक तत्त्व को न जानते हुए वे विपरीत प्ररूपणा कर देते हैं।[८]

कैसे चारित्र से पतित या बुद्धिभ्रष्ट हो जाते हैं ?—ऐसे अज्ञानियों द्वारा महापुरुषों के नाम से फैलाई हुई गलत बातों को सुनकर अपरिपक्व बुद्धि या मन्दपरिणामी साधक चक्कर में आ जाते हैं, वे उन बातों को सत्य मान लते हैं, प्रासुक जल पीने तथा स्नान न करने से घबराये हुए वे साधक पूर्वापर का विचार किये बिना झटपट शीतल जल, आदि का उपभोग करने लगते हैं, शिथिलाचार को सम्यक्आचार में परिगणित कराने के लिए पूर्वोक्त दुहाई देने लगते हैं कि जब ये प्रसिद्ध ऋषि सचित्त जल पीकर निरन्तर भोजी रहकर, एवं फल बीज वनस्पति (कन्दमूल आदि) खाकर मुक्त हुए हैं, महापुरुष बने हैं, तो हम वैसा क्यों नहीं कर सकते? जैसा कि २२८वीं सूत्रगाथा में कहा है—**एते पुव्वं ···सिद्धा इति मे समणुस्सुतं।**" इस प्रकार के हेत्वाभास (कुतर्क) द्वारा शिथिल श्रमण साध्वाचार से भ्रष्ट हो जाते हैं। उनकी बुद्धि चकरा जाती है, वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर चारित्रभ्रष्ट या मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं और अन्त में संसार-सागर में डूब जाते हैं। यही बात शास्त्रकार ने २२५वीं सूत्रगाथा में स्पष्ट कह दी है—**आहंसु महापुरिसा ·······मन्दो विसीयती।**"[९]

---

७ (क) "दीवायण महारिसी। पारासरे·····"—(I) तत्थ खलु इमे अट्ठमाहण-परिव्वायगा भवंति—
कण्हे य करकंडे य अंबडे य परासरे।
कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते य नारए।—ओववाइयसुत्तं।
(ख) महाभारते—परासरसुतः (पाराशरः) श्रीमान् व्यासो वाक्य मुवाचह।" —शान्तिपर्व १२।३२७।२०
(ग) एतद्विषयक विशेष विवेचन 'पुरातत्त्व' (त्रैमासिक पत्रिका) में प्रकाशित 'सूत्रकृतांग मां आवतां विशेष नामो' शीर्षक लेख में उपलब्ध है। —संपादक

८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९६
(ख) सूयगडंग चूर्णि पृ० ९६

९ (क) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४७३-४७४ के अनुसार

इस उपसर्ग से पीड़ित साधकों की अवदशा—अदूरदर्शी भोले-भाले मन्दपराक्रमी साधक जब भ्रान्ति-जनक मिथ्यादृष्टि दु:शिक्षकों के चक्कर में आकर ऐसे उपसर्ग के आने पर झट फिसल जाते हैं। ऐसे साधकों की अवदशा को शास्त्रकार दो दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित करते हैं—**तत्थ मन्दा विसीयन्ति**.......... **पिट्ठसप्पीय सम्भमे** आशय यह है—ऐसे मन्द पराक्रमी साधक संयम के भार को वहन करने में इसी प्रकार की तीव्र पीड़ा महसूस करते हैं, जिस प्रकार बोझ से पीड़ित गधे चलने में दु:ख महसूस करते हैं। अथवा ऐसे संयम में शिथिल हतोत्साह साधक अग्निकाण्ड आदि का उपद्रव होने पर हड़बड़ी में भागने वालों के पीछे लकड़ी के टुकड़ों को हाथ में पकड़कर सरक-सरक कर चलने वाले उस लंगड़े की तरह हैं, जो तेजी से मोक्ष की ओर जाने वाले साधकों के पीछे रोते-पीटते रेंगते हुए बेमन से चलते हैं। ऐसे कच्ची बुद्धि वाले साधक उपसर्ग पीड़ित होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

कठिन शब्दों की व्याख्या—आंहसु=कहते हैं। आहिता='आ समन्तात् ख्याता:—आख्याता:, प्रख्याता: राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगता अर्थात्—पूरी तरह ख्यात यानी प्रख्यात, राजर्षि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त। **इह सम्मता**=इहापि आर्हत-प्रवचने सम्मता अभिप्रेता—अर्थात् यहाँ ऋषिभाषित आदि आर्हत प्रवचन में भी इनमें से कई माने गये हैं। **सम्भमे**—अग्निकाण्ड आदि होने पर भगदड़ के समय।[१०]

सुख से ही सुख प्राप्ति : मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग—

२३०. **इहमेगे उ भासंति सातं सातेण विज्जती।**
जे तत्थ आरियं मग्गं परमं च समाहियं॥ ६॥

२३१. **मां एयं अवमन्नंता अप्पेणं लुम्पहा बहुं।**
एतस्स अमोक्खाए अयहारि व्व जूरहा॥ ७॥

२३२. **पाणाइवाए वट्टंता मुसावाए असंजता।**
अदिन्नादाणे वट्टंता मेहुणे य परिग्गहे॥ ८॥

२३०. इस (मोक्ष प्राप्ति के) विषय में कई (मिथ्यादृष्टि बौद्ध) कहते हैं—'सुख (साता) सुख से (साता से) ही प्राप्त होता है।' (परन्तु) अनन्तसुख रूप मोक्ष के विषय में जो आर्य (समस्त हेय धर्मों से दूर रहने वाला एवं तीर्थंकर प्रतिपादित) मार्ग (मोक्षमार्ग) है, तथा जो परमसमाधि रूप (ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक) है, (उसे) जो (छोड़ देते हैं, वे व्यामूढ़मति हैं।)

२३१. इस (जिनप्ररूपित मोक्षमार्ग) को तिरस्कृत करते हुए ('सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है', इस भ्रान्त मान्यता के शिकार होकर ठुकराते हुए) तुम (अन्य साधक) अल्प (तुच्छ) विषय सुख के लोभ से अत्यन्त मूल्यवान मोक्षसुख को मत बिगाड़ो (नष्ट मत करो)। (सुख से ही सुख प्राप्त होता है) इस मिथ्या मान्यता को नहीं छोड़ने पर सोने को छोड़ कर लोहा लेने वाले वणिक् की तरह पछताओगे।

---

१० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९६

२३२. आप (सुख से सुख प्राप्ति के मिथ्यावाद के प्ररूपक) लोग प्राणातिपात (हिंसा) में प्रवृत्त होते हैं, (साथ ही) मृषावाद (असत्य), अदत्तादान (चोरी), मैथुन (अब्रह्मचर्य) सेवन और परिग्रह में भी प्रवृत्त होते हैं, (इस कारण आप लोग) असंयमी हैं ।

विवेचन—'**सुख से ही सुख प्राप्ति : एक मिथ्यामान्यता रूप उपसर्ग**—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (२३० से २३२ तक) में मोक्षमार्ग से भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। इस मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के सम्बन्ध में यहाँ दो तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं—(१) 'सुख से ही सुख मिलता है, इस मिथ्या मान्यता के शिकार मूढ़मति साधक रत्नत्रयात्मक अनन्त सुखात्मक मोक्ष मार्ग को छोड़ देते हैं, (२) ऐसे मिथ्यावाद के प्ररूपक तथा ऐसे उपसर्ग से पीड़ित लोग पांचों आस्रवों में प्रवृत्त होते देर नहीं लगाते ।[11]

'सुख से ही सुख की प्राप्ति'—यह मान्यता किसकी, कैसे और क्यों? चूर्णिकार ने यह मत बौद्धों का माना है, वृत्तिकार ने भी इसी का समर्थन किया है, किन्तु साथ ही यह भी बताया है कि कुछ जैन श्रमण, जो केशलोच, पादविहार, रात्रिभोजन-त्याग, कठोर तप आदि कष्टों से सन्तप्त हो जाते हैं, वे भी इस मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के प्रवाह में वह जाते हैं और मोक्षमार्ग से भटक जाते हैं। वे कहते हैं—सुख द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है, अतः सुखप्राप्ति के लिए कष्ट सहन करने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग सुख प्राप्ति के लिए तपरूप कष्ट उठाते है, वे भ्रम में हैं। बौद्धग्रन्थ 'सुत्तपिटक' मज्झिम निकाय के चूल दुक्खखंध सुत्त में निर्ग्रन्थों के साथ गौतम-बुद्ध का जो वार्तालाप हुआ है, उसमें निर्ग्रन्थों के कथन का जो उत्तर दिया है, उस पर से यह बौद्धमत है, इतना स्पष्ट हो जाता है।[12] इसके अतिरिक्त 'इसिभासियाइं' के ३८वें अध्ययन—'साइपुत्तिज्ज' में इस मान्यता का स्पष्ट उल्लेख है—'जो सुख से सुख उपलब्ध होता है; वही अत्यन्त सुख है, सुख से जो दुःख उपलब्ध होता है, मुझे उसका समागम न हो।' सातिपुत्र बुद्ध का यह कथन है—"मनोज्ञ भोजन एवं मनोज्ञ शयनासन का सेवन करके मनोज्ञ घर में जो भिक्षु (मनोज्ञ पदार्थ का) ध्यान करता है, वही समाधि (सुख) युक्त है। अमनोज्ञ भोजन एवं अमनोज्ञ शयनासन का उपभोग करके अमनोज्ञ घर में (अमनोज्ञ पदार्थ का) जो भिक्षु ध्यान करता है, वह दुःख का ध्यान है।"[13]

---

११ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ७७ से ८२ का सारांश

१२ "...न खो, आवुसो गोतम, सुखेन सुखं अधिगंतव्वं, दुक्खेन खो सुखं अधिगंतव्व ..."।

—सुत्तपिटक मज्झिमनिकाय चूलदुक्खखंध सूत्र पृ० १२८/१२९

१३ (क) "जं सुहेण सुहं लद्धं अच्चंत सुखमेव तं ।
जं सुखेण दुहं लद्धं मा मे तेण समागमो ।" —सातिपुत्तेण बुद्धेण अरहता—वुइतं

मणुण्णं भोयणं भुच्चा, मणुण्णं सयणासणं ।
मणुण्णंसि अगारंसि झाति भिक्खु समाहिए ॥२॥
अमणुण्णं भोयणं भुच्चा, अमणुण्णं सयणासणं ।
अमणुण्णंसि गेहंसि दुक्खं भिक्खू झियायती ॥३॥ —इसिभासियाइं अ० ३८ पृ० ८५

(ख) सूयगडंग मूलपाठ टिप्पण युक्त (जम्बूविजय जी) प्रस्तावना एवं परिशिष्ट पृ० १६ एवं ३६५

यहाँ 'सातिपुत्त' शब्द का अर्थ गौतम बुद्ध विवक्षित हो तो इस शब्द का संस्कृत रूपान्तर 'शाक्य-पुत्र' करना चाहिए। परन्तु इसिभासियाइं की टीका में अन्त में शारिपुत्रीयमध्ययनम् कहा गया है। यहाँ 'सातिपुत्र' शब्द का अर्थ यदि 'शारिपुत्र' अभीष्ट हो तो यहाँ बुद्ध का अर्थ बौद्ध (बुद्ध) शिष्य करना चाहिए, जैसा कि इसिभासियाइं की टीका में भी 'इति बौद्धर्षिणा भाषितम् कहा गया है।

'सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है', इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त, बौद्ध यह कुतर्क प्रस्तुत करते हैं—न्यायशास्त्र का एक सिद्धान्त है—'कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, इस दृष्टि से जिस प्रकार शालिधान के बीज से शालिधान का ही अंकुर उत्पन्न होता है, जौ का नहीं; उसी प्रकार इहलोक के सुख से ही परलोक का या मुक्ति का सुख मिल सकता है, मगर लोच आदि के दुःख से मुक्ति का सुख नहीं मिल सकता।'

इसके अतिरिक्त वे कहते हैं—'समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख से सभी उद्विग्न हो उठते हैं, इसलिए सुखार्थी को स्वयं को (दूसरों को भी) सुख देना चाहिए सुख प्रदाता ही सुख पाता है। अतः मनोज्ञ आहार-विहार आदि करने से चित्त में प्रसन्नता (साता) प्राप्त होती है, चित्त प्रसन्न होने पर एकाग्रता (ध्यान विषयक) प्राप्त होती है, और उसी से मुक्ति की प्राप्ति होती है किन्तु लोच आदि काया कष्ट से मुक्ति नहीं हो सकती।

इसी भ्रान्त मान्यता के अनुसार उत्तरकालीन बौद्ध भिक्षुओं की वैषयिक सुख युक्त दिनचर्या के प्रति कटाक्ष रूप में यह प्रसिद्ध हो गया—

> "मृद्वी शय्या, प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे।
> द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः।"

'भिक्षु को कोमल शय्या पर सोना चाहिए, प्रातःकाल उठते ही दूध आदि पेय पदार्थ पीना, मध्याह्न में भोजन और अपराह्न में शर्बत, दूध आदि का पान करना चाहिए, फिर आधी रात में किशमिश और मिश्री खाना चाहिए, इस प्रकार की सुखपूर्वक दिनचर्या से अन्त में शाक्यपुत्र (बुद्ध) ने मोक्ष देखा (बताया) है।[१४]

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म की एक शाखा के भिक्षुओं में उपर्युक्त प्रकार का आचारशैथिल्य आ गया था। वृत्तिकार ने इस सूत्रगाथा (२३०) की वृत्ति में इस तथ्य का विशेष रूप से स्पष्ट उल्लेख किया है। सम्भव है, नौवीं-दसवीं सदी में बौद्ध भिक्षुओं के आचार-शिथिल जीवन का यह आँखों देखा वर्णन हो। थेरगाथा में बौद्ध भिक्षुओं की आचारशिथिलता का वर्णन इसी से मिलता-जुलता है। सम्भव है—थेरगाथा के प्रणयन काल में बौद्ध भिक्षुओं में यह शैथिल्य

---

१४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पृ० ९६ में उद्धृत
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४७६-४७७

आचुका होगा, जिसकी प्रतिध्वनि थेरगाथा में स्पष्ट अंकित है।[१५] इसीलिए शास्त्रकार ने इस भ्रान्त मान्यता का उल्लेख किया है—'इहमेगेउ····सातं सातेण विज्जती।

कितनी भ्रान्त और मिथ्या मान्यता है यह ?—इसी गाथा के उत्तरार्द्ध में इस मान्यता को भ्रान्त और मिथ्या बताया गया है। वृत्तिकार ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए बौद्धग्रन्थों में जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं, वे निःसार हैं। मनोज्ञ आहार आदि को, जो सुख का कारण कहा है, वह भी ठीक नहीं, मनोज्ञ आहार से कभी-कभी हैजा (विसूचिका), अतिसार एवं उदरशूल आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

इसलिए मनोज्ञ आहार एकान्ततः सुख का कारण नहीं है। न ही मनोज्ञ शयनासन ही सुख का कारण है, क्योंकि उससे प्रमाद, अब्रह्मचर्य आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, जो दुःख के कारण हैं। वास्तव में इन्द्रिय-विषयजन्य सुख दुःख के क्षणिक प्रतीकार का हेतु होने से वह सुख का आभास-मात्र है, उसमें अनेक दुःख गर्भित होने से, वह परिणाम में विष-मिश्रित भोजन के समान दुःख रूप ही है, दुःख का ही कारण है। फिर जो सुख इन्द्रियों या पदार्थों के अधीन है, वह पराधीन है। इन्द्रियों के विकृत या नष्ट हो जाने पर या पदार्थों के न मिलने या वियोग हो जाने से वह सुख अत्यन्त दुःख रूप में परिणत हो जाता है। अतः वैषयिक सुख परवश होने से दुःख रूप ही है।

इसके विपरीत त्याग, तप, वैराग्य, यम, नियम, संयम, ध्यान, साधना, भोजनादि परतन्त्रता से मुक्ति, स्वाधीन सुख हैं, ये ही वास्तविक सुख या मोक्षसुख हैं। अतः दुःखरूप विषयजन्य पराधीन सुख परमानन्दरूप ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक स्वाधीन मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है? इसीलिए कहा है—

> **दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः।**
> **उत्कीर्णवर्णपदपंक्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात्॥"**

अर्थात्—विवेकमूढ़ लोग अपनी विपरीत गति, मति और दृष्टि के कारण दुःखरूप पंचेन्द्रिय विषयों में सुख मानते हैं। किन्तु जो यम-नियम, तप, त्याग आदि सुखरूप हैं, उन्हें वे दुःखरूप समझते हैं। जैसे किसी धातु पर उत्कीर्ण की (खोदी) हुई अक्षर, पद, एवं पंक्ति देखने पर उलटी दिखाई देती है, लेकिन उसे मुद्रित कर दिये जाने से वह सीधी हो जाती है। इसी तरह संसारी जीवों की सुख-दुःख के विषय में उलटी समझ होती है। अतः विषय-भोग को दुःखरूप और यम-नियमादि को सुखरूप समझने से उनका यथार्थरूप प्रतीत होता है।

तथाकथित बौद्धभिक्षुओं ने केशलोच, प्रखरतप, भूमिशयन, भिक्षाटन, भूख-प्यास, शर्दी-गर्मी आदि

---

१५ देखिये थेरगाथा में उत्तरकालीन बौद्ध भिक्षुओं के शिथिलाचार की झांकी—

> अञ्ञथा लोयनाथम्हि तिट्ठंते पुरिसुत्तमे।
> इरियं असि भिक्खूनं अञ्ञथा दानि दिस्सति॥
> सब्बासवपरिक्खीणा महाझायी महाहिता।
> निब्बुता, दानि ते थेरा परित्ता दानि तादिसा॥

—थेरगाथा ९२१, ९२८

परीषह का सहन, आदि दुःख के कारण माने हैं, वे उनके लिए हैं जो मन्दपराक्रमी हैं, परमार्थदर्शी नहीं हैं, अतीव दुर्बल हृदय हैं। परन्तु जो महान् दृढ़धर्मी साधक हैं, परमार्थदर्शी हैं, आत्म स्वभाव में लीन एवं स्व-पर कल्याण में प्रवृत्त हैं, उनके लिए ये सब साधनाएँ दुःखरूप नहीं हैं, बल्कि स्वाधीनतारूप सुख की जननी हैं। अतः सम्यग्ज्ञानपूर्वक की गई ये सब पूर्वोक्त साधनाएँ मोक्ष सुख के साधन हैं। परमार्थ-चिन्तक महान् आत्मा के लिए ये बाह्य कष्ट भी सुखरूप है, दुःखरूप नहीं। कहा भी है—

> **"तण संथारनिसण्णो वि मुनिवरो भट्टरागमयमोहो।**
> **जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि ?"**

"राग, मद और मोह से रहित मुनिवर तृण (घास) की शय्या पर सोया (बैठा) हुआ भी जिस परमानन्दरूप मुक्ति सुख का अनुभव करता है, वह चक्रवर्ती के भाग्य में भी कहाँ है ?" उन वाह्यदुःखों को तत्त्वज्ञ मुनि सुखजनक कैसे मानते हैं ?

इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**"जे तत्थ आरियं परमं च समाहिए।"** तात्पर्य यह है कि परम समाधि-कारक (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप) मोक्षमार्ग है, वैषयिक सुख नहीं।[16]

ऐसे मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के चक्कर में आने का दुष्परिणाम—(१) इस उपसर्ग के प्रभाव में आने पर साधक लोहवणिक् की तरह बहुत पश्चात्ताप करता है, तथा (२) हिंसादि आश्रवों में प्रवृत्त हो जाता है।

२३१ वीं सूत्रगाथा में शास्त्रकार इस उपसर्ग के शिकार लोगों पर अनुकम्पा लाकर उपदेश देते हैं—इस मिथ्यामान्यता के चक्कर में पड़कर वीतराग प्ररूपित मोक्षमार्ग (अनन्तसुख मार्ग) को या जिन सिद्धान्त को ठुकरा रहे हो, और तुच्छ विषय-सुखों में पड़कर मोक्षसुख की बाजी हाथ से खो रहे हो यह, तुच्छ वस्तु के लिए महामूल्यवान् वस्तु को खोना है! छोड़ो इस मिथ्या मान्यता को। अगर मिथ्या मान्यता को हठाग्रहवश पकड़े रखोगे, तो वाद में तुम्हें उसी तरह पछताना पड़ेगा, जिस तरह सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ छोड़कर हठाग्रहवश सिर्फ लोहा पकड़े रखने वाले लोहवणिक् को बहुत पछ-ताना पड़ा था। सावधान! इस मिथ्याछलना के चक्कर में पड़कर अपना अमूल्य जीवन बर्बाद मत करो! अन्यथा तुम्हें बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ेगी।

२३२ वीं गाथा में शास्त्रकार इस कुमान्यता के शिकार दुराग्रही व्यक्ति को इसके दुष्परिणाम बताते हुए कहते हैं—आप लोग जब इस कुमान्यता की जिद् पकड़ लेते हैं तो एकमात्र वैषयिक सुख के पीछे हाथ धोकर पड़ते हैं, तब अपने लिए आप विविध सुस्वादु भोजन बनवाकर या स्वयं पचन-पाचन के प्रपंच आदि में, आलीशान भवनों के बनाने, सुखसाधनों को जुटाने आदि की धुन में अहिंसा महाव्रत को ताक में रख देते हैं, बात-बात में जीवहिंसा का आश्रय लेते हैं। स्वयं को प्रव्रजित एवं भिक्षाशील कहकर गृहस्थों का सा आचरण करते हैं, दम्भ दिखावा करते हैं, यह असत्य भाषण में प्रवृत्त होते हैं। सुखवृद्धि के लिए नाना प्रकार के सुख साधनों को जुटाते हैं, हाथी, घोड़ा, ऊँट, जमीन, आश्रम आदि

---

१६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९६-९७

अपने स्वामित्व में रखते हैं, उन पर ममत्व करके आप परिग्रह-सेवन भी करते हैं। सुख प्राप्ति की धुन में रति-याचना करने वाली ललना के साथ काम-सेवन भी कर लेना सम्भव है। और सुख साधन आदि जुटाने की धुन में आप दूसरे के अधिकार को हरण एवं वेईमानी भी करते हैं। यों सर्व प्रसिद्ध पाँचों पापाश्रवों में आप वेखटके प्रवृत्त होते हैं। फिर भला आपको संयमी कौन कहेगा।[१६] इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—"पाणाइवाते··· परिग्गहे"

'सुख से सुख की प्राप्ति होती है' इस प्रकार की मिथ्या मान्यता के कारण बौद्ध भिक्षुओं में पूर्णरूप से शिथिलाचार व्याप्त हो गया था, वे हिंसा आदि पांचों पापों में प्रवृत्त हो गये थे। शास्त्रकार द्वारा प्रतिपादित उक्त पांचों पापों का बौद्ध भिक्षुओं पर आक्षेप थेरगाथा में अंकित वर्णन से यथार्थ सिद्ध हो जाता है। थेरगाथा में यह भी शंका व्यक्त की गई है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्ध शासन विनष्ट हो जाएगा। आज भिक्षुओं में ये पाप वासनाएँ उन्मत्त राक्षसों-सी खेल रही हैं। वासनाओं के वश होकर वे सांसारिक विषय भोगों की प्राप्ति के लिए यत्र-तत्र दौड़ लगाते हैं। असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं। भिक्षा के लिए कुकृत्य करते हैं। वे सभी शिल्प सीखते हैं। गृहस्थों के समान आजीविका करते हैं। वे भिक्षु औषधों के विषय में वैद्यों की तरह, काम-धाम में गृहस्थों की तरह, विभूषा करने में गणिकावत् ऐश्वर्य में क्षत्रिय तुल्य हैं। वे धूर्त हैं, प्रवंचक हैं, ठग हैं, असंयमी हैं। वे लोभवश धन संग्रह करते हैं, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते हैं, संघ में संघर्ष करते हैं आदि।[१७]

शिथिलाचारी बौद्धों के जीवन का यह कच्चा चिट्ठा बताता है कि एक मिथ्यामान्यता का उपसर्ग साधक को कितना विचार भ्रष्ट कर देता है।

पाठान्तर और कठिन शब्दों की व्याख्या—जं तत्थ आरियं मग्गं परमं च समाहियं—वृत्तिकार के अनुसार उस मोक्ष विचार के अवसर पर आर्यमार्ग (जैनेन्द्र प्रतिपादित मोक्ष मार्ग) जो परम समाधि युक्त (ज्ञान-दर्शन चारित्रात्मक) है, उसे जो कई (शाक्यादि) अज्ञ छोड़ देते हैं, वे सदा संसावशवर्ती होते हैं। चूर्णिकार ने 'जितत्थ आयरियं मग्गं परमं च समाधिता' पाठान्तर मान कर अर्थ किया है—**जिता नाम दुःख प्रव्रज्या कुर्वाणा अपि न मोक्षं गच्छत वयं सुखेनैव मोक्षं गच्छाम इत्यतो भवन्तो जिताः तेनास्मदीयार्यमार्गेण परमं ति समाधित्ति मनःसमाधिः परमा असमाधीए शारीरादिना दुःखेनेत्यर्थः**' जिता कहते हैं—दुःखपूर्वक प्रव्रज्या करते हुए, मोक्ष नहीं जा सकते हुए भी हम सुखपूर्वक मोक्ष चले जाएँगे, इस प्रकार आप जित हैं, उस हमारे आर्य मार्ग से होने वाली मनःसमाधि (को छोड़कर) शारीरिक दुःख से असमाधि (प्राप्त करते हैं)। **इहमेगे उ भासंति**=दार्शनिक क्षेत्र में कई कहते हैं। कहीं 'भासंति' के बदले '**मन्नंति**' पाठ है। उसका अर्थ

१६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९६-९७

१७ (क) देखिये थेरगाथा में अंकित बौद्ध साधुओं की पापाचार प्रवृत्ति का निदर्श—

····भेसज्जेसु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही।
गणिका व विभूसायं, इस्सरे खत्तिओ यथा॥
नेकतिका वंचनिका कूटसक्खा अपाटुका।
वहूहि परिकप्पेहि आमिसं परिभुञ्जरे।

—थेरगाथा ९३८-९३९

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या टिप्पण पृ० ४८३

होता है—मानते हैं। 'मन्नंति' पाठ मान्यता को सूचित करता है, इसलिए यह अधिक संगत प्रतीत होता है।[१८]

अनुकूल कुतर्क से वासना तृप्ति रूप सुखकर उपसर्ग—

२३३. **एवमेगे तु पासत्था पण्णवेंति अणारिया।**
इत्थीवसं गता बाला जिणसासणपरम्मुहा ॥ ९ ॥

२३४. **जहा गंडं पिलागं वा परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।**
एवं विण्णवणित्थीसु दोसो तत्थ कुतो सिया ? ॥ १० ॥

२३५. **जहा मंधादए नाम थिमितं भुंजती दगं।**
एवं विण्णवणित्थीसु दोसो तत्थ कुतो सिया ? ॥ ११ ॥

२३६. **जहा विहंगमा पिंगा थिमितं भुंजती दगं।**
एवं विण्णवणित्थीसु दोसो तत्थ कुतो सिया ? ॥ १२ ॥

२३७. **एवमेगे उ पासत्था मिच्छादिट्ठी अणारिया।**
अज्झोववन्ना कामेहिं पूतणा इव तरुणए ॥ १३ ॥

२३३ स्त्रियों के वश में रहे हुए अज्ञानी जिनशासन से पराङ्मुख अनार्य कई पाशस्थ या पार्श्वस्थ इस प्रकार (आगे की गाथाओं में कही जाने वाली बातें) कहते हैं :—

२३४. जैसे फुंसी या फोड़े को दबा (-कर उसका मवाद निकाल) दे तो (एक) मुहूर्त्त में ही (थोड़ी देर में ही) शान्ति हो जाती है, इसी तरह समागम की प्रार्थना करने वाली (युवती) स्त्रियों के साथ (समागम करने पर थोड़ी ही देर में शान्ति हो जाती है।) इस कार्य में दोष कैसे हो सकता है ?

२३५. जैसे मन्धादन—भेड़ बिना हिलाये जल पी लेती है, इसी तरह (किसी को पीड़ा दिये बिना) रति प्रार्थना करने वाली युवती स्त्रियों के साथ (सहवास कर लिया जाए तो) इसमें (कोई) दोष कैसे हो सकता है ?

२३६. जैसे पिंगा नामक पक्षिणी बिना हिलाये पानी पी लेती है, इसी तरह कामसेवन के लिए प्रार्थना करने वाली तरुणी स्त्रियों के साथ (समागम कर लिया जाए तो) इस कार्य में क्या दोष है ?

२३६. पूर्वोक्त रूप से मैथुन-सेवन को निर्दोष-निरवद्य मानने वाले कई पाशस्थ (पार्श्वस्थ) मिथ्या-दृष्टि हैं, अनार्य हैं; वे काम-भोगों में वैसे ही अत्यासक्त हैं, जैसे पूतना डाकिनी (दुधमुंहे) बच्चों पर आसक्त रहती है।

---

१८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९६-९७
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४१

विवेचन—समागम-प्रार्थना पर स्त्री समागम निर्दोष : एक मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग—प्रस्तुत पाँच सूत्र गाथाओं में एक ऐसे अनुकूल उपसर्ग का विश्लेषण किया गया है, जो अत्यन्त भयंकर हेत्वाभासों द्वारा कुतर्क देकर वासना तृप्ति रूप सुखकर एवं अनुकूल उपसर्ग के रूप में उपपन्न किया गया है।

ऐसे भयंकर अनुकूल उपसर्ग के शिकार कौन ?—सूत्र गाथा २३३ में इस भयंकर मान्यता के प्ररूपक तथा इस उपसर्ग से पीड़ित कौन और कैसे हैं ? इसका संक्षेप में परिचय दिया गया है। प्रस्तुत सूत्र गाथा में उनके लिये ५ विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं—(१) पाशस्थ या पार्श्वस्थ, (२) अनार्य, (३) स्त्रीवशंगत, (४) बाल और (५) जिनशासनपराङ्मुख।

एगे—वृत्तिकार ने 'एगे' पद की व्याख्या करते हुए मान्यता के प्ररूपक एवं इस उपसर्ग के शिकार प्राणातिपात आदि में प्रवृत्त नीलवस्त्रधारी विशिष्ट बौद्ध साधकों, अथवा नाथवादिक मण्डल में प्रविष्ट शैवसाधक विशेषों तथा जैन संघीय ऐसे कुशील एवं पार्श्वस्थ श्रमणों को बताया है। उन्हें '**पासत्या**' आदि कहा गया है। इन सब का अर्थ इस प्रकार हैं—(१) **पासत्या**—इसके दो रूप संस्कृत में बनते हैं—पार्श्वस्थ और पाशस्थ। प्रथम पार्श्वस्थ रूप का अर्थ है—जिसका आचार-विचार शिथिल हो। शीलांकाचार्य ने इनमें नीलवस्त्रधारी विशिष्ट बौद्ध-साधकों एवं नाथवादी सम्प्रदाय के शैव साधकों को भी समाविष्ट किया है। इन्हें पार्श्वस्थ इसलिए भी बताया है कि ये उत्तम अनुष्ठान से दूर रहते थे, कुशील सेवन करते थे, स्त्री परीषह से पराजित थे। **पाशस्थ** इसलिए बताया है कि ये स्त्रियों के मोहपाश में फंसे हुए थे।

अणारिया—ये अनार्य कर्म करने के कारण अनार्य हैं। अनार्य कर्म हैं—हिंसा, असत्य, चोरी-ठगी-बेईमानी, मैथुन सेवन एवं परिग्रह। पिछली सूत्रगाथा २३२ में तथा उसके टिप्पण में थेरगाथा के प्रमाण देकर तथाकथित बौद्ध साधकों के हिंसादि में प्रवृत्त होना सिद्ध कर आए हैं। इसीलिए उन्हें अनार्य कहा है।

इत्थीवसंगया—जो तरुण कामिनियों की गुलामी करते हों, जो उनके मोहक जाल में फँसकर उनके वशवर्ती बन गये हों, वे स्त्री वंशगत हैं। स्त्रियों के वे कितने अधिक गुलाम थे ? यह उन्हीं के शब्दों में देखिये—

प्रिया दर्शनमेवाऽस्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः।
प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणाऽपि चेतसा ॥

"मुझे प्रिया का दर्शन होना चाहिए, फिर दूसरे दर्शनों से क्या प्रयोजन ? क्योंकि प्रिया दर्शन से सराग चित्त होने पर भी निर्वाण-सुख प्राप्त होता है।"

बाला—अध्यात्म जगत् में बाल वे हैं—जो अपने हिताहित से अज्ञ हों, जो हिंसादि पापकर्म करने की नादानी करके अपने ही विनाश को निमन्त्रण देते हों, जो बात-बात में रोष, द्वेष, ईर्ष्या, मोह, कषाय आदि से उत्तेजित हो जाते हैं।[१९]

---

१९ (क) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भा० १, पृ० १४४
(ख) सूयगडंग सुत्तं, मूलपाठ टिप्पण युतं, प्रस्तावना, पृ० १६

'जिणसासण परम्मुहा'—राग-द्वेष विजेता जिन कहलाते हैं, उनका शासन है—उनकी आज्ञा—कषाय, मोह और राग-द्वेष को उपशान्त करने की आज्ञा से विमुख—अर्थात्—संसाराभिसक्त तथा जैनमार्ग को कठोर समझकर उससे घृणा, द्वेष करने वाले जिनशासन पराङ्मुख कहलाते हैं।

काम-भोगों में अत्यासक्त—सूत्रगाथा २३७ में इन भ्रष्ट साधकों को, फिर वे चाहे जैन श्रमण ही क्यों न हों, उन्हें पाशस्थ, मिथ्यादृष्टि एवं अनार्य बताया गया है। और कहा गया है कि पिशाचिनी पूतना जैसे छोटे बच्चों पर आसक्त रहती है, वैसे ही ये मिथ्यात्वी अनार्य एवं पाशस्थ तरुणियों के साथ काम-भोगों के सेवन में अत्यधिक आसक्त रहते हैं। शास्त्रकार कहते हैं—"**एवमेग उ····पूतणा इव तरुणए।**" चूर्णिकार '**पूयणा इव तण्णए**' पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—"पूयणा नाम औरणीया, तस्या अतीव तण्णगे छावके स्नेहः।" 'पूयणा' कहते हैं—भेड़ को, उसका अपने बच्चे पर अत्यधिक स्नेह (आसक्ति) रहता है। वृत्तिकार ने एक उदाहरण देकर इसे सिद्ध किया है—"एक बार अपनी सन्तान पर पशुओं की आसक्ति की परीक्षा के लिए सभी पशुओं के बच्चे एक जलरहित कुंए में रख दिये गए। उसी समय सभी मादा पशु अपने-अपने बच्चों की आवाज सुनकर कुंए के किनारे आकर खड़ी हो गईं। परन्तु भेड़ अपने बच्चों की आवाज सुनकर उनके मोह में अन्धी होकर कुंए में कूद पड़ी। इस पर से समस्त पशुओं में भेड़ की अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक आसक्ति सिद्ध हो गई।" इसी तरह पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यताओं के शिकार साधक कामभोगों में अत्यन्त आसक्त होते हैं।[२०]

जहा गंडं पिलागं वा·······कओ सिया?—प्रथम अज्ञानियों की मान्यता—यह है कि जैसे किसी के शरीर में फोड़ा-फुंसी हो जाने पर उसकी पीड़ा शान्त करने के लिए उसे दबा कर मवाद आदि निकालने से थोड़ी ही देर में उसे सुख-शान्ति हो जाती है, ऐसा करने में कोई दोष नहीं माना जाता; वैसे ही कोई युवती अपनी काम-पीड़ा शान्त करने के लिए समागम की प्रार्थना करती है तो उसके साथ समागम करके उसकी काम-पीड़ा शान्त करने में दोष ही क्या? दोष तो बलात्कार में होता है।

जहा मंधादए····कओ सिया? दूसरे अज्ञानियों की मान्यता—जैसे भेड़ घुटनों को पानी में झुका कर पानी को गंदा किये, या हिलाए बिना ही स्थिरतापूर्वक धीरे से चुपचाप पानी पीकर अपनी तृप्ति कर लेती है, उसकी इस चेष्टा से किसी जीव को पीड़ा नहीं होती, इसी प्रकार सम्भोग की प्रार्थना करने वाली नारी के साथ सम्भोग करने से किसी जीव को कोई पीड़ा नहीं होती और उसकी व अपनी काम-तृप्ति हो जाती है, इस कार्य में दोष ही क्या है?

जहा विहंगमा पिंगा·······कओ सिया?—तीसरे अज्ञानियों की मान्यता—जैसे कपिंजल नाम की चिड़िया आकाश में ही स्थित रहकर दूसरे अंगों द्वारा जलाशय के जल को छुए बिना या हिलाये बिना केवल अपनी चोंच की नोक से जलपान कर लेती है, उसका जलपान जीवघात एवं दोष से रहित है। इसी प्रकार किसी नारी द्वारा समागम प्रार्थना किये जाने पर कोई पुरुष रागद्वेषरहित बुद्धि से, उस स्त्री के अन्य अंगों को कुशा से ढक कर न छूते हुए सिर्फ पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से (काम के उद्देश्य से नहीं)

---

२० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९७ पर से

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४८५-४८६ एवं ४९१

ऋतुकाल में उसके साथ समागम करता है, तो उसमें उसे कोई दोष न होने से उसके तथारूप मैथुन सेवन में दोष नहीं है ।[२१]

खण्डन—इन तीनों गाथाओं में तथाकथित पार्श्वस्थों की तीनों मान्यताओं का मूल स्वर एक ही है—'रति-प्रार्थिनी स्त्री के साथ समागम निर्दोष है' जिसे प्रत्येक गाथा के अन्त में दोहराया गया है—''**एवं विण्णवणित्थीसु दोसो तत्थ कुतो सिया ?**

ये तीनों मान्यताएँ मिथ्या एवं सदोष : क्यों और कैसे ?—विद्वान् निर्युक्तिकार तीन गाथाओं द्वारा इस मिथ्या मान्यता को बहुत बड़ा उपसर्ग ध्वनित करते हुए इसका खण्डन करते हैं—(१) जैसे कोई व्यक्ति तलवार से किसी का सिर काट कर चुपचाप कहीं छिप कर बैठ जाए तो क्या इस प्रकार उदासीनता धारण करने से उसे अपराधी मान कर पकड़ा नहीं जाएगा ? (२) कोई मनुष्य यदि विष की घूंट पीकर चुपचापं रहे या उसे कोई पीते देखे नहीं, इतने मात्र से क्या उसे विषपान के फलस्वरूप मृत्यु के मुँह में नहीं जाना पड़ेगा ? (३) यदि कोई किसी धनिक के भण्डार से बहुमूल्य रत्न चुरा कर पराङ्मुख होकर चुपचाप बैठ जाए तो क्या वह चोर समझ कर पकड़ा नहीं जाएगा ?

तात्पर्य यह है कि कोई मनुष्य मूर्खतावश या दुष्टतावश किसी की हत्या करके, स्वयं विषपान करके या किसी की चोरी करके मध्यस्थ भाव धारण करके बैठ जाए तो वह निर्दोष नहीं हो सकता । दोष या अपराध करने का विचार तो उसने कुकृत्य करने से पहले ही कर लिया, फिर उस कुकृत्य को करने में प्रवृत्त हुआ, तब दोष-संलग्न हो गया, तत्पश्चात् उस दोष को छिपाने के लिए वह उदासीन होकर या छिपकर एकान्त में बैठ गया, यह भी दोष ही है । अतः दोष तो कुकृत्य करने से पूर्व, कुकृत्य करते समय और कुकृत्य करने के पश्चात् यों तीनों समय है । फिर उसे निर्दोष कैसे कहा जा सकता है ? इसी तरह कोई व्यक्ति किसी स्त्री की मैथुन सेवन करने की प्रार्थना मात्र से उसके साथ मैथुन में उस कुकृत्य में प्रवृत्त हो जाता है तो उस रागभाव रूप पाप का विचार आए बिना नहीं रहेगा तत्पश्चात् मैथुन क्रिया करते समय भी तीव्र रागभाव होना अवश्यम्भावी है । इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए मैथुन-सेवन वर्जित है, क्योंकि यह महादोषोत्पत्ति स्थान है ।[२२]

अतः राग होने पर ही उत्पन्न होने वाला, समस्त दोषों का स्थान, हिंसा का कारण एवं संसार-

२१ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९७-९८ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४८७-४८८
(ग) देखिये उन्हीं के धर्मशास्त्र में लिखा है—
धर्मार्थं पुत्रकामाय स्वदारेस्वधिकारिणे ।
ऋतुकाले विधानेन दोषस्तत्र न विद्यते ॥

२२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ५३-५४-५५
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९८
(ग) मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ —दशवैकालिक ६

भ्रमणवर्द्धक मैथुनसेवन—चाहे वह स्त्री-पुरुष दोनों की इच्छा से ही क्यों न हो, कथमपि निर्दोष नहीं हो सकता।[२३]

कठिन शब्दों की व्याख्या—विण्णवणीत्थीसु—स्त्री की विज्ञापना—समागम प्रार्थना होने पर। **मंधादए**—मन्धादन-भेड़। **थिमितं**—हिलाए बिना—स्थिरतापूर्वक। **भुंजती**—उपभोग करती है, पीती है। चूर्णिकार 'पियति' पाठान्तर माना है। **पिंगा विहंगमा**—कपिंजल नामक आकाशचारी पक्षिणी।[२४]

कौन पश्चात्ताप करता है, कौन नहीं !

२३८. **अणागयमपस्संता पच्चुप्पन्नगवेसगा।**
ते पच्छा परितप्पंति खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥ १४ ॥

२३९. **जेहिं काले परक्कंतं न पच्छा परितप्पए।**
ते धीरा बंधणुमुक्का नावकंखंति जीवियं ॥ १५ ॥

२३८. भविष्य में होने वाले दुःख को न देखते हुए जो लोग वर्तमान सुख के अन्वेषण (खोज) में रत रहते हैं, वे बाद में आयु और युवावस्था क्षीण (नष्ट) होने पर पश्चात्ताप करते हैं।

२३९. जिन (आत्महितकर्ता) पुरुषों ने (धर्मोपार्जन-) काल में (समय रहते) धर्माचरण में पराक्रम किया है, वे पीछे पश्चात्ताप नहीं करते। वन्धन से उन्मुक्त वे धीरपुरुष असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करते।

विवेचन—कौन पश्चात्ताप करते हैं, कौन नहीं ?—इस गाथाद्वय (सू० गा० २३८, २३९) में पूर्वोक्त उपसर्गों के सन्दर्भ में यह बताया गया है कि कौन व्यक्ति पश्चात्ताप करते हैं, कौन नहीं करते—(१) जो वर्तमान में किये हुए दुष्कृत्यों से अथवा काम-भोग सुखासक्ति से भविष्य में प्राप्त होने वाले दुःखरूप कुफल का विचार नहीं करते, (२) दूरदर्शी न होकर केवल वर्तमान सुख की तलाश में रहते हैं। ये मात्र प्रेयोवादी लोग यौवन और आयु ढल जाने पर पश्चात्ताप करते हैं, परन्तु (१) जो श्रेयोवादी दूरदर्शी लोग धर्मोपार्जन काल में धर्माचरण में पुरुषार्थ करते हैं, (२) जो वर्तमान कामभोगजनित क्षणिक सुख के लिए असंयमी जीवन जीना नहीं चाहते, (३) जो परीषह-उपसर्ग सहन करने में धीर हैं, और (४) जो स्नेहबन्धन या कर्मबन्धन से दूर रहते हैं, वे पश्चात्ताप नहीं करते।[२५]

पश्चात्ताप करने का कारण और निवारण—जो व्यक्ति पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यताजनित उपसर्गों के शिकार

---

२३ प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः।
नलिका तप्त कणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥१॥
मूलं चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम्।
तस्माद् विषान्नवद् त्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥२॥

२४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९७-९८

२५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २ पृ० ९०-९१ का सारांश

होकर वैषयिक सुखों में और कामजनित सुखों में संलग्न हो जाते हैं, उक्त सुखों की पूर्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, ठगी, कामासक्ति और परिग्रह आदि दुष्कर्मों को निःसंकोच होकर करते हैं। उन दुष्कर्मों को करते समय भविष्य में उनके दुष्परिणाम के रूप में नरक एवं तिर्यञ्च में मिलने वाली यातनाओं का कोई विचार नहीं करते। जिनकी दृष्टि केवल वर्तमान के क्षणिक वैषयिक एवं कामजन्य सुखों की प्राप्ति में टिकी रहती है। काम-भोगों के सेवन से जब सारा शरीर जर्जर हो जाता है, शक्ति-क्षीण हो जाती है, कोई न कोई रोग आकर घेर लेता है, इन्द्रियाँ काम करने से जवाब दे देती हैं, यौवन ढल जाता है, बुढ़ापा आकर झांकने लगता है, मृत्यु द्वार पर दस्तक देने लगती है, तब वे अत्यन्त पछताते हैं– अफसोस ! हमने अपना बहुमूल्य जीवन यों ही बर्बाद कर दिया, कुछ भी धर्माचरण न कर सका, संसार की मोहमाया में उलझा रहा, साधुवेष धारण करके भी लोकवंचना की। एक जैनाचार्य ने उनके पश्चात्ताप को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"मैंने मनुष्य जन्म पाकर अच्छे कामों को नहीं अपनाया—सदाचरण नहीं किया, यों मुट्टियों से आकाश को पीटता रहा और चावलों का भुस्सा कूटता रहा।'

"वास्तव में वैभव के नशे में, यौवन के मद में जो कार्य नहीं करने चाहिए, वे किये। किन्तु जब उम्र ढल जाती है और वे अकृत्य याद आते हैं, तब हृदय में वे कांटे-से खटकने लगते हैं।' इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'**अणागयमपस्संता ... खीणे आउम्मिजोव्वणे** ।

किन्तु जो विवेक सम्पन्न पुरुष समय पर पराक्रम करते हैं, धर्म पुरुषार्थ को मुख्य रखकर प्रवृत्ति करते हैं, एक क्षण भी धर्म रहित होकर असंयम या अधर्म में नहीं खोते, जो विघ्न बाधाएँ, विपत्तियाँ आने पर भी धर्माचरण नहीं छोड़ते, धैर्यपूर्वक परीषह-उपसर्ग को सहन करते हैं, इहलौकिक, पारलौकिक काम-भोगों या विषय सुखों की वांछा नहीं करते, स्नेहबन्धन में फँसाने के चाहे जितने अनुकूल उपसर्ग हों, वे स्नेहबन्धन से उन्मुक्त रहते हैं, वे असंयमी जीवन जीने की वांछा कदापि नहीं करते इसीलिए वे कर्म विदारण करने में समर्थ धीर रहकर तपस्या में रत रहते हैं। ऐसे जीवन-मरण से निःस्पृह संयमानुष्ठान में दत्तचित्त पुरुष यौवन पार होने के बाद बुढ़ापे में पश्चात्ताप नहीं करते।[२६] इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—**जेहिं काले ... नावकंखंति जीवियं** ।

नारी-संयोग रूप, उपसर्ग : दुस्तर, दुष्तर एवं सुतर !

२४०. **जहा नदी वेयरणी दुत्तरा इह सम्मता ।**
एवं लोगंसि नारीओ दुत्तरा अमतीमता ॥ १६ ॥

---

२६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९९ पर से
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४९२ से ४९४ तक
(ग) "हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कण्डनं कृतम् ।
यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः ॥"
(घ) "विहवावलेवन डिएहिं जाइं कीरंति जोव्वण मएणं ।
वयपरिणामे सरियाइं ताइं हिअए खुडुक्कंति ॥"

२४१. जेहिं नारीण संजोगा पूयणा पिट्ठतो कता।
सव्वमेयं निराकिच्चा ते ठिता सुसमाहिए॥ १७॥

२४०. जैसे वैतरणी नदी दुस्तर मानी गई है, इसी तरह इस लोक में कामिनियाँ अमतिमान (अविवेकी) साधक पुरुष के लिए दुस्तर मानी हैं।

२४१. जिन साधकों ने स्त्रियों के संसर्ग तथा पूजना (काम-विभूषा) से पीठ फेरली है, वे साधक इन समस्त उपसर्गों को निराकृत (पराजित) करके सुसमाधि (स्वस्थ चित्तवृत्ति) में स्थित रहते हैं।

विवेचन—स्त्रीसंसर्गरूप उपसर्ग : किसके लिए दुस्तर किसके लिए सुतर ?—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय में से प्रथम गाथा में अविवेकी के लिए स्त्री संगरूप उपसर्ग दुस्तर बताया गया है जबकि द्वितीय गाथा में स्त्री संसर्ग एवं कामविभूषा के त्यागी साधकों को स्त्रीसंगरूप भयंकर उपसर्ग ही नहीं, अन्य समस्त उपसर्ग सुतर-सुजेय हो जाते हैं।[२७]

स्त्री संगरूप उपसर्ग कितना और कैसा दुस्तर ?—जैसे नदियों में वैतरणी नदी अत्यन्त प्रबल वेगवाली एवं विषमतट वाली होने से अतीव दुस्तर या दुर्लंघ्य मानी जाती है, वैसे ही पराक्रमहीन अविवेकी साधक के लिए स्त्री संसर्ग रूप उपसर्गनद का पार करना अत्यन्त दुस्तर है। बल्कि जो साधक विषय-लोलुप काम-भोगासक्त एवं स्त्रीसंग रूप उपसर्ग से पराजित हो जाते हैं, वे अंगारों पर पड़ी हुई मछली की तरह कामराग, दृष्टिराग एवं स्नेहराग रूपी आग में जलते-तड़फते हुए अशान्त—असमाधिस्थ रहते हैं।

इसी कारण बड़े-बड़े पहुंचे हुए साधकों के लिए भी स्त्री संग पर विजय पाना कठिन है। वे अपने आपको पहुँचे हुए पुराने साधक समझ कर इस अनुकूल स्त्रीसंगरूप उपसर्ग से असावधान रहते हैं, वे कामिनियों के कटाक्ष के आगे पराजित हो जाते हैं। वे चाहे शास्त्रज्ञ, प्रवचनकार, विद्वान् एवं क्रिया-काण्डी क्यों न हों, अगर वे इस उपसर्ग के आते ही तुरन्त इससे सावधान होकर नहीं खदेड़ देंगे तो फिर यह उपसर्ग उन पर भी हावी हो जाएगा। किसी अनुभवी ने ठीक ही कहा है—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणाम्,
लज्जां तावद्विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते,
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति॥

पुरुष तभी तक सन्मार्ग पर टिकता है, इन्द्रियों पर भी तभी तक प्रभुत्व (वश) रखता है, लज्जा भी तभी तक करता है, एवं विनय भी तभी तक करता है, जब तक स्त्रियों द्वारा धैर्य नष्ट करने वाले भ्रकुटि रूपी धनुष को कान तक खींचकर चलाये हुए नीलीननियों वाले दृष्टिवाण उस पर नहीं गिरे। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'जहा नदी वेयरणी दुत्तरा अमतीमता।'

---

२७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ६६ के आधार पर

यह तो बहुत ही असम्भव-सा है कि साधक के साथ स्त्रियों का बिलकुल ही सम्पर्क न हो, भिक्षाचरी, उपाश्रय-निवास, प्रवचन आदि अवसरों पर स्त्री सम्पर्क होता है, परन्तु जो साधक सावधान एवं मोक्ष मार्ग की साधना में दृढ़ रहता है, वह स्त्री सम्पर्क होने पर भी स्त्रियों के प्रति मोह, आसक्ति, मन में काम-लालसा, कामोत्तेजना या कामोत्तेजक वस्त्राभूषणादि या शृंगार-साज-सज्जा आदि को अनर्थकर तथा परिणाम में कटुफल वाले समझकर इनसे बिलकुल दूर रहता है, स्त्री-संगरूप उपसर्ग के आते ही तुरन्त सावधान होकर उससे पीठ फेर लेता है, मन में जरा भी काम सम्बन्धी विकार नहीं लाता, वह स्त्रीसंगरूप उपसर्ग को तो पार कर ही जाता है, अन्य अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसे उपसर्ग विजेता साधक किसी भी प्रकार के उपसर्गों के समय न तो क्षुब्ध होते हैं; न ही उन्हें अपने पर हावी होने देते हैं, न ही अपने धर्मध्यान या चित्त समाधि का त्याग करते हैं, बल्कि वे साधक सुसमाधि में स्थिर रहते हैं। यही बात शास्त्रकार करते हैं—"**जेहिं नारीण**⋯**ठिया सुसमाहिए।**"[२८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**पूयणा**=वृत्तिकार के मतानुसार—**पूजना**=कामविभूषा, चूर्णिकार के अनुसार—'**पूयणा**=शरीर पूजना, अथवा पूतनाः—"पातयन्ति धर्मात् पासयंति वा चारित्रमिति पूतनाः—पूतीकुर्वन्तीत्यर्थः' अर्थात्—पूयणा के तीन अर्थ फलित होते हैं—(१) शरीर पूजना—शारीरिक मण्डन विभूषा, अथवा (२) पूतना जो धर्म से पतित करती हो, वह पूतना है, अथवा (३) जो चारित्र को गन्दा (मलिन) करती हो वह पूतना है। **पिट्ठतो कता**=परित्यक्तेत्यर्थः, परित्याग कर दिया है।[२९]

उपसर्ग-विजेता साधु : कौन और कैसे ?

२४२. **एते ओघं तरिस्संति समुद्दं व ववहारिणो।**
जत्थ पाणा विसण्णा सं कच्चंती सयकम्मुणा॥ १८॥

२४३. **तं च भिक्खू परिण्णाय सुव्वते समिते चरे।**
मुसावायं विवज्जेज्जाऽदिण्णादाणाइ वोसिरे॥ १९॥

२४४. **उड्ढमहे तिरियं वा जे केई तस-थावरा।**
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा संति निव्वाणमाहितं॥ २०॥

२४५. **इमं च धम्ममादाय कासवेण पवेदितं।**
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिते॥ २१॥

२४६. **संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।**
उवसग्गे नियामित्ता आमोक्खाए परिव्वएज्जासि॥ २२॥ त्ति बेमि॥

---

२८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९९ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४९५-४९६

२९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ९९
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४३

२४२. ये (अनुकूल-प्रतिकूल-उपसर्ग-विजेता पूर्वोक्त साधक) (दुस्तर) संसार को भी पार लेंगे, जैसे समुद्र के आश्रय से व्यापार करने वाले (वणिक्) समुद्र को पार कर लेते हैं, जिस संसार (समुद्र) में पड़े हुए प्राणी अपने-अपने कर्मों से पीड़ित किये जाते हैं।

२४३. भिक्षु उस (पूर्वोक्त अनुकूल-प्रतिकूल-उपसर्ग-समूह) को जानकर (ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उससे मुक्त रह कर) उत्तम व्रतों से युक्त तथा पंच समितियों से सहित रह कर विचरण करे, मृषावाद (असत्य) को छोड़ दे, और अदत्तादान का व्युत्सर्ग (मन-वचन-काया से त्याग) कर दे।

२४४. ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक) में जो कोई त्रस-स्थावर प्राणी हैं, उनके नाश (वध) से विरति (निवृत्ति) कर लें। (ऐसा करने से) शान्तिरूप निर्वाणपद की प्राप्ति कही गई है।

२४५. काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस धर्म को स्वीकार करके समाधियुक्त भिक्षु अग्लान भाव से ग्लान साधु की वैयावृत्य (सेवा) करे।

२४६. सम्यग्-दृष्टि सम्पन्न एवं परिनिर्वृत (प्रशान्त) साधक (मुक्ति प्रदान करने में) कुशल इस धर्म को सम्यक् प्रकार से जानकर उपसर्गों पर नियन्त्रण (विजय प्राप्त) करता हुआ मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त संयम में पराक्रम (पुरुषार्थ) करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपसर्गविजेता साधु : कौन और कैसे?—प्रस्तुत पांच सूत्र गाथाओं में उपसर्ग विजेता साधक की योग्यता, प्रतिफल और कर्तव्य का निर्देश किया गया हैं। उपसर्गविजेता के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से यहाँ अध्ययन का उपसंहार करते हुए विचार किया गया है—(१) उपसर्गविजेता साधक स्वकर्म पीड़ित संसार-सागर को सामुद्रिक व्यवसायी की तरह पार कर लेते हैं, (२) पूर्वगाथाओं में उक्त उपसर्गों को जानकर उनसे बचे, (३) उत्तमव्रत धारक हो, (४) पंच समितियों से युक्त हो, (५) मृषावाद का परित्याग करे, (६) अदत्तादान का त्याग करे, (७) समस्त प्राणियों की हिंसा से विरत हो, (८) शान्ति ही निर्वाण प्राप्ति का कारण है, (९) भगवान् महावीर द्वारा प्रज्ञप्त धर्म का स्वीकार करे, (१०) ग्लान साधु की अग्लान भाव से सेवा करे, (११) मुक्ति प्रदान-कुशल धर्म को पहचाने-परखे, (१२) सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न हो, (१३) राग-द्वेष, कषाय आदि से परिशान्त हो, (१४) उपसर्गों के आने पर शीघ्र नियन्त्रण में करे, और (१५) मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त संयम में निष्ठापूर्वक पराक्रम करे।[30]

उपसर्गविजेता बनने के लिए पहला कदम—संसार-सागर को पार करना बड़ा कठिन है, संसार तभी पार किया जा सकता है, जबकि कर्मों का सर्वथा क्षय हो। कर्मों का क्षय करने के लिए पूर्वगाथाओं में उक्त अनुकूल और प्रतिकूल समस्त उपसर्गों पर विजय पाना आवश्यक है। जो मोक्षयात्री साधक इन समस्त उपसर्गों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे बहुत आसानी से उसी तरह संसार-समुद्र को धर्मरूपी या संयमरूपी जहाज से पार कर लेते हैं, जिस तरह सामुद्रिक व्यापारी समुद्र की छाती पर माल से लदी अपनी जहाजें चला कर लवण समुद्र को पार कर लेते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'एते

---

३० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित, भा० २, पृ० ९४ से ९९ तक का सारांश

ओघं तरिस्संति····सयकम्मुणा।' परन्तु जो दुस्तर नारी-संगरूपी उपसर्ग पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते, वे स्वकृत असाता वेदनीय रूप पापकर्म के उदय से संसार-सागर को पार नहीं कर सकते, वे संसार में रहते हुए दुःख भोगते हैं। संसार उन्हीं के लिए दुस्तर है, जिनके लिए नारीसंग दुस्तर है। एक कवि ने कहा है—

> **"संसार ! तव दुस्तारपदवी न दवीयसी।**
> **अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदिरे ! मदिरेक्षणा ॥"**[31]

"अरे संसार ! यदि बीच में ये दुस्तर नारियाँ न होतीं तो तेरी यह जो दुस्तार पदवी है, उसका कोई महत्त्व न होता !" यह उपसर्ग-विजयी साधक बनने के लिए पहला कदम है।

दूसरा कदम—अनुकूल और प्रतिकूल जितने भी उपसर्गों का निरूपण पिछली सूत्रगाथाओं में किया गया है, उन्हें भली-भाँति जानें। कौन-कौन-से उपसर्ग, कैसे-कैसे किस-किस रूप में आते हैं? उन सबको ज्ञपरिज्ञा से अच्छी तरह समझ ले, तत्पश्चात् प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनसे सावधान होकर बचे, उन उपसर्गों के आते ही दृढ़तापूर्वक उन पर विजय पाए, उन्हें अपने पर हावी न होने दे। यह उपसर्ग विजेता के लिए द्वितीय कदम है, जिसके लिए शास्त्रकार ने कहा है—'**तं च भिक्खू परिण्णाय।**'

तीसरा कदम—उपसर्गविजयी बनने के लिए साधक को सुन्दर व्रतों (यम-नियमों) से युक्त होना आवश्यक है। शास्त्रकार ने भी कहा है—"सुव्वते····चरे।" 'चरे' क्रिया लगाने के पीछे आशय यह है कि साधक केवल महाव्रत या यम-नियम ग्रहण करके ही न रह जाए, उनका आचरण भी दृढ़तापूर्वक करे, तभी वह उपसर्गों पर सफलता से विजय पा सकेगा।

चौथा कदम—साधक को उपसर्गविजयी बनने के लिए पांच समितियों और उपलक्षण से तीन गुप्तियों का पालन करना आवश्यक है। अगर इनका अभ्यास जीवन में नहीं होगा तो साधु उपसर्गों के समक्ष टिक न सकेगा। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—'**समिते चरे**'। इस वाक्य से शास्त्रकार का आशय उत्तरगुणों के दृढ़तापूर्वक आचरण से है जबकि 'सुव्वते' शब्द से मूलगुणों का आचरण द्योतित किया गया है।

पाँचवाँ, छठा और सातवाँ कदम—पूर्वोक्त कदम में महाव्रतों का विधेयात्मक रूप से आचरण करने का निर्देश था, किन्तु कई साधक वैसा करते हुए भी फिसल जाते हैं, इसलिए निषेधात्मक रूप से भी व्रताचरण करने हेतु यहाँ तीन निर्देशसूत्र है—(१) **मुसावायं च वज्जिज्जा**, (२) **अदिन्नादाणं च वोसिरे**, और (३) **सव्वत्थ विरतिं कुज्जा**। अर्थात्—उपसर्गों पर विजय पाने के लिए यह आवश्यक है कि साधक मृषावाद (असत्य) का मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याग करे; इसी तरह अदत्तादान (चौर्यकर्म) का भी व्युत्सर्ग करे, साथ ही 'च' शब्द से मैथुनवृत्ति (अब्रह्मचर्य) और परिग्रह-वृत्ति को भी सर्वथा छोड़े, और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है—जीव हिंसा से सर्वथा विरत होने की। अर्थात्—समस्त लोक और सर्वकाल में जो भी त्रस-स्थावर आदि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के

---

३१ सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका, भा० २, पृ० १८५ में उद्धृत

प्राणी हैं, उनकी हिंसा किसी भी अवस्था में मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से नहीं करनी चाहिए।

आठवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए साधक को सतत तपश्चर्या का अभ्यास होना चाहिए, ताकि वह स्वकृत कर्मों की आग को शान्त कर सके। भगवान् ने कर्माग्नि की शान्ति को ही निर्वाण प्राप्ति का कारण बताया है—'**संति निव्वाणमाहियं**'। इसलिए उपसर्ग-विजयी के लिए कर्मरूप अनल की शान्ति को आठवाँ कदम बताया गया है।

नौवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्र रूप, मूलगुण-उत्तरगुण रूप या क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करना आवश्यक है। यहाँ क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म के स्वीकार का संकेत प्रतीत होता है, क्योंकि उपसर्ग-विजय के लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों का साधु जीवन में होना अनिवार्य है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**इमं च धम्ममादाय कासवेण पवेदितं।**'

दसवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए अग्लान साधक को ग्लान (रुग्ण, अशक्त, वृद्ध आदि) साधु की परिचर्या (सेवा) अग्लान भाव से करना आवश्यक है। ग्लान साधु की सेवा करने में वह बेचैनी ग्लानि या झुंझलाहट अनुभव न करे, प्रसन्नमन से, स्वय को धन्य एवं कृतकृत्य मानता हुआ सेवा करे, तभी वह ग्लान-सेवा कर्म-निर्जरा का कारण बनेगी। ग्लान-सेवा का अवसर प्राप्त होने पर उससे जी चुराना, मुख मोड़ना या बेचैनी अनुभव करना, एक प्रकार का अरति परीषह रूप उपसर्ग है। ऐसा करना साधक की उक्त उपसर्ग से पराजय है। इसीलिए कहा गया—"**कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए।**"

ग्यारहवाँ कदम—उपसर्ग-विजयी के लिए यह भी आवश्यक है कि उस धर्म को भली-भाँति परख ले पहिचान ले, जो मुक्ति प्रदान करने में (कर्मों से मुक्ति दिलाने में) कुशल हो। संसार में अनेक प्रकार के नित्य और नैमित्तिक धर्म प्रचलित हैं। कई दर्शन या मत तो अमुक कामना-वासनामूलक बातों को भी धर्मसंज्ञा देते हैं, कई अमुक (तथाकथित स्वमान्य) शास्त्रविहित कर्मकाण्डों या सिर्फ ज्ञान को ही धर्म बताते हैं, उसी के एक-एक अंग को मुक्ति का कारण बताते हैं, जबकि जैनदर्शन यह कहता है जिससे शुभ कर्म की वृद्धि हो, ऐसे सत्कर्म धर्म नहीं, पुण्य हैं। धर्म वही है—जिससे कर्मों का निरोध या कर्मक्षय होता हो। इस दृष्टि से न तो सिर्फ ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, और न ही एकान्त चारित्र (क्रिया), किन्तु सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्ष के कारण हैं, ये तीनों ही जहाँ हो, वहीं धर्म है। अगर साधक धर्म को पहिचानने-परखने के मामले में गड़बड़ा जाएगा तो वह धर्म के नाम से धर्मभ्रम (पशुबलि, काम-प्रार्थी नारी समागम, कामनामूलक क्रियाकाण्ड आदि) को पकड़कर उपसर्गों की चपेट में आ जाएगा। इसीलिए उपसर्ग-विजय के लिए ग्यारहवाँ कदम बताया गया है—**संखाय पेसलं धम्मं।**

बारहवाँ कदम—अगर साधक मिथ्या या विपरीत दृष्टि (दर्शन) से ग्रस्त हो जाएगा तो वह फिर अनुकूल उपसर्गों के चक्कर में आ जाएगा। इसलिए उपसर्ग-विजयी बनने हेतु साधक का सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न होना परम आवश्यक बताया गया है। सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होने पर साधक व्यवहार में सुदेव,

सुगुरु और सद्धर्म तथा सच्छास्त्र के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखेगा, हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वों को जान सकेगा, तथा सर्वत्र आत्महित की दृष्टि ही मुख्य रखेगा। वह फिर चारित्र भ्रष्ट करने वाले अनुकूल उपसर्गों के चक्कर में नहीं आएगा। इसीलिए कहा गया है—**'दिट्ठिमं।'**

तेरहवाँ कदम—उपसर्गों पर सफलतापूर्वक विजय पाने हेतु साधक के रागद्वेष एवं कषाय आदि परिशान्त होने आवश्यक है। अगर उसका राग-द्वेष या क्रोधादि कषाय बात-बात में भड़क उठेगा, या समय-असमय वह राग-द्वेष-कषायादि से उत्तेजित हो जाएगा तो वह अनेक आत्म-संवेदनकृत उपसर्गों से घिर जाएगा, फिर उन उपसर्गों से छुटकारा पाना कठिन हो जाएगा। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'परिनिव्वुडे'**।

चौदहवाँ कदम—इतना सब करने पर भी साधक के जीवन में अनुकूल या प्रतिकूल कई उपसर्ग अकस्मात् आ सकते हैं, उस समय साधक को फौरन ही विवेकपूर्वक उन उपसर्गों पर काबू पाना आवश्यक है। अगर वह उस समय गाफिल होकर रहेगा तो उपसर्ग उस पर हावी हो जाएगा, इसलिए उपसर्ग के आते ही मन से उसे तुरन्त निर्णय करना होगा कि मुझे इस उपसर्ग को अपने पर विजयी नहीं होने देना है, यानी इस उपसर्ग से पराजित नहीं होना है, अपितु इस पर नियन्त्रण (विजय) पाना है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'उवसग्गे नियामित्ता'**।

पन्द्रहवाँ कदम—सबसे अन्तिम कदम उपसर्ग-विजयी बनने के लिए यह है कि उस साधक को उपसर्गों के बार-बार आक्रमण होने पर मन में अश्रद्धा, अविश्वास और अधीरता लाकर संयम (संयमी जीवन) को छोड़ बैठना नहीं चाहिए अपितु दृढ़ विश्वास और धैर्य के साथ उपसर्गों को सहन करते हुए, मोक्ष प्राप्ति (कर्मों के सर्वथा क्षय) होने तक संयम पर डटे रहना चाहिए। उसकी संयमनिष्ठा इतनी पक्की होनी चाहिए। इसी तथ्य की ओर शास्त्रकार का संकेत है—**"आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।"**

उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन की परिसमाप्ति में अन्तिम दो गाथाओं की (जो कि इसी अध्ययन के तृतीय उद्देशक के अन्त में दी गई थीं) पुनरावृत्ति करके भी शास्त्रकार ने पाँच सूत्रगाथाओं में उपसर्ग-विजयी बनने के लिए पंचदशसूत्री कदमों का मार्ग निर्देश किया।[32]

पाठान्तर और व्याख्या—**विसण्णा स कच्चंति सयकम्मुणा**=वृत्तिकार के अनुसार—**'विषण्णाः सन्तः कृत्यन्ते-पीड्यन्ते स्वकृतेन-आत्मनाऽनुष्ठितेन पापेन कर्मणा असद्वेदनीयोदयरूपेण'**—अर्थात् जिस संसार में विषण्ण-फँसे हुए प्राणी स्वकृत असातावेदनीयरूप पापकर्म के उदय से पीड़ित होते हैं। चूर्णिकार **'विसण्णासी च कच्चती सह कम्मुणा'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—'यस्मिन्-यत्र एते पाषण्डाः.....विषयजिता विषण्णा आसते गृहिणश्च, इह परत्र च कच्चंति सहकम्मुणा'—जिस संसार में ये पाषण्ड व्रतधारी (साधक) या गृहस्थ विषयों से पराजित होकर विषण्ण—दुःखी रहते हैं, और अपने कर्मों से यहाँ और वहाँ पीड़ित होते हैं। **विवज्जेज्जाऽदिण्णादाणाइ वोसिरे**=वृत्तिकार **'वज्जिज्जा अदिन्नादाणं च वोसिरे'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—**'अदत्तादानं च व्युत्सृजेत्'** दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं न गृह्णीयात्।' अर्थात्—अदत्तादान का

---

३२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १००, १०१ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४६६ से ५०५ के आधार पर

व्युत्सर्ग-त्याग करे, यानी दांत कुरेदने के लिए तिनका भी बिना दिया हुआ, ग्रहण न करे।' वृत्तिकार यहाँ 'आदि' शब्द मानकर अर्थ करते हैं—'आदिग्रहणान्मैथुनादेः परिग्रहः' आदि शब्द यहाँ (मूलपाठ में) ग्रहण किया गया है, इसलिए मैथुन आदि का ग्रहण करना अभीष्ट है। चूर्णिकार तो 'विवज्जेज्ज अदिण्णादि च वोसिरे—पाठान्तर मानकर उपर्युक्त अर्थ स्वीकार करते हैं। 'सव्वत्थ विरतिं कुज्जा'=वृत्तिकार के अनुसार—सर्वत्र-काले, सर्वावस्थास्वित्यनेनाऽपि कालभावभेदभिन्नः प्राणातिपात उपात्तो द्रष्टव्यः—अर्थात् सव्वत्थ का अर्थ है—सर्वत्र यानी सब काल में, सभी अवस्थाओं में प्राणातिपात नहीं करना चाहिए, यह कहकर शास्त्रकार ने काल और भाव रूप से प्राणातिपात का ग्रहण किया दिखता है।' चूर्णिकार इसके बदले 'सव्वत्थ विरतिं विज्जं' पाठान्तर मानकर व्याख्या करते है—'सव्वत्थ—सर्वत्र विज्जं—विद्वान, सर्वत्र-विरतिं—सर्वविरतिं विद्वान् 'कुर्याद' इति वाक्यशेषः—अर्थात् विज्जं=विद्वान् सर्वत्र अथवा सर्वत्रविरति—सर्व-विरति, 'कुर्याद्' यह वाक्य शेष है, अर्थ होता है—करे। समाहिते—समाधि प्राप्त।[33]

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

॥ उपसर्ग परिज्ञा : तृतीय अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

३३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १००, १०१ का सार
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ४३, ४४

स्त्रीपरिज्ञा : चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'स्त्रीपरिज्ञा' है।

☐ स्त्री शब्द के निक्षेप की दृष्टि से अनेक अर्थ होते हैं। नाम स्त्री और स्थापना स्त्री प्रसिद्ध है। द्रव्य स्त्री दो प्रकार की हैं—आगमतः और नोआगमतः। जो स्त्री पद के अर्थ को जानता है किन्तु उसके उपयोग से रहित है, वह आगम-द्रव्यस्त्री है। नोआगम-द्रव्यस्त्री के तीन भेद हैं—ज्ञशरीर द्रव्यस्त्री, भव्य शरीर द्रव्यस्त्री और ज्ञशरीर भव्यशरीर-व्यतिरिक्त-द्रव्यस्त्री। इनमें से ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्त द्रव्यस्त्री के तीन प्रकार हैं—(१) एक भविका (जो जीव एक भव के बाद ही स्त्री शरीर को प्राप्त करने वाला हो) (२) बद्धायुष्का (जिसने स्त्री की आयु बांध ली हो) और (३) अभिमुख-नाम-गोत्रा (जिस जीव के स्त्रीनाम-गोत्र अभिमुख हो)।

☐ इसी तरह चिन्हस्त्री, वेदस्त्री और अभिलापस्त्री आदि भी द्रव्यस्त्री के प्रकार हैं। जो चिन्हमात्र से स्त्री है, अथवा स्त्री के स्तन आदि अंगोपांग तथा स्त्री की तरह की वेशभूषा आदि धारण करने वाला जीव है वह चिन्हस्त्री है। अथवा जिस महान् आत्मा का स्त्रीवेद नष्ट हो गया है, इसलिए जो (छद्मस्थ, केवली या अन्यजीव) केवल स्त्रीवेष धारण करता है, वह भी चिन्हस्त्री है। जिसमें पुरुष को भोगने की अभिलाषारूप स्त्रीवेद का उदय हो, उसे वेदस्त्री कहते हैं। स्त्रीलिंग का अभिलापक (वाचक) शब्द अभिलाप स्त्री है। जैसे—माला, सीता, पद्मिनी आदि।

☐ भावस्त्री दो प्रकार की होती है—आगमतः, नो-आगमतः। जो स्त्री पदार्थ को जानता हुआ उसमें उपयोग रखता है, वह आगमतः भावस्त्री है। जो स्त्रीवेदरूप वस्तु में उपयोग रखता है, अथवा स्त्रीवेदोदय प्राप्त कर्मों में उपयोग रखता है—स्त्रीवेदनीय कर्मों का अनुभव करता है, वह नो-आगमतः भावस्त्री है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में चिन्हस्त्री, वेदस्त्री आदि द्रव्यस्त्री सम्बन्धी अर्थ ही अभीष्ट है।

☐ परिज्ञा का भावार्थ है—तत्सम्बन्धी सभी पहलुओं से ज्ञान प्राप्त करना। परिज्ञा के शास्त्रीय दृष्टि से दो अर्थ फलित होते हैं—ज्ञपरिज्ञा द्वारा वस्तु तत्त्व का यथार्थ परिज्ञान और प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसके प्रति आसक्ति, मोह, रागद्वेषादि का परित्याग करना।

☐ 'स्त्रीपरिज्ञा' का विशिष्ट अर्थ हुआ—स्त्री के स्वरूप, स्वभाव आदि का परिज्ञान और उसके प्रति आसक्ति, मोह आदि के परित्याग का जिस अध्ययन में वर्णन है, वह स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन है।

☐ स्त्रीसंगजनित उपसर्ग किस-किस प्रकार से साधुओं पर आता है? साधुओं को उक्त उपसर्ग से कैसे बचना चाहिए? इत्यादि परिज्ञान कराना इस अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

☐ स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में स्त्रीजन्य उपसर्ग के सन्दर्भ में यह बताया गया है कि स्त्रियों के साथ संसर्ग रखने, उनके साथ चारित्र भ्रष्ट करने वाली बातें करने तथा उनके कामोत्तेजक अंगोपांगों को विकार भाव से देखने आदि से मन्दपराक्रमी साधु शीलभ्रष्ट हो जाता है। तनिक-सी असावधानी रखने पर श्रमणत्व का विनाश हो सकता है; वह साधु दीक्षा तक को छोड़ सकता है। प्रथम उद्देशक में ३१ गाथाएँ हैं।

☐ द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि शीलभ्रष्ट साधु को स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से कैसे-कैसे अपमान, तिरस्कार आदि दुःखों के प्रसंग आते हैं? शीलभंग से हुए अशुभ कर्मबन्ध के कारण अगले जन्मों में उसे दीर्घकाल तक संसार परिभ्रमण करना पड़ता है। विचित्र छलनापूर्ण मनोवृत्ति वाली स्त्रियों द्वारा अतीव बुद्धिमान् प्रचण्ड शूरवीर एवं महातपस्वी कैसे-कैसे चक्कर में फँसा लिये जाते हैं? यह दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है। द्वितीय उद्देशक में २२ गाथाएँ हैं।[2]

☐ इस अध्ययन में स्त्रियों को अविश्वसनीय, कपट की खान आदि दुर्गुणों से युक्त बताया गया है, वह मात्र पुरुष को जागृत और काम विरक्त करने की दृष्टि से है, वहाँ स्त्रियों की निन्दा करने की दृष्टि कतई नहीं है, विशेषतः श्रमण को सावधान करने की दृष्टि से ऐसा बताया गया है। वास्तव में पुरुष की भ्रष्टता का मुख्य कारण तो उसकी स्वयं की काम-वासना है, उस वासना के उत्तेजित होने में स्त्री निमित्त कारण बन जाती है। इसलिए 'स्त्रीपरिज्ञा' का तात्पर्य स्त्री-संसर्ग निमित्तक उपसर्ग की परिज्ञा समझना चाहिए।[3]

☐ इसी कारण निर्युक्तिकार और वृत्तिकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं—स्त्रियों के संसर्ग से जितने दोष पुरुष में उत्पन्न होते हैं, प्रायः उतने ही दोष पुरुषों के संसर्ग से स्त्री में उत्पन्न हो सकते हैं। अतः वैराग्यमार्ग में स्थित श्रमणों को स्त्री-संसर्ग से सावधान रहने की तरह दीक्षित साध्वियों को भी पुरुष-संसर्ग से सावधान (अप्रमत्त) रहना चाहिए।

---

१ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५६
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०२

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५८
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०२

३ जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० १४५

☐ प्रस्तुत अध्ययन में स्त्री-संसर्ग से पुरुष साधक में होने वाले दोषों के समान ही पुरुष के संसर्ग से स्त्री में होने वाले दोष भी बताये गये हैं, तथापि इसका नाम 'पुरुष-परिज्ञा' न रखकर 'स्त्री-परिज्ञा' इसलिए रखा गया है कि अधिकतर दोष स्त्री संसर्ग से ही पैदा होते है।[४] तथा इसके प्रवक्ता पुरुष हैं, यह भी एक कारण हो सकता है।

☐ तथापि निर्युक्तिकार ने स्त्री शब्द के निक्षेप की तरह 'पुरुष' के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रजनन, कर्म, भोग, गुण और भाव की दृष्टि से १० निक्षेप बताये हैं, जिन्हें पुरुषपरिज्ञा की दृष्टि से समझ लेना चाहिए।[५]

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा २४७ से प्रारम्भ होकर सूत्र गाथा २९९ पर समाप्त होता है।[६]

---

४ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ६३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०४

५ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५७
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०२

६ सूयगडंग सुत्तं (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४५ से ५३ तक

- 'स्त्रीपरिज्ञा' का विशिष्ट अर्थ हुआ—स्त्री के स्वरूप, स्वभाव आदि का परिज्ञान और उसके प्रति आसक्ति, मोह आदि के परित्याग का जिस अध्ययन में वर्णन है, वह स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन है।

- स्त्रीसंगजनित उपसर्ग किस-किस प्रकार से साधुओं पर आता है? साधुओं को उक्त उपसर्ग से कैसे बचना चाहिए? इत्यादि परिज्ञान कराना इस अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

- स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में स्त्रीजन्य उपसर्ग के सन्दर्भ में यह बताया गया है कि स्त्रियों के साथ संसर्ग रखने, उनके साथ चारित्र भ्रष्ट करने वाली बातें करने तथा उनके कामोत्तेजक अंगोपांगों को विकार भाव से देखने आदि से मन्दपराक्रमी साधु शीलभ्रष्ट हो जाता है। तनिक-सी असावधानी रखने पर श्रमणत्व का विनाश हो सकता है; वह साधु दीक्षा तक को छोड़ सकता है। प्रथम उद्देशक में ३१ गाथाएँ हैं।

- द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि शीलभ्रष्ट साधु को स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से कैसे-कैसे अपमान, तिरस्कार आदि दुःखों के प्रसंग आते हैं? शीलभंग से हुए अशुभ कर्मबन्ध के कारण अगले जन्मों में उसे दीर्घकाल तक संसार परिभ्रमण करना पड़ता है। विचित्र छलनापूर्ण मनोवृत्ति वाली स्त्रियों द्वारा अतीव बुद्धिमान् प्रचण्ड शूरवीर एवं महातपस्वी कैसे-कैसे चक्कर में फँसा लिये जाते हैं? यह दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है। द्वितीय उद्देशक में २२ गाथाएँ हैं।[2]

- इस अध्ययन में स्त्रियों को अविश्वसनीय, कपट की खान आदि दुर्गुणों से युक्त बताया गया है, वह मात्र पुरुष को जागृत और काम विरक्त करने की दृष्टि से है, वहाँ स्त्रियों की निन्दा करने की दृष्टि कतई नहीं है, विशेषतः श्रमण को सावधान करने की दृष्टि से ऐसा बताया गया है। वास्तव में पुरुष की भ्रष्टता का मुख्य कारण तो उसकी स्वयं की काम-वासना है, उस वासना के उत्तेजित होने में स्त्री निमित्त कारण बन जाती है। इसलिए *'स्त्रीपरिज्ञा'* का तात्पर्य स्त्री-संसर्ग निमित्तक उपसर्ग की परिज्ञा समझना चाहिए।[3]

- इसी कारण निर्युक्तिकार और वृत्तिकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं—स्त्रियों के संसर्ग से जितने दोष पुरुष में उत्पन्न होते हैं, प्रायः उतने ही दोष पुरुषों के संसर्ग से स्त्री में उत्पन्न हो सकते हैं। अतः वैराग्यमार्ग में स्थित श्रमणों को स्त्री-संसर्ग से सावधान रहने की तरह दीक्षित साध्वियों को भी पुरुष-संसर्ग से सावधान (अप्रमत्त) रहना चाहिए।

---

१ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५६
   (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०२

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५८
   (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०२

३ जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० १४५

- प्रस्तुत अध्ययन में स्त्री-संसर्ग से पुरुष साधक में होने वाले दोषों के समान ही पुरुष के संसर्ग से स्त्री में होने वाले दोष भी बताये गये हैं, तथापि इसका नाम 'पुरुष-परिज्ञा' न रखकर 'स्त्री-परिज्ञा' इसलिए रखा गया है कि अधिकतर दोष स्त्री संसर्ग से ही पैदा होते है।[४] तथा इसके प्रवक्ता पुरुष हैं, यह भी एक कारण हो सकता है।

- तथापि निर्युक्तिकार ने स्त्री शब्द के निक्षेप की तरह 'पुरुष' के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रजनन, कर्म, भोग, गुण और भाव की दृष्टि से १० निक्षेप बताये हैं, जिन्हें पुरुषपरिज्ञा की दृष्टि से समझ लेना चाहिए।[५]

- यह अध्ययन सूत्रगाथा २४७ से प्रारम्भ होकर सूत्र गाथा २९९ पर समाप्त होता है।[६]

---

४ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ६३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०४

५ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५७
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०२

६ सूयगडंग सुत्तं (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४५ से ५३ तक

'इत्थीपरिण्णा'—चउत्थं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

स्त्रीसंगरूप उपसर्ग : विविध रूप : सावधानी की प्रेरणाएँ—

२४७. जे मातरं च पितरं च, विप्पजहाय पुव्वसंयोगं।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणे विवित्तेसी ॥ १ ॥

२४८. सुहुमेण तं परक्कम्म, छन्नपदेण इत्थिओ मंदा।
उवायं पि ताओ जाणिसु, जह लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥ २ ॥

२४९. पासे भिसं निसीयंति, अभिक्खणं पोसवत्थ परिहिंति।
कायं अहे वि दंसेंति, बाहुमुद्धट्टु कक्खमणुवज्जे ॥ ३ ॥

२५०. सयणा-ऽऽसणेण जोग्गेण, इत्थीओ एगया निमंतेंति।
एताणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥ ४ ॥

२५१. नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे।
नो संद्धियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥ ५ ॥

२५२. आमंतिय ओसवियं वा, भिक्खुं आयसा निमंतेंति।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥ ६ ॥

२५३. मणबंधणेहिं, णेगेहिं, कलुणविणीयमुवगसित्ताणं।
अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥ ७ ॥

२५४. सीहं जहा व कुणिमेणं, णिब्भयमेगचरं पासेणं।
एवित्थियया उ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥ ८ ॥

२५५. अह तत्थ पुणो नमयंति, रहकारु व्व णेमि आणुपुव्वीए।
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चती ताहे ॥ ९ ॥

२५६. अह सेऽणुतप्पती पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेगमायाए, संवासो न कप्पती दविए ॥ १० ॥

२५७. तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं णच्चा ।
ओए कुलाणि वसवत्ती, आघाति ण से वि णिग्गंथे ॥ ११ ॥

२५८. जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अण्णयरा हु ते कुसीलाणं ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीसु ॥ १२ ॥

२५९. अवि धूयराहिं सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं ।
महतीहिं वा कुमारीहिं, संथवं से णेव कुज्जा अणगारे ॥ १३ ॥

२६०. अदु णातिणं व सुहिणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होति ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खण-पोसणे मणुस्सोऽसि ॥ १४ ॥

२६१. समणं पि दट्ठुदासीणं, तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोससंकिणो होंति ॥ १५ ॥

२६२. कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ण समेंति, आतहिताय सण्णिसेज्जाओ ॥ १६ ॥

२६३. बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुता एगे ।
धुवमग्गमेव पवदंति, वायावीरियं कुसीलाणं ॥ १७ ॥

२६४. सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्सम्मि दुक्कडं करेति ।
जाणंति य णं तहावेदा, माइल्ले महासढेऽयं ति ॥ १८ ॥

२६५. सय दुक्कडं च न वयइ, आइट्ठो वि पकत्थती बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥ १९ ॥

२६६. उसिया वि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेदखेतण्णा ।
पण्णासमन्निता वेगे, णारीण वसं उवकसंति ॥ २० ॥

२६७. अवि हत्थ-पादछेदाए, अदुवा वद्धमंस उक्कंते ।
अवि तेयसाऽभितवणाइं, तच्छिय खारसिंचणाइं च ॥ २१ ॥

२६८. अदु कण्ण-णासियाछेज्जं, कंठच्छेदणं तितिक्खंति ।
इति एत्थ पावसंतत्ता, न य बेंति पुणो न काहिं ति ॥ २२ ॥

२६९. सुतमेतमेवमेगेसिं, इत्थीवेदे वि हु सुअक्खायं ।
एवं पि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ॥ २३ ॥

२७०. अन्नं मणेण चिंतेंति, अन्नं वायाइ कम्मुणा अन्नं ।
तम्हा ण सद्दहे भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥ २४ ॥

२७१. जुवती समणं बूया उ, चित्तलंकारवत्थगाणि परिहेत्ता ।
विरता चरिस्स हं लूहं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ॥ २५ ॥

२७२. अदु साविया पवादेण, अहगं साधम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुम्भे जहा उवज्जोती, संवासे विदू वि सीएज्जा ॥ २६ ॥

२७३. जतुकुम्भे जोतिमुवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुपयाति ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥ २७ ॥

२७४. कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगे एवमाहंसु ।
नाहं करेमि पावं ति, अंकेसाइणी ममेस त्ति ॥ २८ ॥

२७५. बालस्स मंदयं बितियं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामए विसण्णेसी ॥ २९ ॥

२७६. संलोकणिज्जमणगारं, आयगतं णिमंतणेणाऽऽहंसु ।
वत्थं व ताति ! पातं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥ ३० ॥

२७७. णीवारमेय बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं ।
बद्धे य विसयपासेहिं, मोहमागच्छती पुणो मंदे ॥ ३१ ॥ त्ति बेमि ॥

२४७. जो पुरुष (इस भावना से दीक्षा ग्रहण करता है कि मैं) "माता-पिता तथा समस्त संयोग (पूर्व सम्बन्ध) का त्याग करके, मैथुन (सेवन) से विरत होकर तथा अकेला ज्ञान-दर्शन-चारित्र युक्त (सहित) रहता हुआ विविक्त (स्त्री, पशु एवं नपुंसक रहित) स्थानों में विचरण करूँगा।"

२४८. उस साधु के निकट आकर हिताहितविवेकरहित स्त्रियाँ छल से, अथवा गूढ़ार्थ वाले (छन्न शब्दों, पहेली व काव्य) से उसे (शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं।) वे स्त्रियाँ वह उपाय जानती हैं, जिससे कई साधु उनका संग कर लेते हैं।

२४९. वे साधु के पास बहुत अधिक बैठती हैं, बार-बार कामवासना-पोषक सुन्दर वस्त्र पहनती हैं, शरीर के अधोभाग (जांघ आदि) को भी (साधु को कामोत्तेजित करने हेतु) दिखाती हैं, तथा बाहें ऊंची करके कांख (दिखाती हुई साधु के) सामने से जाती हैं।

२५०. कभी (वे चालाक) स्त्रियाँ (उपभोग करने) योग्य शयन, आसन आदि (सुन्दर पलंग, शय्या, कुर्सी या आराम कुर्सी आदि) का उपभोग करने के लिए साधु को (एकान्त में) आमंत्रित करती हैं। वह (परमार्थदर्शी विवेकी) साधु इन (सब बातों) को कामजाल में फँसाने के नाना प्रकार के बन्धन समझे।

२५१. साधु उन स्त्रियों पर आँख न गड़ाए (मिलाए) न उनके साथ कुकर्म करने का साहस भी स्वीकार करे; न ही उनके साथ-साथ (ग्राम-नगर आदि में) विहार करे। इस प्रकार (ऐसा करने पर) साधु की आत्मा सुरक्षित होती है।

२५२. विलासिनी स्त्रियाँ साधु को संकेत करके (अर्थात्—मैं अमुक समय आपके पास आऊँगी, इत्यादि प्रकार से) आमंत्रित करके तथा (अनेक प्रकार के वार्तालापों से) विश्वास दिला कर अपने साथ सम्भोग करने के लिए निमंत्रित—प्रार्थना करती हैं। अतः वह (विवेकी साधु) (स्त्री सम्बन्धी) इन सब शब्दों—बातों को नाना प्रकार के पाशबन्धन समझे।

२५३. चालाक नारियाँ साधु के मन को बाँधने वाले (मनोमोहक-चित्ताकर्षक) अनेक उपायों के द्वारा तथा करुणोत्पादक वाक्य और विनीत भाव से साधु के समीप आकर मधुर-मधुर सुन्दर बोलती हैं, और काम सम्बन्धी बातों से साधु को अपने साथ कुकर्म करने की आज्ञा (अनुमति) दे देती हैं।

२५४. जैसे वन में निर्भय और अकेले विचरण करने वाले सिंह को मांस का लोभ देकर सिंह पकड़ने वाले लोग पाश से बाँध लेते हैं, इसी तरह मन-वचन-काय से संवृत-गुप्त रहने वाले किसी-किसी शान्त साधु को स्त्रियाँ अपने मोहपाश में बाँध लेती हैं।

२५५. रथकार जैसे रथ की नेमि चक्र के बाहर लगने वाली पुट्ठी को क्रमशः नमा (झुका) लेता है, इसी तरह स्त्रियाँ साधु को अपने वश में करने के पश्चात् अपने अभीष्ट (मनचाहे) अर्थ में क्रमशः झुका लेती हैं। मृग की तरह पाश में बँधा हुआ साधु (पाश से छूटने के लिए) कूद-फाँद करता हुआ भी उस (पाश) से छूट नहीं पाता।

२५६. जैसे विषमिश्रित खीर को खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है, वैसे ही स्त्री के वश में होने के पश्चात् वह साधु पश्चात्ताप करता है। अतः मुक्तिगमन-योग्य (द्रव्य) साधु को स्त्रियों के साथ संवास (एक स्थान में निवास) या सहवास—संसर्ग करना उचित—कल्पनीय नहीं है।

२५७. स्त्रियों को विष से लिप्त कांटे के समान समझ कर साधु स्त्रीसंसर्ग से दूर रहे। स्त्री के वश में रहने वाला जो साधक गृहस्थों के घरों में अकेला जाकर (अकेली स्त्री को) धर्मकथा (उपदेश) करता है, वह भी 'निर्ग्रन्थ' नहीं है।

२५८. जो पुरुष (साधक) इस (स्त्रीसंसर्गरूपी) झूठन या त्याज्य निन्द्यकर्म में अत्यन्त आसक्त है, वह अवश्य ही कुशीलों (पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि चारित्रभ्रष्टों) में से कोई एक है। इसलिए वह साधु चाहे उत्तम तपस्वी भी हो, तो भी स्त्रियों के साथ विहार न करे।

२५९. अतः अपनी पुत्रियों, पुत्रवधुओं, धाय-माताओं अथवा दासियों, या बड़ी उम्र की स्त्रियों अथवा कुंआरी कन्याओं के साथ भी वह अनगार सम्पर्क—परिचय न करे।

२६०. किसी समय (एकान्त स्थान में स्त्री के साथ बैठे हुए साधु को) देखकर (उस स्त्री के) ज्ञाति (स्व) जनों अथवा सुहृदों—हितैषियों को अप्रिय लगता है। (वे कहते हैं—) जैसे दूसरे प्राणी काम-भोगों में गृद्ध-आसक्त हैं (वैसे ही यह साधु भी है।) (वे साधु से कहते हैं—)'तुम इस (स्त्री) का रक्षण-पोषण करो, (क्योंकि) तुम इसके पुरुष हो।'

२६१. (रागद्वेषवर्जित) उदासीन तपस्वी (श्रमण) साधु को भी स्त्री के साथ एकान्त में बातचीत करते या बैठे देखकर कोई-कोई व्यक्ति क्रुद्ध हो उठते हैं। अथवा नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन साधु के लिए बनाकर रखते या देते देखकर वे उस स्त्री के प्रति दोष की शंका करने लगते हैं (कि यह उस साधु से अनुचित संबंध रखती है)।

२६२. समाधियोगों (धर्मध्यान) से भ्रष्ट पुरुष ही उन स्त्रियों के साथ संसर्ग करते हैं। इसलिए श्रमण आत्महित के लिए स्त्रियों के निवास स्थान (निषद्या) पर नहीं जाते।

२६३. बहुत-से लोग घर से निकल कर प्रव्रजित होकर भी मिश्रभाव-अर्थात्—कुछ गृहस्थ का और कुछ साधु का, यों मिला-जुला आचार अपना लेते हैं। इसे वे मोक्ष का मार्ग ही कहते हैं। (सच है) कुशीलों के वचन में ही शक्ति (वीर्य) होती है, (कार्य में नहीं)।

२६४. वह (कुशील पुरुष-साधक) सभा में (स्वयं को) शुद्ध कहता है, परन्तु एकान्त में दुष्कृत (पापकर्म) करता है। तथाविद् (उसकी अंगचेष्टाओं-आचार-विचारों एवं व्यवहारों को जानने वाले व्यक्ति) उसे जान लेते हैं कि यह मायावी और महाधूर्त है।

२६५. बाल (अज्ञ) साधक स्वयं अपने दुष्कृत-पाप को नहीं कहता, तथा गुरु आदि द्वारा उसे अपने पाप को प्रकट करने का आदेश दिये जाने पर भी वह अपनी बड़ाई करने लगता है। "तुम मैथुन की अभिलाषा (पुरुषवेदोदय के अनुकूल कामभोग की इच्छा) मत करो, "इस प्रकार (आचार्य आदि के द्वारा) बार-बार प्रेरित किये जाने पर वह कुशील ग्लानि को प्राप्त हो (मुर्झा) जाता है (झेंप जाता है या नाराज हो जाता है)।

२६६. जो पुरुष स्त्रियों की पोषक प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रह चुके हैं, अतएव स्त्रियों के कारण होने वाले खेदों के ज्ञाता (अनुभवी) हैं एवं प्रज्ञा (औत्पात्तिकी आदि बुद्धियों) से सम्पन्न (युक्त) हैं, ऐसे भी कई लोग स्त्रियों के वश में हो जाते हैं।

२६७. (इस लोक में परस्त्री-सेवन के दण्ड के रूप में) उसके हाथ-पैर भी छेदे (काटे) जा सकते हैं, अथवा उसकी चमड़ी और मांस भी उखेड़ा (काटा) जा सकता है, अथवा उसे आग में डालकर जलाया जाना भी सम्भव है, और उसका अंग छीलकर उस पर क्षार (नमक आदि) का पानी भी छिड़का जा सकता है।

२६८. पाप-सन्तप्त (पाप की आग में जलते हुए) पुरुष इस लोक में (इस प्रकार से) कान और नाक का छेदन एवं कण्ठ का छेदन (गला काटा जाना) तो सहन कर लेते हैं, परन्तु यह नहीं कहते कि हम अब फिर ऐसे पाप नहीं करेंगे।

२६९. 'स्त्रीसंसर्ग बहुत बुरा होता है', यह हमने सुना है, कई अनुभवियों का भी यही (कथन) कहना है। स्त्रीवेद (वैशिक काम शास्त्र) का भी यही कहना है कि अब मैं ऐसा नहीं करूँगी', यह कह कर भी वे (काम कला-निपुण स्त्रियाँ) कर्म से अपकृत्य करती हैं।

२७०. स्त्रियाँ मन से और कुछ सोचती हैं, वाणी से दूसरी बात बोलती हैं और कर्म से और ही करती हैं। इसलिए स्त्रियों को बहुत माया (कपट) वाली जानकर उन पर विश्वास (श्रद्धा) न करे।

२७१. कोई युवती विचित्र आभूषण और वस्त्र पहन कर श्रमण से यों कहे कि—"हे कल्याण करने वाले या संसार से पार करने वाले, अथवा हे भय से बचाने वाले साधो ! मैं विरत (संसार से विरक्त) हो गई हूँ, मैं अब संयम पालन करूँगी, आप मुझे धर्मोपदेश दीजिए।"

२७२. अथवा श्राविका होने के बहाने से स्त्री साधु के निकट आकर कहती है—"मैं श्रमणों की साधर्मिणी हूँ।" (किन्तु) जैसे अग्नि के पास लाख का घड़ा पिघल जाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी स्त्री के साथ रहने से शिथिलाचारी हो जाते हैं।

२७३. जैसे अग्नि को छूता हुआ लाख का घड़ा शीघ्र ही तप्त होकर नाश को प्राप्त (नष्ट) हो जाता है, इसी तरह स्त्रियों के साथ संवास (संसर्ग) से अनगार पुरुष (भी) शीघ्र ही नष्ट (संयमभ्रष्ट) हो जाते हैं।

२७४. कई भ्रष्टाचारी पापकर्म करते हैं, किन्तु आचार्य आदि के द्वारा पूछे जाने पर यों कहते हैं कि मैं पापकर्म नहीं करता, किन्तु 'यह स्त्री (बाल्यकाल में) मेरे अंक में सोती थी।'

२७५. उस मूर्ख साधक की दूसरी मूढ़ता यह है कि वह पुनः-पुनः किये हुए पापकर्म को, 'नहीं किया', कहता है। अतः वह दुगुना पाप करता है। वह जगत् में अपनी पूजा चाहता है, किन्तु असंयम की इच्छा करता है।

२७६. दिखने में सुन्दर आत्मज्ञानी अनगार को स्त्रियाँ निमंत्रण देती हुई कहती हैं—हे भवसागर से त्राता (रक्षा करने वाले) साधो ! आप मेरे यहाँ से वस्त्र, पात्र, अन्न (आहार) या पान (पेय पदार्थ) स्वीकार (ग्रहण) करें।

२७७. इस प्रकार के प्रलोभन को साधु, सूअर को फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे। ऐसी स्त्रियों की प्रार्थना पर वह (उनके) घर जाने की इच्छा न करे। (किन्तु) विषय-पाशों से बंधा हुआ मूर्ख साधक पुनः पुनः मोह को प्राप्त हो जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—स्त्रीसंगरूप उपसर्ग : विविध रूप, दुष्परिणाम एवं कर्त्तव्यनिर्देश—प्रस्तुत उद्देशक की ३१ सूत्रगाथाओं (सू० गा० २४७ से २७७ तक) में स्त्रीसंगरूप उपसर्ग के विविध रूपों का परिचय देते हुए शास्त्रकार ने बीच-बीच में स्त्रीसंग से भ्रष्ट साधक की अवदशा, स्त्रीसंसर्गभ्रष्टता के दुष्परिणामों एवं इस उपसर्ग से बचने के कर्त्तव्यों का निरूपण भी किया गया है।[1]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति (भाषानुवाद सहित), भाग २, पृ० १०९ से १४७ तक का सारांश

स्त्रीसंगरूप उपसर्ग एक : रूप अनेक—वास्तव में साधु मन में जब कामवासना के मलिन विचारों को धुलाता रहता है, तब वह किसी भी स्त्री के हावभाव, मधुर आलाप, नम्र वचन, चाल-ढाल या अंगोपांग को देखकर उसके प्रति कामासक्त हो सकता है। फिर भी साधु की भूमिका इससे काफी ऊँची हैं और शास्त्रकार इस अध्ययन के प्रारम्भ में सर्वप्रथम उसकी उच्च भूमिका का स्मरण कराते हैं—'जब कोई व्यक्ति घर-बार, माता-पिता आदि स्वजनों, कुटुम्बीजनों, धन-सम्पत्ति तथा समस्त सांसारिक वस्तुओं से पहले का मोहसम्बन्ध छोड़कर एकाकी वन मुनिधर्म में दीक्षित होता है, तब यही प्रतिज्ञा करता है कि मैं आज से सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र (पंचमहाव्रत पंचसमिति, त्रिगुप्ति आदि) में अथवा स्व-(आत्म) हित में विचरण करूँगा। तब से वह समस्त प्रकार के मैथुन से मन-वचन-काया से विरत हो जाता है और विविक्त (स्त्री-पशु-नपुंसकसंसर्गरहित) स्थान की गवेषणा करता है, अथवा विविक्त-पवित्र साधुओं के मार्ग के अन्वेषण में तत्पर रहता है, या कर्मों से विविक्त-रहित मोक्ष का अभिलाषी रहता है। फिर भी उक्त ब्रह्मचर्यपरायण साधु के समक्ष अत्यन्त सूक्ष्म रूप में कई विवेकमूढ़ नारियाँ आकर उसे नाना रूप से शीलभ्रष्ट कर सकती हैं। साधु को सहसा उस स्त्रीजन्य सूक्ष्म उपसर्ग का पता ही नहीं लगता, वह ठगा जाता है, उक्त उपसर्ग के प्रवाह में वह जाता है। अतः शास्त्रकार श्रमण को सावधान करने और उस उपसर्ग में फँसने से बचाने की दृष्टि से स्त्रीजन्य उपसर्ग के विभिन्न रूपों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं।[2]

१. **प्रथम रूप**— विवेकमूढ़ स्त्रियाँ साधु के पास आकर बैठ जाती हैं, और इधर-उधर के पुराने गार्हस्थ्य या दाम्पत्य संस्मरण याद दिलाकर साधक को शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। जैसे नाना प्रकार से छल करने में निपुण, कामवासना पैदा करने में चतुर, मागधवेश्या आदि नारियों ने कूलबालुक जैसे तपस्वी रत्नों को शीलभ्रष्ट कर दिया था। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**सुहुमेण तं परिक्कम्म।**" अर्थात् अन्य कामुक स्त्रियाँ भाई, पुत्र, स्वजन या अन्य सांसारिक रिश्ते के बहाने से साधु के पास आकर धीरे-धीरे उससे अनुचित अनैतिक सम्बन्ध कर लेती हैं। यह स्त्रीजन्य उपसर्ग का प्रथम रूप है।

२. **दूसरा रूप**—कई कामुक रमणियाँ साधु को शीलभ्रष्ट करने हेतु गूढ़ अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग करके अपने मनोभाव जताकर फँसा लेती हैं। वे इसी प्रकार का द्व्यर्थक श्लोक, कविता, पहेली, भजन या गायन साधु के पास आकर सुनाती हैं। और उसी के माध्यम से अपना कामुक मनोभाव प्रकट कर देती हैं। अपरिपक्व साधक उसके मोहजाल में फँसकर अपने संयम से हाथ धो बैठता है।[3]

---

२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०४ पर से।

३ वृत्तिकार इसी प्रकार का एक गूढार्थक श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

'काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीसु।
मिथ्या न भाषेऽहं विशालनेत्रा ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु॥"

इस श्लोक के चारों चरणों के प्रथम अक्षरों की योजना करने से **'कामेमि ते'** (मैं तुम्हें चाहती हूँ) यह वाक्य वन जाता है।

इसके अतिरिक्त गुप्त नाम के द्वारा या गूढार्थक मधुर वार्तालाप करके अपने जाल में साधु को फंसा लेती हैं । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—"छन्नपए ।'

३. तृतीय रूप—प्रायः कामुक रमणियाँ साधु को अपने कामजाल में फंसाने के अनेक तरीके जानती हैं, जिसमें भोलेभाले साधक वेदमोहनीय कर्मोदयवश फंसकर उनमें आसक्त हो जाते हैं । शास्त्रकार यही बात कहते हैं–**उवायं पि ताउ''''''लिस्संति भिक्खुणो** । कामुक स्त्रियों द्वारा साधु को जाल में फंसाये जाने के कुछ तरीके सूत्रगाथा २४९ में बताये हैं—**पासे भिसं''''''''''कक्खमणुव्वज्जे** । अर्थात्—(१) वे साधु के पास अत्यन्त सटकर कोई गुप्त बात कहने के बहाने बैठ जाती है, या बहुत अधिक देर तक बैठती हैं, (२) बारबार कामोत्तेजक वस्त्रों को ढीला होने का बहाना बना कर पहनती हैं, (३) शरीर के अधोभाग (जांघ, नाभि, टाँग, नितम्ब आदि) दिखाती हैं, (४) बाँहें ऊँची करके काँख को दिखाती हुई सामने से जाती हैं, ताकि साधु उसे देखकर काम-विह्वल हो जाए । इसके अतिरिक्त हाथ से इशारे करना, आँखें मटकाना, स्तन दिखाना, कटाक्ष करना आदि तो कामुक कामिनियां के कामजाल में फंसाने के सामान्य सूत्र हैं ।

४. **चौथा रूप**—कभी-कभी ऐसी चालाक नारियाँ कामजाल में फँसाने के लिए साधु को अत्यन्त भावभक्तिपूर्वक किसी को दर्शन देने आदि के बहाने से पधारने की प्रार्थना करती हैं, या घर पर एकान्त कमरे में अनुनय-विनय करके ले जाती हैं । जब अविवेकी साधु उसकी प्रार्थना या मनुहार पर उसके घर पर या एकान्त में चला जाता है, तब वे साधु को शीलभ्रष्ट करने हेतु कहती हैं—जरा इस पलंग या गद्दे पर या शय्या पर विराजिए । इसमें कोई सजीव पदार्थ नहीं है, प्रासुक है । अच्छा, और कुछ नहीं तो, कम से कम इस आराम-कुर्सी पर तो बैठ जाइए । इतनी दूर से पधारे हैं तो जरा इस गलीचे पर बैठकर सुस्ता लीजिए । भोला साधु स्त्री के वाग्जाल में फँस जाता है । यही बात शास्त्रकार कहते है—**सयणासणेण जोग्गेण''''''णिमंतंति** ।

५. **पाँचवां रूप**—कई कामलोलुप कामिनियाँ साधु को अपने कामजाल में फँसाने के लिए पहले साधु को इशारा करती हैं, या वचन देती हैं कि 'मैं अमुक समय में आपके पास आऊँगी, आप भी वहाँ तैयार रहना ।' इस प्रकार का आमंत्रण देकर फिर वे साधु को अनेक विश्वसनीय वचनों से विश्वास दिलाती हैं, ताकि वह संकोच छोड़ दे । वे साधु का भय एवं संकोच मिटाने के लिए झूठमूठ कहती हैं— "मैं अपने पति से पूछकर, अपने पति को भोजन कराकर, उनके पैर धोकर तथा उन्हें सुलाकर आपके पास आई हूँ । मेरा यह तन, मन, धन, आभूषण आदि सब आपका है । आप शरीर का मनचाहा उपभोग कीजिए, मैं तो आपके चरणों की दासी हूँ । यों विविध वाग्जाल बिछाकर साधु को विश्वस्त करके रमणियाँ अपने साथ रमण करने के लिए प्रार्थना करती हैं । शास्त्रकार कहते हैं—**आमंतिय उस्सविया'''' ''''''''आयसा निमंतंति** ।

६. **छठा रूप**—कई चतुर ललनाएँ साधु को अपने साथ समागम के हेतु मनाने के लिए मन को काम-पाश में बाँध देने वाले विविध आकर्षणकारी दृश्यों, संगीतों, रसों, सुगन्धियों और गुदगुदाने वाले कोमल स्पर्शों से लुभाकर अपनी ओर खींचती हैं । इसके लिए वे मधुर-मधुर वचन बोलती हैं, आकर्षक शब्दों से सम्बोधित करती हैं, कभी साधु की ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से कटाक्ष फेंककर अथवा आँखें या मुंह मटकाकर देखती हैं, कभी अपने स्तन, नाभि, कमर, जंघा आदि अंगों को दिखाती हैं, कभी मनोहर

हावभाव, अभिनय या अंगविन्यास करती हैं, जिससे कि साधु उस पर मुग्ध हो जाए। कभी वे करुणा उत्पन्न करने वाले मधुर आलाप करती हैं—हे प्राणनाथ ! हे करुणामय, हे जीवनाधार, हे प्राणप्रिय, हे स्वामी, हे कान्त ! हे हृदयेश्वर ! आप मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। आप ही मेरे इस तन-मन के स्वामी हैं, आपको देखकर ही मैं जीती हूँ। आपने मुझे बहुत रुलाया, बहुत ही परीक्षा कराई, अब तो हद हो चुकी। अब मेरी बात मानकर मेरी मनोकामना पूर्ण करिये। अब भी आप मुझे नहीं अपनाएँगे तो मैं निराधार हो जाऊँगी, मैं यहीं सिर पछाड़कर मर जाऊँगी। आपको नारी-हत्या का पाप लगेगा। आपने अस्वीकार किया तो मेरी सौगन्ध है आपको ! बस, अब तो आप मुझे अपनी चरणदासी बना लें, मैं हर तरह से आपकी सेवा करूंगी। निश्चिन्त होकर मेरे साथ समागम कीजिए।' इस प्रकार की करुणाजनक एवं विश्वासोत्पादक मीठी-मीठी बातों से अनुनय-विनय करके साधक के हृदय में कामवासना भड़काकर अपने साथ सहवास के लिए उसे मना लेती हैं। कभी वे मीठी चुटकी लेती हैं—'प्रियवर ! अब तो मान जाइए न ! यों कब तक रूठे रहेंगे ? मुझे भी तो रूठना आता है !' कभी वे मन्द हास्य करती हैं—'प्राणाधार ! अब तो आपको मैं जाने नहीं दूंगी। मुझे निराधार छोड़कर कहाँ जाएँगे?" कभी वे एकान्त में कामवासना भड़काने वाली बातें कहकर साधु को काम-विह्वल कर देती हैं। वे येन-केन-प्रकारेण साधु को मोहित एवं वशीभूत करके उसे अपना गुलाम बना लेती हैं, फिर तो वे उसे अपने साथ सहवास के लिए बाध्य कर देती हैं। इसी तथ्य को शास्त्रकार व्यक्त करते हैं—**मणबंधणेहिं...... आणवयंति भिन्नकहाहिं।**

सातवाँ रूप—जैसे वन में स्वच्छन्द विचरण करने वाले एकाकी एवं पराक्रमी वनराज सिंह को पकड़ने वाले चतुर शिकारी माँस आदि का लोभ देकर विविध उपायों से बांध लेते हैं, या पिंजरे में बंद कर लेते हैं, फिर उसे तरह-तरह की यातनाएँ देकर पालतू पशु की तरह काबू में कर लेते है। ठीक इसी तरह कामकला चतुर कामिनियाँ मन-वचन-काया को गुप्त (सुरक्षित) रखने वाले कठोर संयमी साधु को भी पूर्वोक्त अनेकविध उपायों से अपने वश में कर लेती हैं, मोहपाश में जकड़ लेती हैं। जब वे इतने कठोर संयमी सुसंवृत साधु को भी अपना पथ बदलने को विवश कर सकती हैं तो जिनके मन-वचन-काया सुरक्षित नहीं हैं, उनको काबू में करने और डिगाने में क्या देर लगती हैं ? इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**सीहं जहा व............मुच्चए ताहे।**

८. **आठवाँ रूप**—जिस प्रकार बढ़ई रथ के चक्र से बाहर की पुट्ठी को गोलाकार बनाकर धीरे-धीरे नमा देता है, उसी तरह साधु को अपने वश में करके उससे अभीष्ट (मनचाहे) कार्यों की ओर मोड़ लेती हैं। कामकलादक्ष कामिनियों के मोहपाश में एक बार बंध जाने के बाद फिर चाहे जितनी उछल-कूद मचाए, उससे उसी तरह नहीं छट सकता, जिस तरह पाश में बंधा हुआ मृग पाश से छूटने के लिए बहुत छटपटाता है, मगर छुट नहीं सकता। नारी के मोहपाश का बन्धन कितना जबर्दस्त है, इसे एक कवि के शब्दों में देखिये—

> "बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि, प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
> दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजकोषे॥"

—संसार में बहुत से बन्धन हैं, परन्तु इन सब में प्रेम (मोह) रूपी रस्सी का बन्धन निराला ही

है। कठोर काष्ठ को भेदन करने में निपुण भौंरा कमल सौरभ के प्रेम (मोह) के वशीभूत होकर उसके कोष में ही निष्क्रिय होकर स्वयं बंद हो जाता है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'**अह तत्थ पुणो नमयंती**.......... **ण मुच्चति ताहे**।'

६. **नौवां रूप**—स्त्रियों के मायावी स्वभाव का वर्णन करते हुए शास्त्रकार स्त्रीजन्य उपसर्ग को समझने के लिए कहते हैं—'**अन्नं मणेण**..........**कम्मुणा अन्नं**।' इसका आशय यह है कि स्त्रियाँ पाताल के उदर के समान अत्यन्त गम्भीर होती हैं। उन्हें समझना अत्यन्त कठिन है। वे मन से कुछ सोचती हैं, वचन से कुछ और ही बोलती हैं और शरीर से चेष्टाएँ दूसरी ही करती हैं, उनका कहना, सोचना और करना अलग-अलग होता है।[1]

१०. **दसवाँ रूप**—कई बार साधु को अपने कामजाल में फँसाने के लिए कोई नवयौवना कामिनी आकर्षक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर साधु के पास आकर कहती है—'गुरुदेव ! आप तो संसार-सागर में डूबते जीवों का उद्धार करने और पार लगाने वाले हैं। मुझे उबारिये। मैं अब इस गृहपाश (बन्धन) से विरक्त हो गई हूँ। मेरा पति मेरे अनुकूल में नहीं है, अथवा उसने मुझे छोड़ दिया है। अतः अब मैं संयम या मुनिधर्म का आचरण करूँगी। आप मुझे धर्मोपदेश दीजिए, ताकि मुझे इस दुःख का भाजन न बनना पड़े।' इसी तथ्य को शास्त्रकार २७१वीं सूत्रगाथा में कहते हैं—**जुवती समणं**..........**णे भयंतारो**।

११. **ग्यारहवाँ रूप**—मायाविनी नारी साधु को फँसाने के लिए श्राविका के रूप में उसके पास आती है और कहती है—मैं आपकी श्राविका हूँ, साधुओं की सार्धमिणी हूँ। मुझसे आप किसी बात का संकोच न करिये। जिस चीज की आवश्यकता हो मुझे कहिए। यों वह बारबार साधु के सम्पर्क में आती है, घन्टों उसके पास बैठती है और चिकनीचुपड़ी बातें बनाकर वह श्राविकारूपधारी मायाविनी नारी कूल-बालुक की तरह साधु को धर्मभ्रष्ट कर देती है। इसी बात को शास्त्रकार (२७२वीं सूत्रगाथा में) अभिव्यक्त करते हैं—**अदु साविया**.... ...**साधम्मिणी य समणाणं**।

१२. **बारहवाँ रूप**—कई बार व्यभिचारिणी स्त्रियां भद्र एवं संयमी साधु को अतिभक्ति का नाटक करके फंसा लेती हैं। कई कामुक नारियाँ सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ एवं सुरूप आत्मज्ञानी अनगार को सभ्य

---

१. वृत्तिकार ने दुर्ग्राह्य स्त्री स्वभाव को समझाने के लिए एक कथा दी है—एक युवक था दत्तावैशिक। उसे अपने कामजाल में फँसाने के लिए एक वेश्या ने अनेक उपाय किये। परन्तु दत्तावैशिक ने मन से भी उसकी कामना नहीं की। यह देख वेश्या ने एक नया पासा फेंका। उसने दयनीय चेहरा बनाकर रोते-रोते युवक से कहा—'मेरा दुर्भाग्य है कि आपने इतनी प्रार्थना करने के बावजूद भी मुझे छिटका दिया। अब मुझे इस संसार में जीकर क्या करना है ? मैं अब शीघ्र ही अग्नि प्रवेश करके जल मरूँगी।' यह सुनकर दत्तावैशिक ने कहा—'स्त्रियाँ माया करके अग्निप्रवेश भी कर सकती हैं।' इस पर वेश्या ने सुरंग के पूर्वद्वार के पास लकड़ियाँ इकट्ठी करके उन्हें जला दिया और सुरंगमार्ग से अपने घर चली गई। दत्तावैशिक ने सुना तो कहा—'स्त्रियों के लिए ऐसी माया करना बाएँ हाथ का खेल है।' वह यों कह ही रहा था कि कुछ धूर्तों ने उसे विश्वास दिलाने के लिए उठाकर चिता में फेंक दिया, फिर भी दत्तावैशिक ने विश्वास नहीं किया। इस प्रकार के स्त्रीसंग उपसर्ग को भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

तरीके से फंसाने हेतु प्रार्थना करती हैं—संसारसागर से त्राता ! मुनिवर ! वस्त्र, पात्र, अन्न-पान आदि जिस किसी वस्तु की आपको आवश्यकता हो, आपको और कहीं पधारने की आवश्यकता नहीं। आप मेरे यहाँ पधारें। मैं आपको सब कुछ दूंगी।

यदि साधु उसके वाग्जाल में फंसकर उसकी प्रार्थना स्वीकार करके बार-बार उसके यहाँ जाने-आने लगता है और वस्त्रादि स्वीकार कर लेता है तो निःसंदेह वह एक दिन उस स्त्री के मोहजाल में फंस सकता है। इसीलिए शास्त्रकार २७६वीं गाथा द्वारा इसे स्त्रीसंगरूप उपसर्ग बताते हुए कहते हैं—**संलोकणिज्जमणगारं……पाणगं पडिग्गाहे।**

ये ही कुछ निदर्शन हैं, स्त्रीजन्य उपसर्ग के, जो इस उद्देशक में बताये गए हैं। इनके सिवाय और भी अनेकों रूप हो सकते हैं, जिनसे चारित्रनिष्ठ साधु को प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए।

स्त्रीजन्य उपसर्गों से सावधान रहने की प्रेरणाएँ—इस समग्र उद्देशक में बीच-बीच में स्त्रीजन्य उपसर्ग के पूर्वोक्त विविध रूपों से सावधान रहने और इस उपसर्ग पर विजय पाने की विभिन्न प्रेरणाएँ शास्त्रकार ने दी हैं। वे प्रेरणाएँ इस प्रकार हैं[2]—

प्रथम प्रेरणा—शास्त्रकार ने इस उपसर्ग से बचने के लिए साधु को सर्वप्रथम प्रेरणा दी है—साधु-दीक्षा ग्रहण करते समय की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर। प्रतिज्ञा स्मरण कराने का उद्देश्य यह है कि साधु अपनी गृहीत प्रतिज्ञा को स्मरण करके स्त्रीजन्य उपसर्ग से अपने आपको बचाए।

इसीलिए '**जे मातरं पितरं……आरतमेहुणो विवित्तेसी**' इस गाथा द्वारा शास्त्रकार साधु को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए '**उवायं पि ताओ जाणिसु जह लिस्संति भिक्खुणो एगे**' इस गाथार्ध द्वारा स्त्रीजन्य उपसर्ग से पराजित होने से बचने की प्रेरणा देते हैं।

द्वितीय प्रेरणा—स्त्रियों द्वारा अंग-प्रदर्शन, हावभाव, निकट आकर किसी बहाने से बैठने आदि अथवा भावभक्तिपूर्वक शय्या, आसन आदि पर बैठने आदि के नाना प्रकार के प्रलोभनों, कामोत्तेजक बातों से साधु सावधान रहे। विवेकी साधु इन सब बातों को व कामजाल में फंसाने के नाना प्रकार के बंधन (पाश बन्धन) समझे और इन लुभावने फंदों से अपने आपको बचाए। शास्त्रकार इनसे सावधान रहने की प्रेरणा देते हुए २५०वीं सूत्रगाथा में कहते हैं—**एताणि चेव से जाणे, पासाणि विरूव रूवाणि।**

तृतीय प्रेरणा—प्रायः साधु दृष्टिराग के कारण शीलभ्रष्ट होता है, अगर वह अपनी दृष्टि पर संयम रखे, स्त्री के अंगों पर चलाकर अपनी नजर न डाले, उसकी दृष्टि से दृष्टि न मिलावे, उसके द्वारा कटाक्षपात आदि किये जाने पर स्वयं उसकी ओर से दृष्टि हटा ले। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि 'साधु स्त्री का भित्ती पर अंकित चित्र भी न देखे, शृंगारादि से विभूषित नारी को भी न देखे, कदाचित् उस पर दृष्टि पड़ जाए तो जैसे सूर्य की ओर देखते ही दृष्टि हटा ली जाती है, उसी तरह उस

---

२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०४ से ११३ तक में से।

पर से दृष्टि हटा ले।[3] प्रयोजनवश कदाचित् स्त्री की ओर देखना पड़े तो इसके लिए वृत्तिकार कहते हैं—

"कार्येऽपीषन् मतिमान् निरीक्षते योषिदंगमस्थिरया।
अस्निग्धतया दृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव॥"

अर्थात्—जरूरत पड़ने पर बुद्धिमान साधक स्त्री के अंग की ओर जरा-सी अस्थिर (उड़ती) अस्निग्ध, सूखी एवं अवज्ञापूर्ण दृष्टि से देखे, ताकि अकुपित होते हुए भी बाहर से कुपित-सा प्रतीत हो।

तात्पर्य यह है कि साधक टकटकी लगाकर, दृष्टि जमाकर स्त्री के रूप, लावण्य एवं अंगों को न देखे। यही बात स्त्रीजन्य उपसर्ग से बचने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'नो तासु चक्खु संधेज्जा'**।

चौथी प्रेरणा—कई कामुक ललनाएँ साधु को आश्वस्त-विश्वस्त करके उसे वचनबद्ध कर लेती हैं। भोलाभाला साधु उनके मायाजाल में फँस जाता है। शास्त्रकार पहले से ही ऐसे अवसर पर सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं—**'नो वि य साहसं समभिजाणे'**। इसका आशय यह है कि साधु किसी भी मूल्य पर स्त्री के साथ अनाचार सेवन करने का साहसिक कुकर्म करना स्वीकार न करे, ऐसा कुकर्म करने के लिए हर्गिज वचनबद्ध न हो, क्योंकि नरक-गमन, इहलोक-निन्दा, भयंकर दण्ड आदि कुशीलसेवन के दुष्परिणामों का ज्ञाता साधु यह भलीभांति समझ ले कि स्त्री के साथ समागम करना युद्ध में उतरने के समान जोखिम भरा दुःसाहस का कार्य है।

पाँचवी प्रेरणा—स्त्रीजन्य उपसर्ग से शीलभ्रष्ट होने का खतरा निम्नोक्त कारणों से भी है—(१) स्त्रियों के साथ ग्राम, नगर आदि विहार करने से, (२) उनके साथ अधिक देर तक या एकान्त में बैठने-उठने, वार्तालाप करने आदि से। इसीलिए शास्त्रकार इस खतरे से सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं—**'नो सद्धियं पि विहरेज्जा'**। 'विहार' से केवल भ्रमण या गमन ही नहीं, साथ-साथ उठना-बैठना, क्रीड़ा करना (खेलना) आदि क्रियाएँ भी सूचित होती हैं। शास्त्रकार का तात्पर्य यह भी प्रतीत होता है कि स्त्रीसंसर्गों को हर हालत में टालने का प्रयत्न करना चाहिए।

छठी प्रेरणा—स्त्रीजन्य उपसर्ग केवल स्त्री के द्वारा दिये गए प्रलोभनों आदि से ही नहीं होता, कभी-कभी दुर्बलमनाः साधु स्वयं किसी स्त्री को देखकर, पूर्वभुक्त कामभोगों का स्मरण करके या स्वयं किसी स्त्री का चिन्तन करके अथवा किसी स्त्री को लुभाकर फंसाने से भी होता है। ऐसी स्थिति में, जबकि साधु स्वयमेव विचलित हो रहा हो, कौन उसे उबार सकता है? शास्त्रकार इसका समाधान देते है—**'एवमप्पा सुरक्खिओ होइ।'** इसका आशय यह है कि ये (पूर्वोक्त) और इनके समान अन्य कई प्रकार के कामोत्तेजक या शीलनाशक खतरे हैं, जिनसे साधु को स्वयं बचना चाहिए। आत्महितैषी साधक को स्वयं अपनी आत्मा की सुरक्षा करनी चाहिए। साधक की आत्मा स्वयमेव ही इस प्रकार से सुरक्षित हो सकती है।

---

३. 'चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सु अलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे॥'—दशवैकालिक अ० ८, गा० ५५

सातवीं प्रेरणा—जब भी कोई नारी कामुकतावश साधु के समक्ष अमुक समय पर अमुक जगह आने का वादा करे या साधु को संकेत दे, या इधर-उधर की बातें बनाकर साधु को विश्वास दिलाकर समागम के लिए मनाने लगे तो विवेकी साधु तुरन्त सम्भल जाए। वह स्त्री की उन सब बातों को नाना प्रकार के कामजाल (पाशबन्धन) समझे। वह इन सब बातों में न आए, वाग्जाल में न फंसे। साधक इस प्रकार की स्त्रियों को मोक्षमार्ग में अर्गला के समान बाधक समझकर उनके संसर्ग से दूर रहे। स्त्रीसमागम तो दूर रहा, स्त्रीसमागम का चिन्तन भी भयंकर कर्मबन्ध का कारण है। अतः इन्हें प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दे। यही प्रेरणा शास्त्रकार देते हैं—**एताणि चेव से जाणे सद्दाणि विरूवरूवाणि।**

आठवीं प्रेरणा—स्त्रियों की मनोज्ञ एवं मीठी-मीठी बातों, चित्ताकर्षक शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के प्रलोभनों, करुणोत्पादक वचनों अथवा विभिन्न मोहक बातों से साधु सावधान रहे। ऐसे सब प्रलोभनों या आकर्षणों को साधु कामपाश में बाँधने के बन्धन समझे, जिस बंधन में एक बार बंध जाने के बाद उससे छूटना अत्यन्त कठिन है। और फिर स्त्री के मोहपाश में बंधने के बाद मनुष्य को पश्चात्ताप के सिवाय कोई चारा नहीं रहता, क्योंकि गृहस्थी का चलाना, निभाना और चिन्तामुक्त रहना टेढ़ी खीर है। इसलिए साधु को समय रहते चेत जाना चाहिए। उसे मोहपाश में बाँधने और कामजाल में फँसाने के स्त्री-प्रयुक्त सभी उपसर्गों से सावधान रहना चाहिए, स्त्रियों के संसर्गजनित मोहपाश में कतई न बंधना चाहिए। मुक्तिगमनयोग्य साधु को विवेक बुद्धि से सोचकर स्त्री-संवास या स्त्री-संग करना कथमपि उचित नहीं है, इसे प्रारम्भ से ही तिलांजलि दे देनी चाहिए। यही प्रेरणा २५६वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में शास्त्रकार देते हैं—'**एवं विवेकमायाए संवासो न कप्पती दविए।**'

नौवीं प्रेरणा—स्त्रीसंसर्ग को शास्त्रकार विषलिप्त काँटा बताकर उसे सर्वथा त्याज्य बताते हैं। एक तो काँटा हो, फिर वह विषलिप्त हो, जो चुभने पर केवल पीड़ा ही नहीं देता, जानलेवा भी बन जाता है। यदि वह शरीर के किसी अंग में चुभ कर टूट जाए तो अनर्थ पैदा करता है, इसी तरह पहले स्त्री का स्मरण, कीर्तन ही अनर्थकारी है, फिर प्रेक्षण, गुह्यभाषण, मिलन, एकान्त-उपवेशन, सह-विहार आदि के माध्यम से उसका संसर्ग किया जाए तो विषलिप्त काँटे की तरह केवल एक बार ही प्राण नहीं लेता, अनेक जन्मों तक जन्म-मरण एवं नाना दुःख देता रहता है। एक प्राचीन आचार्य ने कहा है—

> "वरि विसखइयं, न विसयसुहु, इक्कसि विसिणि मरंति।
> विसयामिस-घाइया पुण, णरा णरएहि पडंति॥"

'विष खाना अच्छा, किन्तु विषयसुख का सेवन करना अच्छा नहीं; क्योंकि विष खाने से तो जीव एक ही बार मरण का कष्ट पाता है, किन्तु विषय रूपी माँस के सेवन से मनुष्य नरक के गड्ढे में गिर कर बार-बार कष्ट पाता है।' विष तो खाने से मनुष्य को मारता है, लेकिन विषय स्मरणमात्र से मनुष्य के संयमी जीवन की हत्या कर डालते हैं।

इसीलिए स्त्री विषयों में फंसाने में निमित्त है, इसलिए शास्त्रकार २५७वीं सूत्रगाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा साधक को उससे सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं—**तम्हाउ वज्जए······कंटगं णच्चा।**

दसवीं प्रेरणा—साधु परकल्याण की दृष्टि से धर्मकथा करता है, परन्तु यदि वह किसी अकेली स्त्री के घर अकेला जाकर धर्मकथा करता है तो उसकी निर्ग्रन्थता एवं स्वकल्याण (शील-रक्षण) खतरे में

पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अकेली स्त्री के पास अकेले साधु के बैठकर धर्मोपदेश देने से कभी-न-कभी मोह या काम (वेद) की ग्रन्थि में बंध जाने की सम्भावना है। आभ्यन्तरग्रन्थ का शिकार वह साधु धीरे-धीरे उस स्त्री का वशवर्ती या गुलाम होकर फिर किसी न किसी बहाने से स्त्रीसंसर्ग करने का प्रयत्न करेगा, निषिद्ध आचरण करने से वह निर्ग्रन्थ धर्म से भ्रष्ट हो जाएगा। फिर वह सच्चे माने में निर्ग्रन्थ नहीं रह जाएगा। अतः साधु को अपनी निर्ग्रन्थता सुरक्षित रखने के लिए २५७वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध द्वारा शास्त्रकार सावधान करते हैं—'ओए कुलाणि'''' ''ण से वि णिग्गंथे।'

वृत्तिकार इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण करते हैं कि यदि कोई स्त्री बीमारी के या अन्य किसी गाढ़ कारण से साधु के स्थान पर आने में असमर्थ हो, अतिवृद्ध एवं अशक्त हो, और उस साधु के दूसरे सहायक (साथी) साधु उस समय न हों तो अकेला साधु भी उस महिला के यहाँ जाकर दूसरी स्त्रियों या पुरुषों की उपस्थिति में उस महिला को वैराग्योत्पादक धर्मकथा या मंगलपाठ सुनाए तो कोई आपत्ति नहीं है।

ग्यारहवीं प्रेरणा—स्त्रियाँ कूलवालुक जैसे महातपस्वियों को भी तपस्या से भ्रष्ट कर देती हैं। इसलिए चाहे कोई उत्कृष्ट तपस्वी हो मगर उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं तो तपस्वी हूँ, तपस्या से मेरा शरीर कृश है, मेरी इन्द्रियाँ शिथिल या शान्त हो गई हैं, अब मुझे क्या खतरा है स्त्रियों से ? तपस्वी साधु इस धोखे में न रहे कि स्त्रीसंसर्ग से कभी भ्रष्ट नहीं हो सकता। स्त्री जलती हुई आग है, उसके पास साधकरूपी घृत रहेगा, तो पिघले बिना न रहेगा। तपस्वी यह भलीभाँति समझ ले कि वर्षों तक किया हुआ तप स्त्रीसंसर्ग से एक क्षण में नष्ट हो सकता है। अतः आत्महितैषी तपस्वी चारित्रभ्रष्ट करने वाली स्त्रियों के साथ न भ्रमण-गमन करे, न साथ रहे, न ही क्रीड़ा या विनोद करे, न बैठें-उठे, न विहार करे। यही प्रेरणा शास्त्रकार ने २५८वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में दी है—'**सुतवस्सिए वि भिक्खू णो विहरे सह णमित्थीसु**'।

बारहवीं प्रेरणा—साधु कई बार यह समझ बैठता है कि यह छोटी-सी लड़की है, यह कुमारी कन्या है, अथवा यह मेरी गृहस्थ पक्षीय पुत्र, पुत्रवधू, धायमाता या दासी है। यह मेरे-से भी उम्र में बहुत बड़ी है या साध्वी हैं इनके साथ एकान्त में बैठने, बातचीत करने, या सम्पर्क करने में मेरा शील-भंग कैसे हो जाएगा ? अथवा किसी को मेरे पर क्या शंका हो सकती है ? यद्यपि अपनी कन्या, या पुत्रवधू, अथवा धायमाता अथवा मातृसमा चाची, ताई आदि के साथ एकान्त में रहने पर साधु का चित्त सहसा विकृत नहीं हो सकता, फिर भी नीतिकारों ने कहा है—

> **'मात्रा स्वस्रदुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।**
> **बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।''**

अर्थात्—'माता, बहन या पुत्री के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं, वे विद्वान् पुरुष को (मोह की ओर) खींच लेती हैं।

वास्तव में मोहोदय वश कामवासना का उदय कब, किस घड़ी हो जाएगा ? यह छद्मस्थ साधक के लिए कहना कठिन है। दूसरी बात है—स्त्री (चाहे वह पुत्री, माता या बहन ही क्यों न हो) के साथ

सातवीं प्रेरणा—जब भी कोई नारी कामुकतावश साधु के समक्ष अमुक समय पर अमुक जगह आने का वादा करे या साधु को संकेत दे, या इधर-उधर की बातें बनाकर साधु को विश्वास दिलाकर समागम के लिए मनाने लगे तो विवेकी साधु तुरन्त सम्भल जाए। वह स्त्री की उन सब बातों को नाना प्रकार के कामजाल (पाशबन्धन) समझे। वह इन सब बातों में न आए, वाग्जाल में न फंसे। साधक इस प्रकार की स्त्रियों को मोक्षमार्ग में अर्गला के समान बाधक समझकर उनके संसर्ग से दूर रहे। स्त्रीसमागम तो दूर रहा, स्त्रीसमागम का चिन्तन भी भयंकर कर्मबन्ध का कारण है। अतः इन्हें प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दे। यही प्रेरणा शास्त्रकार देते हैं—**एताणि चेव से जाणे सद्दाणि विरूवरूवाणि।**

आठवीं प्रेरणा—स्त्रियों की मनोज्ञ एवं मीठी-मीठी बातों, चित्ताकर्षक शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के प्रलोभनों, करुणोत्पादक वचनों अथवा विभिन्न मोहक बातों से साधु सावधान रहे। ऐसे सब प्रलोभनों या आकर्षणों को साधु कामपाश में बाँधने के बन्धन समझे, जिस बंधन में एक बार बंध जाने के बाद उससे छूटना अत्यन्त कठिन है। और फिर स्त्री के मोहपाश में बंधने के बाद मनुष्य को पश्चात्ताप के सिवाय कोई चारा नहीं रहता, क्योंकि गृहस्थी का चलाना, निभाना और चिन्तामुक्त रहना टेढ़ी खीर है। इसलिए साधु को समय रहते चेत जाना चाहिए। उसे मोहपाश में बाँधने और कामजाल में फँसाने के स्त्री-प्रयुक्त सभी उपसर्गों से सावधान रहना चाहिए, स्त्रियों के संसर्गजनित मोहपाश में कतई न बंधना चाहिए। मुक्तिगमनयोग्य साधु को विवेक बुद्धि से सोचकर स्त्री-संवास या स्त्री-संग करना कथमपि उचित नहीं है, इसे प्रारम्भ से ही तिलांजलि दे देनी चाहिए। यही प्रेरणा २५६वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में शास्त्रकार देते हैं—**'एवं विवेकमायाए संवासो न कप्पती दविए।'**

नौवीं प्रेरणा—स्त्रीसंसर्ग को शास्त्रकार विषलिप्त काँटा बताकर उसे सर्वथा त्याज्य बताते हैं। एक तो काँटा हो, फिर वह विषलिप्त हो, जो चुभने पर केवल पीड़ा ही नहीं देता, जानलेवा भी बन जाता है। यदि वह शरीर के किसी अंग में चुभ कर टूट जाए तो अनर्थ पैदा करता है, इसी तरह पहले स्त्री का स्मरण, कीर्तन ही अनर्थकारी है, फिर प्रेक्षण, गुह्यभाषण, मिलन, एकान्त-उपवेशन, सह-विहार आदि के माध्यम से उसका संसर्ग किया जाए तो विषलिप्त काँटे की तरह केवल एक बार ही प्राण नहीं लेता, अनेक जन्मों तक जन्म-मरण एवं नाना दुःख देता रहता है। एक प्राचीन आचार्य ने कहा है—

> "वरि विसखइयं, न विसयसुहु, इक्कसि विसिणि मरंति।
> विसयामिस-घाइया पुण, णरा णरएहि पडंति॥"

'विष खाना अच्छा, किन्तु विषयसुख का सेवन करना अच्छा नहीं; क्योंकि विष खाने से तो जीव एक ही बार मरण का कष्ट पाता है, किन्तु विषय रूपी माँस के सेवन से मनुष्य नरक के गड्ढे में गिर कर बार-बार कष्ट पाता है।' विष तो खाने से मनुष्य को मारता है, लेकिन विषय स्मरणमात्र से मनुष्य के संयमी जीवन की हत्या कर डालते हैं।

इसीलिए स्त्री विषयों में फंसाने में निमित्त है, इसलिए शास्त्रकार २५७वीं सूत्रगाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा साधक को उससे सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं—**तम्हाउ वज्जए..... ...कंटगं णच्चा।**

दसवीं प्रेरणा—साधु परकल्याण की दृष्टि से धर्मकथा करता है, परन्तु यदि वह किसी अकेली स्त्री के घर अकेला जाकर धर्मकथा करता है तो उसकी निर्ग्रन्थता एवं स्वकल्याण (शील-रक्षण) खतरे में

पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अकेली स्त्री के पास अकेले साधु के बैठकर धर्मोपदेश देने से कभी-न-कभी मोह या काम (वेद) की ग्रन्थि में बंध जाने की सम्भावना है। आभ्यन्तरग्रन्थ का शिकार वह साधु धीरे-धीरे उस स्त्री का वशवर्ती या गुलाम होकर फिर किसी न किसी बहाने से स्त्रीसंसर्ग करने का प्रयत्न करेगा, निषिद्ध आचरण करने से वह निर्ग्रन्थ धर्म से भ्रष्ट हो जाएगा। फिर वह सच्चे माने में निर्ग्रन्थ नहीं रह जाएगा। अतः साधु को अपनी निर्ग्रन्थता सुरक्षित रखने के लिए २५७वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध द्वारा शास्त्रकार सावधान करते हैं—'**ओए कुलाणि····· ···ण से वि णिग्गंथे।**'

वृत्तिकार इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण करते हैं कि यदि कोई स्त्री बीमारी के या अन्य किसी गाढ़ कारण से साधु के स्थान पर आने में असमर्थ हो, अतिवृद्ध एवं अशक्त हो, और उस साधु के दूसरे सहायक (साथी) साधु उस समय न हों तो अकेला साधु भी उस महिला के यहाँ जाकर दूसरी स्त्रियों या पुरुषों की उपस्थिति में उस महिला को वैराग्योत्पादक धर्मकथा या मंगलपाठ सुनाए तो कोई आपत्ति नहीं है।

ग्यारहवीं प्रेरणा—स्त्रियाँ कूलवालुक जैसे महातपस्वियों को भी तपस्या से भ्रष्ट कर देती हैं। इसलिए चाहें कोई उत्कृष्ट तपस्वी हो मगर उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं तो तपस्वी हूँ, तपस्या से मेरा शरीर कृश है, मेरी इन्द्रियाँ शिथिल या शान्त हो गई हैं, अब मुझे क्या खतरा है स्त्रियों से? तपस्वी साधु इस धोखे में न रहे कि स्त्रीसंसर्ग से कभी भ्रष्ट नहीं हो सकता। स्त्री जलती हुई आग है, उसके पास साधकरूपी घृत रहेगा, तो पिघले बिना न रहेगा। तपस्वी यह भलीभाँति समझ ले कि वर्षों तक किया हुआ तप स्त्रीसंसर्ग से एक क्षण में नष्ट हो सकता है। अतः आत्महितैषी तपस्वी चारित्रभ्रष्ट करने वाली स्त्रियों के साथ न भ्रमण-गमन करे, न साथ रहे, न ही क्रीड़ा या विनोद करे, न बैठें-उठे, न विहार करे। यही प्रेरणा शास्त्रकार ने २५८वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में दी है—'**सुतवस्सिए वि भिक्खू णो विहरे सह णमित्थीसु**'।

बारहवीं प्रेरणा—साधु कई बार यह समझ बैठता है कि यह छोटी-सी लड़की है, यह कुमारी कन्या है, अथवा यह मेरी गृहस्थ पक्षीय पुत्र, पुत्रवधू, धायमाता या दासी है। यह मेरे-से भी उम्र में बहुत बड़ी है या साध्वी हैं इनके साथ एकान्त में बैठने, बातचीत करने, या सम्पर्क करने में मेरा शील-भंग कैसे हो जाएगा? अथवा किसी को मेरे पर क्या शंका हो सकती है? यद्यपि अपनी कन्या, या पुत्रवधू, अथवा धायमाता अथवा मातृसमा चाची, ताई आदि के साथ एकान्त में रहने पर साधु का चित्त सहसा विकृत नहीं हो सकता, फिर भी नीतिकारों ने कहा है—

> **'मात्रा स्वस्रदुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।**
> **बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।''**

अर्थात्—'माता, बहन या पुत्री के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं, वे विद्वान् पुरुष को (मोह की ओर) खींच लेती हैं।

वास्तव में मोहोदय वश कामवासना का उदय कब, किस घड़ी हो जाएगा? यह छद्मस्थ साधक के लिए कहना कठिन है। दूसरी बात है—स्त्री (चाहे वह पुत्री, माता या बहन ही क्यों न हो) के साथ

एकान्त में बैठे देखकर सामान्य लोगों को[४] शंका उत्पन्न हो सकती है। यही प्रेरणा शास्त्रकार ने २५६ वीं सूत्रगाथा में अभिव्यक्त की हैं—'अवि धूयराहि''''संथवं से णेव कुज्जा अणगारे।'

तेरहवीं प्रेरणा—स्त्रीसंसर्ग करने से साधु का समाधियोग (धर्मध्यान के कारण होने वाली चित्त की समाधि अथवा श्रुत-विनय-आचार-तपरूप समाधि का योग मन-वचन काय का शुभ व्यापार) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। स्त्रियों के आवास स्थानों में बार-बार जाना, उनके साथ पुरुषों की उपस्थिति के विना बैठना, संलाप करना, उन्हें रागभाव से देखना ये सब वेदमोहोदय जनित स्त्री-संस्तव—गाढपरिचय साधु को समाधि योग से भ्रष्ट करने वाले हैं। इसीलिए शास्त्रकार २६२वीं सूत्र गाथा में प्रेरणा देते हैं—"कुव्वंति संथवं ताहिं''''तम्हा समणा ण समेंति '''सण्णिसेज्जाओ।"

चौदहवीं प्रेरणा—साधु को अपने ब्रह्मचर्य-महाव्रत की सभी ओर से सुरक्षा करनी आवश्यक है। इसलिए चाहे स्त्री सच्चरित्र हो, श्राविका हो, धर्मात्मा नाम से प्रसिद्ध हो, सहसा विश्वास न करे। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बाड़ के पालन में जरा भी शिथिलता न दिखाए। इसमें किसी स्त्री की अवमानना या निन्दा करने की दृष्टि नहीं, किन्तु शीलभ्रष्टता से अपनी रक्षा की दृष्टि है। कई स्त्रियाँ बहुत मायाविनी भी होती है, वे विरक्ता के रूप में, श्राविका या भक्ता के रूप में साधु को छलकर या फुसला कर शीलभ्रष्ट कर सकती हैं। इसीलिए २७०वीं सूत्रगाथा में शास्त्रकार स्त्रीसंगरूप अनर्थ (उपसर्ग) से बचने के लिए प्रेरणा देते हैं—"अन्नं मणेण''''तम्हा ण सद्दहे ' णच्चा।"

पन्द्रहवीं प्रेरणा—जिस तरह लाख का घड़ा, आग के पास रखते ही पिघल जाता है, वह शीघ्र ही चारों ओर से तपकर गल (नष्ट हो) जाता हैं, वैसे ही ब्रह्मचारी भी स्त्री के साथ निवास, करने से भ्रष्ट—शिथिलाचारी एवं संयम भ्रष्ट हो जाता है चाहे वह कितना ही विद्वान श्रुतधर क्यों न हो। स्त्री का संवास एवं संसर्ग तो दूर रहा, स्त्री के स्मरण मात्र से ब्रह्मचारी का संयम नष्ट हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी के लिए स्त्री संसर्ग से दूर रहना ही हितावह है। शास्त्रकार भी २७२ एवं २७३ इन दो सूत्र-गाथाओं द्वारा इस प्रेरणा को व्यक्त करते हैं—'जतुकुम्भे जहा उवज्जोती''''सीएज्जा' 'जतुकुम्भे णासमुवयंति।

सोलहवीं प्रेरणा—पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित कामुक एवं मायाविनी स्त्रियों द्वारा दिये जाने वाले विविध प्रलोभनों को साधु सूअर को फँसाने के लिए डाले जाने वाले चावलों के दानों की तरह समझे। स्त्री संसर्ग सम्बन्धी जितने भी आकर्षण या प्रलोभन हैं उन सबसे मुमुक्षु साधु बचे, सतर्क रहे, आते ही उन्हें मन से खदेड़ दे, उनके पैर न जमने दे।

फिर वह उस मोहपाश को तोड़ नहीं सकेगा, वह अज्ञ साधक पुनः-पुनः मोह के भंवरजाल में गिरता रहेगा। उसका चित्त मोहान्धकार से घिर जाएगा, वह कर्तव्य विवेक न कर सकेगा। अतः शास्त्र-कार साधु को प्रेरणा देते हैं कि किसी भी स्त्री के बुलावे और मनुहार पर अपने विवेक से दीर्घदृष्टि से विचार करे और उक्त प्रलोभन में न फँसे, अथवा एक बार संयम लेने के बाद साधु पुनः गृहरूपी भंवर में पड़ने की इच्छा न करे।

---

४ देखिये तुलना करके—

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्ण-नास-विगप्पियं।

अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए॥—दशवैकालिक अ. ८ गा. ५६

इसी प्रेरणा को शास्त्रकार २७७वीं सूत्रगाथा द्वारा अभिव्यक्त करते हैं[५]—"णीवारमेव···पुणोमते।'

स्त्रीसंग से भ्रष्ट साधक की अवदशा—प्रस्तुत उद्देशक में शास्त्रकार ने स्त्री संगरूप उपसर्ग के अनेक रूप और उनसे सावधान रहने की यत्र-तत्र प्रेरणाएँ दी हैं, इनके बावजूद भी जो साधक स्त्रीसंग से भ्रष्ट हो जाता है, उसकी कैसी अवदशा होती है, उसके कुछ नमूने शास्त्रकार ने इस उद्देशक में दिये हैं, शेष द्वितीय उद्देशक में प्रतिपादित हैं।

पहली अवदशा—जब साधु मायाविनी स्त्रियो के मोहक वाग्विलासों, मधुरालापों, करुणाजनक सम्बोधनों एवं वाक्यों से प्रभावित होकर उनका वशवर्ती हो जाता है, अथवा किसी स्त्री के रूप-रंग, अंग-विन्यास आदि देखकर स्वयं कामज्वर से पीड़ित हो जाता है, तब वे कामिनियाँ उस साधक की दुर्बलता को जानकर उसे इतना बाध्य कर देती हैं कि फिर उस शीलभ्रष्ट साधक को उनके इशारे पर नाचना पड़ता है। वे स्त्रियाँ जैसी आज्ञा देती हैं, वैसे ही उन्हें चुपचाप करना पड़ता है। इसी अवदशा को शास्त्रकार २५३वीं सूत्रगाथा में अंकित करते हैं—**आणवयंति भिन्नकहाहिं।**

दूसरी अवदशा—उसके पश्चात् वे स्त्रियाँ पूर्वोक्त अनेक उपायों से मन-वचन-काया को संवृत—सुरक्षित (गुप्त) रखने वाले उस कठोर संयमी साधु को अपने मोहपाश में इस तरह बांध लेती हैं, जिस तरह वन में एकाकी और निर्भय विचरण करने वाले पराक्रमी सिंह को मांस आदि का लोभ देकर सिंह को पकड़ने वाले चतुर शिकारी विविध उपायों से उसके गले में फंदा डालकर बांध लेते हैं। फिर वे उसे अनेक यातनाएँ देकर पालतू जानवर की तरह काबू में कर लेते हैं। साधक की इस अवदशा को शास्त्रकार २५४वीं सूत्रगाथा द्वारा प्रकट करते हैं—'**सीहं जहा व···एगतियमणगारं** "

तीसरी अवदशा—नारियों के मोहपाश में बंध जाने के पश्चात् साधु को वे अपने मनचाहे अर्थ में इस तरह झुका लेती है, जिस तरह रथकार रथ के चक्र के बाहर की पुट्ठी को क्रमशः गोलाकार बना कर नमा देता है। स्त्री के मोहपाश में बँधा हुआ साधु फिर चाहे जितनी उछलकूद मचा ले, वह पाश से मुक्त नहीं हो सकता। यह उक्त साधु की तीसरी अवदशा है, जिसे सूचित करते हुए २५५वीं सूत्रगाथा में शास्त्रकार कहते हैं—'**अह तत्थ पुणो नमयंति·······फंदते वि ण मुच्चए ताहे।**'

चौथी अवदशा—साधु की उस समय होती है, जब वह स्त्रीसंसर्गरूपी झूठन या त्याज्य निन्द्यकर्म में अत्यन्त आसक्त हो जाता है। उसी के सेवन में प्रवृत्त हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—ऐसा कुशील पाशस्थ या पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त और अपच्छन्द रूप कुशील साधकों में कोई एक है, अथवा वह काथिक, पश्यक, सम्प्रसारक और नामक रूप कुशीलों में से कोई एक कुशील है। यह निश्चित है कि स्त्रीसंग आदि निन्द्य कृत्यों से ऐसी कुशील दशा प्राप्त हो जाती है। ऐसा कुशील साधु सामाजिक एवं राजकीय दृष्टि से निन्द्य एवं दण्डनीय होता है। इसी तथ्य को शास्त्रकार २५८वीं सूत्रगाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा व्यक्त करते हैं—'**जे एयं·······ते कुसीलाणं।**'

पाँचवी अवदशा—साधु को एकान्त स्थान में किसी स्त्री के साथ बैठे हुए या वार्तालाप करते हुए

---

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०४ से ११३ के अनुसार।

देखकर उस स्त्री के ज्ञाति (पारिवारिक) जनों और सुहृदजनों (हितैषियों) के हृदय में दुःख उत्पन्न होता है। उन्हें उस अकेली स्त्री का साधु के पास बैठे रहना बहुत बुरा लगता है। वे इसे अपनी जाति या कुल की बदनामी या कलंक समझते हैं। वे साधु के इस रवैये को देखकर उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की शंका-कुशंका एवं निन्दा करते हैं।

उस स्त्री के स्वजनों द्वारा बार-बार रोक-टोक करने और समझाने पर भी जब वह अपनी इस बुरी आदत को नहीं छोड़ता तो वे क्रुद्ध होकर उससे कहते हैं—अब तो आप ही इसका भरण-पोषण करिये, क्योंकि यह आपके पास ही अधिकतर बैठी रहती है, अतः अब तो आप ही इसके स्वामी हैं। अथवा उस स्त्री के ज्ञातिजन उस साधु पर ताना कसते हुए कहते हैं—'हम लोग तो इसके भरण-पोषण करने वाले हैं, इसके पति तो तुम हो, क्योंकि यह अपने सब कामकाज छोड़कर सदा तुम्हारे पास ही बैठी रहती है।' कितनी निन्दा, भर्त्सना बदनामी, अपमान और अवदशा है, स्त्री संसर्ग के कारण! यही अवदशा शास्त्रकार ने २६०वीं सूत्रगाथा में अभिव्यक्त की है।

छठी अवदशा—तपस्वी साधु को भी किसी स्त्री के साथ एकान्त में बैठे या वार्तालाप करते देखकर कई लोग सहन नहीं करते, वे क्रोधित हो जाते हैं। अथवा '**समणं दट्ठुदासीणं**' का यह अर्थ भी हो सकता है—तपस्वी साधु को अपनी स्वाध्याय, ध्यान एवं संयमक्रियाओं के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर जब देखो, तब किसी स्त्री के साथ एकान्त में बैठकर बातचीत करते देखकर कई लोगों में रोष पैदा हो जाता है। इसी अवदशा को शास्त्रकार सूत्रगाथा २६१ के पूर्वार्द्ध में अभिव्यक्त करते हैं—'**समणं दट्ठुदासी णं...... एगे कुप्पंति।**'

सातवीं अवदशा—वे साधु के लिए भाँति-भांति के पकवान बनाते और देते देखकर कई लोग उस स्त्री के प्रति चरित्रहीन या बदचलन होने की शंका करते हैं। इसी बात को शास्त्रकार २६१वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में व्यक्त करते हैं—'**अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं इत्थीदोससंकिणो होंति।**' अथवा इस पंक्ति का यह अर्थ भी सम्भव है—'अब यह स्त्री उस साधु के आने पर चंचलचित्त होकर श्वसुर आदि को आधा आहार या एक के बदले दूसरा भोज्य पदार्थ परोस देती है, इसलिए वे उस स्त्री के प्रति एकदम शंका-शील हो जाते हैं कि यह स्त्री अवश्य ही उस साधु का संग करती होगी, क्योंकि यह उस साधु के लिए विशिष्ट आहार बना कर रखती है या देती है।

वृत्तिकार ने इस अर्थ का समर्थक एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि एक स्त्री भोजन की थाली पर बैठे अपने पति व श्वसुर को भोजन परोस रही थी, किन्तु उसका चित्त उस समय गाँव में होने वाले नट के नृत्य को देखने में था। अतः अन्यमनस्क होने से उसने चावल के बदले रायता परोस दिया। उसके श्वसुर और पति इस बात को ताड़ गए। उसके पति ने क्रुद्ध होकर उसे बहुत पीटा और परपुरुषासक्त जानकर उसे घर से निकाल दिया।

निष्कर्ष यह है कि स्त्रीसंसर्ग या स्त्री के प्रति लगाव के कारण साधु के चरित्र पर लांछन आता है, लोग उसके प्रति दोष की आशंका से शंकित रहते हैं।

आठवीं अवदशा—बहुत-से साधु घरबार आदि छोड़कर साधु और गृहस्थ के मिलेजुले आचार का

पालन करते हैं, और उसी को संयमपथ या मोक्षमार्ग बताते हैं। अथवा उसी की विशेषता बताते हैं, उसी के समर्थन में तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अपने द्वारा स्वीकृत मार्ग को ही वे ध्रुव (धोरी या उत्सर्ग) मार्ग बतलाते हैं। वे द्रव्यसाधु ऐसी प्ररूपणा इसलिए करते हैं कि घरबार, कुटुम्ब कबीला और धनसम्पत्ति आदि पूर्वसंग छोड़ देने के बावजूद भी मोह कर्मोदयवश वे पुन: स्त्रियों से संसर्ग, भक्त-भक्ताओं से अतिपरिचय, परिजनों से मोहममता आदि के कारण न तो वे पूरे साधुजीवन के मौलिक आचार का पालन कर पाते हैं और न ही वे गृहस्थजीवन के आचार का पूर्णतया पालन करते हैं। इसी कारण वे ऐसे स्वकल्पित मिश्रमार्ग को अपना लेते हैं। उन कुशीलों के द्वारा मिश्र मार्ग का यह प्रतिपादन केवल वाणी की ही शूरवीरता समझनी चाहिए। उनके द्वारा इस मिश्रमार्ग को अपनाने के पीछे कोई शास्त्रसम्मत आचार का बल नहीं है। यह साधु-जीवन की एक विडम्बना ही है, जिसे शास्त्रकार इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—'बहवे गिहाइं······वायावीरियं कुसीलाणं।'।

नौवीं अवदशा—स्त्रीसंगरूप उपसर्ग से पराजित कुशील साधक की पतन दशा यहाँ तक हो जाती है कि वह शीलभ्रष्ट, अशुद्ध एवं दोषयुक्त होते हुए भी भरी सभा में अपने आपको शुद्ध, निर्दोष एवं दूध का धोया कहता है। वह भरी सभा में जोर से गर्जता हुआ कहता है—मैं शुद्ध-पवित्र हूँ, मेरा जीवन निष्पाप है। परन्तु उसके काले कारनामों को जानने वाले जानते हैं कि उसकी शुद्धता की दुहाई धोखा है, प्रवंचना है, छलावा है। वह छिप-छिपकर एकान्त में पापकर्म करता है, यह मायावी और महाधूर्त है। शास्त्रकार सूत्रगाथा २६४ द्वारा इसी बात को कहते हैं—'सुद्धं रवति······महासढेऽयं ति'। आशय यह है कि उसकी विसंगत दिनचर्या से, उसके शिथिल आचार-विचार से, तथा उसकी अंगचेष्टाओं पर से यह भलीभाँति जानते हैं कि यह केवल वचन के गुब्बारे उछालता है। यह जितना और जो कुछ कहता है, आचरण में उतना ही विपरीत है। मोहान्धपुरुष अँधेरे में छिपकर कुकृत्य करता है, और सोचता है कि मेरे पापकर्म को कौन जानता है? मगर नीतिकार कहते हैं—

> "आकारैरिंगितै र्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
> नेत्र-वस्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मन: ॥"

अर्थात्—आकृति से इशारों से, गति (चाल-ढाल) से, चेष्टा से, भाषण (बोली) से, तथा आँख और मुँह के विकारों से किसी व्यक्ति के अन्तर्मन में रही हुई बात परिलक्षित हो जाती है। साधारण मनोविज्ञान के अभ्यासियों या सतत सम्पर्क में रहने वालों से उस व्यक्ति के दुष्कर्म छिपे नहीं रह सकते।

दसवीं अवदशा—ऐसा दुष्कर्मी द्रव्यलिंगी अज्ञपुरुष अपने दुष्कर्म (पाप) को स्वयं आचार्य या गुरु के समक्ष प्रकट नहीं करता, वह चाहे जितना पापकर्म करता हो, बाहर से तो वह धर्मात्मा ही कहलाना चाहता है। धर्मिष्ठ कहलाने की अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए वह गुप्त रूप से पाप या कुशील सेवन करता है, ताकि कोई उसे पापी न कह सके किन्तु उसके प्रच्छन्न पापों के जानकार गुरु, आचार्य या कोई हितैषी व्यक्ति उसे अपने पापों या दुष्कृत्यों को प्रकट करने या कहने के लिए आदेश या प्रेरणा देते हैं तो वह उनकी बातों को ऊपर ही ऊपर उड़ा देता है, या सुनी-अनसुनी कर देता है।

इसके पश्चात् आचार्य या गुरु उसकी थोथी बातें सुनकर सखेद बार-बार कहासुनी करते या प्रेरणा देते हैं कि 'तुम आज से मन से भी मैथुनसेवन की इच्छा मत करो, तब वह एकदम मुर्झा जाता

है, झेंप जाता है, या उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लग जाती हैं या उसका चेहरा फीका हो जाता है, अथवा मर्माहत-सा खिन्न होकर कहता है—मुझ पर पाप की आशंका की जाती है, तब मुझे पापरहित होकर क्या करना है, यों ही सही !' इस प्रकार कुशील साधक की संघ ओर समाज में बड़ी दुर्गति होती है। शास्त्रकार सू० गा० २६५ में इसी अवदशा को सूचित करते हैं—'सयं दुक्कडं······ ···गिलाइ से भुज्जो।'

ग्यारहवीं अवदशा—स्त्रीजन्य आकर्षण इतना प्रबल होता है कि बड़े-बड़े इन्द्रिय-विजेता पुरुष भी महामोहान्ध होकर नारियों के वश में हो जाते हैं। वे स्त्रियों के इतने गुलाम हो जाते है कि वे स्वप्न में बड़बड़ाती हुई स्त्री भला या बुरा जो भी कार्य करने को उनसे कहती हैं, वे उसे करते हैं। ऐसे भुक्तभोगी परिपक्व साधक की भी जब इतनी विडम्बना हो जाती है, तब सामान्य कच्चे साधक की तो बात ही क्या ? इसी अवदशा को शास्त्रकार सू० गा० २६६ में व्यक्त करते हैं—'उसिया वि···· ···उवकसंति।'

बारहवीं अवदशा—जो व्यक्ति (साधुवेषी) स्त्रियों से संसर्ग रखते हैं वे रंगे हाथों पकड़े जाएँ तो सामाजिक लोगों या राजपुरुषों द्वारा उनके हाथ-पैर काट डाले जाने की सम्भावना है, अथवा उसकी चमड़ी उधेड़ी जा सकती है, तथा माँस भी काटा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि उस स्त्री के स्व-जन वर्ग द्वारा उकसाए हुए राजपुरुष उक्त परस्त्रीलम्पट साधुवेषी को भट्टी पर चढ़ाकर आग में जला दें, या उसका अंग छीलकर उस पर नमक आदि खार पदार्थ छिड़क दें। इसी अवदशा को व्यक्त करते हुए शास्त्रकार २६७वीं सूत्रगाथा में कहते हैं—'अवि हत्थपादछेदाए·······तच्छिय खारसिंचणाइं च।'

तेरहवीं अवदशा—ऐसे पाप-संतप्त (पापाग्नि से जलते हुए) साधुवेषी पुरुष अपने कृत पाप के फल-स्वरूप इस लोक में कान और नाक का छेदन या गले का छेदन तक सहन कर लेते हैं, तथा परलोक में नरक आदि दुर्गतियों में अनेक प्रकार की यातनाएँ भी सह लेते हैं, लेकिन यह निश्चय नहीं कर सकते कि अब भविष्य में पापकर्म नहीं करेंगे। अर्थात्– इहलोक एवं परलोक के भयंकर दुःख उन्हें मंजूर हैं, लेकिन पापकर्म छोड़ना मंजूर नहीं। शास्त्रकार इसी अवदशा को सू० गा० २६७ में अभिव्यक्त करते हैं—'अदु कण्णणासियाच्छेज्जं·······पुणो न काहिंति।'

चौदहवीं अवदशा—ससार में फँसाने वाली नारी में आसक्त, उत्तम सदाचार से भ्रष्ट एवं इहलोक परलोक के नाश से नहीं डरने वाले कई उद्धत साधुवेषी पुरुष मैथुन सेवन आदि पाप कर्म करते हैं, किन्तु आचार्य, गुरु आदि के द्वारा पूछे जाने पर बिल्कुल इन्कार करते हुए कहते हैं—मैं ऐसे वैसे कुल में उत्पन्न ऐरा गैरा साधु नहीं हूँ; जो पाप कर्म के कारणभूत अनुचित कर्म करूं। यह तो मेरी पुत्री के समान है, यह बाल्यकाल में मेरी गोदी में सोती थी। अतः उस पूर्वाभ्यास के कारण ही यह मेरे साथ ऐसा आचरण करती है। वस्तुतः मैं संसार के स्वभाव को भलीभांति जानता हूँ। प्राण चले जाएँ, मगर मैं व्रत-नाश नहीं करूंगा।' इस प्रकार कपट करके पाप को छिपाने वाला साधु मोह कर्म से और अधिक लिप्त हो जाता है। कितनी भयंकर अधोदशा है, स्त्रीमोहियों की ! इसे ही शास्त्रकार २७४ वीं सू. गा. में व्यक्त करते हैं—कुव्वंति पावगं··· अंकेसाइणी ममेस ति'।

पन्द्रहवी अवदशा– रागद्वेष से आकुलबुद्धि वाले अतत्त्वदर्शी मूढ साधक की यह दूसरी मूढ़ता है कि एक तो वह लम्पटतापूर्वक अकार्य करके चतुर्थ महाव्रत का नाश करता है. दूसरे, वह किये हुए उक्त दुष्कृत्य का स्वीकार न करके मिथ्या भाषण करता हुआ कहता है- मैंने यह दुष्कर्म हर्गिज नहीं किया है,

भला मैं ऐसा कुलीन और समझदार व्यक्ति इस प्रकार का दुष्कृत्य कैसे कर सकता हूँ ? मेरी भी तो इज्जत हैं (' इस प्रकार वह पापकर्म करके भी समाज में सम्मान और शान के साथ जीना चाहता है ।) ऐसा व्यक्ति सदाचारी, त्यागी, तपस्वी एवं संयमी न होते हुए भी वैसा कहलाने हेतु मायाचार करता है । वह अपने कृत पापकर्म को छिपाकर बाहर से ऐसा डौल रचता है, ताकि उसकी ओर कोई अंगुली न उठा सके । ऐसे साधक की अन्तरात्मा हरदम भयभीत, शंकित और दबी हुई रहती है कि कहीं मेरी पोलपट्टी खुल न जाए । यह कितनी भयंकर विडम्बना है, साधक जीवन की ! शास्त्रकार सूत्रगाथा २७५ में इसी अवदशा को व्यक्त करते हुए कहते हैं—'**वालस्समंदयं ...पूयणकामेविसण्णेसी ।**

ये और इस प्रकार की कई अवदशाएँ स्त्रीजन्य उपसर्ग से पराजित साधक के जीवन में चरितार्थ होती हैं । अगर साधक इस अध्ययन में बताये हुए स्त्री संग रूप उपसर्ग के विभिन्न रूपों से सावधान हो जाए और अप्रमत्त होकर शास्त्रकार द्वारा दी गई प्रेरणाओं के अनुसार संयमनिष्ठ रहे तो वह इन अवदशाओं का भागी नहीं होता, अन्यथा उसकी अवदशा होती ही है ।

पाठान्तर और व्याख्या—**विवित्तेसा**=वृत्तिकार के अनुसार—विविक्त स्त्री-नपुसंकादि रहित स्थान को अन्वेषण परायण, **विवित्तेसु** पाठान्तर का अर्थ है—विविक्त—स्त्री-पशु-नपुसंक-वर्जित स्थानों में विचरण करूंगा····। चूर्णिकार ने 'विवित्तेसी' शब्द के तीन अर्थ किये हैं—'विविक्तान्येषतीति **विवित्तेसी,** विविक्तानां साधूनां मार्गमेषतीति विवित्तेसी अथवा कर्मविवित्तो मोक्खो, तमेवैषतीति **विवित्तमेसी ।**' अर्थात्—विविक्तैषी=एकान्त पवित्र स्थानों को ढूँढ़ने में तत्पर, अथवा विविक्तैषी—विविक्तों यानी साधुओं के मार्ग का अन्वेषण करने वाला या विविक्त=कर्म से विविक्त—रहित अवस्था=मोक्ष, उसे जो चाहता है, वह विविक्तैषी है ।

परक्कम=वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—"पराक्रम्य" यानी साधु के समीप आकर, अथवा पराक्रम्य अर्थात्—शील से स्खलित, होने योग्य बनाकर उस (साधु) पर हावी होकर । पाठान्तर है—'**परिक्कम**', जिसका अर्थ होता है—साधु को चारों ओर से घेरकर, अथा उसके शील पर चारो ओर से आक्रमण करके **लिस्संति**=स्त्रीसंग में लिप्त हो जाते हैं, या फिसल जाते हैं । **उवायं पि ता ओ जाणिंसु**= वृत्तिकार के अनुसार—साधु को छलने का उपाय भी वे जान चुकी होती हैं । '**जाणिंसु**' के बदले **जाणंति** पाठान्तर है, उसका अर्थ होता हैं—'जानती हैं ।' यही पाठान्तर तथा अर्थ चूर्णिकार मान्य है । **पोसवत्थं**—वृत्तिकार के अनुसार—काम को पुष्ट—उत्तेजित करने वाले सुन्दर वस्त्र । चूर्णिकार के अनुसार **पोसवत्थं णाम णिवसणं** अर्थात पोषवस्त्र का अर्थ है—कामांगों को आच्छादित करने वाला वस्त्र । **बाहुमुद्धट्टु कक्खमणुवज्जे**—वृत्तिकार के अनुसार—बाहें उघाडकर या ऊंची करके कांख दिखाकर साधु के अनुकूल—अभिमुख (सामने से) होकर जाती है । चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**बाहुद्धट्टु कक्खं परामुसे** अर्थात्—बाहें उठाकर कांख को छूती या सहलाती है । काँख पर हाथ फिराती है । **सयणाऽऽसणेण जोग्गेण**—**शयन**—पलंग, शय्या, गद्दा या शयनगृह आदि, **आसन**—कुर्सी, आरामकुर्सी या चौकी, गलीचा आदि उपभोग योग्य वस्तुओं के उपभोग के लिए ।

समभिजाणे—स्वीकार न करे, वचनबद्ध न हो । पाठान्तर है—**समणुजाणे** ।' अर्थ समान है ।

---

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०४ से १११ तक के अनुसार ।

आवसा निमंतेति—वृत्तिकार के अनुसार—अपने साथ सम्भोग के लिए आमंत्रित करती हैं। चूर्णिकार 'आयसा' का संस्कृत रूपान्तर 'आत्मसात्' करते हैं, तदनुसार अर्थ होता है—अपने साथ घुल मिलाकर हार्दिक आत्मीयता बताकर समागम के लिए आमंत्रित करती हैं। उवगसित्ताणं—वृत्तिकार के अनुसार—'उपसंश्लिष्य-समीपमागत्य' निकट आकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—उपक्कमित्ता, अर्थ किया गया है—अल्लिइला=पास में अड़कर। आणवयंति—वृत्तिकार के अनुसार आज्ञा करती है, प्रवृत्त करती है, साधु को अपने वश में जानकर नौकर की तरह उस पर आज्ञा (हुक्म) चलाती हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'आणमंति' अर्थ किया गया है—'भुक्तभोगः कुमारगो वा तत्प्रयोजनात्यन्तपरोक्षः आनम्यते'। अर्थात्—भुक्तभोगी या कुंआरे साधु को अपने प्रयोजन से अत्यन्त परोक्ष यानी अंधेरे में रखकर अपने साथ सहवास के लिए झुका लेती है। विवेगमायाए—वृत्तिकार के अनुसार विवेक ग्रहण करके, चूर्णिकार सम्मत पाठ है—विवागमाताते=अपने कुकृत्य का विपाक-फल प्राप्त कर या जानकर। सुतवस्सिए वि=वृत्तिकार के अनुसार—'विकृष्टतपोनिष्टतप्तदेहोऽपि' अर्थात् लम्बी-लम्बी उत्कट तपस्या के द्वारा जिसने अपने शरीर को अच्छी तरह तपा लिया है, ऐसा सुतपस्वी भी, चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—सुतमस्सितो वि=श्रुतमाश्रितोऽपि, अर्थात्—जो सदैव शास्त्राश्रित—शास्त्रों के आधार पर चला है, ऐसा साधु भी।

'णो विहरे सह णमित्थीसु'=वृत्तिकार के अनुसार—समाधि की शत्रु स्त्रियों के साथ विहार न करे—न कहीं जाए, न बैठे-उठे। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—णो विरहे सहणमित्थीसु=विरहो नाम नक्तं दिवा वा शून्यागारादि पइरिक्कजणे वा स्वगृहे, सहणं ति देसीभासा, सहेत्यर्थः। विरहे—का अर्थ है=रात्रि या दिन में सूने मकान आदि निर्जन स्थान में या स्त्री के अपने जनशून्य घर में स्त्रियों के साथ (सहण देशीय शब्द है, उसका 'साथ' अर्थ होता है) न रहे। ओए='ओजः एकः असहायः सन्' साधु ओज यानी अकेला (किसी साथी साधु के बिना) होकर। 'समणं पि दट्ठुदासीणं' वृत्तिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं—(१) श्रमण को एकान्त स्थान में अकेली स्त्री के साथ आसीन (बैठे) देखकर, (२) श्रमण को भी अपने ज्ञान, ध्यान, तथा दैनिक चर्या के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर केवल अमुक स्त्री के साथ बातचीत करते देखकर। (३) अथवा उदासीन—राग—द्वेषरहित मध्यस्थ, श्रमण-तपस्वी (विषयसुखेच्छारहित) को भी एकान्त में स्त्री के साथ बातें करते देखकर। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'समणं मपि दट्ठुदासीणा'=श्रमणम्प्रत्यपि दृष्टवा उदासीनां 'उदासीणा णाम येषामप्यसौ भार्या न भवति'=श्रमण के प्रति भी अमुक स्त्री को उदासीन (उनके प्रति भी भार्याभाव से रहित) देखकर।

'तम्हा समणा ण समेंति आतहिताय सण्णिसेज्जाओ'—वृत्तिकार के अनुसार चूँकि स्त्रियों के साथ संसर्ग अतिपरिचय (संस्तव) से समाधि योग का नाश होता है, इसलिए श्रमण (सुसाधुगण) सुखोत्पादक एवं मनोऽनुकूल होने से निषद्या (स्त्रियों की बैठक या निवासस्थली) के समान निषद्या या स्त्रियों के द्वारा बनाया हुआ विलास का अड्डा-माया हो, अथवा स्त्रियों की वस्ती (आवासस्थान) हो, वहाँ आत्महित की दृष्टि से नहीं जाते। चूर्णिकार लगभग ऐसा ही पाठ मानकर अर्थ करते हैं—तम्हा समणा……ण समेंति—ण समुपागच्छन्ति, आतहियाओ—आत्मने हितम् आत्मनि वा हितम्। सण्णिसेज्जाओ=सण्णसेज्जा नाम गिहिसेज्जा संथवसंकथाओ य। इस (स्त्रीसंस्तव अनर्थकारी होने के) कारण श्रमण आत्मा के लिए अथवा आत्मा में हित के कारण सन्निषद्या या सन्निशय्याओं के पास नहीं फटकते—उनके आसपास चारों ओर नहीं जाते। सन्निषद्या का सीधा अर्थ है—गृहस्थ शय्या तथा स्त्रियों के साथ संस्तव—संकथाएँ आदि जहाँ

हों। कहीं पाठान्तर है—'तम्हा समणा उ जहाहि आयहियाओ सन्निसेज्जाओ।'—स्त्री सम्बन्ध अनर्थकर होता है इसलिए हे श्रमण! आत्महित (स्वकल्याण) की दृष्टि से खास तौर से (सन्निषद्याओं) स्त्रियों की वस्तियों (आवास स्थानों) का, अथवा स्त्रियों के द्वारा की हुई सेवाभक्ति रूप माया (विलास स्थली) का त्याग कर दो। **मिस्सीभावं पत्थुता**=वृत्तिकार के अनुसार द्रव्य से साधुवेष होने से, किन्तु भाव से गृहस्थ के समान आचार होने से मिश्रभाव—मिश्रमार्ग को प्रस्तुत—प्राप्त या मिश्रमार्ग की प्रशंसा करने वाले। पाठान्तर है—**'मिस्सीभावं पण्णता'** (पणता) अर्थ होता है—मिश्रमार्ग की प्ररूपणा करने वाले, अथवा मिश्रमार्ग की ओर प्रणत—झुके हुए। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'मिस्सीभावपण्हया'=पण्हता** नाम गौरिव प्रस्नुता। गाय के स्तन से दूध झरने की तरह (विचारधारा) झरने को प्रस्नुत (पण्हत) कहते हैं। जिनकी वाणी से मिश्रमार्ग की विचारधारा ही सतत झरती रहती है, वे। **धुवमग्गमेव**=ध्रुव के दो अर्थ हैं—मोक्ष या संयम, उसका मार्ग ही बताते-कहते हैं। **तहावेदा**=वृत्तिकार के अनुसार—उस मायावी साधु के तथारूप अनुष्ठान (काली करतूत) को जो जानते हैं, वे तथावेद-तद्विद कहलाते हैं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**'तधावेता'** अर्थ है—'.......तथा वेदयन्तीति तथावेदाः कामतंत्रविद इत्यर्थः। तथा-कथित वेत्ता अर्थात्—कामतंत्र (कामशास्त्र) के वेत्ता (ज्ञाता)। **इत्थिवेदखेदण्णा**=इसके दो अर्थ फलित होते हैं—(१) स्त्रीवेद के खेदज्ञ=निपुण, (२) स्त्रियों के वेद—वैशिक कामशास्त्र के अनुसार स्त्रीसम्बन्ध जनित खेद (चिन्ताओं) को जानने वाले।

आइट्टोवि=वृत्तिकार के अनुसार आदिष्ट या प्रेरित किया जाता हुआ, चूर्णिकारसम्मत पाठ है—**आउट्टोवि**, अर्थ किया गया है—आक्रुष्टो नाम चोदितः, अर्थात्—आक्रुष्ट—आचार्यादि के द्वारा झिड़कने पर अथवा अपने पाप प्रकट करने के लिए प्रेरित किये जाने पर। **वद्धमंस उक्कंते**=वृत्तिकार के अनुसार चमड़ी और माँस भी उखाड़े या काटे जा सकते हैं। चूर्णिकार के अनुसार—**'पृष्ठीवंध्राणि उत्कृत्यन्ते'** अर्थात्—पीठ की चमड़ी उधेड़ी जाती है। **तच्छिय खारसिंचणाइं**—वृत्तिकार के अनुसार—वसूले आदि से उसके अंगों को छीलकर उस पर खार जल का सिंचन भी करते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**तच्छेत्तुं (वासीए) खार सिंचणाइं च**। अर्थ समान है।

विरता चरिस्स हं लूहं=मैं संसार से विरक्त (विरत) हो गई हूँ, रूक्ष=संयम का आचरण करूंगी। 'लूहं' के बदले कहीं-कहीं पाठान्तर हैं—**'मोणं'** अर्थ किया गया है—मुनेरयं मौनः=संयमः, अर्थात्—मुनि का धर्म—मौन=संयम। **'अहगं साधम्मिणी य तुब्भं (समणाणं)'**—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनों द्वारा सम्मत पाठ 'तुब्भं' है। अर्थ किया गया है—'मैं श्राविका हूँ, इस नाते आप श्रमणों की साधर्मिणी हूँ।' **एविवित्थियाहिं अणगारा संवासेण णासमुवयंति'** वृत्तिकार के अनुसार—इसी प्रकार स्त्रियों के साथ संवास=परिभोग से अनगार भी (शीघ्र ही) नष्ट (संयम शरीर से भ्रष्ट) हो जाते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'एविवित्थिगासु अणगारासंवासेण णासमुवयंति'**—अर्थात् इसी प्रकार अपने, दूसरे के और दोनों के दोषों से अनगार स्त्रियों के साथ संवास से शीघ्र ही चारित्र से विनष्ट हो जाते हैं। **णिमंतणेणाऽऽहंसु**=निमन्त्रणपूर्वक कहती हैं, या कह चुकती हैं **णीवारमेवं बुज्झेज्जा**=वृत्तिकार के अनुसार—स्त्रियों के द्वारा इस प्रकार के (वस्त्रादि आमन्त्रणरूप) प्रलोभन को साधु नीवार (चावल के दाने) डालकर सूअर आदि को वश में करने के समान समझे। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'णीयारमंतं बुज्झेज्जा'** गाय को नीरा (निकिर=चारादाना) डालकर निमंत्रित किये जाने के समान साधु भी वस्त्रादि के प्रलोभन से निमंत्रित किया

आवसा निमंतेति—वृत्तिकार के अनुसार—अपने साथ सम्भोग के लिए आमंत्रित करती हैं। चूर्णिकार 'आयसा' का संस्कृत रूपान्तर '**आत्मसात्**' करते हैं, तदनुसार अर्थ होता है—अपने साथ घुल मिलाकर हार्दिक आत्मीयता बताकर समागम के लिए आमंत्रित करती हैं। **उवगसित्ताणं**—वृत्तिकार के अनुसार—'**उपसंश्लिष्य-समीपमागत्य**' निकट आकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**उपक्कमित्ता**, अर्थ किया गया है—**अल्लिइला**=पास में अड़कर। **आणवयंति**—वृत्तिकार के अनुसार आज्ञा करती है, प्रवृत्त करती है, साधु को अपने वश में जानकर नौकर की तरह उस पर आज्ञा (हुक्म) चलाती हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'**आणमंति**' अर्थ किया गया है—'**भुक्तभोगः कुमारगो वा तत्प्रयोजनात्यन्तपरोक्षः आनम्यते**'। अर्थात्—भुक्तभोगी या कुंआरे साधु को अपने प्रयोजन से अत्यन्त परोक्ष यानी अंधेरे में रखकर अपने साथ सहवास के लिए झुका लेती है। **विवेगमायाए**—वृत्तिकार के अनुसार विवेक ग्रहण करके, चूर्णिकार सम्मत पाठ है—**विवागमाताते**=अपने कुकृत्य का विपाक-फल प्राप्त कर या जानकर। **सुतवस्सिए वि**= वृत्तिकार के अनुसार—'**विकृष्टतपोनिष्ट तप्तदेहोऽपि**' अर्थात् लम्बी-लम्बी उत्कट तपस्या के द्वारा जिसने अपने शरीर को अच्छी तरह तपा लिया है, ऐसा सुतपस्वी भी, चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**सुतमस्सितो वि**= श्रुतमाश्रितोऽपि, अर्थात्—जो सदैव शास्त्राश्रित—शास्त्रों के आधार पर चला है, ऐसा साधु भी।

'**णो विहरे सह णमित्थीसु**'=वृत्तिकार के अनुसार—समाधि की शत्रु स्त्रियों के साथ विहार न करे-न कहीं जाए, न बैठे-उठे। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**णो विरहे सहणमित्थीसु=विरहो** नाम नक्तं दिवा वा शून्यागारादि पइरिक्कजणे वा स्वगृहे, सहणं ति देसीभासा, सहेत्यर्थः। **विरहे**—का अर्थ है=रात्रि या दिन में सूने मकान आदि निर्जन स्थान में या स्त्री के अपने जनशून्य घर में स्त्रियों के साथ (सहण देशीय शब्द है, उसका '**साथ**' अर्थ होता है) न रहे। **ओए**='**ओजः एकः असहायः सन्**' साधु ओज यानी अकेला (किसी साथी साधु के बिना) होकर। '**समणं पि दट्ठुदासीणं**' वृत्तिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं—(१) श्रमण को एकान्त स्थान में अकेली स्त्री के साथ आसीन (बैठे) देखकर, (२) श्रमण को भी अपने ज्ञान, ध्यान, तथा दैनिक चर्या के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर केवल अमुक स्त्री के साथ वातचीत करते देखकर। (३) अथवा उदासीन—राग—द्वेषरहित मध्यस्थ, श्रमण-तपस्वी (विषयसुखेच्छारहित) को भी एकान्त में स्त्री के साथ बातें करते देखकर। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'**समणं मपि दट्ठुदासीणा**'=श्रमणम्प्रत्यपि दृष्टवा उदासीनां '**उदासीणा णाम येषामप्यसौ भार्या न भवति**'=श्रमण के प्रति भी अमुक स्त्री को उदासीन (उनके प्रति भी भार्याभाव से रहित) देखकर।

'**तम्हा समणा ण समेंति आतहिताय सण्णिसेज्जाओ**'—वृत्तिकार के अनुसार चूँकि स्त्रियों के साथ संसर्ग अतिपरिचय (संस्तव) से समाधि योग का नाश होता है, इसलिए श्रमण (सुसाधुगण) सुखोत्पादक एवं मनोऽनुकूल होने से निषद्या (स्त्रियों की बैठक या निवासस्थली) के समान निषद्या या स्त्रियों के द्वारा वनाया हुआ विलास का अड्डा-माया हो, अथवा स्त्रियों की वस्ती (आवासस्थान) हो, वहाँ आत्महित की दृष्टि से नहीं जाते। चूर्णिकार लगभग ऐसा ही पाठ मानकर अर्थ करते हैं—**तम्हा समणा**.........**ण समेंति**—ण समुपागच्छन्ति, **आतहियाओ**—आत्मने हितम् आत्मनि वा हितम्। **सण्णिसेज्जाओ=सण्णसेज्जा** नाम गिहिसेज्जा संथवसंकथाओ य। इस (स्त्रीसंस्तव अनर्थकारी होने के) कारण श्रमण आत्मा के लिए अथवा आत्मा में हित के कारण सन्निषद्या या सन्निशय्याओं के पास नहीं फटकते—उनके आसपास चारों ओर नहीं जाते। सन्निषद्या का सीधा अर्थ है—गृहस्थ शय्या तथा स्त्रियों के साथ संस्तव—संकथाएँ आदि जहाँ

हों। कहीं पाठान्तर है—**'तम्हा समणा उ जहाहि आयहियाओ सन्निसेज्जाओ।'**—स्त्री सम्बन्ध अनर्थकर होता है इसलिए हे श्रमण! आत्महित (स्वकल्याण) की दृष्टि से खास तौर से (सन्निषद्याओं) स्त्रियों की बस्तियों (आवास स्थानों) का, अथवा स्त्रियों के द्वारा की हुई सेवाभक्ति रूप माया (विलास स्थली) का त्याग कर दो। **मिस्सीभावं पत्थुता**=वृत्तिकार के अनुसार द्रव्य से साधुवेष होने से, किन्तु भाव से गृहस्थ के समान आचार होने से मिश्रभाव—मिश्रमार्ग को प्रस्तुत—प्राप्त या मिश्रमार्ग की प्रशंसा करने वाले। पाठान्तर है—**'मिस्सीभावं पण्णता'** (पणता) अर्थ होता है—मिश्रमार्ग की प्ररूपणा करने वाले, अथवा मिश्रमार्ग की ओर प्रणत—झुके हुए। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'मिस्सीभावपण्हया'**=**पण्हता** नाम गौरिव प्रस्नुता। गाय के स्तन से दूध झरने की तरह (विचारधारा) झरने को प्रस्नुत (पण्हुत) कहते हैं। जिनकी वाणी से मिश्रमार्ग की विचारधारा ही सतत झरती रहती है, वे। **धुवमग्गमेव**=ध्रुव के दो अर्थ हैं—मोक्ष या संयम, उसका मार्ग ही बताते-कहते हैं। **तहावेदा**=वृत्तिकार के अनुसार—उस मायावी साधु के तथारूप अनुष्ठान (काली करतूत) को जो जानते हैं, वे तथावेद-तद्विद कहलाते हैं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**'तधावेता'** अर्थ है—'........तथा वेदयन्तीति तथावेदाः कामतंत्रविद इत्यर्थः। तथा-कथित वेत्ता अर्थात्—कामतंत्र (कामशास्त्र) के वेत्ता (ज्ञाता)। **इत्थिवेदखेदण्णा**=इसके दो अर्थ फलित होते हैं— (१) स्त्रीवेद के खेदज्ञ=निपुण, (२) स्त्रियों के वेद—वैशिक कामशास्त्र के अनुसार स्त्रीसम्बन्ध जनित खेद (चिन्ताओं) को जानने वाले।

आइट्ठोवि=वृत्तिकार के अनुसार आदिष्ट या प्रेरित किया जाता हुआ, चूर्णिकारसम्मत पाठ है—**आउट्ठोवि**, अर्थ किया गया है—आक्रुष्टो नाम चोदितः, अर्थात्—आक्रुष्ट—आचार्यादि के द्वारा झिड़कने पर अथवा अपने पाप प्रकट करने के लिए प्रेरित किये जाने पर। **वद्धमंस उक्कंते**=वृत्तिकार के अनुसार चमड़ी और माँस भी उखाड़े या काटे जा सकते हैं। चूर्णिकार के अनुसार—**'पृष्ठीवंध्राणि उत्कृत्यन्ते'** अर्थात्—पीठ की चमड़ी उधेड़ी जाती है। **तच्छिय खारसिंचणाइं**—वृत्तिकार के अनुसार—वसूले आदि से उसके अंगों को छीलकर उस पर खार जल का सिंचन भी करते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**तच्छेत्तुं (वासीए) खार सिंचणाइं च**। अर्थ समान है।

विरता चरिस्स हं लूहं=मैं संसार से विरक्त (विरत) हो गई हूँ, रूक्ष=संयम का आचरण करूंगी। 'लूहं' के बदले कहीं-कहीं पाठान्तर हैं—**'मोणं'** अर्थ किया गया है—मुनेरयं मौनः=संयमः, अर्थात्—मुनि का धर्म—मौन=संयम। **'अहगं साधम्मिणी य तुब्भं (समणाणं)'**—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनों द्वारा सम्मत पाठ 'तुब्भं' है। अर्थ किया गया है—'मैं श्राविका हूँ, इस नाते आप श्रमणों की साधर्मिणी हूँ।' **एविवित्थियाहिं अणगारा संवासेण णासमुवयंति'** वृत्तिकार के अनुसार—इसी प्रकार स्त्रियों के साथ संवास=परिभोग से अनगार भी (शीघ्र ही) नष्ट (संयम शरीर से भ्रष्ट) हो जाते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'एवित्थिगासु अणगारासंवासेण णासमुवयंति'**—अर्थात् इसी प्रकार अपने, दूसरे के और दोनों के दोषों से अनगार स्त्रियों के साथ संवास से शीघ्र ही चारित्र से विनष्ट हो जाते हैं। **णिमंतणेणाऽऽहंसु**=निमन्त्रणपूर्वक कहती हैं, या कह चुकती हैं **णीवारमेवं बुज्झेज्जा**=वृत्तिकार के अनुसार—स्त्रियों के द्वारा इस प्रकार के (वस्त्रादि आमन्त्रणरूप) प्रलोभन को साधु नीवार (चावल के दाने) डालकर सूअर आदि को वश में करने के समान समझे। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'णीयारमंतं बुज्झेज्जा'** गाय को नीरा (निकिर=चारादाना) डालकर निमंत्रित किये जाने के समान साधु भी वस्त्रादि के प्रलोभन से निमंत्रित किया

जा रहा है, यह समझ ले। णो इच्छे अगारमागंतुं=वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(१) साधु उस मायाविनी स्त्री के घर बार-बार जाने की इच्छा न करे, अथवा (२) साधु संयमभ्रष्ट होकर अपने घर जाने की इच्छा न करे। चूर्णिकारसम्मत दो पाठान्तर हैं—(१) णो इच्छेज्ज अगारंगंतुं, (२) 'णो इच्छेज्ज अगारमावत्तं' पहले पाठान्तर का अर्थ पूर्ववत् है। दूसरे पाठान्तर का अर्थ है—साधु ऐसी मायाविनी स्त्रियों के गृहरूपी भँवर में पड़ने की इच्छा न करे।[६]

□□

बिइओ उद्देसओ

स्त्रीसंग से भ्रष्ट साधकों की विडम्बना—

२७८. ओए सदा ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।
भोगे समणाण सुणेहा, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥ १ ॥

२७९ अह तं तु भेदमावन्नं, मुच्छितं भिक्खुं काममतिवट्टं।
पलिभिंदियाण तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ॥ २ ॥

२८०. जइ केसियाए मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए।
केसाणि वि हं लुंचिस्सं, नऽन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥ ३ ॥

२८१. अह णं से होति उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूतेहिं।
लाउच्छेदं पेहाहि, वग्गुफलाइं आहराहि त्ति ॥ ४ ॥

२८२. दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती रातो।
पाताणि य मे रयावेहि, एहि य ता मे पट्ठिं उम्मद्दे ॥ ५ ॥

२८३ वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नपाणं च आहराहि त्ति।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं च समणुजाणाहि ॥ ६ ॥

२८४. अदु अंजणि अलंकारं, कुक्कुहयं च मे पयच्छाहि।
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥ ७ ॥

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०४ से ११३ तक के अनुसार
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि० जम्बूविजय जी सम्पादित) पृ० ४५ से ५० तक

२८५. कुट्ठं अगुरुं तगरुं च, संपिट्ठं समं उसीरेण।
तेल्लं मुहं भिलिंजाए, वेणुफलाइं सन्निधाणाए ॥ ८ ॥

२८६. नंदीचुण्णगाइं पहराहि, छत्तोवाहणं च जाणाहि।
सत्थं च सूवच्छेयाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥ ९ ॥

२८७. सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च।
तिलगकरणिमंजणसलागं, घिंसु मे विधूणयं विजाणाहि ॥ १० ॥

२८८. संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि।
आदंसगं पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसेहि ॥ ११ ॥

२८९. पूयफलं तंबोलं च, सूईसुत्तगं च जाणाहि।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगलणं च ॥ १२ ॥

२९०. चंदालगं च करगं च, वच्चघरगं च आउसो ! खणाहि।
सरपादगं च जाताए, गोरहगं च सामणेराए ॥ १३ ॥

२९१. घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूताए।
वासं समभियावन्नं, आवसहं च जाण भत्तं च ॥ १४ ॥

२९२. आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा ॥ १५ ॥

२९३. जाते फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥ १६ ॥

२९४. राओ वि उट्ठिया संता, दारगं संठवेंति धाती वा।
सुहिरीमणा वि ते संता, वत्थधुवा हवंति हंसा वा ॥ १७ ॥

२९५ एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।
दासे मिए व पेस्से वा, पसुभूते वा से ण वा केइ ॥ १८ ॥

२७८. रागद्वेषरहित (ओज) साधु भोगों में कदापि अनुरक्त न हो। (यदि चित्त में) भोग-कामना प्रादुर्भूत हो तो (ज्ञान—ज्ञानबल) द्वारा) उससे विरक्त हो जाय। भोगों के सेवन से श्रमणों की जो हानि अथवा विडम्बना होती है, तथा कई साधु जिस प्रकार भोग भोगते हैं, उसे सुनो।

२७९. इसके पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट, स्त्रियों में मूर्च्छित—आसक्त, कामभोगों में अतिप्रवृत्त (दत्त-

जा रहा है, यह समझ ले। **णो इच्छे अगारमागंतुं**=वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(१) साधु उस मायाविनी स्त्री के घर बार-बार जाने की इच्छा न करे, अथवा (२) साधु संयमभ्रष्ट होकर अपने घर जाने की इच्छा न करे। चूर्णिकारसम्मत दो पाठान्तर हैं—(१) **णो इच्छेज्ज अगारंगंतुं**, (२) '**णो इच्छेज्ज अगारमावत्तं**' पहले पाठान्तर का अर्थ पूर्ववत् है। दूसरे पाठान्तर का अर्थ है—साधु ऐसी मायाविनी स्त्रियों के गृहरूपी भँवर में पड़ने की इच्छा न करे।[६]

□□

बिइओ उद्देसओ

स्त्रीसंग से भ्रष्ट साधकों की विडम्बना—

२७८. **ओए सदा ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।**
भोगे समणाण सुणेहा, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे॥ १॥

२७९ **अह तं तु भेदमावन्नं, मुच्छितं भिक्खुं काममतिवट्टं।**
पलिभिंदियाण तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति॥ २॥

२८०. **जइ केसियाए मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए।**
केसाणि वि हं लुंचिस्सं, नऽन्नत्थ मए चरिज्जासि॥ ३॥

२८१. **अह णं से होति उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूतेहिं।**
लाउच्छेदं पेहाहिं, वग्गुफलाइं आहराहि त्ति॥ ४॥

२८२. **दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती रातो।**
पाताणि य मे रयावेहि, एहि य ता मे पट्ठिं उम्मद्दे॥ ५॥

२८३ **वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नपाणं च आहराहि त्ति।**
गंधं च रओहरणं च, कासवगं च समणुजाणाहि॥ ६॥

२८४. **अदु अंजणि अलंकारं, कुक्कुहयं च मे पयच्छाहि।**
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च॥ ७॥

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०४ से ११३ तक के अनुसार
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि० जम्बूविजय जी सम्पादित) पृ० ४५ से ५० तक

२८५. कुट्ठं अगुरुं तगरुं च, संपिट्ठं समं उसीरेण।
तेल्लं मुहं भिलिजाए, वेणुफलाइं सन्निधाणाए ॥ ८ ॥

२८६. नंदीचुण्णगाइं पहराहि, छत्तोवाहणं च जाणाहि।
सत्थं च सूवच्छेयाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥ ९ ॥

२८७. सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च।
तिलगकरणिमंजणसलागं, घिंसु मे विधूणयं विजाणाहि ॥ १० ॥

२८८. संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि।
आदंसगं पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसेहि ॥ ११ ॥

२८९. पूयफलं तंबोलं च, सूईसुत्तगं च जाणाहि।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगलणं च ॥ १२ ॥

२९०. चंदालगं च करगं च, वच्चघरगं च आउसो ! खणाहि।
सरपादगं च जाताए, गोरहगं च सामणेराए ॥ १३ ॥

२९१. घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूताए।
वासं समभियावन्नं, आवसहं च जाण भत्तं च ॥ १४ ॥

२९२. आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा ॥ १५ ॥

२९३. जाते फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥ १६ ॥

२९४. राओ वि उट्ठिया संता, दारगं संठवेंति धाती वा।
सुहिरीमणा वि ते संता, वत्थधुवा हवंति हंसा वा ॥ १७ ॥

२९५ एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।
दासे मिए व पेस्से वा, पसुभूते वा से ण वा केइ ॥ १८ ॥

२७८. रागद्वेषरहित (ओज) साधु भोगों में कदापि अनुरक्त न हो। (यदि चित्त में) भोग-कामना प्रादुर्भूत हो तो (ज्ञान—ज्ञानबल) द्वारा) उससे विरक्त हो जाय। भोगों के सेवन से श्रमणों की जो हानि अथवा विडम्बना होती है, तथा कई साधु जिस प्रकार भोग भोगते हैं, उसे सुनो।

२७९. इसके पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट, स्त्रियों में मूर्च्छित—आसक्त, कामभोगों में अतिप्रवृत्त (दत्त-

चित्त) उस साधु को वे स्त्रियाँ बाद में अपने वशीभूत जानकर अपना पैर उठाकर उसके सिर पर प्रहार करती हैं।

२८०. (नारी कहती है—) हे भिक्षो ! यदि मुझ केशों वाली स्त्री के साथ (लज्जावश) विहार (रमण) नहीं कर सकते तो मैं यहीं (इसी जगह) केशों को नोच डालूंगी; (फिर) मुझे छोड़कर अन्यत्र कहीं विचरण मत करना।

२८१. इसके पश्चात् (जब स्त्री यह जान लेती है कि) यह (साधुवेषी) मेरे साथ घुलमिल गया है, या मेरे वश में हो गया है, तब वह उस (साधुवेषी) को (दास के समान) अपने उन-उन कार्यों के लिए प्रेरित करती-भेजती है। (वह कहती है—) तुम्बा काटने के लिए छुरी (मिले तो) देखना, और अच्छे-अच्छे फल भी लेते आना।

२८२. (किसी समय स्त्री नौकर की तरह आदेश देती है—) 'सागभाजी पकाने के लिए इन्धन-लकड़ियां (ले आओ), रात्रि (के घोर अन्धकार) में तेल आदि होगा, तो प्रकाश होगा। और जरा पात्रों (वर्तनों) को रँग दो या मेरे पैरों को (महावर आदि से) रंग दो। इधर आओ, जरा मेरी पीठ मल दो।'

२८३. अजी ! मेरे वस्त्रों को तो देखो, (कितने जीर्ण-शीर्ण हो गए हैं ? इसलिए दूसरे नये वस्त्र ले आओ); अथवा मेरे लिए (बाजार में अच्छे-से) वस्त्र देखना अथवा देखो, ये मेरे वस्त्र, (कितने गंदे हो गए हैं इन्हें धोबी को दे दो।) अथवा मेरे वस्त्रों की जरा देखभाल करना, कहीं सुरक्षित स्थान में इन्हें रखो, ताकि चूहे, दीमक आदि न काट दें। मेरे लिए अन्न और जल (पेय पदार्थ) माँग लाओ। मेरे लिए कपूर, केशतेल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ और रजोहरण (सफाई करने के लिए बुहारी या झाड़न) लाकर दो। मैं केश-लोच करने में असमर्थ हूँ, इसलिए मुझे नाई (काश्यप) से बाल कटाने की अनुज्ञा दो।

२८४. हे साधो ! अब मेरे लिए अंजन का पात्र (सुरमादानी, कंकण-बाजूबंद आदि आभूषण और घुंघरुदार वीणा लाकर दो, लोध्र का फल और फूल लाओ तथा चिकने बास से बनी हुई बंशी या बाँसुरी लाकर दो, पौष्टिक औषध गुटिका (गोली) भी ला दो।

२८५. (फिर वह कहती है—प्रियतम !) कुष्ट (कमलकुष्ट) सगर और अगर (ये सुगन्धित पदार्थ) उशीर (खसखस) के साथ पीसे हुए (मुझे लाकर दो।) तथा मुख (चेहरे पर लगाने का मुखक्रान्ति वर्द्धक) तेल एवं वस्त्र आदि रखने के लिए बाँस की बनी हुई संदूक लाओ।

२८६. (प्राणवल्लभ !) मुझे ओठ रंगने के लिए नन्दीचूर्णक ला दीजिए, यह भी समझ लीजिए कि छाता और जूता भी लाना है। और हाँ, सागभाजी काटने के लिए शस्त्र (चाकू या छुरी) भी लेते आए। मेरे कपड़े गहरे या हल्के नीले रंग से रंगवा दें।

२८७. (शीलभ्रष्ट पुरुष से स्त्री कहती है—प्रियवर !) सागभाजी आदि पकाने के लिए तपेली या बटलोई (सुफणि) लाओ। साथ ही आँवले, पानी लाने-रखने का घड़ा (वर्तन), तिलक और अंजन लगाने की सलाई भी लेते आना। तथा ग्रीष्मकाल में हवा करने के लिए एक पंखा लाने का ध्यान रखना।

२८८. (देखो प्रिय !) नाक के बालों को निकालने के लिए एक चींपिया, केशों को संवारने के लिए

कंघी और चोटी बाँधने के लिए ऊन की वनी हुई जाली (सिंहलीपासक) ला दीजिए। और एक दर्पण (चेहरा देखने का शीशा) ला दो, दाँत साफ करने के लिए दतौन या दाँतमंजन भी घर में लाकर रखिये।

२८९. (प्राणवल्लभ !) सुपारी, पान, सूई-धागा, पेशाव करने के लिए पात्र (भाजन), सूप (छाजला), ऊखल एवं खार गालने के लिए वर्तन लाने का ध्यान रखना।

२९० आयुष्मन् ! देवपूजन करने के लिए ताँबे का पात्र (चन्दालक) और करवा (पानी रखने का टूँटीदार वर्तन) अथवा मदिरापात्र ला दीजिए। एक शौचालय भी मेरे लिए खोदकर वना दीजिए। अपने पुत्र के खेलने के लिए एक शरपात (धनुष) तथा श्रामणेर (श्रमणपुत्र-आपके पुत्र) की वैलगाड़ी खींचने के लिए एक तीन वर्ष का वैल ला दो।

२९१. शीलभ्रष्ट साधु से उसकी प्रेमिका कहती है—प्रियवर ! अपने राजकुमार-से पुत्र के खेलने के लिए मिट्टी की गुड़िया, झुनझुना, वाजा, और कपड़े की वनी हुई गोल गेंद ला दो। देखो, वर्षाऋतु निकट आ गई है, अतः वर्षा से वचने के लिए मकान (आवास) और भोजन (भक्त) का प्रवन्ध करना मत भूलना।

२९२. नये सूत से वनी हुई एक मँचिया या कुर्सी, और इधर-उधर घूमने-फिरने के लिए एक जोड़ी पादुका (खड़ाऊ) भी ला दें। और देखिये, मेरे गर्भस्थ-पुत्र-दोहद की पूर्ति के लिए अमुक वस्तुएँ भी लाना है। इस प्रकार शीलभ्रष्ट पुरुष स्त्री के आज्ञापालक दास हो जाते हैं, अथवा स्त्रियाँ दास की तरह शीलभ्रष्ट पुरुषों पर आज्ञा चलाती हैं।

२९३. पुत्र उत्पन्न होना गार्हस्थ्य का फल है। (पुत्रोत्पत्ति होने पर उसकी प्रेमिका रूठकर कहती हैं—) इस पुत्र को गोद में लो, अथवा इसे छोड़ दो, (मैं नहीं जानती)। इसके पश्चात् कई शीलभ्रष्ट साधक तो सन्तान के पालन-पोषण में इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर वे जिंदगी भर ऊँट की तरह गार्हस्थ्य-भार ढोते रहते हैं।

२९४. (वे पुत्रपोषणशील स्त्रीमोही पुरुष) रात को भी जागकर धाय की तरह वच्चे को गोद में चिपकाए रहते हैं। वे पुरुष मन में अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी (प्रेमिका का मन प्रसन्न रखने के लिए) धोवी की तरह स्त्री और वच्चे के वस्त्र तक धो डालते हैं।

२९५. इस प्रकार पूर्वकाल में वहुत से (शील भ्रष्ट) लोगों ने किया है। जो पुरुष भोगों के लिए सावद्य (पापयुक्त) कार्य में आसक्त हैं, वे पुरुष या तो दासों की तरह हैं, या वे मृग की तरह भोले-भाले नौकर हैं, अथवा वे पशु के समान हैं, या फिर वे कुछ भी नहीं (नगण्य अधम व्यक्ति) हैं।

विवेचन—स्त्री संग से भ्रष्ट साधकों की विडम्बना—सूत्रगाथा २७८ से २९५ तक में स्त्रियों के मोह में फंसकर काम-भोगों में अत्यासक्त साधकों की किस-किस प्रकार से इहलोक में विडम्बना एवं दुर्दशा होती है, और वे कितने नीचे उतर आते हैं, इसका विशद वर्णन शास्त्रकार ने किया है।

ये विडम्बनायें क्यों और कितने प्रकार की ?--साधु तो निर्ग्रन्थ एवं वीतरागता के पथ पर चलने वाला तपस्वी एवं त्यागी होता है, उसके जीवन की सहसा विडम्बना होती नहीं, निःस्पृह एवं निरपेक्ष जीवन की दुर्दशा होने का कोई कारण नहीं किन्तु वशर्ते कि वह प्रतिक्षण जागरूक रहकर रागभाव और

उसके कारणों से दूर रहे। वीतरागता के पथिक द्रव्य और भाव से एकाकी साधक में रागभाव आ जाता है या अन्य पदार्थों में आसक्ति होती है, तब साधु जीवन की विडम्बना होती है, विशेषतः स्त्री सम्बन्धी राग, आसक्ति या मोह का बन्धन तो अत्यधिक विडम्बनाकारक है। इसीलिए शास्त्रकार सूत्रगाथा २७८ में निर्देश करते हैं—"**ओए सदा ण रज्जेज्जा**।"[1]

इस चेतावनी के बावजूद साधु के चित्त में पूर्व संस्कारवश या मोहकर्म के उदयवश काम-भोग वासना प्रादुर्भूत हो जाए, तो ज्ञान रूपी अंकुश से मारकर तुरन्त उन काम-भोगों से विरक्त—विरत हो जाना चाहिए। जैसे मुनि रथनेमि को महासती राजीमती को देखकर कामवासना प्रादुर्भूत हो गई थी, लेकिन ज्यों ही महासती राजीमती का ज्ञान-परिपूर्ण वचन रूप अंकुश लगा कि वे यथापूर्व स्थिति में आगए थे, एकदम कामराग से विरत होगए थे। वैसे ही साधु का मन कदाचित् स्त्री सम्बन्धी भोग-वासना से ग्रस्त हो जाए तो फौरन वह ज्ञान बल द्वारा बलपूर्वक उसे रोके, उसमें बिल्कुल दिलचस्पी न ले, यथापूर्व स्थिति में आ जाए तो वह शील भ्रष्टता एवं उसके कारण होने वाली विडम्बनाओं से बच सकता है।

स्त्री सम्बन्धी भोगवासना चित्त में आते ही श्रमण इस प्रकार से चिन्तन करे कि "वह स्त्री मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ। फिर मेरा उसके प्रति रागभाव क्यों? यह तो मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो वीतरागभाव है। इसप्रकार वह आत्मत्राता श्रमण रागभाव को अपने हृदय से खदेड़ दे।"[3]

और फिर काम-भोग तो किम्पाकफल के समान भयंकर हानिकारक है। किम्पाकफल तो एक ही बार, और वह भी शरीर को ही नष्ट करता है, लेकिन स्त्रीजन्य कामभोग बार-बार जन्म-जन्मान्तर में शरीर और आत्मा दोनों को नष्ट करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा**।

शास्त्रकार की इतनी चेतावनी के बावजूद जो साधु काम-भोगों की कामना को न रोककर उल्टे आसक्ति पूर्वक काम-भोगों के प्रवाह में बह जाता है, लोग उसकी हंसी उड़ाते हैं, कहते हैं—'वाह रे साधु! कल तो हमें काम-भोगों को छोड़ने के लिए कह रहा था, आज स्वयं ही काम-भोगों में बुरी तरह लिपट गया! यह कैसा साधु है! इस प्रकार वह साधु जनता के लिए अविश्वसनीय, अश्रद्धेय, अना-दरणीय और निन्दनीय बन जाता है। उसके साथ-साथ उससे सम्बन्धित गुरु, आचार्य तथा अन्य सम्बन्धित श्रमण भी लोक विडम्बना, लोकनिन्दा एवं घोर आशातना के पात्र बन जाते हैं। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार एकवचन युक्त श्रमण शब्द का प्रयोग न करके बहुवचनयुक्त

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११५ के अनुसार

२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११५ के अनुसार

(ख) "तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ॥" —दशवै० अ०२ गा० १०, तथा उत्तरा अ० ९२ गा० ४६

(ग) "न सा महं, नो वि अहंपि तीसे
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं।" —दशवै० अ०२ गा० ४

श्रमण शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं—**भोगे समणाण....।'** जो साधु स्त्री सम्बन्धी कामभोग-सेवन से होने वाली घोर हानि एवं हंसी की उपेक्षा करके धृष्ट होकर भोग-सेवन में प्रवृत्त हो जाते हैं, उनकी कैसी-कैसी दुर्दशा या विडम्बना होती है? यह विस्तार से बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—'**....सुणेहा, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे।'** अर्थात्—शास्त्रकार स्त्री सम्बन्धी भोगों में आसक्त शीलभ्रष्ट साधकों का बुरा हाल अगली १७ गाथाओं में स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं।[3]

चार प्रकार की मुख्य विडम्बनायें—चारित्रभ्रष्ट, स्त्रियों में मूर्छित, काम-भोगों में प्रवृत्त साधुवेषी साधक की जो भयंकर विडम्बनाऐं होती हैं, उन्हें मुख्यतया चार प्रकारों में बांटा जा सकता है—(१) स्त्री वशीभूत साधक के सिर पर स्त्री लात मारती है, (२) अपने साथ रहने के लिए विवश कर देती हैं, (३) घुल-मिल जाने पर नित नई चीजों की फरमाइश करती हैं; और (४) नौकर की तरह उस पर हुक्म (आज्ञा) चलाती है।

पहली विडम्बना—जब मायाविनी नारियाँ शीलभ्रष्ट साधु को उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति, रंग-ढंग, चाल-ढाल और मनोभावों पर से जान लेती हैं कि यह पूरी तरह हमारे वश में हो गया है। अब हम जैसे इसे कहेंगी, वैसे ही यह बिना तर्क किये मान लेगा, तब वे सर्वप्रथम उसे पक्का गुलाम बनाने की दृष्टि से उसके प्रति किये हुए उपकारों का बखान करती हुई तरह-तरह की बातें कहती हैं।

वे नारियाँ जब रूठने का-सा स्वाँग करके नाराजी दिखलाती हैं, तब स्त्रियों का दास बना हुआ वह शीलभ्रष्ट साधु उन रुष्ट कामिनियों को मनाने और उन्हें प्रसन्न करने के लिए अनुनय-विनय करता हैं, उनके निहोरे करता है, दीन बनकर उनके चरणों में गिरता है, उनकी झूठ-मूठ प्रशंसा भी करता है।

इतने पर भी रूठी हुई स्त्रियाँ उस कामासक्त साधु की वशवर्तिता और चारित्र दुर्बलता जानकर नही मानती और नाराज होकर उसके सिर पर लात दे मारती हैं, किन्तु स्त्री-मोहित मूढ साधक उन कुपित स्त्रियों की मार भी हंसकर सह लेता है। यह कितनी भयंकर विडम्बना है, कि वह श्रमणसिंह होता हुआ भी स्त्री परवशता के कारण स्त्रियों के आगे दीन-हीन कायर और गुलाम बन जाता है। शास्त्राकार सूत्रगाथा २७९ में भ्रष्ट साधक की इसी विडम्बना को व्यक्त करते हैं—'**अह तं तु···· पायमुद्दट्टु मुद्धि पहणंति।'**

दूसरी विडम्बना—कई कामुक नारियाँ एक बार शीलभ्रष्ट होने के बाद उस साधु को अपने केशों की लटें दिखलाती हुई कहती है—"अगर मेरे इन केशों के कारण तुम मेरे साथ रमण करने में लज्जित होते हो तो लो, मैं अभी इसी जगह इन केशों को नोंच डालती हूँ।" (केश लुञ्चन तो उपलक्षण मात्र है, कामिनी साधु को वचनबद्ध करने के लिए कहती है—) मैं ये केश भी उखाड़ डालूंगी, और इन आभूषणों को भी उतारने में नहीं हिचकूंगी, और भी विदेशगमन, धनोपार्जन आदि कठोर से कठोर दुष्कर काम भी मैं तुम्हारे लिए कर लूंगी, सभी कष्टों को सह लूँगी, बशर्ते कि तुम मेरी एक प्रार्थना को स्वीकार करो, और मुझे वचन दो तुम मेरे सिवाय अन्य किसी भी स्त्री के साथ विहरण नहीं करोगे

---

३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११५ पर से

मुझे छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाओगे। मैं तुम्हारा वियोग क्षणभर भी नहीं सहन कर सकूँगी। तुम मुझे जो भी आज्ञा दोगे, मैं उसका पालन निःसंकोच करूँगी।"

इस प्रकार कामुक नारी भद्र साधु को वचनवद्ध करके विडम्बित करती है, कामजाल में फंसा कर उसका जीवन दुःखित कर देती है इसी विडम्बना को द्योतित करने के लिए सूत्रगाथा २८० द्वारा शास्त्रकार कहते हैं—'जइ केसियाए····नन्नऽत्थ मए चरिज्जासि।'

तीसरी विडम्बना—स्त्रियाँ अपने प्रति मोहित शीलभ्रष्ट साधु को कोमल ललित वचनों से दुलार कर आश्वस्त-विश्वस्त करके वचनवद्ध कर लेती हैं, और जब वे भली-भाँति समझ लेती हैं कि अब यह साधु मेरे प्रति पक्का अनुरागी हो गया है, तब वह उस साधु को प्रतिदिन नई-नई चीजों की फरमाइश करती है, कभी गृहोपयोगी, कभी अपने साज-सज्जा शृंगार की और कभी अपनी सुख सुविधा की वस्तु की माँग करती रहती है, अपनी प्रेमिका की नित नई फरमाइशें सुन-सुनकर वह घबरा जाता है, तब उसे आटे-दाल का भाव मालूम होता है कि गृहस्थी बसाने में या किसी स्त्री के साथ प्रणय सम्बन्ध जोड़ने पर कितनी हैरानी होती है? अर्थाभाव या आर्थिक संकट के समय कितनी परेशानी भोगनी पड़ती है। प्रेमिका द्वारा की गई मांगों को ठुकरा भी नहीं सकता, पूर्ति से इन्कार भी नहीं कर सकता बरबस उन माँगों की पूर्ति करते-करते उसकी कमर टूट जाती है, थोड़े-से विषय सुख के बदले कई गुना दुःख पल्ले पड़ जाता है। यह भयंकर विडम्बना नहीं तो क्या है?

कामिनियाँ यों एक पर एक फरमाइशें प्रायः मोहमूढ एवं स्त्रीवशवर्ती भ्रष्ट साधक से किया करती हैं। इन सब फरमाइशों के अन्त में लाओ-लाओ का संकेत रहता है। अगर वह किसी माँग की पूर्ति नहीं करता है तो प्रेमिका कभी झिड़कती है, कभी मीठा उलाहना देती है, कभी आँखें दिखाती हैं, तो कभी झूठी प्रशंसा करके अपनी माँग पूरी कराती है। ललनासक्त पुरुष को नीचा मुँह किये सब कुछ सहना पड़ता है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है। फिर तो रात-दिन वह तेली के बैल की तरह घर के कार्यों में ही जुता रहता है, साधना ताक में रख दी जाती है। इसी तथ्य को शास्त्रकार (सूत्रगाथा २८१ से २९२ तक) १२ गाथाओं द्वारा प्रकट करते हैं—"अहणं से होती····अदु पुत्तदोहलट्ठाए····।"[४]

चौथी विडम्बना—पूर्वोक्त तीनों विडम्बनाओं से यह विडम्बना भयंकर है। इस विडम्बना से पीड़ित होने पर शीलभ्रष्ट साधक को छठी का दूध याद आ जाता है। प्रेमिका नारी जब जान लेती है कि यह भूतपूर्व साधु अब पूरा गृहस्थी बन गया है, मुझ पर पूर्ण आसक्त है, और अब यह घर छोड़कर कहीं जा नहीं सकता, तब वह उस पुरुष को मौका देखकर विभिन्न प्रकार की आज्ञा देती है जैसे—(१) जरा मेरे पैरों को महावर आदि से रंग दो, या मेरे पात्रों को रंग दो, (२) इधर आओ, मेरी पीठ में दर्द हो रहा है, जरा इसे मल दो, (३) मेरे वस्त्रों की अच्छी तरह देखभाल करो, इन्हें सुरक्षित स्थान में रखो, ताकि चूहे, दीमक आदि नष्ट न करें, (४) मुझ से लोच की पीड़ा सही नहीं जाती, अतः नाई से बाल कटवा देने होंगे, (५) मैं शौच के लिए बाहर नहीं जा सकती, अतः शौचादि के लिए एक शौचालय (वर्चोगृह) यहीं खोदकर या खुदवाकर बना दो, (६) पुत्र उत्पन्न होने पर उसे संभालने, रखने और

---

४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११५ से ११८ तक

खिलाने की क्रिया द्वारा कठोर आदेश—या तो अपने लाल को संभालो नहीं तो छोड़ दो, मैं नहीं संभाल सकती। (७) स्त्रीमोही पुरुष (प्रिया की आज्ञासे) रात-रात भर जागकर धाय की तरह बालक को छाती से चिपकाए रखता है। प्रिया का मन प्रसन्न रखने के लिए निर्लज्ज होकर धोबी की तरह उसके और बच्चे के कपड़े धोने पड़ते हैं।

निष्कर्ष यह है कि अपने पर गाढ अनुरक्त देख कर स्त्री कभी पुत्र के निमित्त से, कभी अन्यान्य प्रयोजनों से, कभी अपनी सुख-सुविधा के लिए पुरुष को एक नौकर समझ कर जब-तब आदेश देती रहती है और स्त्रीमोही तथा पुत्रपोषक पुरुष महामोहकर्म के उदय से इहलोक और परलोक के नष्ट होने की परवाह न करके स्त्री का आज्ञा-पालक बन कर सभी आज्ञाओं का यथावत् पालन करता है। शास्त्रकार इसी तथ्य को स्पष्टतः व्यक्त करते हैं—"**आणप्पा हवंति दासा व।**

ऐसे विडम्बनापात्र पुरुष पांच प्रकार के—शास्त्रकार ने स्त्री वशीभूत पुरुषों की तुलना पाँच तरह से की है—(१) दास के समान, (२) मृग के समान, (३) प्रेष्य (नौकर) के समान, (४) पशु के समान और (५) सबसे अधम नगण्य।

दास के समान—इसलिए कहा गया कि स्त्रियाँ निःशंक होकर उन्हें गुलाम (दास) की तरह (पूर्व गाथाओं में उक्त) निकृष्टकामों में लगाती हैं। **मृग के समान**—इसलिए कहा गया कि जैसे जाल में पड़ा हुआ मृग परवश हो जाता है वैसे ही कामजाल में पड़ा हुआ स्त्री, वशीभूत पुरुष भी इतना परवश हो जाता है कि स्वेच्छा से वह भोजनादि कोई भी क्रिया नहीं कर पाता। **क्रीतदास या प्रेष्य के समान**—इसलिए कहा गया है कि उसे नौकर की तरह काम में लगाया जाता है। **पशु के समान** इसलिए कहा गया है कि स्त्री-वशीभूत पुरुष भी पशु की तरह कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से शून्य तथा हितप्राप्ति एवं अहितत्याग से रहित होते हैं। जैसे पशु आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृति को ही जीवन का सर्वस्व समझते हैं, वैसे ही स्त्रीवशीभूत पुरुष भी अहर्निश भोग प्राप्ति, सुखसुविधाओं की अन्वेषणा काम-भोगों के लिए स्त्री की गुलामी, ऊँट की तरह रातदिन तुच्छ सांसारिक कार्यों में जुटे रहने एवं उत्तम निरवद्य अनुष्ठानों से दूर रहने के कारण पशु-सा ही है। अथवा **स्त्रीवशीभूत पुरुष** दास, मृग, प्रेष्य और पशु से भी गया बीता, **अधम और नगण्य** है। वह पुरुष इतना अधम है कि उसके समान कोई नीच नहीं है, जिससे उसकी उपमा दी जा सके। अथवा उभयभ्रष्ट होने के कारण वह पुरुष किसी भी कोटि में नहीं है, कुछ भी नहीं है। अथवा इहलोक-परलोक का सम्पादन करनेवालों में से वह किसी में भी नहीं है। इसी बात को शास्त्रकार अभिव्यक्त करते हैं—"**दासे मिए व पेस्से वा पसुभूतेवासे ण वा कहे।**"[५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**ओए**=ओज, द्रव्य से परमाणुवत् अकेला और भाव से राग-द्वेषरहित। **सदा**=सदा के लिए या कदापि। **भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा**=वृत्तिकार के अनुसार यदि मोहोदयवश कदाचित् साधु भोगाभिलाषी हो जाऐ तब स्त्री सम्बन्धी भोगों से होने वाले ऐहिक एवं पारलौकिक दुःखों का विचार करके पुनः उन स्त्रियों से विरक्त हो जाऐ, चूर्णिकार के अनुसार भोगकामी पुनः विशेष रूप से रक्तगृद्ध हो जाता है। **तो पेसंति तहाभूतेहिं**—मदन रूप कामों में जिसकी मति (बुद्धि या मन) की वृत्ति-प्रवृत्ति है, अथवा काम-भोगों में जो अतिप्रवृत्ति है, कामाभिलाषी है। **पलिभिंदिया**=यह मेरी बात

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११९

मान लेता है, अर्थात् मेरे वश में हो गया है, इस प्रकार भलीभाँति जान कर अथवा अपने द्वारा उसके लिऐ किये हुऐ कार्यों को गिना कर, **उवलद्धो**—स्त्री जब पुरुष की आकृति, चेष्टा इशारे आदि से यह जान लेती है कि यह साधु मेरे वशीभूत हो गया है। '**तो पेसंति तहाभूएहिं** तब उसके अभिप्राय को जानने के पश्चात नौकर के द्वारा करने योग्य तुच्छ एवं छोटे से छोटे कार्य में नियुक्त करती है अथवा तथाभूत कार्यों का अर्थ यह भी है साधुवेष में रहन वाले पुरुष के योग्य कार्यों में प्रवृत्त करती है। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है '**ततो णं देसेति तहारूवेहिं**' अर्थ होता है वशीभूत हो जाने के बाद तथारूप कार्यों के लिए आदेश देती है। **पेहाहि**=देखना, प्राप्त करना। **वग्गूफलाइं आहराहिति**=वल्गु-अच्छे-अच्छे नारियल, केला आदि फलों को ले आना। अथवा **वग्गफलाइं** (पाठान्तर) का '**वाक्फलानि**' संस्कृत में रूपान्तर करके अर्थ हो सकता है धर्मकथारूप या ज्योतिष व्याकरणादि रूप वाणी (व्याख्यान) से प्राप्त होने वाले वस्त्रादि रूप फलों को ले आइए। '**दारूणि सागपागाए**'—सागभाजी पकाने के लिऐ लकड़ियाँ (इन्धन), पाठान्तर है **अन्नपाकाय**=चावल आदि, अन्न पकाने के लिए चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है '**अण्णपायाय**' अर्थ उपर्युक्त ही है। **पातानि मे रयावेहि**=मेरे पात्रों को रंग दो रंग-रौगन कर दो; अथवा मेरे पैर महावर आदि से रंग दो। **कासवगं च मे समणुजाणाहि** सिर मूंडने के लिए काश्यप नाई को आज्ञा दो अथवा नाई से बाल कटाने की अनुज्ञा दो, (ताकि मैं अपने लम्बे केशों को कटवा डालूँ।) '**कोसं च मोयमेहाए**'=मोक=पेशाव करने के लिए कोश-भाजन। **कुक्कुहयं**=चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—तुम्बवीणा; वृत्तिकार के अनुसार अर्थ है—खुनखुना। **वेणुपलासियं**=बंशी या बांसुरी। **गुलियं**=औषध गुटिका—सिद्ध गुटिका, जिससे यौवन नष्ट न हो। '**तेल्लं मुहभिलिंगजाए**=मुख पर अभ्यंगन करने—मलने के लिए ऐसा तेल लाएँ, जो मुख की कान्ति बढाए। **वेणुफलाइं सन्निधाणाए**=बांस के फलक की बनी हुई पेटी लादें **सुफणि**=जिसमें सुखपूर्वक तक्रादि पदार्थ पकाये या गर्म किये जा सकें ऐसा बर्तन—तपेली या बटलोई। **घिंसु**=ग्रीष्म ऋतु में। **चंदालगं**=देवपूजन करने के लिए तांबे का छोटा लोटा, जिसे मथुरा में '**चन्दालक**' (चण्डुल) कहते हैं। **करगं**=कदक-करवा पानी रखने का धातु का एक बर्तन अथवा मद्य का भाजन। **वच्चघर**=वर्चोग्रह—पाखाना, शौचालय। चूर्णिकार के अनुसार—'**वच्चघरगं ण्हाणिगा**'—वर्चोगृह का अर्थ स्नानिका-स्नानघर। **खणाहि**=बनाओ। **सरपादगं**=जिस पर रखकर बाण (शर) फैंके जाते हैं, धनुष। **गोरहगं**=तीन वर्ष का बैल, अथवा बैलों से खींचा जाने वाला छोटा रथ। **सामणेराए**=श्रामणेर=श्रमण पुत्र के लिए। **घडिग**—मिट्टी की छोटी कुलडीया, घड़िया अथवा छोटी-सी गुड़िया। **सडिंडिमयं**=ढोल आदि के सहित बाजा या झुनझुना। **चेलगोलं**=कपड़े की बनी हुई गोल गेंद। **कुमारभूताय**=राजकुमार के समान अपने कुमार के लिए। '**आवसहं च जाण भत्तं च**'—वर्षाकाल में निवास करने योग्य मकान (आवास) और चावल आदि भोजन का प्रवन्ध कर लो। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—"**आवसथं जाणाहि भत्ता।**" अर्थात्—हे स्वामी (पतिदेव) ! वर्षाकाल सुख विताने योग्य मकान के प्रबन्ध का ध्यान रखना। "**पाउल्लाइं संकमट्ठाए**'=वृत्तिकार के अनुसार—मूंज की बनी हुई या काष्ट की बनी हुई पादुका—खडाऊ, इधर-उधर घूमने के लिए लाओ, चूर्णिकार के अनुसार—**कट्ठपाउगाओ**=काष्ठ-पादुका। '**आणप्पा हवंति दासा वा**'=खरीदे हुए दास की तरह ऐसे पुरुषों पर स्त्रियों द्वारा आज्ञा की जाती है। **संठवेति धाती वा**=धाय की तरह बच्चे को गोद में रखते हैं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर हैं—**सण्णवेंति धाव इवा**=अर्थ होता है—रोते हुए बच्चे को धाय की तरह अनेक प्रकार के मधुर आलापों से समझा-बुझाकर रखते (चुप करते) हैं। **सहिरामणा वि ते संता**=मन में अत्यन्त लज्जित होते हुए भी वे, लज्जा को छोड़कर

स्त्री के मन को प्रसन्न रखने हेतु स्त्री वचनानुसार सबसे नीच (हलका) काम भी कर लेते हैं। हंसा वा= धोबियों की तरह। 'भोगत्थाए जेऽभियावन्ना'=काम भोगों के लिए ऐहिक-पारलौकिक दुःखों का विचार किये बिना भोगों के अभिमुख—अनुकूल सावद्य अनुष्ठानों में प्रवृत्त। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'भोगत्थाए इत्थियाभि आवण्णा' अर्थ होता है—काम भोगों की प्राप्ति के लिए स्त्रियों में अत्यासक्त।[७]

उपसंहार—

२९६. **एयं खु तासु विण्णप्पं, संथवं संवासं च चएज्जा।**
तज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाता ॥ १९ ॥

२९७. **एवं भयं ण सेयाए, इति से अप्पगं निरुंभित्ता।**
णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सयपाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥ २० ॥

२९८. **सुविसुद्धलेस्से मेधावी, परकिरियं च वज्जए णाणी।**
मणसा वयसा कायेणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥ २१ ॥

२९९. **इच्चेवमाहु से वीरे, धूतरए धूयमोहे से भिक्खू।**
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥ २२ ॥ त्ति बेमि।

॥ इत्थीपरिण्णा चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥

२९६. उनके (स्त्रियों के) विषय में इस प्रकार की बातें बताई गई हैं, (इसलिए) साधु स्त्रियों के साथ संस्तव (संसर्ग=अतिपरिचय) एवं संवास (सहवास) का त्याग करे। स्त्रीसंसर्ग से उत्पन्न होने वाले ये काम-भोग पापकारक या वज्रवत् पापकर्म से आत्मा को भारी करने वाले हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

२९७. स्त्री संसर्ग करने से जो (पूर्वोक्त) भय खतरे पैदा होते हैं, वे कल्याणकारी (श्रेयस्कर) नहीं होते। यह जानकर साधु स्त्रीसंसर्ग को रोककर स्त्री और पशु से युक्त स्थान में निवास न करे न ही इन्हें अपने हाथ से स्पर्श करे, अथवा अपने हाथ से अपने गुप्तेन्द्रिय का पीड़न न करे।

२९८. विशुद्ध लेश्या (चित्त की परिणति) वाला मेधावी—मर्यादा में स्थित ज्ञानी साधु मन, वचन और काया से परक्रिया (स्त्री आदि से सम्बन्धित विषयोपभोगादि पर-सम्बन्धी क्रिया, अथवा स्त्री आदि पर व्यक्ति से अपने पैर दबवाना, धुलाना आदि क्रिया) का त्याग करे। (वास्तव में,) जो समस्त (स्त्री, शीतोष्ण, दंशमशक आदि परीषहों के) स्पर्शों को सहन करता है, वही अनगार है।

२९९. जिसने स्त्री आदि संगजनित रज यानी कर्मों को दूर कर दिया था, जिसने मोह (राग-द्वेष) को पराजित कर दिया था, उन वीर प्रभु ने ही यह (पूर्वोक्त स्त्री परिज्ञा सम्बन्धी तथ्य) कहा है। इस-

---

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११५ से ११९ तक
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ५० से ५३ तक

लिए विशुद्धात्मा (सुविशुद्धचेता) (स्त्रीसंसर्ग से) अच्छी तरह विमुक्त वह भिक्षु मोक्षपर्यन्त (संयमानुष्ठान में) में प्रवृत्त—उद्यत रहे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—स्त्रीसंग से विमुक्त रहने का उपदेश—स्त्रीपरिज्ञा-अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने चार गाथाओं (सू० गा० २९६ से २९९ तक) द्वारा ज्ञपरिज्ञा से पूर्वोक्त गाथाओं में कथित स्त्रीसंग से होने वाले अनर्थों को जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका सर्वथा त्याग करने का उपदेश दिया है।

स्त्रीसंग-त्याग क्यों, कैसे और कौन करें?—प्रस्तुत चतुःसूत्री में स्त्रीसंगत्याग के तीन पहलू हैं—(१) साधु स्त्रीसंगत्याग क्यों करें? (२) कैसे किस-किस तरीके से करें? और (३) स्त्री-संगत्यागी किन विशेषताओं से युक्त हो?

क्यों करें? समाधान—साधु के लिए स्त्रीसंग परित्याग का प्रथम समाधान यह है कि प्रथम उद्देशक एवं द्वितीय उद्देशक की पूर्वगाथाओं में स्त्रीसंग से होने वाले अनर्थों, पापकर्म के गाढ़ बन्धनों, शीलभ्रष्ट साधक की अवदशाओं एवं विभिन्न विडम्बनाओं को देखते हुए साधु को स्त्रीसंग तथा स्त्रीसंवास से दूर रहना अत्यावश्यक है। जैसा कि सूत्रगाथा २९६ के पूर्वार्द्ध में कहा गया है—'**एवं खु तासु विण्णप्पं संथवं संवासं च चएज्जा।**'

दूसरा समाधान—स्त्रीसंसर्ग इसलिए वर्जनीय है कि तीर्थंकरों गणधरों आदि ने स्त्रीसंसर्ग से उत्पन्न होने वाले तज्जातीय जितने भी कामभोग हैं, उन्हें पापकर्म को पैदा करने वाले या वज्र के समान पाप-कर्मों से आत्मा को भारी करने वाले बताए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १४।१३) में भगवान् महावीर ने कहा है—

> "खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
> संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।"

काम-भोग क्षणमात्र सुख देने वाले हैं चिरकाल तक दुःख। वे अत्यन्त दुःखकारक और अल्प सुख-दायी होते हैं, संसार से मुक्ति के विपक्षीभूत कामभोग अनर्थों की खान है।

तीसरा समाधान—पूर्वगाथाओं के अनुसार स्त्रियों द्वारा कामजाल में फंसाने की प्रार्थना, अनुनय, मायाचार आदि विविध तरीके तथा उनके साथ किया जाने वाला विभिन्न प्रकार का संसर्ग-संवास भय-कारक है—खतरनाक है, वह साधु के संयम को खतरे में डाल देता है, इसलिए साधु के लिए वह कथमपि श्रेयस्कर-कल्याणकर नहीं है, इस कारण स्त्रीसंग सर्वथा त्याज्य है। इसे ही शास्त्रकार सूत्रगाथा २९७ के प्रथम चरण में कहते हैं—'**एयं भयं ण सेयाए।**'

चौथा समाधान—वीर प्रभु ने स्त्रीसंसर्ग को महामोहकर्मबन्ध का तथा अन्य कर्मों का कारण माना और स्वयं स्त्रीसंसर्गजनित कर्मरज से मुक्त बने, तथा राग-द्वेष-मोह-विजयी हुए। इसीलिए स्त्रीपरिज्ञा-अध्ययन में जो बातें कही गई हैं, वे सब विश्वहितंकर शासनेश श्रमण भगवान् महावीर ने विशेष रूप से साधकों के लिए कही हैं। वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के संघ (तीर्थ) के सभी साधु-साध्वियों के लिए लागू होती हैं। अतः भगवान् महावीर द्वारा स्त्रीसंगत्याग ब्रह्मचर्यमहाव्रती साधु के लिए समादिष्ट

होने से तदनुसार चलना अनिवार्य है। सू० गा० २९९ में शास्त्रकार कहते हैं—"इच्चेवमाहु से वीरे धूतरए धूयमोहे·······तम्हा·······।"[८]

कुछ प्रेरणाएँ—इसके पश्चात् स्त्रीसंगत्याग का दूसरा पहलू है—साधु स्त्रीसंगत्याग कैसे या किस तरीके से करे? वैसे तो इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में, तथा द्वितीय उद्देशक की पूर्वगाथाओं में यत्र-तत्र स्त्रीसंगत्याग की प्रेरणा दी गई है, फिर भी परमहितैषी शास्त्रकार ने पुनः इसके लिए कुछ प्रेरणाएँ अध्ययन के उपसंहार में दी हैं।

प्रथम प्रेरणा—उपसर्गपरिज्ञा अध्ययन में स्त्रीसंसर्ग, स्त्रीपरिचय, स्त्रीसहवास तथा स्त्री-मोह से जो-जो अनर्थ परम्पराएँ बताई गई हैं, उन्हें ध्यान में रखकर आत्महितैषी साधु स्त्रीसंस्तव, (संसर्ग) स्त्री-संवास (सहनिवास) आदि का त्याग करे। सू० गा० २९६ में 'संथवं संवासं च चएज्जा' इस पंक्ति द्वारा स्पष्टतः स्त्रीसंगत्याग की प्रेरणा दी गई हैं।

द्वितीय प्रेरणा—स्त्रीसंसर्गजनित अनेक खतरों में से कोई भी खतरा पैदा होते ही साधु तुरन्त अपने आपको उससे रोके। बिजली का करेन्ट छू जाते ही जैसे मनुष्य सावधान होकर फौरन दूर हट जाता है, उसका पुनः स्पर्श नहीं करता, वैसे ही स्त्रीसंगजनित (प्रथम उद्देशक में वर्णित) कोई भी उपद्रव-उपसर्ग पैदा होता दीखे कि साधक उसे खतरनाक (भयकारक) एवं आत्मविनाशकारी समझकर तुरन्त सावधान हो जाए, उससे दूर हट जाए, अपने-आपको उसमें पड़ने से रोक ले और संयमपथ में स्थापित करे। उसका स्पर्श बिलकुल न करे। शास्त्रकार ने इन शब्दों में प्रेरणा दी है—'इति से अप्पगं निरु भित्ता।"

तृतीय प्रेरणा– स्त्रीसंगपरित्याग के सन्दर्भ में तृतीय प्रेरणा सू० गा० २९७ के उत्तरार्द्ध द्वारा दी गई है—'णो इत्थिं, णो पसुं भिक्खू, णो सयपाणिणा णिलिज्जेज्जा।' इस पंक्ति में णिलिज्जेजा (निलीयेत) इस एक ही क्रिया के चार अर्थ फलित होने से स्त्रीसंगत्याग के सन्दर्भ में क्रमशः चार प्रेरणाएँ निहित हैं—(१) भिक्षु स्त्री और पशु को अपने निवास स्थान में आश्रय न दे, (२) स्त्री और पशु से युक्त संवास का आश्रय न ले, क्योंकि साधु के लिए शास्त्र में स्त्री-पशु-नपुंसक-वर्जित शयनासन एवं स्थान ही विहित है, (३) साधु स्त्री और पशु का स्पर्श या आश्लेष भी अपने हाथ से न करे, और (४) साधु स्त्री या पशु के साथ मैथुन सेवन की कल्पना करके अपने हाथ से स्वगुप्तेन्द्रिय का सम्बाधन (पीड़न या मर्दन) न करे—हस्तमैथुन न करे।

चौथी प्रेरणा—स्त्रीसंसर्ग—त्याग के सिलसिले में शास्त्रकार चौथी प्रेरणा सू० गा० २९८ के द्वितीय चरण द्वारा देते हैं—'परकिरियं च वज्जए णाणी।' अर्थात्—ज्ञानी साधु परक्रिया का त्याग करे। प्रस्तुत सन्दर्भ में परक्रिया के लगभग चार अर्थ प्रतीत होते हैं—(१) आत्मभावों से अन्य परभावों-अनात्मभावों की क्रिया, अथवा आत्महित में बाधक क्रिया, परक्रिया है, (२) स्त्री आदि आत्मगुण बाधक (पर) पदार्थ के लिए जो क्रिया की जाती है, अर्थात्—विषयोपभोग द्वारा (देकर) जो परोपकार किया जाता है,

---

८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११९

वह भी परक्रिया है, (३) विषयभोग की सामग्री देकर दूसरे की सहायता करना भी परक्रिया है, और (४) दूसरे से—गृहस्थ नर-नारी से अपने पैर आदि दबवाना, पैर धुलाना आदि सेवा लेना भी परक्रिया है।

स्त्रीसंगपरित्याग के सन्दर्भ में उपर्युक्त चारों अर्थों की छाया में काम-विकार-सेवन की दृष्टि से परक्रिया का मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करे, यही इस प्रेरणा का आशय है।

तात्पर्य यह है कि औदारिक एवं दिव्य कामभोगरूप परक्रिया के लिए वस्तुतत्त्व ज्ञानी साधु मन से भी विचार न करे, दूसरे को भी मन से परक्रिया के लिए प्रेरित न करे, ऐसा (परक्रिया का) विचार करने को मन से भी अच्छा न समझे। इसी प्रकार वचन और काया से भी इस प्रकार की परक्रिया का त्याग तीन करण से समझ लेना चाहिए। इस प्रकार औदारिक कामभोगरूप परक्रिया त्याग के ९ भेद हुए, वैसे ही दिव्य (वैक्रिय) कामभोगरूप परक्रिया त्याग के भी ९ भेद होते हैं। यों१८ प्रकार की परक्रिया (अब्रह्मचर्य-मैथुनसेवनरूप) का साधु त्याग करे, और १८ प्रकार से ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखे।[९]

अथवा परक्रियात्याग का अर्थ दशविध ब्रह्मचर्य समाधि स्थान भंग करने वाली स्त्री-संगरूप उपसर्ग की कारणभूत अब्रह्मचर्यवर्द्धक १० प्रकार की क्रियाओं का त्याग भी हो सकता है। वे दस अब्रह्मचर्यवर्द्धक परक्रियाएँ ये हैं—

(१) निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्री-पशु-नपुंसक संसक्त शयनासन या स्थान का सेवन करे।

(२) स्त्रियों के शृंगार, विलास आदि की कामवर्द्धक विकथा करे।

(३) स्त्रियों के साथ एक आसन या शय्या पर बैठे या स्त्रियाँ जिस आसन या स्थानादि पर बैठी हों, उस पर तुरन्त ही बैठे। स्त्रियों के साथ अतिसंसर्ग, अतिसंभाषण करे।

(४) स्त्रियों की मनोहर, मनोरम इन्द्रियों या अंगोपांगों को कामविकार की दृष्टि से देखे, टकटकी लगाए निरीक्षण करे।

(५) दीवार, कपड़े के पर्दे, या भींत के पीछे होने वाले स्त्रियों के नृत्य, गीत, क्रन्दन विलाप, रुदन हास्य, विलास आदि शब्दों को सुने।

(६) स्त्रियों के साथ पूर्वरत, पूर्वक्रीड़ित कामभोगों का स्मरण करे।

(७) सरस, स्निग्ध एवं स्वादिष्ट कामवर्द्धक आहार करे।

(८) अतिमात्रा में आहार-पानी करे।

(९) शरीर का शृंगार करे, मंडन-विभूषा करे।

---

९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११९, १२०

(ख) देखिये आचा० श्रुत० १३ वाँ अध्ययन परक्रियासप्तक आचा० विवेचन पृ० ३४४ सू० ६९० से ७२९ तक।

(१०) मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का आसक्तिपूर्वक सेवन-उपभोग करे।[10]

निष्कर्ष यह है, इन दस प्रकार की ब्रह्मचर्यबाधक परक्रियाओं का सर्वथा परित्याग करने की प्रेरणा भी शास्त्रकार का आशय हो सकता है।

पाठान्तर और कठिन शब्दों की व्याख्या—**णिलिज्जेज्जा**=वृत्तिकार के अनुसार—**निलीयेत**=लीन-आश्रित -संसक्त हो, आश्रय ले या आश्लेष करे, सम्बाधन (पीड़न या मर्दन) करे, या स्त्री आदि का स्पर्श करे।[11] चूर्णिकार केअनुसार—**णिलेज्जं ति हत्थकम्मं न कुर्यात्। निलंजनं नाम स्पर्श करणं अथवा स्वेन पाणिना तं प्रदेशमपि न लीयते।** अर्थात्—**ण णिलेज्ज** का अर्थ है—हस्तकर्म न करे अथवा निलंजन कहते हैं—स्पर्श करने को। (स्त्री आदि का स्पर्श न करे) अथवा अपने हाथ से उस गुह्यप्रदेश का पीड़न (मर्दन) न करे। **से भिक्खू**=भिक्षु, चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**सभिक्खू**। अर्थ किया है—'**सोमणो भिक्ख सभिक्खू**' अर्थात्—अच्छाभ भिक्षु।[12]

द्वितीय उद्देशक समाप्त

॥ स्त्री परिज्ञा : चतुर्थ अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

१० आलओ थीजणाइण्णो, थीकहाय मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इंदियदरिसणं ॥११॥
कुइयं रुइयं गीयं हासियं भुत्ताऽऽसियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं ॥१२॥
गत्तभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्सं विसं तालउडं जहा ॥१३॥ — उत्तरा० अ० १६

११ सू० कृ० शीलांक वृत्ति पत्रांक १२०

नरक-विभक्ति : पंचम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के पंचम अध्ययन का नाम **निरयविभक्ति** अथवा **नरकविभक्ति** है।[1]

☐ कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जो जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशीलसेवन, महापरिग्रह, महारम्भ, पंचेन्द्रियजीवहत्या, मांसाहार आदि पापकर्म करता रहा है, उससे भारी पापकर्मों का बन्ध होता है, तथा उस पापकर्मबन्ध का फल भोगने हेतु नरक (नरक-गति) में जन्म लेना पड़ता है। और यह सर्वज्ञ जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित आगमों से सिद्ध है।[2]

☐ वैदिक, बौद्ध और जैन, तीनों परम्पराओं में नरक के महादुःखों का वर्णन है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में ६ महानरकों का वर्णन है। भागवतपुराण में २७ नरक गिनाए गए हैं। बौद्ध-परम्परा के पिटकग्रन्थ सुत्तनिपात के कोकालियसुत्त में नरकों का वर्णन है। अभिधर्मकोष के *तृतीयकोश स्थान के प्रारम्भ में ८ नरकों का उल्लेख है। इन सब स्थलों को देखने से प्रतीत होता* है—नरकविषयक मान्यता सभी आस्तिक दर्शनों में अति प्राचीन काल से चली आ रही है, और भारतीय धर्मों की तीनों शाखाओं में नरक-वर्णन एक-दूसरे से काफी मिलता-जुलता है। उनकी शब्दावली भी बहुत कुछ समान है।[3]

☐ यों तो नरक एक क्षेत्रविशेष (गति) का नाम है, जहाँ जीव अपने दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए जाता है, स्थिति पूर्ण होने तक रहता है। अथवा घोर वेदना के मारे जहाँ जीव चिल्लाता है, सहायता के लिए एक-दूसरे को सम्बोधित करके बुलाता है, वह नरक है। अथवा घोर पापकर्मी जीवों को जहाँ दुर्लंघ्य रूप से बुला लिया जाता है, वह नरक है।[4]

---

१ वृत्तिकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'नरकविभक्ति' है।

२ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ५७२

३ जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४६

४ सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ५७४ में देखिये नरक की परिभाषा

(अ) नरान् कायन्ति शब्दयन्ति, योग्यताया अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्व-स्व स्थाने इति नरकाः।

☐ नरक का पर्यायवाची 'निरय' शब्द है, जिसका अर्थ होता है—सातावेदनीयादि शुभ या इष्टफल जिसमें से निकल गए हैं, वह निरय है।[५]

☐ निर्युक्तिकार ने निक्षेप की दृष्टि से नरक के ६ अर्थ किये हैं—'नामनरक' और 'स्थापनानरक' सुगम हैं। द्रव्यनरक के मुख्य दो भेद—आगमतः, नो आगमतः। जो नरक को जानता है, किन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता, वह आगमतः द्रव्यनरक है। नो आगमतः द्रव्यनरक (ज्ञशरीर-भव्य-शरीर-तद्व्यतिरिक्तरूप) वे जीव हैं जो इसी लोक में मनुष्य या तिर्यञ्च के भव में अशुभ कर्म करने के कारण अशुभ हैं, या बंदीगृहों; बन्धनों या अशुभ, अनिष्ट क्षेत्रों में परिवारों में नरक-सा कष्ट पाते हैं, अथवा द्रव्य और नोकर्मद्रव्य के भेद से द्रव्यनरक दो प्रकार का है। जिनके द्वारा नरक वेदनीय कर्म बंधे जा चुके हैं, वे एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र (कर्म) की दृष्टि से द्रव्य नरक है, नोकर्मद्रव्य की दृष्टि से **'द्रव्यनरक'** इसी लोक में अशुभ शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हैं। नारकों के रहने के ८४ लाख स्थान **'क्षेत्रनरक'** है। जिस नरक की जितनी स्थिति है, वह **'कालनरक'** है। नरकयोग्य कर्म का उदय या नरकायु का भोग **'भावनरक'** है। अथवा नरक में स्थित जीव या नरकायु के उदय से उत्पन्न असातावेदनीयादि कर्मोदय वाले जीव भी **'भावनरक'** कहे जा सकते हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में क्षेत्रनरक, कालनरक और भावनरक की दृष्टि से निरूपण किया गया है।[६]

☐ विभक्ति कहते हैं—विभाग यानी स्थान को। इस दृष्टि से **'नरक (निरय) विभक्ति'** का अर्थ हुआ वह अध्ययन, जिसमें नरक के विभिन्न विभागों-स्थानों के क्षेत्रीय दुःखों, पारस्परिक दुःखों तथा परमाधार्मिक असुरकृत दुःखों का वर्णन हो। तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि भयंकर पापकर्म करने वाले जीवों का विभिन्न नरकावासों में जन्म लेकर भयंकर शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शकृत क्षेत्रीय दुःखों के अतिरिक्त पारस्परिक एवं परमाधार्मिककृत कैसे-कैसे घोर दुःख सहने पड़ते हैं? इन अनिष्ट विषयों से नारकों को कैसी वेदना का अनुभव होता है? उनके मन पर क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं, इन सबका सम्पूर्ण वर्णन 'नरकविभक्ति' अध्ययन के दोनों उद्देशकों में है। प्रथम उद्देशक में २७ और द्वितीय उद्देशक में २५ गाथाएँ हैं।[७]

☐ स्थानांग सूत्र में नरकगति के चार और तत्त्वार्थ सूत्र में नरकायु के दो मुख्य कारणों का उल्लेख है। तथा जो लोग पापी हैं—हिंसक, असत्यभाषी, चोर, लुटेरे, महारम्भी-महापरिग्रही हैं, असदाचारी-व्यभिचारी हैं, उन्हें इन नरकावासों में अवश्य जन्म लेना पड़ता है। अतः धीर साधक नरकगति या नरकायुबन्धन के इन कारणों और उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दारुण दुःखों

---

५ निर्गतमयं शुभमस्मादिति निरयः, अथवा निर्गतमिष्टफलं सातावेदनीयादि रूपं येभ्यस्ते निरयाः।

६ सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ६४-६५

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२२
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा०१ पृ० १४६

को सुन-समझकर इनसे बचे, हिंसादि पापों में प्रवृत्त न हो, और स्व-पर कल्याणरूप संयमसाधना में अहर्निश संलग्न रहे, यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।[८]

☐ 'नरकविभक्ति' का एक अर्थ यह भी है—नरक के प्रकार, भूमियाँ उनकी लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई आदि विभिन्न नारकों की स्थिति, लेश्या, नरकों के विविध दुःख, दुःखप्रदाता नरकपाल आदि समस्त विषयों का विभाग रूप से जिस अध्ययन में निरूपण हो।

☐ **नरक सात हैं**—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा। इनके सात रुढ़िगत नाम गोत्र हैं—घम्मा, वंशा, शैला, अंजना, अरिष्टा, मघा और माघवती। ये ही सात नरकभूमियाँ हैं, जो एक-दूसरी के नीचे असंख्य योजनों के अन्तर पर घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर स्थित हैं। वे नरकभूमियाँ क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच आवासों में विभक्त हैं।

☐ **नरकवासियों की उत्कृष्ट स्थिति**—नरक में क्रमशः १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपमकाल की स्थिति है।

☐ **नारकों की आकृति-प्रकृति**—नारक जीवों की लेश्या, परिणाम, आकृति अशुभतर होती है, उनकी वेदना असह्यतर होती है, उनमें विक्रियाशक्ति होती हैं जिससे शरीर के छोटे-बड़े विविध रूप बना सकते हैं।

☐ **नरक में प्राप्त होने वाले विविध दुःख**—मुख्यतया तीन प्रकार के हैं—(१) परस्परकृत। (२) क्षेत्र-जन्य और (३) परमाधार्मिककृत।[९]

☐ **नारकों को दुःख देने वाले परमाधार्मिक असुर**—नरकपाल १५ प्रकार के हैं—(१) अम्ब, (२) अम्बर्षि, (३) श्याम, (४) सबल, (५) रौद्र, (६) उपरुद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) बालु, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। ये असुर स्वभाव से बड़े क्रूर होते हैं। ये नारकों को पूर्वकृत पापकर्म याद दिलाकर उन्हें विविध प्रकार से भयंकर यातना देते हैं।

☐ सूत्रगाथा ३०० से प्रारम्भ होकर ३५१ सूत्रगाथा पर पंचम अध्ययन समाप्त होता है।

---

८ (क) महारंभेण महापरिग्गहेण पंचेन्दियवहेणं कुणिमाहारेणं—स्था० ४

(ख) 'बह्वारम्भ परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः' —तत्त्वार्थ अ० ३०

९ (क) सूत्रकृ० निर्युक्ति गा० ६८ से ८४ तक

(ख) सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक १२३ से १२५ तक

पंचमं अज्झयणं—'णिरयविभत्ती'

पढमो उद्देसओ

नरक जिज्ञासा और संक्षिप्त समाधान—

३००. पुच्छिस्स हं केवलियं महेसिं, कहंऽभितावा णरगा पुरत्था ।
अजाणतो मे मुणि बूहि जाणं, कहं णु बाला णरगं उवेंति ॥ १ ॥

३०१. एवं मए पुट्ठे महाणुभागे, इणमब्बवी कासवे आसुपण्णे ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥ २ ॥

३०२. जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करेंति रुद्दा ।
ते घोररुवे तिमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥ ३ ॥

३०३. तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसती आयसुहं पडुच्चा ।
जे लूसए होति अदत्तहारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥ ४ ॥

३०४. पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती, अणिव्वुडे घातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहो सिरं कट्टु उवेति दुग्गं ॥ ५ ॥

३००. (श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—) मैंने पहले केवलज्ञानी महर्षि महावीर स्वामी से पूछा था कि नरक किस प्रकार की पीड़ा (अभिताप) से युक्त हैं ? हे मुने ! आप इसे जानते हैं, (अतः) मुझ अज्ञात (न जानने वाले) को कहिये, (कि) मूढ़ अज्ञानी जीव किस कारण से नरक पाते हैं ?

३०१. इस प्रकार मेरे (श्री सुधर्मा स्वामी के) द्वारा पूछे जाने पर महानुभाव (महाप्रभावक) काश्यपगोत्रीय आशुप्रज्ञ (समस्त वस्तुओं में सदा शीघ्र उपयोग रखने वाले) भगवान महावीर ने कहा कि यह (नरक) दुःखहेतुक या दुःखरूप (दुःखदायक) एवं दुर्ग (विषम, गहन अथवा असर्वज्ञों द्वारा दुर्विज्ञेय) है। वह अत्यन्त दीन जीवों का निवासस्थान है, वह दुष्कृतिक (दुष्कर्म—पाप करने वालों या पाप का फल भोगने वालों से भरा) है। यह आगे चलकर मैं बताऊँगा।

३०२. इस लोक में जो कई रौद्र, प्राणियों में हिंसादि घोर कर्म से भय उत्पन्न करने वाले जो

अज्ञानी जीव अपने जीवन के लिए हिंसादि पापकर्म करते हैं, वे घोर रूप वाले, घोर अन्धकार से युक्त तीव्रतम ताप (गर्मी) वाले नरक में गिरते हैं।

३०३-३०४. जो जीव अपने विषयसुख के निमित्त त्रस और स्थावर प्राणियों की तीव्र रूप से हिंसा करता है, जो (लूषक) अनेक उपायों से प्राणियों का उपमर्दन करता है, तथा अदत्तहारी (बिना दिये परवस्तु का हरण कर लेता) है, एवं (आत्महितैषियों द्वारा) सेवनीय (या श्रेयस्कर) संयम का थोड़ा-सा भी अभ्यास (सेवन) नहीं करता, जो पुरुष पाप करने में धृष्ट है, अनेक प्राणियों का घात करता है, जिसकी क्रोधादिकषायाग्नि कभी बुझती नहीं, वह अज्ञानी जीव अन्तकाल (मृत्यु के समय) में नीचे घोर अन्धकार (अन्धकारमय नरक) में चला जाता है, (और वहाँ) सिर नीचा किये (करके) वह कठोर पीड़ा-स्थान को प्राप्त करता है।

विवेचन—नरक के सम्बन्ध में स्वयं उद्‌भावित जिज्ञासा—प्रस्तुत पाँच सूत्रगाथाओं (३०० से ३०४ तक) में से प्रथम सूत्रगाथा में श्री सुधर्मास्वामी द्वारा नरक सम्बन्धी स्वयं उद्‌भूत जिज्ञासा है और अवशिष्ट चार गाथाओं में द्वितीय जिज्ञासा का समाधान अंकित किया गया है।

जिज्ञासा : नरक के सम्बन्ध में—पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी ने नरक के सम्बन्ध में अपने अनुभव श्री जम्बूस्वामी आदि को बताते हुए कहा कि मैंने केवलज्ञानी महर्षि भगवान् महावीर के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की थी—"भगवन् ! मैं नरक और वहाँ होने वाले तीव्र संतापों और यातनाओं से अनभिज्ञ हूँ। आप सर्वज्ञ हैं। आपसे त्रिकाल-त्रिलोक की कोई भी बात छिपी नहीं है। आपको अनुकूल-प्रतिकूल अनेक उपसर्गों को सहन करने का अनुभव है। आप समस्त जीवों की गति-आगति, क्रिया-प्रतिक्रिया, वृत्ति-प्रवृत्ति आदि को भलीभाँति जानते हैं। अतः आप यह बताने की कृपा करें कि (१) नरक कैसी-कैसी पीड़ाओं से भरे हैं ? और (२) कौन जीव किन कारणों से नरक को प्राप्त करते हैं ?

समाधान : द्वितीय जिज्ञासा का—श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा—मेरे द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर महानुभाव, आशुप्रज्ञ एवं काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने (द्वितीय) जिज्ञासा का समाधान दो विभागों में किया—(१) नरकभूमि कैसी है ? (२) नरक में कौन-से प्राणी जाते हैं ?

सर्वप्रथम चार विशेषणों द्वारा नरकभूमि का स्वरूप बताया है—**'दुहमट्ठदुग्गं आदीणियं दुक्कडियं'**—अर्थात्—(१) नरक दुःखहेतुक (दुःख का कारण दुःख देने के लिए निमित्त रूप) हैं, या दुःखार्थ (दुःख-प्रयोजनभूत—केवल दुःख देने के लिए ही बना हुआ) है। अथवा दुःखरूप (बुरे कर्मों के फलों के कारण) है, अथवा नरक स्थान जीवों को दुःख देता है, इसलिए वह दुःखदायक है, या असातावेदनीय कर्म के उदय से मिलने के कारण नरकभूमि तीव्र- पीड़ारूप हैं, इसलिए यह दुःखमय है। (२) नरक दुर्ग है—नरक भूमि को पार करना दुर्गम होने से, तथा विषम एवं गहन होने से यह दुर्ग है। अथवा असर्वज्ञों द्वारा दुर्गम्य-दुर्विज्ञेय है, क्योंकि नरक को सिद्ध करने वाला कोई इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। (३) नरक आदीनिक—अत्यन्त दीन प्राणियों का निवास स्थान है। यानी चारों ओर दीन जीव निवास करते हैं। तथा (४) नरक दुष्कृतिक है, दुष्कृत-दुष्कर्म करने वाले जीव वहां रहते हैं, इसलिए दुष्कृतिक है, अथवा दुष्कृत (बुरा कर्म, पाप) या दुष्कृत (पाप) का फल विद्यमान रहता है, इसलिए वह दुष्कृतिक है। अथवा जिन पापीजनों ने पूर्व जन्म में दुष्कृत किये हैं, उनका यहाँ निवास होने के कारण नरक दुष्कृतिक कहलाता है।

इसके पश्चात् यह बताया गया है कि नरक में कौन-से प्राणी और किन कारणों से जाते हैं ?— तीन गाथाओं में इसका समाधान दिया है, जो (१) बाल है (२) रौद्र है (३) जीवितार्थ पापकर्म करते हैं, (४) अपने सुख के लिए त्रस-स्थावर प्राणियों की तीव्रतम रूप से हिंसा करते हैं, (५) जो निर्दयतापूर्वक प्राणियों का उपमर्दन करते हैं, (६) जो चोरी-अपहरण, लूटमार या डकैती द्वारा बिना दी हुई परवस्तु का हरण करते हैं, (७) जो सेवनीय संयम का जरा भी अभ्यास (सेवन) नहीं करते, (८) जो धृष्ट होकर बहुत-से प्राणियों का वध करते हैं, (९) जिनकी कषायाग्नि कभी शान्त नहीं होती, (१०) जो मूढ़ हर समय घात में लगा रहता है वह अन्तिम समय (जीवन के अन्तिम काल) में नीचे घोर अन्धकार (अन्धकारमय नरक) में जाता है, जहाँ नीचा सिर किये कठोर पीड़ा स्थान को पाता है। वह घोररूप है, गाढ़ अन्धकारमय है, तीव्र ताप युक्त है, जहाँ वह गिरता है।[1]

होती, जो जानवरों की कत्ल एवं मछलियों का वध करके अपनी जीविका चलाते हैं, जिनके परिणाम सदैव प्राणिवध करने के बने रहते हैं, जो कभी प्राणिवध आदि पापों से निवृत और शान्त नहीं होते, ऐसे पापकर्मी मूढ़ जीव अपने किये हुए पापकर्मों का फल भोगने के लिए नरक में जाते हैं। इसी तथ्य को शास्त्रकार ने संक्षेप में तीन गाथाओं में व्यक्त किया है—**'जे केई बाला····नरए पडंति' 'तिव्वंतसे···· सेयवियस्स किंचि'**, और **'पागब्भिपाणे····घातमुवेति बाले ।'**[2]

वे पापी कैसे-कैसे नरक में जाते हैं ?—नरक तो नरक ही है, दुःखागार है, फिर भी पापकर्म की तीव्रता-मन्दता के अनुसार तीव्र-मन्द पीड़ा वाली नरकभूमि उन नरकयोग्य जीवों को मिलती है। प्रस्तुत में सूत्र गाथ ३०२ और ३०४ में विशिष्ट पापकर्मियों के लिए विशिष्ट नरकप्राप्ति का वर्णन किया गया है—(१) **ते घोररूवे तमिसंधयारे तिव्वाभितावे नरए पडंति'** तथा (२) **णिहो णिसं गच्छइ अंतकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ।'**—पहले प्रकार के पापकर्मी एवं रौद्र बालजीव जिस प्रकार के नरक में गिरते हैं, उसके तीन विशेषण शास्त्रकार ने प्रयुक्त किये हैं—(१) घोर रूप, (२) तमिस्रान्धकार (३) तीव्राभिताप। नरक में इतने विकराल एवं क्रूर आकृति वाले प्राणी एवं परमाधार्मिक असुर हैं, तथा विकराल दृश्य हैं, इस कारण नरक को **घोररूप** कहते हैं। नरक में अन्धकार इतना गाढ़ और घोर है कि वहाँ हाथ को हाथ नहीं सूझता, अपनी आँखों से अपना शरीर भी नहीं दिखाई देता। जैसे उल्लू दिन में बहुत ही कम देखता है, वैसे ही नारकीय अवधि (या विभंग) ज्ञान से भी दिन में मन्द-मन्द देख सकता है। इस संबंध में आगम-प्रमाण भी मिलता है। इसके अतिरिक्त नरक में इतना तीव्र दुःसह ताप (गर्मी) है उसे शास्त्रकार खैर के धधकते लाल-लाल अंगारों को महाराशि से भी अनन्तगुना अधिक ताप बताते हैं।

चौथी और पांचवी गाथा में बताए अनुसार जो पापकर्म करते हैं, वे नरक-योग्य जीव अपने मृत्यु काल में नीचे ऐसे नरक में जाते हैं, जहाँ घोर निशा है, अर्थात्—जहाँ उन्हें द्रव्यप्रकाश भी नहीं मिलता और ज्ञानरूप भावप्रकाश भी नहीं। वे नारकीय जीव अपने किये हुए पापकर्मों के कारण नीचा सिर करके भयंकर दुर्गम यातनास्थान में जा पहुंचते हैं, अर्थात्—ऐसे घोर अन्धकारयुक्त नरक में जा गिरते हैं, जहाँ गुफा में घुसने की तरह सिर नीचा करके जीव जाता है।[3]

नारकों को भयंकर वेदनाएँ—

३०५. **हण छिंदह भिंदह णं दहद, सद्दे सुणेत्ता परधम्मियाणं ।**
ते नारगा ऊ भयभिन्नसण्णा, कंखंति कं नाम दिसं वयामो ॥ ६ ॥

३०६. **इंगालरासिं जलियं सजोतिं, ततोवमं भूमि अणोक्कमंता ।**
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ॥ ७ ॥

३०७. **जइ ते सुता वेतरणीऽभिदुग्गा, निसितो जहा खुर इव तिक्खसोता ।**
तरंति ते वेयरणिं भिदुग्गं, उसुचोदिता सत्तिसु हम्ममाणा ॥ ८ ॥

---

२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२६-१२७

३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२६-१२७

३०८ कोलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उवेंते सतिविप्पहूणा ।
अन्ने त्थ सूलाहिं तिसूलियाहिं, दीहाहिं विद्धूण अहे करेंति ॥ ९ ॥

३०९. केसिंच बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलेंति महालयंसि ।
कलंबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलेंति पच्चंति या तत्थ अन्ने ॥ १० ॥

३१०. असूरियं नाम महब्भितावं, अंधंतमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, समाहितो जत्थऽगणी झियाति ॥ ११ ॥

३११. जंसि गुहाए जलणेऽतियट्टे, अजाणओ डज्झति लुत्तपण्णे ।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥ १२ ॥

३१२. चत्तारि अगणीओ सभारभित्ता, जहिं कूरकम्माऽभितवेंति बालं ।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा, मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता ॥ १३ ॥

३१३. संतच्छणं नाम महब्भितावं, ते नारगा जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, फलगं व तच्छेंति कुहाडहत्था ॥ १४ ॥

३१४. रुहिरे पुणो वच्चसमूसियंगे, भिन्नुत्तमंगे परियत्तयंता ।
पयंति णं णेरइए फुरंते, सजीवमच्छे व अओकवल्ले ॥ १५ ॥

३१५. णो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जती तिव्वभिवेदणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता, दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥ १६ ॥

३१६. तहिं च ते लोलणसंपगाढे, गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
न तत्थ सातं लभतीऽभिदुग्गे, अरहिताभितावा तह वी तवेंति ॥ १७ ॥

३१७. से सुव्वती नगरवहे व सद्दे, दुहोवणीताण पदाण तत्थ ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥ १८ ॥

३१८. पाणेहि णं पाव विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
दंडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहिं दंडेहिं पुराकएहिं ॥ १९ ॥

३१९. ते हम्ममाणा णरए पडंति, पुण्णे दुरूवस्स महब्भितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगता किमीहिं ॥ २० ॥

३२०. सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥ २१ ॥

३२१. छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमेत्तं, तिक्खाहिं सूलाहिं तिवातयंति ॥ २२ ॥

३२२. ते तिप्पमाणा तलसंपुड व्व, रातिंदियं जत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणितपूयमंसं, पज्जोविता खारपदिद्धितंगा ॥ २३ ॥

३२३. जइ ते सुता लोहितपूयपाइ, बालागणीतेयगुणा परेणं ।
कुम्भी महंताधियपोरुसीया, समूसिता लोहितपूयपुण्णा ॥ २४ ॥

३२४. पविखप्प तासुं पपयंति बाले, अट्टस्सरं ते कलुणं रसंते ।
तण्हाइता ते तउ तंबतत्तं, पज्जिज्जमाणऽट्टतरं रसंति ॥ २५ ॥

३०५ नरक में उत्पन्न वे प्राणी (अन्तर्मुहूर्त में शरीर धारण करते ही) मारो, काटो (छेदन करो) भेदन करो, 'जलाओ' इस प्रकार परमाधार्मिकों के (कठोर) शब्द सुनकर भय से संज्ञाहीन हुए चाहते है कि हम किस दिशा में भाग जाएँ।

३०६. जलती हुई अंगारों की राशि तथा ज्योति (प्रकाशित होती हुई ज्वाला) सहित तप्त भूमि के सदृश (अत्यन्त गर्म) नरक भूमि पर चलते हुए अतएव जलते हुए वे नरक के जीव करुण रुदन करते हैं। उनकी करुण ध्वनि स्पष्ट मालूम होती है। ऐसे घोर नरकस्थान में (इसी स्थिति में) वे चिरकाल तक निवास करते हैं।

३०७. तेज उस्तरे (क्षुर) की तरह तीक्ष्ण धारा वाली अतिदुर्गम वैतरणी नदी का नाम शायद तुमने सुना होगा, वे नारकीय जीव वैतरणी नदी को इस प्रकार पार करते हैं, मानो बाण मार कर प्रेरित किये हुए हो, या भाले से बींधकर चलाये हुए हो।

३०८. नौका (पर चढ़ने के लिए उस) के पास आते ही नारकी जीवों के कण्ठ में असाधु कर्म्मा (परमाधार्मिक) कील चुभोते हैं, (इससे) वे (नारकीय जीव) स्मृति विहीन (होकर किंकर्तव्य विमूढ़) हो जाते हैं, तब दूसरे नरकपाल उन्हें (नारकों को) लम्बे-लम्बे शूलों और त्रिशूलों से बींधकर नीचे (जमीन पर) पटक देते हैं।

३०९. किन्हीं नारकों के गले में शिलाएँ बाँधकर उन्हें अगाध जल में डुबा देते हैं। वहाँ दूसरे परमाधार्मिक उन्हें अत्यन्त तपी हुई कलम्बुपुष्प के समान लाल सूर्ख रेत में और मुर्मुराग्नि में इधर-उधर फिराते हैं और पकाते (भूंजते) हैं।

३१०. जिसमें सूर्य नहीं है, ऐसा असूर्य नामक नरक महाताप से युक्त है तथा जो घोर अन्धकार से पूर्ण है, दुष्प्रतर (दुःख से पार करने योग्य) है, तथा बहुत बड़ा है, जिसमें ऊपर नीची एवं तिरछी (सर्व) दिशाओं में प्रज्वलित आग निरन्तर जलती रहती है।

३११. जिस नरक में गुफा (के आकार) में स्थापित अग्नि में अतिवृत्त (धकेला हुआ) नारक अपने

पाप को नहीं जानता हुआ संज्ञाहीन होकर जलता रहता है। (वह नरक) सदैव करुणाप्राय है, सम्पूर्ण ताप का स्थान है, जो पापी जीवों को बलात् (अनिवार्य रूप से विवशता से) मिलता है, उसका स्वभाव ही अत्यन्त दुःख देना है।

३१२. जिस नरकभूमि में क्रूरकर्म करने वाले (परमाधार्मिक असुर) (चारों दिशाओं में) चार अग्नियाँ जलाकर अज्ञानी नारक को तपाते हैं। वे नारकी जीव जीते-जी आग में डाली हुई मछलियों की तरह ताप पाते-तड़फड़ाते हुए उसी जगह पड़े रहते हैं।

३१३. (वहाँ) संतक्षण नामक एक महान् ताप देने वाला नरक है, जहाँ बुरे कर्म करने वाले वे (नारक) नरकपाल हाथों में कुल्हाडी लिये हुए उनके (नारकों के) हाथों और पैरों को बांधकर लकड़ी के तख्ते की तरह छीलते हैं।

३१४. फिर रक्त से लिप्त जिनके शरीर के अंग मल से सूज (फूल) गये हैं, तथा जिनका सिर चूर-चूर कर दिया गया है, और जो (पीड़ा के मारे) छटपटा रहे हैं, ऐसे नारकी जीवों को परमाधार्मिक असुर (ऊपर-नीचे) उलट-पलट करते हुए जीवित मछली की तरह लोहे की कडाही में (डालकर) पकाते हैं।

३१५. वे नारकी जीव उस नरक (की आग) में (जलकर) भस्म नहीं हो जाते और न वहाँ की तीव्र वेदना (पीड़ा) से मरते हैं, किन्तु नरक की उस वेदना को भोगते हुए वे वहीं रहते हैं और इस लोक में किये हुए दुष्कृत—पाप के कारण वे दुःखी होकर वहाँ दुःख पाते रहते हैं।

३१६. नारकी जीवों के संचार से अत्यन्त व्याप्त (भरे हुए) उस नरक में तीव्ररूप से अच्छी तरह तपी हुई अग्नि के पास जब वे नारक जाते हैं, तब उस अतिदुर्गम अग्नि में वे सुख नहीं पाते। (यद्यपि वे नारक) तीव्र ताप से रहित नहीं होते, तथापि नरकपाल उन्हें और अधिक तपाते हैं।

३१७. इसके पश्चात् उस नरक में नगरवध (शहर में कत्लेआम) से समय होने वाले कोलाहल के से शब्द तथा दुःख से भरे (करुणाजनक) शब्द भी (सुनाई पड़ते हैं।) जिनके मिथ्यात्वादि-जनित कर्म उदय में आए हैं, वे (परमाधार्मिक नरकपाल) जिनके पापकर्म उदय (फल देने की) दशा में आये हुए हैं, उन नारकी जीवों को बड़े उत्साह के साथ बार-बार दुःख देते हैं।

३१८. पापी नरकपाल नारकी जीवों के प्राणों का पांच इन्द्रियों, मन-वचन-कायाबल आदि प्राणों-अवयवों को काट कर अलग-अलग कर देते हैं, इसका कारण मैं तुम्हें यथातथ्य (यथार्थ) रूप से बताता हूँ। अज्ञानी नरकपाल नारकी जीवों को दण्ड देकर उन्हें उनके पूर्वकृत सभी पापों का स्मरण कराते हैं।

३१९. परमाधार्मिकों द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव महासन्ताप देने वाले विष्ठा और मूत्र आदि वीभत्सरूपों से पूर्ण दूसरे नरक में गिरते हैं। वे वहाँ विष्ठा, मूत्र आदि का भक्षण करते हुए चिरकाल (बहुत लम्बे आयुष्यकाल) तक कर्मों के वश होकर रहते हैं और कृमियों (कीड़ों) के द्वारा काटे जाते हैं।

३२०. नारकी जीवों के रहने का सारा का सारा स्थान सदा गर्म रहता है, और वह स्थान उन्हें गाढ़ बन्धन से बद्ध (निधत्त-निकाचित) कर्मों के कारण प्राप्त होता है। अत्यन्त दुःख देना ही उस स्थान का धर्म–स्वभाव है। नरकपाल नारकी जीवों के शरीर को बेड़ी आदि में डाल कर, उनके शरीर को तोड़-मरोड़ कर और उनके मस्तक में छिद्र करके उन्हें सन्ताप देते हैं।

३२१. नरकपाल अविवेकी नारकी जीव की नासिका को उस्तरे से काट डालते हैं, तथा उनके ओठ और दोनों कान भी काट लेते हैं और उनकी जीभ को एक बित्ताभर बाहर खींचकर उसमें तीखे शूल भोंककर उन्हें सन्ताप देते हैं।

३२२. उन (नारकी जीवों) के (कटे हुए नाक, औठ, जीभ आदि) अंगों से सतत खून टपकता रहता है, (इस भयंकर पीड़ा के मारे) वे विवेकमूढ़ सूखे हुए ताल (ताड़) के पत्तों के समान रातदिन वहाँ (नरक में) रोते-चिल्लाते रहते हैं। तथा उन्हें आग में जलाकर फिर उनके अंगों पर खार (नमक आदि) लगा दिया जाता है, जिससे उनके अंगों से मवाद, मांस और रक्त चूते रहते हैं।

३२३-३२४. रक्त और मवाद को पकाने वाली, नवप्रज्वलित अग्नि के तेज से युक्त होने से अत्यन्त दुःसहताप युक्त, पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाणवाली, ऊँची, बड़ी भारी एवं रक्त तथा मवाद से भरी हुई कुम्भी का नाम कदाचित् तुमने सुना होगा।

आर्तनाद करते हुए तथा करुण रुदन करते हुए उन अज्ञानी नारकों को नरकपाल उन (रक्त एवं मवाद से परिपूर्ण) कुम्भियों में डालकर पकाते हैं। प्यास से व्याकुल उन नारकी जीवों को नरकपालों द्वारा गर्म (करके पिघाला हुआ) सीसा और ताम्बा पिलाये जाने पर वे आर्त्तस्वर से चिल्लाते हैं।

विवेचन....नरक में नारकों को प्राप्त होने वाली भयंकर वेदनाएं—सूत्रगाथा ३०५ से ३२४ तक बीस गाथाओं में नरक में नारकी जीवों को अपने पूर्वकृत पापकर्मानुसार दण्ड के रूप में मिलने वाले विभिन्न दुःखों और पीड़ाओं का करुण वर्णन है। नारकों को मिलने वाले भयंकर दुःखों को दो विभागों में बांटा जा सकता है—(१) क्षेत्रजन्य दुःख और (२) परमाधार्मिककृत दुःख।

क्षेत्रजन्य दुःख—क्षेत्रजन्य दुःख नरक में यत्र-तत्र-सर्वत्र है। वहाँ के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सभी अमनोज्ञ, अनिष्ट, दुःखद एवं दुःसह्य होते हैं। शास्त्रकार द्वारा इस उद्देशक में वर्णित शब्दादि जन्य दुःखों का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—अमनोज्ञ भयंकर दुःसह शब्द—तिर्यञ्च और मनुष्य भव का त्याग कर नरकयोग्य प्राणियों की अण्डे से निकले हुए रोम पक्षविहीन पक्षी की तरह नरक में अन्तमुहूर्त में शरीरोत्पत्ति होती है, तत्पश्चात् ज्योंही वे पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, त्यों ही उनके कानों में परमाधार्मिकों के भयंकर अनिष्ट शब्द पड़ते हैं—यह पापी महारम्भ-महापरिग्रह आदि पापकर्म करके आया है, इसलिए इसे मुद्गर आदि से मारो, तलवार आदि से काटो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो, इसे शूल आदि से वींध दो, भाले में पिरो दो, इसे आग में झौंक कर जला दो; ये और इस प्रकार के कर्णकटु मर्मवेधी भयंकर शब्दों को सुनते ही उनका कलेजा कांप उठता है, वे भय के मारे बेहोश हो जाते हैं। होश में आते ही किंकर्तव्य विमूढ़ एवं भय-विह्वल होकर मन ही मन सोचते हैं कि अब कहाँ किस दिशा में भागें, कहाँ हमारी रक्षा होगी? कहाँ हमें शरण मिलेगी? हम इस दारुणदुःख से कैसे छुटकारा

पायेंगे ? इस प्रकार का शब्दजन्य दुःख नरक में है। जिसके लिए सूत्रगाथा ३०५ में शास्त्रकार कहते हैं—"**हण छिंदह**···**कं नाम दिसं वयामो ?**"

नरक में होने वाला नगरवध-सा भयंकर कोलाहल—नरक के जीवों पर जब शीत, उष्ण आदि के भयंकर क्षेत्रीय दुःख, पारस्परिक दुःख और परमाधार्मिक कृत दुःखों का पहाड़ टूट पड़ता है, तब वे करुण आर्तनाद करते हैं—हेमात ! हे तात ! बड़ा कष्ट है ! मैं अनाथ और अशरण हूँ, कहाँ जाऊँ ? कैसे इस कष्ट से बचूं ? मेरी रक्षा करो ! इस प्रकार के करुणाजनक शब्दों में वे पुकार करते हैं। उस समय का चीत्कार नगर में होने वाले सामूहिक हत्याकाण्ड की तरह इतना भयंकर व डरावना होता है कि उसे सुनकर कान के पर्दे फट जाते हैं। वास्तव में नरक का वह कोलाहल नगरवध के समय होने वाले कोलाहल से भी कई गुना बढ़कर तेज, दुःसह, मर्मभेदी, करुणोत्पादक एवं अति दुःखद होता है।

नरक में अनिष्ट कुरूपजन्य दुःख—यों तो नरक में नारकों को भोंडे, भद्दे कुरूप शरीर मिलते हैं, उनकी एवं परमाधार्मिकों की डरावनी क्रूर आकृति से भी उन्हें वास्ता पड़ता है। इसके अतिरिक्त नरकभूमियों का दृश्य भी अत्यन्त भयावह होता है, वह भी नारकों के मानस में अत्यन्त दुःख उत्पन्न करता है। शास्त्रकार ने इस उद्देशक में नरक के भयंकर रूप सम्बन्धी चर्चा सूत्रगाथा ३१० में की है।

(१) **सघन अन्धकार पूर्ण दुस्तर और विशाल नरक**—असूर्य नाम का एक नरक है, जहाँ सूर्य बिलकुल नहीं होता। यों तो सभी नरकों को असूर्य कहते हैं। असूर्य होने के कारण नरक घोर अन्धकार पूर्ण होता है, तथापि वह प्रचण्ड तम से युक्त होता है। नरक इतना दुस्तर होता है कि उसका ओर-छोर नहीं दिखता। इतना विशाल और दीर्घ होने के कारण उसे पार करना कठिन होता है। ऐसे विशाल लम्बे, चौड़े और गहरे नरक में पापी प्राणी जाते हैं, रहते हैं, स्वकृत पापकर्मों का दुःखद फल भोगते हैं। साथ ही वहाँ ऊँची, नीची एवं तिरछी सभी दिशाओं में व्यवस्थित रूप से लगाई गई आग निरंतर जलती रहती हैं। उस आग की लपटें दूर-दूर तक ऊपर उठती हैं। बेचारे नारक जीव वहाँ के इस भयंकर दृश्य को देख एक क्षण भी कैसे चैन से रह सकते हैं ? शास्त्रकार कहते हैं—'**असूरियं नाम**···**अंधंतमं दुप्पतरं महंतं**···**जत्थऽगणी झियाति।**

रक्त और मवाद से परिपूर्ण कुम्भी : बीभत्स—सामान्य मनुष्य को यदि थोड़ी-सी देर के लिए भी खून और मवाद से भरी कोठरी या भूमि में छोड़ दिया जाए तो वह उसकी दुर्गन्ध को सह नहीं सकेगा, उसकी नाक फट जाएगी, दुर्गन्ध के मारे। उसे वह दुःख असह्य प्रतीत होगा, किन्तु नरक में तो कोसों तक भूमि, मूत्र, खून, मवाद एवं विष्ठा की कीचड़ से लथपथ है। दूर-दूर तक उसकी बदबू उठती है। प्रस्तुत उद्देशक में सूत्र गाथा ३२३ में एक कुम्भी का वर्णन किया गया है, जो देखने में भी अत्यन्त घृणास्पद और बीभत्स है, उसकी दुर्गन्ध भी असह्य होती है, क्योंकि वह रक्त और मवाद से लबालब भरी होती हैं, वह पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाण वाली ऊँट के आकार की बहुत ऊँची होती है। वह कुम्भी चारों ओर तीव्र आग से जलती रहती है। रोते-चिल्लाते नारकों को उस कुम्भी में जबरन डालकर पकाया जाता है। दुर्गन्ध का कितना दारुण दुःसह दुःख होता होगा उन नारकों को ? शास्त्रकार उस कुम्भी का वर्णन करते हुए कहते हैं—"**जइ ते सुता**··· ···**लोहितपूयपुण्णा।**"

नरक में मल-मूत्र आदि का भक्षण : कितना असह्य रसास्वाद ?—नरक में नारकीय जीवों को रहने के लिए मल-मूत्र, मवाद आदि गंदी वस्तुओं से भरे स्थान मिलते हैं। नरक की कालकोठरी जेल की कालकोठरी से अनन्त गुना अधिक भयंकर होती है वहाँ नारकों को खाने-पीने के लिए मल, मूत्र, मवाद, रक्त आदि घिनौनी कुरूप वस्तुएँ मिलती हैं। इसी प्रकार की घिनौनी चीजों का भक्षण करते हुए एवं बीभत्स स्थान में रहते हुए नारकी जीव रिबरिबकर अपनी लम्बी आयु (कम से कम १० हजार वर्ष की, अधिक से अधिक ३३ सागरोपम तक की दीर्घकालिक) पूरी करते हैं। उन मल, मूत्र, रक्त एवं मवाद आदि में भयानक कीड़े उत्पन्न होते हैं, जो नारकों को रात-दिन काटते रहते हैं। यह है—नरक में रसादि जन्य तीव्र दुःख ! शास्त्रकार कहते हैं—"ते हम्ममाणा''' दुरूवस्स '''दुक्खभक्खी'''तुदंति '''किमीहिं।"

दुःसह स्पर्शजन्य तीव्र वेदना—नरक में स्पर्शजन्य दुःख तो पद-पद पर है। वह स्पर्श अत्यन्त दुःसह और दारुण दुःखद होता है। शास्त्रकार ने सू० गा० ३०६, ३०७, ३११, ३१६, ३२० एवं ३२४ में नारकों को पापकर्मोदयवश प्राप्त होने वाले दुःसह स्पर्शजन्य दुःख की झाँकी प्रस्तुत की है।

(१) **नरक की तप्त भूमि का स्पर्श कैसा और कितना दुःखदायी ?**—नरक की भूमि को शास्त्रकार ने खैर के धधकते अंगारों की राशि की, तथा जाज्वल्यमान अग्निसहित पृथ्वी की उपमा दी है। इन दोनों प्रकार की-सी तपतपाती नरकभूमि होती है, जिस पर चलते और जलते हुए नारकीय जीव जोर-जोर से करुण क्रन्दन करते हैं। यहाँ नरकभूमि की तुलना इस लोक की बादरअग्नि से की गई है। परन्तु वास्तव में यह तुलना केवल समझाने के लिए है, नरक का ताप तो इस लोक के ताप से कई गुना अधिक है। अतः महानगर के दाह से भी कई गुने अधिक ताप में नारक रोते-विलखते हैं। ऐसी स्थिति में वे अपनी आयुपर्यन्त रहते हैं। यही बात शास्त्रकार सू० गा० ३०६ में कहते हैं—"इंगालरासिं''''तत्थ चिरट्ठितीया।"

नरक में गुहाकार अग्नि में सदा जलते हुए नारक—नरक में गुफानुमा नरकभूमि में आग ही आग चारों ओर रखी होती है। बेचारे नारक पापकर्मोदयवश उससे अनभिज्ञ होते हैं, वे बलात् इस अग्निमयी भूमि में धकेल दिये जाते हैं, जहाँ वे उस पूर्णतापयुक्त करुणाजनक स्थान में संज्ञाहीन होकर जलते रहते हैं। वह स्थान नारकों को अपने पूर्वकृतपापकर्मवश अवश्य ही मिलता है, उष्णस्पर्शमय वह स्थान स्वभाव से ही अतिदुःखद होता है। एक पलक मारने जितना समय भी यहाँ सुख में नहीं बीतता। सदैव दुःख ही दुःख भोगते रहना पड़ता है।

अत्यन्त शीतस्पर्श से बचने का उपाय भी कितना दुःखद ?—नारकी जीव नरक के भयंकर दुःसह शीत के दुःख से बचने के लिए अत्यन्त प्रदीप्त सुतप्त अग्नि के पास जाते हैं। परन्तु वह आग तो अत्यन्त दाहक होती है। बेचारे गये थे सुख की आशा से, किन्तु वहाँ पहले से भी अधिक दुःख मिलता है, वे नरक की उस प्रचण्ड (तीव्रताप युक्त) आग में जलने लगते हैं, जरा भी सुख नहीं पाते। फिर ऊपर से नरकपाल उन तपे हुए नारकों को और अधिक ताप तरह-तरह से देते रहते हैं। यही तथ्य शास्त्रकार ने ३१६ सू० गा० में व्यक्त किया है—"तहिं च ते '' गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति '''तह वी तवेंति।"

सदैव पूर्णतया उष्ण नरकस्थान : दुःखों से परिपूर्ण—नारकों के आवासस्थान का कोई भी कोना ऐसा नहीं होता, जो गर्म न हो। समूचा स्थान सदैव उष्ण रहता है। उसमें नरक के जीव सदा सिकते रहते हैं। उस स्थान का तापमान बहुत अधिक होता हैं। वहाँ का सारा वायुमण्डल तापयुक्त एवं दुःखमय

होता है। सुख उन्हें कहीं ढूंढे भी नहीं मिलता, क्योंकि नरकभूमि का स्वभाव ही दुःख देना है। यह दुःखद स्थान नारकों को गाढबन्धन (निधत्त-निकाचितरूप बन्धन) से बद्ध कर्मों के वश मिलता है। यही बात सू० गा० ३२० के पूर्वार्द्ध में स्पष्ट बताई है—**सदा कसिणं पुण घम्मट्ठाणं गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं।**"

वैतरणी नदी की तीक्ष्ण जलधारा का स्पर्श कितना दुःखदायी ?—वैतरणी नरक की मुख्य विशाल नदी है। उसमें रक्त के समान खारा और गर्म जल बहता रहता है। उसकी जलधारा उस्तरे के समान बड़ी तेज है। उस तीक्ष्ण धारा के लग जाने में नारकों के अंग कट जाते हैं। यह नदी बहुत ही गहन एवं दुर्गम है। नारकी जीव अपनी गर्मी और प्यास को मिटाने हेतु इस नदी में कूदते हैं, तो उन्हें भयंकर दुःखों का सामना करना पड़ता है। कई बार बैलों को आरा भौंककर चलाये जाने या भाले से बींधकर चलाये जाने की तरह नारकों को सताकर इस नदी में कूदने और इसे पार करने को बाध्य कर दिया जाता है। कितना दारुण दुःख है—तीक्ष्ण स्पर्श का और विवशता का। इसी तथ्य को शास्त्रकार व्यक्त करते हैं—**'जइ ते सुया वेयरणी'''''''खुर इवतिक्खसोया''''''''सत्तिसु हम्ममाणा।'**

परमाधार्मिक कृत दुःख और भी भयंकर—जब से कोई जीव नरक में जाता है, तभी से परमाधार्मिक असुर उसके पीछे भूत की तरह लग जाते हैं, और तीसरे नरक तक वे आयु पूर्ण होने तक उसके पीछे लगे रहते हैं, वे तरह-तरह से उस नारक को यातनाएँ देते रहते हैं। वे परमाधार्मिक १५ प्रकार के हैं, जिनका परिचय अध्ययन के प्राथमिक में दिया गया है। नरक में नारकी जीव के उत्पन्न होते ही वे मारो, काटो, जला दो, तोड़ दो आदि शब्दों से नारक को भयभीत और संज्ञाशून्य कर देते हैं। शास्त्रकार ने इन नरकपालों द्वारा नारकों को दिये जाने वाले दुःख की संक्षिप्त झांकी इस उद्देशक की सू० गा० ३०५, ३०७, ३०८, ३०९, ३१२, ३१३, ३१४, ३१६, ३१७, ३१८, ३२१, ३२२ तथा ३२४ में दी हैं।[४]

संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है—(१) नरक में उत्पन्न होते ही नारक को ये भयंकर शब्दों से भयभीत कर देते हैं, (२) वैतरणी नदी में बलात् कूदने और तैरने को बाध्य कर देते हैं। (३) नौका पर चढ़ते समय नारकों के गले में कील भौंककर स्मृति रहित कर देते हैं, (४) लम्बे शूलों और त्रिशूलों से बींध कर जमीन पर पटक देते हैं, (५) नारकों के गले में शिलाएँ बाँधकर अगाध जल में डुबो देते हैं, (६) तपी हुई रेत, या भाड़ की तरह तपी हुई आग में डालकर पकाते हैं, फेरते हैं, (७) चारों दिशाओं में चार अग्नियाँ लगाकर नारकों को तपाते हैं, (८) नारकों के हाथ पैर बांधकर उन्हें कुल्हाड़े से काटते हैं, (९) नारकों का सिर चूर-चूरकर देते हैं, अंग मल से फूल जाता है। (१०) पीड़ा से छटपटाते हुए नारकों को उलट-पलट करके जीवित मछली की तरह लोहे की कड़ाही में पकाते हैं, (११) नारकी जीवों को बार-बार तीव्र वेग से पीड़ित करते हैं। (१२) पापी परमाधर्मिक नारकों के विविध प्राण—अंगोपांग काटकर अलग-अलग कर देते हैं, (१३) पापात्मा परमाधार्मिक असुर पूर्वजन्म में नारकों द्वारा किये गए दण्डनीय पापकर्मों को याद दिलाकर उनके पापकर्मानुसार दण्ड देते हैं। (१४) नरकपालों की मार खाकर हैरान नारक मल-मूत्रादि बीभत्स रूपों से पूर्ण नरक में गिरते हैं, (१५) नारकों के शरीर को बेड़ी आदि बंधनों में जकड़ कर उनके अंगोपांगों को तोड़ते-मरोड़ते हैं, मस्तक में छेद करके पीड़ा देते हैं, (१६) नारकों के नाक, कान और ओठ को उस्तरे से काट डालते हैं। (१७) जीभ एक बित्ताभर

४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक के आधार पर

बाहर खींचकर उसमें तीखे शूल भौंककर अत्यन्त दुःख देते हैं। (१८) जिन कटे हुए अंगों से रक्त, मवाद और मांस चूते रहते हैं, उन पर ये असुर खार छिड़कते रहते हैं, (१९) रक्त और मवाद से भरी कुम्भियों में डालकर आर्तनाद करते हुए नारकों को पकाते हैं, (२०) पिपासाकुल नारकों को ये बलात् गर्म किया हुआ सीसा और ताँबा पिलाते हैं।

ये और इस प्रकार की विविध यातनाएँ परमाधार्मिक नरकपाल नारकों को देते रहते हैं। उन्हें नारकों को दुःख देने में आनन्द आता है। वे नारकों को उनके पूर्वजन्म कृत पापकर्मों का इस प्रकार स्मरण दिलाते हैं—'मूर्ख ! तू बड़े हर्ष के साथ प्राणियों का मांस निर्दयतापूर्वक काट-काटकर खाता था, उनका रक्त पीता था, तथा मदिरापान एवं परस्त्री गमन आदि कुकर्म करता था। अपने किये हुए पाप-कर्मों को याद कर अब उन पापकर्मों का फल भोगते समय क्यों रोता-चिल्लाता है ?

न भस्मीभूत, न मृत, चिरकाल तक दुःखित - जब उन नारकों को नरकपाल आग में डालते हैं, उनके अंग तोड़फोड़ डालते हैं, उन्हें इतने जोर से मारते-पीटते, शूलों से बींधते काटते-छेदते हैं, तब वे भस्मीभूत या मृत हो जाते होंगे ? इस शंका के समाधानार्थ शास्त्रकार सू० गा० ३१५ में कहते हैं—**"नो चेव ते तत्थ मसीभवंति दुक्खी इह दुक्कडेंण।"** इसका आशय यह है कि इतनी वर्णनातीत अनुपमेय वेदना का अनुभव करते हुए भी जब तक अपने कर्मों का फल भोग शेष रहता है, या आयुष्य बाकी रहता है, तब तक वे न तो भस्म होते हैं और न ही वे मरते हैं। जिस नारक का जितना आयुष्य है उतने समय तक नरक के तीव्र से तीव्र दुःख उन्हें भोगने ही पड़ते हैं।[५]

पाठान्तर और व्याख्या—'कोलेहिं विज्झंति'=चूर्णिकार के अनुसार—**'कोलो नाम गलओ'** कोल मछली पकड़ने वाले कांटे या किसी अस्त्र विशेष का नाम है। तदनुसार अर्थ होता है—मछली पकड़ने वाले कांटो से या अस्त्र विशेष से बींध डालते हैं, वृत्तिकार के अनुसार पाठान्तर है—**कीलेहिं विज्झंति**—अर्थ किया गया है—**'कीलेषु कण्ठेषु विध्यन्ति'**—कण्ठो में (कीलें) चुभो देते हैं। **'सजीव मच्छे व अओकवल्ले'**= जीती हुई मछली की तरह लोह की कड़ाहो में; चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'सज्जोव्व मच्छे व अओकवल्ले'**। **'सज्जोमच्छे'** के चूर्णिकार ने दो अर्थ किये हैं—(१) जीता हुआ मत्स्य, और (२) सद्यः तत्काल मरा हुआ मत्स्य। उसकी तरह लोह के कड़ाह में तड़फड़ाता हुआ। **तहिं च ते लोलण-संपगाढे**—वृत्तिकार के अनुसार—नारकों की हलचल से भरे (व्याप्त) उस महायातना स्थान नरक में वे (नारक), चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'तहिं पि ते लोलुअसंपगाढे**—दुःख से चंचल—लोलुप नामक उस नरक में अत्यन्त गाढ़—निरन्तर यानी उस लोलुय नरक में भी ठसाठस भरे हुए वे नारक। **'सरहं दुहेंति'**=वृत्तिकार के अनुसार नारकों को वे सोत्साह दुःख देते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'सहरिसं दुहंति'**—अर्थ होता है—सहर्ष दुःख देते है। **'अंदूसु'**—बेड़ियो में। **तलसंपुडव्व**—वृत्तिकार के अनुसार हवा से प्रेरित ताल (ताड़) के पत्तों के ढेर की तरह। चूर्णिकार सम्मत पाठ है—**तलसंपुडच्च**—हथेली से बंधी हुई या हाथों में ली हुई अर्चा यानी देह (यहाँ शरीर को अर्चा कहा गया है) वाले। **पययंति** (पपतंति)=जोर से गिराते हैं। वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**पययंति=प्रपचंति**—अच्छी तरह से पकाते है।[६]

---

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक का सारांश

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ५५ से ५७

नरक में नारक क्या खोते क्या पाते ?

३२५. अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्व सते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा, जहा कडे कम्मे तहा सि भारे ॥ २६ ॥

३२६. समज्जिणित्ता कलुस अणज्जा, इट्ठे हि कंतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥ २७ ॥

३२५. इस मनुष्यभव में स्वयं ही स्वयं की वंचना करके तथा पूर्वकाल में सैकड़ों और हजारों अधम (व्याध आदि नीच) भवों को प्राप्त करके अनेक क्रूरकर्मी जीव उस नरक में रहते हैं। पूर्वजन्म में जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उस नारक को वेदनाएँ (भार) प्राप्त होती हैं।

३२६. अनार्य पुरुष पाप (कलुष) उपार्जन करके इष्ट और कान्त (प्रिय) (रूपादि विषयों) से रहित (वंचित) होकर कर्मों के वश हुए दुर्गन्धयुक्त, अशुभ स्पर्श वाले तथा मांस (रुधिर आदि) से परिपूर्ण कृष्ण (काले रूप वाले) नरक में आयुपूर्ण होने तक निवास करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—नरक में नारक क्या खोते, क्या पाते ?—प्रस्तुत सूत्रगाथा द्वय में इस उद्देशक का उपसंहार करके शास्त्रकार ने नरक में नारकीय जीवों के द्वारा खोने-पाने का संक्षेप में वर्णन किया हैं।

दोनो सूत्रगाथाओं में पूर्वकृत कर्मों के अनुसार नारकों के लाभ-हानि के निम्नोक्त तथ्य प्रकट किये गये हैं—(१) मनुष्यजन्म में जो लोग जरा-सी सुखप्राप्ति के लिए हिंसादि पापकर्म करके दूसरों को नहीं, अपने आपको ही वंचित करते, (२) वे उसी के फलस्वरूप सैकड़ों हजारों वार शिकारी, कसाई, आदि नीच योनियों में जन्म लेकर तदनन्तर यातना स्थान रूप नरक में निवास करते हैं, (३) जिसने जिस अध्यवसाय से जैसे जघन्य-जघन्यतर-जघन्यतम पापकर्म पूर्वजन्मों में किये हैं, तदनुसार ही उसे नरक में वैसी ही वेदनाएँ मिलती हैं। (४) वे अनार्य पुरुष अपने थोड़े-से सुखलाभ के लिए पापकर्मों का उपार्जन करते हैं। (५) उसके फलस्वरूप नरक में इष्ट, कान्त, मनोज्ञ रूप, रस गन्ध स्पर्श आदि विषयों से वंचित रहते हैं, और अनिष्ट रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि प्राप्त करके अपनी पूरी आयु तक नरक में दुःख भोगते रहते हैं।

जहा कडं कम्म तहासि भारे—इस पंक्ति का आशय यह है कि 'जैसा जिसका कर्म, वैसा ही फल' के सिद्धान्तानुसार नरक में नारकों को पीड़ा भोगनी पड़ती है। उदाहरणार्थ—जो लोग पूर्वजन्म में मांसाहारी थे, उन्हें नरक में उनका अपना ही मांस काटकर आग में पकाकर खिलाया जाता है, जो लोग मांस का रस पीते थे, उन्हें अपना ही मवाद एवं रक्त पिलाया जाता है, अथवा सीसा गर्म करके पिलाया जाता है तथा जो मच्छीमार वहेलिये आदि थे, उन्हें उसी प्रकार से मारा काटा एवं छेदा जाता है—जो असत्यवादी थे, उन्हें उनके पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों को याद दिलाकर उनकी जिह्वा काटी जाती है, जो पूर्वजन्म में परद्रव्यापहारक चोर, लुटेरे डाकू आदि थे, उनके अंगोपांग काटे जाते हैं, जो परस्त्रीगामी थे

बाहर खींचकर उसमें तीखे शूल भौंककर अत्यन्त दुःख देते हैं। (१८) जिन कटे हुए अंगों से रक्त, मवाद और मांस चूते रहते हैं, उन पर ये असुर खार छिड़कते रहते हैं, (१९) रक्त और मवाद से भरी कुम्भियों में डालकर आर्तनाद करते हुए नारकों को पकाते हैं, (२०) पिपासाकुल नारकों को ये बलात् गर्म किया हुआ सीसा और ताँबा पिलाते हैं।

ये और इस प्रकार की विविध यातनाएँ परमाधार्मिक नरकपाल नारकों को देते रहते हैं। उन्हें नारकों को दुःख देने में आनन्द आता है। वे नारकों को उनके पूर्वजन्म कृत पापकर्मों का इस प्रकार स्मरण दिलाते हैं—'मूर्ख ! तू बड़े हर्ष के साथ प्राणियों का मांस निर्दयतापूर्वक काट-काटकर खाता था, उनका रक्त पीता था, तथा मदिरापान एवं परस्त्री गमन आदि कुकर्म करता था। अपने किये हुए पाप-कर्मों को याद कर अब उन पापकर्मों का फल भोगते समय क्यों रोता-चिल्लाता है ?

न भस्मीभूत, न मृत, चिरकाल तक दुःखित - जब उन नारकों को नरकपाल आग में डालते हैं, उनके अंग तोड़फोड़ डालते हैं, उन्हें इतने जोर से मारते-पीटते, शूलों से बींधते काटते-छेदते हैं, तब वे भस्मीभूत या मृत हो जाते होंगे ? इस शंका के समाधानार्थ शास्त्रकार सू० गा० ३१५ में कहते हैं—**"नो चेव ते तत्थ मसीभवंति दुक्खी इह दुक्कडेण।"** इसका आशय यह है कि इतनी वर्णनातीत अनुपमेय वेदना का अनुभव करते हुए भी जब तक अपने कर्मों का फल भोग शेष रहता है, या आयुष्य बाकी रहता है, तब तक वे न तो भस्म होते हैं और न ही वे मरते हैं। जिस नारक का जितना आयुष्य है उतने समय तक नरक के तीव्र से तीव्र दुःख उन्हें भोगने ही पड़ते हैं।[५]

पाठान्तर और व्याख्या—'कोलेहि विज्झंति'=चूर्णिकार के अनुसार—**'कोलो नाम गलओ'** कोल मछली पकड़ने वाले कांटे या किसी अस्त्र विशेष का नाम है। तदनुसार अर्थ होता है—मछली पकड़ने वाले कांटो से या अस्त्र विशेष से बींध डालते हैं, वृत्तिकार के अनुसार पाठान्तर है—**कीलेहि विज्झंति**—अर्थ किया गया है—**'कीलेषु कण्ठेषु विध्यन्ति'**—कण्ठो में (कीलें) चुभो देते हैं। **'सजीव मच्छे व अओकवल्ले'**= जीती हुई मछली की तरह लोह की कड़ाही में; चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'सज्जोव्व मच्छे व अओकवल्ले'**। **'सज्जोमच्छे'** के चूर्णिकार ने दो अर्थ किये हैं—(१) जीता हुआ मत्स्य, और (२) सद्यः तत्काल मरा हुआ मत्स्य। उसकी तरह लोह के कड़ाह में तड़फड़ाता हुआ। **तंहि च ते लोलण-संपगाढे**—वृत्तिकार के अनुसार—नारकों की हलचल से भरे (व्याप्त) उस महायातना स्थान नरक में वे (नारक), चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'तंहि पि ते लोलुअसंपगाढे**—दुःख से चंचल—लोलुप नामक उस नरक में अत्यन्त गाढ़—निरन्तर यानी उस लोलुय नरक में भी ठसाठस भरे हुए वे नारक। **'सरहं दुहेंति'**=वृत्तिकार के अनुसार नारकों को वे सोत्साह दुःख देते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'सहरिसं दुहंति'**—अर्थ होता है—सहर्ष दुःख देते है। **'अंदूसु'**—बेड़ियो में। **तलसंपुडव्व**—वृत्तिकार के अनुसार हवा से प्रेरित ताल (ताड़) के पत्तों के ढेर की तरह। चूर्णिकार सम्मत पाठ है—**तलसंपुडच्च**—हथेली से बंधी हुई या हाथों में ली हुई अर्चा यानी देह (यहाँ शरीर को अर्चा कहा गया है) वाले। **पपयंति** (पपतंति)=जोर से गिराते हैं। वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**पययंति=प्रपचति**—अच्छी तरह से पकाते है।[६]

---

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक का सारांश

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ५५ से ५७

नरक में नारक क्या खोते क्या पाते ?

३२५. अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्व सते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा, जहा कडे कम्मे तहा सि भारे ॥ २६ ॥

३२६. समज्जिणित्ता कलुस अणज्जा, इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥ २७ ॥

३२५. इस मनुष्यभव में स्वयं ही स्वयं की वंचना करके तथा पूर्वकाल में सैकड़ों और हजारों अधम (व्याध आदि नीच) भवों को प्राप्त करके अनेक क्रूरकर्मी जीव उस नरक में रहते हैं। पूर्वजन्म में जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उस नारक को वेदनाएँ (भार) प्राप्त होती हैं।

३२६. अनार्य पुरुष पाप (कलुष) उपार्जन करके इष्ट और कान्त (प्रिय) (रूपादि विषयों) से रहित (वंचित) होकर कर्मों के वश हुए दुर्गन्धयुक्त, अशुभ स्पर्श वाले तथा मांस (रुधिर आदि) से परिपूर्ण कृष्ण (काले रूप वाले) नरक में आयुपूर्ण होने तक निवास करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—नरक में नारक क्या खोते, क्या पाते ?—प्रस्तुत सूत्रगाथा द्वय में इस उद्देशक का उपसंहार करके शास्त्रकार ने नरक में नारकीय जीवों के द्वारा खोने-पाने का संक्षेप में वर्णन किया हैं।

दोनो सूत्रगाथाओं में पूर्वकृत कर्मों के अनुसार नारकों के लाभ-हानि के निम्नोक्त तथ्य प्रकट किये गये हैं—(१) मनुष्यजन्म में जो लोग जरा-सी सुखप्राप्ति के लिए हिंसादि पापकर्म करके दूसरों को नहीं, अपने आपको ही वंचित करते, (२) वे उसी के फलस्वरूप सैकड़ों हजारों वार शिकारी, कसाई, आदि नीच योनियों में जन्म लेकर तदनन्तर यातना स्थान रूप नरक में निवास करते हैं, (३) जिसने जिस अध्यवसाय से जैसे जघन्य-जघन्यतर-जघन्यतम पापकर्म पूर्वजन्मों में किये हैं, तदनुसार ही उसे नरक में वैसी ही वेदनाएँ मिलती हैं। (४) वे अनार्य पुरुष अपने थोड़े-से सुखलाभ के लिए पापकर्मों का उपार्जन करते हैं। (५) उसके फलस्वरूप नरक में इष्ट, कान्त, मनोज्ञ रूप, रस गन्ध स्पर्श आदि विषयों से वंचित रहते हैं, और अनिष्ट रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि प्राप्त करके अपनी पूरी आयु तक नरक में दुःख भोगते रहते हैं।

जहा कडं कम्म तहासि भारे—इस पंक्ति का आशय यह है कि 'जैसा जिसका कर्म, वैसा ही फल' के सिद्धान्तानुसार नरक में नारकों को पीड़ा भोगनी पड़ती है। उदाहरणार्थ—जो लोग पूर्वजन्म में मांसाहारी थे, उन्हें नरक में उनका अपना ही मांस काटकर आग में पकाकर खिलाया जाता है, जो लोग मांस का रस पीते थे, उन्हें अपना ही मवाद एवं रक्त पिलाया जाता है, अथवा सीसा गर्म करके पिलाया जाता है तथा जो मच्छीमार बहेलिये आदि थे, उन्हें उसी प्रकार से मारा काटा एवं छेदा जाता है—जो असत्यवादी थे, उन्हें उनके पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों को याद दिलाकर उनकी जिह्वा काटी जाती है, जो पूर्वजन्म में परद्रव्यापहारक चोर, लुटेरे डाकू आदि थे, उनके अंगोपांग काटे जाते हैं, जो परस्त्रीगामी थे

उनका अण्डकोष काटा जाता है, तथा शाल्मलिवृक्ष (अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला) का आलिंगन कराया जाता है, जो लोग महापरिग्रही थे या तीव्र कषाय वाले थे, उन्हें अपने दुष्कर्मों का स्मरण कराकर वैसा ही दुःख दिया जाता है।

इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा—इस पंक्ति के दो अर्थ वृत्तिकार करते हैं—(१) इष्ट एवं कमनीय शब्दादि विषयों से रहित (वंचित) होकर वे नरक में रहते हैं, अथवा (२) जिनके लिए उन्होंने पापकर्म किये थे, उन इष्ट माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि से तथा कान्त (कमनीय) विषयों से रहित होकर वे एकाकी नरक में आयुपर्यन्त रहते हैं।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—**भवाहमे पुव्वसते सहस्से**=वृत्तिकार के अनुसार—बहुत-से भवों में जो अधम—मच्छीमार कसाई पारधि आदि नीच भव हैं, उन्हें पूर्वजन्मों में सैंकड़ों हजारों बार पाकर विषय सम्मुख एवं सुकृत विमुख होकर या भागकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'**भवाहमे पुव्वा सतसहस्से**' सैकड़ों-हजारों पूर्व तक यानी तैंतीस सागरोपम तक भवों में अधम-निकृष्ट भव पाकर या भोगकर।[८]

प्रथम उद्देशक समाप्त

□□

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

तीव्र वेदनाएँ और नारकों के मन पर प्रतिक्रिया—

३२७. **अहावरं सासयदुक्खधम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।**
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदेंति कम्माइं पुरेकडाइं॥ १॥

३२८. **हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं।**
गेण्हेत्तु बालस्स विहन्न देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति॥ २॥

३२९. **बाहू पकत्तंति य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति।**
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पट्ठे॥ ३॥

३३०. **अयं व तत्तं जलितं सजोतिं, ततोवमं भूमिमणोक्कमंता।**
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोदिता तत्तजुगेसु जुत्ता॥ ४॥

---

७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३४

८ सूयगडंग सुत्तं (मू० पा० टिप्पण) पृ० ५८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३४

३३१. बाला बला भूमिमणोवकमंता, पविज्जलं लोहपहं व तत्तं ।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसे व दंडेहिं पुरा करेंति ॥ ५ ॥

३३२. ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहिं हम्मंतिऽभिपातिणीहिं ।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पति जत्थ असाहुकम्मा ॥ ६ ॥

३३३. कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं, ततो विडड्ढा पुणरुप्पतंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥ ७ ॥

३३४. समूसितं नाम विधूमठाणं, जं सोगतत्ता कलुणं थणंति ।
अहो सिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयं व सत्थेहिं समोसवेंति ॥ ८ ॥

३३५. समूसिया तत्थ विसूणितंगा, पक्खीहिं खज्जंति अयोमुहेहिं ।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसि पया हम्मति पावचेता ॥ ९ ॥

३३६. तिक्खाहिं सूलाहिं भितावयंति, वसोवगं सोअरियं व लद्धुं ।
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ॥ १० ॥

३३७. सदा जलं ठाण निहं महंतं, जंसी जलंती अगणी अकट्ठा ।
चिट्ठंती तत्था बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ॥ ११ ॥

३३८. चिता महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं ।
आवट्टति तत्थ असाहुकम्मा, सप्पि जहा पतितं जोतिमज्झे ॥ १२ ॥

३३९. सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुं व दंडेहिं समारभंति ॥ १३ ॥

३४०. भंजंति बालस्स वहेण पट्ठि, सीसं पि भिंदंति अयोघणेहिं ।
ते भिन्नदेहा व फलगावतट्ठा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति ॥ १४ ॥

३४१. अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोदिता हत्थिवहं वहंति ।
एगं दुरुहित्तु दुए तयो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ॥ १५ ॥

३४२. बाला बला भूमि अणोक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं महंतं ।
विबद्ध तप्पेहि विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्ट बलिं करेंति ॥ १६ ॥

३४३. वेतालिए नाम महऽभितावे, एगायते पव्वतमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥ १७ ॥

उनका अण्डकोष काटा जाता हैं, तथा शाल्मलिवृक्ष (अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला) का आलिंगन कराया जाता है, जो लोग महापरिग्रही थे या तीव्र कषाय वाले थे, उन्हें अपने दुष्कर्मों का स्मरण कराकर वैसा ही दुःख दिया जाता है।

इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा—इस पंक्ति के दो अर्थ वृत्तिकार करते हैं—(१) इष्ट एवं कमनीय शब्दादि विषयों से रहित (वंचित) होकर वे नरक में रहते हैं, अथवा (२) जिनके लिए उन्होंने पापकर्म किये थे, उन इष्ट माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि से तथा कान्त (कमनीय) विषयों से रहित होकर वे एकाकी नरक में आयुपर्यन्त रहते हैं।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—भवाहमे पुव्वसते सहस्से=वृत्तिकार के अनुसार—बहुत-से भवो में जो अधम—मच्छीमार कसाई पारधि आदि नीच भव हैं, उन्हें पूर्वजन्मों में सैंकड़ों हजारों वार पाकर विषय सम्मुख एवं सुकृत विमुख होकर या भागकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'**भवाहमे पुव्वा सतसहस्से**' सैकड़ों-हजारों पूर्व तक यानी तैंतीस सागरोपम तक भवों में अधम-निकृष्ट भव पाकर या भोगकर।[८]

प्रथम उद्देशक समाप्त

□□

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

तीव्र वेदनाएँ और नारकों के मन पर प्रतिक्रिया—

३२७. **अहावरं सासयदुक्खधम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।**
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदेंति कम्माइं पुरेकडाइं ॥ १ ॥

३२८. **हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं।**
गेण्हेत्तु बालस्स विहन्न देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ॥ २ ॥

३२९. **बाहू पकत्तंति य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति।**
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पट्ठे ॥ ३ ॥

३३०. **अयं व तत्तं जलितं सजोतिं, ततोवमं भूमिमणोक्कमंता।**
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोदिता तत्तजुगेसु जुत्ता ॥ ४ ॥

---

७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३४

८ सूयगडंग सुत्तं (मू० पा० टिप्पण) पृ० ५८
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३४

३३१. बाला बला भूमिमणोक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं व तत्तं।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसे व दंडेहिं पुरा करेंति ॥ ५ ॥

३३२. ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहिं हम्मंतिऽभिपातिणीहिं।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पति जत्थ असाहुकम्मा ॥ ६ ॥

३३३. कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं, ततो विडड्ढा पुणरुप्पतंति।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥ ७ ॥

३३४. समूसितं नाम विधूमठाणं, जं सोगतत्ता कलुणं थणंति।
अहो सिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयं व सत्थेहिं समोसवेंति ॥ ८ ॥

३३५. समूसिया तत्थ विसूणितंगा, पक्खीहिं खज्जंति अयोमुहेहिं।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसि पया हम्मति पावचेता ॥ ९ ॥

३३६. तिक्खाहिं सूलाहिं भितावयंति, वसोवगं सोअरियं व लद्धुं।
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ॥ १० ॥

३३७. सदा जलं ठाण निहं महंतं, जंसी जलंती अगणी अकट्ठा।
चिट्ठंती तत्था बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ॥ ११ ॥

३३८. चिता महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं।
आवट्टति तत्थ असाहुकम्मा, सप्पि जहा पतितं जोतिमज्झे ॥ १२ ॥

३३९. सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं।
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुं व दंडेहिं समारभंति ॥ १३ ॥

३४०. भंजंति बालस्स वहेण पट्ठिं, सीसं पि भिंदंति अयोघणेहिं।
ते भिन्नदेहा व फलगावतट्ठा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति ॥ १४ ॥

३४१. अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोदिता हत्थिवहं वहंति।
एगं दुरुहित्तु दुए तयो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ॥ १५ ॥

३४२. बाला बला भूमि अणोक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं महंतं।
विबद्ध तप्पेहि विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्ट बलिं करेंति ॥ १६ ॥

३४३. वेतालिए नाम महऽभितावे, एगायते पव्वतमंतलिक्खे।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥ १७ ॥

३४४. संबाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य रातो परितप्पमाणा।
एगंतकूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ ॥ १८ ॥

३४५. भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतुं।
ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति ॥ १९ ॥

३४६. अणासिता नाम महासियाला, पगब्भिणो तत्थ सयायकोवा।
खज्जंति तत्था बहुकूरकम्मा, अदूरया संकलियाहिं बद्धा ॥ २० ॥

३४७ सदाजला नाम नदी भिदुग्गा पविज्जला लोहविलीणतत्ता।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगाइयाऽणुक्कमणं करेंति ॥ २१ ॥

३२७. इसके पश्चात् शाश्वत (सतत) दुःख देने के स्वभाव वाले नरक के सम्बन्ध में आपको मैं अन्य बातें यथार्थरूप से कहूँगा कि दुष्कृत (पाप) कर्म करने वाले अज्ञानी जीव किस (जिस) प्रकार पूर्व (जन्म में) कृत स्वकर्मों का फल भोगते हैं।

३२८. परमाधार्मिक असुर नारकीय जीवों के हाथ और पैर बांधकर तेज उस्तरे और तलवार के द्वारा उनका पेट फाट डालते हैं। तथा उस अज्ञानी जीव की (लाठी आदि के प्रहार से) क्षत विक्षत देह को पकड़कर उसकी पीठ की चमड़ी जोर से उधेड़ लेते हैं।

३२९. वे नरकपाल नारकीय जीव की भुजा को मूल से काट लेते हैं, तथा उनका मुख फाड़कर उसमें लोह के बड़े-बड़े तपे हुए गोले डालकर जलाते हैं। (फिर) एकान्त में उनके जन्मान्तरकृत कर्म का स्मरण कराते हैं, तथा अकारण ही कोप करके चाबुक आदि से उनकी पीठ पर प्रहार करते हैं।

३३०. तपे हुए लोह के गोले के समान, ज्योति-सहित जलती हुई तप्त भूमि की उपमायोग्य भूमि पर चलते हुए वे नारकी जीव जलते हुए करुण क्रन्दन करते हैं। लोहे का नोकदार आरा भोंककर (चलने के लिए) प्रेरित किये हुए तथा गाड़ी के तप्त जुए में जुते (जोते) हुए वे नारक (करुण विलाप करते हैं।)

३३१. अज्ञानी नारक जलते हुए लोहमय मार्ग के समान तपी हुई तथा (रक्त और मवाद के कारण) थोड़े पानी वाली (कीचड़ से भरी) भूमि पर परमाधार्मिकों द्वारा बलात् चलाये जाने से (बुरी तरह रोते-चिल्लाते हैं।) (नारकी जीव) जिस (कुम्भी या शाल्मलि आदि) दुर्गम स्थान पर (परमाधार्मिकों द्वारा) चलाये जाते हैं, (जब वे ठीक से नहीं चलते हैं, तब) (कुपित होकर) डंडे आदि मारकर बैल की तरह उन्हें आगे चलाते हैं।

३३२. तीव्र (गाढ़) वेदना से भरे नरक में पड़े हुए वे (नारकी जीव) सम्मुख गिरने वाली शिलाओं के (द्वारा) नीचे दबकर मर जाते हैं। सन्तापनी (सन्ताप देने वाली) यानी कुम्भी (नामक नरक भूमि) चिरकालिक स्थिति वाली है, जहाँ दुष्कर्मी-पापकर्मी नारक (चिरकाल तक) संतप्त होता रहता है।

३३३. (नरकपाल) अविवेकी नारक को गेंद के समान आकार वाली (नरक-कुम्भी) में डालकर पकाते हैं, जलते (चने की तरह भूने जाते) हुए वे नारकी जीव वहाँ से फिर ऊपर उछल जाते हैं, जहाँ वे द्रोणकाक नामक (विक्रिया-जात) कौओं द्वारा खाये जाते हैं, (वहाँ से दूसरी ओर भागने पर) दूसरे (सिंह, व्याघ्र आदि) नरक वाले हिंस्र पशुओं द्वारा खाये जाते हैं।

३३४. (नरक में) ऊँची चिता के समान आकार वाला (समुच्छ्रित) धूम रहित अग्नि का एक स्थान है, जिस (स्थान) को (पाकर) शोक संतप्त नारकी जीव करुणस्वर में विलाप करते हैं। (नरक-पाल) (नारक के) सिर को नीचा करके उसके शरीर को लोहे की तरह शस्त्रों से काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं।

३३५. उस नरक में अधोमुख करके ऊपर लटकाए हुए तथा शरीर की चमड़ी उधेड़ ली गई है, ऐसे नारकी जीवों को लोहे की तीखी चोंच वाले (काकगृध्र आदि) पक्षीगण खा जाते हैं। जहाँ यह पापात्मा नारकीय प्रजा मारी-पीटी जाती है, किन्तु संजीवनी (मरण-कष्ट पाकर भी आयु शेष रहने तक जलाए रखने वाली) नामक नरक भूमि होने से वह (नारकीय प्रजा) चिरस्थिति वाली होती है।

३३६. वशीभूत हुए श्वापद (जंगली जानवर) के समान प्राप्त हुए नारकी जीव को परमाधार्मिक तीखे शूलों से (वींधकर) मार गिराते हैं। शूल से बींधे हुए, भीतर और बाहर दोनों ओर से ग्लान— उदास, एवं एकान्त दुःखी नारकीय जीव करुण क्रन्दन करते हैं।

३३७. (वहाँ) सदैव जलता हुआ एक महान् प्राणिघातक स्थान है, जिसमें बिना काष्ठ (लकड़ी) की आग जलती रहती है। जिन्होंने पूर्वजन्म में बहुत क्रूर (पाप) कर्म किये हैं, वे कतिपय नारकीय जीव वहाँ चिरकाल तक निवास करते हैं और जोर-जोर से गला फाड़कर रोते रहते हैं।

३३८. परमाधार्मिक बड़ी भारी चिता रचकर उसमें करुण रुदन करते हुए नारकीय जीव को फेंक देते हैं। जैसे आग में पड़ा हुआ घी पिघल जाता है, वैसे ही उस (चिता की अग्नि) में पड़ा हुआ पाप-कर्मी नारक भी द्रवीभूत हो जाता है।

३३९. फिर वहाँ सदैव सारा का सारा जलता रहने वाला एक गर्म स्थान हैं, जो नारक जीवों को निधत्त, निकाचित आदि रूप से बद्ध पाप कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है, जिसका स्वभाव अति-दुःख देना है। उस दुःखपूर्ण नरक में नारक के हाथ और पैर बांधकर शत्रु की तरह नरकपाल डंडों से पीटते हैं।

३४०. अज्ञानी नारक जीव की पीठ लाठी आदि से मार-मार तोड़ देते हैं और उसका सिर भी लोहे के घन से चूर-चूर कर देते हैं। शरीर के अंग-अंग चूर कर दिये गये वे नारक तपे हुए आरे से काष्ठफलक (लकड़ी के तख्ते) की तरह चीर कर पतले कर दिये जाते हैं, फिर वे गर्म सीसा पीने आदि कार्यों में प्रवृत्त किये जाते हैं।

३४१. नरकपाल पापकर्मा नारकीय जीवों के पूर्वकृत जीव हिंसादि रौद्र पापकार्यों का स्मरण करा-कर बाण मारकर प्रेरित करके हाथी के समान भार वहन कराते हैं। उनकी पीठ पर एक, दो या तीन

नारकियों को चढ़ाकर उन्हें चलने के लिए प्रेरित करते हैं। (बीच-बीच में) क्रुद्ध होकर तीखा नोकदार शस्त्र उनके मर्मस्थान में चुभोते हैं।

३४२. बालक के समान पराधीन बेचारे नारकी जीव नरकपालों द्वारा बलात् कीचड़ से भरी और कांटों से परिपूर्ण विस्तृत भूमि पर चलाये जाते हैं। पापकर्म से प्रेरित नरकपाल अनेक प्रकार के बन्धनों से बांधे हुए विषण्ण—(या विवर्ण=उदास) चित्त या संज्ञाहीन (मूर्च्छित) नारक जीवों को खण्डश: काट-काट कर नगरबलि के समान इधर-उधर फैंक देते हैं।

३४३. आकाश में बड़े भारी ताप से युक्त एक ही शिला से बनाया हुआ अतिविस्तृत वैतालिक—वैक्रिय पर्वत है। उस पर्वत पर रहने वाले अतिक्रूरकर्मा नारकी जीव हजारों मुहूर्तों से अधिक काल तक परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हैं।

३४४. निरन्तर पीड़ित किये जाते हुए दुष्कर्म किये हुए पापात्मा नारक दिन-रात परिताप (दु:ख) भोगते (संतप्त हो) हुए रोते रहते हैं। उस एकान्त कूट (दु:खोत्पत्ति स्थान), विस्तृत और विषम (ऊबड़ खाबड़ या कठिन) नरक में पड़े हुए प्राणी गले में फांसी डालकर मारे जाते समय केवल रोदन करते हैं।

३४५. मुद्‌गर और मूसल हाथ में लेकर नरकपाल पहले के शत्रु के समान रोष के साथ नारकीय जीवों के अंगों को तोड़-फोड़ देते हैं। जिनकी देह टूट गई है, ऐसे नारकीय जीव रक्त वमन करते हुए अधोमुख होकर जमीन पर गिर पड़ते हैं।

३४६. उस नरक में सदा क्रोधित और क्षुधातुर बड़े ढीठ विशालकाय सियार रहते हैं। वे वहाँ रहने वाले जन्मान्तर में बहुत पाप (क्रूर) कर्म किये हुए तथा जंजीरों से बंधे हुए निकट में स्थित नारकों को खा जाते हैं।

३४७. (नरक में) सदाजला नाम की अत्यन्त दुर्गम (गहन या विषम) नदी है, जिसका जल क्षार, मवाद और रक्त से मलिन रहता है, अथवा वह भारी कीचड़ से भरी है, तथा वह आग से पिघले हुए तरल लोह के समान अत्यन्त उष्ण जल वाली है उस अत्यन्त दुर्गम नदी में पहुंचे हुए नारक जीव (बेचारे) अकेले-असहाय और अरक्षित (होकर) तैरते हैं।

विवेचन—नरक में मिलने वाली तीव्र वेदनाएँ और नारकों के मन पर प्रतिक्रिया—प्रस्तुत २१ सूत्र-गाथाओं) सू० गा० ३२७ से ३४७ तक) में नारकों को नरक में दी जाने वाली एक से एक बढ़कर यातनाओं का वर्णन है, साथ ही नारकों के मन पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का भी निरूपण किया गया है। यद्यपि नारकीय जीवों को मिलने वाली ये सब यंत्रणाएँ मुख्यतया शारीरिक होती है, किन्तु नारकों के मन पर इन यन्त्रणाओं का गहरा प्रभाव पड़ता है, जो आँखों से आँसुओं के रूप में और वाणी से रुदन विलाप और रक्षा के लिए पुकार के रूप में प्रकट होता है। नारकों को ये सब यातनाएँ और भयंकर वेदनाएँ उनके पूर्वजन्म में किये हुए पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, इसलिए नरकों को यातना स्थान कहना योग्य ही है। वास्तव में पूर्वजन्मकृत पापकर्मों के फलभोग के ही ये स्थान है। इसीलिए शास्त्रकार ने नरक को **सासयदुक्खधम्मं**—'सतत दु:ख देने के स्वभाव वाला' कहा है।[1]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति भाषानुवाद सहित भा०२ पृ० १३ का सारांश

परमाधार्मिकों द्वारा दी जाने वाली यातनाएँ—नारकों को नरकपालों द्वारा दी जाने वाली यंत्रणाएँ मुख्यतया इस प्रकार है—(१) हाथ-पैर बांधकर तेज धार वाले उस्तरे व तलवार से पेट काटते हैं, (२) घायल शरीर को पकड़ कर उसकी पीठ की चमड़ी उधेड़ते हैं, (३) भुजाएँ जड़ से काटते हैं, (४) मुँह फाड़कर उसमें तपा हुआ लोह गोलक डालकर जला डालते हैं, (५) पूर्वजन्म कृत पापकर्मों का एकान्त में स्मरण कराकर गुस्से में आकर उनकी पीठ पर चाबुक फटकारते हैं, (६) लोहे के गोले के समान तपी हुई भूमि पर चलाते हैं, (७) गाड़ी के तपे हुए जुए में जोतकर तथा आरा भोंककर चलाते हैं, (८) जलते हुए लोहपथ के समान तप्त एवं रक्त-मवाद के कारण कीचड़ वाली भूमि पर जबरन चलाते हैं, जहाँ रुका कि नरकपाल डंडे आदि से मारकर आगे चलाते हैं, (९) सम्मुख गिरती हुई शिलाओं के नीचे दबकर मर जाते हैं, (१०) संतापनी नामक नरक कुम्भी में रहकर चिरकाल तक संताप भोगते है, (११) गेंद के आकार वाली कन्दुकुम्भी में डालकर नारक को पकाते हैं। (१२) वहाँ से ऊपर उछलते ही द्रोणकाक उन्हें नोचकर खा जाते हैं, शेष बचे हुए नारकों को सिंह-व्याघ्र आदि जंगली जानवर खा जाते हैं। (१३) चिता के समान ऊँची निर्धूम अग्नि में अत्यन्त पीड़ा पाते हैं, जहाँ क्रूर नरकपाल उनका सिर नीचा करके उनके शरीर को लोह की तरह शस्त्र से काट कर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं, (१४) शरीर की चमड़ी उधेड़ कर औंधे लटकाए हुए नारकों को लोहे की तीखी चोंच वाले पक्षी नोच-नोचकर खाते हैं, (१५) हिंस्र पशु की तरह नारकीय जीव के मिलते ही वे तीखे शूलों से बांधकर उन्हें मार गिराते हैं, (१६) सदैव विना लकड़ी के जलता हुआ एक प्राणिघातक स्थान है, जहां नारक चिर-काल तक रहकर पीड़ा पाते हैं। (१७) बहुत बड़ी चिता रच कर करुण विलाप करते हुए नारक को उसमें भौंक देते हैं। (१८) सदैव पूरे के पूरे गर्म रहने वाले अतिदुःखमय नरक स्थान में हाथ-पैर बांध-कर शत्रु की तरह मारते-पीटते हैं। (१९) लाठी आदि से मार-मार कर पीठ तोड़ देते हैं, लोहे के भारी घन से सिर फोड़ देते हैं, उनके शरीर चूर-चूर कर देते हैं, फिर लकड़ी के तख्ते को चीरने की तरह गर्म आरों से चीर देते हैं, तब खौलता हुआ सीसा आदि पीने को बाध्य करते है, (२०) नारक के पूर्व-कृत रौद्र पापकर्मों का स्मरण करा कर उससे हाथी की तरह भारवहन कराया जाता है, एक दो या तीन नारकों को उसकी पीठ पर चढ़ाकर चलाया जाता है, न चलने पर उसके मर्मस्थान में तीखा नोक-दार आरा आदि शस्त्र चुभोया जाता है। (२१) परवश नारकों को कीचड़ से भरी एवं कंटीली विस्तीर्ण भूमि पर बलात् चलाया जाता है, (२२) विविध बंधनों से बांधे हुए संज्ञा हीन नारकों के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें नगरबलि की तरह इधर-उधर फेंक देते हैं। (२३) वैतालिक (वैक्रियक) नामक एक-शिला-निर्मित आकाशस्थ महाकाय पर्वत बड़ा गर्म रहता है, वहाँ नारकों को चिरकाल तक मारा-पीटा जाता है। (२४) उनके गले में फांसी का फंदा डालकर दम घोटा जाता है, (२५) मुद्गरों और मूसलों से रोषपूर्वक पूर्वशत्रुवत् नारकों के अंग-भंग करते हैं, शरीर टूट जाने पर वे औंधे मुँह रक्तवमन करते हुए गिर जाते हैं। (२६) नरक में सदा खूंख्वार, भूखे, ढीठ तथा महाकाय गीदड़ रहते हैं, जो जंजीरों से बंधे हुए निकटस्थ नारकों को खाते रहते हैं। (२७) सदाजला नामक विषम या गहन दुर्गम नदी है, जिसका पानी रक्त, मवाद, एवं खार के कारण मैला व पंकिल है, उसके पिघले हुए तरल लोह के समान अत्यन्त उष्ण जल में नारक अकेले और अरक्षित होकर तैरते हैं।

इन और प्रथम उद्देशक में कथित, यातनाओं के अतिरिक्त अन्य सैंकड़ों प्रकार की यातनाएँ नरक

गत जीव पाते हैं और उन्हें रो-रोकर सहन करते हैं, क्योंकि उन्हें सहे बिना और कोई चारा नहीं है।[2]

निष्कर्ष यह है कि दिन-रात नाना दुःखों और चिन्ताओं से सन्तप्त पापकर्मा नारकों के पास उन दुःखों से बचने का कोई उपाय नहीं होता, अज्ञान के कारण न वे समभाव पूर्वक उन दुःखों को सहन कर सकते हैं, और न ही उन दुःख का अन्त करने के लिए वे आत्महत्या करके मर सकते हैं, क्योंकि नारकीय जीवों का आयुष्य निरूपक्रमी होता है, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। वे पूरा आयुष्य भोग कर ही मरते हैं, बीच में नहीं। यही कारण है कि वे इतने-इतने भयंकर दारुण दुःखों और यातनाओं के समय, या यों कहें कि इतनी-इतनी बार मारे, काटे, पीटे और अंग-भंग किये जाने पर मरना चाहते हुए भी नहीं मर सकते। सिवाय रोने-धोने, करुण-क्रन्दन, विलाप, चीत्कार या पुकार करने के उनके पास कोई चारा नहीं। परन्तु उनकी करुण पुकार, प्रार्थना, विलाप या रोदन सुनकर कोई भी उनकी सहायता या रक्षा करने नहीं आता, न ही कोई सहानुभूति के दो शब्द कहता है, किसी को उनकी दयनीय दशा देखकर दया नहीं आती, प्रत्युत परमाधार्मिक असुर उन्हें रोने पीटने पर और अधिक क्रूर बनकर अधिकाधिक यातनाएँ देते हैं। उनके पूर्व जन्मकृत पापकर्मों की याद दिलाकर उन्हें लगातार एक पर एक यातनाएँ देते रहते हैं, जो उन्हें विवश होकर भोगनी पड़ती हैं।[3]

एक प्रश्न उठता है कि नरक में नारकी जीव का शरीर चूर-चूर कर दिया जाता है, उनकी चमड़ी उधेड़ दी जाती है, मृत शरीर की तरह उन्हें औंधे मुंह लटका दिया जाता है, वे अत्यन्त पीसे, काटे, पीटे और छीले जाते हैं, फिर भी मरते क्यों नहीं ? इसका समाधान सू० गा० ३३५ के उत्तरार्द्ध द्वारा करते हैं—**'संजीवणो नाम चिरट्ठितिया।'** अर्थात्—नरक की भूमि का नाम संजीवनी भी है। वह संजीवनी औषधि के समान जीवन देने वाली है, जिसका रहस्य यह है कि मृत्यु-सा दुःख पाने पर भी आयुष्यबल शेष होने के कारण वहाँ नारक चूर-चूर कर दिये जाने या पानी की तरह शरीर को पिघाल दिये जाने पर भी मरते नहीं, अपितु पारे के समान बिखर कर पुनः मिल जाते हैं।[4] नारकी की उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम काल की है। इसीलिए शास्त्रकार नरकभूमि को **'चिरस्थितिका'** (अत्यन्त दीर्घकालिक स्थिति वाली) कहते हैं।

इसलिए नारकी जीव के मन पर उन भयंकर दुःखों की तीव्र प्रतिक्रिया होने पर भी वे कुछ कर नहीं सकते, विवश होकर मन मसोस कर पीड़ाएँ भोगते जाते हैं।

पाठान्तर और व्याख्या—उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं=वृत्तिकार के अनुसार—उस्तरा, तलवार आदि

---

२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३५ से १३६ तक का संक्षिप्त सार

३ (क) सूत्रकृतांग मूलपाठ टिप्पण (जम्बूविजयजी) पृ० ५८ से ६२ तक

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३७ का सारांश

(घ) 'औपपातिक चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येय वर्षाऽऽयुषोऽनपवर्त्यायुषः'—तत्वार्थ सूत्र अ० २ सू० ५३

४ (क) 'संजीवणा-संजीवन्तीति संजीविनः सर्वे एव नरकाः संजीवणा।' —सूत्रकृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ५६

(ख) 'संजीवनी-जीवनदात्री नरकभूमिः'—सूत्रकृ० शीलांक वृत्ति पत्रांक १३७

के अनेक प्रकार के तीखे शस्त्रों से उनका पेट फाड़ देते हैं। चूर्णिकार के अनुसार—'असिता णिसिता तिण्हा अथवा ण सिता मुण्डा इत्यर्थः असित यानी तेज, तीक्ष्ण अथवा मुंड—नगे, यानी बंद नहीं, खुले; शस्त्रों से उनका पेट फाड़ देते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर भी है—'उदराइं फोडेंति खुरेहि तेसिं'—छुरी से उनके उदर फोड़ (फाड़) देते हैं। विहन्नदेहं=वृत्तिकार के अनुसार—विविधं हतं पीडितं देहम्—विविध रूप से हत-पीड़ित—क्षतविक्षत देह को। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—विहण्ण देहं=अर्थ किया गया है—विहण्णेति विहणित्ता देहं=देह को विशेष रूप से क्षतविक्षत (घायल) करके। वद्ध—"वध्रं चर्मशकलम्"=वर्ध कहते हैं चमड़ी के टुकड़े को। थूलं=वड़े भारी लोह के गोले आदि को। जुत्तं सरयति=युक्तियुक्त—नारकों के अपने-अपने दण्ड रूप दुःख के अनुरूप (उपयुक्त) पूर्वकृत पाप का स्मरण कराते हैं। जैसे कि—गर्म किया हुआ सीसा पिलाते समय वे याद दिलाते हैं कि तू खूब मद्य पीता था न?' 'आहम्म विज्झंति'=वृत्तिकार के अनुसार—अकारण ही भयंकर कोप करके······पीठ में चाबुक आदि के द्वारा ताड़ना करते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—आरुब्भ विधति=अर्थात् उनकी पीठ पर चढ़कर आरा आदि नोंकदार शस्त्र बींध (भोक) देते है। 'पविज्जलं=वृत्तिकार के अनुसार—'रुधिरपूयादिना पिच्छिलं—रक्त और मवाद आदि होने के कारण पिच्छिल-कीचड़ वाली भूमि पर। चूर्णिकार के अनुसार— विविधेण प्रज्वलं नाम पिच्छिलेण पूयसोणिएण अणुलित्ततला, विगतं ज्वलं विज्जलं, विज्जलां। अर्थात्—विविध प्रकार से प्रज्वल यानी पिच्छिल, मवाद और रक्त से जिसका तल अनुलिप्त हो, ऐसी अथवा जलरहित होने से वि-जल। जल के नाम पर उसमें मवाद औरखून होते हैं, इसलिए पंकिल भूमि।

वृत्तिकारसम्मत—'निपातिणीहिं' के बदले 'अभिपातिभीहिं' पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है, अर्थ होता है—सम्मुख गिरने वाली शिलाओं से। 'निपातिणीहिं' का अर्थ भी वही किया गया है। 'ततो विडड्ढा पुणरुप्पतंति—वृत्तिकार के अनुसार—उस पाकस्थान से जलते हुए वे इस तरह ऊपर उछलते हैं, जिस तरह भाड़ में भुंजे जाते हुए चने उछलते हैं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर और अर्थ इस प्रकार है—वे अज्ञानी नारक भय से भुजियों (पकौड़ों) की तरह जलते (पकते) हुए कूद जाते हैं। जं सोगतत्ता=वृत्तिकार—जिस पर पहुंचकर वे शोकसंतप्त नारक। चूर्णिकारसम्मत दो पाठान्तर है—'जंसि विउक्कंता' और 'जंसो वियंता'—प्रथम का अर्थ है—जिस पर विविध प्रकार से ऊपर चलते हुए वे नारक, द्वितीय का अर्थ है—'यत्र उवियंता—छुभमाना इत्यर्थः जहाँ क्षुब्ध होते हुए या छूते हुए नारक। 'सो अरियं व लद्धु'=सूअर आदि को पाकर जैसे मारते हैं, वैसे ही नारकी जीव को पाकर। चूर्णिकारसम्मत दो पाठान्तर हैं ····(१) सोवरिया व·······और (२) सावरिया व" प्रथम पाठान्तर का अर्थ है—(१) शौवरिका इव वशोपगं महिषं वधयंति=जैसे कसाई वशीभूत भैंसे का वध कर डालते हैं, द्वितीय पाठान्तर का अर्थ है—'शाबरिया —शाबराः—म्लेच्छजातयः, ते यथा विधंति····तथा। शबर (म्लेच्छजातीय) लोग जैसे वन्य पशु को पाते ही तीर आदि से बींध डालते हैं, वृत्तिकारसम्मत पाठान्तर है—सावयं व लद्धं—वश में हुए श्वापद—वन्य कालपृष्ठ सूअर आदि को स्वतन्त्र रूप से पाकर सताते हैं, तद्वत्······। निहं=प्राणिघातस्थान। 'चिट्ठंती तत्था बहुकूरकम्मा'—अतिक्रूर कर्मा पापी नारक वहाँ स्वकृत-पापफल भोगने के लिए रहते हैं। वृत्तिकारसम्मत पाठान्तर है—चिट्ठंती बद्धा बहुकूरकम्मा=अतिक्रूर कर्मा·······बंधे हुए रहते हैं।

फलगावतट्ठा—काष्ठ फलक (पाटिये) की तरह दोनों ओर से करवत आदि से छीले हुए या कृश (पतले) किये हुए। आचारांग सूत्र में फलगावतट्ठी पाठ कई जगह आता है,[५] परन्तु वहाँ निष्कम्प दशा

---

५ 'फलगावतट्ठी'—आचा० प्र० श्रु० विवेचन सू० १९८, २२४, २२८-पृ० २३१, २७८, २८७ में देखें

सुस्थिरता आदि सन्दर्भ में होने से उपर्युक्त अर्थ ही ठीक है। **अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा**=वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(१) रौद्रकर्मणि अभियुज्य—व्यापार्य, यदि वा रौद्रं सत्त्वोपघातकार्यं, अभियुज्य—स्मारयित्वा। अर्थात् जिन्होने पूर्वजन्म में दुष्कर्म किये हैं, उन्हें रौद्र-हिंसादि भयंकर कार्य में प्रेरित करके या नियुक्त करके अथवा रौद्र=(पूर्वजन्मकृत) प्राणिघात वगैरह कर्म का स्मरण कराकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**रोद्द असाधु कम्मा (म्मो)**—अर्थ किये हैं—**रौद्रादीनि कर्माणि असाधूनि येषां ते'**—अर्थात् जिन्होने पूर्वजन्म में रौद्र-भयंकर खराब कर्म (पाप) किये हैं उन्हें। **हत्थिवहं वहंति**=वृत्तिकार के अनुसार जैसे हाथी पर चढ़कर उससे भार-वहन कराते हैं, वैसे ही नारकों से भी सवारी ढोने का काम लेते हैं। अथवा जैसे हाथी भारी भार वहन करता है, वैसे ही नारक से भी भारी भारवहन कराते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**हत्थिवुल्लं वहंति** नारक हाथी की तरह भार ढोते हैं, अथवा नारकों को हस्तिरूप (वैक्रिय शक्ति से) बनाकर उनसे भारवहन कराते हैं। **'आवस्स विज्झंति ककाणओ से'**—अत्यन्त कोप करके उनके मर्मस्थान को नोंकदारशस्त्र से बींध देते हैं। या चाबुक आदि के प्रहार से उन्हें सताते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'आरुब्भ विधंति किकाणतो से'**—अर्थ किया गया हैं—नारक पर चढ़कर, क्यों नहीं ढोता? यों रोषपूर्वक कहकर उसकी कृकाटिका=गर्दन नोकदार शस्त्र से बींध देते हैं। **कोट्ट बलिं करेंति**=वृत्तिकार के अनुसार—कूटकर टुकड़े-टुकड़े करके बलि कर देते हैं, या नगरबलि की तरह इधर-उधर फेंक देते हैं। अथवा कोट्टबलि यानी नगरबलि कर देते हैं। लगभग यही अर्थ चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर **'कुट्ट (कोट्ट) बलि करेंति'** के अनुसार हैं। **परं सहस्साण मुहुत्तगाणं**=सहस्रसंख्यक मुहुर्त्त से पर—प्रकृष्ट (अधिक) काल तक। चूर्णिकार—परं सहस्राणामिति परं सहस्रेभ्योऽनेकानि सहस्राणीत्यर्थः। अर्थात्—हजारों से पर यानी अनेक सहस्र मुहूर्त्तों तक-लम्बे समय तक। **सयायकोवा**=वृत्तिकार के अनुसार-सदावकोपाः—नित्यकुपित। चूर्णिकार के अनुसार—भक्षण करके सदा अतृप्त रहते हैं, अथवा सदा अकोप्य-अनिवार्य या अप्रतिषेध्य अर्थात् सदैव निवारण नहीं किये जा सकते।[६]

नरक में सतत दुःख प्राप्त और उससे बचने के उपाय—

३४८　**एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।**
ण हम्ममाणस्स तु होति ताणं, एगो सयं पच्चणुहोति दुक्खं ॥२२॥

३४९　**जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तहेव आगच्छति संपराए।**
एगंतदुक्खं भवमज्जिणित्ता, वेदेंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥२३॥

३५०　**एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसते कंचण सव्वलोए।**
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोगस्स वसं न गच्छे ॥२४॥

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३५ से १३६ तक के अनुसार

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ५८ से ६२ तक

३५१ एवं तिरिक्खे मणुयामरेसुं, चतुरंतऽणंतं तदणुव्विवागं ।
स सव्वमेयं इति वेदयित्ता, कंखेज्ज कालं धुवमाचरंतो ॥ २५ ॥ त्ति बेमि ।
॥ णिरयविभत्ती पंचमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

३४८. वहाँ (नरक में) चिरकाल तक की स्थिति (आयुष्य) वाले अज्ञानी नारक को ये (पूर्वगाथाओं में कहे गए) स्पर्श (दुःख) निरन्तर पीड़ित (स्पर्श) करते रहते हैं । पूर्वोक्त दुःखों से आहत होते (मारे जाते) हुए नारकी जीव का (वहाँ) कोई भी रक्षक (त्राण) नहीं होता । वह स्वयं अकेला ही उन दुःखों को भोगता है ।

३४९. (जिस जीव ने) जो व जैसा कर्म पूर्वजन्म (पूर्व) में किया है, वही संसार—दूसरे भव में आता है । जिन्होने एकान्तदुःख रूप नरकभव का कर्म उपार्जन किया (बांधा) है, वे (एकान्त) दुःखी जीव अनन्तदुःख रूप उस नरक (रूप फल) को भोगते हैं ।

३५०. बुद्धिशील धीर व्यक्ति इन नरकों (के वर्णन) को सुनकर समस्त लोक में किसी (भी प्राणी) की हिंसा न करे, (किन्तु) एकान्त (एकमात्र) (जीवादि तत्त्वों, आत्मतत्त्व या सिद्धान्त पर) दृष्टि (विश्वास रखता हुआ), परिग्रहरहित होकर लोक (अशुभ कर्म करने और उसका फल भोगने वाले जीवलोक) को समझे (अथवा कषायलोक का स्वरूप जाने) किन्तु कदापि उनके वश में (अधीन) न हो, अर्थात् उनके प्रवाह में न वहे ।

३५१. (पापकर्मी पुरुष की पूर्वगाथाओं में जैसी गति वताई है) इसी तरह तिर्यञ्चों, मनुष्यों और देवों में भी जाननी चाहिए । चार गति रूप अनन्त संसार है, उन चारों गतियो में कृतकर्मों के अनुरूप विपाक (कर्मफल) होता है, इस प्रकार जानकर बुद्धिमान पुरुष मरणकाल की प्रतीक्षा या समीक्षा करता हुआ ध्रुव (मोक्षमार्ग, संयम या धर्मपथ) का सम्यक् आचरण करे । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—नरक में प्राप्त होने वाले दुःख तथा उनसे बचने के लिए उपाय—प्रस्तुत चार गाथाओं में से प्रस्तुत उद्देशक तथा अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने प्रारम्भ की दो सूत्रगाथाओं (३४८, ३४९) में नारकीय जीव को कैसे-कैसे, कितने-कितने दुःख कब तक और मिलते हैं ? उन दुःखों से उस समय कोई छुटकारा हो सकता है या नहीं ? उन दुःखों में कोई हिस्सेदार हो सकता है या नहीं ? उन दुःखों से कोई भगवान देवी या देव शक्ति उसे बचा सकती है या नहीं ? इन रहस्यों का उद्घाटन इस प्रकार किया हैं—

नरक में पूर्वोक्त तीनों प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं—इस अध्ययन के प्रथम और द्वितीय उद्देशक में पूर्वगाथाओं में उक्त सभी प्रकार के दुःख नारकों को नरक में मिलते हैं, उन दुःखों में से कई दुःख परमाधार्मिककृत होते हैं, कई क्षेत्रजन्य होते हैं और कई दुःख नारकों द्वारा परस्पर-उदीरित होते हैं । इन दुःखो में लेशमात्र भी कमी नहीं होती ।

अपनी-अपनी भवस्थिति तक सतत दुःखों का तांता—समस्त संसारी जीवो में नारकों की स्थिति सर्वार्थ सिद्ध विमान को छोड़कर) सर्वाधिक लम्बी होती है । शास्त्रानुसार सातों नरकों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम काल की है । इसलिए जिस नारक की जितनी उत्कृष्ट

स्थिति का आयुष्यबन्ध है, उतनी स्थिति तक उसे दु:खागाररूप नरक में रहना पड़ता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। अतः नारकों को दु:ख भी उत्कृष्ट प्राप्त होते हैं, और वे दु:ख भी निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। कोई भी पल ऐसा नहीं रहता, जिसमें उन्हें दु:ख न मिलता हो। इसीलिए शास्त्रकार सू० गा० ३४८ के पूर्वार्द्ध में कहते हैं—**'एआइं फासाइ'....निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।'**

जिस समय नारकों पर दु:ख पर दु:ख बरसते रहते हैं, उस समय उनका कोई त्राता, शरणदाता रक्षक या सहायक नहीं होता, कोई भी प्राणी, यहाँ तक कि उन नारकों के निकटवर्ती परमाधार्मिक असुर भी उन्हें शरण, सहायता देना या बचाना तो दूर रहा, जरा-सी सान्त्वना भी नहीं देते, प्रत्युत वे उसकी पुकार पर और रुष्ट होकर उस पर बरस पड़ते हैं। उस दु:खपीड़ित दयनीय अवस्था में कोई भी उनके आंसू पोंछने वाला नहीं होता।

एक बात और है- प्रायः नारकों की तामसी बुद्धि पर अज्ञान, मोह एवं मिथ्यात्व का आवरण इतना जबर्दस्त रहता है कि उन्हें उक्त दारुण दु:ख को समभाव से सहने, या भोगने का विचार ही नहीं आता, किन्तु कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव वहाँ हो, तो वह उन दु:खों को समभाव से सह या भोग सकता हैं, इस कारण ऐसे नारकों को दु:ख का वेदन कम होता है, परन्तु दु:ख तो उतना का उतना मिलता है या दिया जाता है, जितना उसके पूर्वकृत पापकर्मानुसार बंधा हुआ (निश्चित) है। निष्कर्ष यह कि प्रत्येक नारक के. निकाचित रूप से पाप कर्म बंधा होने से बीच में दु:ख को घटाने या मिटाने का कोई उपाय संवर-निर्जरा या समभाव के माध्यम से कामयाब नहीं होता। उतना (निर्धारित) दु:ख भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं। यह आशय भी इस पंक्ति से ध्वनित होता है।

दु:ख भोगने में कोई सहायक या हिस्सेदार नहीं— जिन नारकों ने पूर्वजन्म में अपने परिवार या प्रियजनों के लिए अतिभयंकर दुष्कर्म किये, अब नरक में उनका दुष्कर्मों का फल भोगते समय उन नारकों का कोई हिस्सेदार नहीं रहता जो उनके दु:ख को बांट ले, न ही कोई सहायक होता है, जो उनके बदले स्वयं उस दु:ख को भोग ले। वल्कि स्वयं अकेला वह उन दारुण दु:खों को विवश होकर भोगते समय पूर्वजन्मकृत दुष्कर्मों का स्मरण करके इस प्रकार पश्चात्ताप करता है—

'मया परिजनस्यार्थ कृतं कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फलभोगिनः।'

—"हाय! मैंने अपने परिवार के लिए अत्यन्त भयंकर दुष्कर्म किये, किन्तु फल भोगते समय मैं अकेला यहाँ दु:ख से संतप्त हो रहा हूँ इस समय सुखरूप फल भोगने वाले वे सब पारिवारिक जन मुझे अकेला छोड़कर चले गए।" इसी रहस्य का उद्घाटन शास्त्रकार करते हैं—**'एगो सयं पच्चणुहोति दुक्खं।'** अर्थात्—जीव सदैव स्वयं अकेला ही दु:ख का अनुभव करता (भोगता) है।[१७]

नरक में एकान्तदु:खरूप फल चिरकाल तक क्यों?—प्रश्न होता है—क्या किसी ईश्वर देव-देवी या शक्ति द्वारा नारकों को एकान्तदु:खरूप नरक मिलता है या और कोई कारण है? जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से शास्त्रकार इसका समाधान करते हैं—**'जं जारिसं पुव्व'....आगच्छति संपराए'**—आशय यह है कि जिस प्राणी ने पूर्वजन्म में जैसे तीव्र, मन्द, मध्यम अनुभाग (रस) वाले, तथा जघन्य, मध्यम

---

१७. सूत्र कृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १४०-१४१ का सार

उत्कृष्टस्थिति वाले कर्म किये हैं, उसे अपने अगले भव या जन्म में उसी तरह का फल मिलता है। अर्थात्– तीव्र, मन्द या मध्यम जैसे अध्यवसायों (परिणामों) से जो कर्म बांधे गए हैं, तदनुसार उनकी स्थिति बंधकर तीव्र, मन्द या मध्यम विपाक (फल) उत्पन्न करते हुए वे उदय में आते हैं। इस प्रकार यह कर्म सिद्धान्त इतना अकाट्य है कि इसमें किसी भी ईश्वर, देवी या देव शक्ति के हस्तक्षेप की, या किसी के पक्षपात की, अथवा किसी को कुछ कहने की गुंजाइश ही नहीं रहती।

नरक दुःखों से बचने के लिए उपाय—पिछली दो सूत्रगाथाओं (३५०-३५१) में नरक गति तथा अन्य गतियों में मिलने वाले भयंकर दुःखों से बचने के लिए क्या करे और क्या न करे, इसका स्पष्ट मार्गदर्शन शास्त्रकार ने दिया है। इन दोनों सूत्रगाथाओं द्वारा नौ प्रेरणासूत्र फलित होते हैं—(१) पूर्वगाथाओं में उक्त नरक दुःखों का वर्णन सुनकर धीर पुरुष नरक गमन के कारणों से बचने का उपाय सोचे, (२) समग्र लोक में किसी भी जीव की हिंसा न करे, (३) परिग्रह रहित हो। ('उ' शब्द से परिग्रह के अतिरिक्त मृषावाद, अदत्तादान एवं मैथुनसेवन से विरत होने की प्रेरणा भी परिलक्षित होती है), (४) एकमात्र आत्मतत्त्व या जीवादि तत्त्वों पर दृष्टि या श्रद्धा रखे, (५) अशुभ कर्म करने तथा उसका फल भोगने वाले जीवलोक या कषायलोक को स्वरूपतः जाने, (६) किन्तु उस लोक के अधीन न हो, प्रवाहवश न बने। (७) चातुर्गतिरूप अनन्त संसार और चारों गतियों में कृतकर्मों के अनुरूप फल आदि का वस्तु-स्वरूप जाने, (८) मोक्ष दृष्टि रखकर संयम या धर्म का आचरण करे, (९) मरण (पण्डितमरण) के काल (अवसर) की आकांक्षा (मनोरथ) करे।[6]

ईश्वरादि कोई भी शक्ति घोर पापी को नरक से बचा नहीं सकती—इस लोक में घोर पापकर्म करने वाले कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि हम चाहे जितना पापकर्म कर लें, खुदा, गॉड, ईश्वर या पैगम्बर या किसी शक्ति आदि से अन्तिम समय में प्रार्थना, मिन्नत, प्रशंसा, स्तुति, निवेदन, पाप-स्वीकृति (confess) या खुशामद आदि करने मात्र से हमारे सब पाप माफ हो जाएँगे, और हमें पाप से मुक्ति मिल जाने से नरक (दोजख) में नहीं जाना पड़ेगा। इस प्रकार पापकर्मों को करते हुए भी तथा उनका त्याग या आलोचना-प्रायश्चित्तादि से उनकी शुद्धि किये बिना ही हम पूर्वोक्त उपाय से नरक-गमन से या नरकादि के दुःखों से बच जाएंगे। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है, इसी भ्रान्ति का निराकरण करने हेतु शास्त्रकार सू० गा० ३५० द्वारा स्पष्ट कहते हैं—'**एताणि सोच्चा णरगाणि ...... वसं न गच्छे**।' अगर नरकगति के कारणभूत दुष्कर्मों या हिंसादि पापकर्मों का त्याग नहीं किया जाएगा तो कोई भी शक्ति घोरपापी को नरक-गमन से या नरकदुःखों से नहीं बचा सकेगी।[7]

तिर्यञ्चादि गतियों में भी नारकीयदुःखमय वातावरण—कई लोग यह सोचते हैं कि इतने घोर दुःख तो नरकगति में ही मिलते हैं, दूसरी गतियों में नहीं। यह भी एक भ्रान्ति है, जो कई धर्म-सम्प्रदायों में चलती है। पूर्वकृत अशुभ कर्म जब उदय में आते हैं तो नरक के अतिरिक्त तिर्यंचादि गतियों में भी तीव्र-दुःख मिलते हैं। तिर्यंचगति में परवश होकर भयंकर दुःख उठाना पड़ता है, मनुष्यगति में इष्ट-वियोग अनिष्टसंयोग, रोग, शोक, पीड़ा, मनोवेदना, अपमान, निर्धनता, क्लेश, राजदण्ड, चिन्ता आदि नाना

---

६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १४० के आधार पर

७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १४०-१४१ का सारांश

दुःखों से वास्ता पड़ता है और देवगति में भी ईर्ष्या, कलह, ममत्वजनित दुःख, वियोगदुःख, नीचजातीय देवों में उत्पत्ति आदि अनेकों दुःख हैं। मतलब यह है कि नरकगति की तरह तिर्यञ्च, मनुष्य या देवगति में भी दुःखमय वातावरण प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—"**एवं तिरिक्खे मणुयामरेसु**......**इति वेदयित्ता**......।" इसका आशय यह है कि चारों गतियों में भावनरक की प्राप्ति या नारकीय दुःखमय वातावरण सम्भव है, इसलिए चतुर्गतिपर्यन्त अनन्त संसार को दुःखमय समझो। इन चारों गतियों के कारणों[8] तथा चारों गतियों में कृत-कर्मों के अनुरूप विपाक (कर्मफल) को समझे। तथा मृत्युपर्यन्त इस प्रकार की संसार दृष्टि के चक्कर में न आकर एकमात्र ध्रुव यानी मोक्ष दृष्टि रखकर संयमाचरण करे तथा पण्डितमरण के अवसर की प्रतीक्षा करे।

पाठान्तर और व्याख्या—धुवमाचरंतो=ध्रुव अर्थात् मोक्ष या संयम; उसका अनुष्ठान करता हुआ। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**धुतमाचरंति**—"धूयतेऽनेन कर्म इति धुतं चारित्रमित्युक्तम्। आचार इति क्रियायोगे, आचरन्, आचरंतो वा चरणमिति।" अर्थात्—जिससे कर्म धुना—नष्ट किया जाय, उसे धुन-चारित्र कहते हैं। उसका आचरण करता हुआ अर्थात् क्रियान्वित करता हुआ।[9] **कंखेज्ज कालं**=काल की आकांक्षा करे। इसका रहस्य आचारांग सूत्र की वृत्ति के अनुसार है—पण्डितमरण के काल (अवसर) की प्रतीक्षा करे।[10]

द्वितीय उद्देशक समाप्त

॥ निरय (नरक) विभक्ति : पंचम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

८ (क) "चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणिय (आउय) त्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा—
१. माइल्लताए, २. नियडिल्लताए, ३. अलियवयणेणं, ४. कुडतुल्ल-कूडमाणेणं।"
(ख) 'चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा—
१. पगति भद्दताए, २. पगति विणीययाए; ३. साणुक्कोसयाए, ४. अमच्छरिताए।'
(ग) चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति तंजहा—
१. सरागसंजमेणं, २. संजमासंजमेणं, ३. बालतवोकम्मेणं, ४. अकामणिज्जराए।"
—ठाणं, स्था० ४, उ०४, सू० ६२६, ६३०, ६३०

९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १४१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६२

१० देखिये आचारांग सूत्र विवेचन प्र० श्रु० सू० ११६, अ०३, उ०२ पृ० १०० में 'कालकंखी' शब्द का विवेचन

महावीरस्तव (वीरस्तुति)—छठा अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांगसूत्र (प्र० श्रु०) के छठे अध्ययन का नाम 'महावीरस्तव' (वीरस्तुति) है[1]।

☐ पूर्णता का आदर्श सम्मुख रहे बिना अपूर्ण साधक का आगे बढ़ना कठिन होता है, इसलिए इस अध्ययन की रचना की गई है ताकि अपूर्ण साधक पूर्णता के आदर्श के सहारे कर्मबन्धन के मिथ्यात्वादि कारणों से दूर रहकर शुद्ध संयम तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग पर शीघ्र-गति से बढ़कर पूर्ण (ध्रुव या मोक्ष) को प्राप्त कर सके।

☐ पहले से लेकर पांचवें अध्ययन तक कहीं मिथ्यात्व से, कहीं अविरति (हिंसा, असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य) आदि से, कहीं प्रमाद—(उपसर्गों के सहन करने या जीतने में होने वाली असावधानी) से, कहीं कषाय (द्वेष, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, अभिमान, माया आदि) से होने वाले कर्मबन्धन और उनसे छुटने का निरूपण है, कहीं घोर पापकर्मबन्ध से प्राप्त नरक और उसके दुःखों का व उनसे बचने के उपाय सहित वर्णन है। अतः इस छठे अध्ययन में कर्मबन्धनों और उनके कारणों से विरत; उपसर्गों और परीषहों के समय पर्वतसम अडोल रहने वाले स्थिरप्रज्ञ, भव्यजीवों को प्रतिबोध देनेवाले, स्वयं मोक्षमार्ग में पराक्रम करके प्रबल कर्मबन्धनों को काटने वाले श्रमण शिरोमणि तीर्थंकर महावीर की स्तुति के माध्यम से मुमुक्षु साधक के समक्ष उनका आदर्श प्रस्तुत करना इस अध्ययन का उद्देश्य है। ताकि स्तुति के माध्यम से भगवान महावीर के आदर्श जीवन का स्मरण करके साधक आत्मबल प्राप्त कर सके, तथा उन्होंने जिस प्रकार संसार पर विजय पाई थी, उसी प्रकार विजय पाने का प्रयत्न करे।[1]

☐ श्रमण भगवान महावीर का मूल नाम तो, 'वर्धमान' था, लेकिन अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों और परीषहों से अपराजित, कष्टसहिष्णु, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, त्याग में अद्भुत पराक्रम एवं आध्यात्मिक वीरता के कारण उनकी ख्याति 'वीर अथवा 'महावीर' के रूप में हुई हैं।[2]

---

१ इसका प्रचलित नाम वृत्तिकार सम्मत 'वीरस्तुति' है।—सूत्र कृ० शी० वृत्ति अनुवाद भाग २ पृ० २४७

२ (क) वीरस्तुति (उपाध्याय अमरमुनि) के आधार पर पृ० २,

(ख) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ८५ उत्तरार्द्ध

दुःखों से वास्ता पड़ता है और देवगति में भी ईर्ष्या, कलह, ममत्वजनित दुःख, वियोगदुःख, नीचजातीय देवों में उत्पत्ति आदि अनेकों दुःख हैं। मतलब यह है कि नरकगति की तरह तिर्यञ्च, मनुष्य या देवगति में भी दुःखमय वातावरण प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—"**एवं तिरिक्खे मणुयामरेसु**......**इति वेदयित्ता**......।" इसका आशय यह है कि चारों गतियों में भावनरक की प्राप्ति या नारकीय दुःखमय वातावरण सम्भव है, इसलिए चतुर्गतिपर्यन्त अनन्त संसार को दुःखमय समझो। इन चारों गतियों के कारणों[८] तथा चारों गतियों में कृत-कर्मों के अनुरूप विपाक (कर्मफल) को समझे। तथा मृत्युपर्यन्त इस प्रकार की संसार दृष्टि के चक्कर में न आकर एकमात्र ध्रुव यानी मोक्ष दृष्टि रखकर संयमाचरण करे तथा पण्डितमरण के अवसर की प्रतीक्षा करे।

पाठान्तर और व्याख्या—धुवमाचरंतो=ध्रुव अर्थात् मोक्ष या संयम; उसका अनुष्ठान करता हुआ। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**धुतमाचरंति**—"धूयतेऽनेन कर्म इति धुतं चारित्रमित्युक्तम्। आचार इति क्रियायोगे, आचरन्, आचरंतो वा चरणमिति।" अर्थात्—जिससे कर्म धुना—नष्ट किया जाय, उसे धुन-चारित्र कहते हैं। उसका आचरण करता हुआ अर्थात् क्रियान्वित करता हुआ।[९] **कंखेज्ज कालं**=काल की आकांक्षा करे। इसका रहस्य आचारांग सूत्र की वृत्ति के अनुसार है—पण्डितमरण के काल (अवसर) की प्रतीक्षा करे।[१०]

द्वितीय उद्देशक समाप्त

।। निरय (नरक) विभक्ति : पंचम अध्ययन सम्पूर्ण ।।

महावीरस्तव (वीरस्तुति)—छठा अध्ययन

प्राथमिक

- ☐ सूत्रकृतांगसूत्र (प्र० श्रु०) के छठे अध्ययन का नाम 'महावीरस्तव' (वीरस्तुति) है[1]।
- ☐ पूर्णता का आदर्श सम्मुख रहे बिना अपूर्ण साधक का आगे बढ़ना कठिन होता है, इसलिए इस अध्ययन की रचना की गई है ताकि अपूर्ण साधक पूर्णता के आदर्श के सहारे कर्मबन्धन के मिथ्यात्वादि कारणों से दूर रहकर शुद्ध संयम तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग पर शीघ्रगति से बढ़कर पूर्ण (ध्रुव या मोक्ष) को प्राप्त कर सके।
- ☐ पहले से लेकर पांचवें अध्ययन तक कहीं मिथ्यात्व से, कहीं अविरति (हिंसा, असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य) आदि से, कहीं प्रमाद—(उपसर्गों के सहन करने या जीतने में होने वाली असावधानी) से, कहीं कषाय (द्वेष, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, अभिमान, माया आदि) से होने वाले कर्मबन्धन और उनसे छुटने का निरूपण है, कहीं घोर पापकर्मबन्ध से प्राप्त नरक और उसके दुःखों का व उनसे बचने के उपाय सहित वर्णन है। अतः इस छठे अध्ययन में कर्मबन्धनों और उनके कारणों से विरत; उपसर्गों और परीषहों के समय पर्वतसम अडोल रहने वाले स्थिरप्रज्ञ, भव्यजीवों को प्रतिबोध देनेवाले, स्वयं मोक्षमार्ग में पराक्रम करके प्रबल कर्मबन्धनों को काटने वाले श्रमण शिरोमणि तीर्थंकर महावीर की स्तुति के माध्यम से मुमुक्षु साधक के समक्ष उनका आदर्श प्रस्तुत करना इस अध्ययन का उद्देश्य है। ताकि स्तुति के माध्यम से भगवान महावीर के आदर्श जीवन का स्मरण करके साधक आत्मबल प्राप्त कर सके, तथा उन्होंने जिस प्रकार संसार पर विजय पाई थी, उसी प्रकार विजय पाने का प्रयत्न करे।[1]
- ☐ श्रमण भगवान महावीर का मूल नाम तो, 'वर्धमान' था, लेकिन अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों और परीषहों से अपराजित, कष्टसहिष्णु, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, त्याग में अद्भुत पराक्रम एवं आध्यात्मिक वीरता के कारण उनकी ख्याति 'वीर अथवा 'महावीर' के रूप में हुई हैं।[2]

---

१ इसका प्रचलित नाम वृत्तिकार सम्मत 'वीरस्तुति' है।—सूत्र कृ० शी० वृत्ति अनुवाद भाग २ पृ० २४७

२ (क) वीरस्तुति (उपाध्याय अमरमुनि) के आधार पर पृ० २,

(ख) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ८५ उत्तरार्द्ध

☐ 'वीर' शब्द के निक्षेप दृष्टि से ६ अर्थ निर्युक्तिकार ने बताए हैं—(१) नामवीर, (२) स्थापना-वीर, (३) द्रव्यवीर, (४) क्षेत्रवीर, (५) कालवीर और (६) भाववीर। नाम-स्थापना वीर सुगम है। 'द्रव्यवीर' वह है, जो द्रव्य के लिए युद्धादि में वीरता दिखाता है, अथवा जो द्रव्य वीर्यवान हो। तीर्थंकर अनन्त बल-वीर्य युक्त होते हैं, चक्रवर्ती भी सामान्य मनुष्यों या राजाओं आदि से बढ़कर बल-वीर्यवान होते हैं। इसलिए ये द्रव्यवीर कहे जा सकते हैं। अपने क्षेत्र में अद्‌भुत पराक्रम दिखाने वाला 'क्षेत्रवीर' है। जो अपने युग या काल में अद्‌भुत पराक्रमी होता है अथवा काल (मृत्यु) पर विजय पा लेता है, वह कालवीर है। भाववीर वह है, जिसकी आत्मा राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, पंचेन्द्रिय-विषय, काम, मोह, मान, तथा उपसर्ग, परीषह आदि पर परम विजय प्राप्त कर लेती है।[४]

☐ यहाँ 'वीर' शब्द से मुख्यतया 'भाववीर' ही विवक्षित है। महती भाववीरता के गुणों के कारण यहाँ 'महावीर' शब्द व्यक्तिवाचक होते हुए भी गुणवाचक है।

☐ आभूषण, चन्दन, पुष्पमाला आदि सचित्त-अचित्त द्रव्यों द्वारा अथवा शरीर के विविध अंगों के नमन, संकोच तथा वाचा-स्फुरण आदि द्रव्यों से जो स्तुति की जाती है, वह द्रव्यस्तुति है, और विद्यमान गुणों का उत्कीर्तन, गुणानुवाद आदि हृदय से किया जाता है, वहाँ भावस्तुति है। प्रस्तुत में तीर्थंकर महावीर की भावस्तुति ही विवक्षित है। यही 'महावीरस्तव' का भावार्थ है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में भगवान महावीर स्वामी के ज्ञानादि गुणों के सम्बन्ध में श्री जम्बूस्वामी द्वारा उठाए हुए प्रश्न का गणधर श्री सुधर्मास्वामी द्वारा स्तुति सूचक शब्दों में प्रतिपादित गरिमा-महिमा-मण्डित सांगोपांग समाधान है।[५]

☐ उद्देशक रहित प्रस्तुत अध्ययन में २९ सूत्रगाथाओं द्वारा भगवान महावीर के अनुपम धर्म, ज्ञान, दर्शन, अहिंसा, अपरिग्रह, विहारचर्या, निश्चलता, क्षमा, दया, श्रुत, तप, चारित्र, कषाय-विजय, ममत्व एव वासना पर विजय, पापमुक्तता, अद्‌भुत त्याग आदि उत्तमोत्तम गुणों का भावपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अष्टविध कर्मक्षय के लिए उनके द्वारा किये गये पुरुषार्थ,

---

३ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४६

४ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ८३, ८४,
(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १४२
(ग) जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।
पंचेंदियाणि कोहं, माणं मायं, तेहव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥
—उत्तरा० अ० ९, गा० ३४, ३६

५ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ८५ पूर्वार्द्ध

प्राणियों की गति-आगति, स्वभाव, शरीर, कर्म आदि के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान, अनन्त-ज्ञानादि सम्पन्नता आदि का भी वर्णन है।

☐ महावीर को श्रेष्ठता के लिए संसार के श्रेष्ठ माने जाने वाले सुमेरु, चन्द्र, सूर्य, स्वयम्भूरमण समुद्र, देवेन्द्र, शंख आदि पदार्थों से उपमा दी गई है। तथा निर्वाणवादियों, साधुओं, मुनियों, तपस्वियों, सुज्ञानियों, शुक्लध्यानियों, धर्मोपदशकों, अध्यात्मा विद्या के पारगामियों, चारित्रवानों एवं प्रभावको में सर्वश्रेष्ठ एवं अग्रणी नेता माना गया है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्र गाथा ३५२ से प्रारम्भ होकर ३८० पर समाप्त होता है।[६]

☐☐☐☐

सूयगडंग सुत्तं मूलपाठ-टिप्पण-सहित पृ० ६३ से ६७ तक का सारांश

महावीरत्थवो (वीरत्थुइ) : छट्ठं अज्झयणं

महावीरस्तव (वीरस्तुति) : छठा अध्ययन

भगवान् महावीर के सम्बन्ध में जिज्ञासा—

३५२. **पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य, अगारिणो य परतित्थिया य ।**
से के इणेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साधुसमिक्खयाए ॥ १ ॥

३५३. **कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं नातसुतस्स आसी ।**
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥ २ ॥

३५२. श्रमण और ब्राह्मण (माहन), क्षत्रिय आदि सद्गृस्थ (अगारी) और अन्यतीर्थिक (शाक्य आदि) ने पूछा कि वह कौन है, जिसने एकान्त हितरूप अनुपम धर्म; अच्छी तरह सोच-विचार कर कहा है ?

३५३. उन ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था ? उनका दर्शन कैसा था ? तथा उनका शील (यम-नियम का आचरण) किस प्रकार का था ? हे मुनिपुङ्गव ! आप इसे यथार्थ रूप से जानते हैं, (इसलिए) जैसा आपने सुना है, जैसा निश्चय किया है, (वैसा) हमें कहिए ।

विवेचन—**भगवान महावीर के उत्तम गुणों के सम्बन्ध में जिज्ञासा**—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय (३५२-३५३) में श्री जम्बूस्वामी द्वारा अपने गुरुदेव श्री सुधर्मास्वामी से भगवान महावीर स्वामी के उत्तमोत्तम गुणों एवं आदर्शों के सम्बन्ध में सविनय पूछे गए प्रश्न अंकित है । मुख्यतया चार प्रश्न उठाए गए हैं—(१) एकान्तहितकर अनुपम धर्म के सम्प्ररूपक कौन हैं ? (२) ज्ञातपुत्र भगवान महावीर का ज्ञान कैसा था ? (३) उनका दर्शन कैसा था ? और (४) उनका शील कैसा था ?

जिज्ञासाओं के स्रोत—श्री जम्बूस्वामी स्वयं तो भगवान महावीर स्वामी के आदर्श जीवन के सम्बन्ध में जानते ही थे, फिर उनके द्वारा ऐसी जिज्ञासाएँ प्रस्तुत करने का क्या अर्थ है ? इसी के समाधानार्थ शास्त्रकार यहाँ स्पष्ट करते हैं—'**पुच्छिसु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिआ य ।**' आशय यह है कि जम्बूस्वामी से श्रमण भगवान महावीर की वाणी सुनी होगी, उस पर से कुछ मुमुक्षु श्रमणों आदि ने जम्बूस्वामी से ऐसे प्रश्न किये होंगे, तभी उन्होंने श्री सुधर्मास्वामी के समक्ष ये जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की हैं । इसलिए इन जिज्ञासाओं के स्रोत श्रमण, ब्राह्मण आदि थे ।[1]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४२ के आधार पर

पाठान्तर एवं कठिन शब्दों की व्याख्या—**साधुसमिक्खयाए**=वृत्तिकार के अनुसार—(साधु) सुन्दररूप से समीक्षा– पदार्थ के यथार्थ तत्त्व (स्वरूप) का निश्चय करके अथवा समत्वदृष्टिपूर्वक। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**साधुसमिक्खदाए** अर्थ किया है–केवलज्ञान के प्रकाश में सम्यक् रूप से देखकर। **'कहं च णाणं'**=वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—(१) भगवान ने इतना विशुद्धज्ञान कहाँ से या कैसे प्राप्त किया था ? (२) भगवान महावीर का ज्ञान-विशेष अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध—कैसा था ? **'कहं दंसणं से ?'** वृत्तिकार ने इसके भी दो अर्थ किये हैं—(१) विश्व के समस्त चराचर या सजीव-निर्जीव पदार्थों को देखने या उनकी यथार्थ वस्तु स्थिति पर विचार करने की उनकी दृष्टि (दर्शन) कैसी थी ? (२) उनका दर्शन—सामान्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध-कैसा था ? **सीलं**=यम—(महाव्रत), नियम-(समिति-गुप्ति आदि के पोषक नियम, त्याग, तप आदि) रूप शील—आचार **नातसुतस्स**=ज्ञातृवंशीय[2] क्षत्रियों के पुत्र का।[3] **अगारिणो**=वृत्तिकार के अनुसार-क्षत्रिय आदि गृहस्थ। चूर्णिकार के अनुसार—**'अकारिणस्तु क्षत्रिय-विट्-शूद्राः'** अकारी का अर्थ है–क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। **माहणा**=वृत्तिकार के अनुसार—ब्राह्मण—ब्रह्मचर्यादि अनुष्ठान में रत। चूर्णिकार के अनुसार—**'माहणा-श्रावका ब्राह्मणजातीया वा'** अर्थात्–माहन का अर्थ है—श्रावक या ब्राह्मणजातीय।[4]

अनेक गुणों से विभूषित भगवान महावीर की महिमा—

३५४. खेयण्णए से कुसले आसुपन्ने[5], अणंतणाणी य अणंतदंसी।
जसंसियो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहा ॥ ३ ॥

३५५. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पण्णे, दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

३५६. से सव्वदंसी अभिभूय णाणी, निरामगंधे धिइमं ठितप्पा।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥

३५७. से भूतिपण्णे अणिएयचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू।
अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

३५८. अणुत्तरं धम्ममिणं, जिणाणं णेता मुणी कासवे आसुपण्णे।
इंदे व देवाण महाणुभावे, सहस्सनेता दिवि णं विसिट्ठे ॥ ७ ॥

---

२ वैशाली (बसाढ़ जि० मुजफ्फरपुर) के जैथरिया भूमिहार 'ज्ञातृ' ही है। आज भी उस प्रदेश के लाखों जैथरिया-काश्यप गोत्री हैं। ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय लिच्छवी गणतंत्रियों की शाखा थे।

—अर्थागम (हिन्दी) प्रथम खण्ड पृ० १९३

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १४२-१४३
(ख) सूयगडंगसुत्तं चूर्णि (मूलपाठ-टिप्पण) पृ० ६३

४ सूयगडंगसुत्तं कतिपय विशिष्ट टिप्पण (जम्बूविजय जी सम्पादित) पृ० ३६५

५ शीलांक टीका में—"खेयण्णए से कुसले महेसी" पाठान्तर हैं।

३५९. से पण्णया अक्खये सागरे वा, महोदधी वा वि अणंतपारे।
अणाइले वा अकसाथि मुक्के, सक्के व देवाहिपती जुतीमं ॥ ८ ॥

३६०. से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे।
सुरालए वा वि मुदागरे से, विरायतेऽणेगगुणोववेते ॥ ९ ॥

३५४. भगवान महावीर खेदज्ञ (संसार के प्राणियों के दुःख के ज्ञाता) थे, कर्मों के उच्छेदन में कुशल थे, आशुप्रज्ञ (सदा सर्वत्र उपयोगवान्) थे, अनन्तज्ञानी (सर्वज्ञ) और अनन्तदर्शी (सर्वदर्शी) थे। वे उत्कृष्ट यशस्वी (सुर, असुर और मानवों के यश से बढ़कर यश वाले) थे, जगत् के नयनपथ में स्थित थे, उनके धर्म (स्वभाव या श्रुत-चारित्ररूप धर्म) को तुम जानो (समझो) और (धर्मपालन में) उनकी धीरता को देखो।

३५५. ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओं में, जो त्रस और स्थावर प्राणी (रहते) हैं, उन्हें नित्य (जीवद्रव्य की दृष्टि से) और अनित्य (पर्याय-परिवर्तन की दृष्टि से) दोनों प्रकार का जानकर उन (केवलज्ञानी भगवान) ने दीपक या द्वीप के तुल्य सद्धर्म का सम्यक् कथन किया था।

३५६. वे (वीरप्रभु) सर्वदर्शी थे, चार ज्ञानों को पराजित करके केवलज्ञान सम्पन्न बने थे, निरामगन्धी (मूल-उत्तरगुणों से विशुद्ध चारित्र पालक) थे, (परीषहोपसर्गों के समय निष्कम्प रहने के कारण) धृतिमान थे, स्थितात्मा (आत्मस्वरूप में उनकी आत्मा स्थित थी) थे, समस्त जगत् में वे (सकल पदार्थों के वेत्ता होने से) सर्वोत्तम विद्वान् थे (सचित्तादि रूप बाह्य और कर्मरूप आभ्यन्तर) ग्रन्थ से अतीत (रहित) थे, अभय (सात प्रकार के भयों से रहित) थे तथा अनायु (चारों गतियों के आयुष्यबन्ध से रहित) थे।

३५७. वे भूतिप्रज्ञ (अतिशय प्रवृद्ध या सर्वमंगलमयी अथवा विश्व-रक्षामयी प्रज्ञा से सम्पन्न), अनियताचारी (अप्रतिबद्धविहारी), ओघ (संसार-सागर) को पार करने वाले, धीर (विशालबुद्धि से सुशोभित) तथा अनन्तचक्षु (अनन्तज्ञेय पदार्थों को केवलज्ञान रूप नेत्र से जानते) थे। जैसे सूर्य सबसे अधिक तपता है, वैसे ही भगवान सबसे अधिक उत्कृष्ट तप करते थे, अथवा ज्ञानभानु से सर्वाधिक देदीप्यमान थे। वैरोचनेन्द्र (प्रज्वलित अग्नि) जैसे अन्धकार मिटाकर प्रकाश करता है, वैसे ही भगवान अज्ञानान्धकार मिटाकर पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित करते थे।

३५८. आशुप्रज्ञ काश्यप गोत्रीय, मुनिश्री वर्धमान स्वामी ऋषभदेव आदि जिनवरों के इस अनुत्तर (सबसे प्रधान) धर्म के नेता है। जैसे स्वर्ग (देव) लोक में इन्द्र हजारों देवो में महाप्रभावशाली, नेता एवं (रूप, वल, वर्ण आदि में सवसे) विशिष्ट (प्रधान) है, इसी तरह भगवान भी सबसे अधिक प्रभावशाली, सबके नेता और सबसे विशिष्ट हैं।

३५९. वह (भगवान) समुद्र के समान प्रज्ञा से अक्षय हैं, अथवा वह स्वयम्भूरमण महासागर के समान प्रज्ञा से अनन्तपार (अपरम्पार) हैं, जैसे समुद्रजल निर्मल (कलुषतारहित) है, वैसे ही भगवान का ज्ञान भी (ज्ञानावरणीय कर्ममल से सर्वथा रहित होने से) निर्मल है, तथा वह कषायों से सर्वथा

रहित, एवं घाति कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हैं, (इसी तरह) भगवान इन्द्र के समान देवाधिपति है तथा द्युतिमान (तेजस्वी) हैं।

३६०. वह (भगवान महावीर) वीर्य से परिपूर्णवीर्य हैं, पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ सुदर्शन (सुमेरु) पर्वत के समान, वीर्य से तथा अन्य गुणों से सर्वश्रेष्ठ हैं। जैसे देवालय (स्वर्ग) वहाँ के निवासियों को अनेक (प्रशस्त रूप-रस-गन्धस्पर्श प्रभावादि) गुणों से युक्त होने से मोदजनक है, वैसे ही अनेक गुणों से युक्त भगवान भी (पास में आने वाले के लिए) प्रमोदजनक होकर विराजमान हैं।

विवेचन—**अनेक गुणों से विभूषित भगवान महावीर की महिमा**—प्रस्तुत ७ सूत्रगाथाओं (३५४ से ३६० तक) में श्री सुधर्मास्वामी द्वारा पूर्वजिज्ञासा के समाधान के रूप में भगवान महावीर के सर्वोत्तम विशिष्ट गुणों का उत्कीर्त्तन किया गया है। वे विशिष्ट गुण क्रमशः इस प्रकार प्रतिपादित हैं—(१) खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ, (२) कुशल (३) आशुप्रज्ञ, (४) अनन्तज्ञानी, (५) अनन्तदर्शी, (६) उत्कृष्ट यशस्वी, (७) विश्व-नयनपथ में स्थित, (८) प्रशंसनीय धर्म तथा धैर्यवान, (१०) उन्होंने द्वीप या दीप के तुल्य धर्म का कथन लोक के समस्त त्रस-स्थावर जीवों को नित्य-अनित्य जानकर किया, (११) सर्वदर्शी, (१२) केवलज्ञान-सम्पन्न, (१३) निर्दोष चारित्रपालक (निरामगन्धी), (१४) धृतिमान, (१५) स्थितात्मा, (१६) जगत् के सर्वोत्तम विद्वान, (१७) बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थों से अतीत, (१८) अभय, (१९) अनायु (आयुष्यबन्ध रहित), (२०) भूतिप्रज्ञ, (२१) अप्रतिबद्ध विचरणशील, (२२) संसार सागर पारंगत, (२३) धीर, (२४) अनन्तचक्षु (२५) सूर्यवत् सर्वाधिक तपनशील, (२६) प्रज्ज्वलित अग्निवत् अज्ञान तिमिर-निवारक, एवं पदार्थ स्वरूप प्रकाशक, (२७) आशुप्रज्ञमुनि, (२८) पूर्वजन प्ररूपित अनुत्तरधर्म के नेता, (२९) स्वर्ग में हजारों देवो में महाप्रभावशाली, नेता एवं विशिष्ट इन्द्र के समान सर्वाधिक प्रभावशाली, नेता एवं विशिष्ट, (३०) समुद्रवत् प्रज्ञा से अक्षय, (३१) स्वयम्भूरमण-महोदधि के समान गम्भीरज्ञानीय प्रज्ञा से अनन्त-पार, (३२) समुद्र के निर्मल जलवत् सर्वथा निर्मल ज्ञान-सम्पन्न, (३३) अकषायी, (३४) घाति कर्म-वन्धनों से मुक्त (३५) इन्द्र के समान देवाधिपति, (३६) तेजस्वी, (३७) परिपूर्णवीर्य (३८) पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ सुमेरुवत् गुणों में सर्वश्रेष्ठ, (३९) अनेक प्रशस्त गुणों से युक्त होने से स्वर्गवत् प्रमोदजनक।[५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**खेयण्णए**=इसके तीन अर्थ है—(१) **खेदज्ञ**=संसारी प्राणियों के कर्मविपाकज दुःखों के ज्ञाता, (२) यथार्थ आत्मस्वरूप परिज्ञान होने से आत्मज्ञ—(क्षेत्रज्ञ)[६] तथा (३) क्षेत्र—आकाश (लोकालोक रूप) के स्वरूप परिज्ञाता। '**जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहा**=(१) भगवान के अनुत्तर धर्म को जानो और धर्मपालन में धृति को देखो, (२) भगवान् का जैसा धर्म, जैसी धृति या प्रेक्षा है, उसे तुम यथार्थरूप में जान लो। (३) अथवा यदि तुम उनके धर्म, और धृति को जानते हो तो हमें बतलाओ। **दीवेव धम्मं**=(१) प्राणियों को पदार्थ का स्वरूप प्रकाशित (प्रकट) करने से दीप के समान, (२) अथवा संसार समुद्र में पड़े हुए प्राणियों को सदुपदेश देने से उनके लिए आश्वासनदायक या आश्रयदाता द्वीप के समान धर्म का।[७]

---

५ सूत्रकृतांग (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० ६३-६४ का सारांश

६ तुलना करें—भगवद्गीता के क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग नामक १३ वें अध्याय में प्रतिपादित 'क्षेत्रज्ञ' के वर्णन से।

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १४३ से १४६ तक
  (ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६३-६४

पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के समान गुणों में सर्वश्रेष्ठ महावीर—

३६१. सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिगंडे से पंडगवेजयंते।
से जोयणे णवणवते सहस्से, उड्ढुस्सिते हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥

३६२. पुट्ठे णभे चिट्ठति भूमिए ठिते, जं सूरिया अणुपरियट्टयंति।
से हेमवण्णे बहुणंदणे य, जंसी रतिं वेदयंती महिंदा ॥ ११ ॥

३६३. से पव्वते सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवण्णे।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिते व भोमे ॥ १२ ॥

३६४. महीइ मज्झम्मि ठिते णगिंदे, पण्णायते सूरिय सुद्धलेस्से।
एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे, मणोरमे जोयति अच्चिमाली ॥१३॥

३६५. सुदंसणस्सेस जसो गिरिस्स, पवुच्चती महतो पव्वतस्स।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जाती-जसो-दंसण-णाणसीले ॥ १४ ॥

३६१. वह सुमेरुपर्वत सौ हजार (एक लाख) योजन ऊँचा है। उसके तीन कण्ड (विभाग) हैं। उस पर सर्वोच्च पण्डकवन पताका की तरह सुशोभित है। वह निन्यानवे हजार योजन ऊँचा उठा है, और एक हजार योजन नीचे (भूमि में) गड़ा है।

३६२. वह सुमेरुपर्वत आकाश को छुता हुआ पृथ्वी पर स्थित है। जिसकी सूर्यगण परिक्रमा करते हैं। वह सुनहरे रंग का है, और अनेक नन्दनवनों से युक्त (या बहुत आनन्ददायक) है। उस पर महेन्द्रगण आनन्द अनुभव करते हैं।

३६३. वह पर्वत (सुमेरु, मन्दर, मेरु, सुदर्शन, सुरगिरि आदि) अनेक नामों से महाप्रसिद्ध है, तथा सोने की तरह चिकने शुद्ध वर्ण से सुशोभित है। वह मेखला आदि या उपपर्वतों के कारण सभी पर्वतों में दुर्गम है। वह गिरिवर मणियों और औषधियों से प्रकाशित भूप्रदेश की तरह प्रकाशित रहता है।

३६४. वह पर्वतराज पृथ्वी के मध्य में स्थित है तथा सूर्य के समान शुद्ध तेज वाला प्रतीत होता है। इसी तरह वह अपनी शोभा से अनेक वर्ण वाला और मनोरम है, तथा सूर्य की तरह (अपने तेज से दसों दिशाओं को) प्रकाशित करता है।

३६५. महान् पर्वत सुदर्शनगिरि का यश (पूर्वोक्त प्रकार से) बताया जाता है, ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर को भी इसी पर्वत से उपमा दी जाती है। (जैसे सुमेरुपर्वत अपने गुणों के कारण समस्त पर्वतों में श्रेष्ठ हैं, इसी तरह) भगवान् भी जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील में सर्वश्रेष्ठ हैं।

विवेचन—पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के समान गुणों में सर्वश्रेष्ठ महावीर—प्रस्तुत पांच सूत्रों में भगवान् को पर्वतराज सुमेरु से उपमा दी गई है। सुमेरुपर्वत की उपमा भगवान् के साथ इस प्रकार घटित होती है

—जैसे सुमेरुपर्वत ऊर्ध्व, अधः और मध्य तीनों लोकों से स्पृष्ट है, वैसे ही भगवान् का प्रभाव भी त्रिलोक में व्याप्त था। जैसे सुमेरु तीन विभाग से सुशोभित है—भूमिमय, स्वर्णमय, वैडूर्यमय, वैसे ही भगवान् भी सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से सुशोभित थे। सुमेरुशिखर पर पताकावत् पण्डकवन सुशोभित है, वैसे वीर प्रभु भी तीर्थंकर नामक शीर्षस्थ पद से सुशोभित थे। सूर्यगण आदि सदैव सुमेरु के चारों ओर परिक्रमा देते हैं, वैसे भगवान् के भी चारों ओर देव तथा चक्रवर्ती आदि सम्राट् भी प्रदक्षिणा देते थे, उनका उपदेश सुनने के लिए उत्सुक रहते थे। सुमेरु स्वर्णवर्ण का है, भगवान भी स्वर्ण-सम कान्ति वाले थे। सुमेरु ऊर्ध्वमुखी है, वैसे ही भगवान् के अहिंसादि सिद्धान्त भी सदैव ऊर्ध्वमुखी थे। सुमेरु के नन्दनवन में स्वर्ग से देव और इन्द्रादि आकर आनन्दानुभव करते हैं, भगवान के समवसरण में सुर-असुर, मानव, तिर्यञ्च आदि सभी प्राणी आकर आनन्द और शान्ति का अनुभव करते थे। सुमेरुपर्वत अनेक नामों से सुप्रसिद्ध है, वैसे ही भगवान भी वीर, महावीर, वर्धमान, सन्मति, वैशालिक, ज्ञातपुत्र त्रिशलानन्दन आदि नामों से सुप्रसिद्ध थे। सुमेरु की कन्दरा से उठने वाली देवों की कोमल ध्वनि दूर-दूर गूंजती रहती है, वैसे वीरप्रभु की अतीव ओजस्वी, सारगर्भित, गम्भीर दिव्यध्वनि भी दूर-दूर श्रोताओं को सुनाई देती थी, सुमेरुपर्वत अपनी ऊँची-ऊँची मेखलाओं एवं उपपर्वतों के कारण दुर्गम हैं, वैसे भगवान भी प्रमाण, नय, निक्षेप अनेकान्त (स्याद्‌वाद) की गहन भंगावलियों के कारण तथा गौतम आदि अनेक दिग्गज विद्वान् अन्तेवासियों के कारण वादियों के लिए दुर्गम एवं अजेय थे। जैसे सुमेरुगिरि अनेक तेजोमय तरु समूह से देदीप्यमान है, वैसे ही भगवान् भी अनन्तगुणों से देदीप्यमान थे। जैसे सुमेरु, पर्वतों का राजा है, वैसे भगवान् महावीर भी त्यागी, तपस्वी साधु-श्रावकगण के राजा थे, यानी संघनायक थे। सुमेरुपर्वत से चारों ओर प्रकाश की उज्ज्वल किरणें निकलकर सर्वदिशाओं को आलोकित करती रहती हैं, वैसे ही भगवान के ज्ञानालोक की किरणें भी सर्वत्र फैलकर लोक-अलोक सबको आलोकित करती थी, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जो उनके अनन्त ज्ञानालोक से उद्‌भासित न होता हो। जैसे सुमेरुपर्वत ठीक भूमण्डल के मध्य में है, वैसे ही भगवान भी धर्म-साधकों की भक्ति-भावनाओं के मध्य-बिन्दु थे। पर्वतराज सुमेरु जैसे लोक में यशस्वी कहलाता हैं, वैसे ही जिनराज भगवान तीनों लोकों में महायशस्वी थे। जिस प्रकार मेरुगिरि अपने गुणों के कारण पर्वतों में श्रेष्ठ, हैं वैसे ही भगवान भी अपनी जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील आदि सद्‌गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—
'एतोवमे समणे नायपुत्ते''''जाति-जसो-दंसण-णाण-सीले।'[८]

विविध उपमाओं से भगवान की श्रेष्ठता—

३६६. गिरीवरे वा निसहाऽऽयताणं, रुयगे व सेट्ठे वलयायताणं।
ततोवमे से जगभूतिपण्णे, मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥१५॥

३६७. अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाई।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखेंद वेगंतवदातसुक्कं ॥१६॥

---

८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्तिपत्र १४७-४८ का सार

३६८. अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गतिं साइमणंत पत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ।।१७।।

३६९. रुक्खेसु णाते जह सामली वा, जंसी रतिं वेदयंती सुवण्णा ।
वणेसु या नंदणमाहु सेट्ठे, णाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ।।१८।।

३७०. थणियं व सद्दाण अणुत्तरे तु, चंदो व ताराण महाणुभागे ।
गंधेसु या चंदणमाहु सेट्ठे, सेट्ठे मुणीणं अपडिण्णमाहु ।।१९।।

३७१. जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, णागेसु या धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोतोदए वा रसवेजयंते, तवोवहाणे मुणिवेजयंते ।।२०।।

३७२. हत्थीसु एरावणमाहु णाते, सीहे मियाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीस या गरुले वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह, णायपुत्ते ।।२१।।

३७३. जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ।।२२।।

३७४. दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणं, सच्चेसु या अणवज्जं वदंति ।
तवेसु या उत्तमबंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।।२३।।

३७५. ठितीण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुधम्मा व सभाण सेट्ठा ।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ।।२४।।

३६६. जैसे लम्बे पर्वतों में निषधपर्वत श्रेष्ठ है तथा वलयाकार (चूड़ी के आकार के) पर्वतों में रुचक पर्वत श्रेष्ठ है, वही उपमा जगत् में सबसे अधिक प्रज्ञावान् भगवान् महावीर की है। प्राज्ञपुरुषों ने मुनियों (के मध्य) में श्रमण महावीर को श्रेष्ठ कहा है।

३६७. भगवान महावीर ने अनुत्तर (संसारतारक सर्वोत्तम) धर्म का उपदेश देकर सर्वोत्तम श्रेष्ठ ध्यान—शुक्लध्यान की साधना की (भगवान् का) वह ध्यान अत्यन्त शुक्ल वस्तुओं के समान शुक्ल था, दोषरहित शुक्ल था, शंख और चन्द्रमा (आदि शुद्ध श्वेत पदार्थों) के समान एकान्त शुद्ध श्वेत (शुक्ल) था।

३६८. महर्षि महावीर ने (विशिष्ट क्षायिक) ज्ञान, शील (चारित्र) और दर्शन (केवल) से समस्त (ज्ञानावरणीय आदि) कर्मों का विशोधन (सर्वथा क्षय) करके सर्वोत्तम (अनुत्तर लोकाग्रभाग में स्थित) सादि अनन्त परम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की।

३६९. जैसे वृक्षों में (देवकुरुक्षेत्र स्थित) शाल्मली (सेमर) वृक्ष ज्ञात (जगत्-प्रसिद्ध) है, जहाँ

(भवनपतिजाति के) सुपर्ण (कुमार) देव आनन्द का अनुभव करते हैं, अथवा जैसे वनों में नन्दनवन (देवों के क्रीड़ास्थान) को श्रेष्ठ कहते हैं, इसी तरह ज्ञान और चारित्र में प्रभूतज्ञानी (अनन्तज्ञानी) भगवान महावीर को सबसे प्रधान (सर्वश्रेष्ठ) कहते हैं।

३७०. शब्दों में जैसे मेघ गर्जन प्रधान है, तारों में जैसे महाप्रभावशाली चन्द्रमा श्रेष्ठ है, तथा सुगन्धों में जैसे चन्दन (सुगन्ध) को श्रेष्ठ कहा है, इसी प्रकार मुनियों में कामनारहित (इहलोक-परलोक के सुख की आकांक्षा सम्बन्धी प्रतिज्ञा से रहित) भगवान महावीर को श्रेष्ठ कहा है।

३७१. जैसे समुद्रों में स्वयंम्भूरमण समुद्र श्रेष्ठ है, नागों (नागकुमार देवों) में धरणेन्द्र को श्रेष्ठ कहा है, एवं इक्षुरसोदक समुद्र जैसे रसवाले समस्त समुद्रों की पताका के समान प्रधान है, इसो तरह विशिष्ट (प्रधान) तपोविशेष (या उपधानतप) के कारण (विश्व की त्रिकालावस्था के ज्ञाता) मुनिवर भगवान महावीर समग्रलोक की पताका के समान मुनियों में सर्वोपरि हैं।

३७२. हाथियों में (इन्द्रवाहन) ऐरावत हाथी को प्रधान कहते हैं; मृगों में मृगेन्द्र (सिंह) प्रधान है, जलों-नदियों में गंगानदी प्रधान है, पक्षियों में वेणुदेव 'गरुड़पक्षी' मुख्य है, इसी प्रकार निर्वाणवादियों में—मोक्षमार्ग नेताओं में ज्ञातृ पुत्र भगवान महावीर प्रमुख थे।

३७२. जैसे योद्धाओं में प्रसिद्ध विश्वसेन (चक्रवर्ती) या विष्वक्सेन (वासुदेव श्री कृष्ण) श्रेष्ठ है, फूलों में जैसे अरविन्द कमल को श्रेष्ठ कहते हैं और क्षत्रियों में जैसे दान्तवाक्य (चक्रवर्ती) या दन्तवक्त्र (दन्तवक्र राजा) श्रेष्ठ है, वैसे ही ऋषियों में वर्धमान महावीर श्रेष्ठ है।

३७४. (जैसे) दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्य वचनों में निष्पाप (जो परपीड़ा-उत्पादक न हो) सत्य (वचन) को श्रेष्ठ कहते हैं, तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, इसी प्रकार लोक में उत्तम श्रमण ज्ञातृपुत्र महावीर-स्वामी हैं।

३७५. जैसे समस्त स्थिति (आयु) वालों में सात लव की स्थिति वाले पंच अनुत्तर विमानवासी देव श्रेष्ठ हैं, जैसे सुधर्मासभा समस्त सभाओं में श्रेष्ठ है, तथा सब धर्मों में जैसे निर्वाण (मोक्ष) श्रेष्ठ धर्म है, इसी तरह (ज्ञानियों में) ज्ञातपुत्र महावीर से बढ़कर (श्रेष्ठ) कोई ज्ञानी नहीं है।

विवेचन—विविध उपमाओं से भगवान की श्रेष्ठता—प्रस्तुत १० सूत्रगाथाओं (सू० गा० ३६६ से ३७५ तक) में विविध पदार्थों से उपमित करके भगवान महावीर की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। संसार के सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले पदार्थों से उपमा देकर भगवान की विभिन्न विशेषताओं, महत्ताओं और श्रेष्ठताओं का निम्नोक्त प्रकार से निरूपण किया हैं।[९]

(१) सर्वाधिक प्राज्ञ भगवान महावीर मुनियों में श्रेष्ठ हैं, जैसे दीर्घाकार पर्वतों में निषध और वलयाकार पर्वतों में रुचक है। (२) भगवान का सर्वोत्तम ध्यान शुक्लध्यान है, जो शंख, चन्द्र आदि अत्यन्त शुक्ल वस्तुओं के समान विशुद्ध और सर्वथा निर्मल था। (३) भगवान् ने क्षायिक ज्ञानादि के

---

९ सूयगडंगसुत्तं मूलपाठ (टिप्पणयुक्त) पृ० ६५-६६ का सारांश

वल से सर्वकर्मों का क्षय करके परमसिद्धि—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था—प्राप्त की। (४) भगवान ज्ञान और चारित्र में सर्वश्रेष्ठ हैं, जैसे वृक्षों में देवकुरु क्षेत्र का शाल्मलीवृक्ष तथा वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ माना जाता है। (५) मुनियों में लौकिक सुखाकांक्षा की प्रतिज्ञा (संकल्प-निदान) से रहित भगवान महावीर श्रेष्ठ हैं, जैसे कि ध्वनियों में मेघध्वनि, तारों में चन्द्रमा और सुगन्धित पदार्थों में चन्दन श्रेष्ठ कहा जाता है, (६) तपःसाधना के क्षेत्र में सर्वोपरि मुनिवर महावीर हैं, जैसे समुद्रों में स्वयम्भूरमण, नागदेवों में धरणेन्द्र एवं रसवाले समुद्रों में इक्षुरसोदक समुद्र श्रेष्ठ माना जाता है, (७) निर्वाणवादियों में भगवान महावीर प्रमुख हैं, जैसे हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगानदी तथा पक्षियों में गरुड़पक्षी प्रधान माना जाता हैं। (८) ऋषियों में वर्धमान महावीर श्रेष्ठ हैं, जैसे योद्धाओं में विश्वसेन या विष्वक्सेन,[10] फूलों में अरविन्द, क्षत्रियों में दान्तवाक्य या दन्तवक्र[11] श्रेष्ठ माना जाता है, (९) तीनों लोकों में उत्तम ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर है, जैसे कि दानों में अभयदान, सत्यों में निरवद्य सत्य और तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम माना जाता है। (१०) समस्त ज्ञानियों में ज्ञातपुत्र महावीर सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हैं, जैसे कि स्थिति वालों में लवसप्तम अर्थात् अनुत्तर विमानवासी देव, सभाओं में सुधर्मासभा एवं धर्मों में निर्वाण श्रेष्ठ धर्म है। यों विविध उपमाओं से भगवान महावीर की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है।

भगवान महावीर की विशिष्ट उपलब्धियाँ—

३७६. पुढोवमे धुणति विगतगेही, न सन्निहिं कुव्वति आसुपण्णे।
तरितुं समुद्दं व महाभवोघं, अभयंकरे वीरे अणंतचक्खू॥ २५॥

३७७. कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एताणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वति पावं ण कारवेती॥ २६॥

३७८. किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिते संजम दीहरायं॥ २७॥

३७९. से वारिया इत्थि सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं॥ २८॥

---

१० 'वीससेणे' इसके संस्कृत में दो रूप होते हैं—"विश्वसेनः, विष्वक्सेनः।" वृत्तिकार ने प्रथम रूप मानकर विश्वसेन का अर्थ चक्रवर्ती किया है, जबकि चूर्णिकार ने दोनों रूप मानकर प्रथम का अर्थ—चक्रवर्ती और द्वितीय का वासुदेव किया है। देखिये अमरकोश प्रथम काण्ड में—

विष्णुर्नारायणो कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः।
पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः।

११ दंतवक्के—चूर्णि और वृत्ति में 'दान्तवाक्य' का अर्थ चक्रवर्ती किया गया है। भागवत् पुराण (दशमस्कन्ध के ७८ वें अध्याय) में श्री कृष्ण की फूफी के पुत्र गदाधारी 'दन्तवक्त्र' का उल्लेख मिलता है। महाभारत के आदिपर्व (१/६१/ ५७) में 'दन्तवक्त्र' तथा सभापर्व (२/२८/३) में 'दन्तवक्र' राजा का उल्लेख है।

३७६. भगवान महावीर पृथ्वी के समान (समस्त प्राणियों के लिए आधारभूत) है। वे (आठ प्रकार के) कर्ममलों को दूर करने वाले हैं। वे (बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों में गृद्धि (आसक्ति) से रहित हैं। वे आशुप्रज्ञ (धन-धान्य आदि पदार्थों का) संग्रह (सन्निधि) नहीं करते हैं। अथवा वे (क्रोधादि विकारों की) सन्निधि (निकटता-लगाव) नहीं करते। (चातुर्गतिक) महान् संसार समुद्र को समुद्र के समान पार करके (भगवान निर्वाण के निकट पहुँचे हैं।) वे अभयंकर (दूसरों को भय न देने वाले, न ही स्वयं भय पाने वाले) हैं; वीर (कर्म-विदारण करने के कारण) हैं और अनन्त (चक्षु ज्ञानी) हैं।

३७७. महर्षि महावीर क्रोध, मान और माया तथा चौथा लोभ (आदि) इन (समस्त) अध्यात्म-(अन्तर) दोषों का वमन (परित्याग) करके अर्हन्त (पूज्य, विश्ववन्द्य, तीर्थंकर) बने हैं। वे न स्वयं पापाचरण करते हैं और न दूसरों से कराते हैं।

३७८. भगवान महावीर क्रियावाद, अक्रियावाद, (विनय) वैनयिकों के वाद और (अज्ञानिकों के अज्ञान) वाद के पक्ष को सम्यक् रूप से जानकर तथा समस्त वादों (के मन्तव्य) को समझ कर आजीवन (दीर्घरात्र तक) संयम में उत्थित (उद्यत) रहे।

३७९. वे वीरप्रभु रात्रि-भोजन सहित स्त्रीसंसर्ग का त्यागकर दुःखों के (कारणभूत कर्मों के) क्षय के लिए (सदा) विशिष्ट तप में उद्यत रहते थे। उन्होने इहलोक और परलोक को जानकर सब प्रकार के पापों का सर्वथा त्याग कर दिया था।

विवेचन—भगवान् महावीर की विशिष्ट उपलब्धियाँ—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (३७६ से ३७९ तक) में भगवान् महावीर के जीवन की विशिष्ट उपलब्धियों का निरूपण शास्त्रकार ने किया है। वे विशिष्ट उपलब्धियाँ ये हैं—(१) पृथ्वी के समान वे प्राणियों के आधारभूत हो गए, (२) अष्टविध कर्मों का क्षय करने वाले हुए, (३) बाह्याभ्यन्तर पदार्थों में गृद्धि-रहित हो गए, (४) वे धनधान्यादि पदार्थों का संग्रह या क्रोधादि विकारों का सान्निध्य नहीं करते थे, (५) संसारसमुद्र को पार करके निर्वाण के निकट पहुंच गए, अभयंकर, (७) वीर तथा (८) अनन्तचक्षु हो गए। (९) क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आन्तरिक (आध्यात्मिक) विकारों का त्याग करके महर्षि एवं अर्हन्त हो गए, (१०) अब हिंसादि पापों का आचरण न तो वे स्वयं करते हैं. न कराते हैं। (११) क्रियावाद आदि समस्त वादों को[12] स्वयं जानकर दूसरों को समझाते। (१२) जीवनपर्यन्त शुद्ध संयम में उद्यत रहे, (१३) अपने जीवन और शासन में उन्होंने रात्रि-भोजन और स्त्रीसंसर्ग (अब्रह्मचर्य) वर्जित किया, (१४) दुःख के कारणभूत कर्मों के क्षय के लिए वे सदैव विशिष्ट तपःसाधना करते रहे, (१५) इहलोक-परलोक (चातुर्गतिक संसार) के स्वरूप और कारणों को जानकर उन्होंने सब प्रकार के पापों का सर्वथा निवारण कर दिया।[13]

पाठान्तर और व्याख्या—उवट्ठिते संजम दीहरायं=दीर्घरात्र तक यावज्जीव संयम में उत्थित रहे, चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'उवट्ठिते सम्म स दीहरायं'**—वे जीवनपर्यन्त मोक्ष के लिए सम्यक्रूप से

---

१२ क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी के ३६३ भेदों तथा उनके स्वरूप का विश्लेपण समवसरण (१२वें) अध्ययन में यथास्थान किया जाएगा। —सम्पादक

१३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५१ का सारांश

उपस्थित-उद्यत रहे। 'आरं परं (पारं) च'=आरं=इहलोक अथवा मनुष्यलोक, पारं (परं)=परलोक या नारकादिलोक। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—अपरं परं च' अर्थ प्रायः समान है।[१४]

फलश्रुति—

> ३८०. **सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्ठपओवसुद्धं।**
> **तं सद्दहंता य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति॥ २९॥**
> **त्ति बेमि।**

॥ महावीरत्थवो छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं॥

३८०. श्री अरिहन्तदेव द्वारा भाषित, सम्यक् रूप से उक्त युक्तियों और हेतुओं से अथवा अर्थों और पदों से शुद्ध (निर्दोष) धर्म को सुनकर उस पर श्रद्धा (श्रद्धापूर्वक सम्यक् आचरण) करने वाले व्यक्ति आयुष्य (कर्म) से रहित-मुक्त हो जाएँगे, अथवा इन्द्रों की तरह देवों का आधिपत्य प्राप्त करेंगे।

—यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—फलश्रुति—प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार इस अन्तिम गाथा में भ० महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्ररूप धर्म का श्रवण, श्रद्धान एवं आचरण करने वाले साधकों को उसकी फलश्रुति बताते हैं—सोच्चा य धम्मं ......आगमिस्संति।

॥ महावीरस्तव षष्ठ अध्ययन समाप्त॥

□□

---

१४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६७

कुशील परिभाषित (कुशील परिभाषा)—सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के सप्तम अध्ययन का नाम कुशील-परिभाषित या कुशील परिभाषा[1] है।

☐ 'शील' शब्द स्वभाव, उपशमप्रधान चारित्र, सदाचार, ब्रह्मचर्य आचार-विचार आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। चेतन अथवा अचेतन, जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, या वस्त्र-भोजनादि के विषय में जिसका जो स्वभाव (प्रकृति) बन गया है, उसे द्रव्य शील कहते हैं।

☐ भाव शील दो प्रकार का है—ओघ शील और आभीक्ष्ण्य शील। सामान्यतया जो शील—आचार-विचार (अच्छा या बुरा) पालन किया जाता है, उसे ओघ भावशील कहते हैं, परन्तु वही शील निरन्तर क्रियान्वित किया जाता है, तब वह आभीक्ष्ण्य भाव शील कहलाता है।

☐ क्रोधादि कषाय, चोरी, परनिन्दा, कलह अथवा अधर्म में प्रवृत्ति अप्रशस्त भाव शील है, और अहिंसादि धर्म के विषय में, सम्यग्ज्ञान, विशिष्ट तप, सम्यग्दर्शन आदि के विषय में प्रवृत्ति प्रशस्त भावशील है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में आचार-विचार के अर्थ में भाव शील को लेकर सुशील और कुशील शब्द विवक्षित है। जिसका शील प्रशंसनीय है, शुद्ध है, धर्म और अहिंसादि से अविरुद्ध है लोकनिन्द्य नहीं है, वह सुशील है, और इसके विपरीत कुशील है।

☐ वैसे तो कुशील के अगणित प्रकार सम्भव है, परन्तु यहाँ उन सबकी विवक्षा नहीं है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में तो मुख्यतया साधुओं की सुशीलता और कुशीलता को लेकर ही विचार किया गया है। वृत्तिकार के अनुसार ध्यान, स्वाध्याय आदि तथा धर्मपालन के आधार रूप शरीर रक्षणार्थ मुख्यतया आहार प्रवृत्ति को छोड़कर साधुओं की और कोई प्रवृत्ति नहीं। अप्रासुक एवं उद्गमादि दोषयुक्त आहार-सेवन करना, अहिंसा और साधुधर्म की दृष्टि से विरुद्ध है। अतः जो सचित्त जल, अग्नि, वनस्पति आदि का सेवन करते हैं, इतना ही नहीं, अपने धर्मविरुद्ध आचार को स्वर्ग-मोक्षादि का कारण बताते हैं, वे कुशील हैं।

---

१ वृत्तिकार के अनुसार अध्ययन का नाम 'कुशीलपरिभाषा' है। —सू० कृ० मूल पाठ टिप्पण पृ० ६७

२ (क) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गा० ८६-८७, ८८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५३-१५४

उपस्थित-उद्यत रहे। 'आरं परं (पारं) च'=आरं=इहलोक अथवा मनुष्यलोक, पारं (परं)=परलोक या नारकादिलोक। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—अपरं परं च' अर्थ प्रायः समान है।[१४]

फलश्रुति—

३८०. **सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्ठपओवसुद्धं ।**
तं सद्दहंता य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति ॥ २९ ॥
त्ति बेमि ।

॥ महावीरत्थवो छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

३८०. श्री अरिहन्तदेव द्वारा भाषित, सम्यक् रूप से उक्त युक्तियों और हेतुओं से अथवा अर्थों और पदों से शुद्ध (निर्दोष) धर्म को सुनकर उस पर श्रद्धा (श्रद्धापूर्वक सम्यक् आचरण) करने वाले व्यक्ति आयुष्य (कर्म) से रहित-मुक्त हो जाएँगे, अथवा इन्द्रों की तरह देवों का आधिपत्य प्राप्त करेंगे।
—यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—फलश्रुति—प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार इस अन्तिम गाथा में भ० महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्ररूप धर्म का श्रवण, श्रद्धान एवं आचरण करने वाले साधकों को उसकी फलश्रुति बताते हैं—सोच्चा य धम्मं ......आगमिस्संति।

॥ महावीरस्तव षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

□□

१४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६७

सत्तमं अज्झयणं 'कुसीलपरिभासियं'

कुशीलपरिभाषित (कुशीलपरिभाषा) : सातवाँ अध्ययन

कुशीलकृत जीवहिंसा और उसके कुष्परिणाम—

३८१. पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण-रुक्ख-बीया य तसा य पाणा।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिधाणा ॥ १ ॥

३८२. एताइं कयाइं पवेदियाइं, एतेसु जाण पडिलेह सायं[1]।
एतेहिं कायेहि य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति[2] ॥ २ ॥

३८३. जातीवहं अणुपरियट्टमाणे, तस-थावरेहिं विणिघायमेति।
से जाति-जातो बहूकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥ ३ ॥

३८४. अस्सि च लोगे अदुवा परत्था, सतग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेयंति य दुण्णियाइं ॥ ४ ॥

३८१-३८२. पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, तृण, वृक्ष, बीज और त्रस प्राणी तथा जो अण्डज हैं, जो जरायुज प्राणी हैं, जो स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले) और रसज (दूध, दही आदि रसों की विकृति से पैदा होने वाले) प्राणी हैं। इन (पूर्वोक्त) सबको सर्वज्ञ वीतरागों ने जीवनिकाय (जीवों के काय-शरीर) बताए हैं। इन (पूर्वोक्त पृथ्वीकायादि प्राणियों) में सुख की इच्छा रहती है, इसे समझ लो और इस पर कुशाग्र बुद्धि से विचार करो।

जो इन जीवनिकायों का उपमर्दन-पीड़न करके (मोक्षाकांक्षा रखते हैं, वे) अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं, वे इन्हीं (पृथ्वीकायादि जीवों) में विविध रूप में शीघ्र या बार-बार जाते (या उत्पन्न होते) हैं।

३८३. प्राणि-पीड़क वह जीव एकेन्द्रिय आदि जातियों में बार-बार परिभ्रमण (जन्म, जरा, मरण आदि का अनुभव करता हुआ) करता हुआ त्रस और स्थावर जीवों में उत्पन्न होकर कायदण्ड विपाकज

---

१ तुलना कीजिए—'भूतेहिं जाण पडिलेह सातं' —आचारांग विवेचन प्र० श्रु० अ०-२ उ-२ सू० ११२ पृ० ६४

२ तुलना कीजिए—'विप्परियासमुवेति' —आचा०-विवेचन प्र० श्रु० अ० २ उ० ३ सू० ७७, ७९, ८२ पृ० ५१

☐ जो प्रासुक एवं अचित्तसेवी हैं, अप्रासुक एवं दोषयुक्त आहार सेवन नहीं करते, वे सुशील हैं।

☐ निर्युक्तिकार ने कुछ कुशीलों के नाम गिनाये हैं। वे कुशील परतीर्थिक भी है, स्वयूथिक भी। स्वयूथिक भी जो पार्श्वस्थ, अवसन्न, स्वछन्द आदि हैं वे कुशील हैं।[3]

☐ अतः ऐसे कुशीलों के सम्बन्ध में सभी पहलुओं से किया गया भाषण या निरूपण, साथ ही कुशील के अनुष्ठान के दुर्गतिगमनादि परिणामों का प्रतिपादन कुशील परिभाषा या कुशील परिभाषित अध्ययन का विषय है।

☐ उद्देशकरहित प्रस्तुत अध्ययन में ३० गाथाओं तथा ऐसे स्वतीर्थिक-परतीर्थिक कुशीलों का वर्णन किया गया है, जिनका शील (आचारविचार) अहिंसा, सत्य, संयम, अपरिग्रहवृत्ति या ब्रह्मचर्य के अनुकूल नहीं है, जो सरलभाव से अपने दोषों को स्वीकार एवं भूलों का परिमार्जन करके अपने पूर्वग्रह पर दृढ़ रहते हैं, शिथिल या कुत्सित एवं साधुधर्म विरुद्ध आचार-विचार को सुशील बताते हैं। साथ ही इसमें बीच-बीच में सुशील का भी वर्णन किया गया है।[4]

☐ साधक को सुशील और कुशील का अन्तर समझाकर कुशीलता से बचाना और सुशीलता के लिए प्रोत्साहित करना इस अध्ययन का उद्देश्य हैं।

☐ यह अध्ययन सूत्र गाथा ३८१ से प्रारम्भ होकर ४१० पर पूर्ण होता है।

---

३ (क) अफासुयपडिसेविय णामं भुज्जो य सीलवादी य।
फासुं वयंति सीलं अफासुया मो अभुंजंता॥ ८९॥
जह णाम गोयमा चंडीदेवगा, वारिभद्दगा चेव।
जे अग्गिहोत्तवादी जलसोयं जेय इच्छंति॥ ९०॥ —सूत्र०-निर्युक्ति

—गौतम (मसग जातीय पाषंडी या गोव्रतिक) चण्डीदेवक, वारिभद्रक, अग्निहोत्रवादी, जलशौचवादी (भागवत) आदि कुशील के उदाहरण हैं।

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५४

४ सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० १५१, पत्र ४

सत्तमं अज्झयणं 'कुसीलपरिभासियं'

कुशीलपरिभाषित (कुशीलपरिभाषा) : सातवाँ अध्ययन

कुशीलकृत जीवहिंसा और उसके कुष्परिणाम—

३८१. पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण-रुक्ख-बीया य तसा य पाणा।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिधाणा ॥ १ ॥

३८२. एताइं कयाइं पवेदियाइं, एतेसु जाण पडिलेह सायं[1]।
एतेहिं कायेहि य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति[2] ॥ २ ॥

३८३. जातीवहं अणुपरियट्टमाणे, तस-थावरेहिं विणिघायमेति।
से जाति-जातो बहूकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥ ३ ॥

३८४. अस्सिं च लोगे अदुवा परत्था, सतग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेयंति य दुण्णियाइं ॥ ४ ॥

३८१-३८२. पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, तृण, वृक्ष, बीज और त्रस प्राणी तथा जो अण्डज हैं, जो जरायुज प्राणी हैं, जो स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले) और रसज (दूध, दही आदि रसों की विकृति से पैदा होने वाले) प्राणी हैं। इन (पूर्वोक्त) सबको सर्वज्ञ वीतरागों ने जीवनिकाय (जीवों के काय-शरीर) बताए हैं। इन (पूर्वोक्त पृथ्वीकायादि प्राणियों) में सुख की इच्छा रहती है, इसे समझ लो और इस पर कुशाग्र बुद्धि से विचार करो।

जो इन जीवनिकायों का उपमर्दन-पीड़न करके (मोक्षाकांक्षा रखते हैं, वे) अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं, वे इन्हीं (पृथ्वीकायादि जीवों) में विविध रूप में शीघ्र या बार-बार जाते (या उत्पन्न होते) हैं।

३८३. प्राणि-पीड़क वह जीव एकेन्द्रिय आदि जातियों में बार-बार परिभ्रमण (जन्म, जरा, मरण आदि का अनुभव करता हुआ) करता हुआ त्रस और स्थावर जीवों में उत्पन्न होकर कायदण्ड विपाकज

---

१ तुलना कीजिए—'भूतेहिं जाण पडिलेह सातं' —आचारांग विवेचन प्र० श्रु० अ०-२ उ-२ सू० ११२ पृ० ६४

२ तुलना कीजिए—'विप्परियासमुवेति' —आचा०-विवेचन प्र० श्रु० अ० २ उ० ३ सू० ७७, ७९, ८२ पृ० ५१

कर्म के कारण विघात (नाश) को प्राप्त होता है। वह अतिक्रूरकर्मा अज्ञानी जीव बार-बार जन्म लेकर जो कर्म करता है, उसी से मरण-शरण हो जाता है।

३८४. इस लोक में अथवा परलोक में, एक जन्म में अथवा सैकड़ों जन्मों में वे कर्म कर्त्ता को अपना फल देते हैं, अथवा जिस प्रकार वे कर्म किये हुए हैं, उसी प्रकार या दूसरे प्रकार से भी अपना फल देते हैं। संसार में परिभ्रमण करते हुए वे कुशील जीव उत्कट से उत्कट (बड़े से बड़ा) दुःख भोगते हैं और आर्त्तध्यान करके फिर कर्म बाँधते हैं, और अपनी दुर्नीति (पाप) युक्त कर्मों का फल भोगते रहते हैं।

विवेचन—कुशील कृत जीवहिंसा और उसके दुष्परिणाम—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं में शास्त्रकार ने कुशील के सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्यों का उद्‌घाटन किया है—(१) संसारी जीवों के मुख्य दो प्रकार हैं—स्थावर और त्रस। स्थावर के ५ भेद—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पति-काय। तृण, वृक्ष आदि वनस्पति के अन्तर्गत है। ये सब एकेन्द्रिय और तद्रूप शरीर वाले होते हैं। ये त्रसजीव हैं। अण्डज, जरायुज स्वेदज, और रसज। त्रसजीव द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक होते हैं। इन सब को आत्मवत् जानो। (२) कुशील व्यक्ति विविध रूपों में स्थावर और त्रसजीवों का उत्पीड़न करके अपनी आत्मा को ही दण्डित करता है, (३) वह इन्हीं जीवों में बार-बार उत्पन्न होता है, और जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःखों का अनुभव करता हुआ विनष्ट होता है। (४) कर्म कर्त्ता को इस जन्म में या अगले जन्मों में, इस लोक या परलोक में, उसी रूप में या दूसरे रूप में अपना फल दिये बिना नहीं रहते। (५) कुशील जीव कर्मानुसार संसार में परिभ्रमण करते हुए उत्कट से उत्कट दुःख भोगते हैं, (५) कर्मफल भोगते समय वे आर्त्तध्यान करके फिर कर्म बाँध लेते हैं, फिर उन दुष्कर्मों का फल भोगते हैं।

निष्कर्ष यह है कि कुशील जीवों को पीड़ित करके अपनी आत्मा को ही पीड़ित (दण्डित) करता है।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—आयदंडे=आतमदण्ड=आत्मा दण्डित की जाती है। आयतदण्डरूप मानने पर अर्थ होता है—दीर्घकाल तक दण्डित होते हैं। **विप्परियासुर्विति**=(इन्हीं पृथ्वीकायादि जीवों में) विविध—अनेक प्रकार से, चारों ओर से शीघ्र ही जाते हैं, बार-बार उत्पन्न होते हैं, (२) अथवा विपर्यास यानी विपरीतता या अदला-बदली को प्राप्त होते हैं, सुखार्थीजन सुख के लिए जीवसमारम्भ करते हैं, परन्तु उन्हें उस आरम्भ से दुःख ही प्राप्त होता है, अथवा कुतीर्थिकजन मोक्ष के लिए जीवों के द्वारा जो आरम्भादि क्रिया करते हैं, उन्हें उससे संसार ही मिलता है, मोक्ष नहीं। **जाइवहं**—इसके दो रूप होते हैं—जातिपथ और जातिवध। जातिपथ का अर्थ—एकेन्द्रियादि जातियों का पथ। जातिवध का अर्थ—जाति-उत्पत्ति, वध=मरण, अर्थात् जन्म और मरण। **अणुपरियट्टमाणे**—दो अर्थ—प्रथम अर्थ के अनुसार पर्यटन-परिभ्रमण करता हुआ, दूसरे के अनुसार—जन्ममरण का बार-बार अनुभव करता हुआ।[2]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५४-१५५ का सारांश

२ (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा०) पृ० ६८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५४-१५५

कुशीलों द्वारा स्थावर जीवों की हिंसा के विविध रूप—

३८५. जे मायरं च पियरं च हेच्चा, समणव्वदे अगणि समारभेज्जा ।
अहाहु से लोगे कुसीलधम्मे, भूताइं जे हिंसति आतसाते ॥ ५ ॥

३८६. उज्जालओ पाण तिवातएज्जा, निव्वावओ अगणि तिवातइज्जा ।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिते अगणि समारभेज्जा ॥ ६ ॥

३८७. पुढवी वि जीवा आउ वि जीवा, पाणा य संपातिम संपयंति ।
संसेदया कट्ठसमस्सिता य, एते दहे अगणि समारभंते ॥ ७ ॥

३८८. हरिताणि भूताणि विलंबगाणि, आहारदेहाइं पुढो सिताइं ।
जे छिंदती आतसुहं पडुच्चा, पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती ॥ ८ ॥

३८९. जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते, बीयादि अस्संजय आयदंडे ।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयादि जे हिंसति आयसाते ॥ ९ ॥

३८५. जो अपने माता और पिता को छोड़कर श्रमणव्रत को धारण करके अग्निकाय का समारम्भ करता है, तथा जो अपने सुख के लिए प्राणियों की हिंसा करता है, वह लोक में कुशील धर्म वाला है, ऐसा (सर्वज्ञ पुरुषों ने) कहा है ।

३८६. आग जलाने वाला व्यक्ति प्राणियों का घात करता है और आग बुझाने वाला व्यक्ति भी अग्निकाय के जीवों का घात करता है । इसलिए मेधावी (मर्यादाशील) पण्डित (पाप से निवृत्त साधक) (अपने) (श्रुतचारित्ररूप श्रमण) धर्म का विचार करके अग्निकाय का समारम्भ न करे ।

३८७. पृथ्वी भी जीव है, जल भी जीव है तथा सम्पातिम (उड़ने वाले पतंगे आदि) भी जीव है जो आग में पड़ (कर मर) जाते हैं । और भी पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव एवं काठ (लकड़ी आदि इन्धन) के आश्रित रहने वाले जीव होते हैं । जो अग्निकाय का समारम्भ करता है, वह इन (स्थावर-त्रस) प्राणियों को जला देता है ।

३८८. हरी दूब अंकुर आदि भी (वनस्पतिकायिक) जीव हैं, वे भी जीव का आकार धारण करते हैं । वे (मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, फल, फूल आदि अवयवों के रूप में) पृथक्-पृथक् रहते हैं । जो व्यक्ति अपने सुख की अपेक्षा से तथा अपने आहार (या आधार-आवास) एवं शरीर-पोषण के लिए इनका छेदन-भेदन करता है, वह धृष्ट पुरुष बहुत-से प्राणियों का विनाश करता है ।

३८९. जो असंयमी (गृहस्थ या प्रव्रजित) पुरुष अपने सुख के लिए बीजादि (विभिन्न प्रकार के बीज वाले अन्न एवं फलादि) का नाश करता है, वह (बीज के द्वारा) जाति (अंकुर की उत्पत्ति) और (फल के रूप में) वृद्धि का विनाश करता है । (वास्तव में) वह व्यक्ति (हिंसा के उक्त पाप द्वारा) अपनी

ही आत्मा को दण्डित करता है। संसार में तीर्थंकरों या प्रत्यक्षदर्शियों ने उसे अनार्यधर्मी (अनाड़ी या अधर्मसंसक्त) कहा है।

विवेचन—**कुशीलों द्वारा स्थावर जीवों की हिंसा के विविध रूप**—प्रस्तुत ५ सूत्रगाथाओं (३८५ से ३८९ तक) द्वारा शास्त्रकार ने कुशीलधर्मा कौन है? वह किसलिए, और किस-किस रूप में अग्निकायिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों का घात करता है? इसका विशद निरूपण किया है।

भूताइं जे हिंसति आतसाते—इस पंक्ति का आशय यह है कि जो अपनी सुख-सुविधा के लिए, परलोक में सुख मिलेगा, या स्वर्ग अथवा मोक्ष का सुख मिलेगा, इस हेतु से, अथवा धर्मसम्प्रदाय परम्परा या रीतिरिवाज के पालन से यहां सभी प्रकार का सुख मिलेगा, इस लिहाज से अग्नि, जल, वनस्पति, पृथ्वी आदि के जीवों की हिंसा करते हैं। अथवा स्वर्गप्राप्ति की कामना से विविध अग्निहोम या पंचाग्निसेवनतप आदि क्रियाएँ करते हैं, फल, फूल आदि वनस्पतिकाय का छेदन-भेदन करते हैं, वे सव कुशीलधर्मा है।[3]

अग्नि जलाने और बुझाने में अनेक स्थावर-त्रस जीवों की हिंसा—जो व्यक्ति इह लौकिक या पारलौकिक किसी भी प्रयोजन से अग्नि जलाता है, वह अग्निकायिक जीवों की हिंसा तो करता ही है, अग्नि जहाँ जलाई जाती है, वहाँ की पृथ्वी के जीव भी आग की तेज आँच से नष्ट हो जाते हैं, अग्नि बुझाने से अग्निकाय के जीवों का घात तो होता ही है, साथ ही बुझाने के लिए सचित्त पानी का प्रयोग किया जाता है, तब या भोजन पकाने में जलकायिक जीव नष्ट हो जाते हैं, कंडे लकड़ी आदि में कई त्रस जीव बैठे रहते हैं, वे भी आग से मर जाते हैं, पतंगे आदि कई उड़ने वाले जीव भी आग में भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार आग जलाने और बुझाने में अनेक जीवों की हिंसा होती है, इसी बात को शास्त्रकार ने ३८६-३८७ इन दो सूत्रगाथाओं द्वारा व्यक्त किया है—"उज्जालओ ..... अगणि समारभेज्जा। पुढवी वि जीवा ... अगणि समारभंते।"[4]

वृत्तिकार ने भगवती सूत्र का प्रमाण प्रस्तुत करके सिद्ध किया है कि भले ही व्यक्ति आग जलाने में महाकर्म युक्त और बुझाने में अल्पकर्मयुक्त होता है, परन्तु दोनों ही क्रियाओं में षट्कायिक आरम्भ होता है।[5] विलंबगाणि=जो जीव का आकार धारण कर लेते हैं।

कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटु विपाक—

३९०. गब्भाइ मिज्जंति बुया-ऽबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, चयंति ते आउखए पलीणा॥ १०॥

३९१. संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिते व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेति॥ ११॥

---

३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५६ के आधार पर

४ वही, पत्रांक १५६-५७ के आधार पर

५ भगवतीसूत्र शतक ७। सूत्र २२७-२२८ (अंगसुत्ताणि भाग २)

३९०. (देवी-देवों की अर्चा या धर्म के नाम पर अथवा सुख-वृद्धि आदि किसी कारण से हरित वनस्पति का छेदन-भेदन करने वाले) मनुष्य गर्भ में ही मर जाते हैं, तथा कई तो स्पष्ट बोलने तक की वय में और कई अस्पष्ट बोलने तक की उम्र में ही मर जाते हैं। दूसरे पंचशिखा वाले मनुष्य कुमार-अवस्था में ही मृत्यु के गाल में चले जाते हैं, कई युवक होकर तो कई मध्यम (प्रौढ़) उम्र के होकर अथवा बूढ़े होकर चल बसते हैं। इस प्रकार बीज आदि का नाश करने वाले प्राणी (इन अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में) आयुष्य क्षय होते ही शरीर छोड़ देते हैं।

३९१. हे जीवो ! मनुष्यत्व या मनुष्यजन्म की दुर्लभता को समझो। (नरक एवं तिर्यंच योनि के भय को देखकर एवं विवेकहीन पुरुष को उत्तम विवेक का अलाभ (प्राप्ति का अभाव) जानकर बोध प्राप्त करो। यह लोक ज्वरपीड़ित व्यक्ति की तरह एकान्त दुःखरूप[६] है। अपने (हिंसादि पाप) कर्म से सुख चाहने वाला जीव सुख के विपरीत (दुःख) ही पाता है।

विवेचन—कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटु विपाक—प्रस्तुत गाथाद्वय में दो विभिन्न पहलुओं से कुशीलाचरण का दुष्परिणाम बताया गया है। सूत्र गाथा ३९० में कहा गया है कि जो वनस्पतिकायिक आदि प्राणियों का आरम्भ अपने किसी भी प्रकार के सुखादि की वांछा से प्रेरित होकर करता है, वह उसके फलस्वरूप गर्भ से लेकर वृद्धावस्था तक में कभी भी मृत्यु के मुख में चला जाता है। सूत्र गाथा ३९१ में सामान्य रूप से कुशीलाचरण का फल सुखाशा के विपरीत दुःख प्राप्ति बतलाया गया है तथा संसार को एकान्तदुःखरूप समझकर नरक-तिर्यंचगति में बोधि-अप्राप्ति के भय का विचार करके बोधि प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—'....जरिते व लोए'=वृत्तिकार के अनुसार—लोक को ज्वरग्रस्त की तरह समझो। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'जरिए हु लोगे' लोक को (विविध दुःखों की भट्टी में) ज्वलित की तरह या ज्वरग्रस्त की तरह ज्वलित समझो।[८] 'मज्झिम थेरगाए' के बदले 'मज्झिम पोरुसा य' पाठान्तर है। अर्थ है—पुरुषों की चरमावस्था को प्राप्त।

मोक्षवादी कुशीलों के मत और उनका खण्डन—

> ३९२. इहेगे मूढा पवदंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
> एगे य सीतोदगसेवणेणं, हुतेण एगे पवदंति मोक्खं ॥ १२ ॥
>
> ३९३. पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं।
> ते मज्ज मंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥ १३ ॥

---

६ देखिये—जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति पाणिणो ॥ —उत्तरा० अ० १९/१५

७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५८ का सारांश

८ जरितेति 'आलित्ते णं भंते ! लोए, पलित्ते णं भंते लोए' अथवा ज्वरित इव ज्वलितः। —सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ७०

ही आत्मा को दण्डित करता है। संसार में तीर्थंकरों या प्रत्यक्षदर्शियों ने उसे अनार्यधर्मी (अनाड़ी या अधर्मसंसक्त) कहा है।

विवेचन—कुशीलों द्वारा स्थावर जीवों की हिंसा के विविध रूप—प्रस्तुत ५ सूत्रगाथाओं (३८५ से ३८९ तक) द्वारा शास्त्रकार ने कुशीलधर्मा कौन है? वह किसलिए, और किस-किस रूप में अग्निकायिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों का घात करता है? इसका विशद निरूपण किया है।

भूताइं जे हिंसति आतसाते—इस पंक्ति का आशय यह है कि जो अपनी सुख-सुविधा के लिए, परलोक में सुख मिलेगा, या स्वर्ग अथवा मोक्ष का सुख मिलेगा, इस हेतु से, अथवा धर्मसम्प्रदाय परम्परा या रीतिरिवाज के पालन से यहां सभी प्रकार का सुख मिलेगा, इस लिहाज से अग्नि, जल, वनस्पति, पृथ्वी आदि के जीवों की हिंसा करते हैं। अथवा स्वर्गप्राप्ति की कामना से विविध अग्निहोम या पंचाग्नि-सेवनतप आदि क्रियाएँ करते हैं, फल, फूल आदि वनस्पतिकाय का छेदन-भेदन करते हैं, वे सब कुशील-धर्मा है।[3]

अग्नि जलाने और बुझाने में अनेक स्थावर-त्रस जीवों की हिंसा—जो व्यक्ति इह लौकिक या पारलौकिक किसी भी प्रयोजन से अग्नि जलाता है, वह अग्निकायिक जीवों की हिंसा तो करता ही है, अग्नि जहाँ जलाई जाती है, वहाँ की पृथ्वी के जीव भी आग की तेज आँच से नष्ट हो जाते हैं, अग्नि बुझाने से अग्निकाय के जीवों का घात तो होता ही है, साथ ही बुझाने के लिए सचित्त पानी का प्रयोग किया जाता है, तब या भोजन पकाने में जलकायिक जीव नष्ट हो जाते हैं, कंडे लकड़ी आदि में कई त्रस जीव बैठे रहते हैं, वे भी आग से मर जाते हैं, पतंगे आदि कई उड़ने वाले जीव भी आग में भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार आग जलाने और बुझाने में अनेक जीवों की हिंसा होती है, इसी बात को शास्त्रकार ने ३८६-३८७ इन दो सूत्र-गाथाओं द्वारा व्यक्त किया है—"उज्जालओ···· ·· अगणि समारभेज्जा। पुढवी पि जीवा···अगणि समारभंते।"[4]

वृत्तिकार ने भगवती सूत्र का प्रमाण प्रस्तुत करके सिद्ध किया है कि भले ही व्यक्ति आग जलाने में महाकर्म युक्त और बुझाने में अल्पकर्मयुक्त होता है, परन्तु दोनों हो क्रियाओं में षट्कायिक आरम्भ होता है।[5] विलंबगाणि=जो जीव का आकार धारण कर लेते हैं।

कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटु विपाक—

३९०. **गब्भाइ मिज्जंति बुया-ऽबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा।**
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, चयंति ते आउखए पलीणा॥ १०॥

३९१. **संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।**
एगंतदुक्खे जरिते व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेति॥ ११॥

---

३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५६ के आधार पर

४ वही, पत्रांक १५६-५७ के आधार पर

५ भगवतीसूत्र शतक ७। सूत्र २२७-२२८ (अंगसुत्ताणि भाग २)

३९०. (देवी-देवों की अर्चा या धर्म के नाम पर अथवा सुख-वृद्धि आदि किसी कारण से हरित वनस्पति का छेदन-भेदन करने वाले) मनुष्य गर्भ में ही मर जाते हैं, तथा कई तो स्पष्ट बोलने तक की वय में और कई अस्पष्ट बोलने तक की उम्र में ही मर जाते हैं। दूसरे पंचशिखा वाले मनुष्य कुमार-अवस्था में ही मृत्यु के गाल में चले जाते हैं, कई युवक होकर तो कई मध्यम (प्रौढ़) उम्र के होकर अथवा बूढ़े होकर चल बसते हैं। इस प्रकार बीज आदि का नाश करने वाले प्राणी (इन अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में) आयुष्य क्षय होते ही शरीर छोड़ देते हैं।

३९१. हे जीवो ! मनुष्यत्व या मनुष्यजन्म की दुर्लभता को समझो। (नरक एवं तिर्यंच योनि के भय को देखकर एवं विवेकहीन पुरुष को उत्तम विवेक का अलाभ (प्राप्ति का अभाव) जानकर बोध प्राप्त करो। यह लोक ज्वरपीड़ित व्यक्ति की तरह एकान्त दुःखरूप है। अपने (हिंसादि पाप) कर्म से सुख चाहने वाला जीव सुख के विपरीत (दुःख) ही पाता है।

विवेचन—**कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटु विपाक**—प्रस्तुत गाथाद्वय में दो विभिन्न पहलुओं से कुशीलाचरण का दुष्परिणाम बताया गया है। सूत्र गाथा ३९० में कहा गया है कि जो वनस्पतिकायिक आदि प्राणियों का आरम्भ अपने किसी भी प्रकार के सुखादि की वांछा से प्रेरित होकर करता है, वह उसके फलस्वरूप गर्भ से लेकर वृद्धावस्था तक में कभी भी मृत्यु के मुख में चला जाता है। सूत्र गाथा ३९१ में सामान्य रूप से कुशीलाचरण का फल सुखाशा के विपरीत दुःख प्राप्ति बतलाया गया है तथा संसार को एकान्तदुःखरूप समझकर नरक-तिर्यंचगति में बोधि-अप्राप्ति के भय का विचार करके बोधि प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—'""जरिते व लोए'=वृत्तिकार के अनुसार—लोक को ज्वरग्रस्त की तरह समझो। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'जरिए हु लोगे' लोक को (विविध दुःखों की भट्टी में) ज्वलित की तरह या ज्वरग्रस्त की तरह ज्वलित समझो।[८] 'मज्झिम थेरगाए' के बदले 'मज्झिम पोरुसा य' पाठान्तर है। अर्थ है—पुरुषों की चरमावस्था को प्राप्त।

मोक्षवादी कुशीलों के मत और उनका खण्डन—

३९२. **इहेगे मूढा पवदंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।**
एगे य सीतोदगसेवणेणं, हुतेण एगे पवदंति मोक्खं॥ १२॥

३९३. **पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं।**
ते मज्ज मंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति॥ १३॥

---

६ देखिये—जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति पाणिणो॥ —उत्तरा० अ० १९/१५

७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५८ का सारांश

८ जरित्तेति 'आलित्ते णं भंते ! लोए, पलित्ते णं भंते लोए' अथवा ज्वरित इव ज्वलितः। —सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ७०

३९४. उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पातं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिंसु पाणा बहवे दगंसि ॥ १४ ॥

३९५. मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्टा दगरक्खसा य ।
अट्ठाणमेयं कुसला वदंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ॥ १५ ॥

३९६. उदगं जती कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामेत्तता वा ।
अंधव्व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥ १६ ॥

३९७. पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सिओदगं तु जइ तं हरेज्जा ।
सिज्झिसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ॥ १७ ॥

३९८. हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पातं अगणिं फुसंता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि ॥ १८ ॥

३९९. अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी, एहिंति ते घातमबुज्झमाणा ।
भूतेहिं जाण पडिलेह सातं, विज्जं गहाय तस-थावरेहिं ॥ १९ ॥

४००. थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विदू विरते आयगुत्ते, दट्ठुं तसे य पडिसाहरेज्जा ॥ २० ॥

३९२. इस जगत् में अथवा मोक्षप्राप्ति के विषय में कई मूढ़ इस प्रवाद का प्रतिपादन करते हैं कि आहार का रस-पोषक-नमक खाना छोड़ देने से मोक्ष प्राप्त होता है, और कई शीतल (कच्चे जल के सेवन से तथा कई (अग्नि में घृतादि द्रव्यों का) हवन करने से मोक्ष (की प्राप्ति) बतलाते हैं ।

३९३. प्रातःकाल में स्नानादि से मोक्ष नहीं होता, न ही क्षार (खार) या नमक न खाने से मोक्ष होता है । वे (अन्यतीर्थी मोक्षवादी) मद्य, माँस और लहसुन खाकर (मोक्ष से) अन्यत्र (संसार में) अपना निवास बना लेते हैं ।

३९४. सायंकाल और प्रातःकाल जल का स्पर्श (स्नानादि क्रिया के द्वारा) करते हुए जो जल-स्नान से सिद्धि (मोक्ष प्राप्ति) बतलाते हैं, (वे मिथ्यावादी हैं) । यदि जल के (बार-बार) स्पर्श से मुक्ति (सिद्धि) मिलती तो जल में रहने वाले बहुत-से जलचर प्राणी मोक्ष प्राप्त कर लेते ।

३९५. (यदि जलस्पर्श से मोक्ष प्राप्ति होती तो) मत्स्य, कच्छप, सरीसृप (जलचर सर्प), मद्गू तथा उष्ट्र नामक जलचर और जलराक्षस (मानवाकृति जलचर) (आदि जलजन्तु सबसे पहले मुक्ति प्राप्त कर लेते, परन्तु ऐसा नहीं होता ।) अतः जो जलस्पर्श से मोक्षप्राप्ति (सिद्धि) बताते हैं, मोक्षतत्त्व-पारंगत (कुशल) पुरुष उनके इस कथन को अयुक्त कहते हैं ।

३९६. जल यदि कर्म-मल का हरण-नाश कर लेता है, तो वह इसी तरह शुभ-पुण्य का भी हरण

कर लेगा। (अत: जल कर्ममल हरण कर लेता है, यह कथन) इच्छा (कल्पना) मात्र है । मन्द बुद्धिलोग अज्ञानान्ध नेता का अनुसरण करके इस प्रकार (जलस्नान आदि क्रियाओं) से प्राणियों का घात करते हैं।

३९७. यदि पापकर्म करने वाले व्यक्ति के उस पाप को शीतल (सचित्त) जल (जलस्नानादि) हरण कर ले, तब तो कई जलजन्तुओं का घात करने वाले (मछुए आदि) भी मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। इसलिए जो जल (स्नान आदि) से सिद्धि (मोक्ष प्राप्ति) बतलाते हैं, वे मिथ्यावादी हैं।

३९८. सायंकाल और प्रात:काल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो लोग (अग्निहोत्रादि कर्मकाण्डी) अग्नि में होम करने से सिद्धि (मोक्षप्राप्ति या सुगतिगमनरूप स्वर्गप्राप्ति) बतलाते हैं, वे भी मिथ्यावादी हैं। यदि इस प्रकार (अग्निस्पर्श से या अग्निकार्य करने) से सिद्धि मिलती हो, तब तो अग्नि का स्पर्श करने वाले (हलवाई, रसोइया, कुम्भकार, लुहार, स्वर्णकार आदि) कुकर्मियों (आरम्भ करने वालों, आग जलाने वालों) को भी सिद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए।

३९९. जलस्नान और अग्निहोत्र आदि क्रियाओं से सिद्धि मानने वाले लोगों ने परीक्षा किये बिना ही इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार सिद्धि नहीं मिलती। वस्तुतत्त्व के बोध से रहित वे लोग घात (संसार भ्रमणरूप अपना विनाश) प्राप्त करेंगे। अध्यात्मविद्यावान् (सम्यग्ज्ञानी) यथार्थ वस्तुस्वरूप का ग्रहण (स्वीकार) करके यह विचार करे कि त्रस और स्थावर प्राणियों के घात से उन्हें सुख कैसे होगा ? यह (भलीभाँति) समझ ले।

४००. पापकर्म करने वाले प्राणी पृथक पृथक रुदन करते हैं; (तलवार आदि के द्वारा) छेदन किये जाते हैं, त्रास पाते हैं। यह जानकर विद्वान् भिक्षु पाप से विरत होकर आत्मा का रक्षक (गोप्ता या मन-वचन-काय-गुप्ति से युक्त) बने। वह त्रस और स्थावर प्राणियों को भलीभाँति जानकर उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाए।

विवेचन—मोक्षवादी कुशीलों के मत और उनका खण्डन—प्रस्तुत ९ सूत्रगाथाओं में विविध मोक्षवादी कुशीलों के मत का निरूपण और उनका खण्डन किया है। साथ ही यह भी बताया है कि सुशील एवं विद्वान् साधु को प्राणिहिंसाजनित क्रियाओं से मोक्ष-सुख-प्राप्ति की आशा छोड़कर इन क्रियाओं से दूर रहना चाहिए।

आहार-रसपोषक लवणत्याग से मोक्ष कैसे नहीं ?—रस पर विजय पाने से सब पर विजय पा ली; इस दृष्टि से सर्वरसों के राजा लवणपञ्चक (सैन्धव, सौवर्चल, विड्, रोम और सामुद्र इन पाँच रसों) को छोड़ देने से रसमात्र का त्याग हो जाता है। अत: लवण (रस) परित्याग से मोक्ष निश्चित है। किसी प्रति में **'आहारसंपज्जण वज्जणेणं'** के बदले **'आहारओ पंचकवज्जणेण'** पाठ भी मिलता है, तदनुसार अर्थ किया गया है—आहार में से इन पाँच (लहसुन, प्याज, ऊंटनी का दूध, गौमांस और मद्य) वस्तुओं के त्याग से मोक्ष मिलता है। यह लवणरसत्याग से मोक्षवादियों का कथन है।

शास्त्रकार सूत्रगाथा ३९२ में इसका निराकरण करते हुए कहते हैं—**'......णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं'**। इस पंक्ति का आशय यह है कि केवल नमक न खाने से ही मोक्षप्राप्ति नहीं होती, ऐसा सम्भव होता तो जिस देश में लवण नहीं होता, वहाँ के निवासियों को मोक्ष मिल जाना चाहिए;

क्योंकि वे द्रव्यत: लवणत्यागी हैं, परन्तु ऐसा होता नहीं। भावत: लवणत्याग कर देने मात्र से भी मोक्ष नहीं होता, क्योंकि लवणत्याग के पीछे रसपरित्याग का आशय हो, तब तो दुग्ध, दधि, घृत, शर्करा (या मिष्ठान्न) आदि वस्तुएँ भी रसोत्पादक हैं, उनका भी भाव से त्याग होना चाहिए, लेकिन बहुत-से लवणत्यागी स्वादलोलुपतावश मद्य, मांस, लहसुन आदि तामसिक पदार्थों का निस्संकोच सेवन करते हैं, तब उन्हें मोक्ष कैसे होगा ? बल्कि जीवहिंसाजन्य पदार्थों के सेवन से संसार में ही निवास होगा। वास्तव में देखा जाए तो मोक्ष तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भावपूर्वक साधना से होता है।

सचित्त जल-शौच से मोक्ष कैसे नहीं ?—वारिभद्रक आदि भागवत जलशौचवादियों का कथन है कि जल में जैसे वस्त्र, शरीर, अंगोपांग आदि के बाह्यमल की शुद्धि करने की शक्ति है, वैसे आन्तरिक मल को दूर करने की भी शक्ति है। इसलिए शीतल जल का स्पर्श (स्नानादि) मोक्ष का कारण है।

इसका निराकरण शास्त्रकार ने चार गाथाओं (मू० गा० ३९४ से ३९७ तक) द्वारा पांच अकाट्य युक्तियों से किया है—(१) केवल सचित्त जलस्पर्श कर्मक्षयरूप मोक्ष का कारण नहीं है। बल्कि सचित्त जलसेवन से जलकायिक एवं तदाश्रित त्रस जीवों का उपमर्दन होता है, अत: जीवहिंसा से मोक्ष कदापि सम्भव नहीं है, (२) जल में बाह्यमल को भी पूर्णत: साफ करने की शक्ति नहीं है, आन्तरिक कर्ममल को साफ करने की शक्ति तो उसमें हो ही कैसे सकती है ? आन्तरिक पापमल का नाश तो भावों की शुद्धि से ही हो सकता है। भावों की शुद्धि से रहित व्यक्ति चाहे जितना जलस्नान करे उससे उसके पाप मल का नाश नहीं हो सकता। यदि शीतल जलस्नान ही पाप को मिटा देता है तो तब तो जलचर प्राणियों का सदैव घात करने वाले एवं जल में ही अवगाहन करने वाले पापी मछुए या पापकर्म करने वाले अन्य प्राणी जलस्नान करके शीघ्र मोक्ष पा लेंगे, उनके सभी पापकर्म धुल जाएंगे। फिर तो नरकलोक आदि संसार में कोई भी पापी नहीं रहेगा। परन्तु ऐसा होना असम्भव है। (३) यदि जलस्नान से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब तो मनुष्य तो दूर रहे, मत्स्य आदि समस्त जलचर प्राणियों को शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि वे तो चौबीसों घंटे जल में ही रहते हैं। अतएव यह मान्यता मिथ्या और अयुक्त हैं। (४) जल जैसे पाप (अशुभ कर्ममल) का हरण करता है, वैसे पुण्य (शुभ कर्ममल) का भी हरण कर डालेगा। तब तो जल से पाप की तरह पुण्य भी धुलकर साफ हो जाएगा। और एक दिन मोक्ष के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों को भी वह धोकर साफ कर देगा। ऐसी स्थिति में जलस्पर्श मोक्षसाधक होने के बदले मोक्षबाधक सिद्ध होगा। (५) जितना अधिक जलस्पर्श होगा, उतना ही अधिक जलकायिक तथा तदाश्रित अनेक त्रसप्राणियों का घात होगा।

अग्निहोत्र क्रिया से मोक्ष क्यों नहीं ?—अग्निहोत्री मीमांसक आदि का कथन है कि अग्नि जैसे बाह्य द्रव्यों को जला डालती है, वैसे ही उसमें घी आदि होमने से वह आन्तरिक पापकर्मों को भी जला देती है। जैसा कि श्रुतिवाक्य है—स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र करे। स्वर्गप्राप्ति के अतिरिक्त वैदिक लोग निष्काम भाव से किये जाने वाले अग्निहोत्र आदि कर्म को मोक्ष का भी प्रयोजक मानते हैं। इस युक्तिविरुद्ध मन्तव्य का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'एवं सिया सिद्धि·······कुकम्मिणं पि।"** इसका आशय यह है कि यदि अग्नि में द्रव्यों के डालने से या अग्निस्पर्श से मोक्ष मिलता हो, तब तो आग जलाकर कोयला बनाने वाले, कुम्भकार, लुहार, सुनार, हलवाई आदि सभी अग्निकाय का आरम्भ करने वालों को मोक्ष मिल जाएगा। परन्तु न तो इन अग्निकायारम्भजीवियों को मोक्ष मिल सकता है,

और न ही अग्निस्पर्शवादियों को, क्योंकि दोनों ही अग्निकायिक जीवों का घात करते हैं। जीवघातकों का संसार में ही वास या भ्रमण हो सकता है, मोक्ष में नहीं। कर्मों को जलाने की शक्ति अग्नि में नहीं है, सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले तप में है। उसी की साधना से मोक्षप्राप्ति हो सकती है।[8]

इस कुशील आचार एवं विचार से, सुशील आत्मरक्षक विद्वान् साधु को बचना चाहिए, क्योंकि जीवहिंसाजनक इन कर्मकाण्डों से नरकादि गतियों में नाना दुःख उठाने पड़ते हैं। इस प्रकार गाथाद्वय (३९९-४००) द्वारा शास्त्रकार ने सावधान किया है। अपरिक्ख दिट्ठं—बिना ही परीक्षा किये इस दर्शन (जलस्पर्श-अग्निहोत्रादि से मोक्षवाद) का स्वीकार किया है।[9]

कुशील साधक की आचार भ्रष्टता—

४०१. जे धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जो सिणाति।
जो धावति लूसयती व वत्थं, अहाहु से णागणियस्स दूरे॥ २१॥

४०२. कम्मं परिण्णाय दगंसि धीरे, वियडेण जीवेज्ज य आदिमोक्खं।
से बीय-कंदाति अभुंजमाणे, विरते सिणाणादिसु इत्थियासु॥ २२॥

४०३. जे मायरं पियरं च हेच्चा, गारं तहा पुत्त पसुं धणं च।
कुलाइं जे धावति सादुगाइं, अहाऽऽहु से सामणियस्स दूरे॥ २३॥

४०४. कुलाइं जे धावति सादुगाइं, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे।
अहाहु से आयरियाण सतंसे, जे लावइज्जा असणस्स हेउं॥ २४॥

४०५. निक्खम्म दीणे परभोयणम्मि, मुहमंगलिओदरियाणुगिद्धे।
नीवारगिद्धे व महावराहे, अदूर एवेहति घातमेव॥ २५॥

४०६. अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारिए होति जहा पुलाए॥ २६॥

४०१. जो (स्वयूथिक साधुनामधारी) धर्म (श्रमण की औद्देशिक आदि दोषरहित धर्ममर्यादा) से प्राप्त आहार को भी संचय (अनेक दिनों तक रख) करके खाता है, तथा अचित्त जल से (अचित्त स्थान में भी) अंगों का संकोच करके जो स्नान करता है और जो अपने वस्त्र को (विभूषा के लिए) धोता है तथा (शृंगार के लिए) छोटे वस्त्र को बड़ा और बड़े को (फाड़कर) छोटा करता है, वह निर्ग्रन्थ भाव (संयमशीलता) से दूर है, ऐसा (तीर्थंकरों और गणधरों ने) कहा है।

---

८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १५८ से १६१

९ सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ७१

४०२. (अत:) धीर साधक जलस्नान में कर्मबन्ध जानकर आदि (संसार) से मोक्षपर्यन्त प्रासुक (अचित्त) जल से प्राण धारण करे, तथा वह बीज, कन्द आदि (अपरिणत-अप्रासुक आहार) का उपभोग न करे एवं स्नान आदि (शृंगार-विभूषा कर्म) से तथा स्त्री आदि (समस्त मैथुनकर्म) से विरत रहे।

४०३. जो साधक माता और पिता को तथा घर, पुत्र, पशु और धन (आदि सब) को छोड़कर (प्रव्रजित होकर स्वादलोलुपतावश) स्वादिष्ट भोजन वाले घरों में दौड़ता है, वह श्रमणभाव से दूर है, यह तीर्थंकरों ने कहा है।

४०४. उदर भरने में आसक्त जो साधक स्वादिष्ट भोजन (मिलने) वाले घरों में जाता है, तथा (वहाँ जाकर) धर्मकथा (धर्मोपदेश) करता है, तथा जो साधु भोजन के लोभ से अपने गुणों का बखान करता है, वह भी आचार्य या आर्य के गुणों के शतांश के समान है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

४०५. जो व्यक्ति (घरबार, धन-धान्य आदि छोड़कर) साधुदीक्षा के लिए घर से निकलकर दूसरे (गृहस्थ) के भोजन (स्वादिष्ट आहार) के लिए दीन बन कर भाट की तरह मुखमांगलिक (चापलूस) हो जाता है, वह चावल के दानों में आसक्त बड़े सूअर की तरह उदरभरण में आसक्त हो कर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है।

४०६. अन्न और पान अथवा वस्त्र आदि इहलौकिक पदार्थ के लिए सेवक की तरह आहारादि दाता के अनुकूल प्रिय भाषण करता है (ठकुरसुहाती बात करता है) वह धीरे-धीरे पार्श्वस्थभाव (आचारशैथिल्य) और कुशीलता (दूषितसंयमित्व) को प्राप्त हो जाता है। (और एक दिन) वह भूमि के समान निःसार-निःसत्त्व (संयमप्राण से रहित-थोथा) हो जाता है।

विवेचन——कुशील साधक की आचारभ्रष्टता—प्रस्तुत छह सूत्रगाथाओं (४०१ से ४०६ तक) द्वारा कुशील साधु की आचारभ्रष्टता का परिचय एवं सुशील धीर साधक को इससे बचने का कुछ स्पष्ट, निर्देश दिया गया है।

आचारभ्रष्टता के विविध रूप—प्रस्तुत ६ गाथाओं में से पांच गाथाओं में कुशील साधक की आचार-भ्रष्टता के दस रूप बताये गए हैं—(१) धर्मप्राप्त आहार का संचय करके उपभोग करना, (२) विभूषा की दृष्टि से प्रासुक जल से भी अंग संकोच करके भी स्नान करना, (३) विभूषा के लिए वस्त्र धोकर उजला बनाना, (४) शृंगार के लिए छोटे वस्त्र को बड़ा और बड़े को फाड़कर छोटा बनाना, (५) संयम ग्रहण करने के बाद मनोबलहीन एवं रसलोलुप बनकर स्वादिष्ट भोजन मिलने वाले घरों में बार-बार जाना, (६) उदरभरण में आसक्त होकर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होने वाले घरों में जाकर धर्म-कथा करना, (७) स्वादिष्ट भोजन के लोभवश अपनी ओर आकर्षित करने हेतु अपने गुणों का अत्युक्तिपूर्वक बखान करना, (८) गृहस्थ से स्वादुभोजन लेने हेतु दीनता दिखलाना, (९) उदरपोषणा-सक्त बनकर मुखमांगलिकता करना, (१०) अन्न, पान और अन्य वस्त्रादि आवश्यकताओं के लिए सेवक की तरह दाता के अनुरूप प्रिय-मधुर बोलना।

आचारभ्रष्ट के विशेषण—ऐसे आचारभ्रष्ट साधक को प्रस्तुत गाथाओं में निर्ग्रन्थत्व (नग्नत्व) से दूर, श्रमणत्व से दूर, आचार्य या आर्य गुणों का शतांश, पाशस्थ या पार्श्वस्थ, कुशील एवं निःसार कहा गया है।

सुशील धीर साधक के लिए ५ निर्देश—(१) जलस्नान में कर्मबन्ध जानकर उसका परित्याग करे, (२) प्रासुक (विकट) जल से संसार से विमुक्तिपर्यन्त जीवन निर्वाह करे, (३) बीज, कंद आदि अशस्त्र-परिणत सचित्त वनस्पति का उपभोग न करे, (४) स्नान, अभ्यंगन, उद्‌वर्तन आदि शरीरविभूषाक्रियाओं से विरत हो, (५) स्त्रीसंसर्ग आदि से भी दूर रहे।[10]

कठिन शब्दों की व्याख्या—धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे=दो अर्थ फलित होते हैं—(१) भिक्षादोषरहित धर्मप्राप्त आहार का संग्रह करके खाता है, (२) धर्मलब्ध आहार को छोड़कर अन्य स्वादिष्ट (अशुद्ध) आहार-सेवन करता है। **लूसयतीव वत्थं**=विभूषार्थ वस्त्र को छोटा या बड़ा (विकृत) करता है। **आदि-मोक्खं**=दो अर्थ—(१) आदि=संसार, उससे मोक्ष तक, (२) धर्मकारणों का आदिभूत-शरीर, उसकी विमुक्ति (छूटने) तक।[11]

सुशील साधक के लिए आचार विचार के विवेकसूत्र—

४०७. अण्णातपिंडेणऽधियासएज्जा, नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणे, सव्वेहिं कामेहिं विणीय गेहिं ॥ २७ ॥

४०८. सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खू अणाविलप्पा ॥ २८ ॥

४०९. भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमातिएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥ २९ ॥

४१०. अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखति अंतगस्स।[12]
णिद्धूय कम्मं ण पवंचुवेति, अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि ॥ ३० ॥

॥ कुसीलपरिभासियं-सत्तमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

४०७. सुशील साधु अज्ञातपिण्ड (अपरिचित घरों से लाये हुए भिक्षान्न) से अपना निर्वाह करे, तपस्या के द्वारा अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा न करे, शब्दों और रूपों में अनासक्त रहता हुआ तथा समस्त काम-भोगों से आसक्ति हटाकर (शुद्ध संयम का पालन करे।)

४०८. धीर साधक सर्वसंगों (सभी आसक्तिपूर्ण सम्बन्धों) से अतीत (परे) होकर सभी परीषहोप-सर्गजनित शारीरिक मानसिक दुःखों को (समभावपूर्वक) सहन करता हुआ (विशुद्ध संयम का तभी पालन कर पाता है जब वह) अखिल (ज्ञान-दर्शन-चारित्र से पूर्ण) हो, अगृद्ध (विषयभोगों में अनासक्त)

---

१० सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १६१ से १६३ तक का सारांश

११ (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ७२-७३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १६१-१६२

१२ तुलना—"अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीते कंखेज्ज कालं" —आचारांगसूत्र सूत्र १०८ पृ० २३२

हो, अनियतचारी (अप्रतिबद्धविहारी) और अभयंकर (जो न स्वयं भयभीत हो और न दूसरों को भयभीत करे) तथा जिसकी आत्मा विषय-कषायों से अनाविल (अनाकुल) हो।

४०९. मुनि पंचमहाव्रतरूप संयम भार की यात्रा (निर्वाह) के लिए आहार करे। भिक्षु अपने (पूर्वकृत) पाप का त्याग करने की आकांक्षा करे। परीषहोपसर्गजनित दुःख (पीड़ा) का स्पर्श होने पर धुत संयम या मोक्ष का ग्रहण (स्मरण अथवा ध्यान) करे। जैसे योद्धा संग्राम के शीर्ष (मोर्चे) पर डटा रहकर शत्रु-योद्धा का दमन करता है, वैसे ही साधु भी कर्मशत्रुओं के साथ युद्ध में डटा रहकर उनका दमन करे।

४१०. साधु परीषहों और उपसर्गों से प्रताड़ित (पीड़ित) होता हुआ भी (उन्हें सहन करे।), जैसे लकड़ी का तख्ता दोनों ओर से छीले जाने पर राग-द्वेष नहीं करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से कष्ट पाता हुआ भी साधक राग-द्वेष न करे। वह अन्तक (मृत्यु) के (समाधि-पूर्वक) समागम की प्रतीक्षा (कांक्षा) करे। जैसे अक्ष (गाड़ी की धुरी) टूट जाने पर गाड़ी आगे नहीं चलती, वैसे ही कर्मक्षय कर देने पर जन्म, मरण, रोग, शोक आदि प्रपंच की गाड़ी भी आगे नहीं चलती।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सुशील साधक के लिए आचार-विचार के विवेकसूत्र—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (४०७ से ४१० तक) में सुशील साधक के लिए आचार-विचार सम्बन्धी १६ विवेकसूत्र प्रस्तुत किये गए हैं—(१) अज्ञातपिण्ड द्वारा निर्वाह करे, (२) तपस्या के साथ पूजा-प्रतिष्ठा की कामना न करे, (३) मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों एवं रूपों पर रागद्वेष से संसक्त न हो, (४) इच्छा-मदनरूप समस्त कामों (कामविकारों-मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों) के प्रति आसक्ति हटाकर रागद्वेष न करे। (५) सर्वसंगों से दूर रहे, (६) परीषहोपसर्ग-जनित समस्त दुःखों को समभाव से सहन करे, (७) ज्ञान-दर्शन-चारित्र से परिपूर्ण हो, (८) विषयभोगों में अनासक्त रहे, (९) अप्रतिबद्धविहारी हो, (९) अभयंकर हो, (१०) विषय-कषायों से अनाकुल रहे, (११) संयमयात्रा निराबाध चलाने के लिए ही आहार करे, (१२) पूर्वकृत पापों का त्याग करने की इच्छा करे, (१३) परीषहोपसर्गजनित दुःख का स्पर्श होने पर संयम या मोक्ष (धुत) में ध्यान (स्मरण) रखे। (१४) संग्राम के मोर्चे पर सुभट की तरह कर्मशत्रु का दमन करे, (१५) परीषहोपसर्गों से प्रताड़ित साधक उन्हें सहन करे, (१६) जैसे लकड़ी के तख्ते को दोनों ओर से छीलने पर वह राग-द्वेष नहीं करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से दोनों ओर से कष्ट पाता हुआ भी साधक राग-द्वेष न करे, (१७) सहज भाव से समाधिपूर्वक समागम की आकांक्षा (प्रतीक्षा) करे। (१८) धुरी टूट जाने पर गाड़ी आगे नहीं चलती, वैसे ही कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने पर जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि प्रपंच की गाड़ी आगे नहीं चलती।

निष्कर्ष—पूर्वोक्त आचार-विचार युक्त सुशील सर्वथा कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पाठान्तर और व्याख्या—'**सद्देहिं रूवेहिं** ...... **विणीय गेहिं**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**अण्णे य पाणे य अणाणुगिद्धो, सव्वेसु कामेसु णियत्तएज्जा**' अर्थ होता है—अन्न और पान में अनासक्त रहे, समस्त कामभोगों पर नियन्त्रण करे। '**अणिए अ चारी**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**ण सिलोगकामी**' अर्थात्—प्रशंसाकांक्षी न हो।

॥ कुशील परिभाषित सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

वीर्य—अष्टम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के अष्टम अध्ययन का नाम 'वीर्य' है।

☐ वीर्य शब्द शक्ति, सामर्थ्य, पराक्रम, तेज, दीप्ति, अन्तरंग शक्ति, आत्मबल, शरीरस्थित एक धातु-शुक्र आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1]

☐ नियुक्तिकार ने शक्ति अर्थ में द्रव्य वीर्य के मुख्य दो प्रकार बताए हैं—सचित्त द्रव्य वीर्य और अचित्तद्रव्य वीर्य। इसी तरह क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य और भाववीर्य भी बताए हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में भाववीर्य का निरूपण है। वीर्य शक्तियुक्त जीव की विविध वीर्य सम्बन्धी लब्धियाँ भाववीर्य हैं। वह मुख्यतया ५ प्रकार का है—मनोवीर्य, वाग्वीर्य, कायवीर्य, इन्द्रियवीर्य और आध्यात्मिकवीर्य। जीव अपनी योगशक्ति द्वारा मनोयोग्य पुद्‌गलों को मन के रूप से, भाषायोग्य पुद्‌गलों को भाषा के रूप में, काययोग्य पुद्‌गलों को काया के रूप में और श्वासोच्छ्‌वास के योग्य पुद्‌गलों को श्वासोच्छ्‌वास के रूप में परिणत करता है तब वह मनोवीर्य, वाग्वीर्य, कायवीर्य तथा इन्द्रियवीर्य कहलाता है। ये चारों ही वीर्य सम्भववीर्य और सम्भाव्यवीर्य के रूप में दो-दो प्रकार के होते हैं।

☐ आध्यात्मिक वीर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति से उत्पन्न सात्त्विकबल है। आध्यात्मिक वीर्य अनेक प्रकार का होता है। 'वीर्य प्रवाद' नामक पूर्व में उसके अगणित प्रकार बताए गए हैं। निर्युक्तिकार ने आध्यात्मिक वीर्य में मुख्यतया दस प्रकार बताए हैं—

☐ (१) उद्यम (ज्ञानोपार्जन तपश्चरण आदि में आन्तरिक उत्साह), (२) धृति (संयम और चित्त में स्थैर्य), (३) धीरत्व (परीषहों और उपसर्गों के समय अविचलता), (४) शौण्डीर्य (त्याग की उत्साहपूर्ण उच्चकोटि की भावना), (५) क्षमाबल, (६) गाम्भीर्य (अद्‌भुत साहसिक या चामत्कारिक कार्य करके भी अहंकार न आना, या परीषहोपसर्गों से न दबना), (७) उपयोगबल (निराकार उपयोग (दर्शन), एवं साकार उपयोग (ज्ञान) रखकर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप स्वविषयक निश्चय करना, (८) योगबल (मन, वचन और काया से व्यापार करना) (९) तपोबल (बारह प्रकार के तप में पराक्रम करना, खेदरहित तथा उत्साहपूर्वक तप करना) और, (१०) संयम में पराक्रम (१७ प्रकार के संयम के पालन में तथा अपने संयम को निर्दोष रखने में पराक्रम करना।

---

१ पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ८१४

☐ भाववीर्य के अन्तर्गत आने वाले उपर्युक्त सभी वीर्य तीन कोटि के होते हैं—पण्डितवीर्य, वालपण्डितवीर्य और वालवीर्य। पण्डितवीर्य संयम में पराक्रमी निर्मल साधुतासम्पन्न सर्वविदित साधुओं का होता हैं, वालपण्डितवीर्य व्रतधारी संयमासंयमी देशविरतिश्रावक का होता है, और वालवीर्य असंयमपरायण हिंसा आदि से अविरत या व्रतभंग करने वाले का होता है।[२]

☐ शास्त्रकार ने अकर्मवीर्य और सकर्मवीर्य इन दो कोटियों में समग्र भाववीर्य को समाविष्ट किया है। अकर्मवीर्य को कर्मक्षयजनित पण्डितवीर्य और सकर्मवीर्य को कर्मोदयनिष्पन्न वालवीर्य कहा गया हैं। अकर्मवीर्य का 'अकर्म' शब्द अप्रमाद एवं संयम का तथा सकर्मवीर्य का 'कर्म' शब्द प्रमाद एवं असंयम का सूचक है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में सकर्मवीर्य का परिचय देते हुए कहा गया है कि जो लोग प्राणघातक शस्त्रास्त्र-विद्या, शास्त्र या मंत्र सीखते हैं, मायावी हैं, कामभोगासक्त एवं असंयमी हैं, वे संसारपरिभ्रमण करते हैं, दुःखी होते हैं, इसी प्रकार 'अकर्मवीर्य' का विवेचन करते। हुए कहा गया है कि पण्डित अपने वीर्य का सदुपयोग करते हैं, संयम में लगाते हैं। अध्यात्म वल (धर्मध्यान आदि) से समस्त पापप्रवृत्तियों, मन और इन्द्रिय को, दुष्ट अध्यवसायों को तथा भाषा के दोषों को रोक (सँवर-कर) लेते हैं। संयमप्रधान पण्डितवीर्य ज्यों-ज्यों वढ़ता है, त्यों-त्यों संयम बढ़ता है, पूर्णसंयमी वनने पर उससे निर्वाणरूप शाश्वत सुख मिलता है। अध्ययन के अन्त में पण्डितवीर्य सम्पन्न साधक की तपस्या, भाषा, ध्यान एवं चर्या आदि का निर्देश किया गया है।[३]

☐ प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य साधक को 'सकर्मवीर्य' से हटाकर 'अकर्मवीर्य' की ओर मोड़ना है।

☐ उद्देशक रहित इस अध्ययन में २६ (चूर्णि के अनुसार २७) गाथाएँ हैं।

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४११ से प्रारम्भ होकर ४३६ पर समाप्त होता है।

---

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ९१ से ९७ तक
(ख) सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक १६५ से १६७ तक का सारांश

३ (क) सूयगडंगसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) पृ० ७४ से ७८ तक का सारांश
(ख) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा०१ पृ० १४९

वीरियं : अट्ठमं अज्झयणं

वीर्य : अष्टम अध्ययन

वीर्य का स्वरूप और प्रकार—

४११. दुहा चेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चति ।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, केण वीरो त्ति वुच्चति ॥ १ ॥

४१२. कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वा वि सुव्वता ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, जेहिं दिस्संति मच्चिया ॥ २ ॥

४१३. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसतो वा वि, बालं पंडितमेव वा ॥ ३ ॥

४११. यह जो वीर्य कहलाता है, वह (तीर्थंकर आदि ने) श्रुत (शास्त्र) में दो प्रकार का कहा है। (प्रश्न होता है—) वीर पुरुष का वीरत्व क्या है ? और वह किस कारण से वीर कहलाता है ?

४१२. (श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—) हे सुव्रतो ! कई लोग कर्म को वीर्य कहते हैं अथवा कई अकर्म को वीर्य कहते हैं। मर्त्यलोक के प्राणी इन्हीं दो भेदों (स्थानों) में देखे जाते हैं।

४१३. (तीर्थंकर आदि ने) प्रमाद को कर्म कहा है, तथा इसके विपरीत अप्रमाद को अकर्म (कहा है)। इन दोनों (कर्म अथवा प्रमाद तथा अकर्म) की सत्ता (अस्तित्व) की अपेक्षा से बालवीर्य अथवा पण्डितवीर्य (का व्यवहार) होता है।

विवेचन—तीर्थंकरोक्त वीर्य : स्वरूप और प्रकार—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में से प्रथम गाथा में श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया गया है—भगवान् महावीर द्वारा उक्त दो प्रकार के वीर्य का स्वरूप (वीर पुरुष का वीरत्व) क्या है, वह किन कारणों (किन-किन वीर्यों) से वीर कहलाता है ? द्वितीय गाथा में कहा गया है—एकान्त कर्म प्रयत्न से निष्पादित और अकर्म को वीर्य बताने वाले अन्य लोगों का मत प्रदर्शित करके, इन्हीं दो (कर्म और अकर्म) में से तीर्थंकरोक्त दृष्टि से कारण में कार्य का उपचार करके औदयिक भावनिष्पन्न अष्टविध कर्मजन्य को सकर्मवीर्य तथा जो कर्मोदय निष्पन्न न होकर जीव का वीर्यान्तरायजनित सहज वीर्य हो, उसे अकर्मवीर्य बताया है। सारे संसार के जीवों का वीर्य इन्हीं दो भेदों में विभक्त है। इसके पश्चात् तृतीय गाथा में तीर्थंकरोक्त द्विविध वीर्य को विशेष स्पष्ट करने की

दृष्टि से दोनों की शास्त्रीय संज्ञा बता दी है। कारण में कार्य का उपचार करके प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा गया है, अर्थात् प्रमादजनित कर्मों से युक्त जीव का कार्य बालवीर्य और अप्रमाद जनित अकर्मयुक्त जीव का कार्य पण्डितवीर्य है।[1]

पाठान्तर और व्याख्या—'कम्ममेगे पवेदेंति अकम्मं वावि सुव्वता' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'कम्ममेवं पभासंति अकम्मं वावि सुव्वता।' अर्थात्—इस प्रकार सुव्रत=तीर्थंकर कर्म को वीर्य कहते हैं और अकर्म को भी।[2]

दोनों वीर्यों का आधार : प्रमाद और अप्रमाद—जिसके कारण प्राणिवर्ग अपना आत्मभान भूलकर उत्तम अनुष्ठान से रहित हो जाता है, उसे 'प्रमाद' कहते हैं। वह पांच प्रकार का है—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। तीर्थंकरों ने प्रमाद को कर्मबन्धन का एक विशिष्ट कारण बताया है। प्रमाद के कारण जीव आत्मभान रहित होकर कर्म बाँधता है, वह अपनी सारी शक्ति (वीर्य) धर्म-विपरीत, अधर्म या पापयुक्त कार्यों में लगाकर कर्मबन्धन करता रहता है। इसीलिए प्रमादयुक्त सकर्मा जीव का जो भी क्रियानुष्ठान होता है, उसे बालवीर्य कहा है। इसके विपरीत प्रमादरहित पुरुष के कार्य के पीछे सतत आत्मभान, जागृति एवं विवेक होने के कारण उसके कार्य में कर्मबन्धन नहीं होता, वह अपनी सारी शक्ति अप्रमत्त होकर कर्मक्षय करने, हिंसादि आस्रवों तथा कर्मबन्ध के कारणों से दूर रहने एवं स्व-भावरमण में लगाता है। इसलिए ऐसे अप्रमत्त एवं अकर्मा साधक के पराक्रम को पण्डितवीर्य कहा है। निष्कर्ष यह है कि बालवीर्य और पण्डितवीर्य का मुख्य आधार क्रमशः प्रमाद और अप्रमाद है।[3]

बालजनों का सकर्मवीर्य : परिचय और परिणाम—

४१४. सत्थमेगे सुसिक्खंति, अतिवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो॥ ४॥

४१५. माइणो कट्टु मायाओ, कामभोगे समारभे।
हंता छेत्ता पकत्तित्ता, आयसायाणुगामिणो॥ ५॥

४१६. मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो।
आरतो परतो यावि, दुहा वि य असंजता॥ ६॥

४१७. वेराइं कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो॥ ७॥

४१८. संपरागं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो।
रोग-दोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं॥ ८॥

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १६७-१६८ का सारांश

२ सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ७४

३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १६८ का सारांश

४१९. एतं सकम्मविरियं, बालाणं तु पवेदितं।
एत्तो अकम्मविरियं पंडियाणं सुणेह मे ॥ ९ ॥

४१४. कई लोग प्राणियों का वध करने के लिए तलवार आदि शस्त्र (चलाना) अथवा धनुर्वेद आदि शास्त्र सीखते हैं। कई अज्ञजीव प्राणियों और भूतों के घातक (कष्टदायक) मंत्रों को पढ़ते हैं।

४१५. माया करने वाले व्यक्ति माया (छल-कपट) करके कामभोगो में प्रवृत्त होते हैं। अपने सुख के पीछे अन्धी दौड़ लगाने वाले वे लोग प्राणियों को मारते, काटते और चीरते हैं।

४१६. असंयमी व्यक्ति मन से, वचन से और काया से अशक्त होने पर भी (लौकिक शास्त्रों की उक्ति मानकर) इस लोक और परलोक दोनों के लिए दोनों तरह से (स्वयं प्राणिवध करके और दूसरों से कराके) जीवहिंसा करते हैं।

४१७. प्राणिघातक, वैरी (शत्रु) बनकर अनेक जन्मों के लिए (जीवों से) वैर बाँध लेता (करता) है, फिर वह नये वैर में संलग्न हो जाता है। (वास्तव में) जीवहिंसा (आरम्भ) पाप की परम्परा चलाती है। (क्योकि हिंसादिजनित) पापकार्य अन्त (विपाक-फलभोगकाल) में अनेक दुःखों का स्पर्श कराते हैं।

४१८. स्वयं दुष्कृत (पाप) करने वाले जीव साम्परायिक कर्म बाँधते हैं, तथा वे अज्ञानी जीव राग और द्वेष का आश्रय लेकर बहुत पाप करते हैं।

४१९. (पूर्वार्द्ध) यह अज्ञानी जनों का सकर्मवीर्य (बालवीर्य) कहा गया है।.......'

विवेचन—बालजनों का सकर्मवीर्य : परिचय और परिणाम—इन षट्सूत्रगाथाओं में सकर्मवीर्य का प्रयोग प्रमादी-अज्ञजनों द्वारा कैसे-कैसे और किन-किन प्रयोजनों से किया जाता है ? इसका परिचय और इसका दुष्परिणाम प्रस्तुत किया गया है।

ये सकर्मवीर्य कैसे ?—पूर्वोक्त गाथाओं में बताए हुए जितने भी पराक्रम हैं, वे सभी सकर्मवीर्य या बालवीर्य इसलिए हैं, कि ये प्राणिघातक हैं, प्राणिपीड़ादायक हैं, कषायवर्द्धक हैं, वैरपरम्परावर्द्धक हैं, रागद्वेषवर्द्धक हैं, पाप कर्मजनक हैं।[४]

'सत्थं' शब्द के विभिन्न आशय—वृत्तिकार ने 'सत्थं' शब्द के दो संस्कृत रूपान्तर किये हैं—शस्त्र और शास्त्र। तलवार आदि शस्त्र तो प्राणिघातक हैं ही, निम्नोक्त शास्त्र भी प्राणिविघातक हैं—(१) धनुर्वेद (जिसमें जीव मारने का लक्ष्यवेध किया जाता है), (२) आयुर्वेद—जिसमें कतिपय रोगों का निवारण प्राणियों के रक्त, चर्बी, हड्डी, मांस एवं रस आदि से किया जाता है। (३) दण्ड—नीतिशास्त्र (जिसमें अपराधी को शूली या फांसी पर चढ़ाने की विधि होती है, (४) अर्थशास्त्र (कौटिल्य)—जिसमें धन लेने के लिए दूसरों को ठगने का उपाय बताया गया हो, (५) कामशास्त्र (जिसमें मैथुन प्रवृत्ति सम्बन्धी अशुभ विचार है)। इन सभी शास्त्रों का आश्रय लेकर अज्ञजन विविध पापकर्मों में प्रवृत्त होकर पापकर्म का बन्ध करते हैं।

---

४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १६८-१६९ का सारांश

प्राणिविघातक मंत्र—जो अथर्ववेदीय मंत्र अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदि जीववधप्रेरक यज्ञों के निमित्त पढ़े जाते हैं, अथवा जो प्राणियों के मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए पढ़े जाते हैं, वे सब मंत्र प्राणिविघातक हैं।[४]

पाठान्तर एवं व्याख्यान्तर—'कामभोगे समारभे' के बदले पाठान्तर है—आरंभाय तिउट्टइ—अर्थात्—बहुत-से भोगार्थी जीव तीनों (मन, वचन और काया) से आरम्भ में या आरम्भार्थ प्रवृत्त होते हैं। **'संपरायं णियच्छति'** वृत्तिकारसम्मत इस पाठ और व्याख्या के बदले चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर और व्याख्यान्तर—**संपरागं णिय(ग)च्छंति**- सम्पराग यानी संसार को प्राप्त करते हैं। 'अत्तदुक्कडकारिणो'—वृत्तिकारसम्मत इस पाठ और व्याख्या के बदले चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर एवं व्याख्यान्तर—'अत्ता दुक्कडकारिणो'=आर्त्त अर्थात् विषय-कषाय से आर्त्त (पीड़ित) होकर दुष्कृत (पाप) कर्म करने वाले।[५]

पण्डित (अकर्म) वीर्य-साधना के प्रेरणासूत्र—

४२०. **दविए बधणुम्मुक्के, सव्वतो छिण्णबंधणे।**
पणोल्ल पावगं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो॥ १०॥

४२१. **णेयाउयं सुयक्खातं, उवादाय समीहते।**
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुभत्तं तहा तहा॥ ११॥

४२२. **ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति न संसओ।**
अणितिए अयं वासे, णायएहि य सुहीहि य॥१२॥

४२३. **एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।**
आरियं उवसंपज्जे सव्वधम्ममकोवियं॥१३॥

४२४. **सहसम्मुइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा।**
समुवट्ठिते अणगारे, पच्चक्खायपावए॥१४॥

४२५. जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिते ॥१५॥

४२६. जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥

४२७. साहरे हत्थ-पादे य मणं सव्वेंदियाणि य ।
पावगं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥१७॥

४२८. अणु माणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
सातागारवणिहुते, उवसंतेऽणिहे चरे ॥१८॥

४२९. पाणे य णाइवातेज्जा, अदिण्णं पि य णादिए ।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमतो ॥१९॥

४३०. अतिक्कमं ति वायाए, मणसा वि ण पत्थए ।
सव्वतो संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

४३१. कडं च कज्जमाणं च, आगमेस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आतगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

४१९ (उत्तरार्द्ध). अब यहाँ से पण्डितों (उत्तम विज्ञ साधुओं के अकर्मवीर्य के सम्बन्ध में मुझसे सुनो ।

४२०. पण्डित (अकर्म) वीर्य पुरुष द्रव्य (भव्य-मुक्तिगमन योग्य अथवा द्रव्यभूत-अकषायी) होता है, कषायात्मक बन्धनों से उन्मुक्त होता है । जो सब प्रकार से कषायात्मक बन्धन काट चुका है, तथा वह पापकर्मों (पापकर्म के कारणभूत आश्रवों) को हटाकर अपने शल्य-तुल्य शेष कर्मों को भी सर्वथा काट देता है ।

४२१. (पण्डितवीर्य) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष के प्रति ले जाने वाला है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है । (पण्डितवीर्य सम्पन्न साधक) इसे ग्रहण करके मोक्ष (ध्यान, स्वाध्याय आदि मोक्ष साधक अनुष्ठानों) के लिए सम्यक् उद्यम करता है । (पण्डित साधक धर्मध्यानारोहण के लिए यों अनुप्रेक्षा करे–) (बालवीर्य अतीत और भविष्य के अनन्त भवों तक) बार-बार दुःख का आवास है । बालवीर्यवान् ज्यों-ज्यों नरकादि दुःखस्थानों में भटकता है, त्यों-त्यों उसका अध्यवसाय अशुद्ध होते जाने से अशुभ कर्म ही बढ़ता है ।

४२२. "...... ...निःसन्देह उच्च स्थानों (देवलोक में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि तथा मनुष्य-लोक में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि पदों) पर स्थित सभी जीव एक दिन (आयुष्य क्षय होते ही)

अपने-अपने (विविध) स्थानों को छोड़ देंगे। ज्ञातिजनों और सुहृद्जनों के साथ जो संवास है, वह भी अनियत-अनित्य है।"[७]

४२३. इस (पूर्वोक्त) प्रकार से विचार करके मेधावी साधक इन सबके प्रति अपनी गृद्धि (आसक्ति) हटा दे तथा समस्त (अन्य) धर्मों से अदूषित (अकोपित) आर्यों (तीर्थंकरों) के इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग को स्वीकार (आश्रय) करे।

४२४. सन्मति (निर्मल बुद्धि) से धर्म के सार (परमार्थतत्त्व) को जानकर अथवा सुनकर धर्म के सार भूत चारित्र के या आत्मा के ज्ञानादि निज गुणों के उपार्जन में उद्यत अनगार (पण्डितवीर्य-सम्पन्न व कर्मक्षय के लिए कटिवद्ध साधक) पाप (-युक्त अनुष्ठान) का त्याग कर देता है।

४२५. पण्डित (वीर्य सम्पन्न) साधु यदि किसी प्रकार अपनी आयु का उपक्रम (क्षय-कारण) जाने तो उस उपक्रमकाल के अन्दर (पहले से) ही शीघ्र संलेखना रूप या भक्तपरिज्ञा एवं इंगितमरण आदि रूप पण्डितमरण की शिक्षा का प्रशिक्षण ले—ग्रहण करे।

४२६. जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में छिपा लेता है, इसी प्रकार से मेधावी (मर्यादा-वान् पण्डित) पापों (पापरूप कार्यों) को अध्यात्म (सम्यग् धर्मध्यानादि की) भावना से समेट ले (संकुचित कर दे)।

४२७. पादपोपगमन, इंगितमरण या भक्त परिज्ञादि रूप अनशन काल या अन्तकाल में पण्डित साधक कछुए की तरह अपने हाथ-पैरों को समेट ले (समस्त व्यापारों से रोक ले), मन को अकुशल (बुरे) संकल्पों से रोके, इन्द्रियों को (अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में रागद्वेष छोड़कर) संकुचित कर ले। (इहलोक-परलोक में सुख प्राप्ति की कामना रूप) पापमय परिणाम का तथा वैसे (पापरूप) भाषा-दोष का त्याग करे।

४२८. पण्डित साधक थोड़ा-सा भी अभिमान और माया न करे। मान और माया का अनिष्ट फल जानकर सद्-असद्-विवेकी साधक साता (सुख सुविधाप्राप्ति के) गौरव (अहंकार) में उद्यत न हो तथा उपशान्त एवं निःस्पृह अथवा माया रहित (अनिह) होकर विचरण करे।

४२९. वह प्राणियों का घात न करे तथा अदत्त (बिना दिया हुआ पदार्थ) भी ग्रहण न करे एवं माया-मृषावाद न करे, यही जितेन्द्रिय (वश्य) साधक का धर्म है।

४३०. प्राणियों के प्राणों का अतिक्रम (पीड़न) (काया से करना तो दूर रहा) वाणी से भी न करे, तथा मन से भी न चाहे तथा बाहर और भीतर सव ओर से संवृत (गुप्त) होकर रहे, एवं इन्द्रियों का दमन करता हुआ साधु आदान (मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादि रूप संयम) की तत्परता के साथ समाराधना करे।

---

६ सूत्रगाथा ४२१ के उत्तरार्द्ध एवं ४२२ में धर्मध्यानारोहण में अवलम्बन के लिए क्रमशः संसार (संसारदुःख स्वरूप की) अनुप्रेक्षा, और अनित्यानुप्रेक्षा विहित है। ४२२ वीं गाथा में पठित दो 'य'कार से अशरण आदि शेष अनुप्रेक्षाओं का आलम्बन सूचित किया गया है। —सूत्र० कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १७०-१७१

४३१. (पाप से) आत्मा के गोप्ता (रक्षक) जितेन्द्रिय साधक किसी के द्वारा (अतीत में) किया हुआ, (वर्तमान में) किया जाता हुआ और भविष्य में किया जाने वाला जो पाप है, उस सबका (मन-वचन-काया से) अनुमोदन-समर्थन नहीं करते।

विवेचन—पण्डित (अकर्म) वीर्य साधना के प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत १३ सूत्रगाथाओं (सू० गा० ४१९ से ४३१ तक) में पण्डितवीर्य की साधना के लिए २९ प्रेरणासूत्र फलित होते हैं—(१) वह भव्य (मोक्षगमन योग्य) हो, (२) अल्पकषायी हो, (३) कषायात्मक बन्धनों से उन्मुक्त हो, (४) पापकर्म के कारणभूत आश्रवों को हटाकर और कषायात्मक बन्धनों को काटकर शल्यवत् शेष कर्मों को काटने के लिए उद्यत रहे। (५) मोक्ष की ओर ले जाने वाले (नेता) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए पुरुषार्थ करे, (६) ध्यान, स्वाध्याय आदि मोक्षसाधक अनुष्ठानों में सम्यक् उद्यम करे, (७) धर्मध्यानारोहण के लिए बालवीर्य की दुःख-प्रदता एवं अशुभ कर्मबन्धकारणता का तथा सुगतियों में भी उच्च स्थानों एवं परिजनों के साथ संवास की अनित्यता का अनुप्रेक्षण करे, (८) इस प्रकार के चिन्तनपूर्वक इन सबके प्रति अपनी आसक्ति या ममत्वबुद्धि हटा दे, (९) सर्वधर्ममान्य इस आर्य (रत्नत्रयात्मक मोक्ष) मार्ग को स्वीकार करे, (१०) पवित्र बुद्धि से धर्म के सार को जान-सुनकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों के उपार्जन में उद्यम करे, (११) पापयुक्त अनुष्ठान का त्याग करे, (१२) अपनी आयु का उपक्रम किसी प्रकार से जान जाए तो यथाशीघ्र संलेखना रूप या पण्डित मरणरूप शिक्षा ग्रहण करे, (१३) कछुआ जैसे अंगों का संकोच कर लेता है, वैसे ही पण्डितसाधक पापरूप कार्यों को सम्यक् धर्मध्यानादि की भावना से संकुचित कर ले, (१४) अनशन-काल में समस्त व्यापारों से अपने हाथ-पैरों को, अकुशल संकल्पों से मन को रोक ले तथा इन्द्रियों को अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष छोड़कर संकुचित कर ले, (१५) पापरूप परिणाम वाली दुष्कामनाओं का तथा पापरूप भाषादोष का त्याग करे, (१६) लेशमात्र भी अभिमान और माया न करे; (१७) इनके अनिष्ट फल को जानकर सुखप्राप्ति के गौरव में उद्यत न हो, (१८) उपशान्त तथा निःस्पृह या माया-रहित होकर विचरण करे, (१९) वह प्राणिहिंसा न करे, (२०) अदत्त ग्रहण न करे; (२१) मायासहित असत्य न बोले, (२२) प्राणियों के प्राणों का उत्पीड़न काया से ही नहीं, वचन और मन से भी न करे, (२३) बाहर और अन्दर से संवृत (गुप्त) होकर रहे, (२४) इन्द्रिय-दमन करे, (२५) मोक्षदायक सम्यग्-दर्शनादिरूप संयम की आराधना करे; (२६) पाप से आत्मा को बचाए, (२७) जितेन्द्रिय रहे और (२८) किसी के द्वारा अतीत में किये हुए वर्तमान में किया जाते हुए और भविष्य में किये जाने वाले पाप का मन-वचन-काया से अनुमोदन भी न करे।[८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**दविए**=वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(१) **द्रव्य**=भव्य (मुक्ति-गमनयोग्य), (२) **द्रव्यभूत**=अकषायी, और (३) वीतरागवत् अल्पकषायी वीतराग। यद्यपि छठे सातवें गुणस्थान (सरागधर्म) में स्थित साधक सर्वथा कषायरहित नहीं होता, तथापि अनन्तानुबंधी, अप्रत्या-ख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने से तथा संज्वलन कषाय का भी तीव्र उदय न होने से वह अकषायी वीतराग के समान ही होता है। **नेयाउयं**=वृत्तिकार ने दो अर्थ किये हैं—नेता=सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग अथवा श्रुतचारित्ररूप धर्म, जो मोक्ष की ओर ले जाने वाला है। **सव्व-**

---

८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७० से १७३ तक का सारांश

धम्मकोविय=इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) सभी कुतीर्थिक धर्मों द्वारा अकोपित-अदूषित (२) सभी धर्मों-अनुष्ठानरूप स्वभावों से जो अगोपित—प्रकट है। **सिक्खं सिक्खेज्ज**=शिक्षा से यथावत् मरणविधि जानकर आसेवनशिक्षा से उसका अभ्यास करे।[9]

पाठान्तर और व्याख्या—'अणुमाणं......पंडिए' (गा० ४२८) के बदले पाठान्तर है—'**अइमाणं च...... परिण्णाय पण्डिए**', अर्थ होता है—अतिमान और अतिमाया; ये दोनों दुःखावह होते हैं, यह जानकर पण्डित-साधक इनका परित्याग करे। आशय यह है—सरागावस्था में कदाचित् मान या माया का उदय हो जाए, तो भी उस उदयप्राप्त मान या माया का विफलीकरण कर दे। इसी पंक्ति के स्थान में दो पाठान्तर मिलते हैं—(१) '**सुयं मे इहमेगेसि एयं वीरस्स वीरियं**' तथा (२) '**आयतट्ठं सुआदाय एयं वीरस्स वीरियं**'।[10] **प्रथम पाठान्तर का भावार्थ**—जिस बल से संग्राम में शत्रुसेना पर विजय प्राप्त की जाती है, वह परमार्थ रूप से वीर्य नहीं है, अपितु जिस बल से काम-क्रोधादि आन्तरिक रिपुओं पर विजय प्राप्त की जाती है, वही वास्तव में वीर-महापुरुष का वीर्य है, यह वचन मैंने इस मनुष्यजन्म में या संसार में तीर्थंकरों से सुना है। **द्वितीय पाठान्तर का भावार्थ**—आयत यानी मोक्ष। आयतार्थ=मोक्षरूप अर्थ या मोक्ष रूप प्रयोजन साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग। उसको सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके जो धृतिबल से काम-क्रोधादि पर विजय पाने के लिए पराक्रम करता है, यही वीर का वीर्य है।[11]

अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम ही बालवीर्य और पण्डितवीर्य—

४३२. जे याऽबुद्धा महाभागा वीरा असम्मत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥

४३३ जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होति सव्वसो ॥२३॥

४३४. तेसिं पि तवोऽसुद्धो, निक्खंता जे महाकुला।
जं नेवऽन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेदए ॥२४॥

---

९ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७०-१७१
(ख) सिद्धान्त सूत्र—"किं सक्का वोत्तुं जे सरागधम्मंमि कोइ अकसायी।
संते वि जो कसाए निगिण्हइ, सोऽवि तत्तुल्लो ॥" —सू० कृ० वृत्ति प० १७० में उद्धृत

१० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७२
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १७६

११ गाथा संख्या १८ से आगे १९ वीं गाथा चूर्णि में अधिक है, वह इस प्रकार है....
"उड्ढमधे तिरियं दिसासु जे पाणा तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संतिनिव्वाणमाहितं ॥"
यह गाथा इसी सूत्र के तृतीय अध्ययन (सू० २४४) में तथा ११ वें अध्ययन (सू० ५०७) में मिलती है।

४३२. जो व्यक्ति अबुद्ध (धर्म के वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ) हैं, किन्तु जगत् में महाभाग (महापूज्य या लोकविश्रुत) (माने जाते) हैं, एवं शत्रुसेना (या प्रतिवादी) को जीतने में वीर (वाग्वीर) हैं, तथा असम्यक्त्वदर्शी (मिथ्यादृष्टि) हैं, उन (सम्यक्तत्त्व परिज्ञानरहित) लोगों का तप, दान, अध्ययन, यम-नियम आदि में किया गया पराक्रम (वीर्य) अशुद्ध है, उनका सबका सब पराक्रम कर्मबन्धरूप फलयुक्त होता है।

४३३. जो व्यक्ति पदार्थ के सच्चे स्वरूप के ज्ञाता (बुद्ध) हैं, महाभाग (महापूज्य) हैं, कर्मविदारण करने में सहिष्णु या ज्ञानादि गुणों से विराजित (वीर) हैं तथा सम्यक्त्वदर्शी (सम्यग्दृष्टि-परमार्थतत्त्वज्ञ) हैं उनका तप, अध्ययन, यम, नियम आदि में समस्त पराक्रम शुद्ध और सर्वथा कर्मबन्धरूप फल से रहित (निरनुबन्ध) (सिर्फ कर्मक्षय के लिए) होता है।

४३४. जो महाकुलोत्पन्न व्यक्ति प्रव्रजित होकर पूजा-सत्कार के लिये तप करते हैं, उनका तप (रूप पराक्रम) भी शुद्ध नहीं है। जिस तप को अन्य (दानादि में श्रद्धा रखने या श्राद्ध-श्रावक आदि) व्यक्ति न जानें, (इस प्रकार से गुप्त तप आत्मार्थी को करना चाहिए।) और न ही (अपने मुख से) अपनी प्रशंसा करनी चाहिए।[१२]

विवेचन—अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम ही बालवीर्य और पण्डितवीर्य—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में शास्त्रकार अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम के आधार पर बालवीर्य और पण्डितवीर्य का अन्तर समझाते हैं। तीनों गाथाओं पर से भगवान् महावीर की त्रिविध शुद्धि की स्पष्ट दृष्टि परिलक्षित होती है—(१) साधन भी शुद्ध हो, (२) साध्य भी शुद्ध हो, (३) साधक भी शुद्ध हो। साधक चाहे जितना प्रसिद्ध हो; लोक-पूजनीय हो, परन्तु यदि उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं है, वह परमार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ है तो वह अशुद्ध है। उसके द्वारा तप, दान, अध्ययन, यम, नियम आदि शुद्ध कहलाने वाले साधनों के लिये किया जाने वाला पराक्रम, भले ही वह मोक्ष रूप शुद्ध साध्य को लक्ष्य में रखकर किया गया हो, अशुद्ध ही है, वह कर्मबन्धन से मोक्ष दिलाने वाला न होकर कर्मबन्ध रूप (संसार) फल का दायक होगा। इसके विपरीत जो व्यक्ति परमार्थ तत्त्व का ज्ञाता (प्रबुद्ध) है, लोकप्रसिद्ध पूजनीय भी है, सम्यग्दृष्टि है, वह शुद्ध है, उसके द्वारा मोक्षरूप शुद्ध साध्य को लक्ष्य में रखकर कर्मक्षयहेतु से तप, अध्ययन, यम नियमादि शुद्ध साधनों के विषय में किया जाने वाला पराक्रम शुद्ध है, वह कर्मबन्धरूप फल (संसार) का नाशक एवं मोक्षदायक होगा। अशुद्ध पराक्रम बालवीर्य का और शुद्ध पराक्रम पण्डितवीर्य का द्योतक है। तीसरी गाथा (सू० गा० ४३४) में भी अशुद्ध साध्य को लक्ष्य में रखकर महाकुलीन प्रव्रजित साधक द्वारा तपस्यारूप शुद्ध साधन के लिए किया जाने वाला पराक्रम अशुद्ध बताया गया है, क्योंकि जो तपस्या मोक्षरूप साध्य की उपेक्षा करके केवल इहलौकिक-पारलौकिक सुखाकांक्षा, स्वार्थसिद्धि, प्रशंसा, प्रसिद्धि या पूजा आदि को लक्ष्य में रखकर की जाति है, उस तपस्वी का वह पराक्रम अशुद्ध, कर्मबन्धकारक, संसार-फलदायक होता है, वह कर्मनिर्जरा (कर्मक्षय) रूप मोक्ष नहीं दिलाता।[१३] दशवैकालिक सूत्र में इहलौकिक-पार-

---

१२ चूर्णि में इसके आगे एक गाथा अधिक मिलती है—

"तेसिं तु तवो सुद्धो निक्खंता जे महाकुला।
अवमाणिते परेण तु ण सिलोगं वयंति ते॥"—अर्थ स्पष्ट है।

१३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७४ पर से

लौकिक कामना, एवं कीर्ति आदि की लालसा से तपश्चरण का निषेध है, सिर्फ निर्जरार्थ (कर्मक्षयार्थ) तप का विधान है।[१४]

अबुद्धा—इसकी दो व्याख्याएँ वृत्तिकार ने की हैं—(१) जो व्यक्ति अबुद्ध है अर्थात्—धर्म के परमार्थ से अनभिज्ञ हैं, वे व्याकरणशास्त्र, शुष्कतर्क आदि के ज्ञान से बड़े अहंकारी बनकर अपने आपको पण्डित मानते हैं, किन्तु उन्हें यथार्थ वस्तुतत्त्व का बोध न होने के कारण अबुद्ध हैं। (२) अथवा बालवीर्यवान् व्यक्तियों को अबुद्ध कहते हैं।[१५]

बालजनों का पराक्रम—अनेक शास्त्रों के पण्डित एवं त्यागादि गुणों के कारण लोकपूज्य एवं वाणीवीर होते हुए सम्यक्तत्त्वज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि बालजन ही हैं। उनके द्वारा तप, दान, अध्ययन आदि में किया गया कोई भी पराक्रम आत्मशुद्धिकारक नहीं होता, प्रत्युत कर्मबन्धकारक होने से आत्मा को अशुद्ध बना देता है। जैसे कुवैद्य की चिकित्सा से रोगनाश न होकर उलटे रोग में वृद्धि होती है, वैसे ही उन अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजनों की तप आदि समस्त क्रियाएँ भव-भ्रमणरोग के नाश के बदले भवभ्रमण में वृद्धि करती हैं।[१६]

पण्डितवीर्य-साधना का आदर्श—

४३५. अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वते।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगेही सदा जते ॥२५॥

४३६. झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२६॥ त्ति बेमि।

॥ वीरियं : अट्ठमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

४३५. सुव्रत (महाव्रती) साधु उदरनिर्वाह के लिए थोड़ा-सा आहार करे, तदनुसार थोड़ा जल पीए; इसी प्रकार थोड़ा बोले। वह सदा क्षमाशील, (या कष्टसहिष्णु), लोभादि से रहित, शान्त, दान्त, (जितेन्द्रिय) एवं विषय भोगों में अनासक्त रहकर सदैव सर्व प्रवृत्तियों में यतना करे अथवा संयम पालन में प्रयत्न (पुरुषार्थ) करे।

---

१४ तुलना कीजिए—'नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वन्न-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा; नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक सूत्र अ० ९ उ० ४ सू० ४

१५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७४
(ख) शास्त्रावगाह-परिघट्टन तत्परोऽपि।
नैवाऽबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ॥

१६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७४
(ख) सम्यग्दृष्टि का समस्त अनुष्ठान संयम-तपःप्रधान होता है, उनका संयम अनाश्रव (संवर) रूप और तप निर्जरा फलदायक होता है। कहा भी है—'संजमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले।'

४३६. साधु ध्यानयोग को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके पूर्ण रूप से काया का व्युत्सर्ग करे (अनिष्ट प्रवृत्तियों से शरीर को रोके)। परीषहोपसर्ग सहनरूप तितिक्षा को प्रधान (सर्वोत्कृष्ट) साधना समझकर मोक्ष पर्यन्त संयम-पालन में पराक्रम करे। —यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—पण्डितवीर्य-साधना का आदर्श—अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने सूत्र-गाथाद्वय द्वारा पण्डितवीर्य की साधना का आदर्श प्रस्तुत किया हैं।

साधक के पास मन, वचन और काया, ये तीन बड़े साधन हैं, इन तीनों में बहुत बड़ी शक्ति है। परन्तु अगर वह मन की शक्ति को विषयोपभोगों की प्राप्ति के चिन्तन, कषाय या राग-द्वेष-मोह आदि में या दुःसंकल्प, दुर्ध्यान आदि करने में लगा देता है तो वह आत्मा के उत्थान की ओर गति करने के बजाय पतन की ओर गति करता है। इसी प्रकार वचन की शक्ति को कर्कश, कठोर, हिंसाजनक, पीड़ाकारी, सावद्य, निरर्थक, असत्य या कपटमय वाणी बोलने में लगाता है, वाणी का समीचीन उपयोग नहीं करता है तो भी वह अपनी शक्ति बालवीर्य साधना में लगाता है, काया को भी केवल खाने-पीने, पुष्ट बनाने, सजाने संवारने, या आहार-पानी, वस्त्र, मकान आदि पदार्थों के अधिकाधिक उपभोग में लगाता है, तो भी वह अपनी शक्ति का अपव्यय करता है। इसलिए शास्त्रकार पण्डितवीर्य साधक के समक्ष उसके त्याग-तप-प्रधान जीवन के अनुरूप एक आदर्श की झांकी प्रस्तुत करते हैं। एक आचार्य भी इसी आदर्श का समर्थन करते हैं—"जो साधक थोड़ा आहार करता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी निद्रा लेता है, अपने संयम के उपकरण और साधन बहुत ही कम रखता है, उसे देवता भी प्रणाम करते हैं।"[१७] एक ओर साधक को धर्मपालन के लिए शरीर को स्वस्थ एवं सक्षम रखना है, दूसरी ओर संयम, तप और त्याग का भी अधिकाधिक अभ्यास करना है, इस दृष्टि से निम्नोक्त तथ्य गाथाद्वय में से प्रतिफलित होते हैं—

(१) साधक अल्पतम आहार, अल्प पानी, अल्प निद्रा, अल्प भाषण; अल्प उपकरण एवं साधन से जीवननिर्वाह करे; वह द्रव्य-भाव से उनोदरी तप का अभ्यास करे।

(२) शरीर से चलने फिरने, उठने-बैठने, सोने-जागने, खाने-पीने आदि की जो भी प्रवृत्ति करनी हैं, वह भी निरर्थक न की जाए,[१८] जो भी प्रवृत्ति की जाए, वह दशवैकालिक सूत्र के निर्देशानुसार सदैव यतनापूर्वक ही की जाए।[१९]

---

१७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७४-१७५ के आधार पर

(ख) 'थोवाहारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दे य।
थोवोवहि-उवकरणो तस्स हु देवा वि पणमंति ॥'—सू० कृ० शी० वृत्ति में उद्धृत पत्रांक १७५

१८ सदा जते (जए)—तुलना करें—

(क) जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥—दशवैका० अ० ४/८

(ख) यतं चरे यतं तिट्ठे, यतं अच्छे यतं सये।
यतं समिञ्जए भिक्खु यतमेनं पसारए ॥ —सुत्तपिटक खुद्दकनिकाय इतिवुत्तक पृ० २६२

(ग) सूयगडंग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० ३६६

(३) पाँचों इन्द्रियों का उपयोग भी अनासक्तिपूर्वक अत्यन्त अल्प किया जाए, इन्द्रियों के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों पर रागद्वेष न किया जाए, इन्द्रियों का दमन किया जाए।

(४) काया से ममत्व का व्युत्सर्ग किया जाए, उसे सभी प्रकार से बुरी प्रवृत्तियों से रोका जाए। केवल संयमाचरण में लगाया जाए।

(५) काया इतनी कष्टसहिष्णु बना ली जाए कि प्रत्येक परीषह और उपसर्ग समभाव पूर्वक सह सके। तितिक्षा को ही इस साधना में प्रधान समझे।

(६) मन को क्षमाशील, कषायादि रहित, विषय-भोगों में अनासक्त, इहलौकिक-पारलौकिक निदानों (सुखाकांक्षाओं), यश, प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि की लालसा से दूर रखना है।

(७) मन-वचन-काया को समस्त व्यापारों से रोककर मन को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चारों प्रकार के ध्यानों में से किसी एक के द्वारा धर्मध्यान या शुक्लध्यान के अभ्यास में लगाना है।

(८) सारी शक्तियां जीवनपर्यन्त आत्मरमणता या मोक्ष-साधना में लगानी है।

पण्डितवीर्य की साधना में शरीर गौण होता है, आत्मा मुख्य। अतः शरीर की भक्ति छोड़कर ऐसे साधक को आत्म-भक्ति पर ही मुख्यतया ध्यान देना चाहिए। तभी उसकी शक्ति सफल हो सकेगी, उसका समग्र जीवन भी पण्डितवीर्य की साधना में लगेगा और उसकी मृत्यु भी इसी साधना (पण्डित-मरण की साधना) में होगी।[१९]

वीतगेही— इसके दो अर्थ किये गए हैं—(१) विषयों की आकांक्षारहित (२) चूर्णिकार के अनुसार—निदानादि में गृद्धि से विमुक्त, जो परिपूर्ण होने पर न तो राग (मोह) करता है और न ही किसी पदार्थ को पाने की आकांक्षा करता है।[२०]

॥ वीर्य : अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

---

१९ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७५

२० (क) सूयगडंग चूर्णि मू० पा० टिप्पण ७८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७५

धर्म : नवम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के नवम अध्ययन का नाम 'धर्म' है।

☐ धर्म शब्द शुभकर्म, कर्तव्य, कुशल अनुष्ठान, सुकृत, पुण्य, सदाचार, स्वभाव, गुण, पर्याय, धर्मास्तिकाय, द्रव्य, मर्यादा, रीति, व्यवहार आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की दृष्टि से धर्म के चार निक्षेप किये हैं। नाम और स्थापना धर्म तो सुगम है। द्रव्यधर्म सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य के स्वभाव अर्थ में है। अथवा षड्द्रव्यो में जो जिसका स्वभाव है, वह उसका द्रव्य धर्म है। इसके अतिरिक्त कुल, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि से सम्बन्धित जो गृहस्थों के नियमोपनियम, मर्यादाएँ, कर्तव्य अथवा दायित्व के रूप में कुलधर्म, ग्रामधर्म आदि हैं उन्हें तथा अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार के पुण्य हैं, उन्हें भी द्रव्यधर्म समझना चाहिए।

☐ भावधर्म के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकार है—गृहस्थों का और पाषण्डियों का। लोकोत्तर धर्म सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। निर्युक्तिकार के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन में भावधर्म का ही अधिकार है, क्योंकि वही वस्तुतः धर्म है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न साधु के लिए वीतरागप्ररूपित लोकोत्तर धर्म (आचार-विचार) का निरूपण किया गया है। विशेषतः षड्जीवनिकाय के आरम्भ, परिग्रह आदि में ग्रस्त व्यक्ति इह-परलोक में दुःखमुक्त नहीं हो सकते, इसलिए साधु को परमार्थ (मोक्षमार्ग) का विचार करके निर्ममत्व, निरारम्भ, निरहंकार, निरपेक्ष एवं निष्परिग्रह होकर संयम धर्म में उद्यम करने का निर्देश किया गया है, तथा मृषावाद, मैथुन, परिग्रह, अदत्तादान, माया, लोभ, क्रोध, मान आदि को तथा शोभा के लिए प्रक्षालन, रंजन, वस्तीकर्म, विरेचन, वमन, अंजन,

---

१ पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ४८५

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ९९ से १०१,

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७५-१७६

गन्ध, माल्य, स्नान, दन्त-प्रक्षालन, वस्तु-परिग्रह (संग्रह), हस्तकर्म, औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहारसेवन, रसायन-सेवन, मर्दन ज्योतिषप्रश्न सांसारिक बातें, शय्यातरपिण्ड ग्रहण, द्यूतक्रीड़ा, धर्मविरुद्ध कथन, जूता, छाता, पंखे से हवा करना, गृहस्थ पात्र-वस्त्र-सेवन, कुर्सी-पलंग का उपयोग गृहस्थ के घर में बैठना, उनका कुशल पूछना, पूर्वक्रीड़ितस्मरण, यश-कीर्ति, प्रशंसा, वन्दन-पूजन, असंयमोत्पादक अशन-पान तथा भाषादोष साधु के संयम धर्म को दूषित करने वाले आचार-व्यवहार के त्याग का उपदेश है।[3]

- ☐ उद्देशकरहित इस अध्ययन की कुल ३६ (चूर्णि के अनुसार १७) गाथाएँ हैं।
- ☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४३७ से प्रारम्भ होकर ४७२ पर समाप्त होता है।

☐☐☐☐

धम्मे—नवमं अज्झयणं

धर्म : नवम अध्ययन

जिनोक्त श्रमणधर्माचरण—क्यों और कैसे ?

४३७. कतरे धम्मे अक्खाते माहणेण मतीमता ।
अंजु धम्मं अहातच्चं जिणाणं तं सुणेह मे ॥ १ ॥

४३८. माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु बोक्कसा[1] ।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिता ॥ २ ॥

४३९. परिग्गहे निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई ।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥ ३ ॥

४४०. आघातकिच्चमाधातुं नायओ विसएसिणो ।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिं कच्चति ॥ ४ ॥

४४१. माता पिता ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
णालं ते तव ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा[2] ॥ ५ ॥

४४२. एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं ।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहितं ॥ ६ ॥

---

१ तुलना करें—"खत्तिया माहणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कसा ।"

—सुत्तपिटक खुद्दकनिकाय जातकपालि भा०-१ पृ० ११६

२ तुलना—(क) उत्तराध्ययन सूत्र अ०६/३ में यह गाथा प्रायशः मिलती है ।

(ख) 'नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा'—आचा० प्र० श्रु० सू० ६४, ६६, ६७, ८१

—आचारांग विवेचनयुक्त प्र० श्र० अ०२, उ०१, ४ पृ० ४१, ४३, ४४, ४५

४४३. चेच्चा वित्तं च पुत्ते य, णायओ य परिग्गहं।
चेच्चाण अंतगं सोयं निरवेक्खो परिव्वए ॥ ७ ॥

४३७. केवलज्ञानसम्पन्न, महामाहन (अहिंसा के परम उपदेष्टा) भगवान् महावीर स्वामी ने कौन-सा धर्म बताया है ? जिनवरों के (द्वारा उपदिष्ट) उस सरल धर्म को यथार्थ रूप से मुझसे सुनो।

४३८-४३९. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल अथवा वोक्कस (अवान्तर जातीय वर्णसंकर), एषिक (शिकारी, हस्तितापस अथवा कन्दमूलादि भोजी पाषण्डी), वैशिक (माया-प्रधानकलाजीवी-जादूगर) तथा शूद्र और जो भी आरम्भ में आसक्त जीव हैं, एवं जो विविध परिग्रह में मूच्छित हैं, उनका दूसरे प्राणियों के साथ वैर बढ़ता है। वे काम-भोग में प्रवृत्त (विषयलोलुप) जीव आरम्भ से परिपूर्ण (आरम्भमग्न) हैं। वे दुःखों से या दुःखरूप कर्मों से मुक्त नहीं हो सकते,

४४०. विषय (सांसारिक) सुख के अभिलाषी ज्ञातिजन या अन्य लोग दाहसंस्कार आदि मरणोत्तर (—आघात) कृत्य करके मृतक व्यक्ति के उस धन को हरण कर (ले) लेते हैं, परन्तु नाना पापकर्म करके धन संचित करने वाला वह मृत व्यक्ति अकेला अपने पापकर्मों के फलस्वरूप दुःख भोगता है।

४४१. अपने पापकर्म से संसार में पीड़ित होते हुए तुम्हारी रक्षा करने में माता, पिता, पुत्रवधू, पत्नी, भाई और औरस (सगे) पुत्र (आदि) कोई भी समर्थ नहीं होते।

४४२. स्वकृत पाप से दुःख भोगते हुए प्राणी की रक्षा कोई नहीं कर सकता, इस बात को तथा परमार्थ रूप मोक्ष या संयम के अनुगामी (कारण) सम्यग्दर्शनादि हैं, इसे सम्यक् जान-देख कर ममत्व-रहित एवं निरहंकार (सर्वमदरहित) होकर भिक्षु जिनोक्त धर्म का आचरण करे।

४४३. धन और पुत्रों को तथा ज्ञातिजनों और परिग्रह का त्याग करके अन्तर के शोक-संताप को छोड़कर साधक निरपेक्ष (निस्पृह) होकर संयमपालन में प्रगति करे।

विवेचन—जिनोक्त श्रमण धर्माचरण : क्यों और कैसे करें ?—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं में विभिन्न पहलुओं से यह बताया गया है कि जिनोक्त श्रमण धर्म का पालन क्यों और कैसे करना चाहिए ?

चार मुख्य कारणों से श्रमण धर्म का स्वीकार एवं पालन श्रेयस्कर—(१) जो मानव चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या चांडाल आदि कोई भी हों, आरम्भ-परिग्रहासक्त हैं, उनका प्राणियों के साथ दीर्घकाल तक वैर बढ़ता जाता है, (२) विषय-सुख-लोलुप आरम्भमग्न जीव दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। (३) ज्ञातिजन व्यक्ति की मरणोत्तर क्रिया करके पापकर्म द्वारा संचित उसका धन ले लेते हैं, किन्तु उन कृतपापों का फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है, (४) पापकर्म के फलस्वरूप पीड़ित होते हुए व्यक्ति को उसके स्वजन बचा नहीं सकते।

इन सब बातों पर दीर्घ दृष्टि से विचार कर पूर्वोक्त चारों अनिष्टों से बचने के लिए व्यक्ति को सांसारिक गार्हस्थ्य प्रपंचों में न फंसकर जिनोक्त मोक्षमार्ग रूप (संयम) धर्म में प्रव्रजित होना तथा उसी का पालन करना श्रेयस्कर है।

श्रमण धर्म का पालन कैसे करें ?—इसके लिए साधक (१) ममत्वरहित हो, (२) अहंकार शून्य हो, (३) धन, धाम, परिग्रह, स्त्री-पुत्रादि तथा ज्ञातिजनों के प्रति ममत्व का त्याग करे, (४) सांसारिक भोगों

से निरपेक्ष-निःस्पृह रहे, (५) अपने द्वारा त्यक्त सजीव निर्जीव पदार्थों के सम्बन्ध में अन्तर में शोक (चिन्ता) न करे।[1]

पाठान्तर और व्याख्याएं—'चेच्चाण अंतग सोयं'=वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(१) अन्तर में ममत्वरूप दुष्परित्याज्य शोक को छोड़कर, (२) संयमी जीवन का अन्त—विनाश करने वाला मिथ्यात्वादि पंचाश्रवस्रोत अथवा शोक (चिन्ता) छोड़कर, (३) आत्मा में व्याप्त होने वाले-आन्तरिक शोक-संताप को छोड़कर। इसके बदले पाठान्तर है—'चिच्चा णणंतगं सोयं' इसके भी दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) जिसका अन्त कदापि नहीं होता, ऐसे अनन्तक उग्र कर्माश्रवस्रोत या (२) स्वदेहादि के प्रति होने वाले शोक को छोड़कर। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'चेच्च ण अत्तगं सोतं'—अर्थात्—आत्मा में होने वाले श्रोत कर्माश्रवद्वारभूत स्रोत को छोड़कर अथवा अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व के अनन्त पर्यायों को छोड़कर। **निरवेक्खो**—'निरपेक्ष' का आशय यह है कि साधु जिन सजीव निर्जीव वस्तुओं पर से ममत्व छोड़ चुका है, उनसे या उनकी कोई भी या किसी भी प्रकार की अपेक्षा-आशा न रखे।[2] एक आचार्य ने कहा है—जिन साधकों ने परपदार्थों या परिग्रह की अपेक्षा रखी वे ठगा गए, जो उनसे निरपेक्ष रहे, वे निर्विघ्नता से संसार सागर को पार कर गए। जो साधक भोगों की अपेक्षा रखते हैं, वे घोर संसारसमुद्र में डूब जाते हैं, जो भोगों से निरपेक्ष रहते हैं, वे सुखपूर्वक संसाररूपी अटवी को पार कर लेते हैं।[3]

मूलगुणगत—दोष त्याग का उपदेश—

४४४. पुढवाऽऽऊ अगणि वाऊ तण रुक्ख सबीयगा।
अंडया पोय-जराऊ-रस-संसेय-उब्भिया॥ ८॥

४४५. एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही॥ ९।

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७७-१७८ के आधार पर

२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७८

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ८०

३ (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७८

(ख) छलिया अवयक्खंता, निरावयक्खा गया अविग्घेणं।
तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्वं॥१॥
भोगे अवयक्खंता पडंति संसारसायरे घोरे।
भोगेहिं निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं॥२॥

—सूत्रकृ० शीलांक वृत्ति पत्रांक १७८ में उद्धृत

४४६. **मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइयं।**
सत्थादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १० ॥

४४४-४४५. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा हरित तृण, वृक्ष और बीज आदि वनस्पति एवं अण्डज पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज तथा उद्भिज्ज आदि त्रसकाय, ये सब षट्कायिक जीव है। विद्वान साधक इन छह कायों से इन्हें (ज्ञपरिज्ञा से) जीव जानकर, (प्रत्याख्यान परिज्ञा से) मन, वचन और काया से न इनका आरम्भ (वध) करे और न ही इनका परिग्रह करे।

४४६. मृषावाद, मैथुनसेवन, परिग्रह (अवग्रह या उद्ग्रह), अदत्तादान, ये सब लोक में शस्त्र के समान हैं और कर्मबन्ध के कारण हैं। अतः विद्वान् मुनि इन्हें जानकर त्याग दे।

विवेचन—श्रमण धर्म के मूल गुण-गत दोष-वर्जन—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (४४४ से ४४६ तक) में साधु के अहिंसादि पंचमहाव्रतरूप मूलगुणों के दोषों—हिंसा, असत्य आदि के त्याग करने का उपदेश है।[४]

षड्जीवनिकाय का वर्णन—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि आगमों में विस्तृत रूप से किया गया है। पृथ्वीकाय आदि प्रत्येक के भी सूक्ष्म, वादर, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि कई भेद तथा प्रकार हैं। प्रस्तुत शास्त्र में भी पहले इसी से मिलता-जुलता पाठ आ चुका है।

षट्कायिक जीवों का भेद-प्रभेद सहित निरूपण करने के पीछे शास्त्रकार का यही आशय है कि जीवों को भेद-प्रभेदसहित जाने विना उनकी रक्षा नहीं की जा सकती।[५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—बहिद्धं—मैथुनसेवन, **उग्गहं**—परिग्रह, **अजाइया**—अदत्तादान। अथवा '**बहिद्ध**' का अर्थ मैथुन और परिग्रह है तथा '**उग्गहं अजाइया**' का अर्थ अदत्तादान है। '**पोयया**'—पोतरूप से पैदा होने वाले जीव, जैसे—हाथी, शरभ आदि। '**उब्भिया**'—उद्भिज्ज जीव, जैसे—मेंढक, टिड्डी, खंजरीट आदि।[६]

उत्तरगुण-गत-दोष त्याग का उपदेश—

४४७. **पलिउंचणं भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य।**
धूणाऽऽदाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ ११ ॥

---

४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७८-१७९ का सारांश

५ देखिये—(अ) दशवैकालिक सूत्र का '**छज्जीवणिया**' नामक चतुर्थ अध्ययन

(आ) उत्तराध्ययन सूत्र का '**जीवाजीवविभत्ति**' नामक ३६वां अध्ययन

(इ) आचारांग सूत्र प्र० श्रु० का '**शस्त्रपरिज्ञा**' नामक प्रथम अध्ययन

(ई) सूत्रकृतांग प्र० श्रु० का **कुशील-परिभाषा** नामक ७वें अध्ययन की प्रथम गाथा

६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७९

४४८. धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्म विरेयणं।
वमणंजण पलिमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ।। १२ ।।

४४९. गंध मल्ल सिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा।
परिग्गहित्थि कम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ।। १३ ।।

४५०. उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं।
पूतिं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ।। १४ ।।

४५१. आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ।। १५ ।।

४५२. संपसारी कयकिरिओ, पसिणायतणाणि य।
सागारियपिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ।। १६ ।।

४०३. अट्ठापदं ण सिक्खेज्जा, वेधादीयं च णो वदे।
हत्थकम्मं विवादं च, तं विज्जं परिजाणिया ।। १७ ।।

४५४. पाणहाओ य छत्तं च, णालियं वालवीयणं।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ।। १८ ।।

४५५. उच्चारं पासवणं, हरितेसु ण करे मुणी।
वियडेण वा वि साहट्टु, णायमेज्ज कयाइ वि ।। १९ ।।

४५६. परमत्ते अन्नपाणं च, ण भुंजेज्जा कयाइ वि।
परवत्थमचेलो वि, तं विज्जं परिजाणिया ।। २० ।।

४५७. आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे।
संपुच्छणं च, सरणं च तं विज्जं परिजाणिया ।। २१ ।।

४५८. जसं किंत्ति सिलोगं च, जा य वंदणपूयणा।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ।। २२ ।।

४५९. जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्न-पाणं तहाविहं।
अणुप्पदाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ।। २३ ।।

४६०. एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी।
अणंतणाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ।। २४ ।।

सचित्त वनस्पति को हटाकर अचित्त जल से भी कदापि आचमन (मुख या शरीर शुद्धि या मलद्वारशुद्धि) न करे।

४५६. गृहस्थ के वर्तन (परपात्र) में कदापि आहार-पानी का सेवन न करे; साधु अचेल (वस्त्र-रहित या जीर्ण वस्त्र वाला) होने पर भी परवस्त्र (गृहस्थ का वस्त्र) धारण न करे। विद्वान् मुनि ऐसा करना कर्मबन्धजनक जानकर उसका परित्याग करे।

४५७. साधु खाट पर और पलंग पर न बैठे, न ही सोए। गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के बीच (छोटी संकरी गली) में न बैठे, गृहस्थ के घर के समाचार, कुशल-क्षेम आदि न पूछे अथवा अपने अंगों को (शोभा की दृष्टि से) न पोंछे तथा अपनी पूर्वकामक्रीड़ा का स्मरण न करे। विद्वान् साधु इन्हें श्रमणधर्मभंगकारक समझकर इनका परित्याग करे।

४५८. यश, कीर्ति, श्लोक (प्रशंसा) तथा जो वन्दना और पूजा-प्रतिष्ठा है, तथा समग्रलोक में जो काम-भोग हैं, इन्हें विद्वान् मुनि सयम के अपकारी समझकर इनका त्याग करे।

४५९. इस जगत में जिस (अन्न, जल आदि पदार्थ) से साधु के सयम का निर्वाह हो सके वैसा ही आहार-पानी ग्रहण करे। वह आहार-पानी असंयमी को न देना अनर्थकर (असंयमवर्द्धक) जानकर तत्त्वज्ञ मुनि नहीं देवे। (संयम दूषित या नष्ट हो जाए) उस प्रकार का अन्न जल अन्य साधकों को न दे। उसे संयम-विघातक जानकर साधु उसका त्याग करे।

४६०. अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, निर्ग्रन्थ महामुनि श्रमण भगवान् महावीर ने इसप्रकार चारित्र-धर्म और श्रुतधर्म का उपदेश दिया हैं।

विवेचन—उत्तरगुणगत-दोषत्याग का उपदेश—सूत्रगाथा ४४७ से लेकर ४६० तक श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त श्रमणों के चारित्र धर्म को दूषित करने वाले उत्तरगुणगत-दोषों के त्याग का उपदेश है। इन सभी गाथाओं के अन्तिम चरण में **'तं विज्जं परिजाणिया'** कहकर शास्त्रकार ने उनके त्याग का उपदेश दिया है। उसका आशय व्यक्त करते हुए वृत्तिकार कहते हैं— उस अनाचरणीय सयमदूषक कृत्य को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबन्ध का एवं संसार-परिभ्रमण का कारण जानकर विद्वान साधक प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग करे। इनमें से साधु के लिए अधिकांश अनाचारों (अनाचीर्णों) का वर्णन है जिनका दशवैकालिक एवं आचारांग आदि शास्त्रों में यत्र तत्र उल्लेख हुआ है।[७]

---

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७९ से १८२ तक का सारांश

(ख) तुलना—(अ) दशवैकालिक अ० ३ गाथा ६, २, ३, ४, ५

(आ) दशवै० अ० ६, गा० ४९ से ६७ तक

(ग) णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा⋯⋯।

—आचारांग प्र० श्रु० विवेचन अ० ८, उ० ४ सू० २१४ पृ० २६१

(घ) णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं णो वमणं⋯⋯।

—सू० कृ० द्वितीय श्रुत० सूत्र ६८१

(ग) तुलना करिए—'सेय्यथिदं-अट्ठपदं⋯⋯सेय्यथिदं-आसंदिं पल्लंकं⋯⋯मालागंधविलेपनं⋯⋯चित्रुपाहनं अञ्जनं⋯⋯ वाल-विर्जनि⋯⋯⋯मंडनविभूसनट्ठानानुयोगा पटिविरतो⋯⋯⋯।

—सुत्तपिटक दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त पृ० ८।९

४४७. माया (परिकुञ्चन-वक्रताकारिणी क्रिया), और लोभ (भजन) तथा क्रोध और मान को नष्ट कर डालो (धुन दो); क्योंकि ये सब (कषाय) लोक में कर्मबन्ध के कारण हैं, अतः विद्वान् साधक ज्ञपरिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे।

४४८. (विभूषा की दृष्टि से) हाथ, पैर और वस्त्र आदि धोना, तथा उन्हें रंगना, वस्तिकर्म करना (एनिमा वगैरह लेना), विरेचन (जुलाब) लेना, दवा लेकर वमन (कै) करना, आँखों में अंजन (काजल आदि) लगाना; ये (और ऐसे अन्य) शरीरसज्जादि संयमविघातक (पलिमंथकारी) हैं, इनके (स्वरूप और दुष्परिणाम) को जानकर विद्वान् साधु इनका त्याग करे।

४४९. शरीर में सुगन्धित पदार्थ लगाना, पुष्पमाला धारण करना, स्नान करना, दांतों को धोना-साफ करना, परिग्रह (सचित्त परिग्रह--द्विपद, चतुष्पद या धान्य आदि, अचित्त परिग्रह--सोने-चांदी आदि के सिक्के, नोट, सोना-चांदी, रत्न, मोती आदि या इनके आभूषणादि पदार्थ रखना। स्त्रीकर्म (देव, मनुष्य या तिर्यञ्च स्त्री के साथ मैथुन-सेवन) करना, इन अनाचारों को विद्वान् मुनि (कर्मबन्ध एवं संसार का कारण) जानकर परित्याग करे।

४५०. औद्देशिक (साधु के उद्देश्य से गृहस्थ द्वारा तैयार किया गया दोषयुक्त क्रीतकृत=खरीदकर लाया या लाकर बनाया हुआ), पामित्य (दूसरे से उधार लिया हुआ), आहृत (साधु के स्थान पर सामने लाया हुआ), पूतिकर्म (आधाकर्मी आहारमिश्रित दूषित) और अनैषणीय (एषणा दोषों से दूषित) आहार को अशुद्ध और संसार का कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे।

४५१. घृतादि या शक्तिवर्द्धक रसायन आदि का सेवन करना आँखों में (शोभा के लिए) अंजन लगाना, रसों या शब्दादि विषयों में गृद्ध (आसक्त) होना, प्राणिउपघातक कर्म करना, (या दूसरों के कार्य बिगाड़ना), हाथ-पैर आदि धोना, शरीर में कल्क (उबटन पीठी या क्रीम स्नो जैसा सुगन्धित पदार्थ लगाना; इन सबको विद्वान् साधु संसार—भ्रमण एवं कर्मबन्धन के कारण जानकर इनका परित्याग करे।

४५२. असंयमियों के साथ सांसारिक वार्तालाप (या सांसारिक बातों का प्रचार-प्रसार) करना, घर को सुशोभित करने आदि असंयम कार्यों की प्रशंसा करना, ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देना और शय्यातर (सागारिक) का पिण्ड (आहार) ग्रहण करना विद्वान् साधु इन सब को संसार का कारण जानकर त्याग दे।

४५३. साधु अष्टापद (जुआ, शतरँज आदि खेलना) न सीखे, धर्म की मर्यादा (लक्ष्यवेध-) से विरुद्ध वचन न बोले तथा हस्तकर्म अथवा कलह करके हाथापाई न करे और न ही शुष्क निरर्थक विवाद (वाक्कलह) करे इन सबको संसार भ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे।

४५४. जूता पहनना, छाता लगाना, जूआ खेलना, मोरपिच्छ, ताड़ आदि के पंखे से हवा करना, परक्रिया (गृहस्थ आदि से पैर दबवाना) अन्योन्यक्ति या (साधुओं का परस्पर में ही काम करना); इन सबको विद्वान् साधक कर्मबन्धजनक जानकर इनका परित्याग करे।

४५५. मुनि हरी वनस्पति (हरियाली) वाले स्थान में मल-मूत्र-विसर्जन न करे, तथा बीज आदि

सचित्त वनस्पति को हटाकर अचित्त जल से भी कदापि आचमन (मुख या शरीर शुद्धि या मलद्वारशुद्धि) न करे।

४५६. गृहस्थ के बर्तन (परपात्र) में कदापि आहार-पानी का सेवन न करे; साधु अचेल (वस्त्र-रहित या जीर्ण वस्त्र वाला) होने पर भी परवस्त्र (गृहस्थ का वस्त्र) धारण न करे। विद्वान् मुनि ऐसा करना कर्मबन्धजनक जानकर उसका परित्याग करे।

४५७. साधु खाट पर और पलंग पर न बैठे, न ही सोए। गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के बीच (छोटी संकरी गली) में न बैठे, गृहस्थ के घर के समाचार, कुशल-क्षेम आदि न पूछे अथवा अपने अंगों को (शोभा की दृष्टि से) न पोंछे तथा अपनी पूर्वकामक्रीड़ा का स्मरण न करे। विद्वान् साधु इन्हें श्रमणधर्मभंगकारक समझकर इनका परित्याग करे।

४५८. यश, कीर्ति, श्लोक (प्रशंसा) तथा जो वन्दना और पूजा-प्रतिष्ठा है, तथा समग्रलोक में जो काम-भोग हैं, इन्हें विद्वान् मुनि सयम के अपकारी समझकर इनका त्याग करे।

४५९. इस जगत में जिस (अन्न, जल आदि पदार्थ) से साधु के सयम का निर्वाह हो सके वैसा ही आहार-पानी ग्रहण करे। वह आहार-पानी असंयमी को न देना अनर्थकर (असंयमवर्द्धक) जानकर तत्त्वज्ञ मुनि नहीं देवे। (संयम दूषित या नष्ट हो जाए) उस प्रकार का अन्न जल अन्य साधकों को न दे। उसे संयम-विघातक जानकर साधु उसका त्याग करे।

४६०. अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, निर्ग्रन्थ महामुनि श्रमण भगवान् महावीर ने इसप्रकार चारित्र-धर्म और श्रुतधर्म का उपदेश दिया हैं।

विवेचन—**उत्तरगुणगत-दोषत्याग का उपदेश**—सूत्रगाथा ४४७ से लेकर ४६० तक श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त श्रमणों के चारित्र धर्म को दूषित करने वाले उत्तरगुणगत-दोषों के त्याग का उपदेश है। इन सभी गाथाओं के अन्तिम चरण में '**तं विज्जं परिजाणिया**' कहकर शास्त्रकार ने उनके त्याग का उपदेश दिया है। उसका आशय व्यक्त करते हुए वृत्तिकार कहते हैं— उस अनाचरणीय सयमदूषक कृत्य को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबन्ध का एवं संसार-परिभ्रमण का कारण जानकर विद्वान साधक प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग करे। इनमें से साधु के लिए अधिकांश अनाचारों (अनाचीर्णों) का वर्णन है जिनका दशवैकालिक एवं आचारांग आदि शास्त्रों में यत्र तत्र उल्लेख हुआ है।[७]

---

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १७९ से १८२ तक का सारांश

(ख) तुलना—(अ) दशवैकालिक अ० ३ गाथा ९, २, ३, ४, ५

(आ) दशवै० अ० ६, गा० ४९ से ६७ तक

(ग) णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा····।

—आचारांग प्र० श्रु० विवेचन अ० ८, उ० ४ सू० २१४ पृ० २६१

(घ) णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं णो वमणं····।

—सू० कृ० द्वितीय श्रुत० सूत्र ६८१

(ग) तुलना करिए—'सेय्यथिदं-अट्ठपदं····सेय्यथिदं-आसंदिं पल्लंकं····मालागंधविलेपनं····चित्रुपाहनं अञ्जनं···· वाल-विर्जनिं·······मंडनविभूसनट्ठानानुयोगा पटिविरतो·······।

—सुत्तपिटक दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त पृ० ८।९

कठिन शब्दों की व्याख्या—धूणाऽऽदाणाइं—कर्मों को ग्रहण करने के कारण अथवा कर्मों को जन्म देने वाले। आसूणि—वृत्ति और चूर्णि में इसकी दो व्याख्याएँ मिलती हैं—(१) जिस घृतपान आदि पौष्टिक या शक्ति वर्द्धक आहारविशेष से या भस्म पारा आदि रसायन विशेष के सेवन से शरीर हृष्टपुष्ट होता हो, (२) श्वान-सी तुच्छ प्रकृति का साधक जरा-सी आत्म-श्लाघा या प्रशंसा से फूल (सूज) जाता हो, गर्वस्फीत हो जाता हो। कयकिरिओ—(आरम्भजनित) गृहनिर्माणदि वहुत सुन्दर किया है अथवा असंयतों के साथ विवाह-सगाई कामभोग आदि वासना एवं मोह में वृद्धि करने वाली बातें करना या इस प्रकार के असंयम कार्य की प्रशंसा करना। पसिणायतणाणि—दो व्याख्याएँ—(१) ज्योतिषसम्बन्धी प्रश्नादि के उत्तर; आयतन—प्रकट करना-बताना। (२) संसारी लोगों के परस्पर व्यवहार, मिथ्याशास्त्र अथवा प्रश्न के सम्बन्ध में यथार्थ बातें बताकर निर्णय देना। सागारियपिंड—तीन अर्थ:-सागारिक—शय्यातर का पिण्ड (आहार) अथवा (२) सागारिक पिण्ड यानी सूतकगृहपिण्ड या (३) निन्द्य—जुगुप्सित दुराचारी का पिण्ड। अट्ठापदं न सिक्खेज्जा—तीन व्याख्याएँ—(१) जिस पद-शास्त्र से धन, धान्य, सोना आदि प्राप्त किया जा सके, ऐसे शास्त्र का अध्ययन न करे, (२) द्यूतक्रीड़ा विशेष न सीखे, (३) अर्थ यानी धर्म या मोक्ष में आपद्कर—प्राणिहिंसा की शिक्षा देने वाला शास्त्र न सीखे, न ही दूसरों को सिखाए और न पूर्वशिक्षित ऐसे शास्त्र की आवृत्ति या अभ्यास करे। वेधादीयं=तीन अर्थ—(१) वेध का अर्थ है सद्धर्म के अनुकूलत्व और अतीत का अर्थ है—उससे रहित यानी सद्धर्मविरुद्ध, (२) अधर्मप्रधान, (३) वेध का अर्थ वस्त्रवेध—जुए, सट्टे, अंक आदि जैसे (किसी द्यूत विशेष से सम्बन्धित बातें न बताए। वियडेण वा वि साहट्टु—विकट—विगतजीव—प्रासुक जल से, बीज या हरियाली (हरी वनस्पति) को हटाकर।

'परमत्ते अन्न पाणं च=पर [गृहस्थ] के पात्र में अन्नपानी का सेवन न करे। स्थविरकल्पी साधु के लिए गृहस्थ का पात्र परपात्र है, उसमें आहार करने या पेय पदार्थ पीने से पहले या पीछे गृहस्थ द्वारा उसे सचित्त जल से धोये जाने कदाचित् चुराये जाने या गिरकर टूट जाने की आशंका रहती हैं। इसलिए यह साध्वाचार-विरुद्ध है। स्थविरकल्पी साधु के लिए हाथ की अंजलि में खाना-पीना भी पर-पात्र में खाना-पीना है, वह भी निषिद्ध है, क्योंकि स्थविरकल्पी साधु-साध्वियों की अंजलि छिद्रयुक्त होती है, उसमें आहार-पानी आदि नीचे गिर जाने से अयत्ना होने की सम्भावना है। जिनकल्पी के लिए हाथ की अंजलि-स्वपात्र है, लकड़ी आदि के पात्र या गृहस्थ के पात्र में खाना-पीना परपात्र भोजन करना है। इसी तरह 'परवत्थमचेलो वि'=स्थविरकल्पी साधु के लिए गृहस्थ के वस्त्र परवस्त्र हैं- और जिनकल्पी के लिए दिशाएँ ही वस्त्र हैं, इसलिए सूत आदि से वने सभी वस्त्र परवस्त्र हैं। परवस्त्र का उपयोग करने में वे ही पूर्वोक्त खतरे हैं। आसंदी पलियंके य=आसंदी—वर्तमान युग में आरामकुर्सी या स्प्रिंगदार कुर्सी अथवा लचीली छोटी खाट तथा नीवार वाला स्प्रिंगदार लचीला पलंग। इन पर सोने बैठने या लेटने से कामोत्तेजना होने की तथा छिद्रों में बैठे हुए जीवों की विराधना होने की आशंका है; इसलिए इनका उपयोग वर्जित किया गया है। निसिज्जं च गिहंतरे=गृहान्तराल में बैठना ब्रह्मचर्य-विराधना की आशंका या लोकशंका अथवा अशोभा की दृष्टि से निषिद्ध किया है। संपुच्छणं=दो अर्थ मूलार्थ में दिये जा चुके हैं। इस तरह के सांसारिक पूछ-ताछ से अपना स्वाध्याय, ध्यान-साधना का अमूल्य समय व्यर्थ में नष्ट होता है।

जं णेहं निव्वहे=तीन अर्थ—[१] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जिस शुद्ध अन्न-जल से, अथवा दुर्भिक्ष, रोग, आतंक आदि कारणों से किंचित् अशुद्ध अन्न-जल से इस लोक में इस संयमयात्रादि का निर्वाह हो, अथवा [२] वैसा ही अन्न-जल संयम का निर्वाह करने के लिए दूसरों को दे। [३] जिस कार्य के करने से अर्थात् असंयमी गृहस्थ आदि को आहार देने से साधु का संयम दूषित हो, वैसा कार्य साधु न करे।[८]

साधुधर्म के भाषाविवेकसूत्र—

४६१. **भासमाणो न भासेज्जा, णेय वंफेज्ज मम्मयं।**
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुवियि वियागरे ॥ २५ ॥

४६२. **तत्थिमा ततिया भासा, जं वदित्ताऽणुतप्पती।**
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियंठिया ॥ २६ ॥

४६३ **होलावायं सहीवायं, गोतावायं च नो वदे।**
तुमं तुमं ति अमणुण्णं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥ २७ ॥

४६१. किसी बोलते हुए के बीच में न बोले। (अथवा भाषा समिति से युक्त) साधु (धर्मोपदेश या धर्म सम्बन्धी) भाषण करता हुआ भी भाषण न करने वाले (मौनी) के समान है) साधु मर्मस्पर्शी भाषा न बोले; वह मातृस्थान-माया (कपट) प्रधान वचन का त्याग करे। (जो कुछ भी बोले, पहले उस सम्बन्ध में) सोच-विचार कर बोले।

४६२. चार प्रकार की भाषाओं में जो तृतीय भाषा (सत्या-मृषा) है, उसे साधु न बोले, तथा जिसे बोलने के बाद पश्चात्ताप करना पड़े, ऐसी भाषा भी न बोले। जिस बात को सब लोग छिपाते (गुप्त रखते) हैं अथवा जो क्षण (हिंसा) प्रधान भाषा हो वह भी नहीं बोलनी चाहिए। यह निर्ग्रन्थ (भगवान महावीर) की आज्ञा है।

४६३. साधु निष्ठुर या नीच सम्बोधन से किसी को पुकारकर (होलावाद) न करे। सखी मित्र आदि कह कर सम्बोधित करके (सखिवाद) न करे तथा गोत्र का नाम लेकर (चाटुकारिता की दृष्टि से) किसी को पुकार कर (गोत्रवाद) न बोले। रे, तू, इत्यादि तुच्छ शब्दों से किसी को सम्बोधित न करे, तथा जो अप्रिय-अमनोज्ञ वचन हो, उन्हें साधु सर्वथा (बिलकुल) न कहे अथवा वैसा दुर्व्यहार (वर्त्तन) साधु सर्वथा न करे।

विवेचन—**भाषा विवेक सूत्र**—प्रस्तुत तीन सूत्र गाथाओं (सूत्र० गा० ४६१ से ४६३) में यह विवेक बताया गया है कि साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिए, कैसी नहीं? **भासमाणो न भासेज्जा**—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ प्रस्तुत किये हैं—(१) दीक्षा ज्येष्ठ (रत्नाधिक) साधु किसी से बात कर रहा हो, उस समय अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करने या बड़े की लघुता प्रकट करने की दृष्टि से बीच में न बोले, क्योंकि ऐसा

---

८ (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७९ से १८१ तक (ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ८०, ८१, ८२

करने से बड़ों की आशातना और अपने अभिमान की अभिव्यक्ति होती है। अथवा (२) जो साधु वचन-विभाग को जानने में निपुण है, जो वाणी के बहुत से प्रकारों को जानता है, वह दिनभर बोलता हुआ न बोलने वाले (वचनगुप्ति युक्त-मौनी) के समान है, क्योंकि वह भाषा-समिति का ध्यान रखकर बोलता है, वह धर्मोपदेश, धर्म-पथ प्रेरणा, धर्म में स्थिरता के लिए मार्ग-दर्शन देते समय पूर्ण सतर्क होकर वाणी-प्रयोग करता है।[९]

णेव वंफेज्ज मम्मयं— दो अर्थ — (१) बोला हुआ वचन चाहे सत्य हो या असत्य, किन्तु यदि वह किसी के मन में चुभने या पीड़ा पहुंचाने वाला हो तो उसे न बोले, अथवा (२) 'यह मेरा है', ऐसा सोचकर किसी के प्रति पक्षपात युक्त (मामक) वचन न कहे।

मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा — दो अर्थ — (१) कपट प्रधान (संदिग्ध, छलयुक्त, द्व्यर्थक) वचन का त्याग करे, अथवा (२) दूसरों को ठगने या धोखा देने के लिए साधु मायाचार या दम्भ न करे।[१०]

निर्ग्रन्थ-आज्ञा से सम्मत एवं असम्मत भाषा— दशवैकालिक, आचारांग आदि शास्त्रों में चार प्रकार की भाषा बताई है—(१) सत्या, (२) असत्या, (३) सत्या-मृषा और (४) असत्या-मृषा। इन चारों में से असत्या भाषा तो वर्जनीय है ही, तीसरी भाषा—सत्यामृषा (कुछ झूठी, कुछ सच्ची भाषा) भी वर्जित है। जैसे किसी साधक ने अनुमान से ही निश्चित रूप से कह दिया—'इस गाँव में बीस बच्चों का जन्म या मरण हुआ है।' ऐसा कहने में संख्या में न्यूनाधिक होने से यह वचन सत्य और मिथ्या दोनों से मिश्रित है। असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा भी भाषासमिति युक्त बोलने का विधान है। इन तीनों भाषाओं के अतिरिक्त प्रथम भाषा सर्वथा सत्य होते हुए भी निम्नोक्त कारणों से साधु के लिए निषिद्ध बताई गई है—

(११) जिस वचन को कहने से किसी को दुःख, पीड़ा, उद्वेग, भय, चिन्ता, आघात, मर्मान्तक वेदना, अपमानदंश, मानसिक क्लेश पैदा हो।

(२) जो कर्कश, कठोर, वध-प्रेरक, छेदन-भेदन कारक, अमनोज्ञ एवं ताड़न-तर्जनकारक हो, अर्थात् हिंसा-प्रधान हो।

(३) जो भाषा मोह-ममत्वजनक हो, जिस भाषा में स्वत्व मोह के कारण पक्षपात हो।

(४) जो भाषा बाहर से सत्य प्रतीत हो, परन्तु भीतर से दम्भ या छल-कपट से भरी हो।

(५) जो भाषा हिंसादि किसी पाप में श्रोता को प्रेरित करती (सावद्य) हो, जैसे—"इसे मारो-पीटो," "चोरी करो", आदि वचन।

---

९. 'वयणविहत्तीकुसलोवगयं वहु विहं वियाणंतो।
  दिवसं पि भासमाणो साहू वयगुत्तयं पत्तो॥'

१०. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १८२-१८३
  (ख) तुलना करें—(अ) दशवैकालिक अ० ७ गा० ६ से २० तक
    (आ) आचारांग विवेचन द्वि० श्रु० सू० ५२४ से ५२८ तक पृ० २१७

(६) जो भाषा सत्य होते हुए भी किसी को अपमानित, तिरस्कृत या बदनाम करने अथवा नीचा दिखाने, उपहास करने या अपना अहंकार प्रदर्शित करने की दृष्टि से बोली जाए। या जो ऐ नीच, रे दुष्ट, तू चोर है, काना है, पापी है! आदि तुच्छ वचन रूप हो।

(७) जिस भाषा की तह में चाटुकारिता, दीनता या स्व-हीनता भरी हो।

(८) जो भाषा सत्य होते हुए भी मन में सन्देहास्पद हो, द्वयर्थक हो, निश्चयकारी हो, या जो भाषा सहसा अविचारपूर्वक बोली गई हो।

(९) जिस भाषा के बोलने से बाद में पश्चात्ताप हो अथवा बोलने के पश्चात् उसके फलस्वरूप जन्म-जन्मान्तर तक संताप (पीड़ा) पाना पड़े।

(१०) जिस बात को सभ्य लोग प्रयत्नपूर्वक छिपाते हैं, उसे प्रकट करने वाली, या किसी की गुप्त बात प्रकट करने वाली हो, इस प्रकार की सब भाषा निषिद्ध है।[११]

लोकोत्तर धर्म के कतिपय आचारसूत्र—

४६४. **अकुसीले सया भिक्खू, णो य संसग्गियं भए।**
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा पडिबुज्झेज्ज ते विदू ॥ २८ ॥

४६५. **णण्णत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।**
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥ २९ ॥

४६६. **अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।**
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासते ॥ ३० ॥

४६७. **हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।**
सुमणो अहियासेज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥ ३१ ॥

४६८. **लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एसमाहिए।**
आरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥ ३२ ॥

---

११ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १८२-१८३ का तात्पर्य

(ख) चार प्रकार की भाषा के लिए देखें—दशवैकालिक अ० ७ गा० १ से ४ तक तथा आचारांग द्वि० श्रु० विवेचन सू० ५२४ पृ० २१७

(ग) 'पुव्वं बुद्धीए पेहित्ता पच्छा वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नेइ ते गिरा ॥'

—दशवै० निर्युक्ति गा० २९३

४६९. सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पण्णं सुतवस्सियं ।
वीरा जे अत्तपण्णेसी, धितिमंता जितिंदिया ।। ३३ ।।

४७०. गिहे दीवमपस्संता, पुरिसादाणिया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवितं ।। ३४ ।।

४७१. अगिद्धे सद्द-फासेसु, आरंभेसु अणिस्सिते ।
सव्वेतं समयातीतं, जमेतं लवितं बहुं ।। ३५ ।।

४७२. अतिमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिते ।
गारवाणि य सव्वाणि, निव्वाणं संधए मुणि ।। ३६ ।। त्ति बेमि ।

।। धम्मो नवमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

४६४. साधु सदैव अकुशील बनकर रहे, तथा कुशीलजनों या दुराचारियों के साथ संसर्ग न रखे, क्योंकि उसमें (कुशीलों की संगति में) भी सुखरूप (अनुकूल) उपसर्ग रहते हैं, अतः विद्वान् साधक इस तथ्य को भलीभाँति जाने तथा उनसे सावधान (प्रतिबुद्ध-जागृत) रहे।

४६५. किसी (रोग, अशक्ति, आतंक आदि) अन्तराय के बिना साधु गृहस्थ के घर में न बैठे। ग्राम-कुमारिका क्रीड़ा (ग्राम के लड़के-लड़कियों का खेल) न खेले, एवं मर्यादा का उल्लंघन करके न हंसे।

४६६. मनोहर (उदार) शब्दादि विषयों में साधु अनुत्सुक रहे (किसी प्रकार की उत्कण्ठा न रखे। यदि शब्दादि विषय अनायास ही सामने आ जाएँ तो यतनापूर्वक आगे बढ़ जाए या संयम में यत्नपूर्वक गमन करे, भिक्षाटन आदि साधुचर्या में प्रमाद न करे, तथा परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित (स्पृष्ट) होने पर उन्हें (समभावपूर्वक) सहन करे।

४६७. लाठी, डंडे आदि से मारा-पीटा जाने पर साधु (मारने वाले पर) कुपित न हो, किसी के द्वारा गाली आदि अपशब्द कहे जाने पर क्रोध न करे, जले-कुढ़े नहीं; किन्तु प्रसन्न मन से उन्हें (चुपचाप) सहन करे, किसी प्रकार का कोलाहल न करे।

४६८. साधु (अनायास) प्राप्त होने वाले काम-भोगों की अभिलाषा न करे, ऐसा करने पर (ही उसे निर्मल) विवेक उत्पन्न हो गया, यों कहा जाता है। (इसके लिए) साधु आचार्यों या ज्ञानियों (बुद्धजनों) के सदा निकट (अन्तेवासी) रहकर आर्यों के धर्म या कर्त्तव्य अथवा मुमुक्षुओं द्वारा आचर्य (आचरणीय) ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म सदा सीखे, (उसका अभ्यास करे)।

४६९. स्व पर-समय (स्व-पर धर्म सिद्धान्तों) के ज्ञाता एवं उत्तम तपस्वी गुरु की सेवा-शुश्रूषा करता हुआ साधु उनकी उपासना करे। जो साधु कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर हैं, आप्त (वीतराग) पुरुष की केवल ज्ञानरूप प्रज्ञा या आत्मप्रज्ञा का अन्वेषण करते हैं, धृतिमान् हैं और जितेन्द्रिय हैं, वे ही ऐसा आचरण करते हैं।

४७०. गृहवास में श्रुतज्ञानरूपी दीप का या सर्वज्ञोक्त चारित्ररूपी द्वीप का लाभ न देख जो मनुष्य प्रव्रज्या धारण करके मुमुक्षुपुरुषों द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष के योग्य [पुरुषदानीय] बन जाते हैं; वे वीर कर्मबन्धनों से विमुक्त हो जाते हैं, फिर वे असंयमी जीवन की आकांक्षा नही करते।

४७१. साधु मनोज्ञ शब्द (रूप, रस, गन्ध) एवं स्पर्श में आसक्त (गृद्ध) न हो, सावद्य आरम्भ-जनित कार्यों से अनिश्रित (असम्बद्ध) रहे। इस अध्ययन के प्रारम्भ से लेकर यहाँ तक जो बहुत सी बातें निषिद्ध रूप से कही गई हैं, वे सब जिनागम (सिद्धान्त) से विरुद्ध (समयातीत) हैं, अथवा जो बातें विधान रूप से कही गई हैं, वे सब कुतीर्थिकों के सिद्धान्तों से विरुद्ध, लोकोत्तर उत्तम धर्मरूप हैं।

४७२. पण्डित मुनि अतिमान और माया, तथा ऋद्धि-रस-सातारूप सभी गौरवों को (संसार-कारण) जानकर उनका परित्याग करे और स्वयं को (समस्त कर्मक्षय रूप) निर्वाह की साधना से जोड़े या निर्वाण को ही पाने की अभिलाषा रखे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—लोकोत्तर (श्रमण) धर्म के कतिपय आचारसूत्र—सूत्रगाथा ४६४ से ४७२ तक नौ गाथाओं द्वारा मुनिधर्म के कुछ विशिष्ट आचारसूत्रों का उल्लेख किया है—(१) साधु न तो स्वयं कुशील बने और न ही कुशीलजनों से सम्पर्क रखे, (२) कुशीलजनसंसर्ग से होने वाले अनुकूल उपसर्गों से सावधान रहे, (३) अकारण गृहस्थ के घर में न बैठे, (४) बच्चों के खेल में भाग न ले, (५) मर्यादा का अतिक्रमण करके न हंसे, (७) मनोज्ञ शब्दादि विषयों में कोई उत्कण्ठा न रखे, अनायास प्राप्त हों तो भी यतनापूर्वक आगे बढ़ जाए, उन पर संयम रखे, (८) साधुचर्या में अप्रमत्त रहे, (९) परीषहोपसर्गों से पीड़ित होने पर उन्हें समभाव से सहे, (१०) प्रहार करने वाले पर क्रुद्ध न हो, न ही उसे अपशब्द कहे, न ही मन में कुढ़े, बल्कि प्रसन्न मन से चुपचाप सहन करे, (११) उपलब्ध हो सकने वाले काम-भोगों की लालसा न करे, (१२) आचार्यादि के चरणों में रहकर सदा आर्य धर्म सीखे, विवेकसम्पन्न बने, (१३) स्व-परसिद्धान्तों के सुज्ञाता उत्तम तपस्वी गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा एवं उपासना करे, (१४) कर्मक्षय करने में वीर बने, (१५) आप्त पुरुषों की केवलज्ञानरूप प्रज्ञा का या आत्मप्रज्ञा का अन्वेषक बने, (१६) धृतिमान् हो, (१७) जितेन्द्रिय हो, (१८) गृहवास में उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र का लाभ न देखकर मुनि धर्म में दीक्षित साधु असंयमी जीवन की आकांक्षा न करे बल्कि वीरतापूर्वक कर्मबन्धनों से मुक्त बने, (१९) मनोज्ञ शब्दादि में आसक्त न हो, (२०) सावद्य आरम्भजनित कार्यों से असम्बद्ध रहे (२१) सिद्धान्तविरुद्ध सब आचरणों से दूर रहे, (२२) मान, माया, एवं सर्व प्रकार के गौरव को संसार का कारण जानकर परि-त्याग करे, और (२३) निर्वाण रूप लक्ष्य का सन्धान करे।

ये ही वे मौलिक आचार सूत्र हैं, जिन पर चलकर मुनि अपने श्रमण धर्म को उज्ज्वल एवं परिष्कृत बनाता है।[१२]

---

१२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १८३, १८४ का सारांश

कुशीलों की संगति से सुखभोगेच्छारूप उपसर्ग—कुशील व्यक्ति अपनी संगति में आने वाले सुविहित साधक को बहकाते हैं—"अजी ! आप शरीर को साफ और सशक्त रखिये। शरीर सुदृढ़ होगा तभी आप धर्मपालन कर सकेंगे। शरीर साफ रखने से मन भी साफ रहेगा। शरीर को बलवान् बनाने हेतु आधाकर्मी, औद्देशिक पौष्टिक आहार मिलता हो तो लेने में क्या आपत्ति है ? पैरों की रक्षा के लिए जूते पहन लेने या वर्षा गर्मी से सुरक्षा के लिए छाता लगा लेने में कौन-सा पाप है ? शरीररक्षा करना तो पहला धर्म है। अतः निरर्थक कष्टों से बचाकर धर्माधाररूप शरीर को रक्षा करनी चाहिए।"

कभी-कभी वे आकर्षक युक्तियों से सुसाधक को प्रभावित कर देते हैं—"आजकल तो पंचम काल है, हीनसंहनन है, इतनी कठोर क्रिया करने और इतने कठोर परीषहों और उपसर्गों को सहने की शक्ति कहाँ है ? अतः समयानुसार अपनी आचारसंहिता बना लेनी चाहिए आदि आदि।"

अल्प पराक्रमी साधक कुशीलों के आकर्षक वचनों से प्रभावित हो, धीरे-धीरे उनके समान ही सुकुमार सुखशील बन जाते हैं। इसीलिए इन उपसर्गों को सुखरूप कहा है। ये उपसर्ग पहले तो बहुत सुखद, सुहावने और मोहक लगते हैं, परन्तु बाद में ये संयम की जड़ों को खोखली कर देते हैं। साधु को ये उपसर्ग पराश्रित, इन्द्रियविषयों का दास और असंयमनिष्ठ बना देते हैं।[१३]

अकारण गृहस्थ के घर में बैठने से हानि—अकारण गृहस्थ के घर पर बैठने से किसी को साधु के चारित्र में शंका हो सकती है, किसी अन्य सम्प्रदाय का साधुद्वेषी व्यक्ति साधु पर मिथ्या दोषारोपण भी कर सकता है। दशवैकालिक सूत्र में तीन कारणों से गृहस्थ के घर पर बैठना कल्पनीय बताया है—(१) वृद्धावस्था के कारण अशक्त हो, (२) कोई रोग ग्रस्त हो या अचानक कोई चक्कर आदि रोग खड़ा हो जाए (३) या दीर्घतपस्वी हो।[१४]

मर्यादातिक्रान्त हास्य : कर्मबन्ध का कारण—कभी-कभी हंसी-मजाक या हंसना कलह का कारण बन जाता है। इसीलिए आगम में हास्य और कुतूहल को कर्मों के बन्ध का कारण बताया है। उत्तराध्ययन एवं भगवती सूत्र में भी हास्य और क्रीड़ा को साधु के लिए वर्जित तथा कर्म बन्धकारक बताया है।[१५]

"लद्धे कामे ण पत्थेज्जा"—इस पंक्ति के दो अर्थ फलित होते हैं—(१) दीर्घकालीन साधना के फलस्वरूप उपलब्ध काम-भोगों-सुख-साधनों का प्रयोग या उपयोग करने को अभिलाषा न करे, (२)

---

१३ सूत्रकृतांग शी० वृत्ति प० १८३

१४ (क) सूत्र कृतांग शी० वृत्ति पत्रांक १८३

(ख) दशवैकालिक उ० ६ गा० ५७ से ६० तक

१५ (क) सूत्रकृतांग शी० वृत्ति पत्रांक १८३

(ख) हासं कीडं च वज्जए'—उत्तरा अ० १ । गा० ६

(ग) 'जीवेणं भंते ! हसमाणे वा उस्सुयमाणे वा कइ कम्मपगडीयो बंधइ ?

'गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा" —भगवती शतक ५ । सूत्र ७१ (। अंग सुत्ताणि)

अनायास प्राप्त लब्धियों या सिद्धियों से भी लाभ उठाने की मन में इच्छा न करे। प्राप्त शक्तियों या उपलब्धियों को वज्रस्वामीवत् विवेकपूर्वक पचाए।[१६]

गुरु की शुश्रूषा और उपासना में अन्तर—यह है कि शुश्रूषा—गुरु के आदेश-निर्देशों को सुनने की इच्छा है, उसका फलितार्थ है—गुरु की सेवा-वैयावृत्य करके उनके मन को प्रसन्न करना, उनके आदेशों का पालन करना, जबकि उपासना गुरुचरणों में बैठकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करना है, गुरु के शरीर की नहीं, गुणों की उपासना करना ही वास्तविक उपासना है। जैसे कि कहा है—"गुरु की उपासना करने से साधक ज्ञान का भाजन बनता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थिरतर हो जाता है। वे धन्य हैं जो जीवनपर्यन्त गुरुकुलवास नहीं छोड़ते।"

॥ धर्म : नवम अध्ययन समाप्त ॥

□□□□

---
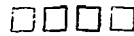
१६ सूत्र कृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १८४

१७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति० १८४

(ख) "नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए गुरकुलवासं न मुञ्चति। —सू० कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १८५ में उद्धृत

समाधि–दशम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के दसवें अध्ययन का गुणनिष्पन्न नाम 'समाधि' है।

☐ समाधि शब्द चित्त की स्वस्थता, सात्त्विक सुखशान्ति, सन्तुष्टि, मनोदुःख का अभाव, आनन्द, प्रमोद, शुभध्यान, चित्त की एकाग्रतारूप ध्यानावस्था, समता, रागादि से निवृत्ति, आत्म-प्रसन्नता आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से ६ प्रकार से समाधि का निक्षेप किया है। नाम समाधि और स्थापना समाधि सुगम है। द्रव्यसमाधि मुख्यतया चार प्रकार से होती है—(१) जिस द्रव्य के खाने-पीने से शान्ति प्राप्त हो, (२) मनोज्ञ शब्दादि विषयों की प्राप्ति होने पर श्रोत्रादि इन्द्रियों की तुष्टि हो, (३) परस्पर विरोधी दो या अनेक द्रव्यों के मिलाने से स्वाद की वृद्धि (पुष्टि) होती हो अथवा (४) तराजू पर जिस वस्तु को चढ़ाने से दोनों पलड़े समान हो। क्षेत्रसमाधि वह है—जिस क्षेत्र में रहने से शान्ति-समाधि प्राप्त हो, काल-समाधि का अर्थ है—जिस ऋतु, मास या काल में शान्ति प्राप्त हो। भावसमाधि का अर्थ है—चित्त की स्वस्थता, शान्ति, एकाग्रता, समता, संतुष्टि, प्रसन्नता आदि या जिन ज्ञानादि गुणों द्वारा समाधि लाभ हो।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में भावसमाधि (आत्मप्रसन्नता) के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है, भावसमाधि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप है। दशवैकालिक सूत्र में विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपःसमाधि और आचारसमाधि का (प्रत्येक के चार-चार भेद सहित) उल्लेख है, ये भी भावसमाधि के अन्तर्गत हैं। दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार उक्त बीस असमाधि स्थानों से दूर रहना भी भाव-समाधि है। सम्यक्चारित्र में स्थित साधक चारों भावसमाधियों में आत्मा को स्थापित कर लेता है।[3]

---

१ पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ८७०

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १०३ से १०६ तक
(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १८६-१८७

३ (क) दशवैकालिक सूत्र अ० ६, उद्देशक चार में ४ प्रकार की समाधियों का वर्णन।
(ख) दशाश्रुतस्कन्ध प्रथम दशा में २० प्रकार के समाधि स्थान। —आयारदशा पृ० १
(ग) दशाश्रुतस्कन्ध में चित्त समाधि प्राप्त होने के १० स्थान (कारण) —आयारदशा पृ० ३४

- ☐ प्रस्तुत अध्ययन में शास्त्रकार ने श्रमण को चारित्रसमाधि के लिए किसी प्रकार का संचय न करना, समस्त प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, आरम्भादि प्रवृत्तियों में हाथ-पैर आदि को संयत रखना, निदान न करना, हिंसा, चौर्य, अब्रह्मचर्य आदि पापों से दूर रहना, अप्रतिबद्ध विचरण, आत्मवत् प्रेक्षण, एकत्वभावना, क्रोधादि से विरति, सत्यरति, कामना रहित तपश्चरण, तितिक्षा, वाग्गुप्ति, शुद्धलेश्या, स्त्री संसर्गनिवृत्ति, धर्मरक्षा के विचारपूर्वक पापविरति निरपेक्षता, कायव्युत्सर्ग, जीवन-मरणाकांक्षा रहित होना आदि समाधि प्राप्ति के उपायों का तथा समाधि भंग करने वाला स्त्रीसंसर्ग, परिग्रह-ममत्व, भोगाकांक्षा आदि प्रवृत्तियों से दूर रहने का निर्देश किया है। तथा ज्ञान-समाधि एवं दर्शनसमाधि के लिए शंका, कांक्षा आदि से तथा एकान्त क्रियावाद एवं एकान्त अक्रियावाद से भी दूर रहना आवश्यक बताया है।[४]
- ☐ इस अध्ययन का उद्देश्य साधक को सभी प्रकार की असमाधियों तथा असमाधि उत्पन्न करने वाले कारणों से दूर रखकर चारों प्रकार की भाव समाधि में प्रवृत्त करना है।
- ☐ चारों प्रकार की भावसमाधि की फलश्रुति वृत्तिकार के शब्दों में—(१) दर्शन-समाधि में स्थित साधक का अन्तःकरण जिन-प्रवचन में रंगा होने से वह कुबुद्धि या कुदर्शन-रूपी अन्धड़ से विचलित नहीं होता, (२) ज्ञान-समाधि द्वारा साधक ज्यों-ज्यों नवीन-नवीन शास्त्रों का अध्ययन करता है, त्यों-त्यों अतीव रसप्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति की श्रद्धा में वृद्धि एवं आत्म-प्रसन्नता होती है। (३) चारित्रसमाधि में स्थित मुनि विषयसुख निःस्पृह, निष्किंचन एवं निरपेक्ष होने से परम शान्ति पाता है। (४) तपःसमाधि में स्थित मुनि उत्कट तप करता हुआ भी घबराता नहीं, न ही क्षुधा-तृषा आदि परीषहों से उद्विग्न होता है, तथा ध्यानादि आभ्यन्तर तप में लीन साधक मुक्ति का-सा आनन्द (आत्मसुख) प्राप्त कर लेता है, फिर वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से पीड़ित नहीं होता।[५]
- ☐ प्रस्तुत अध्ययन उद्देशक रहित है और इसमें कुल २४ गाथाएँ हैं।
- ☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४७३ से प्रारम्भ होकर ४९६ में पूर्ण होता है।

समाही : दसमं अज्झयणं

समाधि : दशम अध्ययन

समाधिप्राप्त साधु की साधना के मूलमन्त्र—

४७३. आघं मइमं अणुवीति धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिण्णे भिक्खू तु समाहिपत्ते, अणियाणभूते सुपरिव्वएज्जा ॥ १ ॥

४७४. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमेत्ता, अदिण्णमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥ २ ॥

४७५. सुअक्खातधम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ॥ ३ ॥

४७६. सव्विंदियऽभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परिपच्चमाणे ॥ ४ ॥

४७७. एतेसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टती कम्मसु पावएसु ।
अतिवाततो कीरति पावकम्मं, निउंजमाणे उ करेति कम्मं ॥ ५ ॥

४७८. आदीणभोई वि करेति पावं, मंता तु एगंतसमाहिमाहु ।
बुद्धे समाहीय रते विवेगे, पाणातिपाता विरते ठितप्पा ॥ ६ ॥

४७९. सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणे तु पुणो विसण्णे, संपूयणं चेव सिलोयकासी ॥ ७ ॥

४८०. आहाकडं चेव निकाममीणे, निकामसारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥ ८ ॥

४८१. वेराणुगिद्धे णिचयं करेति, इतो चुते से दुहमट्ठदुग्गं ।
तम्हा तु मेधावि समिक्ख धम्मं, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ॥ ९ ॥

४८२. आयं न कुज्जा इह जीवितट्ठी, असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धिं, हिंसण्णितं वा ण कहं करेज्जा ॥ १० ॥

४८३. आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंते य ण संथवेज्जा ।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चेच्चाण सोयं अणपेक्खमाणे ॥ ११ ॥

४८४. एगत्तमेव अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो ण मुसं ति पास ।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वी अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥ १२ ॥

४८५. इत्थीसु या आरत मेहुणा उ, परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे ।
उच्चावएसु विसएसु ताई, णिस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ॥ १३ ॥

४८६ अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीतफासं ।
उण्हं च दंसं च हियासएज्जा, सुब्भिं च दुब्भिं च तितिक्खएज्जा ॥ १४ ॥

४८७. गुत्तो वईए य समाहिपत्ते, लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिहं न छाए ण वि छावएज्जा, संमिस्सभावं पजहे पयासु ॥ १५ ॥

४७३. मतिमान् (केवलज्ञानी) भगवान् महावीर ने (केवलज्ञान से) जानकर सरल समाधि (मोक्ष-दायक) धर्म कहा है. (हे शिष्यो !) उस धर्म को तुम मुझ से सुनो । जो भिक्षु अप्रतिज्ञ (तप की ऐहिक-पारलौकिक फलाकांक्षा से रहित) है, अनिदानभूत (विषयसुख प्राप्तिरूप निदान अथवा कर्मबन्ध के आदिकारणों (आश्रवों) या दुःखकारणरूप हिंसादि निदान या संसार के कारणरूप निदान से रहित है, अथवा अनिदान संसारकारणाभावरूप सम्यग्ज्ञानादि युक्त है, वही समाधिप्राप्त है। ऐसा मुनि शुद्ध संयम में पराक्रम करे ।

४७४. ऊँची-नीची और तिरछी दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, अपने हाथों और पैरों को संयम में रखकर (अथवा उनके हाथ-पैरों को बांधकर) किसी भी प्रकार से पीड़ा नहीं देनी चाहिए, (या हिंसा नहीं करनी चाहिए), तथा दूसरों के द्वारा न दिये हुए पदार्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

४७५. श्रुत और चारित्र-धर्म का अच्छी तरह प्रतिपादन करने वाला तथा वीतरागप्ररूपित धर्म में विचिकित्सा-शंका से ऊपर उठा हुआ—पारंगत, प्रासुक आहार-पानी तथा एषणीय अन्य उपकरणादि से अपना जीवन-यापन करने वाला, उत्तम तपस्वी एवं भिक्षाजीवी साधु पृथ्वीकाय आदि प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य (होकर) विचरण (-विचार) करे, या व्यवहार करे। इस लोक में चिरकाल तक (संयमी जीवन) जीने की इच्छा से आय (धन की आमदनी-कमाई या आश्रवों की आय-वृद्धि) न करे, तथा भविष्य के लिए (धन-धान्य आदि का) संचय न करे ।

४७६. मुनि स्त्रियों से सम्बन्धित पंचेन्द्रिय विषयों से अपनी समस्त इन्द्रियों को रोककर जितेन्द्रिय बने। तथा बाह्य और आभ्यन्तर सभी संगों (आसक्ति-बन्धनों) से विशेष रूप से मुक्त होकर साधु (संयम

पथ पर) विचरण करे। एवं यह देखे कि प्राणी इस संसार में दुःख (असातावेदनीयोदयरूप अथवा स्वकृत अष्टविधकर्मरूप दुःख) से आर्त्त (पीड़ित) और सब प्रकार से संतप्त हो (अथवा आर्त्तध्यान करके मन-वचन-काया से संतापानुभव कर रहे हैं।

४७७. अज्ञानी जीव इन (पूर्वोक्त पृथ्वीकाय आदि) प्राणियों को छेदन-भेदन-उत्पीड़न आदि के रूप में कष्ट देकर अत्यन्त पापकर्म करता हुआ (उनके फलस्वरूप) इन्हीं पृथ्वीकायादि योनियों में बार-बार जन्म लेता है, और उसी रूप में पीड़ित होता है। प्राणातिपात स्वयं करने से प्राणी ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का उपार्जन करता है, तथा दूसरों को प्राणातिपातादि पापकर्मों में प्रेरित करके भी पाप (कर्मों का वन्ध) करता है।

४७८. जो साधक दीनवृत्ति (कंगाल भिखारी की तरह या पिण्डोलक की तरह) से भोजन प्राप्त करता है, वह भी पाप करता है। यह जानकर तीर्थंकरों ने एकान्त (भावरूप ज्ञानादि) समाधि का उपदेश दिया है। इसलिए प्रबुद्ध (विचारशील तत्त्वज्ञ) स्थितात्मा (स्थिर बुद्धि) साधक भावसमाधि और विवेक में रत होकर प्राणातिपात से विरत रहे।

४७९. साधु समस्त जगत् (प्राणिसमूह) को समभाव से देखे। वह किसी का भी प्रिय (रागभाव प्रेरित व्यवहार) या अप्रिय (द्वेषभावप्रेरित व्यवहार) न करे। कोई व्यक्ति प्रव्रजित होकर (परीषहों एवं उपसर्गों की वाधा आने पर) दीन और फिर विषण्ण हो जाता है, अथवा विषयार्थी होकर पतित हो जाता है, कोई अपनी प्रशंसा का अभिलाषी होकर वस्त्रादि से सत्कार (पूजा) चाहता है।

४८०. जो (व्यक्ति प्रव्रजित होकर) आधाकर्म आदि दोषदूषित आहार की अत्यन्त लालसा करता है, तथा जो वैसे आहार के लिये निमन्त्रण आदिपूर्वक इधर-उधर खूब भटकता है, वह (पार्श्वस्थ आदि कुशीलों के) विषण्ण भाव को प्राप्त करना चाहता है। तथा जो स्त्रियों में आसक्त होकर उनके अलग-अलग हास्य, विलास, भाषण आदि में अज्ञानी (सद्-असद्-विवेक रहित) की तरह मोहित हो जाता है, वह (स्त्रियों की प्राप्ति के लिए) परिग्रह (धनादि का संग्रह) करता हुआ पापकर्म का संचय करता है।

४८१. जो व्यक्ति (हिंसादि करके) प्राणियों के साथ जन्म-जन्मान्तर तक वैर बाँधता है, वह पाप-कर्म का निचय (वृद्धि) करता है। वह यहाँ (इस लोक) से च्युत हो (मर) कर परमार्थतः दुर्गम नरकादि दुःख स्थानों में जन्म लेता है। इसलिए मेधावी (मर्यादावान् विवेकी) मुनि (सम्पूर्णसमाधिगुणमूलक-श्रुत-चारित्ररूप) धर्म का सम्यक् विचार या स्वीकार करके बाह्याभ्यन्तरसंगों (बन्धनों) से समग्र रूप से विमुक्त होकर मोक्ष (संयम) पथ में विचरण करे।

४८२. साधु इस लोक में चिरकाल तक जीने की इच्छा से आय (द्रव्योपार्जन या कर्मोपार्जन) न करे तथा स्त्री-पुत्र आदि में अनासक्त रहकर संयम में पराक्रम करे। साधु पूर्वापर विचार करके कोई बात कहे। (शब्दादि विषयों से) आसक्ति हटा ले तथा हिंसायुक्त कथा (उपदेश) न कहे।

४८३. (समाधिकामी) साधु आधाकर्मी आहार की कामना न करे, और न ही आधाकर्मी आहार की कामना करने वाले के साथ परिचय (संसर्ग) करे। (उत्कट तप से कर्मनिर्जरा होती है, इस प्रकार की) अनुप्रेक्षा करता हुआ साधु औदारिक शरीर को कृश करे (धुने)। शरीर (को पुष्ट या सशक्त

बनाने) की अपेक्षा न रखता हुआ साधु (तपस्या से कृश हुए) शरीर का शोक (चिन्ता) छोड़कर संयम में पराक्रम करे।

४८४. साधु एकत्व भावना का अध्यवसाय करे। ऐसा करने से वह संग से मुक्त होता है, फिर उसे कर्मपाश (या संसार बन्धन) नहीं छूते। यह (एकत्वभावनारूप) संगत-मुक्ति मिथ्या नहीं, सत्य है, और श्रेष्ठ भी है। जो साधु क्रोध रहित, सत्य में रत एवं तपस्वी है; (वही समाधिभाव को प्राप्त है।)

४८५. जो साधक स्त्री विषयक मैथुन से निवृत्त है, जो परिग्रह नहीं करता, एवं नाना प्रकार के विषयों में राग-द्वेषरहित होकर आत्मरक्षा या प्राणिरक्षा करता है, निःसन्देह वह भिक्षु समाधि प्राप्त है।

४८६. (समाधिकामी) साधु संयम में अरति (खेद) और असंयम में रति (रुचि) को जीतकर तृणादि स्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श और दंश-मशक-स्पर्श (परीषह) को (अक्षुब्ध होकर समभाव से) सहन करे, तथा सुगन्ध-दुर्गन्ध (एवं आक्रोश, वध आदि परीषहों को भी (समभाव से राग-द्वेष रहित होकर) सहन करे।

४८७. जो साधु वचन से गुप्त (मौनव्रती या धर्मयुक्त भाषी) रहता है, वह भाव समाधि को प्राप्त है (ऐसा समाधिस्थ) सा (अशुद्ध कृष्णादि लेश्याओं को छोड़कर) शुद्ध तैजस आदि लेश्याओं को ग्रहण करके संयम पालन में पराक्रम करे तथा स्वयं घर को न छाए, न ही दूसरों से छवाए, (न ही गृहादि को संस्कारित करे।) एवं प्रव्रजित साधु पचन-पाचन आदि गृह कार्यों को लेकर गृहस्थों से, विशेषतः स्त्रियों से मेलजोल (सम्पर्क या मिश्रभाव) न करे।

विवेचन—समाधि प्राप्त साधु की साधना के मूल मन्त्र—मोक्षदायक समाधि प्राप्त करने की साधना के लिए प्रस्तुत १५ सूत्र गाथाओं में से निम्नलिखित मूल मन्त्र फलित होते हैं—(१) समाधि प्राप्ति के लिए साधु को अप्रतिज्ञ (इह-परलोक सम्बन्धी फलाकांक्षा से रहित) तथा अनिदान (विषय-सुख प्राप्ति रूप निदान से रहित) होकर शुद्ध संयम में पराक्रम करे, (२) सर्वत्र सर्वदा त्रस-स्थावर प्राणियों पर संयम रखे, उन्हें पीड़ा न पहुंचाए, (३) अदत्तादान से दूर रहे, (४) वीतराग प्ररूपित श्रुत-चारित्र रूप धर्म में संशयरहित हो। (५) प्रासुक आहार-पानी एवं एषणीय उपकरणादि से अपना जीवन निर्वाह करे, (६) समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत् व्यवहार करे, (७) चिरकाल तक जीने की आकांक्षा से न तो आय करे, न ही पदार्थों का संचय करे, (८) स्त्रियों से सम्बद्ध पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त होने से अपनी इन्द्रियों को रोके, जितेन्द्रिय बने, (९) बाह्य-आभ्यन्तर सभी सम्बन्धों से मुक्त होकर संयम में विचरण करे, (१०) पृथ्वीकायिकादि प्राणियों को दुःख से आर्त्त और आर्त्तध्यान से संतप्त देखे, (११) पृथ्वीकायादि प्राणियों को छेदन-भेदन एवं उत्पीड़न आदि से कष्ट पहुंचाने वाले जीवों को उनके पापकर्म के फलस्वरूप उन्हीं योनियों में बार-बार जन्म लेकर पीड़ित होना पड़ता है, प्राणातिपात से ज्ञानावरणीयादि पापकर्मों का बन्ध होता है। अतः समाधिकामी साधू इनसे दूर रहे। (१२) तीर्थंकरों ने भाव समाधि का उपदेश इसी उद्देश्य से दिया है कि साधक न तो दीनवृत्ति से भोजन प्राप्त करे न ही असन्तुष्ट होकर; क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में अशुभ (पाप) कर्म बँधता है। (१३) भावसमाधि के लिए साधक तत्त्वज्ञ, स्थिरबुद्धि विवेकरत एवं प्राणातिपात आदि से विरत हो, (१४) समाधि प्राप्ति के लिए साधु समस्त जगत् को समभाव से देखे, रागभाव अथवा द्वेषभाव से प्रेरित होकर न तो किसी का प्रिय बने, न ही किसी का अप्रिय,

किसी की भलाई-बुराई के प्रपंच में न पड़े, (१५) प्रव्रजित साधु दीन, विषण्ण, पतित और प्रशंसा एवं आदर-सत्कार का अभिलाषी न बने, (१६) आधाकर्मादि दोष दूषित आहार की लालसा न करे, न ही वैसे आहार के लिए घूमे, अन्यथा वह विषण्ण भाव को प्राप्त हो जाएगा। (१७) स्त्रियों से सम्बन्धित विविध विषयों में आसक्त होकर स्त्री प्राप्ति के लिए धनादि संग्रह करता है, वह पाप कर्म का सचय करके असमाधि पाता है। (१८) जो प्राणियों के साथ वैर बांधता है, वह उस पापकर्म के फलस्वरूप यहाँ से मरकर नरकादि दुःख स्थानों में जन्म लेता है, इसलिए मेधावी मुनि को समाधि-धर्म का सम्यक् विचार करके इन सब पापों या ग्रन्थों से मुक्त होकर संयमाचरण करना चाहिए। (१९) चिरकाल तक जीने की इच्छा से धन या कर्म की आय न करे, अपितु धन, धाम, स्त्री-पुत्र आदि में अनासक्त रह कर संयम में पराक्रम करे। (२०) कोई बात कहे तो सोच-विचार कर कहे, (२१) शब्दादि विषयों से आसक्ति हटा ले, (२२) हिंसात्मक उपदेश न करे, (२३) आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार की न तो कामना करे और न ही ऐसे दोषयुक्त आहार से संसर्ग रखे, (२४) कर्मक्षय के लिए शरीर को कृश करे, शरीर स्वभाव की अनुप्रेक्षा करता हुआ शरीर के प्रति निरपेक्ष एवं निश्चिन्त हो जाए। (२५) एकत्व भावना ही संग-मोक्ष का कारण है, यही भाव समाधि का प्रधान कारण है, (२६) भाव समाधि के लिए साधु क्रोध से विरत, सत्य में रत एवं तपश्चर्या परायण रहे। (२७) जो साधु स्त्री सम्बन्धी मैथुन से विरत रहता है, परिग्रह नहीं करता और विविध विषयों से स्व-पर की रक्षा करता है, निःसंदेह वह समाधि प्राप्त है। (२८) जो साधु अरति और रति पर विजयी बनकर तृण स्पर्श, शीतोष्ण स्पर्श, दंशमशक स्पर्श, सुगन्ध-दुर्गन्ध प्राप्ति आदि परीषहों को समभाव से सहन कर लेता है, वह भी समाधि प्राप्त है। (२९) जो साधु वचनगुप्ति से युक्त हो, शुद्ध लेश्या से युक्त होकर संयम में पराक्रम करता है, न तो घर बनाता है, न बनवाता है और गृहस्थी के विशेषतः स्त्री सम्बन्धी गृहकार्यों से सम्पर्क नहीं रखता, वह भी समाधि प्राप्त है।[1] निःसंदेह समाधिकामी साधु के लिए ये मूल मन्त्र बड़े उपयोगी हैं।

पाठान्तर और व्याख्या—'**परिपच्चमाणे**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**परितप्पमाणे**'—व्याख्या है—परितप्त होते हुए प्राणियों को। '**ठितप्पा**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**ठितच्चा**'—व्याख्या है—स्थिर अर्चा-लेश्या-मनोवृत्ति वाला। '**णिकामसीणे**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**णियायमीणे**'—व्याख्या है—'**णियायणा**' का अर्थ है—निमन्त्रण ग्रहण करता है, वह 'णियायमीणे'। '**निकामसारी**' के बदले पाठान्तर है—'**निकामचारी**', व्याख्या है—आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार का निकाम-अत्यधिक सेवन करता है या स्मरण करता है। '**जीवितट्ठी**'—दो व्याख्याएँ—(१) इस लोक में जीवित यानी काम-भोग, यश-कीर्ति इत्यादि चाहने वाला, (२) इस संसार में असंयमी जीवन जीने का अभिलाषी। **वेच्चाण सोयं**—(१) शोक....चिन्ता छोड़कर अथवा (२) श्रोत-गृह-स्त्री-पुत्र-धनादि रूप प्रवाह को छोड़कर। '**इत्थीसु**'—देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी तीनों प्रकार की स्त्रियों में। '**णिस्संसयं**—(१) निःसंशय-निःसन्देह अथवा (२) निःसंश्रय—विषयों का संश्रय-संसर्ग न करने वाला साधु।[2]

---

१ सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक १८७ से १९२ तक का सारांश

२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १८७ से १९२

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८५ से ८७ तक

भावसमाधि से दूर लोगों के विविध चित्र—

४८८. जे केइ लोगंसि उ अकिरियाया, अण्णेण पुट्ठा धुतमादिसंति।
आरंभसत्ता गढिता य लोए, धम्मं न याणंति विमोक्खहेउं ॥ १६ ॥

४८९. पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरीणं च पुढो य वायं।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं[1] पवड्ढती वेरमसंजतस्स ॥ १७ ॥

४९०. आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मंदे।
अहो य रातो परितप्पमाणे, अट्टे सुमूढे अजरामर व्व ॥ १८ ॥

४९१. जहाहि वित्तं पसवो य सव्वे, जे बांधवा जे य पिता य मित्ता।
लालप्पती सो वि य एइ मोहं, अन्ने जणा तं सि हरंति वित्तं ॥ १९ ॥

४८८. इस लोक में जो (सांख्य) लोग आत्मा को अक्रिय (अकर्ता, कूटस्थनित्य) मानते हैं, और दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर मोक्ष (धूत=आत्मा के मोक्ष में अस्तित्व) का प्रतिपादन करते हैं, वे सावद्य आरम्भ में आसक्त और विषय-भोगों में गृद्ध लोग मोक्ष के कारणभूत धर्म को नहीं जानते।

४८९. इस लोक में मनुष्यों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए कोई क्रियावाद को मानते हैं और कोई अक्रियावाद को। कोई जन्मे हुए बालक के शरीर को खण्डशः काटकर अपना सुख मानते हैं। वस्तुतः असंयमी व्यक्ति का प्राणियों के साथ वैर बढ़ता है।

४९०. आरम्भ में आसक्त पुरुष आयुष्य-क्षय को नहीं समझता, किन्तु वह मूढ़ (मन्द) सांसारिक पदार्थों पर ममत्व रखता हुआ पापकर्म करने का साहस करता है। वह दिन-रात चिन्ता से संतप्त रहता है। वह मूढ़ स्वयं को अजर-अमर के समान मानता हुआ अर्थों (धन आदि पदार्थों) में मोहित-आसक्त रहता है।

४९१. समाधिकामी व्यक्ति धन और पशु आदि सब पदार्थों का (ममत्व) त्याग करे। जो बान्धव और प्रिय मित्र हैं, वे वस्तुतः कुछ भी उपकार नहीं करते, तथापि मनुष्य इनके लिए शोकाकुल होकर विलाप करता है और मोह को प्राप्त होता है। (उसके मर जाने पर) उनके (द्वारा अत्यन्त क्लेश से उपार्जित) धन का दूसरे लोग ही हरण कर लेते हैं।

विवेचन—भावसमाधि से दूर लोगों के विविध चित्र—प्रस्तुत चार सूत्र गाथाओं में उन लोगों का चित्र शास्त्रकार ने प्रस्तुत किया है, जो वस्तुतः भाव समाधि से दूर हैं, किन्तु भ्रमवश स्वयं को समाधि प्राप्त (सुखमग्न) मानते हैं। वे क्रमशः चार प्रकार के हैं—(१) **दर्शन समाधि से दूर**—आत्मा को निष्क्रिय (अकर्ता) मानकर भी उसके द्वारा घटित न हो सकने वाले शाश्वत समाधि रूप मोक्ष का कथन करते हैं, (२) **ज्ञान-समाधि से दूर**—मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप धर्म को नहीं जानते, अपितु आरम्भासक्ति एवं विषयभोग गृद्धि रूप अधर्म को ही मोक्ष का कारणभूत धर्म जान कर उसी में रचे-पचे रहते हैं, (३) **दर्शन-समाधि से दूर**—क्रियावादी और अक्रियावादी। एकान्त क्रियावादी स्त्री, भोगोपभोग्य

---

१ पाठान्तर—जायाए बालस्स पगब्भणाए।

पदार्थों एवं विषयभोगों आदि की उपभोग क्रिया को समाधि (सुख) कारक मानते हैं, उक्त पदार्थों के ज्ञान को नहीं। एकान्त अक्रियावादी आत्मा को अकर्ता मानकर तत्काल जन्मे हुए बालक के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके उसमें आनन्द (समाधि) मानते हैं। किन्तु वस्तुत: दूसरों को पीड़ा देने वाली पाप-क्रिया आत्मा को अक्रिय मानने-कहने मात्र से टल नहीं जाती, प्राणियों के साथ वैरवर्द्धक उस पाप का फल भोगना ही पड़ता है। (४) **चारित्र-समाधि से दूर**—अपने आपको आयुष्य क्षय रहित अमर मानकर रात-दिन धन, सांसारिक पदार्थ, स्त्री-पुत्र आदि पर ममत्व करके उन्हीं की प्राप्ति, रक्षा, वृद्धि आदि की चिन्ता में मग्न रहते हैं, ऐसे लोग समाधि (सुख-शान्ति) के मूलभूत कारण (त्याग, वैराग्य, संयम, तप, नियम आदि रूप चारित्र) से दूर रहते हैं। मरने पर उनके द्वारा पाप से उपार्जित धनादि पदार्थों को दूसरे ही लोग हड़प जाते हैं, न तो इहलोक में उन्हें समाधि प्राप्त होती है, न ही परलोक में वे समाधि पाते हैं।[3]

पाठान्तर और व्याख्या—'**धुतमादिसंति**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**धुतमादियंति**'—व्याख्या है—'धुत' अर्थात् वैराग्य की प्रशंसा करते हैं। '**जायस्स बालस्स पकुव्व देह**' के बदले यहाँ युक्ति एवं प्रसंग से संगत पाठान्तर है—'**जायाए बालस्स पगब्भणाए**' व्याख्या की गई है—हिंसादि पापकर्मों में प्रवृत्त अनुकम्पा रहित अज्ञ (बाल) व्यक्ति की जो (हिंसावाद में) प्रगल्भता-धृष्टता उत्पन्न हुई, उससे उसका प्राणियों के साथ वैर ही बढ़ता है। '**साहसकारी**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**सहस्सकारी**', व्याख्या दो प्रकार से की गई है—(१) स-हर्ष हिंसादि पाप करता है, (२) सहस्रों (हजारों) पापों को करता है। '**जहाहि वित्त**' के बदले पाठान्तर है—'**जधा हि (य)**', व्याख्या दो प्रकार से है—(१) 'वित्तं' आदि पदार्थों का त्याग करके, (२) जैसे कि धन आदि पदार्थ।[4]

समाधि प्राप्ति के लिए प्रेरणासूत्र—

४९२. सीहं जहा खुद्दमिगा चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा।
एवं तु मेधावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा॥ २०॥

४९३. संबुज्झमाणे तु णरे मतीमं, पावातो अप्पाण निवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूताइं दुहाइं मंता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥ २१॥

४९४. मुसं न बूया मुणि अत्तगामी, णिव्वाणमेयं कसिणं समाहि।
सयं न कुज्जा न वि कारवेज्जा, करेंतमन्नं पि य नाणुजाणे॥ २२॥

---

३ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्र १९३ का सार

४ (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८७-८८

(ख) सूत्रकृतांग शी० वृत्ति पत्रांक १९३

४९५. सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिते ण य अज्झोववण्णे।
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयकामी य परिव्वएज्जा ॥ २३ ॥

४९६. निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी, कायं विओसज्ज नियाणछिण्णे।
नो जीवितं नो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ॥ २४ ॥

त्ति बेमि।

॥ समाही : दसमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

४९२. जैसे वन में विचरण करते हुए मृग आदि छोटे-छोटे जंगली पशु सिंह (के द्वारा मारे जाने) की शंका करते हुए दूर से ही (बचकर) चलते हैं, इसीप्रकार मेधावी साधक (समाधि रूप) धर्म का विचार करके (असमाधि प्राप्त होने की शंका से) पाप को दूर से ही छोड़कर विचरण करे।

४९३. भाव-समाधि से या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म को समझने वाला (विहितानुष्ठान में प्रवृत्ति करता हुआ) सुमतिमान् पुरुष (हिंसा-असत्यादि रूप) पापकर्म से स्वयं को निवृत्त करे। हिंसा से उत्पन्न अशुभ कर्म नरकादि यातना स्थानों में अत्यन्त दुःखोत्पादक हैं, लाखों जन्मों तक प्राणियों के साथ वैर परम्परा बाँधने वाले हैं, इसीलिए ये महान् भयजनक है।

४९४. आप्तगामी (आप्त-सर्वज्ञों के द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग पर चलने वाला), अथवा आत्महित गामी (आत्म-निःश्रेयसकामी) मुनि असत्य न बोले। इसी तरह वह मृषावाद-विरमण तथा दूसरे महाव्रतों के स्वयं अतिचार (दोष) न करे (लगाए), दूसरे के द्वारा अतिचार-सेवन न कराए तथा अतिचारसेवी का (मन, वचन, काया और कर्म से) अनुमोदन न करे (उसे अच्छा न जाने)। यही निर्वाण (परम शान्ति रूप मोक्ष) तथा सम्पूर्ण भाव-समाधि (कहा गया) है।

४९५. उद्गम, उत्पाद और एषणादि दोषों से रहित शुद्ध आहार प्राप्त होने पर साधु उस पर राग-द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे। मनोज्ञ सरस आहार में भी मूर्च्छित न हो, न ही बार-बार उस आहार को पाने की लालसा करे। भाव-समाधिकामी साधु धृतिमान् एवं बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विमुक्त बने। वह अपनी पूजा-प्रतिष्ठा एवं कीर्ति का अभिलाषी न होकर शुद्ध संयम में पराक्रम करे।

४९६. समाधिकामी साधु अपने घर से निकल कर (दीक्षा लेकर) अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष (निराकांक्षी) हो जाए, तथा शरीर-संस्कार-चिकित्सा आदि न करता हुआ शरीर का व्युत्सर्ग करे एवं अपने तप के फल की कामना रूप निदान का मूलोच्छेद कर दे। साधु न तो जीवन की आकांक्षा करे और न ही मरण की। वह संसार-वलय (जन्म-मरण के चक्र अथवा कर्मबन्धन या सांसारिक झंझटों के चक्कर) से विमुक्त होकर संयम या मोक्ष रूप समाधि पथ पर विचरण करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—विविध समाधि प्राप्ति के लिए प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत पांच सूत्र गाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए विविध समाधियों की प्राप्ति के लिए कुछ प्रेरणा सूत्र प्रस्तुत किये हैं, जिनके अनुसार चलना भाव समाधिकामियों के लिए अनिवार्य है। इस पंचसूत्री में मुख्यतया आचार

समाधि एवं तप:समाधि की प्राप्ति के लिए प्रेरणा सूत्र हैं। समाधि प्राप्ति के ये प्रेरणा सूत्र इस प्रकार है—**मूल-गुण रूप आचार समाधि प्राप्ति के लिए**—(१) समाधि धर्म की रक्षा के लिए हिंसादि पापों का सर्वथा त्याग करे, (२) समाधि-मर्मज्ञ साधु हिंसादि पापकर्मों से निवृत्त हो जाए, क्योंकि हिंसा से उत्पन्न पापकर्म नरकादि दुःखों के उत्पादक, वैरानुबन्धी और महाभयजनक है। (३) आप्तगामी साधु मन-वचन-काया से कृत-कारित- अनुमोदित रूप से असत्य आदि पापों का आचरण न करे।

उत्तरगुण रूप आचार समाधि के लिए—(१) निर्दोष आहार प्राप्त होने पर भी मनोज्ञ के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे, (२) उस आहार में भी न तो मूर्च्छित हो, न ही उसे बार-बार पाने की लालसा रखे, (३) धृतिमान हो, (४) पदार्थों के ममत्व या संग्रह से मुक्त हो, (५) पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे, (६) सहजभाव से शुद्ध संयम-पालन में समुद्यत रहे।

तप समाधि प्राप्ति के लिए—(१) दीक्षा ग्रहण करके साधु अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर रहे (असंयमी जीवन जीने की आकांक्षा न रखे, (२) शरीर को संस्कारित एवं पुष्ट न करता हुआ काय व्युत्सर्ग करे, (३) तपश्चर्यादि के फल की आकांक्षा (निदान) को मन से निकाल दे, (४) न जीने की इच्छा करे, न ही मरने की, (५) संसार चक्र (कर्मबन्ध) के कारणों से या माया से विमुक्त रहकर संयम में पराक्रम करे।[5]

पाठान्तर और व्याख्या— वेराणुबंधीणि महब्भयाणि' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'णेव्वाणभूते व परिव्वएज्जा'**, व्याख्या इस प्रकार है—"जैसे युद्ध आदि से निर्वृत—लौटा हुआ पुरुष व्यापार-रहित होने से किसी की हिंसा करने में प्रवृत्त नहीं होता, वैसे ही सावद्य कार्य से रहित पुरुष भी किसी की हिंसा न करता हुआ संयम में पुरुषार्थ करे।"[6]

॥ समाधि : दशम अध्ययन समाप्त ॥

---

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १९३ से १९५ तक का सारांश

६ (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १९४

मार्ग—एकादश अध्ययन

प्राथमिक

☐ प्रस्तुत सूत्रकृतांग (प्र० श्रु०) के ग्यारहवें अध्ययन का नाम 'मार्ग' है।

☐ निर्युक्तिकार ने 'मार्ग' के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से छह निक्षेप किये हैं। नाम-स्थापना मार्ग सुगम है। द्रव्यमार्ग विभिन्न प्रकार के होते हैं. जैसे—फलकमार्ग, लतामार्ग, आन्दोलकमार्ग, वेत्रमार्ग, रज्जुमार्ग, दवन (वाहन) मार्ग, कीलमार्ग (ठुकी हुई कील के संकेत से पार किया जाने वाला) पाशमार्ग, बिल (गुफा) मार्ग, अजादिमार्ग, पक्षिमार्ग, छत्रमार्ग, जलमार्ग, आकाशमार्ग आदि। इसी तरह क्षेत्रमार्ग (जो मार्ग ग्राम, नगर, खेत, आदि जिस क्षेत्र में जाता है, वह) तथा कालमार्ग (जिस काल में मार्ग बना, वह) है, भावमार्ग वह है, जिससे आत्मा को समाधि या शान्ति प्राप्त हो।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में 'भावमार्ग' का निरूपण है। वह दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रशस्त भावमार्ग है। संक्षेप में इसे संयममार्ग या श्रमणाचारमार्ग कहा जा सकता है। अप्रशस्त भावमार्ग मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान आदि पूर्वक की जाने वाली प्रवृत्ति है।[1] प्रशस्त भावमार्ग को ही तीर्थंकर-गणधरादि द्वारा प्रतिपादित तथा यथार्थ वस्तुस्वरूपप्रतिपादक होने से सम्यग्मार्ग या सत्यमार्ग कहा गया है। इसके विपरीत अन्यतीर्थिकों या कुमार्गग्रस्त पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील आदि स्वयूथिकों द्वारा सेवित मार्ग अप्रशस्त है, मिथ्यामार्ग है। प्रशस्त मार्ग तप, संयम आदि प्रधान समस्त प्राणिवर्ग के लिए हितकर, सर्वप्राणिरक्षक, नवतत्त्वस्वरूपप्रतिपादक, एवं अष्टादश सहस्रशीलगुणपालक साधुत्व के आचार-विचार से ओत-प्रोत है।

☐ निर्युक्तिकार ने इसी सत्य (मोक्ष) मार्ग के १३ पर्यायवाचक शब्द बताए हैं—(१) पंथ, (२) मार्ग (आत्मपरिमार्जक), (३) न्याय (विशिष्ट स्थानप्रापक), (४) विधि (सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान का युगपत् प्राप्ति-कारक), (५) धृति (सम्यग्दर्शनादि से युक्त चारित्र में स्थिर रखने वाला, (६) सुगति (सुगतिदायक), (७) हित (आत्मशुद्धि के लिए हितकर), (८) सुख (आत्मसुख का कारण), (९) पथ्य (मोक्षमार्ग के लिए अनुकूल, (१०) श्रेय (११वें गुणस्थान के चरम समय में मोहादि उप-

---

१ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १०७ से ११० तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १९६

शान्त होने से श्रेयस्कर), (११) निवृत्ति (संसार से निवृत्ति का कारण), (१२) निर्वाण (चार घातिकर्मक्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होने से), और (१३) शिव (शैलेशी अवस्था प्राप्तिरूप १४वें गुणस्थान के अन्त में मोक्षपदप्रापक)।[२]

☐ निर्युक्तिकार ने भावमार्ग की मार्ग के साथ तुलना करते हुए ४ भंग (विकल्प) बताए है। क्षेम, अक्षेम, क्षेमरूप और अक्षेमरूप। जिस मार्ग में चोर, सिंह, व्याघ्र आदि का उपद्रव न हो, वह क्षेम तथा जो मार्ग काँटे, कंकड़, गड्ढे, पहाड़, ऊबड़खाबड़ पगडंडी आदि से रहित, सम तथा, वृक्ष फल, फूल, जलाशय आदि से युक्त हो वह क्षेमरूप होता है। इससे विपरीत क्रमशः अक्षेम और अक्षेमरूप होता है।[3] इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार है—१. कोई मार्ग क्षेम और क्षेमरूप, ३. कोई मार्ग क्षेम है, क्षेमरूप नहीं, ३. कोई मार्ग क्षेम नहीं, किन्तु क्षेमरूप है, और ४. कोई मार्ग न तो क्षेम होता है, न क्षेमरूप होता है। इसी प्रकार प्रशस्त-अप्रशस्त भावमार्ग पर चलने वाले पथिक की दृष्टि से भी क्षेम, क्षेमरूप आदि ४ विकल्प (भंग) होते हैं—(१) जो संयमपथिक सम्यग्ज्ञानादि मार्ग से युक्त (क्षेम) तथा द्रव्यलिंग (साधुवेष) से भी युक्त (क्षेमरूप) है, (२) जो ज्ञानादि मार्ग से तो युक्त (क्षेम) हैं, किन्तु द्रव्यलिंगयुक्त (क्षेमरूप) नहीं, (३) तृतीय भंग में निह्नव है, जो अक्षेम किन्तु क्षेमरूप और (४) चतुर्थ भंग में अन्यतीर्थिक एवं गृहस्थ हैं, जो अक्षेम और अक्षेमरूप हैं।[3] साधु को क्षेम और क्षेमरूप मार्ग का ही अनुयायी होना चाहिए।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में आहारशुद्धि, सदाचार, संयम, प्राणातिपात-विरमण आदि का प्रशस्त भावमार्ग के रूप में विवेचन है तथा दुर्गतिदायक अप्रशस्तमार्ग के प्ररूपक प्रावादकों (क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी एवं अज्ञानवादी कुल ३६३) से बचकर रहने तथा प्राणप्रण से मोक्षमार्ग पर दृढ़ रहने का निर्देश है। दानादि कुछ प्रवृत्तियों के विषय में प्रत्यक्ष पूछे जाने पर श्रमण को न तो उनका समर्थन (प्रशंसा) करना चाहिए और न ही निषेध। दसवें अध्ययन में निरूपित भावसमाधि का वर्णन इस अध्ययन में वर्णित भावमार्ग से मिलता-जुलता है।[४]

☐ दुर्गति-फलदायक अप्रशस्त भावमार्ग से बचाना और सुगति फलदायक प्रशस्त भावमार्ग की ओर साधक को मोड़ना इस अध्ययन का उद्देश्य है।[५]

☐ उद्देशकरहित इस अध्ययन की गाथा संख्या ३८ है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा संख्या ४९७ से प्रारम्भ होकर सू० गा० ५३४ पर पूर्ण होता है।

---

२ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ११२ से ११५ तक (ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १९७

३ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० १११ (ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १९६

४ (क) सूयगडंगसुत्तं (मूलपाठ टिपण) पृ० ९० से ९५ तक का सारांश
(ख) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा० १ पृ० १५१

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १९६

मग्गो : एगारसमं अज्झयणं

मार्ग—ग्यारहवाँ अध्ययन

मार्गसम्बन्धी जिज्ञासा, महत्त्व और समाधान—

४९७. कयरे मग्गे अक्खाते, माहणेण मतीमता ।
जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं ॥ १ ॥

४९८. तं मग्गं अणुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू, तं णे बूहि महामुणी ॥ २ ॥

४९९. जइ णे केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कतरं मग्गं, आइक्खेज्ज कहाहि णे ॥ ३ ॥

५००. जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिमं पडिसाहेज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥ ४ ॥

५०१. अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेदितं ।
जमादाय इओ पुव्वं, समुद्दं व ववहारिणो ॥ ५ ॥

५०२. अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागता ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥ ६ ॥

४९७. अहिंसा के परम उपदेष्टा (महामाहन) केवलज्ञानी (विशुद्ध मतिमान्) भगवान् महावीर ने कौन-सा मोक्षमार्ग बताया है? जिस सरल मार्ग को पाकर दुस्तर संसार (ओघ) को मनुष्य पार करता है?

४९८. हे महामुने ! सब दुःखों से मुक्त करने वाले शुद्ध और अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) उस मार्ग को आप जैसे जानते हैं, (कृपया) वह हमें बताइए।

४९९. यदि कोई देव अथवा मनुष्य हमसे पूछे तो हम उनको कौन-सा मार्ग बताएँ? (कृपया) यह हमें बताइए।

५००. यदि कोई देव या मनुष्य तुमसे पूछे तो उन्हें यह (आगे कहा जाने वाला) मार्ग बतलाना चाहिए। वह साररूप मार्ग तुम मुझसे सुनो।

५०१-५०२. काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उस अतिकठिन मार्ग को मैं क्रमशः बताता हूँ। जैसे समुद्र मार्ग से विदेश में व्यापार करने वाले व्यापारी समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही इस मार्ग का आश्रय लेकर इससे पूर्व बहुत-से जीवों ने संसार-सागर को पार किया है, वर्तमान में कई भव्यजीव पार करते हैं, एवं भविष्य में भी बहुत-से जीव इसे पार करेंगे। उस भावमार्ग को मैंने तीर्थंकर महावीर से सुनकर (जैसा समझा है) उस रूप में मैं आप (जिज्ञासुओं) को कहूँगा। हे जिज्ञासु-जीवो! उस मार्ग (सम्बन्धी वर्णन) को आप मुझसे सुनें।

विवेचन—**मार्ग सम्बन्धी जिज्ञासा, महत्त्व और समाधान की तत्परता**—प्रस्तुत छह सूत्रगाथाओं में से तीन सूत्रगाथाओं में श्री जम्बूस्वामी आदि द्वारा गणधर श्री सुधर्मास्वामी से संसार-सागरतारक, सर्व-दुःख-विमोचक, अनुत्तर, शुद्ध, सरल तीर्थंकर-महावीरोक्त भावमार्ग से सम्बन्धित प्रश्न पूछा गया है, साथ ही यह भी बताने का अनुरोध किया गया है, कोई सुलभबोधि संसारोद्विग्न देव या मानव उस सम्यग्मार्ग के विषय में हमसे पूछें तो हम क्या उत्तर दें? इसके बाद की तीन सूत्रगाथाओं में उक्त मार्ग का माहात्म्य बताकर उस सारभूत मार्ग के सम्बन्ध में जिज्ञासा का समाधान करने की तैयारी श्री सुधर्मा-स्वामी ने बताई है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—'पडिसाहिज्जा'=प्रत्युत्तर देना चाहिए। 'मग्गसारं'=मार्ग का परमार्थ।[1]

अहिंसामार्ग—

५०३. पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण रुक्ख सबीयगा॥ ७॥

५०४. अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
इत्ताव ताव जीवकाए, नावरे विज्जती काए॥ ८॥

५०५. सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अकंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया॥ ९॥

५०६. एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया॥ १०॥

५०७. उड्ढं अहे तिरियं च, जे केइ तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं॥ ११॥

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १९८-१९९ पर से।

५०८. पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।। १२ ।।

५०३. पृथ्वी जीव है, पृथ्वी के आश्रित भी पृथक्-पृथक् जीव हैं, जल एवं अग्नि भी जीव है, वायुकाय के जीव भी पृथक्-पृथक् हैं तथा हरित तृण, वृक्ष और बीज (के रूप में वनस्पतियाँ) भी जीव हैं।

५०४. इन (पूर्वोक्त पाँच स्थावर जीव निकाय) के अतिरिक्त (छठे) त्रसकाय वाले जीव होते हैं। इस प्रकार तीर्थंकरों ने जीव के छह निकाय (भेद) बताए हैं। इतने ही (संसारी) जीव के भेद हैं। इसके अतिरिक्त संसार में और कोई जीव (का मुख्य प्रकार) नहीं होता।

५०५. बुद्धिमान पुरुष सभी अनुकूल (संगत) युक्तियों से (इन जीवों में जीवत्व) सिद्ध करके भलीभाँति जाने-देखे कि सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है (सभी सुखलिप्सु हैं), अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

५०६. ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का यही सार—निष्कर्ष है कि वह किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता। अहिंसा प्रधान शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त या उपदेश जानना चाहिए।

५०७. ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक में) जो कोई त्रस और स्थावर जीव हैं, सर्वत्र उन सबकी हिंसा से विरति (निवृत्ति) करना चाहिए। (इस प्रकार) जीव को शान्तिमय निर्वाण-मोक्ष (की प्राप्ति कही गई) है।

५०८. इन्द्रियविजेता साधक दोषों का निवारण करके किसी भी प्राणी के साथ जीवनपर्यन्त मन से, वचन से या काया से वैर विरोध न करे।

विवेचन—अहिंसा का मार्ग—इन छहः सूत्रगाथाओं में मोक्षमार्ग के सर्वप्रथम सोपान—अहिंसा के विधिमार्ग का निम्नोक्त सात पहलुओं से प्रतिपादन किया गया है—(१) त्रस-स्थावररूप षट्काय में जीव (चेतना) का अस्तित्व है, (२) किसी भी जीव को दुःख प्रिय नहीं है, (३) हिंसा से जीव को दुःख होता है, अतः किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। (४) ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का सार अहिंसा है। (५) अहिंसाशास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्तसर्वस्व है कि लोक में जो कोई त्रस या स्थावर जीव हैं, साधक उनकी हिंसा से सदा सर्वत्र विरत हो जाए। (६) अहिंसा ही शान्तिमय निर्वाण की कुंजी है, (७) अतः मोक्ष-मार्गपालनसमर्थ व्यक्ति को अहिंसा के सन्दर्भ में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, एवं योगरूप दोषों को दूरकर किसी भी प्राणी के साथ मन-वचन-काया से जीवन भर वैर-विरोध नहीं करना चाहिए।[2]

एषणासमिति मार्ग-विवेक—

५०९. संवुडे से महापण्णे, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ।। १३ ।।

२ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०० का सारांश

५१०. भूयाइं समारंभ, समुद्दिस्स य जं कडं ।
तारिसं तु ण गेण्हेज्जा, अन्नं पाणं सुसंजते ।। १४ ।।

५११. पूतिकम्मं ण सेवेज्जा, एस धम्मे वुसीमतो ।
जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं ण कप्पते ।। १५ ।।

५०९. वह साधु महान् प्राज्ञ, अत्यन्त धीर और अत्यन्त संवृत (आश्रवद्वारों का या इन्द्रिय-विषयों का निरोध किया हुआ) है, जो दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहारादि पदार्थ ग्रहण करता है, तथा जो अनेषणीय आहारादि को वर्जित करता हुआ सदा (गवेषणा, ग्रहणैषणा एवं ग्रासैषणारूप त्रिविध) एषणाओं से सम्यक् प्रकार से युक्त रहता है।

५१०. जो आहार-पानी प्राणियों (भूतों) का समारम्भ (उपमर्दन) करके साधुओं को देने के उद्देश्य से बनाया गया है, वैसे (दोषयुक्त) आहार और पानी को सुसंयमी साधु ग्रहण न करे।

५११. पूतिकर्मयुक्त (शुद्ध आहार में आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार के एक कण से भी मिश्रित) आहार का सेवन साधु न करे। तथा शुद्ध आहार में भी यदि अशुद्धि की शंका हो जाए तो वह आहार भी साधु के लिए सर्वथा ग्रहण करने योग्य (कल्पनीय) नहीं है। शुद्ध संयमी साधु का यही धर्म है।

विवेचन—एषणासमिति-मार्ग-विवेक—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में विशुद्ध आहारादि ग्रहण करने का मार्ग बताया गया है।

एषणासमिति से शुद्ध आहार क्यों और कैसे ?—साधु की आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती है, थोड़ा-सा आहार-पानी और कुछ वस्त्र-पात्रादि उपकरण। भगवान महावीर कहते हैं कि इस थोड़ी-सी आवश्यकता की पूर्ति वह अपने अहिंसादि महाव्रतों को सुरक्षित रखते हुए एषणासमिति का पालन करते हुए, निर्दोष भिक्षावृत्ति से करे। यदि एषणासमिति की उपेक्षा करके प्राणि-समारम्भ करके साधु के उद्देश्य से निर्मित या अन्य आधाकर्म आदि त्रिविध एषणा दोषों से युक्त, अकल्पनीय-अनेषणीय आहार-पानी साधु ग्रहण करेगा तो उसका अहिंसाव्रत दूषित हो जाएगा, बारबार गृहस्थ वर्ग भक्तिवश वैसा आहार-पानी देने लगेगा, इससे आरम्भजनित हिंसा का दोष लगेगा, गलत परम्परा भी पड़ेगी। यदि छल-प्रपंच करके आहारादि पदार्थ प्राप्त करेगा तो सत्यव्रत को क्षति पहुंचेगी, यदि किसी से जबर्दस्ती या दवाव से छीनकर या बिना दिये ही कोई आहारादि पदार्थ ले लिया तो अचौर्य-महाव्रत भंग हो जाएगा, और स्वाद-लोलुपतावश लालसापूर्वक अतिमात्रा में आहारपानी संग्रह कर लिया तो ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह महाव्रत को भी क्षति पहुंचेगी। इसीलिए शास्त्रकार एषणासमिति से शुद्ध आहार ग्रहण करने पर जोर देते हैं।[3]

छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा गया है—"आहार शुद्ध होने पर अन्तःकरण (मन, बुद्धि, हृदय) शुद्ध होंगे, अन्तःकरण शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल और प्रखर रहेगी, आत्मस्मृति की स्थिरता उपलब्ध

३ सूत्रकृतांग शीलांक पत्रांक २०१ का सारांश

हो जाने पर समस्त ग्रन्थियों से मुक्ति (छुटकारा) हो जाती है।"[4] इसका फलितार्थ यह हैं कि जब साधु एषणादि दोषयुक्त दुष्पाच्य, गरिष्ठ अशुद्ध आहार ग्रहण एवं सेवन करेगा, तब उसकी बुद्धि एवं आत्म-स्मृति कुण्ठित, सुस्त हो जाएगी, सात्त्विक विचार करने की स्फूर्ति नहीं रहेगी। फलतः अनेक अन्य दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने शुद्ध आहार में एक कण भी अशुद्ध आहार का मिला हो, या अशुद्ध आहार की शंका हो तो उसे ग्रहण या सेवन करने का निषेध किया है, क्योंकि अशुद्ध आहार सयम-विघातक, कर्मग्रन्थियों के भेदन में रुकावट डालने वाला एवं मोक्षमार्ग में विघ्नकारक हो जाता है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने एषणासमिति को मार्ग बताकर उसे साधुधर्म बताया है।[5]

भाषा समिति मार्ग-विवेक—

५१२. ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु णगरेसु वा।
अत्थि वा णत्थि वा धम्मो ? अत्थि धम्मो त्ति णो वदे ॥ १६ ॥

५१३. अत्थि वा णत्थि वा पुण्णं ?, अत्थि पुण्णं ति णो वदे।
अहवा णत्थि पुण्णं ति, एवमेयं महब्भयं ॥ १७ ॥

५१४. दाणट्ठयाए जे पाणा, हम्मंति तस-थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥ १८ ॥

५१५. जेसिं तं उवकप्पेंति, अण्ण-पाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायं ति, तम्हा णत्थि त्ति णो वदे ॥ १६ ॥

५१६. जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करेंति ते ॥ २० ॥

५१७. दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चाणं, णिव्वाणं पाउणंति ते ॥ २१ ॥

५१२-५१३. ग्रामों या नगरों में धर्म श्रद्धालु श्रावकों के स्वामित्व के स्थान साधुओं को ठहरने के लिए प्राप्त होते हैं। वहां कोई धर्मश्रद्धालु हिंसामय कार्य करे तो आत्मगुप्त (अपने को पापप्रवृत्ति से बचाने वाला) जितेन्द्रिय साधु उस हिंसा का अनुमोदन न करे।

---

४ "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः; स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।"
—छान्दोग्योपनिषद् खण्ड १६ अ० ७ सू० २

५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०१
(ख) 'एस धम्मे वुसीमतो'—सूत्र कृ० मू० पा० टिप्पण पृ० ६२

यदि कोई साधु से पूछे कि इस (पूर्वोक्त प्रकार के आरम्भजन्य) कार्य में पुण्य है या नहीं ? तब साधु पुण्य है, यह न कहे अथवा पुण्य नहीं होता, यह कहना भी महाभयकारक है।

५१४-५१५. अन्न या पानी आदि के दान के लिए जो त्रस और स्थावर अनेक प्राणी मारे जाते हैं, उनकी रक्षा करने के हेतु से साधु उक्त कार्य में पुण्य होता है, यह न कहे। किन्तु जिन जीवों को दान देने के लिये तथाविध (आरम्भपूर्वक) अन्नपान बनाया जाता है, उनको (उन वस्तुओं के) लाभ होने में अन्तराय होगा, इस दृष्टि से साधु उस कार्य में पुण्य नहीं होता ऐसा भी न कहे।

५१६. जो दान (सचित्त पदार्थों के आरम्भ से जनित वस्तुओं के दान) की (आरम्भक्रिया करते समय) प्रशंसा करते हैं, वे (प्रकारान्तर से) प्राणियों के वध की इच्छा (अनुमोदना) करते हैं, जो दान का निषेध करते हैं, वे वृत्ति-छेदन (प्राणियों की जीविका का नाश) करते हैं।

५१७. अतः (हिंसा रूप आरम्भ से जन्य वस्तुओं के) दान में 'पुण्य होता है' या 'पुण्य नहीं होता', ये दोनों बातें साधु नहीं कहते। ऐसे (विषय में मौन या तटस्थ रहकर या निरवद्य भाषण के द्वारा) कर्मों की आय (आश्रव) को त्यागकर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

विवेचन—**भाषा-समिति-मार्ग-विवेक**—प्रस्तुत सूत्र गाथाओं में अहिंसा महाव्रती साधु को अहिंसा व्रत की सुरक्षा के लिए भाषा-समिति का विवेक बताया गया है।

भाषा विवेक सम्बन्धी गाथाओं का हार्द—साधु पूर्ण अहिंसाव्रती है, वह मन-वचन-काया से न स्वयं हिंसा कर या करा सकता है, न ही हिंसा का अनुमोदन कर सकता है। और यह भी स्वाभाविक है कि धर्म का उत्कृष्ट पालक एवं मार्गदर्शक होने के नाते ग्रामों या नगरों में धर्म श्रद्धालु लोगों द्वारा बनवाए हुए धर्मशाला, पथिकशाला, जलशाला, अन्नशाला आदि किसी स्थान में वे लोग साधु को ठहराएँ। वहाँ कोई व्यक्ति दान-धर्मार्थ किसी चीज को आरम्भपूर्वक तैयार करना चाहे या कर रहे हो, उस सम्बन्ध में साधु से पूछें कि हमारे इस कार्य में पुण्य है या नहीं ?

साधु के समक्ष इस प्रकार का धर्म संकट उपस्थित होने पर वह क्या उत्तर दे ? शास्त्रकार ने इस सम्बन्ध में भाषा समिति से अनुप्राणित धर्म मार्ग का विवेक बताया है, कि साधु यह देखे कि उस दानार्थ तैयार की जाने वाली वस्तु में त्रस-स्थावर प्राणियों की हिंसा अनिवार्य है, या हिंसा हुई है, ऐसी स्थिति में यदि वह उस कार्य को पुण्य है, ऐसा कहता है या उसकी प्रशंसा करता है तो उन प्राणियों की हिंसा के अनुमोदन का दोष उसे लगता है, इसलिए उक्त आरम्भजनित कार्य में 'पुण्य है', ऐसा न कहे। साथ ही वह ऐसा भी न कहे कि 'पुण्य नहीं होता है', क्योंकि श्रद्धालु व्यक्ति साधु के मुँह से 'पुण्य नहीं होता है', ऐसे उद्गार सुनकर उनको उक्त वस्तुओं का दान देने से रुक जाएगा। फलतः जिन लोगों को उन वस्तुओं का लाभ मिलना था, वह नहीं मिल पाएगा, उनके जीविका में बहुत बड़ा अन्तराय आ जाएगा। सम्भव है, वे लोग उन वस्तुओं के न मिलने से भूखे-प्यासे मर जाएँ। इसीलिए शास्त्रकार स्पष्ट मार्ग-दर्शन देते हैं—**दुहओ वि तेण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।'** अर्थात्—साधु ऐसे समय में पुण्य होता है, या नहीं होता, इस प्रकार दोनों तरफ की बात न कहे, तटस्थ रहे। इस कारण भी शास्त्रकार ५१६ वीं सूत्रगाथा में स्पष्ट कर देते हैं। साधु के द्वारा आरम्भजनित उक्त दान की प्रशंसा करना या पुण्य कहना आरम्भक्रियाजनित प्राणिवध को अपने पर ओढ़ लेना है, अथवा अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले उक्त

दान करने से लाभ मिलने वाले प्राणियों का वृत्तिच्छेद—आजीविका-भंग है। वृत्तिच्छेद करना भी एक प्रकार की हिंसा है।

प्रश्न होता है—एक ओर शास्त्रकार उन दानादि शुभकार्यों की प्रशंसा करने या उनमें पुण्य वताने का निषेध करते हैं, दूसरी ओर वे उन्हीं शुभकार्यों का निषेध करने या पुण्य न वताने का भी निषेध करते हैं; ऐसा क्यों ? क्या इस सम्वन्ध में साधु को 'हाँ' या 'ना' कुछ भी नहीं कहना चाहिए ?

वृत्तिकार इस विषय में स्पष्टीकरण करते हैं कि इस सम्वन्ध में किसी के पूछने पर मौन धारण कर लेना चाहिए, यदि कोई अधिक आग्रह करे तो साधु को कहना चाहिए कि हम लोगों के लिए ४२ दोष वर्जित आहार लेना कल्पनीय है, अतः ऐसे विषय में कुछ कहने का मुमुक्षु साधुओं का अधिकार नहीं है।

किन्तु शास्त्रकार ने सूत्रगाथा ५१७ के उत्तरार्द्ध में स्वयं एक विवेक सूत्र प्रस्तुत किया है—'**आयं रयस्स हेच्चा····पाउणंति।**'' इसका रहस्यार्थ यह है कि जिस शुभकार्य में हिंसा होती हो या होने वाली हो, उसकी प्रशंसा करने या उसे पुण्य कहने से हिंसा का अनुमोदन होता है, तथा हिंसाजनित होते हुए भी जिस शुभकार्य का लाभ दूसरों को मिलता हो, उसका निषेध करने या उसमें पाप वताने से वृत्तिच्छेद रूप लाभान्तराय कर्म का वन्ध होता है। इस प्रकार दोनों ओर से होने वाले कर्मबन्धन को मौन से या निरवद्य भाषण से टालना चाहिए।[६]

इससे यह फलितार्थ निकलता है कि जिस दानादि शुभकार्य के पीछे कोई हिंसा नहीं होने वाली है, अथवा नहीं हो रही है, एसी अचित्त प्रासुक आरम्भरहित वस्तु का कोई दान करना चाहे अथवा कर रहा हो, और साधु से उक्त सम्वन्ध में कोई पूछे तो उसमें उसके शुभपरिणामों (भावों) की दृष्टि से साधु 'पुण्य' कह सकता है और अनुकम्पा वुद्धि से दिये जाने वाले दान का निषेध तो उसे कदापि नहीं करना है, क्योंकि शास्त्र में अनुकम्पा दान का निषेध नहीं हैं। भगवती सूत्र की टीका में भी स्पष्ट कहा है कि ''जिनेश्वरों ने अनुकम्पा दान का तो कदापि निषेध नहीं किया है।'' ऐसे निरवद्य भाषण द्वारा साधु कर्मागमन को भी रोक सकता है और उचित मार्ग-दर्शन भी कर सकता है। यही भाषा-विवेक सम्वन्धी इन गाथाओं का रहस्य है।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—''**अत्थि वा णत्थि वा धम्मो अत्थि धम्मो त्ति णो वदे**' के स्थान पर वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—''**हणंत णाणुजाणेज्जा आयगुत्ते जिइंदिए**'' इसकी व्याख्या वृत्तिकार करते हैं—कोई धर्मश्रद्धालु धर्मवुद्धि से कुआ खुदाने, जलशाला या अन्नसत्र वनाने की परोपकारिणी, किन्तु प्राणियों की उपमर्दन-

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०१ से २०३ तक का सारांश

(ख) ''·········पृष्टैः सद्भिर्मौनं समाश्रयणीयम् निर्वन्धे त्वस्माकं द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जित आहारः कल्पते, एवंविधे विपये मुमुक्षुणामधिकार एव नास्तीति ।।'' —सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक २०२

(ग) ''·····तमायं रजसो मौनेनाऽनवद्यभाषणेन वा हित्वा-त्यक्त्वा ते अनवद्यभाषिणो निर्वाणं····प्राप्नुवन्ति।'' —सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक २०३

७ (क) सद्धर्ममण्डनम् (द्वितीय संस्करण) पृ० ९३ से ९८ तक का निष्कर्ष

(ख) 'अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं' —भगवती सूत्र श० ८ उ० ६, सू० ३३१ की टीका

कारिणी क्रियाएं करने के सम्बन्ध में साधु से पूछे कि इस कार्य में धर्म है या नहीं ? अथवा न पूछे तो भी उसके लिहाज या भय से आत्म-गुप्त (आत्मा की पाप से रक्षा करने वाला) जितेन्द्रिय साधु उस व्यक्ति के प्राणिहिंसा युक्त (सावद्य) कार्य का अनुमोदन न करे, न ही उस कार्य में अनुमति दे। 'अत्थि वा णत्थि वा पुण्णं ?' के बदले पाठान्तर है— तहा गिरं समारब्भ। इन दोनों का भावार्थ समान है।[८]

निर्वाणमार्ग : माहात्म्य एवं उपदेष्टा—

५१८. **णेव्वाणपरमा बुद्धा, णक्खत्ताणं व चंदिमा।**
तम्हा सया जते दंते, निव्वाणं संधते मुणी ॥ २२ ॥

धर्म द्वीप—

५१९. **वुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण सकम्मुणा।**
आघाति साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चती ॥ २३ ॥

५२०. **आयगुत्ते सया दंते, छिण्णसोए अणासवे।**
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणेलिसं ॥ २४ ॥

५१८. जैसे (अश्विनी आदि २७) नक्षत्रों में चन्द्रमा (सौन्दर्य, सौम्यता परिमाण एवं प्रकाश रूप गुणों के कारण) प्रधान है, वैसे ही निर्वाण को ही प्रधान (परम) मानने वाले (परलोकार्थी) तत्त्वज्ञ साधकों के लिए (स्वर्ग, चक्रवर्तित्व, धन आदि को छोड़कर) निर्वाण ही सर्वश्रेष्ठ (परम पद) है। इसलिए मुनि सदा दान्त (मन और इन्द्रियों का विजेता) और यत्नशील (यतनाचारी) होकर निर्वाण के साथ ही सन्धान करे, (मोक्ष को लक्ष्यगत रखकर ही सभी प्रवृत्ति करे)।

५१९. (मिथ्यात्व, कषाय एवं प्रमाद आदि संसार-सागर के स्रोतों के प्रवाह (तीव्रधारा) में बहाकर ले जाते हुए तथा अपने (कृत) कर्मों (के उदय) से दुःख पाते हुए प्राणियों के लिए तीर्थंकर उसे (निर्वाणमार्ग को) उत्तम (विश्रामभूत एवं आश्वासनदायक) द्वीप परहितरत बताते हैं। (तत्त्वज्ञ पुरुष) कहते हैं कि यही (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्वाण मार्ग ही) मोक्ष का प्रतिष्ठान (संसार भ्रमण से विश्रान्ति रूप स्थान, या मोक्षप्राप्ति का आधार) है।

५२०. मन-वचन-काया द्वारा आत्मा की पाप से रक्षा करने वाला (आत्मगुप्त), सदा दान्त, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि संसार के स्रोतों का अवरोधक (छेदक), एवं आश्रवरहित जो साधक है, वही इस परिपूर्ण, अनुपम एवं शुद्ध (निर्वाण मार्गरूप) धर्म का उपदेश करता है।

विवेचन—**निर्वाणमार्ग : माहात्म्य एवं उपदेष्टा**—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रयी द्वारा शास्त्रकार ने निर्वाण-मार्ग के सम्बन्ध में चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—(१) तत्त्वज्ञ साधक नक्षत्रों में चन्द्रमा की तरह सभी

---

८ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा०-टिप्पण) पृ० ९२

स्थानों या पदों में निर्वाणपथ को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, (२) मुनि को सदैव दान्त एवं यत्नशील रहकर निर्वाण को केन्द्र में रखकर सभी प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए, (३) निर्वाण-मार्ग ही मिथ्यात्व कषायादि संसारस्रोतों के तीव्र प्रवाह में बहते एवं स्वकृतकर्म से कष्ट पाते हुए प्राणियों के लिए आश्वासन-आश्रयदायक श्रेष्ठ द्वीप है; यही मोक्षप्राप्ति का आधार है। (४) आत्मगुप्त, दान्त, छिन्नस्रोत और आस्रवनिरोधक साधक ही इस परिपूर्ण अद्वितीय निर्वाणमार्गरूप शुद्ध धर्म का व्याख्यान करता है।

पाठान्तर—'णेव्वाणपरमा' के बदले वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—'निव्वाणं परमं'—व्याख्या समान है।[६]

अन्यतीर्थिक समाधि रूप शुद्ध भावमार्ग से दूर—

५२१. तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो।
बुद्धा मो त्ति य मण्णंता, अंतए ते समाहिए ॥ २५ ॥

५२२. ते य बीओदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कडं।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेतण्णा असमाहिता ॥ २६ ॥

५२३. जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥ २७ ॥

५२४. एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥ २८ ॥

५२५. सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती।
उम्मग्गगता दुक्खं, घंतमेसंति ते तधा ॥ २९ ॥

५२६. जहा आसाविणिं नावं, जातिअंधे दुरूहिया।
इच्छती पारमागंतुं, अंतरा य विसीयती ॥ ३० ॥

५२७. एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
सोयं कसिणमावण्णा, आगंतारो महब्भयं ॥ ३१ ॥

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ९१

५२१. उसी (प्रतिपूर्ण अनुपम निर्वाणमार्गरूप धर्म) को नहीं जानते हुए अविवेकी (अबुद्ध) होकर भी स्वयं को पण्डित मानने वाले अन्यतीर्थिक हम ही धर्मतत्त्व का प्रतिबोध पाए हुए हैं, यों मानते हुए सम्यग्दर्शनादिरूप भाव समाधि से दूर हैं।

५२२. वे (अन्यतीर्थिक) बीज और सचित्त जल का तथा उनके उद्देश्य (निमित्त) से जो आहार बना है, उसका उपभोग करके (आर्त्त) ध्यान करते हैं, क्योंकि वे अखेदज्ञ (उन प्राणियों के खेद-पीड़ा से अनभिज्ञ या धर्मज्ञान में अनिपुण) और असमाधियुक्त हैं।

५२३-५२४. जैसे ढंक, कंक, कुरर, जलमुर्गा और शिखी नामक जलचर पक्षी मछली को पकड़कर निगल जाने का बुरा विचार (कुध्यान) करते हैं, उनका वह ध्यान पापरूप एवं अधम होता है।

इसी प्रकार कई तथाकथित मिथ्यादृष्टि एवं अनार्य श्रमण विषयों की प्राप्ति (अन्वेषणा) का ही ध्यान करते हैं, अतः वे भी ढंक, कंक आदि प्राणियों की तरह पाप भावों से युक्त एवं अधम हैं।

५२५. इस जगत् में कई दुर्बुद्धि व्यक्ति तो शुद्ध (निर्वाण रूप) भावमार्ग की विराधना करके उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। वे अपने लिए दुःख (अष्टविध कर्मरूप या असातावेदनीयोदय रूप दुःख) तथा अनेक बार घात (विनाश—मरण) चाहते हैं या ढूंढ़ते हैं।

५२६-५२७. जैसे कोई जमान्ध पुरुष छिद्र वाली नौका पर चढ़कर नदी पार जाना चाहता है, परन्तु वह बीच (मझधार) में ही डूब जाता है।

इसी तरह कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण कर्मों के आश्रव रूप पूर्ण भाव स्रोत में डूबे हुए होते हैं। उन्हें अन्त में नरकादि दुःख रूप महाभय पाना पड़ेगा।

विवेचन—समाधि रूप शुद्ध भाव (निर्वाण) मार्ग से दूर—प्रस्तुत सात सूत्र गाथाओं में अन्यतीर्थिकों को कतिपय कारण बताते हुए शुद्ध भाव (निर्वाण) मार्ग से दूर सिद्ध किया है। वे कारण ये हैं—(१) निर्वाण मार्ग के कारण हैं—सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र। परन्तु वे धर्म और मोक्ष के वास्तविक बोध से दूर हैं, फिर भी अपने आपको वे तत्त्वज्ञ मानते हैं, (२) अगर उन्हें जीव-अजीव का सम्यग्ज्ञान होता तो वे सचित्त बीज, कच्चे पानी या औद्देशिक दोष युक्त आहार का सेवन न करते, जिनमें कि जीवहिंसा होती है। इसलिए वे जीवों की पीड़ा से अनभिज्ञ अथवा धर्मज्ञान में अनिपुण हैं। (३) अपने संघ के लिए आहार बनवाने तथा उसे प्राप्त करने के लिए अहर्निश चिन्तित आर्तध्यान युक्त रहते हैं। जो लोग ऐहिक सुख की कामना करते हैं; धन, धान्य आदि परिग्रह रखते हैं, तथा मनोज्ञ आहार, शय्या, आसन आदि रागवर्द्धक वस्तुओं का उपभोग करते हैं, उनसे त्याग वर्द्धक शुभ ध्यान कैसे होगा?[10] अतः धर्मध्यान रूप समाधि मार्ग से वे दूर हैं। (४) जलचर मांसाहारी पक्षियों के दुर्ध्यान की तरह वे हिंसादि हेय बातों से

---

१० (क) सूत्रकतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०२-२०३

(ख) कहा भी है—ग्राम-क्षेत्र-गृहादीनां गवां प्रेष्यजनस्य च।
यस्मिन् परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुतः शुभम्॥

—सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक २०४ में उद्धृत

दूर न होने से अनार्य हैं। वे सम्यग्दर्शन रहित होने के कारण विषय प्राप्ति का ही दुर्ध्यान करते हैं, (५) सम्यग्दर्शनादि धर्म रूप जो निर्दोष मोक्ष मार्ग है, उससे भिन्न कुमार्ग की प्ररूपणा करने तथा सांसारिक राग के कारण बुद्धि कलुषित और मोह-दूषित होने से सन्मार्ग की विराधना करके कुमार्गाचरण करने के कारण वे शुद्ध भाव मार्ग से दूर हैं, (६) छिद्र वाली नौका में बैठा हुआ जन्मान्ध व्यक्ति नदी पार न होकर मंझधार में डूब जाता है, इसी प्रकार आश्रव रूपी छिद्रों से युक्त कुदर्शनादि युक्त कुधर्म नौका में बैठे होने के कारण वे भी ससार सागर के पार न होकर बीच में ही डूब जाते हैं।

भावमार्ग की साधना—

> **५२८. इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं।**
> **तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए॥ ३२॥**
>
> **५२९. विरते गामधम्मेहिं, जे केइ जगती जगा।**
> **तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए॥ ३३॥**
>
> **५३०. अतिमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिते।**
> **सव्वमेयं निराकिच्चा, निव्वाणं संधए मुणी॥ ३४॥**
>
> **५३१. संधते साहुधम्मं च, पावं धम्मं णिराकरे।**
> **उवधाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए॥ ३५॥**
>
> **५३२. जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागता।**
> **संति तेसिं पतिट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा॥ ३६॥**
>
> **५३३. अह णं वतमावण्णं, फासा उच्चावया फुसे।**
> **ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वातेणेव महागिरी॥३७॥**
>
> **५३४. संवुडे से महापण्णे, धीरे दत्तेसणं चरे।**
> **निव्वुडे कालमाकंखी, एवं केवलिणो मयं॥३८॥ ति बेमि।**

॥ मग्गो : एगारसमं अज्झयणं सम्मत्तं॥

५२८. काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस (दुर्गति निवारक मोक्षप्रापक सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप) धर्म को ग्रहण (स्वीकार) करके शुद्ध मार्ग साधक साधु महाघोर (जन्म-मरणादि दीर्घ-कालिक दुःखपूर्ण) संसार सागर को पार करे तथा आत्मरक्षा के लिए संयम में पराक्रम करे।

५२९. साधु ग्राम धर्मों (शब्दादि विषयों) से निवृत्त (विरत) होकर जगत् में जो कोई (जीवितार्थी) ...न सुखप्रिय प्राणियों को आत्मवत् समझ कर उन्हें दुःख न पहुँचाए, उनकी रक्षा के लिए ...ता हुआ संयम-पालन में प्रगति करे।

५३०. पण्डित मुनि अति-(चारित्र विघातक) मान और माया (तथा अति लोभ और क्रोध) को (संसारवृद्धि का कारण) जानकर इस समस्त कषाय समूह का निवारण करके निर्वाण (मोक्ष) के साथ आत्मा का सन्धान करे (अथवा मोक्ष का अन्वेषण करे)।

५३१. (मोक्ष मार्ग परायण) साधु क्षमा आदि दशविध श्रमण धर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप उत्तम धर्म के साथ मन-वचन-काया को जोड़े अथवा उत्तर धर्म में वृद्धि करे। तथा जो पाप धर्म (हिंसादि पाप का उपादान कारण अथवा पापयुक्त स्वभाव) है उसका निवारण करे। भिक्षु तपश्चरण (उपधान) में पूरी शक्ति लगाए तथा क्रोध और अभिमान को जरा भी सफल न होने दे।

५३२. जो बुद्ध (केवलज्ञानी) अतीत में हो चुके हैं, और जो बुद्ध भविष्य में होंगे, उन सबका आधार (प्रतिष्ठान) शान्ति ही (कषाय-मुक्ति या मोक्ष रूप भाव मार्ग) है, जैसे कि प्राणियों का जगती (पृथ्वी) आधार है।

५३३. अनगार धर्म स्वीकार करने के पश्चात् साधु को नाना प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परीषह और उपसर्ग स्पर्श करें तो साधु उनसे जरा भी विचलित न हो, जैसे कि महावात से महागिरिवर मेरु कभी विचलित नहीं होता।

५३४. आश्रवद्वारों का निरोध (संवर) किया हुआ वह महाप्राज्ञ धीर साधु दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय-कल्पनीय आहार को ही ग्रहण (सेवन) करे। तथा शान्त (उपशान्त कषाय-निर्वृत्त) रहकर (अगर काल का अवसर आए तो) काल (पण्डितमरण या समाधिमरण) की आकांक्षा (प्रतीक्षा) करे; यही केवली भगवान् का मत है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—मोक्ष-साधन साधु-धर्म रूप भाव मार्ग की साधना—प्रस्तुत ७ सूत्रगाथाओं में साधु धर्म रूप भाव मार्ग की साधना के सन्दर्भ में कुछ सूत्र प्रस्तुत किये गए हैं—(१) भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित साधु धर्म को स्वीकार करके महाघोर संसार-सागर को पार करे, (२) आत्मा को पाप से बचाने के लिए संयम में पराक्रम करे, (३) साधु धर्म पर दृढ़ रहने के लिए इन्द्रिय-विषयों से विरत हो जाए, (४) जगत् के समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य समझ कर उनकी रक्षा करता हुआ संयम में प्रगति करे, (५) चारित्र विनाशक, अभिमान आदि कषायों को संसार वर्द्धक जानकर उनका निवारण करे, (६) एकमात्र निर्वाण के साथ अपने मन-वचन-काया को जोड़ दे (७) साधु धर्म को ही केन्द्र में रखकर प्रवृत्ति करे, (८) तपश्चर्या में अपनी शक्ति लगाए, (९) क्रोध और मान को न बढ़ाए, अथवा सार्थक न होने दे, (१०) भूत और भविष्य में जो भी बुद्ध (सर्वज्ञ) हुए हैं या होंगे, उन सबके जीवन और उपदेश का मूलाधार शान्ति (कषाय-मुक्ति) रही है, रहेगी। (११) भावमार्ग रूप व्रत को स्वीकार करने के बाद परीषह या उपसर्ग आने पर साधु सुमेरु पर्वत की तरह संयम में अविचल रहे, (१२) साधक गृहस्थ द्वारा प्रदत्त एषणीय आहार सेवन करे तथा शान्त रहकर अन्तिम समय में समाधिमरण की प्रतीक्षा करे।

यह साधु धर्म रूप भाव मार्ग प्रारम्भ से लेकर अन्तिम समय तक की साधना है।[११]

॥ मार्ग : ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

११ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०५-२०६

समवसरण—द्वादश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के बारहवें अध्ययन का नाम 'समवसरण' है।

☐ समवसरण शब्द के—एकत्रमिलन, मेला, समुदाय, साधु समुदाय, विशिष्ट अवसरों पर अनेक साधुओं के एकत्रित होने का स्थान, तीर्थंकर देव की परिषद्, (धर्मसभा), धर्म-विचार, आगम विचार, आगमन आदि अर्थ होते हैं।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने निक्षेप दृष्टि से समवसरण के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए इसके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये ६ निक्षेप किये हैं। नाम और स्थापना तो सुगम है। सचित्त, अचित्त या मिश्र द्रव्यों का समवसरण-एकत्रीकरण या मिलन द्रव्य समवसरण है। जिस क्षेत्र या जिस काल में समवसरण होता है, उसे क्रमशः क्षेत्र समवसरण और काल समवसरण कहते हैं। भाव समवसरण है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक आदि भावों का संयोग।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में देवकृत तीर्थंकर देव-समवरण विवक्षित नहीं है, अपितु विविध प्रकार के वादों (मतों) और मतप्रवर्तकों का सम्मेलन अर्थ ही समवसरण पर से अभीष्ट है। निर्युक्तिकार ने इसे भावसमवसरण में परिगणित किया है। अर्थात्—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी या भेद सहित इन चारों वादों (मतों) की (एकान्तदृष्टि) के कारण भूल बताकर जिस सुमार्ग में इन्हें स्थापित किया जाता है, वह भाव समवरण है। प्रस्तुत अध्ययन में इन चार मतों (वादों) का उल्लेख है।

☐ जो जीवादि पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, वे क्रियावादी हैं, इसके विपरीत जो जीवादि पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानते, वे अक्रियावादी हैं।[2] जो ज्ञान को नहीं मानते, वे अज्ञानवादी और जो विनय से ही मोक्ष मानते हैं, वे विनयवादी हैं। निर्युक्तिकार ने क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी

---

१ पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ८७६

२ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ११६ से ११८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०८ से २१० तक

के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२। यों कुल ३६३ भेदों की संख्या बताई है। वृत्तिकार ने इन चारों वादों के ३६३ भेदों को नामोल्लेखपूर्वक पृथक्-पृथक् बताया है। ये चारों वाद एकान्तवादी स्वाग्रही होने से मिथ्या हैं, सापेक्ष दृष्टि से मानने पर सम्यक् हो सकते हैं।

☐ पूर्वोक्त चारों स्वेच्छानुसार कल्पित एकान्त मतों (वादों) में जो परमार्थ है, उसका निश्चय करके समन्वयपूर्वक सम्मेलन (समवसरण) करना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में कुल २३ गाथाएँ हैं।
यह अध्ययन सूत्रगाथा ५३५ से प्रारम्भ होकर ५५६ पर पूर्ण होता है।

☐☐☐☐

समोसरणं : बारसमं अज्झयणं

समवसरण : बारहवाँ अध्ययन

चार समवसरण : परतीर्थिक मान्य चार धर्मवाद—

> ५३५. चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
> किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं, अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव ॥१॥

५३५. परतीर्थिक मतवादी (प्रावादुक) जिन्हें पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे चार समवसरण—वाद या सिद्धान्त ये हैं—क्रियावाद, अक्रियावाद, तीसरा विनयवाद और चौथा अज्ञानवाद ।

विवेचन—चार समवसरण : परतीर्थिक-मान्य चार धर्मवाद—शास्त्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ में प्रतिपाद्य विषय सूचित कर दिया है । विश्व में प्रधानतः चार प्रकार के सिद्धान्त उस युग में प्रचलित थे, जिनमें सभी एकान्तवादों का समावेश हो जाता है । अन्य दार्शनिक (मतवादी) एकान्त रूप से एक-एक को पृथक्-पृथक् मानते थे ।

इन सबका स्वरूप शास्त्रकार स्वयं यथास्थान बताएँगे । ।

एकान्त अज्ञानवाद-समीक्षा—

> ५३६ अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुया णो वितिगिंछतिण्णा ।
> अकोविया आहु अकोवियाए, अणाणुवीयीति मुसं वदंति ॥२॥

५३६. वे अज्ञानवादी अपने आपको (वाद में) कुशल मानते हुए भी संशय से रहित (विचिकित्सा को पार किये हुए) नहीं हैं । अतः वे असंस्तुत (असम्बद्ध भाषी या मिथ्यावादी होने से अप्रशंसा पात्र) हैं। वे स्वयं अकोविद (धर्मोपदेश में अनिपुण) हैं और अपने अकोविद (अनिपुण-अज्ञानी) शिष्यों को उपदेश देते हैं । वे (अज्ञान पक्ष का आश्रय लेकर) वस्तुतत्व का विचार किये बिना ही मिथ्याभाषण करते हैं ।

विवेचन—एकान्त अज्ञानवाद समीक्षा—प्रस्तुत सूत्रगाथा में एकान्त अज्ञानवाद की संक्षिप्त समीक्षा की गई है ।

अज्ञानवाद स्वरूप और प्रकार— शास्त्रकार ने अज्ञानवाद की सर्वप्रथम समीक्षा इसलिए की है कि उसमें ज्ञान के अस्तित्व से इन्कार करके समस्त पदार्थों का अपलाप किया जाता है, अतः यह अत्यन्त विपरीतभाषी है। अज्ञानवादी वे हैं, जो अज्ञान को ही कल्याणकारी मानते हैं।

अज्ञानवादियों के ६७ भेद इस प्रकार हैं—जीवादि ९ तत्त्वों को क्रमशः लिखकर उनके नीचे ये ७ भंग रखने चाहिए—(१) सत्, (२) असत, (३) सदसत्, (४) अवक्तव्य, (५) सदवक्तव्य, (६) असत्वक्तव्य, और (७) सद्-असद्-अवक्तव्य। जैसे–जीव सत् है, यह कौन जानता है? और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार क्रमशः असत् आदि शेष छहों भंग समझ लेने चाहिए। जीवादि ९ तत्त्वों में प्रत्येक के साथ सात भंग होने से कुल ६३ भंग हुए। फिर ४ भंग ये और मिलाने से ६३+४=६७ भेद हुए। चार भंग ये हैं–(१) सत् (विद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति होती है, यह कौन जानता है, और यह जानने से भी क्या लाभ? इसी प्रकार असत् (अविद्यमान), सदसती (कुछ विद्यमान और कुछ अविद्यमान), और अवक्तव्यभाव के साथ भी इसी तरह का वाक्य जोड़ने से ४ विकल्प होते हैं।

अज्ञानवादी कुशल या अकुशल—अज्ञानवादी अपने आपको कुशल (चतुर) मानते हैं। वे कहते हैं कि हम सब तरह से कुशल-मंगल हैं, क्योंकि हम व्यर्थ ही किसी से न तो बोलते हैं, न ज्ञान बघारते हैं, चुपचाप अपने आप में मस्त रहते हैं। ज्ञानवादी अपने-अपने अहंकार में डूबे हैं, परस्पर लड़ते हैं, एक-दूसरे पर आक्षेप करते हैं, वे वाक्कलह से असंतुष्ट और क्षेम कुशल रहित रहते हैं।

इसका निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—"**अण्णाणिया ता कुसला वि संता**......" इसका आशय यह है कि अज्ञानवादी अपने आपको कुशल मानते हैं, किन्तु अज्ञान के कारण कोई जीव कुशल-मंगल नहीं होता। अज्ञान के कारण ही तो जीव नाना दुःखों से पीड़ित है; बुरे कर्म करके वह दुर्गति और नीच योनि में जाता है। नरक में कौन-से ज्ञानी हैं? अज्ञानी ही तो हैं। फिर वे परस्पर लड़ते-झगड़ते क्यों हैं? क्यों इतना दुःख पाते हैं? उन्हें कुशल क्षेम क्यों नहीं है? और तिर्यंचयोनि के जीव भी तो अज्ञानी हैं। वे अज्ञानवश ही तो पराधीन हैं। परवशता एवं अज्ञान के कारण ही उन्हें भूख-प्यास शर्दी-गर्मी आदि के दुख उठाने पड़ते हैं। अज्ञान में डूबे हैं, तभी तो वे किसी क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकते। अज्ञानी मानव बहुत ही पिछड़े, अन्धविश्वासी, तथा सामाजिक, धार्मिक या अध्यात्मिक क्षेत्र में अप्रगतिशील रहते हैं, अनेक प्रकार के दुख उठाते हैं। इसलिए अज्ञानवादियों के जीवन में कुशल-क्षेम नहीं है, पशु से भी गया बीता जीवन होता है अज्ञानी का।

अज्ञानवादी असम्बद्धभाषी एवं संशयग्रस्त—अज्ञानवादी अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ज्ञान से करते हैं लेकिन ज्ञान को कोसते हैं। ज्ञान के बिना पदार्थों का यथार्थ स्वरूप कैसे समझा जा सकता है? इसलिए वे महाभ्रान्ति के शिकार एवं असम्बद्धभाषी हैं।

अज्ञान का पर्युदास नञ् समास के अनुसार अर्थ किया जाए तो होता है एक ज्ञान से भिन्न, ज्ञान के सदृश दूसरा ज्ञान। इससे तो दूसरे ज्ञान को ही कल्याण साधन मानलिया, अज्ञानवाद कहाँ सिद्ध हुआ? प्रसज्य नञ् समास के अनुसार अज्ञान का अर्थ होता है—ज्ञान का निषेध या अभाव। यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है; क्योंकि सम्यग्ज्ञान द्वारा पदार्थ का स्वरूप जान कर प्रवृत्ति करने वाला कार्यार्थी पुरुष अपने कार्य को सिद्ध करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसलिए ज्ञान का अभाव कितना असत्य

है। फिर ज्ञानाभाव (अज्ञान) अभाव रूप होने से तुच्छ, रूपरहित एवं शक्ति रहित हुआ, वह कैसे कल्याणकर होगा ? अतः ज्ञान कल्याण साधन है, अज्ञान नहीं।

परस्पर विरुद्धभाषी अज्ञानवादी या ज्ञानवादी—अज्ञानवादियों का कथन है कि सभी ज्ञानवादी पदार्थ का स्वरूप परस्पर विरुद्ध बताते हैं इसलिए वे यथार्थवादी नहीं हैं। जैसे—कोई आत्मा को सर्वव्यापी, कोई असर्वव्यापी, कोई हृदयस्थित, कोई उसे ललाटस्थित और कोई उसे अंगूठे के पर्व के तुल्य मानता है। कोई आत्मा को नित्य और अमूर्त तथा कोई अनित्य और मूर्त मानता है। परस्पर एकमत नहीं किसका कथन प्रमाणभूत माना जाए, किसका नहीं ? जगत् में कोई अतिशयज्ञानी (सर्वज्ञ) भी नहीं, जिसका कथन प्रमाण माना जाए। सर्वज्ञ हो तो भी असर्वज्ञ (अल्पज्ञ) उसे जान नहीं सकता; और सर्वज्ञ को जानने का उपाय भी सर्वज्ञ बने बिना नहीं जान सकता। यही कारण है कि सर्वज्ञ के अभाव में असर्वज्ञों (ज्ञानवादियों) को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने से वे पदार्थों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध बताते हैं।

इन सब आक्षेपों का उत्तर यह है कि अज्ञानवादी स्वयं मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्ज्ञान से रहित हैं, वे संशय और भ्रम से ग्रस्त हैं। वास्तव में परस्पर या पूर्वापर विरुद्ध अर्थ बताने वाले लोग असर्वज्ञ के आगमों को मानते हैं परन्तु इससे समस्त सिद्धान्तों को आँच नहीं आती। सर्वज्ञप्रणीत आगमों को मानने वाले वादियों के वचनों में परस्पर या पूर्वापर विरोध नहीं आता। क्योंकि जहां पूर्वापर या परस्पर विरुद्ध कथन होगा, वहाँ सर्वज्ञता ही नहीं होती। सर्वज्ञता के लिए ज्ञान पर आया हुआ आवरण सर्वथा दूर हो जाना तथा असत्य या परस्पर असम्बद्ध या विरुद्ध भाषण के कारणभूत जो राग, द्वेष मोह आदि हैं, उनका सर्वथा नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है। सर्वज्ञ में इन दोषों का सर्वथा अभाव होने से उसके वचन सत्य हैं, परस्पर विरुद्ध नहीं हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ सिद्ध न होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। 'सम्भव' और 'अनुमान' प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है, क्योंकि सर्वज्ञ असम्भव है, ऐसा कोई सर्वज्ञता बाधक प्रमाण नहीं है, और न ही प्रत्यक्ष प्रमाण में सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है, नहीं सर्वज्ञाभाव के साथ कोई अव्यभिचारी हेतु है। सर्वज्ञाभाव के साथ किसी का सादृश्य न होने से उपमान प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वथाभाव सिद्ध न होने से अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नहीं होता। आगम प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञ का अस्तित्व बताने वाला आगम विद्यमान है। स्थूलदर्शी पुरुष का ज्ञान सर्वज्ञ तक नहीं पहुंचाता, इस कारण भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक कोई प्रमाण नहीं मिलता, बल्कि सर्वज्ञसाधक प्रमाण ही मिलते हैं, इसलिए सर्वज्ञ न मानना अज्ञानवादियों का मिथ्या कथन है।

फिर सर्वज्ञ प्रणीत आगमों को मानने वाले सभी एकमत से आत्मा को सर्व शरीर व्यापी मानते हैं, क्योंकि आत्मा का गुण चैतन्य समस्त शरीर, किन्तु स्वशरीर पर्यन्त ही देखा जाता है। अतः सर्वज्ञ प्रणीत आगम ज्ञानवादी परस्पर विरुद्धभाषी नहीं हैं।

अज्ञानवादी धर्मोपदेश में सर्वथा अनिपुण—शास्त्रकार कहते हैं—अज्ञानवादी अज्ञानवाद का आश्रय लेकर बिना विचारे असम्बद्ध भाषण करते हैं, इसलिए उनमें यथार्थ ज्ञान नहीं है। जो यथार्थ ज्ञानी होता है—वह विचारपूर्वक बोलता है, इसीलिए तो अज्ञानवादियों में मिथ्याभाषण की प्रवृत्ति है। वे धर्म का उपदेश अपने अनिपुण शिष्यों को देते हैं, तो ज्ञान के द्वारा ही देते हैं, फिर भी वे कहते हैं—अज्ञान से ही कल्याण होता है। परन्तु अज्ञान से कल्याण होना तो दूर रहा, उलटे नाना कर्मबन्धन होने से जीव नाना दुःखों से पीड़ित होता है। इसलिए अज्ञानवाद अपने आप में एक मिथ्यावाद है।[1]

एकान्त-विनयवाद की समीक्षा—

५३७. सच्चं असच्चं इति चितयंता, असाहु साहु त्ति उदाहरंता।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठा वि भावं विणइंसु नाम ॥३॥

५३८ अणोवसंखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासति अम्ह एवं।

५३७. जो सत्य है, उसे असत्य मानते हुए तथा जो असाधु (अच्छा नहीं) है, उसे साधु (अच्छा) बताते हुए ये जो बहुत-से विनयवादी लोग हैं, वे पूछने पर भी (या न पूछने पर) अपने भाव (अभिप्राय या परमार्थ) के अनुसार विनय से ही स्वर्ग-मोक्ष प्राप्ति (या सर्वसिद्धि) बताते हैं।

५३८. (पूर्वार्द्ध) वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान न होने से व्यामूढ़मति वे विनयवादी ऐसा कहते हैं। वे कहते हैं—हमें अपने प्रयोजन (स्व-अर्थ) की सिद्धि इसी प्रकार से (विनय से) ही दीखती है।....

विवेचन—एकान्त विनयवाद की समीक्षा—प्रस्तुत गाथाओं में एकान्त विनयवाद की संक्षिप्त झाँकी दी गई है।

विनयवाद का स्वरूप और प्रकार—विनयवादी वे हैं जो विनय को ही सिद्धि का मार्ग मानते हैं। वे कहते हैं—विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक एवं जलचर, खेचर, स्थलचर, उरपरिसर्प एवं भुजपरिसर्प आदि सभी प्राणियों को विनयपूर्वक नमस्कार करते हैं।

निर्युक्तिकार ने विनयवाद के ३२ भेद बताए हैं। वे इस प्रकार है—(१) देवता, (२) राजा, (३) यति, (४) ज्ञाति, (५) वृद्ध, (६) अधम, (७) माता और (८) पिता। इन आठों का मन से, वचन से, काया से और दान से विनय करना चाहिए। इस प्रकार ८×४=३२ भेद विनयवाद के हुए।[2]

विनयवादी : सत्यासत्य विवेक रहित—इसके तीन कारण हैं—(१) जो प्राणियों के लिए हितकर है, सत्य है, वह मोक्ष या संयम है, किन्तु विनयवादी इसे असत्य बताते हैं, (२) सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र मोक्ष

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २११ से २४१ का सारांश (ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९

२ (क) सूत्रकृतांग शी० वृत्ति पत्रांक २०८ (ख) सूत्रकृ० निर्युक्ति गा० ११९

का वास्तविक मार्ग है, परन्तु विनयवादी उसे असत्य कहते हैं, (३) केवल विनय से मोक्ष नहीं होता, तथापि विनयवादी केवल विनय से ही मोक्ष मानकर असत्य को सत्य मानते हैं।

विनयवादियों में सत् और असत् का विवेक नहीं होता। वे अपनी सद्-असद्विवेकशालिनी बुद्धि का प्रयोग न करके विनय करने की धुन में अच्छे-बुरे, सज्जन-दुर्जन, धर्मात्मा-पापी, सुबुद्धि-दुर्बुद्धि, सुज्ञानी-अज्ञानी, आदि सभी को एक सरीखा मानकर सबको वन्दन-नमन, मान-सम्मान, दान आदि देते हैं। देखा जाए तो यथार्थ में वह विनय नहीं है, विवेकहीन प्रवृत्ति है।

जो साधक विशिष्ट धर्माचरण अर्थात्—साधुत्व की क्रिया नहीं करता, उस असाधु को विनयवादी केवल वन्दन-नमन आदि औपचारिक विनय क्रिया करने मात्र से साधु मान लेते हैं। धर्म के परीक्षक नहीं, वे औपचारिक विनय से ही धर्मोत्पत्ति मान लेते हैं, धर्म की परीक्षा नहीं करते।

विनयवाद के गुण-दोष की मीमांसा—विनयवादी सम्यक् प्रकार से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना ही मिथ्याग्रह एवं मत-व्यामोह से प्रेरित होकर कहते हैं—"हमें अपने सभी प्रयोजनों की सिद्धि विनय से होती प्रतीत है, विनय से ही स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति होती है।" यद्यपि विनय चारित्र का अंग है, परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना, विवेक-विकल विनय चारित्ररूप मोक्ष मार्ग का अंगभूत विनय नहीं है। अगर विनयवादी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप विनय की विवेकपूर्वक आराधना-साधना करें, साथ ही आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़े हुए जो अरिहन्त या सिद्ध परमात्मा है, अथवा पंच महाव्रत धारी निर्ग्रन्थ चारित्रात्मा हैं, उनकी विनय-भक्ति करें तो उक्त मोक्ष मार्ग के अंगभूत-विनय से उन्हें स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु इसे ठुकरा कर अध्यात्मविहीन, अविवेकयुक्त एवं मताग्रहगृहीत एकान्त औपचारिक विनय से स्वर्ग या मोक्ष बतलाना उनका एकान्त दुराग्रह है, मिथ्यावाद है।[3]

विविध एकान्त अक्रियावादियों की समीक्षा—

....लवावसंकी य अणागतेहिं; णो किरियमाहंसु अकिरियआया ॥४॥

५३९. सम्मिस्सभावं सगिरा गिहीते, से मुम्मुई होति अणाणुवादी।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥५॥

५४०. ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरूवरूवाणि अकिरियाता।
जमादिदित्ता बहवो मणूसा, भमंति संसारमणोवतग्गं ॥६॥

५४१. णाइच्चो उदेति ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढती हायती वा।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझे णियते कसिणे हु लोए ॥७॥

---

3 सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २१३-२१४ का तात्पर्य

५४२. **जहा य अंधे सह जोतिणा वि, रूवाइं णो पस्सति हीणनेत्ते ।**
संतं पि ते एवमकिरियआता, किरियं ण पस्संति निरुद्धपण्णा ॥८॥

५४३. **संवच्छरं सुविणं लक्खणं च, निमित्तं देहं उप्पाइयं च ।**
अट्ठगमेतं बहवे अहित्ता, लोगंसि जाणंति अणागताइं ॥९॥

५४४. **केई निमित्ता तहिया भवंति, केसिंचि तं विप्पडिएति णाणं ।**
ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जापलिमोक्खमेव ॥१०॥

५३८. (उत्तरार्द्ध) तथा लव यानी कर्मबन्ध की शंका करने वाले अक्रियावादी भविष्य और भूतकाल के क्षणों के साथ वर्तमानकाल का कोई सम्बन्ध (संगति) न होने से क्रिया (और तज्जनित कर्मबन्ध) का निषेध करते हैं ।

५३९. वे (पूर्वोक्त अक्रियावादी) अपनी वाणी से स्वीकार किये हुए पदार्थ का निषेध करते हुए मिश्रपक्ष को (पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों से मिश्रित विरुद्धपक्ष को) स्वीकार करते हैं। वे स्याद्वादियों के कथन का अनुवाद करने (दोहराने) में भी असमर्थ होकर अति मूक हो जाते हैं। वे इस पर-मत को द्विपक्ष-प्रतिपक्ष युक्त तथा स्वमत को प्रतिपक्षरहित बताते हैं । एवं स्याद्वादियों के हेतु वचनों का खण्डन करने के लिए वे छलयुक्त वचन एवं कर्म (व्यवहार) का प्रयोग करते हैं ।

५४०. वस्तुतत्व को न समझने वाले वे अक्रियावादी नाना प्रकार के शास्त्रों का कथन (शास्त्रवचन प्रस्तुत) करते हैं । जिन शास्त्रों का आश्रय लेकर बहुत-से मनुष्य अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं ।

५४१. सर्वशून्यतावादी (अक्रियवादी) कहते हैं कि न तो सूर्य उदय होता है, और न ही अस्त होता है तथा चन्द्रमा (भी) न तो बढ़ता है और न घटता है, एवं नदी आदि के जल बहते नहीं और न हवाएँ चलती हैं । यह सारा लोक अर्थशून्य (वन्ध्य या मिथ्या) एवं नियत (निश्चित-अभाव) रूप है ।

५४२. जैसे अन्धा मनुष्य किसी ज्योति (दीपक आदि के प्रकाश) के साथ रहने पर भी नेत्रहीन होने से रूप को नहीं देख पाता; इसी तरह जिनकी प्रज्ञा ज्ञानावरण के कारण रुकी हुई है, वे बुद्धिहीन अक्रियावादी सम्मुख विद्यमान क्रिया को भी नहीं देखते ।

५४३. जगत् में बहुत-से लोग ज्योतिषशास्त्र (संवत्सर) स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, निमित्तशास्त्र, शरीर पर प्रादुर्भूत-तिल-मष आदि चिन्हों का फल बताने वाला शास्त्र, तथा उल्कापात दिग्दाह, आदि का फल बताने वाला शास्त्र, इन अष्टांग (आठ अंगों वाले) निमित्त शास्त्रों को पढ़ कर भविष्य की बातों को जान लेते हैं ।

५४४. कई निमित्त तो सत्य (तथ्य) होते हैं और किन्हीं-किन्हीं निमित्तवादियों का वह ज्ञान विपरीत (अयथार्थ) होता है । यह देखकर विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्या से परि-मुक्त होने—त्याग देने को ही कल्याणकारक कहते हैं ।

विवेचन—अक्रियावादी की समीक्षा—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने एकान्त अक्रियावादियों द्वारा मान्य अक्रियावाद के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

अक्रियावाद : स्वरूप और भेद—एकान्तरूप से जीव आदि पदार्थों का जिस वाद में निषेध किया जाता है, तथा उसकी क्रिया, आत्मा कर्मबन्ध, कर्मफल आदि जहाँ बिल्कुल नहीं माने जाते, उसे अक्रियावाद कहते हैं।

अक्रियावाद के ८४ भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं—जीव आदि ७ पदार्थों को क्रमशः लिखकर उसके नीचे (१) स्वतः और (२) परतः ये दो भेद स्थापित करने चाहिए। फिर उन ७×२=१४ ही पदों के नीचे (१) काल (२) यदृच्छा, (३) नियति, (४) स्वभाव, (५) ईश्वर और (६) आत्मा इन ६ पदों को रखना चाहिए। जैसे—जीव स्वतः यदृच्छा से नहीं है, जीव परतः काल से नहीं है, जीव स्वतः यदृच्छा से नहीं है, जीव परतः यदृच्छा से नहीं है, इसी तरह नियति स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के साथ भी प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं। यों जीवादि सातों पदार्थों के सात, स्वतः परतः के प्रत्येक के दो और काल आदि के ६ भेद मिलाकर कुल ७×२=१४×६=८४ भेद हुए।[४]

एकान्त अक्रियावाद के गुण-दोष की मीमांसा—एकान्त अक्रियावादी मुख्यतया तीन हैं—लोकायतिक, बौद्ध और सांख्य। अक्रियावादी लोकायतिक के मत में आत्मा ही नहीं है, तो उसकी क्रिया कहां से होगी और उस क्रिया से उत्पन्न कर्मबन्ध भी कहाँ से होगा? फिर भी लोक व्यवहार में जैसे मुठ्टी का बांधना और खोलना उपचार मात्र से माना जाता है, वैसे ही लोकायतिक मत में उपचार मात्र से आत्मा में बद्ध और मुक्त का व्यवहार माना जाता है।

अक्रियावादी बौद्ध—ये सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, क्षणिक पदार्थों में क्रिया का होना सम्भव नहीं है, अतः वे भी अक्रियावादी हैं। वे जो पांच स्कन्ध मानते हैं, वह भी आरोपमात्र से, परमार्थरूप से नहीं। उनका मन्तव्य यह है कि जब सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं, तब न तो अवयवी का पता लगता है, और न ही अवयव का। इसलिए क्षणिकवाद के अनुसार भूत और भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध नहीं होता, सम्बन्ध न होने से क्रिया नहीं होती और क्रिया न होने से क्रियाजनित कर्मबन्ध भी नहीं होता। इस प्रकार बौद्ध अक्रियावादी हैं। तात्पर्य यह है कि बौद्ध कर्मबन्ध की आशंका से आत्मादि पदार्थों का और उनकी क्रिया का निषेध करते हैं।

अक्रियावादी सांख्य—आत्मा को सर्वव्यापक होने के कारण अक्रिय मानते हैं। इस कारण वे भी वस्तुतः अक्रियावादी हैं।

लोकायतिक पदार्थ का निषेध करके भी पक्ष को सिद्ध करने के लिए पदार्थ का अस्तित्व प्रकारान्तर से मान लेते हैं। अर्थात् पदार्थ का निषेध करते हुए भी वे उसके अस्तित्व का प्रतिपादन कर बैठते हैं। जैसे—वे जीवादि पदार्थों का अभाव बताने वाले शास्त्रों का अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए शास्त्र

---

४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २०८
(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९

के कर्ता आत्मा को, तथा उपदेश के साधनरूप शास्त्र को एवं जिसे उपदेश दिया जाता है, उस शिष्य को तो अवश्य स्वीकार करते हैं, क्योंकि इनको माने बिना उपदेश आदि नहीं हो सकता। परन्तु सर्वशून्यतावाद में ये तीनों पदार्थ नहीं आते। इसलिए लोकायतिक परस्पर विरुद्ध मिश्रपक्ष का आश्रय लेते हैं। वे पदार्थ नहीं है, यह भी कहते हैं, दूसरी ओर उसका अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं।

बौद्ध मत के सर्वशून्यतावाद के अनुसार कोई (परलोक में) जाने वाला सम्भव नहीं कोई क्रिया, गतियाँ और कर्मबन्ध भी सम्भव नहीं है, फिर भी बौद्धशासन में ६ गतियाँ मानी गई हैं। जब गमन करने वाला कोई आत्मा ही नहीं है, तब गमन क्रिया, फलित गतियाँ कैसी ? फिर बौद्ध मान्य ज्ञान से अभिन्न ज्ञान सन्तान भी क्षणविध्वंसी होने के कारण स्थिर नहीं हैं। क्रिया न होने के कारण अनेक गतियों का होना सम्भव नहीं, बौद्ध आगमों में सभी कर्मों को अबन्धन माना है, फिर भी तथागत बुद्ध का ५०० बार जन्मग्रहण करना बताते हैं। जब कर्मबन्धन नहीं तो जन्म ग्रहण कैसे होगा ? बौद्ध ग्रन्थगत एक श्लोक में बताया है—"माता-पिता को मारकर एवं बुद्ध के शरीर से रक्त निकालकर अर्हद्वध करके तथा धर्मस्तूप को नष्ट करने से मनुष्य अवीचिनरक में जाता है,"[५] यह भी कर्मबन्धन के बिना कैसे सम्भव है ? यदि सर्वशून्य है तो ऐसे शास्त्रों की रचना कैसे युक्तिसंगत हो सकती है ? यदि कर्मबन्धन कारक नहीं है, तो प्राणियों में जन्म-मरण, रोग, शोक उत्तम-मध्यम-अधम आदि विभिन्नताएँ किस कारण से दृष्टिगोचर होती हैं ? यह कर्म का फल प्रतीत होता है। इन सब पर से जीव का अस्तित्व, उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं उसका कर्म से युक्त होना सिद्ध होता है, फिर भी बौद्ध सर्वशून्यतावाद को मानते हैं। यह स्पष्ट ही बौद्धों द्वारा मिश्रपक्ष का स्वीकार करना है। अर्थात् एक ओर वे कर्मों का पृथक्-पृथक् फल मानते हैं, दूसरी ओर वे सर्वशून्यतावाद के अनुसार सभी पदार्थों का नास्तित्व बताते हैं।

सांख्य अक्रियावादी आत्मा को सर्वव्यापी मानकर भी प्रकृति के वियोग से उसका मोक्ष मानते हैं। जब मोक्ष मानते हैं तो बन्धन अवश्य मानना पड़ेगा। जब आत्मा का बन्धमोक्ष होता है तो उनके ही वचनानुसार आत्मा का क्रियावान् होना भी स्वीकृत हो जाता है, क्योंकि क्रिया के बिना बन्ध और मोक्ष कदापि सम्भव नहीं होते। अतः सांख्य भी मिश्रपक्षाश्रयी हैं, वे आत्मा को निष्क्रिय सिद्ध करते हुए अपने ही वचन से उसे क्रियावान कह बैठते हैं।

अक्रियावादियों के सर्वशून्यतावाद का निराकरण—अक्रियावादियों के द्वारा सूर्य के उदय-अस्त का चन्द्र के वृद्धि-ह्रास, जल एवं वायु की गति का किया गया निषेध प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध हैं। ज्योतिष आदि अष्टांगनिमित्त आदि शास्त्रों के पढ़ने से भूत या भविष्य की जानकारी मनुष्यों को होती है, वह किसी न किसी पदार्थ की सूचक होती है, सर्वशून्यतावाद को मानने पर यह घटित नहीं हो सकता। इस पर से शून्यतावादी कहते हैं कि ये विद्याएँ सत्य नहीं हैं, हम तो विद्याओं के पढ़े बिना ही लोकालोक के पदार्थों को जान लेते हैं; यह कथन भी मिथ्या एवं पूर्वापरविरुद्ध है।

प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तु को भी स्वप्न, इन्द्रजाल या मृगमरीचिका-सम बताकर उसका अत्यन्ताभाव घोषित करना भी युक्ति-प्रमाणविरुद्ध है।

---

५ "माता-पितरौ हत्वा, बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पात्य।
अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं भित्वा, आवीचिनरकं यान्ति॥' —सू० शी०वृत्ति पत्रांक २१५ में उद्धृत बौद्ध ग्रन्थोक्ति

छलायतणं च कम्मं—इसकी दूसरी व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—अथवा जिसके षट् आयतन—उपादानकारण आश्रवद्वाररूप हैं, अथवा श्रोत्रादि इन्द्रिय नोइन्द्रिय (मन) रूप हैं, वह कर्म षडायतनरूप है, इस प्रकार बौद्ध कहते हैं। बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक, संयुक्त निकाय में षडायतन (सलायतन) का उल्लेख है।[6]

पाठान्तर और व्याख्या—वंझो णियते के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'वंझे य णितिए' वन्ध्य का अर्थ है—शून्य 'णितिए' का अर्थ है—नित्यकाल। लोक नित्य एवं सर्वशून्य है।[7]

एकान्त क्रियावाद और सम्यक् क्रियावाद एवं उसके प्ररूपक—

५४५. ते एवमक्खंति समेच्च लोगं, तहा तहा समणा माहणा य।
सयंकडं णण्णकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ॥११॥

५४६. ते चक्खु लोगंसिह णायगा तु, मग्गाऽणुसासंति हितं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसो पया माणव ! संपगाढा ॥१२॥

५४७. जे रक्खसावा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया।
आगासगामी य पुढोसिया य, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥१३॥

५४८. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसो विसन्ना विसयंगणाहिं दुहतो वि लोयं अणुसंचरंति ॥१४॥

५४५. वे श्रमण (शाक्यभिक्षु) और माहन (ब्राह्मण) अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को जानकर उस-उस क्रिया के अनुसार फल प्राप्त होना बताते हैं। तथा (वे यह भी कहते हैं कि) दुःख स्वयंकृत (अपना ही किया हुआ) होता है, अन्यकृत नहीं। परन्तु तीर्थंकरों ने विद्या (ज्ञान) और चरण (चारित्र-क्रिया) से मोक्ष कहा है।

५४६ इस लोक में तीर्थंकर आदि नेत्र के समान हैं, तथा वे (शासन) नायक (धर्म नेता या प्रधान) हैं। वे प्रजाओं के लिए हितकर ज्ञानादि रूप मोक्षमार्ग की शिक्षा देते हैं। इस चतुर्दशरज्ज्वात्मक या

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २१४ से २१८ तक का सारांश
(ख) 'बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टि-ग्रन्थि-कपोतकाः।
न चान्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टि-ग्रन्थि-कपोतकाः॥'
—सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति में उद्धृत

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २१६
(ख) तुलना—'अविज्जपच्चया····नामरूपपच्चया **सलायतनं**····पटिच्च समुप्पादो। ····कतमं च, भिक्खवे, **सलायतनं**? चक्खायतनं, सोतायतनं, घाणायतनं, जिव्हायतनं, कायायतनं, मनायतनं। इदं वुच्चति, भिक्खवे, सलायतनं।
—सुत्तपिटक संयुत्त निकाय पालि (भा० २) पृ० ३-५

पंचास्तिकायरूप लोक में जो-जो वस्तु जिस-जिस प्रकार से द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से शाश्वत है उसे उसी प्रकार से उन्होने कही है। अथवा यह जीवनिकायरूप लोक (संसार) जिन-जिन मिथ्यात्व आदि कारणों से जैसे-जैसे शाश्वत (सुदृढ या सुदीर्घ) होता है, वैसे-वैसे उन्होंने बताया है, अथवा जैसे-जैसे राग-द्वेष आदि या कर्म की मात्रा में अभिवृद्धि होती है, वैसे-वैसे संसाराभिवृद्धि होती है, यह उन्होंने कहा है, जिस संसार में (नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के रूप में) प्राणिगण निवास करते हैं।

५४७. जो राक्षस हैं, अथवा यमलोकवासी (नारक) हैं, तथा जो चारों निकाय के देव हैं, या जो देव गन्धर्व हैं, और पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकाय के हैं तथा जो आकाशगामी हैं एवं जो पृथ्वी पर रहते हैं, वे सब (अपने किये हुए कर्मों के फल स्वरूप) बार-बार विविध रूपों में (विभिन्न गतियों में) परिभ्रमण करते रहते हैं।

५४८. तीर्थंकरों गणधरों आदि ने जिस संसार सागर को स्वयम्भूरमण समुद्र के जल की तरह अपार (दुस्तर) कहा है, उस गहन संसार को दुर्मोक्ष (दुःख से छुटकारा पाया जा सके, ऐसा) जानो, जिस संसार में विषयों और अगनाओं में आसक्त जीव दोनों ही प्रकार से (स्थावर और जंगमरूप अथवा आकाशाश्रित एवं पृथ्वी-आश्रित रूप से अथवा वेषमात्र से प्रव्रज्याधारी होने और अविरति के कारण, एक लोक से दूसरे लोक में भ्रमण करते रहते हैं।

विवेचन—एकान्त क्रियावाद और सम्यक् क्रियावाद एवं उसके प्ररूपक—प्रस्तुत चार सूत्रों में क्रियावाद की गूढ़ समीक्षा की गई है।

एकान्त क्रियावाद : स्वरूप और भेद—एकान्त क्रियावादी वे हैं, जो एकान्तरूप से जीव आदि पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, तथा ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि क्रिया से ही मोक्षप्राप्ति मानते हैं। वे कहते हैं कि माता-पिता आदि सब हैं, शुभकर्म का फल भी मिलता है, पर मिलता है, केवल क्रिया से ही। जीव जैसी-जैसी क्रियाएँ करता है, तदनुसार उसे नरक-स्वर्ग आदि के रूप में कर्मफल मिलता है। संसार में सुख-दुःखादि जो कुछ भी होता है. सब अपना किया हुआ होता है, काल, ईश्वर आदि दूसरों का किया हुआ नहीं होता।[८]

निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के १८० भेद बताए हैं। वे इस प्रकार से हैं—सर्वप्रथम जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नौ पदार्थों को क्रमशः स्थापित करके उसके नीचे 'स्वतः' और 'परतः' ये दो भेद रखने चाहिए। इसी तरह उनके नीचे 'नित्य' और 'अनित्य' इन दो भेदों की स्थापना करनी चाहिए। उसके नीचे क्रमशः काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा इन ५ भेदों की स्थापना करनी चाहिए। जैसे—(१) जीव स्वतः विद्यमान है, (२) जीव परतः (दूसरे से) उत्पन्न होता है, (३) जीव नित्य है, (४) जीव अनित्य है, इन चारों भेदों को क्रमशः काल आदि पांचों के साथ लेने से वीस भेद (४×५=२०) होते हैं। इसी प्रकार अजीवादि शेष ८ के प्रत्येक के वीस-वीस भेद समझने चाहिए। यों नौ ही पदार्थों के २०×९=१८० भेद क्रियावादियों के होते हैं।[९]

---

८ सूत्रकृतांग शी० वृत्ति पत्रांक २१८

९. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९ (ख) सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक २१८

एकान्त क्रियावाद की गुण-दोष समीक्षा—एकान्त क्रियावादियों के मन्तव्य के सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं कि क्रियावादियों का यह कथन किसी अंश तक ठीक है कि क्रिया से मोक्ष होता है, तथा आत्मा (जीव) और सुख आदि का अस्तित्व है, परन्तु उनकी एकान्त प्ररूपणा यथार्थ नहीं है। यदि एकान्तरूप से पदार्थों का अस्तित्व माना जाएगा तो वे कथञ्चित् (परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से) नहीं हैं, यह कथन घटित नहीं हो सकेगा, जो कि सत्य है। वस्तु में एकान्त अस्तित्व मानने पर सर्ववस्तुएँ सर्ववस्तुरूप हो जाएंगी। इसप्रकार जगत् के समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जाएगा अतः प्रत्येक वस्तु कथञ्चित अपने-अपने स्वरूप से है, परस्वरूप से नहीं है, ऐसा मानना चाहिए।

एकान्त क्रिया से मोक्ष नहीं होता, उसके साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। ज्ञानरहित क्रिया मात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। सभी क्रियाएँ ज्ञान के साथ फल देती हैं। दशवैकालिक सूत्र में 'पढमं नाणं तओ दया' की उक्ति इसी तथ्य का संकेत है। अतः ज्ञान निरपेक्ष क्रिया से या क्रिया निरपेक्ष ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, इसीलिए शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं—तीर्थंकरों ने ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष कहा है।'

सम्यक् क्रियावाद और उसके मार्गदर्शक—सूत्र गाथा ५४६ से ५४८ तक में सम्यक् क्रियावाद और उसके मार्गदर्शक का निरूपण किया है, इनसे चार तथ्य फलित होते हैं—(१) लोक शाश्वत भी है, और अशाश्वत भी है। (२) चारों गतियों के जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख पाते हैं तथा स्वतः संसार में परिभ्रमण करते हैं, काल, ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नहीं। (३) संसार सागर स्वयम्भूरमण समुद्र के समान दुस्तर है. (४) तीर्थंकर लोकचक्षु हैं, वे धर्मनायक हैं, सम्यक् क्रियावाद के मार्गदर्शक हैं, उन्होंने संसार और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप बताकर सम्यक् क्रियावाद की प्ररूपणा की है, अथवा जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों के अस्तित्व-नास्तित्व की काल आदि पांचकारणों के समवसरण (समन्वय) की सापेक्ष प्ररूपणा की है। इसलिए वे इस भाव—समवसरण के प्ररूपक हैं।[10]

सम्यक् क्रियावाद और क्रियावादियों के नेता—

५४९. ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा उ कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो णो पकरेंति पावं ॥१५॥

५५०. ते तीत-उप्पण्ण-मणागताइं, लोगस्स जाणंति तहागताइं।
णेतारो अण्णेसि अणण्णणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥१६॥

५५१. ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति, भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा।
सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्तिवीरा य भवंति एगे ॥१७॥

---

१० सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक २१८ से २२० तक का सारांश

समस्त छोटे-बड़े प्राणियों को आत्मवत् जानता-देखता है, (२) जो आत्म जागरण के समय विशाल लोक की अनुप्रेक्षा करता है कि 'यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विशाल अन्तरहित लोक कर्मवश जन्म-मरण-जरा-रोग-शोक आदि नाना दुःख रूप है।' (३) जो तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्त साधुओं से दीक्षा ग्रहण करता है, (४) जीवादि नौ पदार्थों को प्रत्यक्षदर्शी या परोक्षदर्शी से जानकर दूसरों को उपदेश देता है, (५) जो स्व-पर-उद्धार या रक्षण करने में समर्थ हैं, (६) जो जिज्ञासु के समक्ष अनुरूप सद्धर्म का विचार करके प्रकट करता है, (७) सम्यक् क्रियावाद के अनुगामी को उसी तेजस्वी मुनि के सान्निध्य में रहना चाहिए, (८) जो आत्मा जीवों की गति-आगति, मुक्ति तथा मोक्ष का (शाश्वतता) और संसार (अशाश्वतता) का रहस्य जानता है. जो अधोलोक के जीवों के दुःखों को जानता है, आश्रव, संवर, पुण्य-पाप बन्ध एवं निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद का सम्यक् निरूपण कर सकता है। (९) ऐसे सम्यक् क्रियावादी साधु को पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्ति एवं द्वेष नहीं रखना चाहिए, उसे जीवन-मरण की भी आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए, उसे आदान (मिथ्यात्वादि द्वारा गृहीत कर्म या विषय कषायों के ग्रहण) से आत्मा को बचाना और माया से मुक्त रहना चाहिए।

संक्षेप में, जो साधक आत्मवाद, लोकवाद एवं कर्मवाद को जानता है या नौ तत्त्वों का सर्वकर्म-विमुक्ति रूप मोक्ष के सन्दर्भ में स्वीकार करता है, वही वस्तुतः क्रियावाद का ज्ञाता एवं उपदेष्टा है।[१२]

॥ समवसरण : बारहवां अध्ययन सम्पूर्ण ॥

□□□□
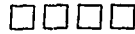
याथातथ्य—त्रयोदश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (प्र० श्रु०) के तेरहवें अध्ययन का नाम याथातथ्य या यथातथ्य है।

☐ यथातथ्य का अर्थ है—यथार्थ, वास्तविक, परमार्थ अथवा जैसा हो, वैसा।

☐ निर्युक्तिकार ने 'तथ्य' शब्द के मुख्यतया चार निक्षेप किये हैं—नाम तथ्य और स्थापना तथ्य सुगम है। सचित्तादि पदार्थों में से जिस पदार्थ का जैसा स्वभाव या स्वरूप हो, उसे द्रव्य की प्रधानता को लेकर द्रव्य तथ्य कहते हैं, जैसे पृथ्वी का लक्षण कठिनता, जल का द्रवत्व। तथा मनुष्यों आदि का जैसा मार्दव आदि स्वभाव है, तथा गोशीर्ष चन्दनादि द्रव्यों का जैसा स्वभाव है, उसे द्रव्यतथ्य कहते हैं। भाव तथ्य औदयिक आदि ६ भावों की यथार्थता को भाव तथ्य जानना चाहिए अथवा आत्मा में रहने वाला 'भावतथ्य' चार प्रकार का है—१. 'ज्ञानतथ्य' (पांच ज्ञानों द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानना) २. 'दर्शन तथ्य' (जीवादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करना), ३. 'चारित्रतथ्य' (१७ प्रकार के संयम और १२ प्रकार के तप का शास्त्रोक्तरीति से पालन करना) और ४. विनयतथ्य (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार रूप से ४२ प्रकार से विनय की यथायोग्य आराधना करना)।

☐ अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त भावतथ्य में से प्रस्तुत अध्ययन में प्रशस्त भावतथ्य का अधिकार है। निर्युक्तिकार की दृष्टि में प्रशस्त भावतथ्य का तात्पर्य है—सुधर्मास्वामी आदि आचार्यों की परम्परा से जिस सूत्र का सर्वज्ञोक्त जो अर्थ या व्याख्यान है, सरलता, जिज्ञासा बुद्धि एवं निरभिमानता के साथ उसी प्रकार से अर्थ और व्याख्या करना, तदनुसार वैसा ही आचरण-अनुष्ठान करना यथातथ्य है, किन्तु परम्परागत सूत्रार्थ और व्याख्यान के विपरीत कपोलकल्पित कुतर्क-मद से विकृत अर्थ और व्याख्यान करना अयथातथ्य है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में पूर्वोक्त भाव तथ्य की दृष्टि से साधुओं का प्रशस्त ज्ञानादि तथ्यरूप शील का तथा असाधुओं के इससे विपरीत शील (स्वभाव एवं स्वरूप) का वर्णन किया गया है। यथातथ्य वर्णन होने के कारण इस अध्ययन को 'याथातथ्य' कहा गया है।

☐ अथवा इस अध्ययन की प्रथम गाथा में 'आहत्तहियं' (यथातथ्य) शब्द का प्रयोग हुआ है, इस आदिपद को लेकर इस अध्ययन का नाम 'याथातथ्य' दिया गया है।[1]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में २३ गाथाओं द्वारा साधुओं के गुण-दोषों की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

☐ यथातथ्य व्याख्यान और तदनुसार आचरण से साधक को संसार सागर पार करने योग्य बनाना इस अध्ययन का उद्देश्य है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा ५५७ से प्रारम्भ होकर ५७६ पर समाप्त होता है।

आहत्तहियं : तेरसमं अज्झयणं

याथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन

समस्त यथातथ्य-निरूपण का अभिवचन—

५५७ आहत्तहियं तु पवेयइस्सं, नाणप्पकारं पुरिसस्स जातं।
सतो य धम्मं असतो असीलं, संति असंति करिस्सामि पाउं ॥१॥

५५७. मैं (सुधर्मास्वामी) याथातथ्य—यथार्थ तत्त्व को बताऊंगा, तथा ज्ञान के प्रकार (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र के रहस्य) को प्रकट करूँगा, एवं पुरुषों (प्राणियों) के अच्छे और बुरे गुणों को कहूँगा। तथा उत्तम साधुओं के शील और असाधुओं के कुशील का एवं शान्ति (मोक्ष) और अशान्ति (संसार) का स्वरूप भी प्रकट करूँगा।

विवेचन—याथातथ्य के निरूपण का अभिवचन—अध्ययन की इस प्रारम्भिक गाथा में, समग्र अध्ययन में प्रतिपाद्य विषयों के यथातथ्य निरूपण का श्रीसुधर्मास्वामी का अभिवचन अंकित किया गया है। प्रस्तुत गाथा में चार विषयों के यथार्थ निरूपण का अभिवचन है—

(१) ज्ञानादि (सम्यग्ज्ञान, दर्शन, और चारित्र) का रहस्य।

(२) सत्पुरुष और असत्पुरुष के प्रशस्त-अप्रशस्त गुण, धर्म, स्वभाव आदि का निरूपण।

(३) सुसाधुओं के शील, सदाचार, सदनुष्ठान और कुसाधुओं के कुशील, अनाचार और असद-नुष्ठान का स्वरूप,

(४) सुसाधुओं को समस्तकर्मक्षयरूप शान्ति (मुक्ति) की प्राप्ति और कुसाधुओं को जन्म-मरणरूप अशान्ति (संसार) की प्राप्ति का रहस्य व कारण।

पाठान्तर—'पुरिसस्स जातं' के बदले पाठान्तर है—'पुरिसस्स भावं' अर्थ के अनुसार यह पाठ संगत है।[1]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २३२ का सारांश

कुसाधु के कुशील एवं सुसाधु के शील का यथा तथ्य निरूपण—

५५८ अहो य रातो य समुट्ठितेहिं, तहागतेहिं पडिलब्भ धम्मं।
समाहिमाघातमझोसयंता, सत्थारमेव फरुसं वयंति ॥२॥

५५९ विसोहियं ते अणुकाहयंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा।
अट्ठाणिए होंति बहूगुणाणं, जे णाणसंकाए मुसं वदेज्जा ॥३॥

५६० जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, आदाणमट्ठं खलु वंचयंति।
असाहुणो ते इह साधुमाणी, मायण्णि एसिंति अणंतघंतं ॥४॥

५६१ जे कोहणे होति जगट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अंधे व से दंडपहं गहाय, अविओसिए घासति पावकम्मी ॥५॥

५६२ जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होति अझंझपत्ते।
ओवायकारी य हिरीमणे य, एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥६॥

५६३ से पेसले सुहुमे पुरिसजाते, जच्चण्णिए चेव सुउज्जुयारे।
बहुं पि अणुसासिते जे तहच्चा, समे हु से होति अझंझपत्ते ॥७॥

५६४ जे आवि अप्पं वसुमं ति मंता, संखाय वादं अपरिच्छ कुज्जा।
तवेण वा हं सहिते त्ति मंता, अण्णं जणं पस्सति बिंबभूतं ॥८॥

५६५ एगंतकूडेण तु से पलेति, ण विज्जती मोणपदंसि गोते।
ज माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमण्णतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

५६६ जे माहणे जातिए खत्तिए वा, तह उग्गपुत्ते तह लेच्छती वा।
जे पव्वइते परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥१०॥

५६७ ण तस्स जाती व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जा-चरणं सुचिण्णं।
णिक्खम्म जे सेवतिऽगारिकम्मं, ण से पारए होति विमोयणाए ॥११॥

५५८. दिन-रात सम्यक् रूप से सदनुष्ठान करने में उद्यत श्रुतधरों तथा तथागतों (तीर्थंकरों से श्रुत-चारित्र) धर्म को पाकर तीर्थंकरों आदि द्वारा कथित समाधि (सम्यग्दर्शनादि मोक्षपद्धति) का सेवन न करने वाले कुसाधु (जामालि, वोटिक आदि निन्हव) अपने प्रशास्ता धर्मोपदेशक (आचार्य या तीर्थंकरादि) को कठोर शब्द (कुवाक्य) कहते हैं।

५५९. वे स्वमताग्रहग्रस्त कुसाधु (जामालि गोष्ठामाहिल आदि निन्हववत्) विविध प्रकार से शोधित (कुमार्ग-प्ररूपणा से निवारित) इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग (जिनमार्ग) की आचार्य परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपणा करते हैं। जो व्यक्ति अहंकार वश आत्मभाव से (अपनी रुचि या कल्पना से) आचार्य परम्परा के विपरीत सूत्रों का अर्थ करते हैं, वे बहुत से ज्ञानादि सद्गुणों के स्थान (भाजन) नहीं होते। वे (अल्पज्ञान गर्वित होकर) वीतराग के ज्ञान में शंका करके मिथ्या भाषण करते हैं।

५६०. जो कुसाधु पूछने पर अपने आचार्य या गुरु आदि का नाम छिपाते हैं, वे आदान रूप अर्थ (ज्ञानादि अथवा मोक्षरूप पदार्थ) से अपने आप को वञ्चित करते हैं। वे वस्तुतः इस जगत् में या धार्मिक जगत् में असाधु होते हुए भी स्वयं को साधु मानते हैं, अतः मायायुक्त वे व्यक्ति अनन्त (बहुत) बार विनाश (या संसारचक्र) को प्राप्त करेंगे।

५६१. जो कषाय-फल से अनभिज्ञ कुसाधु, प्रकृति से क्रोधी है, अविचारपूर्वक बोलता (परदोष-भाषी) है, जो उपशान्त हुए कलह को फिर उभाड़ता (जगाता) रहता है, वह पापकर्मी एवं सदैव कलह ग्रस्त व्यक्ति (चातुर्गतिक संसार में यातनास्थान पाकर) बार-बार उसी तरह पीड़ित होता है, जिस तरह छोटी संकडी पगडंडी पकड़ कर चलने वाला (सुमार्ग से अनभिज्ञ) अंधा (कांटों, हिंस्र पशुओं आदि से) पीड़ित होता है।

५६२. जो साधक कलहकारी है, अन्याययुक्त (न्याय-विरुद्ध) बोलता है, वह (रागद्वेषयुक्त होने के कारण) सम—मध्यस्थ नहीं हो सकता, वह कलहरहित भी नहीं होता (अथवा वह अकलह प्राप्त सम्यग्-दृष्टि के समान नहीं हो सकता)। परन्तु सुसाधु उपपातकारी (गुरुसान्निध्य में रहकर उनके निर्देशानुसार चलने वाला) या उपायकारी (सूत्रोपदेशानुसार उपाय—प्रवृत्ति करने वाला) होता है, वह अनाचार सेवन करते गुरु आदि से लज्जित होता है, जीवादि तत्वों में उसकी दृष्टि (श्रद्धा) स्पष्ट या निश्चित होती है; तथा वह माया-रहित व्यवहार करता है।

५६३. भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा अनेक बार अनुशासित होकर (शिक्षा पाकर) भी जो अपनी लेश्या (अर्चा-चित्तवृत्ति) शुद्ध रखता है, वह सुसाधक मृदुभाषी या विनयादिगुणयुक्त है। वही सूक्ष्मार्थदर्शी है, वही वास्तव में संयम में पुरुषार्थी है, तथा वही उत्तम जाति से समन्वित और साध्वाचार में ही सहज-सरल-भाव से प्रवृत्त रहता है। वही सम (निन्दा-प्रशंसा में रोष-तोष रहित मध्यस्थ) है, और अकषाय-प्राप्त (अक्रोधी या अमायी) है (अथवा वही सुसाधक वीतराग पुरुषों के समान अझंझा प्राप्त है)।

५६४-५६५. जो अपने आपको संयम एवं ज्ञान का धनी मानकर अपनी परीक्षा किये बिना ही किसी के साथ वाद छेड़ देता है, अथवा अपनी प्रशंसा करता हैं, तथा मैं महान् तपस्वी हूँ; इस प्रकार के मद से मत्त होकर दूसरे व्यक्ति को जल में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह निरर्थक तुच्छ देखता—समझता है।

वह मदलिप्त साधु एकान्तरूप से मोहरूपी कूटपाश में फँस कर संसार में परिभ्रमण करता है, तथा जो सम्मान प्राप्ति के लिए संयम, तपस्या, ज्ञान आदि विविध प्रकार का मद करता है, वह समस्त

आगम-वाणी के त्राता आधारभूत (गोत्र) मौनीन्द्र (सर्वज्ञ वीतराग) के पद-मार्ग में अथवा मौनपद (संयमपथ) में स्थित नहीं है। वास्तव में संयम लेकर जो ज्ञानादि का मद करता है, वह परमार्थतः सर्वज्ञ-मार्ग को नहीं जानता—वह मूढ़ है।

५६६. जो ब्राह्मण है अथवा क्षत्रिय जातीय है, तथा उग्र (वंशीय क्षत्रिय-) पुत्र है, अथवा लिच्छवी (गण का क्षत्रिय) है, जो प्रव्रजित होकर परदत्तभोजी (दूसरे-गृहस्थ के द्वारा दिया हुआ आहार सेवन करने वाला) है, जो अभिमान योग्य स्थानों से पूर्व सम्बन्धित होकर भी अपने (उच्च) गोत्र का मद नहीं करता. वही सर्वज्ञोक्त याथातथ्य चारित्र में प्रवृत्त साधु है।

५६७. भलीभांति आचरित (सेवित) ज्ञान (विद्या) और चारित्र (चरण) के सिवाय (अन्य) साधक की जाति अथवा कुल (दुर्गति से) उसकी रक्षा नहीं कर सकते। जो प्रव्रज्या लेकर फिर गृहस्थ कर्म (सावद्य कर्म, आरम्भ) का सेवन करता है वह कर्मों से विमुक्त होने में समर्थ नहीं होता।

विवेचन—कुसाधु के कुशील और सुसाधु के सुशील का यथातथ्य निरूपण—प्रस्तुत १० सूत्रगाथाओं में कुसाधुओं और सुसाधुओं के कुशील एवं सुशील का यथार्थ निरूपण किया गया है।

कुसाधुओं के कुशील का यथातथ्य इस प्रकार है—(१) अहर्निश सदनुष्ठान में उद्यत श्रुतधरों या तीर्थंकरों से श्रुतचारित्र धर्म को पाकर उनके द्वारा कथित समाधि का सेवन नहीं करते (२) अपने उपकारी प्रशास्ता की निन्दा करते हैं. (३) वे इस विशुद्ध सम्यग्दर्शनादि युक्त जिन मार्ग की परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपणा करते हैं; (४) अपनी स्वच्छन्दकल्पना से सूत्रों का विपरीत अर्थ करते हैं, (५) वीतराग सर्वज्ञ के ज्ञान में कुशंका करके मिथ्याभाषण करते हैं, (६) वे पूछने पर आचार्य या गुरु का नाम छिपाते हैं, अतः मोक्षरूप फल से स्वयं को वंचित करते हैं, (७) वे धार्मिक जगत् में वस्तुतः असाधु होते हुए भी स्वयं को मायापूर्वक सुसाधु मानते हैं, (८) वे प्रकृति से क्रोधी होते हैं, (९) बिना सोचे विचारे बोलते हैं, या परदोषभाषी हैं, (१०) वे उपशान्त कलह को पुनः उभारते हैं, (११) वे सदैव कलहकारी व पापकर्मी होते हैं, (१२) न्याय विरुद्ध बोलते हैं, (१३) ऐसे कुसाधु सम (रागद्वेष रहित या मध्यस्थ अथवा सम्यग्दृष्टि के समान नहीं) हो पाते। (१४) अपने आपको महाज्ञानी अथवा सुसंयमी मान कर बिना ही परीक्षा किये अपनी प्रशंसा करते हैं, (१५) मैं बहुत बड़ा तपस्वी हूँ, यह मानकर दूसरों को तुच्छ मानते हैं, (१६) वह अहंकारी साधु एकान्तरूप से मोहरूपी कूटपाश में फंसकर संसार परिभ्रमण करता है, वह सर्वज्ञ प्रभु के मार्ग या पद में स्थित नहीं है (१७) जो संयमी होकर सम्मान-सत्कार पाने के लिए ज्ञान, तप, लाभ आदि का मद करता है, वह मूढ़ है, परमार्थ से अनभिज्ञ है। (१८) जिनमें ज्ञान और चारित्र नहीं है, जाति, कुल आदि उनकी रक्षा नहीं कर सकते, अतः प्रव्रज्या ग्रहण कर जो जाति, कुल आदि का मद करता है, एवं गृहस्थ के कर्मों (सावद्यकर्मों) का सेवन करता है, वह असाधु अपने कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता।[२]

---

२ (क) सूत्रकृतांग शी० वृत्ति पत्रांक २३२ से २३५
(ख) सूत्र० गाथा ५५८ से ५६२, ५६४ से ५६७ तक

सुसाधुओं के सुशील का याथातथ्य—इस प्रकार है—(१) सुसाधु गुरु के सान्निध्य में रहकर उनके निर्देशानुसार प्रवृत्ति करता है, और सूत्रोपदेशानुसार प्रवृत्ति करता है, (२) वह अनाचार सेवन करने में गुरु आदि से लज्जित होता है, (३) जीवादि तत्त्वों पर उसकी श्रद्धा दृढ़ होती है, (४) वह मायारहित व्यवहार करता है, (५) भूल होने पर आचार्यादि द्वारा अनुशासित होने पर भी अपनी चित्तवृत्ति शुद्ध रखता है, (६) वह मृदुभाषी या विनयादि गुणों से युक्त होता है, (७) वह सूक्ष्मार्थदर्शी एवं पुरुषार्थी होता (८) वह साध्वाचार में सहजभाव से प्रवृत्त रहता है, (९) वह निन्दा-प्रशंसा में सम रहता है. (१०) अकषायी होता है अथवा वीतराग पुरुष के समान अझंझाप्राप्त है, (११) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च जाति का पूर्वाश्रमी होकर भी उच्च गोत्र का मद नहीं करता, वही याथातथ्य चारित्र में प्रवृत्त सुसाधु है, (१२) जो प्रव्रजित होकर परदत्तभोजी होकर किसी प्रकार का जातिमद नहीं करता।[3]

साधु की ज्ञानादि साधना में तथ्य-अतथ्य विवेक—

५६८ णिक्किंचणे भिक्खू सुलूहजीवी, जे गारवं होति सिलोयगामी।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणे, पुणो पुणो विप्परियासुवेति ॥१२॥

५६९ जे भासवं भिक्खु सुसाधुवादी, पडिहाणवं होति विसारए य।
आगाढपण्णे सुविभावितप्पा, अण्णं जणं पण्णसा परिभवेज्जा ॥१३॥

५७० एवं ण से होति समाहिपत्ते, जे पण्णसा भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते, अण्णं जणं खिंसति बालपण्णे ॥१४॥

५७१ पण्णामयं चेव तवोमयं च, णिण्णामए गोयमयं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिते उत्तमपोग्गले से ॥१५॥

५७२ एताइं मदाइं विगिंच धीरे, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोत्तावगता महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति ॥१६॥

५७३ भिक्खू मुयच्चा तह दिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा।
से एसणं जाणमणेसणं च, अण्णस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१७॥

५६८. जो भिक्षाजीवी साधु अकिंचन-अपरिग्रही है, भिक्षान्न से उदर पोषण करता है, रूखा-सूखा अन्त-प्रान्त आहार करता है। फिर भी यदि वह अपनी ऋद्धि, रस और साता (सुख सामग्री) का गर्व (गौरव) करता है, तथा अपनी प्रशंसा एवं स्तुति की आकांक्षा रखता है, तो उसके ये सब (अकिंचनता,

---

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २३४-२३५
(ख) सूत्र० गाथा० ५६२, ५६३, ५६६

रूक्षजीविता और भिक्षाजीविता आदि गुण केवल उसकी आजीविका के साधन हैं। परमार्थ को न जानने वाला वह अज्ञानी पुनः-पुनः विपर्यास—जन्म, जरा, मृत्यु; रोग, शोक आदि उपद्रवों को प्राप्त होता है।

५६९-५७०. जो भिक्षु भाषाविज्ञ है- भाषा के गुण-दोष का विचार करके बोलता है, तथा हित-मित-प्रिय भाषण करता है, औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न है, और शास्त्रपाठों की सुन्दर व्याख्या एवं अनेक अर्थ करने में विशारद (निपुण) है, सत्य-तत्त्व निष्ठा में जिसकी प्रज्ञा आगाढ़ (गड़ी हुई) है, धर्म-भावना से जिसका हृदय अच्छी तरह भावित (रंगा हुआ) है, वही सच्चा साधु है, परन्तु इन गुणों से युक्त होने पर भी जो इन गुणों के मद से ग्रस्त होकर दूसरों का अपनी बुद्धि से तिरस्कार करता है, (वह उक्त गुणों पर पानी फेर देता है)।

जो भिक्षु प्रज्ञावान् होकर अपनी जाति, बुद्धि आदि का गर्व करता है, अथवा जो लाभ के मद से अवलिप्त (मत्त) होकर दूसरों की निन्दा करता है, या उन्हें झिड़कता है, वह बालबुद्धि मूर्ख समाधि प्राप्त नहीं कर पाता।

५७१-५७२. भिक्षु प्रज्ञा का मद, तपोमद, गोत्र का मद और चौथा आजीविका का मद मन से निकाल दे—हटा दे। जो ऐसा करता है, वही पण्डित और उत्तम आत्मा है।

धीर पुरुष इन (पूर्वोक्त सभी) मदों (मद स्थानों) को संसार के कारण समझकर आत्मा से पृथक् कर दे। सुधीरता (बुद्धि से सुशोभित) के धर्म-स्वभाव वाले साधु इन जाति आदि मदों का सेवन नहीं करते। वे सब प्रकार के गोत्रों से रहित महर्षिगण, नाम-गोत्रादि से रहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं।

५७३. मृतार्च (शरीर के स्नान-विलेपनादि संस्कारों से रहित अथवा प्रशस्त-मुदित लेश्या वाला) तथा धर्म को जाना-देखा हुआ भिक्षु ग्राम और नगर में (भिक्षा के लिए) प्रवेश करके (सर्वप्रथम) एषणा और अनैषणा को अच्छी तरह जानता हुआ अन्न-पान में आसक्त न होकर (शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे)।

विवेचन—साधु की ज्ञानादि साधना में तथ्य-अतथ्य-विवेक—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओं में ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की यथातथ्य साधना से सम्पन्न साधु में कहाँ और कितना अतथ्य और तथ्य प्रविष्ट हो सकता है? परिणाम सहित ये दोनों चित्र बहुत ही सुन्दर ढंग से शास्त्रकार द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं।

उच्च साधु: परन्तु अतथ्य का प्रवेश—(१) एक साधु सर्वथा अकिञ्चन है, भिक्षान्न से निर्वाह करता है, भिक्षा में भी रूखा-सूखा आहार प्राप्त करके प्राण धारण करता है, इतना उच्चाचारी होते हुए भी यदि वह अपनी ऋद्धि (लब्धि या भक्तों के जमघट का ठाटवाट), रस और साता (सुख-सुविधा) का गर्व करता है, अपनी प्रशंसा और प्रसिद्धि की आकांक्षा करता है तो उपर्युक्त गुण अतथ्य हो जाते हैं। (२) एक साधु वहुभाषाविद् है, सुन्दर उपदेश देता है, प्रतिभा सम्पन्न है, शास्त्र विशारद है, सत्यग्राही प्रज्ञा से सम्पन्न है, धर्म-भावना से अन्तःकरण रंगा हुआ है, इतने गुणों से युक्त होने पर भी जो इन गुणों के मद

से ग्रस्त एवं जाति, बुद्धि और लाभ आदि के मद से लिप्त होकर दूसरों का तिरस्कार करता है, दूसरों की निन्दा करता है, उन्हें झिड़कता है, तो उसके ये गुण अतथ्य हो जाते हैं, वह साधक समाधिभ्रष्ट हो जाता है।[४]

सामान्य साधु : तथ्य का प्रवेश– (१) जो भिक्षु प्रज्ञा, तप, गोत्र एवं आजीविका का मद मन से निकाल देता है, वही उच्च कोटि का महात्मा और पण्डित है, (२) जो धीर पुरुष सभी मदों को संसार का कारण समझकर उन्हें आत्मा से पृथक् कर देते हैं, जरा भी मद का सेवन नहीं करते, वे सब प्रकार के गोत्रों से रहित उच्चकोटि के महर्षि हैं, वे गोत्रादिरहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं, (३) जो भिक्षु ग्राम या नगर में भिक्षार्थ प्रवेश करते ही सर्वप्रथम एषणा-अनेषणा का भली-भाँति विचार करता है, तदनन्तर आहार-पानी में आसक्त न होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है, वह प्रशस्त लेश्या सम्पन्न एवं धर्मविज्ञ साधु है। ये तीनों सामान्य साधु भी याथातथ्य प्रवेश होने के कारण उच्चकोटि के बन जाते हैं।[५]

सुसाधु द्वारा यथातथ्य धर्मोपदेश के प्रेरणासूत्र—

५७४ अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहूजणे वा तह एगचारी।
एगंतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य ॥१८॥

५७५ सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हितदं पयाणं।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१९॥

५७६ केसिंचि तक्काइ अबुज्झभावं खुड्डं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आयुस्स कालातियारं वघातं, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥२०॥

५७७ कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे, विणएज्ज उ सव्वतो आयभावं।
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥२१॥

५७८ न पूयणं चेव सिलोयकामी, पियमप्पियं कस्सवि णो कहेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥२२॥

५७४. साधु संयम में अरति (अरुचि) और असंयम में रति (रुचि) को त्याग कर बहुत से साधु-जनों के साथ रहता हो या अकेला रहता हो, जो बात मौन (मुनि धर्म या संयम) से सर्वथा अविरुद्ध-

४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २३५, २३६
(ख) सूयगडंग (मू० पा० टिप्पण) सू० गा० ५६८ से ५७० तक पृ० १०३

५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २३७, २३८
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) सू० गा० ५७१ से ५७३ तक पृ० १०३-१०४

रूक्षजीविता और भिक्षाजीविता आदि गुण केवल उसकी आजीविका के साधन हैं। परमार्थ को न जानने वाला वह अज्ञानी पुनः-पुनः विपर्यास—जन्म, जरा, मृत्यु; रोग, शोक आदि उपद्रवों को प्राप्त होता है।

५६९-५७०. जो भिक्षु भाषाविज्ञ है- भाषा के गुण-दोष का विचार करके बोलता है, तथा हित-मित-प्रिय भाषण करता है, औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न है, और शास्त्रपाठों की सुन्दर व्याख्या एवं अनेक अर्थ करने में विशारद (निपुण) है, सत्य-तत्त्व निष्ठा में जिसकी प्रज्ञा आगाढ़ (गड़ी हुई) है, धर्म-भावना से जिसका हृदय अच्छी तरह भावित (रंगा हुआ) है, वही सच्चा साधु है, परन्तु इन गुणों से युक्त होने पर भी जो इन गुणों के मद से ग्रस्त होकर दूसरों का अपनी बुद्धि से तिरस्कार करता है, (वह उक्त गुणों पर पानी फेर देता है)।

जो भिक्षु प्रज्ञावान् होकर अपनी जाति, बुद्धि आदि का गर्व करता है, अथवा जो लाभ के मद से अवलिप्त (मत्त) होकर दूसरों की निन्दा करता है, या उन्हें झिड़कता है, वह बालबुद्धि मूर्ख समाधि प्राप्त नहीं कर पाता।

५७१-५७२. भिक्षु प्रज्ञा का मद, तपोमद, गोत्र का मद और चौथा आजीविका का मद मन से निकाल दे—हटा दे। जो ऐसा करता है, वही पण्डित और उत्तम आत्मा है।

धीर पुरुष इन (पूर्वोक्त सभी) मदों (मद स्थानों) को संसार के कारण समझकर आत्मा से पृथक् कर दे। सुधीरता (बुद्धि से सुशोभित) के धर्म-स्वभाव वाले साधु इन जाति आदि मदों का सेवन नहीं करते। वे सब प्रकार के गोत्रों से रहित महर्षिगण, नाम-गोत्रादि से रहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं।

५७३. मृतार्च (शरीर के स्नान-विलेपनादि संस्कारों से रहित अथवा प्रशस्त-मुदित लेश्या वाला) तथा धर्म को जाना-देखा हुआ भिक्षु ग्राम और नगर में (भिक्षा के लिए) प्रवेश करके (सर्वप्रथम) एषणा और अनैषणा को अच्छी तरह जानता हुआ अन्न-पान में आसक्त न होकर (शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे)।

विवेचन—साधु की ज्ञानादि साधना में तथ्य-अतथ्य-विवेक—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओं में ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की यथातथ्य साधना से सम्पन्न साधु में कहाँ और कितना अतथ्य और तथ्य प्रविष्ट हो सकता है? परिणाम सहित ये दोनों चित्र बहुत ही सुन्दर ढंग से शास्त्रकार द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं।

उच्च साधु: परन्तु अतथ्य का प्रवेश—(१) एक साधु सर्वथा अकिञ्चन है, भिक्षान्न से निर्वाह करता है, भिक्षा में भी रूखा-सूखा आहार प्राप्त करके प्राण धारण करता है, इतना उच्चाचारी होते हुए भी यदि वह अपनी ऋद्धि (लब्धि या भक्तों के जमघट का ठाटबाट), रस और साता (सुख-सुविधा) का गर्व करता है, अपनी प्रशंसा और प्रसिद्धि की आकांक्षा करता है तो उपर्युक्त गुण अतथ्य हो जाते हैं। (२) एक साधु बहुभाषाविद् है, सुन्दर उपदेश देता है, प्रतिभा सम्पन्न है, शास्त्र विशारद है, सत्यग्राही प्रज्ञा से सम्पन्न है, धर्म-भावना से अन्तःकरण रंगा हुआ है, इतने गुणों से युक्त होने पर भी जो इन गुणों के मद

से ग्रस्त एवं जाति, बुद्धि और लाभ आदि के मद से लिप्त होकर दूसरों का तिरस्कार करता है, दूसरों की निन्दा करता है, उन्हें झिड़कता है, तो उसके ये गुण अतथ्य हो जाते हैं, वह साधक समाधिभ्रष्ट हो जाता है।[४]

सामान्य साधु : तथ्य का प्रवेश– (१) जो भिक्षु प्रज्ञा, तप, गोत्र एवं आजीविका का मद मन से निकाल देता है, वही उच्च कोटि का महात्मा और पण्डित है, (२) जो धीर पुरुष सभी मदों को संसार का कारण समझकर उन्हें आत्मा से पृथक् कर देते हैं, जरा भी मद का सेवन नहीं करते, वे सब प्रकार के गोत्रों से रहित उच्चकोटि के महर्षि हैं, वे गोत्रादिरहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं, (३) जो भिक्षु ग्राम या नगर में भिक्षार्थ प्रवेश करते ही सर्वप्रथम एषणा-अनेषणा का भली-भाँति विचार करता है, तदनन्तर आहार-पानी में आसक्त न होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है, वह प्रशस्त लेश्या सम्पन्न एवं धर्मविज्ञ साधु है। ये तीनों सामान्य साधु भी याथातथ्य प्रवेश होने के कारण उच्चकोटि के बन जाते हैं।[५]

साधु द्वारा यथातथ्य धर्मोपदेश के प्रेरणासूत्र–

५७४ **अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहूजणे वा तह एगचारी।**
एगंतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य ॥१८॥

५७५ **सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हितदं पयाणं।**
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१९॥

५७६ **केसिंचि तक्काइ अबुज्झभावं खुड्डं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे।**
आयुस्स कालातियारं वघातं, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥२०॥

५७७ **कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे, विणएज्ज उ सव्वतो आयभावं।**
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥२१॥

५७८ **न पूयणं चेव सिलोयकामी, पियमप्पियं कस्सवि णो कहेज्जा।**
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥२२॥

५७४. साधु संयम में अरति (अरुचि) और असंयम में रति (रुचि) को त्याग कर बहुत से साधुजनों के साथ रहता हो या अकेला रहता हो, जो बात मौन (मुनि धर्म या संयम) से सर्वथा अविरुद्ध-

---

४ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २३५, २३६
(ख) सूयगडंग (मू० पा० टिप्पण) सू० गा० ५६८ से ५७० तक पृ० १०३

५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २३७, २३८
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) सू० गा० ५७१ से ५७३ तक पृ० १०३-१०४

संगत हो, वही कहे। (यह ध्यान रखे कि) प्राणी अकेला ही परलोक जाता है, और अकेला ही आता (परलोक से आगति करता) है।

५७५. स्वयं जिनोक्त धर्म सिद्धान्त (चतुर्गतिक संसार उसके मिथ्यात्वादि कारण तथा समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष, एवं उसके सम्यग्दर्शनादि धर्म रूप कारण आदि) को भलीभाँति जानकर अथवा दूसरे से सुनकर प्रजाओं (जनता) के लिए हितकारक धर्म का उपदेश दे। जो कार्य निन्द्य (गर्हित) हैं, अथवा जो कार्य निदान (सांसारिक फलाकांक्षा) सहित किये जाते हैं, सुधीर वीतराग धर्मानुयायी साधक उनका सेवन नहीं करते।

५७६. किन्हीं लोगों के भावों (अभिप्रायों) को अपनी तर्कबुद्धि से न समझा जाए तो वे उस उपदेश पर श्रद्धा न करके क्षुद्रता (क्रोध-आक्रोश-प्रहारादि) पर भी उतर सकते हैं तथा वे (उपदेश देने वाले की दीर्घकालिक) आयु को भी (आघात पहुंचा कर) घटा सकते हैं (उसे मार भी सकते हैं)। इसलिए साधु (पहले) अनुमान से दूसरों का अभिप्राय (भाव) जानकर फिर धर्म का उपदेश दे।

५७७. धीर साधक श्रोताओं के कर्म (जीविका, व्यवसाय या आचरण) एवं अभिप्राय को सम्यक् प्रकार से जानकर (विवेक करके) धर्मोपदेश दे। (उपदेश द्वारा) (श्रोताओं के जीवन में प्रविष्ट) आय भाव को (मिथ्यात्वादि दुष्कर्मों की आय-वृद्धि को अथवा अनादिकालाभ्यस्त मिथ्यात्वादि आत्मभाव को) सर्वथा या सब ओर से दूर करे। तथा उन्हें यह समझाए कि स्त्रियों के (बाहर से सुन्दर दिखाई देने वाले) रूप से (उसमें आसक्त जीव) विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार विद्वान् (धर्मोपदेशाभिज्ञ) साधक श्रोताओं (दूसरों) का अभिप्राय जानकर त्रस-स्थावरों के लिए हितकर धर्म का उपदेश करे।

५७८. साधु (धर्मोपदेश के द्वारा) अपनी पूजा (आदर-सत्कार) और श्लाघा (कीर्ति-प्रसिद्धि या प्रशंसा) की कामना न करे, तथा उपदेश सुनने-न सुनने या सुनकर आचरण करने न करने वाले पर प्रसन्न या अप्रसन्न होकर किसी का प्रिय (भला) या अप्रिय (बुरा) न करे (अथवा किसी पर राग या द्वेष न करे)। (पूर्वोक्त) सभी अनर्थों (अहितकर बातों) को छोड़ता हुआ साधु आकुलता-रहित एवं कषाय-रहित धर्मोपदेश दे।

विवेचन—सुसाधु द्वारा यथातथ्य धर्मोपदेश के प्रेरणासूत्र—प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं में सुसाधुओं द्वारा मुनिधर्म की मर्यादा में अबाधक यथातथ्य धर्मोपदेश करने या धर्मयुक्त मार्ग दर्शन देने के कतिपय प्रेरणासूत्र अंकित किये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) संयम में अरति और असंयम में रति पर विजय पाकर साधु एकान्ततः वही बात कहे, जो मुनिधर्म या संयम से अविरुद्ध या संगत हो, भले ही वह बहुत से साथी साधुओं के साथ रहता हो या अकेला हो।

(२) वह धर्म का महत्त्व बताने हेतु प्रेरणा करे कि जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरकर परलोक में जाता है, धर्म के सिवाय उसका कोई सहायक नहीं है।

(३) चतुर्गतिक संसार, उसमें परिभ्रमण के मिथ्यात्वादि हेतु कर्मबन्ध, समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष, उसके सम्यग्दर्शनादि कारण आदि सबको सम्यक् जानकर तथा आचार्यादि से सुनकर साधु जनहित-कारक धर्म का उपदेश करे।

(४) जो कार्य निन्द्य एवं निदान युक्त किये जाते हैं, वीतराग-धर्मानुगामी सुधीर साधक न तो उनका स्वयं आचरण करे, और न ही दूसरों को ऐसे अकरणीय कार्यों की प्रेरणा दे।

(५) साधु उपदेश देने से पहले श्रोता या परिषद् के अभिप्रायों को अपनी तर्कबुद्धि एवं अनुमान से भली-भाँति जान ले, तत्पश्चात् ही उपदेश दे अन्यथा उपदेशक पर अश्रद्धा करके वे क्षुद्रता पर उतर सकते हैं, उस पर पालक द्वारा स्कन्दक मुनिवत् मरणान्तक प्रहारादि भी कर सकते हैं।

(६) धीर साधक श्रोताओं के कर्म (आचरण या व्यवसाय) एवं अभिप्राय का समीचीन विचार करके त्रस-स्थावर जीवों के लिए हितकर धर्म का उपदेश दे।

(७) वह इस प्रकार का उपदेश दे, जिससे श्रोताओं के मिथ्यात्वादि-जनित कर्म दूर हों, जैसे—बाहर से सुन्दर दिखाई देने वाले नारीरूप में आसक्त जीव विनष्ट हो जाते हैं, इत्यादि बातें श्रोताओं के दिमाग में युक्तिपूर्वक ठसाने से उनको विषयों के प्रति आसक्ति दूर हो सकती है।

(८) साधु अपनी पूजा, सत्कार प्रशंसा, कीर्ति या प्रसिद्धि आदि प्राप्त करने की दृष्टि से धर्मोपदेश न दे।

(९) उपदेश सुनने न सुनने अथवा उपदेश के अनुसार आचरण करने न करने वाले पर प्रसन्न या अप्रसन्न होकर या राग या द्वेष से प्रेरित होकर साधु किसी का इष्ट (प्रिय) या अनिष्ट न करे, अथवा श्रोता को प्रिय लगने वाली स्त्रीविकथा, राजविकथा, भोजनविकथा, देशविकथा अथवा सावद्यप्रवृत्ति प्रेरक कथा न करे, न ही किसी समूह को अप्रिय लगने वाली, उस समूह के देव, गुरु की कटु शब्दों में आलोचना, निन्दा, मिथ्या आक्षेप आदि से युक्त कथा करे।

(१०) पूर्वोक्त सभी अनर्थों का परित्याग करके साधु शान्त, अनाकुल, एवं कषाय-रहित होकर धर्मोपदेश दे।[६]

साधु धर्म का यथा तथ्यरूप में प्राणप्रण से पालन करे—

५७९ आहत्तहियं समुपेहमाणे सव्वेहिं पाणेहिं निहाय दंडं।
नो जीवियं नो मरणाभिकंखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के ॥२३॥

॥ आहत्तहियं : तेरसमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

---

६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २३८-२३९

५७९. साधु यथातथ्य धर्म को (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को या स्व-पर सिद्धान्त को यथातथ्यरूप में) भली-भाँति जानता-देखता हुआ समस्त प्राणियों को दण्ड देना (प्राण-हनन करना) छोड़कर अपने जीवन एवं मरण की आकांक्षा न करे, तथा माया से विमुक्त होकर संयमाचरण में उद्यत रहे।

विवेचन—साधुधर्म का यथातथ्य रूप में प्राणप्रण से पालन करे—प्रस्तुत सूत्र अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार किसी भी मूल्य पर यथातथ्यरूप में सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म का पालन करने, उसी का चिन्तन-मनन करने और जीवन-मरण की आकांक्षा न करते हुए निश्छल भाव से उसी का अनुसरण करने का निर्देश करते हैं। वृत्तिकार इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि धर्म, मार्ग, समवसरण आदि पिछले अध्ययनों में कथित सम्यक्त्व, चारित्र एवं ज्ञान के तत्त्वों पर सूत्रानुसार यथातथ्य चिन्तन, मनन, एव आचरण करे। प्राण जाने का अवसर आए तो भी यथातथ्य धर्म का अतिक्रमण न करे। असंयम के साथ या प्राणिवध करके चिरकाल तक जीने की आकांक्षा न करे तथैव परीषह उपसर्ग आदि से पीड़ित होने पर शीघ्र मृत्यु की आकांक्षा न करे।[७]

॥ याथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

□□□□

ग्रन्थ : चतुर्दश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के चौदहवें अध्ययन का नाम 'ग्रन्थ' है।

☐ ग्रन्थ शब्द गाँठ, पुस्तक एवं बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार ग्रन्थ शब्द का अर्थ बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह हैं। बाह्यग्रन्थ के मुख्य १० प्रकार हैं—(१) क्षेत्र, (२) वस्तु, (३) धन-धान्य, (४) ज्ञातिजन, मित्र तथा द्विपद—चतुष्पद जीव, (५) वाहन, (६) शयन, (७) आसन, (८) दासी-दास, (९) स्वर्ण-रजत, और (१०) विविध साधन-सामग्री। इन बाह्य पदार्थों में मूर्च्छा रखना ही वास्तव में ग्रन्थ है। आभ्यन्तर ग्रन्थ के मुख्य १४ प्रकार हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) राग (मोह), (६) द्वेष, (७) मिथ्यात्व, (८) काम (वेद), (९) रति (असंयम में रुचि) (१०) अरति (संयम में अरुचि), (११) हास्य, (१२) शोक, (१३) भय और (१४) जुगुप्सा।

☐ उत्तराध्ययन सूत्र के क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन के अनुसार जो इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों का त्याग कर देता है, जिसे इन द्विविध ग्रन्थों से लगाव, आसक्ति या रुचि नहीं है, तथा निर्ग्रन्थ मार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचारांग आदि ग्रन्थों का जो अध्ययन, प्रशिक्षण करते हैं, वे निर्ग्रन्थ-शिष्य कहलाते हैं।

☐ निर्ग्रन्थ-शिष्य को गुरु के पास रहकर ज्ञपरिज्ञा से बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थों को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागना चाहिए। इत्यादि ग्रन्थविषयक प्रेरणा मुख्य होने से इस अध्ययन का नाम 'ग्रन्थ' रखा गया है। अथवा इस अध्ययन के प्रारम्भ में गंथं (ग्रन्थ) शब्द का प्रयोग होने से इसका नाम 'ग्रन्थ' है।[1]

☐ शिष्य दो प्रकार के होते हैं—दीक्षाशिष्य और शिक्षाशिष्य। जो दीक्षा देकर शिष्य बनाया जाता है, वह दीक्षाशिष्य कहलाता है, तथा जो शैक्ष आचार्य आदि से पहले आचरण या (इच्छा,

---

१ (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गाथा १२७ से १३१ तक
(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक २४१

मिच्छा, तहक्कार आदि) की शिक्षा लेता है, वह शिक्षाशिष्य कहलाता है। शिष्य की तर आचार्य या गुरु भी दो प्रकार के होते हैं—दीक्षागुरु और शिक्षागुरु। अतः इस अध्ययन मुख्यतया यह बताया गया है कि ग्रन्थ-त्यागी शिक्षा शिष्य (शैक्षिक) और शिक्षागुरु कैसे हो चाहिए ? उन्हें कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए ? उनके दायित्व और कर्तव्य क्या-क्या हैं ? इन स तथ्यों का २७ गाथाओं द्वारा इस अध्ययन में निरूपण किया गया है।[२]

☐ यह अध्ययन ५८० सूत्रगाथा से प्रारम्भ होकर सूत्र गाथा ६०६ पर समाप्त होता है।

☐☐

गंथो : चउद्दसमं अज्झयणं

ग्रन्थ : चतुर्दश अध्ययन

ग्रन्थ त्यागी के लिए गुरुकुलवास का महत्त्व और लाभ—

५८० गंथं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेए विप्पमादं न कुज्जा ॥१॥

५८१ जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मण्णमाणं ।
तमचाइयं तरुणमपत्तजातं, ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥२॥

५८२ एवं तु सेहं पि अपुट्ठधम्मं, निस्सारियं वुसिमं मण्णमाणा ।
दियस्स छावं व अपत्तजातं, हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ॥३॥

५८३ ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिते णंतकरे ति णच्चा ।
ओभासमाणो दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे बहिया आसुपण्णे ॥४॥

५८४ जे ठाणओ या सयणासणे या, परक्कमे यावि सुसाधुजुत्ते ।
समितीसु गुत्तीसु य आयपण्णे, वियागरते य पुढो वदेज्जा ॥५॥

५८०. इस लोक में बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थ—परिग्रह का त्याग करके प्रव्रजित होकर मोक्षमार्ग-प्रतिपादक शास्त्रों के ग्रहण, (अध्ययन), और आसेवन-(आचरण) रूप में गुरु से सीखता हुआ साधक सम्यक्रूप से ब्रह्मचर्य (नवगुप्ति सहित ब्रह्मचर्य या संयम में) स्थित रहै अथवा गुरुकुल में वास करे। आचार्य या गुरु के सान्निध्य में अथवा उनकी आज्ञा में रहता हुआ शिष्य विनय का प्रशिक्षण ले। (संयम या गुरु-आज्ञा के पालन में) निष्णात साधक (कदापि) प्रमाद न करे।

५८१-५८२. जैसे कोई पक्षी का बच्चा पूरे पंख आये विना अपने आवासस्थान (घोंसले) से उड़कर अन्यत्र जाना चाहता है, वह तरुण-(बाल) पक्षी उड़ने में असमर्थ होता है। थोड़ा-थोड़ा पंख फड़फड़ाते देखकर ढंक आदि मांस-लोलुप पक्षी उसका हरण कर लेते हैं और मार डालते हैं।

इसी प्रकार जो साधक अभी श्रुत-चारित्र धर्म में पुष्ट—परिपक्व नहीं है, ऐसे शैक्ष (नवदीक्षित शिष्य) को अपने गच्छ (संघ) से निकला या निकाला हुआ तथा वश में आने योग्य जानकर अनेक पाषण्डी परतीर्थिक पंख न आये हुए पक्षी के बच्चे की तरह उसका हरण कर लेते (धर्म भ्रष्ट कर देते) हैं।

५८३. गुरुकुल में निवास नहीं किया हुआ साधकपुरुष अपने कर्मों का अन्त नहीं कर पाता, यह जानकर गुरु के सान्निध्य में निवास और समाधि की इच्छा करे। मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्यभूत-निष्कलंक चारित्रसम्पन्न) पुरुष के आचरण (वृत्त) को अपने सदनुष्ठान से प्रकाशित करे। अतः आशुप्रज्ञ साधक गच्छ से या गुरुकुलवास से बाहर न निकले।

५८४. गुरुकुलवास से साधक स्थान—(कायोत्सर्ग), शयन (शय्या-संस्तारक, उपाश्रय-शयन आदि) तथा आसन, (आसन आदि पर उपवेशन-विवेक, गमन-आगमन, तपश्चर्या आदि) एवं संयम में पराक्रम के (अभ्यास) द्वारा सुसाधु के समान आचरण करता है। तथा समितियों और गुप्तियों के विषय में (अभ्यस्त होने से) अत्यन्त प्रज्ञावान् (अनुभवी) हो जाता है, वह समिति-गुप्ति आदि का यथार्थस्वरूप दूसरों को भी बताता है।

विवेचन—**ग्रन्थत्यागी नव प्रव्रजित के लिए गुरुकुलवास का महत्व और लाभ**—प्रस्तुत पांचसूत्रों में साधु के लिए गुरुकुलवास का महत्व और लाभ निम्नोक्त पहलुओं से बताया गया हैं—(१) नवदीक्षित साधु को ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा से निपुण होने के लिए गुरुकुल में रहना आवश्यक है, (२) गुरु या आचार्य के सान्निध्य में रह कर आज्ञा पालन विनय; सेवा-शुश्रुषा आदि का सम्यक् प्रशिक्षण ले। (३) आचार्य के आदेश-निर्देश या संयम के पालन में प्रमाद न करे। (४) पंख आए विना ही उड़ने के लिए मचलने वाले पक्षी के बच्चे को मांस-लोलुप ढंकादि पक्षी धर दबाते हैं, वैसे ही गुरु के सान्निध्य में शिक्षा पाए बिना ही गच्छनिर्गत अपरिपक्व साधक को अकेला विचरण करते देख अन्यतीर्थिक लोग बहकाकर मार्गभ्रष्ट कर सकते हैं। (५) गुरुकुलवास न करने वाला स्वच्छन्दाचारी साधक कर्मों का अन्त नहीं कर पाता, (६) अतः साधक अनेक गुण वर्द्धक गुरुकुलवास में रहकर समाधि प्राप्त करे। (७) पवित्र पुरुष के आचरण को अपने सदनुष्ठान से प्रकाशित करे, (८) गुरुकुलवास से साधक कायोत्सर्ग, शयन, आसन, गमनागमन, तपश्चरण जप, संयम-नियम, त्याग आदि साध्वाचार में सुसाधु (परिपक्व साधु) के उपयुक्त बन जाता है। वह समिति गुप्ति आदि के अभ्यास में दीर्घदर्शी, अनुभवी और यथार्थ उपदेष्टा बन जाता है।[1]

दो प्रकार की शिक्षा—गुरु या आचार्य के सान्निध्य में रह कर दो प्रकार की शिक्षा प्राप्त की जाती है—(१) ग्रहण शिक्षा और (२) आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा में शास्त्रों और सिद्धान्तों के अध्ययन और रहस्य का ग्रहण किया जाता है आसेवन शिक्षा में महाव्रत, समिति, गुप्ति, ध्यान, कायोत्सर्ग, जप, तप, त्याग, नियम आदि चारित्र का अभ्यास किया जाता है। वास्तव में इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं से साधु का सर्वांगीण विकास हो जाता है।[2]

'सुबंभचेरं वसेज्जा'—आचारांग सूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य में निवास करने के चार अर्थ फलित होते हैं—(१) ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) में विचरण करना, (२) मैथुनविरति—सर्वेन्द्रिय-संयम, (३) सदाचार और (४) गुरुकुल में वास।

'ठाणओ'—में ठाण, (स्थान) शब्द भी पारिभाषिक है। स्थान शब्द भी आचारांग के अनुसार यहाँ कायोत्सर्ग अर्थ में है।[३]

गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा-ग्रहण-विधि—

५८५ सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं पी वितिगिच्छतिण्णे ॥६॥

५८६ डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिते ऊ, रातिणिएणावि समव्वएणं।
सम्मं तगं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जंतए वा वि अपारए से ॥७॥

५८७ विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे, डहरेण वुड्ढेण व चोइतेतु।
अच्चुट्ठिताए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ॥८॥

५८८ ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंचि फरुसं वदेज्जा।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा ॥९॥

५८९ वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं।
तेणावि मज्झं इणमेव सेयं, जं मे बुहा सम्मऽणुसासयंति ॥१०॥

५९० अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता।
एतोवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥११॥

५९१ णेया जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाइ अपस्समाणे।
से सूरियस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं विजाणाति पगासियंसि ॥१२॥

५९२ एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाति अबुज्झमाणे।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरोदए पासति चक्खुणेव ॥१३॥

५९३ उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जते तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पदोसं अविकंपमाणे ॥१४॥

---

३ देखिए आचा० द्वि० श्रु० अ० २ उ० १ सू० ४१२ में 'ठाणे वा सेज्जं वा'''का विवेचन तथा प्र० श्रु० के सूत्र १४३ में 'वसित्ता बंभचेरं' पद का विवेचन।

इसी प्रकार जो साधक अभी श्रुत-चारित्र धर्म में पुष्ट—परिपक्व नहीं है, ऐसे शैक्ष (नवदीक्षित शिष्य) को अपने गच्छ (संघ) से निकला या निकाला हुआ तथा वश में आने योग्य जानकर अनेक पाषण्डी परतीर्थिक पंख न आये हुए पक्षी के बच्चे की तरह उसका हरण कर लेते (धर्म भ्रष्ट कर देते) हैं।

५८३. गुरुकुल में निवास नहीं किया हुआ साधकपुरुष अपने कर्मों का अन्त नहीं कर पाता, यह जानकर गुरु के सान्निध्य में निवास और समाधि की इच्छा करे। मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्यभूत-निष्कलंक चारित्रसम्पन्न) पुरुष के आचरण (वृत्त) को अपने सदनुष्ठान से प्रकाशित करे। अतः आशुप्रज्ञ साधक गच्छ से या गुरुकुलवास से बाहर न निकले।

५८४. गुरुकुलवास से साधक स्थान—(कायोत्सर्ग), शयन (शय्या-संस्तारक, उपाश्रय-शयन आदि) तथा आसन, (आसन आदि पर उपवेशन-विवेक, गमन-आगमन, तपश्चर्या आदि) एवं संयम में पराक्रम के (अभ्यास) द्वारा सुसाधु के समान आचरण करता है। तथा समितियों और गुप्तियों के विषय में (अभ्यस्त होने से) अत्यन्त प्रज्ञावान् (अनुभवी) हो जाता है, वह समिति-गुप्ति आदि का यथार्थस्वरूप दूसरों को भी बताता है।

विवेचन—ग्रन्थत्यागी नव प्रव्रजित के लिए गुरुकुलवास का महत्व और लाभ—प्रस्तुत पांचसूत्रों में साधु के लिए गुरुकुलवास का महत्व और लाभ निम्नोक्त पहलुओं से बताया गया हैं—(१) नवदीक्षित साधु को ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा से निपुण होने के लिए गुरुकुल में रहना आवश्यक है, (२) गुरु या आचार्य के सान्निध्य में रह कर आज्ञा पालन विनय; सेवा-शुश्रुषा आदि का सम्यक् प्रशिक्षण ले। (३) आचार्य के आदेश-निर्देश या संयम के पालन में प्रमाद न करे। (४) पंख आए विना ही उड़ने के लिए मचलने वाले पक्षी के बच्चे को मांस-लोलुप ढंकादि पक्षी धर दबाते हैं, वैसे ही गुरु के सान्निध्य में शिक्षा पाए बिना ही गच्छनिर्गत अपरिपक्व साधक को अकेला विचरण करते देख अन्यतीर्थिक लोग बहकाकर मार्गभ्रष्ट कर सकते हैं। (५) गुरुकुलवास न करने वाला स्वच्छन्दाचारी साधक कर्मों का अन्त नहीं कर पाता, (६) अतः साधक अनेक गुण वर्द्धक गुरुकुलवास में रहकर समाधि प्राप्त करे। (७) पवित्र पुरुष के आचरण को अपने सदनुष्ठान से प्रकाशित करे, (८) गुरुकुलवास से साधक कायोत्सर्ग, शयन, आसन, गमनागमन, तपश्चरण जप, संयम-नियम, त्याग आदि साध्वाचार में सुसाधु (परिपक्व साधु) के उपयुक्त बन जाता है। वह समिति गुप्ति आदि के अभ्यास में दीर्घदर्शी, अनुभवी और यथार्थ उपदेष्टा बन जाता है।[1]

दो प्रकार की शिक्षा—गुरु या आचार्य के सान्निध्य में रह कर दो प्रकार की शिक्षा प्राप्त की जाती है—(१) ग्रहण शिक्षा और (२) आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा में शास्त्रों और सिद्धान्तों के अध्ययन और रहस्य का ग्रहण किया जाता है आसेवन शिक्षा में महाव्रत, समिति, गुप्ति, ध्यान, कायोत्सर्ग, जप, तप, त्याग, नियम आदि चारित्र का अभ्यास किया जाता है। वास्तव में इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं से साधु का सर्वांगीण विकास हो जाता है।[2]

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २४२-२४३ का सारांश

२ सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४१

'सुबंभचेरं वसेज्जा'—आचारांग सूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य में निवास करने के चार अर्थ फलित होते हैं—(१) ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) में विचरण करना, (२) मैथुनविरति—सर्वेन्द्रिय-संयम, (३) सदाचार और (४) गुरुकुल में वास।

'ठाणओ'—में ठाण, (स्थान) शब्द भी पारिभाषिक है। स्थान शब्द भी आचारांग के अनुसार यहाँ कायोत्सर्ग अर्थ में है।[3]

गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा-ग्रहण-विधि—

५८५ सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं पी वितिगिच्छतिण्णे ॥६॥

५८६ डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिते ऊ, रातिणिएणावि समव्वएणं।
सम्मं तगं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जंतए वा वि अपारए से ॥७॥

५८७ विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे, डहरेण वुड्ढेण व चोइतेतु।
अच्चुट्ठिताए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ॥८॥

५८८ ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंचि फरुसं वदेज्जा।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा ॥९॥

५८९ वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं।
तेणावि मज्झं इणमेव सेयं, जं मे बुहा सम्मऽणुसासयंति ॥१०॥

५९० अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता।
एतोवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥११॥

५९१ णेया जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाइ अपस्समाणं।
से सूरियस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं विजाणाति पगासियंसि ॥१२॥

५९२ एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाति अबुज्झमाणे।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरोदए पासति चक्खुणेव ॥१३॥

५९३ उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जते तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पदोसं अविकंपमाणे ॥१४॥

---

३ देखिए आचा० द्वि० श्रु० अ० २ उ० १ सू० ४१२ में 'ठाणे वा सेज्जं वा'''का विवेचन तथा प्र० श्रु० के सूत्र १४३ में 'वसित्ता बंभचेरं' पद का विवेचन।

५९४ कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।
तं सोयकारी य पुढो पवेसे, संखा इमं केवलियं समाहिं ॥१५॥

५९५ अस्सि सुठिच्चा तिविहेण तायी, एतेसु या संति निरोहमाहु ।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी, ण भुज्जमेतं ति पमायसंगं ॥१६॥

५९६ णिसम्म से भिक्खु समीहमट्ठं, पडिभाणवं होति विसारते या ।
आयाणमट्ठी वोदाण मोणं, उवेच्चा सुद्धेण उवेति मोक्खं ॥१७॥

५८५. ईर्यासमिति आदि से युक्त साधु मधुर या भयंकर शब्दों को सुनकर उनमें मध्यस्थ—राग-द्वेष रहित होकर संयम में प्रगति करे, तथा निद्रा-प्रमाद एवं विकथा—कषायादि प्रमाद न करे। (गुरुकुल निवासी अप्रमत्त) साधु को कहीं किसी विषय में विचिकित्सा—शंका हो जाए तो वह (गुरु से समाधान प्राप्त करके) उससे पार (निश्शंक) हो जाए।

५८६. गुरु सान्निध्य में निवास करते हुए साधु से किसी विषय में प्रमादवश भूल हो जाए तो अवस्था और दीक्षा में छोटे या बड़े साधु द्वारा अनुशासित (शिक्षित या निवारित) किये जाने पर अथवा भूल सुधारने के लिए प्रेरित किये जाने पर जो साधक उसे सम्यक्तया स्थिरतापूर्वक स्वीकार नहीं करता, वह संसार-समुद्र को पार नहीं कर पाता।"

५८४-५८८. साध्वाचार के पालन में कहीं भूल होने पर परतीर्थिक, अथवा गृहस्थ द्वारा आर्हत् आगम विहित आचार की शिक्षा दिये जाने पर या अवस्था में छोटे या वृद्ध के द्वारा प्रेरित किये जाने पर, यहाँ तक कि अत्यन्त तुच्छ कार्य करने वाली घटदासी (घड़ा भरकर लाने वाली नौकरानी) द्वारा अकार्य के लिए निवारित किये जाने पर अथवा किसी के द्वारा यह कहे जाने पर कि "यह कार्य तो गृहस्थाचार के योग्य भी नहीं है, साधु की तो बात ही क्या है?

इन (पूर्वोक्त विभिन्न रूप से) शिक्षा देने वालों पर साधु क्रोध न करे, (परमार्थ का विचार करके) न ही उन्हें दण्ड आदि से पीड़ित करे, और न ही उन्हें पीड़ाकारी कठोर शब्द कहे; अपितु 'मैं भविष्य में ऐसा (पूर्वऋषियों द्वारा आचरित) ही करूँगा' इस प्रकार (मध्यस्थवृत्ति से) प्रतिज्ञा करे, (अथवा अपने अनुचित आचरण के लिए 'मिच्छामि दुक्कड़ं' के उच्चारणपूर्वक आत्म-निन्दा के द्वारा उससे निवृत्त हो) साधु यही समझे कि इसमें (प्रसन्नतापूर्वक अपनी भूल स्वीकार करके उससे निवृत्त होने में) मेरा ही कल्याण है। ऐसा समझकर वह (फिर कभी वैसा) प्रमाद न करे।

५८९. जैसे यथार्थ और अयथार्थ मार्ग को भली-भाँति जानने वाले व्यक्ति घोर वन में मार्ग भूले हुए दिशामूढ़ व्यक्ति को कुमार्ग से हटा कर जनता के लिए हितकर मार्ग बता देते (शिक्षा देते) हैं, इसी तरह मेरे लिए भी यही कल्याणकारक उपदेश है, जो ये वृद्ध, बड़े या तत्त्वज्ञ पुरुष (बुधजन) मुझे सम्यक् अच्छी शिक्षा देते हैं।

५९०. उस मूढ़ (प्रमाद वश मार्ग भ्रष्ट) पुरुष को उस अमूढ़ (मार्ग दर्शन करने या जाग्रत करने वाले पुरुष) का उसी तरह विशेष रूप से (उसका परम उपकार मानकर) आदर-सत्कार (पूजा) करना

चाहिए, जिस तरह मार्गभ्रष्ट पुरुष सही मार्ग पर चढ़ाने और बताने वाले व्यक्ति की विशेष सेवा-पूजा आदर सत्कार करता है। इस विषय में वीर प्रभु ने यही उपमा (तुलना) बताई है। अतः पदार्थ (परमार्थ) को समझकर प्रेरक के उपकार (उपदेश) को हृदय में सम्यक्रूप से स्थापित करे।

५९१-५९२. जैसे अटवी आदि प्रदेशों से भलीभाँति परिचित मार्गदर्शक (नेता) भी अंधेरी रात्रि में कुछ भी न देख पाने के कारण मार्ग को भली-भाँति नहीं जान पाता; परन्तु वही पुरुष (मार्गदर्शक) सूर्य के उदय होने से चारों ओर प्रकाश फैलने पर मार्ग को भलीभाँति जान लेता है।

इसी तरह धर्म में अनिपुण—अपरिपक्व शिष्य भी सूत्र और अर्थ को नहीं समझता हुआ धर्म (श्रमणधर्म तत्व) को नहीं जान पाता; किन्तु वही अबोध शिष्य एक दिन जिनवचनों के अध्ययन-अनुशीलन से विद्वान् हो जाता है। फिर वह धर्म को इस प्रकार स्पष्ट जान लेता है जिस प्रकार सूर्योदय होने पर आँख के द्वारा व्यक्ति घट-पट आदि पदार्थों को स्पष्ट जान-देख लेता है।

५९३. गुरुकुलवासी एवं जिनवचनों का सम्यक् ज्ञाता साधु ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं, उनकी हिंसा जिस प्रकार से न हो, उस प्रकार की यतना (यत्न) करे तथा संयम में पुरुषार्थ करे एवं उन प्राणियों पर लेशमात्र भी द्वेष न करता हुआ संयम में निश्चल रहे।

५९४. गुरुकुलवासी साधु (प्रश्न करने योग्य) अवसर देख कर सम्यग्ज्ञान सम्पन्न आचार्य से प्राणियों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे। तथा मोक्षगमन योग्य (द्रव्य) सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के आगम (ज्ञान-धन) को बताने वाले आचार्य की पूजा-भक्ति करे। आचार्य का आज्ञाकारी शिष्य उनके द्वारा उपदिष्ट केवलि-प्ररूपति सम्यग्ज्ञानादिरूप समाधि को भलीभाँति जानकर उसे हृदय में स्थापित करे।

५९५. इसमें (गुरुकुलवास काल में) गुरु से जो उपदेश सुना और हृदय में भलीभाँति अवधारित किया, उस समाधिभूत मोक्षमार्ग में अच्छी तरह स्थित होकर मन-वचन-काया से कृत, कारित और अनुमोदित रूप से स्व-पर-त्राता (अपनी आत्मा का और अन्य प्राणियों का रक्षक) बना रहे इन समिति-गुप्ति-आदि रूप समाधिमार्गों में स्थिर हो जाने पर सर्वज्ञों ने शान्तिलाभ और कर्मनिरोध (समस्त कर्मक्षय) बताया है। वे त्रिलोकदर्शी महापुरुष कहते हैं कि साधु को फिर कभी प्रमाद का संग नहीं करना चाहिए।

५९६. गुरुकुलवासी वह साधु उत्तम साधु के आचार को सुनकर अथवा स्वयं अभीष्ट अर्थ—मोक्ष रूप अर्थ को जानकर गुरुकुलवास से प्रतिभावान् एवं सिद्धान्त विशारद (स्वसिद्धान्त का सम्यग्ज्ञाता होने से श्रोताओं को यथार्थ-वस्तु-तत्त्व के प्रतिपादन में निपुण) हो जाता है। फिर सम्यग्ज्ञान आदि से अथवा मोक्ष से प्रयोजन रखने वाला (आदानार्थी) वह साधु तप (व्यवदान) और मौन (संयम) को (ग्रहण रूप एवं आसेवन रूप शिक्षा द्वारा) उपलब्ध करके शुद्ध (निरुपाधिक उद्गमादि दोष रहित) आहार से निर्वाह करता हुआ समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

विवेचन—गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा-ग्रहण विधि—प्रस्तुत १२ सूत्र गाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने विभिन्न पहलुओं से गुरुकुलवासी साधु द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि बताई है। शिक्षा ग्रहण विधि

के निम्नलिखित प्रेरणा सूत्र इन गाथाओं से फलित होते हैं—(१) गुरुकुलवासी साधु विषय, निद्रा, विकथा, कषाय आदि प्रमादों को पास में न फटकने दे, (२) गृहीत महाव्रतों के पालन आदि किसी विषय में शंका या भ्रान्ति हो तो गुरुकृपा से साधक उससे पार हो जाए, (३) प्रमादवश साधुचर्या में कहीं भूल हो जाए और उसे कोई दीक्षा ज्येष्ठ, वयोवृद्ध या लघु साधक अथवा समवयस्क साधक सुधारने के लिए प्रेरित करें या शिक्षा दें तो गुरुकुलवासी साधु उसे सम्यक् प्रकार से स्थिरता के साथ स्वीकार कर ले, किन्तु प्रतिवाद न करे, अन्यथा वह संसार के प्रवाह में बह जाएगा, उसे पार नहीं कर सकेगा, (४) साध्वाचार-पालन में कहीं त्रुटि हो जाने पर गृहस्थ या मिथ्यादृष्टि जैनागमविहित आचार की दृष्टि से शिक्षा दे, अथवा कोई लघुवयस्क या वृद्ध कुत्सिताचार में प्रवृत्त होने पर सावधान करे, यही नहीं, तुच्छ कार्य करने वाली घटदासी भी किसी अकार्य से रोके, अथवा कोई यह कहे कि यह कार्य गृहस्थ योग्य भी नहीं है, ऐसी स्थिति में गुरुकुलवासी साधु उन पर क्रोध, प्रहार, आक्रोश या पीड़ाजनक शब्द-प्रयोग न करे, अपितु प्रसन्नतापूर्वक अपनी भूल स्वीकार करे, (५) उन बुधजनों या हितैषियों की शिक्षा को अपने लिए श्रेयस्कर समझे, (६) उनको उपकारी मानकर उनका आदर-सत्कार करे, (७) गुरुकुलवास में विधिवत् शिक्षा ग्रहण न करने से धर्म में अनिपुण शिष्य सूत्र, अर्थ एवं श्रमणधर्म के तत्त्व को नहीं जानता, जबकि गुरु शिक्षा-प्राप्त वही साधक जिनवचनों के अध्ययन से विद्वान् होकर सभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप स्पष्टतः जान लेता है, (८) गुरुकुलवासी साधक किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, इस प्रकार से यतना करे, प्राणियों पर जरा भी द्वेष न करता हुआ संयम (पंच महाव्रतादि रूप) में निश्चल रहे, (८) योग्य अवसर देखकर वह आचार्य से प्राणियों के सम्बन्ध में पूछे, (९) आगम ज्ञानोपदेष्टा आचार्य की सेवा-भक्ति करे, उनके द्वारा उपदिष्ट सम्यग्दर्शनादि रूप समाधि को हृदयंगम करे, (१०) गुरुकुलवास काल में गुरु से जो कुछ सुना, सीखा, हृदयंगम किया, उस समाधिभूत मोक्ष-मार्ग में स्थित होकर त्रिकरण त्रियोग से स्व-पर-त्राता बने। (११) समिति-गुप्ति आदि रूप समाधिमार्गों में स्थिर हो जाने से गुरुकुलवासी साधक को शान्ति-लाभ और समस्त कर्मक्षय का लाभ होता है, यदि वह कदापि प्रमादासक्त न हो, (१२) गुरुकुलवासी साधक उत्तम साध्वाचार या मोक्षरूप अर्थ को जान-सुनकर प्रतिभावान् एवं सिद्धान्त विशारद बन जाता है, (१३) फिर वह मोक्षार्थी साधक तप एवं संयम को उपलब्ध करके शुद्ध आहार से निर्वाह करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[५]

निष्कर्ष—गुरुकुलवास करने वाले साधक का सर्वांगीण जीवन-निर्माण एवं विकास तभी हो सकता है, जब वह गुरुकुलवास में अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति एवं चर्या को गुरु के अनुशासन में करे, अप्रमत्त होकर अपनी भूल सुधारता हुआ बाह्य-आभ्यन्तर तप, संयम तथा क्षमा, मार्दव आदि श्रमणधर्म का अभ्यास करे। गुरुकुलवासकालीन शिक्षा में अनुशासन, प्रशिक्षण, उपदेश, मार्गदर्शन, अध्ययन, अनुशीलन आदि प्रक्रियाओं का समावेश है।

पाठान्तर और व्याख्या—'तेणावि' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'तेणेव मे'; व्याख्या की गयी है—उस असत् कार्य करने वाले द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी कुपित नहीं होना चाहिए। 'दवियस्स' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'दिविअस्स'; व्याख्या की गई है—दिविअ=(द्वि-वीत) का अर्थ है—दोनों से राग

---

५ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २४४ से २४७ तक का सारांश

और द्वेष से रहित। 'समीहमट्ठं' के बदले वृत्तिकारसम्मत पाठान्तर है—'समीहियट्ठं'; अर्थात्—सम+ईहित+अभीष्ट=मोक्ष रूप अर्थ को। 'सुद्धेण उवेतिमोक्ख' के बदले पाठान्तर है—'सुद्धे न उवेतिमार'—तप, संयम आदि से आत्मा शुद्ध होने पर या शुद्ध मार्ग का आश्रय लेने पर साधक मार अर्थात् संसार को अथवा मृत्यु को नहीं प्राप्त करता।[६]

गुरुकुलवासी साधु द्वारा भाषा-प्रयोग के विधि-निषेध सूत्र—

५९७ संखाय धम्मं च वियागरेंति, बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए, संसोधितं पण्हमुदाहरंति ॥१८॥

५९८ नो छादते नो वि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा ॥१९॥

५९९ भूताभिसंकाए दुगुंछमाणो, ण णिव्वहे मंतपदेण गोत्तं।
ण किंचि मिच्छे मणुओ पयासु, असाहुधम्माणि ण संवदेज्जा ॥२०॥

६०० हासं पि णो संधये पावधम्मं, ओए तहियं फरुसं वियाणे।
नो तुच्छए नो व विकंथतिज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू ॥२१॥

६०१ संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवादं च वियागरेज्जा।
भासादुगं धम्म समुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपण्णे ॥२२॥

६०२ अणुगच्छमाणे वितहं भिजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
ण कत्थती भास विहिंसएज्जा, निरुद्धगं वा वि न दीहएज्जा ॥२३॥

६०३ समालवेज्जा पडिपुण्णभासी, निसामिया समिया अट्ठदंसी।
आणाए सुद्धं वयणं भिउंजे, भिसंधए पावविवेग भिक्खू ॥२४॥

६०४ अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा, जएज्ज या णातिवेलं वदेज्जा।
से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा, से जाणति भासिउं तं समाहिं ॥२५॥

६०५ अलूसए णो पच्छण्णभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई।
सत्थारभत्ती अणुवीति वायं, सुयं च सम्मं पडिवालएज्जा ॥२६॥

---

६ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २४५ से २४७ तक
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १०७-१०८

६०६ से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च, धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, से अरिहति भासिउं तं समाहिं ।।२७।।
त्ति बेमि ।

।। गंथो : चउद्दसमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

५९७. (गुरुकुलवासी होने से धर्म में सुस्थित, बहुश्रुत, प्रतिभावान् एवं सिद्धान्त विशारद) साधु सद्बुद्धि से (स्व-पर-शक्ति को, पर्षदा को या प्रतिपाद्य विषय को सम्यक्तया जान कर) दूसरे को श्रुत-चारित्र-रूप धर्म का उपदेश देते हैं (धर्म की व्याख्या करते हैं) । वे बुद्ध-त्रिकालवेत्ता होकर जन्म-जन्मान्तर-संचित कर्मों का अन्त करने वाले होते हैं, वे स्वयं और दूसरों को कर्मपाश से अथवा ममत्वरूपी बेड़ी से मुक्त (छुड़ा) करके ससार-पारगामी हो जाते हैं । वे सम्यक्तया सोच-विचार कर (प्रश्नकर्ता कौन है ? यह किस पदार्थ को समझ सकता है, मैं किस विषय का प्रतिपादन करने में समर्थ हूँ ?, इन वातों की भली-भाँति परीक्षा करके) प्रश्न का संशोधित (पूर्वापर अविरुद्ध) उत्तर देते हैं ।

५९८. साधु प्रश्नों का उत्तर देते समय शास्त्र के यथार्थ अर्थ को न छिपाए (अथवा वह अपने गुरु या आचार्य का नाम या अपना गुणोत्कर्ष बताने के अभिप्राय से दूसरों के गुण न छिपाए), अपसिद्धान्त का आश्रय लेकर शास्त्रपाठ की तोड़-मरोड़कर व्याख्या न करे, (अथवा दूसरों के गुणों को दूषित न करे), तथा वह मैं ही सर्वशास्त्रों का ज्ञाता और महान् व्याख्याता हूँ, इस प्रकार मान—गर्व न करे, न ही स्वयं को बहुश्रुत एव महातपस्वी रूप से प्रकाशित करे अथवा अपने तप, ज्ञान, गुण आदि को प्रसिद्ध न करे । प्राज्ञ (श्रुतधर) साधक श्रोता (मन्द बुद्धि व्यक्ति) का परिहास भी न करे, और न ही (तुम पुत्रवान्, धनवान् या दीर्घायु हो इत्यादि इस प्रकार का) आशीर्वादसूचक वाक्य कहे ।

५९९. प्राणियों के विनाश की आशंका से तथा पाप से घृणा करता हुआ साधु किसी को आशीर्वाद न दे, तथा मंत्र आदि के पदों का प्रयोग करके गोत्र (वचनगुप्ति या वाक्संयम अथवा मौन) को निःसार न करे, (अथवा साधु राजा आदि के साथ गुप्त मंत्रणा करके या राजादि को कोई मंत्र देकर गोत्र—प्राणियों के जीवन का नाश न कराए) साधु पुरुष धर्मकथा या शास्त्रव्याख्यान करता हुआ जनता (प्रजा) से द्रव्य या किसी पदार्थ के लाभ, सत्कार या भेंट, पूजा आदि की अभिलाषा न करे, असाधुओं के धर्म (वस्तुदान, तर्पण आदि) का उपदेश न करे (अथवा असाधुओं के धर्म का उपदेश करने वाले को सम्यक् न कहे, अथवा धर्मकथा करता हुआ साधु असाधु-धर्मों—अपनी प्रशंसा, कीर्ति, प्रसिद्धि आदि की इच्छा न करे) ।

६००. जिससे हँसी उत्पन्न हो, ऐसा कोई शब्द या मन-वचन-काया का व्यापार न करे, अथवा साधु किसी के दोषों को प्रकट करने वाली, पापबन्ध के स्वभाववाली बातें हँसी में न कहे । वीतरागता में ओतप्रोत (रागद्वेष रहित) साधु दूसरों के चित्त को दुखित करने वाले कठोर सत्य को भी पापकर्म-बन्धकारक जानकर न कहे । साधु किसी विशिष्ट लब्धि, सिद्धि या उपलब्धि अथवा पूजा-प्रतिष्ठा को पाकर मद न करे, न ही अपनी प्रशंसा करे अथवा दूसरे को भलीभाँति जाने-परखे विना उसकी अतिप्रशंसा न करे । साधु व्याख्यान या धर्मकथा के अवसर पर लाभादि निरपेक्ष (निर्लोभ) एवं सदा कषायरहित होकर रहे ।

६०१. सूत्र और अर्थ के सम्बन्ध में शंकारहित होने पर भी, 'मैं ही इसका अर्थ जानता हूँ, दूसरा नहीं;' इस प्रकार का गर्व न करे, अथवा अशंकित होने पर भी शास्त्र के गूढ़ शब्दों की व्याख्या करते समय शंका (अन्य अर्थ की सम्भावना) के साथ कहे, अथवा स्पष्ट (शंका रहित) अर्थ को भी इस प्रकार न कहे, जिससे श्रोता को शंका उत्पन्न हो तथा पदार्थों की व्याख्या विभज्यवाद से सापेक्ष दृष्टि से अनेकान्त रूप से करे। धर्माचरण करने में समुद्यत साधुओं के साथ विचरण करता हुआ साधु दो भाषाएँ (सत्या और असत्यामृषा) बोले। सुप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि सम्पन्न) साधु धनिक और दरिद्र दोनों को समभाव से धर्म कहे।

६०२. पूर्वोक्त दो भाषाओं का आश्रय लेकर शास्त्र या धर्म की व्याख्या करते हुए साधु के कथन को कोई व्यक्ति यथार्थ समझ लेता है, और कोई मन्दमति व्यक्ति उसे अयथार्थ रूप में (विपरीत) समझता है, (ऐसी स्थिति में) साधु उस विपरीत समझने वाले व्यक्ति को जैसे-जैसे समीचीन हेतु, युक्ति उदाहरण एवं तर्क आदि से वह समझ सके, वैसे-वैसे हेतु आदि से अकर्कश (कटुतारहित—कोमल) शब्दों में समझाने का प्रयत्न करे। किन्तु जो ठीक नहीं समझता है, उसे तू मूर्ख है, दुर्बुद्धि है, जड़मति है, इत्यादि तिरस्कारसूचक वचन कहकर उसके मन को दुःखित न करे, तथा प्रश्नकर्ता की भाषा को असम्बद्ध बता कर उसकी विडम्बना न करे, छोटी-सी (थोड़े शब्दों में कही जा सकने वाली) बात को व्यर्थ का शब्दाडम्बर करके विस्तृत न करे।

६०३. जो बात संक्षेप में न समझाई जा सके उसे साधु विस्तृत (परिपूर्ण) शब्दों में कह कर समझाए। गुरु से सुनकर पदार्थ को भलीभाँति जानने वाला (अर्थदर्शी) साधु आज्ञा से शुद्ध वचनों का प्रयोग करे। साधु पाप का विवेक रखकर निर्दोष वचन बोले।

६०४. तीर्थंकर और गणधर आदि ने जिस रूप में आगमों का प्रतिपादन किया है, गुरु से उनकी अच्छी तरह शिक्षा ले, (अर्थात्—ग्रहण शिक्षा द्वारा सर्वज्ञोक्त आगम का अच्छी तरह ग्रहण करे और आसेवना शिक्षा द्वारा उद्युक्त विहारी होकर तदनुसार आचरण करे) (अथवा दूसरों को भी सर्वज्ञोक्त आगम अच्छी तरह सिखाए)। वह सदैव उसी में प्रयत्न करे। मर्यादा का उल्लंघन करके अधिक न बोले। सम्यक्दृष्टिसम्पन्न साधक सम्यक्दृष्टि को दूषित न करे (अथवा धर्मोपदेश देता हुआ साधु किसी सम्यक्दृष्टि की दृष्टि को (शंका पैदा करके) बिगाड़े नहीं। वही साधक उस (तीर्थंकरोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप) भाव समाधि को कहना जानता है।

६०५. साधु आगम के अर्थ को दूषित न करे, तथा वह सिद्धान्त को छिपा कर न बोले। स्व-पर-त्राता साधु सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे। साधु शिक्षा देने वाले (प्रशास्ता-गुरु) की भक्ति का ध्यान रखता हुआ सोच-विचार कर कोई बात कहे, तथा साधु ने गुरु से जैसा सुना है, वैसा ही दूसरे के समक्ष सिद्धान्त या शास्त्रवचन का प्रतिपादन करे।

६०६. जिस साधु का सूत्रोच्चारण, सूत्रानुसार प्ररूपण एवं सूत्राध्ययन शुद्ध है, जो शास्त्रोक्त तप (उपधान तप) का अनुष्ठान करता है, जो श्रुत-चारित्ररूप धर्म को सम्यक्रूप से जानता या प्राप्त करता है अथवा जो उत्सर्ग के स्थान पर उत्सर्ग-मार्ग की और अपवाद-मार्ग के स्थान पर अपवाद की

प्ररूपणा करता है, या हेतुग्राह्य अर्थ की हेतु से और आगमग्राह्य अर्थ की आगम से अथवा स्व-समय की स्व-समय रूप में एवं पर-समय को पर-समय रूप में प्ररूपणा करता है, वही पुरुष ग्राह्यवाक्य है (उसी की बात मानने योग्य है) तथा वही शास्त्र का अर्थ और तदनुसार आचरण करने में कुशल होता है। वह अविचारपूर्वक कार्य नहीं करता। वही ग्रन्थमुक्त साधक सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—गुरुकुलवासी साधु द्वारा भाषा-प्रयोग के विधि-निषेध सूत्र—प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने दस सूत्रगाथाओं में गुरुकुलवासी साधु द्वारा किये जाने वाले भाषा प्रयोग के कतिपय विधि-निषेध-सूत्र प्रस्तुत किये हैं। वे इस प्रकार फलित होते हैं—(१) साधु स्वशक्ति, परिषद या व्यक्ति तथा प्रतिपाद्य विषय को सम्यक्तया जानकर धर्म का उपदेश दे, (२) वह ऐसा धर्मोपदेश दे जिससे स्व-पर को कर्मपाश से मुक्त कर सके, (३) प्रश्न से सम्बन्धित बातों का भलीभाँति पर्यालोचन करके उसका पूर्वापर-अविरुद्ध, संगत उत्तर दे, (४) प्रश्नों का उत्तर देते समय शास्त्र के यथार्थ अर्थ को या गुरु के नाम को अथवा गुणी के गुण को न छिपाए, (५) शास्त्र की सिद्धान्तविरुद्ध व्याख्या न करे, (६) न तो वह सर्वशास्त्रज्ञता का गर्व करे, न स्वयं को बहुश्रुत या महातपस्वी के रूप में प्रसिद्ध करे, (७) वह मंदबुद्धि श्रोता का परिहास न करे, (८) किसी प्रकार का आशीर्वाद न दे, क्योंकि उसके पीछे प्राणियों के विनाश या पापवृद्धि की सम्भावना है, (९) विविध हिंसाजनक मंत्र-प्रयोग करके अपने वाक् संयम को दूषित न करे, (१०) धर्मकथा करके जनता से किसी पदार्थ के लाभ, सत्कार या पूजा-प्रतिष्ठा आदि की आकांक्षा न करे (११) असाधु-धर्मों का उपदेश न करे, न ही वैसा उपदेश देने वाले की प्रशंसा करे, (१२) हास्यजनक कोई भी चेष्टा न करे, क्योंकि हँसी प्रायः दूसरों को दुःखित करती है, जो पाप बन्ध का कारण है, (१३) तथ्यभूत बात होते हुए भी वह किसी के चित्त को दुःखित करने वाली हो तो न कहे। किसी विशिष्ट उपलब्धि को पाकर साधु अपनी प्रशंसा न करे, (१४) व्याख्यान के समय किसी लाभ आदि से निरपेक्ष (निःस्पृह) एवं कषायरहित होकर रहे, (१५) सूत्रार्थ के सम्बन्ध में निःशंकित होने पर भी गर्व प्रकट न करे, अथवा शास्त्र के गूढ़ शब्दों की व्याख्या करते समय अशंकित होते हुए भी अन्य अर्थों की सम्भावना व्यक्त करे, (१६) पदार्थों की व्याख्या विभज्यवाद (नय, निक्षेप, स्याद्वाद, प्रमाण आदि के) द्वारा पृथक्-पृथक् विश्लेषण-पूर्वक करे, (१७) साधु दो ही भाषाओं का प्रयोग करे सत्या और असत्यामृषा, (१८) राग-द्वेषरहित होकर सधन-निर्धन को समभाव से धर्म-कथन करे, (१९) विधिपूर्वक शास्त्र या धर्म की व्याख्या करते हुए भी कोई व्यक्ति उसे विपरीत समझता है तो साधु उसे मूढ़, जड़बुद्धि या मूर्ख कहकर झिड़के नहीं, न ही अपमानित, विडम्बित या दुःखित करे, (२०) अल्प शब्दों में कही जा सकने वाली बात को व्यर्थ का शब्दाडम्बर करके विस्तृत न करे, (२१) किन्तु संक्षेप में कहने से समझ में आ सके ऐसी बात को विस्तृत रूप से कहे, (२२) गुरु से सुनकर पदार्थों को भलीभाँति जानकर साधु आज्ञा-शुद्ध वचनों का प्रयोग करे (२३) पाप का विवेक रखकर निर्दोष वचन बोले, (२४) तीर्थंकरोक्त आगमों की व्याख्या पहले गुरु से भली-भाँति जाने और अभ्यस्त करके दूसरों को उसी विधि से समझाए, (२५) अधिकांश समय शास्त्र-स्वाध्याय में रत रहे, (२६) मर्यादातिक्रमण करके अधिक न बोले, (२७) साधु धर्मोपदेश देता हुआ किसी की सम्यग्दृष्टि को अपसिद्धान्त प्ररूपणा करके दूषित या विचलित न करे, (२८) आगम के अर्थ को दूषित न करे, (२९)

सिद्धान्त को छिपाकर न बोले, (३०) आत्मत्राता साधु सूत्र एवं अर्थ या प्रश्न) को अन्यथा (उलट-पुलट) न करे, (३१) शिक्षादाता प्रशास्ता की सेवा भक्ति का ध्यान रखे, (३२) सम्यक्तया सोच-विचार कर कोई बात कहे, (३३) गुरु से जैसा सुना है, दूसरे के समक्ष वैसे ही सिद्धान्त या शास्त्र-वचन की प्ररूपणा करे (३४) सूत्र का उच्चारण, अध्ययन, एवं प्ररूपणा शुद्ध करे, (३५) शास्त्र-विहित तपश्चर्या की प्रेरणा करे, (३६) उत्सर्ग-अपवाद, हेतुग्राह्य-आज्ञाग्राह्य या स्वसमय-परसमय आदि धर्म का या शास्त्र वाक्य को यथायोग्य स्थापित-प्रतिपादित करता है, वही ग्राह्यवाक्य, शास्त्र का अर्थ करने में कुशल एवं सुविचारपूर्वक भाषण करने वाला है, वही सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है।[7]

गुरुकुलवासी साधक उभयशिक्षा प्राप्त करके भाषा के प्रयोग में अत्यन्त निपुण हो जाता है।

पाठान्तर और व्याख्या—'संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—"संकेज्ज वा संकितभाव भिक्खू"; व्याख्या यों है—यदि किसी विषय में वह शंकित है, किसी शास्त्रवाक्य के अर्थ में शंका है तो वह शंकात्मक रूप से इस प्रकार प्रतिपादन करे कि मेरी समझ में इसका यह अर्थ है; इससे आगे जिन भगवान् जानें, 'तत्त्वं केवलिगम्यम्'। 'अणाइलो' के बदले पाठान्तर है—'अणाउलो'; व्याख्या यों है—साधु व्याख्यान या धर्मकथा के समय आकुल-व्याकुल न हो।[8]

विभज्जवादं च वियागरेज्जा—व्याख्याएँ—(१) विभाज्यवाद का अर्थ है—भजनीयवाद। किसी विषय में शंका होने पर भजनीयवाद द्वारा यों कहना चाहिए—मैं तो ऐसे मानता हूँ, परन्तु इस विषय में अन्यत्र भी पूछ लेना। (२) विभज्यवाद का अर्थ है—स्याद्वाद-अनेकान्तवाद-सापेक्षवाद। (३) विभज्यवाद का अर्थ है—पृथक अर्थ निर्णयवाद। (४) सम्यक् प्रकार से अर्थों का नय, निक्षेप आदि से विभाग-विश्लेषण करके पृथक करके कहे, जैसे—द्रव्यार्थिकनय से नित्यवाद को, तथा पर्यायार्थिकनय से अनित्यवाद को कहे।

सुत्तपिटक अंगुत्तरनिकाय में भी 'विभज्जवाद' का उल्लेख आता है।[9]

॥ ग्रन्थ : चौदहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---
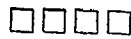
७ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २४७ से २५१ का सारांश।

८ (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १०९
 (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २४९

९ (क) सूत्रकृतांग मूलपाठ टिप्पण, तृतीय परिशिष्ट पृ० ३६८।
 (ख) तुलना—न खो, भंते, भगवा सव्वं तपं गरहितं……भगवा गरहंतो पसंसितव्वं, पसंसन्तो 'विभज्ज वादो' भगवा। न सो भगवा एत्थ एकंसवादोदित। —सुत्तपिटक अंगुत्तरनिकाय पृ० २५३

जमतीत (यमकीय)—पंचदश अध्ययन

प्राथमिक

- ☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम 'जमतीत' (यमकीय) है।

- ☐ इस अध्ययन के दो नाम और मिलते हैं—आदान अथवा आदानीय, एवं श्रृंखला अथवा संकलिका।

- ☐ 'जमतीत' नाम इसलिए पड़ा है कि इस अध्ययन का आदि शब्द 'जमतीतं' (जं+अतीतं) है। अथवा इस अध्ययन में 'यमक' अलंकार का प्रयोग हुआ है, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'यमकीय' है, जिसका आर्ष प्राकृत रूप 'जमईयं' या 'जमतीत' होता है।

- ☐ वृत्तिकार के अनुसार इस अध्ययन को 'संकलिका' अथवा 'श्रृंखला' कहना चाहिए। इस अध्ययन में अन्तिम और आदि पद का संकलन हुआ है, इसलिए इसका नाम 'संकलिका' है। अथवा प्रथम पद्य का अन्तिम शब्द एवं द्वितीय पद्य का आदि शब्द श्रृंखला की कड़ी की भाँति जुड़े हुए हैं। अर्थात् उन दोनों की कड़ियाँ एक समान हैं।[1]

- ☐ आदान या आदानीय नाम रखने के पीछे निर्युक्तिकार का मन्तव्य यह है कि इस अध्ययन में जो पद प्रथम गाथा के अन्त में है, वही पद अगली गाथा के प्रारम्भ में आदान (ग्रहण) किया गया है। यही लक्षण आदानीय का है।

- ☐ कार्यार्थी पुरुष जिस वस्तु को ग्रहण करता है, उसे आदान कहते हैं। धन का या धन के द्वारा द्विपद—चतुष्पद आदि का ग्रहण करना द्रव्य-आदान है। भाव-आदान दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। क्रोधादि का उदय या मिथ्यात्व, अविरति आदि कर्मबन्ध के आदान रूप होने से अप्रशस्त भावादान है, तथा मोक्षार्थी द्वारा उत्तरोत्तर गुणश्रेणी के योग्य विशुद्ध अध्यवसाय को ग्रहण करना या समस्त कर्म क्षय करने हेतु विशिष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करना प्रशस्त भाव-आदान है।

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५२

- इस अध्ययन में इसी प्रशस्त भाव—आदान के सन्दर्भ में विवेक की दुर्लभता, संयम के सुपरिणाम, भगवान् महावीर या वीतराग पुरुष का स्वभाव, संयमी पुरुष की जीवन पद्धति, विशाल चरित्र सम्पन्नता आदि का निरूपण है।[२]
- इस अध्ययन में कुल पच्चीस गाथाएँ हैं, जो यमकालंकार युक्त एवं शृंखलावत् हैं।
- प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा ६०७ से प्रारम्भ होकर ६३१ सूत्रगाथा पर पूर्ण होता है।

---

२ (क) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गा० १३२ से १३६ तक
(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक २५२-२५३
(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास: भा० १, पृ० १५५

जमतीतं : पण्णरसमं अज्झयणं

यमकीय (जमतीत)—पन्द्रहवाँ अध्ययन

अनुत्तरज्ञानी और तत्कथित भावनायोगसाधना—

६०७ जमतीतं पडुप्पण्णं, आगमिस्सं च णायगो।
सव्वं मण्णति तं तातो, दंसणावरणंतए ॥१॥

६०८ अंतए वितिगिंछाए, से जाणति अणेलिसं।
अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होति तहिं तहिं ॥२॥

६०९ तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुयाहिए।
सदा सच्चेण संपण्णे, मेत्तिं भूतेहिं कप्पते ॥३॥

६१० भूतेहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
वुसीमं जगं परिण्णाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥४॥

६११ भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपत्ता, सव्वदुक्खा तिउट्टति ॥५॥

६०७. जो पदार्थ (अतीत में) हो चुके हैं, जो पदार्थ वर्तमान में विद्यमान हैं और जो पदार्थ भविष्य में होने वाले हैं, उन सबको दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा अन्त करने वाले जीवों के त्राता—रक्षक, धर्मनायक तीर्थंकर जानते-देखते हैं।

६०८. जिसने विचिकित्सा (संशय) का सर्वथा अन्त (नाश) कर दिया है, वह (घातिचतुष्टय का क्षय करने के कारण) अतुल (अप्रतिम) ज्ञानवान् है। जो पुरुष सबसे बढ़कर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला है, वह उन-उन (बौद्धादि दर्शनों) में नहीं होता।

६०९. (श्री तीर्थंकरदेव ने) उन-उन (आगमादि स्थानों) में जो (जीवादि पदार्थों का) अच्छी तरह से कथन किया है, वही सत्य है और वही सुभाषित (स्वाख्यात) है। अतः सदा सत्य से सम्पन्न होकर प्राणियों के साथ मैत्री भावना रखनी चाहिए।

६१०. प्राणियों के साथ वैर-विरोध न करे, यही तीर्थंकर का या सुसंयमी का धर्म है। सुसंयमी साधु (त्रस-स्थावर रूप) जगत् का स्वरूप सम्यक्रूप से जानकर इस वीतराग-प्रतिपादित धर्म में जीवित भावना (जीव-समाधानकारिणी पच्चीस या बारह प्रकार की भावना) करे।

६११. भावनाओं के योग (सम्यक्प्रणिधान रूप योग) से जिसका अन्तरात्मा शुद्ध हो गया है, उसकी स्थिति जल में नौका के समान (संसार समुद्र को पार करने में समर्थ) कही गई है। किनारे पर पहुँची हुई नौका विश्राम करती है, वैसे ही भावनायोगसाधक भी संसार समुद्र के तट पर पहुँचकर समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—अनुत्तरज्ञानी और तत्कथित भावनायोग-साधना—प्रस्तुत पाँच सूत्र गाथाओं में शास्त्रकार ने मुख्यतया दो तथ्यों को अभिव्यक्त किया है—(१) अनुपम ज्ञानवान् तीर्थंकर का माहात्म्य और (२) उनके द्वारा कथित भावनायोग की साधना।

अनुपम ज्ञानी तीर्थंकर के और अन्यदर्शनी के ज्ञान में अन्तर—तीर्थंकर ज्ञानवरणीयादि घातिकर्म चतुष्टय का क्षय करने के कारण त्रिकालज्ञ हैं, द्रव्य-पर्याय सहित सर्व पदार्थ के ज्ञाता हैं, उन्होंने संशय-विपर्यय—अनध्यवसायरूप मिथ्या ज्ञान का अन्त कर दिया है, इसलिए उनके सदृश पूर्णज्ञान किसी तथागत बुद्ध आदि अन्य दार्शनिक का नहीं है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों के घातिकर्मचतुष्टय का सर्वथा क्षय न होने से वे त्रिकालज्ञ नहीं होते, और न ही द्रव्य-पर्याय सहित सर्व पदार्थज्ञ होते हैं। यदि वे (अन्यतीर्थिक) त्रिकालज्ञ होते तो वे कर्मबन्ध एवं कर्म से सर्वथा मोक्ष के उपायों को जानते, हिंसादि कर्मबन्ध कारणों से दूर रहते, उनके द्वारा मान्य या रचित आगमों में एक जगह प्राणिहिंसा का निषेध होने पर भी जगह-जगह आरम्भादि जनित हिंसा का विधान किया गया है। ऐसा पूर्वापर विरोध न होता। इसके अतिरिक्त कई दार्शनिक द्रव्य को ही मानते हैं, कई (बौद्ध आदि) पर्याय को ही मानते हैं, तब वे 'तीर्थंकर सदृश सर्वपदार्थज्ञाता' कैसे कहे जा सकते हैं? कई दार्शनिक कहते हैं—'कीड़ों की संख्या का ज्ञान कर लेने से क्या लाभ? अभीष्ट वस्तु का ज्ञान ही उपयोगी है।' उन लोगों का ज्ञान भी पूर्णतया अनावृत नहीं है, तथा जैसे उन्हें कीट-संख्या का परिज्ञान नहीं है, वैसे दूसरे पदार्थों का ज्ञान न होना भी सम्भव है। अतः उनका ज्ञान तीर्थंकर की तरह अबाधित नहीं है। ज्ञानबाधित और असम्भव होने से सर्वज्ञता एवं सत्यवादिता दूषित होती है।[1]

सर्वज्ञ वीतराग ही सत्य के प्रतिपादक—अन्य दर्शनी पूर्वोक्त कारणों से सर्वज्ञ न होने से वे सत्य (यथार्थ) वक्ता नहीं हो सकते, क्योंकि उनके कथन में अल्पज्ञता के कारण राग, द्वेष, पक्षपात, मोह आदि अवश्यम्भावी हैं, फलतः उनमें पूर्ण सत्यवादिता एवं प्राणिहितैषिता नहीं होती, जबकि सर्वज्ञ तीर्थंकर राग-द्वेष-मोहादि विकाररहित होने से वे सत्यवादी हैं, जीवादि पदार्थों का यथार्थ (पूर्ण सत्य) प्रतिपादन करते हैं,

---

१ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५४
(ख) सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
कीटसंख्या परिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते॥

क्योंकि मिथ्या भाषण के कारण हैं—रागादि; वे तीर्थंकर देव में बिलकुल नहीं हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने आगमों में यत्र-तत्र जो भी प्रतिपादन किया है, वह सब सत्य (प्राणियों के लिए हितकर) है, सुभाषित है।[2]

सर्वज्ञोक्त उपदेश भी हितैषिता से परिपूर्ण—सर्वज्ञ तीर्थंकर सर्वहितैषी होते हैं, उनका वचन भी सर्व-हितैषिता से पूर्ण होता है। उनका कोई भी कथन प्राणिहित के विरुद्ध नहीं होता। इसके प्रमाण के रूप में उनके द्वारा कथित सर्वभूत मैत्री भावना तथा अन्य (बारह या पच्चीस) जीवित भावना और उनको संसार-सागरतारिणी महिमा तथा उनसे मोक्ष-प्राप्ति आदि हैं। मैत्री आदि भावनाओं की साधना के लिए प्राणियों के साथ वैर-विरोध न करना, समग्र प्राणिजगत् का स्वरूप (सुखाभिलाषिता, जीवितप्रियता आदि) जानकर मोक्षकारिणी या जीवनसमाधिकारिणी भावना आदि के सम्बन्ध में दिया गया उपदेश प्रस्तुत है।[3]

विमुक्त, मोक्षाभिमुख और संसारान्तकर साधक कौन ?

६१२ तिउट्टति तु मेधावी, जाणं लोगंसि पावगं।
तिउट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥६॥

६१३ अकुव्वतो णवं नत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाति ण मिज्जती ॥७॥

६१४ न मिज्जति महावीरे, जस्स नत्थि पुरेकडं।
वाऊ व जालमच्चेति, पिया लोगंसि इत्थिओ ॥८॥

६१५ इत्थिओ जे ण सेवंति, आदिमोक्खा हु ते जणा।
ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवितं ॥९॥

६१६ जीवितं पिट्ठतो किच्चा, अंतं पावंति कम्मुणा।
कम्मुणा संमुहीभूया, जे मग्गणुसासति ॥१०॥

---

२ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५४
(ख) वीतरागा हि सर्वज्ञाः, मिथ्या न ब्रुवते वचः।
यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थ दर्शनम् ॥

३ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५५-२५६
(ख) द्वादशानुप्रेक्षा (भावना) इस प्रकार हैं—अनित्याशरण-संसारैकत्वाशुचित्वास्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-स्वतत्त्वचिन्तनमनुप्रेक्षाः।—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र ७
(ग) पांच महाव्रतों की २५ भावनाएँ हैं, जिनका विवरण पहले प्रस्तुत किया जा चुका है।

६१७ अणुसासणं पुढो पाणे, वसुमं पूयणासते ।
अणासते जते दंते, दढे आरयमेहुणे ॥११॥

६१८ णीवारे य न लीएज्जा, छिन्नसोते अणाइले ।
अणाइले सया दंते, संधिं पत्ते अणेलिसं ॥१२॥

६१९ अणेलिसस्स खेतण्णे, ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुमं ॥१३॥

६२० से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए तु अंतए ।
अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लोट्टति ॥१४॥

६२१ अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इहं ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्माराहिउं णरा ॥१५॥

६१२. लोक में पापकर्म (के स्वरूप) को जानने वाला मेधावी (साधुमर्यादा में स्थित या सद्-असद् विवेकी साधु) (सभी बन्धनों से) छूट जाता है; क्योंकि नया कर्म (बन्धन) न करने वाले पुरुष के सभी पापकर्म (बन्धन) टूट जाते हैं।

६१३. जो पुरुष कर्म (मन-वचन-काया से व्यापारक्रिया) नहीं करता, उसके नवीन (ज्ञानावरणीयादि) कर्मबन्ध नहीं होता। वह (कर्म मुमुक्षु साधक) अष्टविध कर्मों को विशेषरूप से जान लेता है, फिर वह (कर्म विदारण करने में) महावीर पुरुष (भगवत्प्रतिपादित समग्र कर्मविज्ञान को) जानकर, ऐसा पुरुषार्थ करता है, जिससे न तो वह (संसार में कभी) जन्म लेता है और न ही मरता है।

६१४. जिसके पूर्वकृत कर्म नहीं है, वह महावीर साधक जन्मता-मरता नहीं है। जैसे हवा अग्नि की ज्वाला का उल्लंघन कर जाती है, वैसे ही इस लोक में महान् अध्यात्मवीर साधक मनोज्ञ (प्रिय) स्त्रियों (स्त्रीसम्बन्धी काम-भोगों) को उल्लंघन कर जाता है, अर्थात् वह स्त्रियों के वश में नहीं होता।

६१५. जो साधकजन स्त्रियों का सेवन नहीं करते, वे सर्वप्रथम मोक्षगामी (आदिमोक्ष) होते हैं। समस्त (कर्म) बन्धनों से मुक्त वे साधुजन (असंयमी) जीवन जीने की आकांक्षा नहीं करते।

६१६. ऐसे वीर साधक जीवन को पीठ देकर (पीछे करके) कर्मों का अन्त (क्षय) प्राप्त करते हैं। जो साधक (संयमानुष्ठान द्वारा) मोक्ष मार्ग पर आधिपत्य (शासन) कर लेते हैं, अथवा मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग में अनुशासित (शिक्षित) करते हैं, वे विशिष्ट कर्म (धर्म के आचरण) से मोक्ष के सम्मुख हो जाते हैं।

६१७. उन (मोक्षाभिमुख साधकों का) अनुशासन (धर्मोपदेश) भिन्न-भिन्न प्राणियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। वसुमान् (संयम का धनी), पूजा-प्रतिष्ठा में अरुचि रखनेवाला, आशय (वासना) से रहित, संयम में प्रयत्नशील, दान्त (जितेन्द्रिय) स्वकृत प्रतिज्ञा पर दृढ़ एवं मैथुन से सर्वथा विरत साधक ही मोक्षाभिमुख होता है।

६१८. सूअर आदि प्राणियों को प्रलोभन देकर फँसाने और मृत्यु के मुख में पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्री-प्रसंग या क्षणिक विषय लोभ में साधक लीन (ग्रस्त) नहीं होता। जिसने विषय भोगरूप आश्रव-द्वारों को बन्द (नष्ट) कर दिया है, जो राग-द्वेषरूप मल से रहित-स्वच्छ है, सदा दान्त है, विषय-भोगों में प्रवृत्त या आसक्त न होने से अनाकुल (स्थिरचित्त) है, वही व्यक्ति अनुपम भाव-सन्धि—मोक्षभिमुखता को प्राप्त है।

६१९. अनीदृश (जिसके सदृश दूसरा कोई उत्तम पदार्थ नहीं है उस) संयम या तीर्थंकरोक्त धर्म का जो मर्मज्ञ (खेदज्ञ) है, वह किसी भी प्राणी के साथ मन, वचन और काया से वैर-विरोध न करे (अर्थात् सबके साथ त्रिकरण-त्रियोग से मैत्रीभाव रखे), वही परमार्थतः चक्षुष्मान् (दिव्य तत्त्वदर्शी) है।

६२०. जो साधक भोगाकांक्षा (विषय-तृष्णा) का अन्त करने वाला या अन्त (पर्यन्त) वर्ती है, वही मनुष्यों का चक्षु (भव्य जीवों का नेत्र) सदृश (मार्गदर्शक या नेता) है। जैसे उस्तरा (या छुरा) अन्तिम भाग (सिरे) से कार्य करता है, रथ का चक्र भी अन्तिम भाग (किनारे) से चलता है, (इसी प्रकार विषय-कषायात्मक मोहनीय कर्म का अन्त ही संसार का अन्त करता है)।

६२१. विषय-सुखाकांक्षा रहित बुद्धि से सुशोभित (धीर) साधक अन्त-प्रान्त आहार का सेवन करते हैं। इसी कारण वे संसार का अन्त कर देते हैं। इस मनुष्यलोक में या यहाँ (आर्य क्षेत्र में) मनुष्य भव में दूसरे मनुष्य भी धर्म की आराधना करके संसार का अन्त करते हैं।

विवेचन—कर्मबन्धनविमुक्त, मोक्षाभिमुख एवं संसारान्तकर साधक कौन और कैसे ?—प्रस्तुत दस सूत्रगाथाओं में शास्त्रकार ने मुख्यतया चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—

(१) कर्मबन्धन से विमुक्त कौन होता है ?
(२) मोक्षाभिमुख साधक कौन होता है ?
(३) संसार का अन्तकर्ता साधक कौन होता है ?
(४) ये तीनों किस-किस प्रकार की साधना से उस योग्य बनते हैं।

वस्तुतः ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। जो कर्मबन्धन से मुक्त होता है, वही मोक्षाभिमुख होता है, जो मोक्षाभिमुख होता है, वह संसार का अन्त अवश्य करता हैं।

कर्मबन्धन से मुक्त एवं मोक्षाभिमुखी होने के लिए अनिवार्य शर्तें— मोक्षाभिमुखता के लिए साधक—(१) अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर ही अष्टविधकर्मों का क्षय करने में उद्यत होता है। (२) विशिष्ट तप, संयम आदि के आचरण से मोक्ष के अभिमुख हो जाता है, (३) मोक्षमार्ग पर अधिकार कर लेता है, (४) वह संयमनिष्ठ हो जाता है, (५) पूजा, सत्कार, प्रतिष्ठा आदि में रुचि नहीं रखता, (६) विषयवासना से दूर रहता है, (७) संयम में पुरुषार्थ करता है, (८) इन्द्रिय और मन को वश में कर लेता है, (९) महाव्रत आदि की कृतप्रतिज्ञा पर दृढ़ रहता है, (१०) मैथुन-सेवन से विरत रहता है। (११) विषयभोगों के प्रलोभन में नहीं फँसता, (१२) कर्मों के आश्रवद्वार बन्द कर देता है, (१३) वह राग-द्वेषादि मल से रहित-स्वच्छ होता है, (१४) विषय-भोगों से विरक्त होकर अनाकुल स्थिरचित्त होता है, (१५) अनुपम संयम या अनुत्तर वीतराग-धर्म का मर्मज्ञ होने से वह मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नहीं करता। (१६) संसार का अन्त करने वाला साधक परमार्थदर्शी (दिव्यनेत्रवान्)

होता है, (१७) वह समस्त कांक्षाओं का अन्त कर देता है, (१८) मोहनीय आदि घाती कर्मों का अन्त करके ही वह संसार के अन्त (किनारे) तक या मोक्ष के अन्त (सिरे) तक पहुँच जाता है। (१९) वह परीषहों और उपसर्गों को सहने में धीर होता है, (२१) वह अन्त-प्रान्त आहारादि का सेवन करता है, (२१) वह मनुष्य जन्म में दृढ़तापूर्वक धर्माराधना करता है।[४]

पाठान्तर और व्याख्या—**जण जाति ण मिज्जती**—के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**जेण आजाइ ण मज्जते**', अर्थ होता है—सर्वकर्मक्षय होने पर न तो पुन: संसार में आता है, और न संसार सागर में डूबता है। '**न मिज्जति**' के बदले वृत्तिकार ने '**ण मिज्जति**' पाठ भी माना है। दोनों का मूलार्थ में उक्त अर्थ से भिन्न अर्थ भी वृत्तिकार ने किया है—(१) जाति से यह नारक है, यह तिर्यञ्च है, इस प्रकार का परिगणन नहीं होता, (२) जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से परिपूर्ण नहीं होता। चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**ण मज्जते**'—अर्थात्—संसारसागर में नहीं डूबता।[५]

मोक्ष-प्राप्ति किसको सुलभ, किसको दुर्लभ?

६२२ निट्ठितट्ठा व देवा वा उत्तरीए इमं सुतं।
सुतं च मेतमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा ॥१६॥

६२३ अंतं करेंति दुक्खाणं, इहमेगेसि आहितं।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥१७॥

६२४ इतो विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा।
दुल्लभा उ तहच्चा णं जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१८॥

६२२. मैंने (सुधर्मास्वामी ने) लोकोत्तर प्रवचन (तीर्थंकर भगवान की धर्मदेशना) में यह (आगे कही जाने वाली) बात सुनी है कि मनुष्य ही सम्यग्दर्शनादि की आराधना से कर्मक्षय करके निष्ठितार्थ-कृतकृत्य होते हैं, (मोक्ष प्राप्त करते हैं) अथवा (कर्म शेष रहने पर) सौधर्म आदि देव बनते हैं। यह (मोक्ष-प्राप्ति—कृतकृत्यता) भी किन्हीं विरले मनुष्यों को ही होती है, मनुष्ययोनि या गति से भिन्न योनि या गतिवाले जीवों को मनुष्यों की तरह कृतकृत्यता या सिद्धि प्राप्त नहीं होती, ऐसा मैंने तीर्थंकर भगवान से साक्षात् सुना है।

६२३. कई अन्यतीर्थिकों का कथन है कि देव ही समस्त दुःखों का अन्त करते हैं, मनुष्य नहीं; (परन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि) इस आर्हत्-प्रवचन में तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि यह समुन्नत मानव-शरीर या मानव-जन्म (समुच्छ्रय) मिलना अथवा मनुष्य के बिना यह समुच्छ्रय-धर्म-श्रवणादि रूप अभ्युदय दुर्लभ है, फिर मोक्ष पाना तो दूर की बात है।

---

४ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५६ का सारांश

५ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५६

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११२

६२४. जो जीव इस मनुष्यभव (या शरीर) से भ्रष्ट हो जाता है, उसे पुनः जन्मान्तर में सम्बोधि (सम्यग्दृष्टि) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। जो साधक धर्मरूप पदार्थ की व्याख्या करते हैं, अथवा धर्मप्राप्ति के योग्य हैं, उनकी तथाभूत अर्चा (सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति के योग्य शुभ लेश्या—अन्तःकरण-परिणति, अथवा सम्यग्दर्शन-प्राप्तियोग्य तेजस्वी मनुष्यदेह) (जिन्होंने पूर्वजन्म में धर्म-वीज नहीं वोया है, उन्हें) प्राप्त होनी अतिदुर्लभ है।

विवेचन—मोक्षप्राप्ति किसको सुलभ, किसको दुर्लभ ?—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में से प्रारम्भ की दो गाथाओं में यह वताया गया है कि समस्त कर्मों का क्षय, सर्वदुःखों का अन्त मनुष्य ही कर सकते हैं, वे ही सिद्धगति प्राप्त करके कृतकृत्य होते हैं। अन्य देवादि गति वालों को मोक्ष-प्राप्ति सुलभ नहीं। क्योंकि उनमें सच्चारित्र परिणाम नहीं होता। तीसरी गाथा में यह बताया गया है कि मोक्षप्राप्ति के लिए अनिवार्य सम्बोधि तथा सम्बोधि-प्राप्ति की अन्तर् में परिणति (लेश्या) का प्राप्त होना उन लोगों के लिए दुर्लभ है, जो मनुष्यजन्म पाकर उसे निरर्थक गँवा देते हैं, जो मानव-जीवन में धर्मवीज नहीं बो सके। निष्कर्ष यह है कि मोक्षप्राप्ति की समग्र सामग्री उन्हीं जीवों के लिए सुलभ है, जो मनुष्यजन्म पाकर सम्यग्दृष्टि सम्पन्न होकर धर्माचरण करते हैं।[६]

कठिन शब्दों की व्याख्या—उत्तरीए—वृत्तिकार के अनुसार अर्थ किया जा चुका है। चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—उत्तरीक स्थानों में—अनुत्तरौपपातिक देवों में उत्पन्न होते हैं। '**धम्मट्ठ वियागरे**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठ है—'धम्मट्ठी विदितपरापरा'—अर्थ किया गया है—धर्मार्थीजन पर—यानी श्रेष्ठ जैसे कि मोक्ष या मोक्षसाधन; तथा अपर—यानी निकृष्ट, जैसे मिथ्यादर्शन, अविरति आदि, इन दोनों पर-अपर को ज्ञात (विदित) कर चुके हैं।[७]

मोक्ष प्राप्त पुरुषोत्तम और उसका शाश्वत स्थान—

६२५ जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुण्णमणेलिसं।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कुतो ॥१९॥

६२६ कुतो कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागता।
तहागता य अपडिण्णा चक्खु लोगस्सऽणुत्तरा ॥२०॥

६२५. जो महापुरुष प्रतिपूर्ण, अनुपम, शुद्ध धर्म की व्याख्या करते हैं, वे सर्वोत्तम (अनुपम) पुरुष के (समस्त द्वन्द्वों से उपरमरूप) स्थान को प्राप्त करते हैं, फिर उनके लिए जन्म लेने की तो बात ही कहाँ ?

---

६ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५८।२५९.

७ (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक २५८
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११३-११४

६२६. इस जगत् में फिर नहीं आने के लिये मोक्ष में गए हुए (तथागत) मेधावी (ज्ञानी) पुरुष क्या कभी फिर उत्पन्न हो सकते हैं ? (कदापि नहीं ।) अप्रतिज्ञ (निदान-रहित) तथागत—तीर्थंकर, गणधर आदि लोक (प्राणिजगत्) के अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) नेत्र (पथप्रदर्शक) हैं ।

विवेचन—मोक्षप्राप्त पुरुषोत्तम और उनका शाश्वत स्थान—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय में मोक्षप्राप्त पुरुषोत्तम का स्वरूप बताकर संसार में उनके पुनरागमन का निराकरण किया गया है ।

धर्म के विशेषणों की व्याख्या—**शुद्ध**—समस्त उपाधियों से रहित होने से विशुद्ध है, **प्रतिपूर्ण**—जिसमें विशाल (आयत) चारित्र होने से अथवा जो यथाख्यात चारित्र रूप होने से परिपूर्ण है । **अनीदृश**=अनुपम—अनुत्तर । **धम्मं अक्खंति**—धर्म का प्रतिपादन करते हैं, स्वयं आचरण भी करते हैं ।[८]

संसार-पारंगत साधक की साधना के विविध पहलू—

६२७ **अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेदिते ।**
जं किच्चा णिव्वुडा एगे, निट्ठं पावंति पंडिया ।।२१।।

६२८ **पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घाया य पवत्तगं ।**
धुणे पुव्वकडं कम्मं, नवं चावि न कुव्वति ।।२२।

६२९ **न कुव्वती महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं ।**
रयसा संमुहीभूता कम्मं हेच्चाण जं मतं ।।२३।।

६३० **जं मतं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लकत्तणं ।**
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते ।।२४।।

६३१ **अभविंसु पुरा वीरा, आगमिस्सा वि सुव्वता ।**
दुण्णिबोहस्स मग्गस्स, अंतं पादुकरा तिण्णे ।।२५।। त्ति बेमि ।।

।। जमतीतं : पण्णरसमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

६२७. काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान महावीर ने बताया है कि वह अनुत्तर (सबसे प्रधान) स्थान संयम है, जिस (संयम) का पालन करके कई महासत्त्व साधक निर्वाण को प्राप्त होते हैं । वे पण्डित (पाप से निवृत्त) साधक निष्ठा (संसार चक्र का अन्त, या सिद्धि की पराकाष्ठा) प्राप्त कर लेते हैं ।

६२८. पण्डित (सद्-असद्-विवेकज्ञ) साधक समस्त कर्मों के निघात (निर्जरा) के लिए प्रवर्तक (अनेकभवदुर्लभ) पण्डितवीर्य (या सुसंयमवीर्य अथवा तपोवीर्य) को प्राप्त करके पहले के अनेक भवों में किये हुए कर्मों का क्षय कर डाले और नवीन कर्मबन्ध न करे ।

---

८ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५६

६२९. दूसरे प्राणी जैसे मिथ्यात्वादि क्रम से पाप करते हैं, वैसे कर्मविदारण करने में महावीर साधक नहीं करता, क्योंकि पाप कर्म पूर्वकृत पाप के प्रभाव से ही किये जाते हैं परन्तु उक्त महावीर पुरुष सुसंयम के आश्रय से पूर्वकृत कर्मों को रोकता है, और अष्टविधकर्मों का त्याग करके मोक्ष के सम्मुख होता है।

६३०. जो समस्त साधुओं को मान्य है, उस पापरूप शल्य या पापरूप शल्य से उत्पन्न कर्म को काटने वाले संयम की साधना करके अनेक जीव (संसार सागर से) तिरे हैं, अथवा जिनके समस्त कर्म क्षय नहीं हुए हैं, वे वैमानिक देव हुए हैं।

६३१ पूर्वकाल में अनेक वीर (कर्मविदारण-समर्थ) हुए हैं, भविष्य में भी अनेक सुव्रती पुरुष होंगे—वे दुर्निबोध—दुःख से प्राप्त होने वाले (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) मार्ग के अन्त (चरमसीमा) तक पहुँच कर, दूसरों के समक्ष भी उसी मार्ग को प्रकाशित (प्रदर्शित) करके तथा स्वयं उस सन्मार्ग पर चलते हुए संसार सागर को पार हुए हैं, होंगे और हो रहे हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—संसारपारंगत साधक की साधना के विविध पहलू—प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं से संसार-सागर पारंगत साधक की साधना के विविध पहलू फलित होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) जिनोपदिष्ट अनुत्तर संयम का पालन करके कई निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं; संसार चक्र का अन्त कर देते हैं, (२) समस्त कर्मक्षय के लिए पण्डित वीर्य को प्राप्त करके अनेक नव संचित कर्मों को नष्ट कर दे और नवीन कर्मों को उपार्जित न करे, (३) कर्मविदारण-समर्थ साधक नवीन पापकर्म नहीं करता, बल्कि पूर्वकृत कर्मों को तप, संयम के बल से काट देता है, (४) पाप-कर्म को काटने के लिए साधक संयम की साधना करके संसार-सागर से पार हो जाता है, या वैमानिक देव बन जाता है, (५) तीनों काल में ऐसे महापुरुष होते हैं, जो रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की साधना करके उसकी पराकाष्ठा पर पहुंच कर दूसरों के समक्ष भी वही मार्ग प्रदर्शित करके संसार सागर को पार कर लेते हैं।[९]

पाठान्तर और व्याख्या—'**णिव्वुडा**' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**णिव्वुता**'; अर्थ होता है—पापकर्मों से निवृत्त। '**संमुहीभूता**'=चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—सम्मुख हुए। '**वीरा**' के बदले कहीं-कहीं '**धीरा**' पाठ है, जिसका अर्थ होता है—परीषहोपसर्ग सहकर कर्म काटने में सहिष्णु धृतिमान।[१०]

॥ जमतीत (यमकीय) : पन्द्रहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

□□□□

---

९ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २६० का सारांश

१० (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २३०

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११४ से ११५
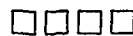
गाथा : षोडश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के सोलहवें अध्ययन का नाम 'गाथा' है।

☐ गाथा-शब्द गृह, अध्ययन, ग्रन्थ-प्रकरण, छन्द विशेष, आर्या गीति, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, निश्चय आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1]

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार नाम, स्थापना के अतिरिक्त द्रव्यगाथा और भावगाथा, यों चार निक्षेप होते हैं। पुस्तकों में या पन्नों पर लिखी हुई गाथा (प्राकृत भाषा में पद्य) द्रव्यगाथा है। 'गाथा' के प्रति क्षायोपशमिक भाव से निष्पन्न साकारोपयोग—भावगाथा है। क्योंकि समग्र श्रुत (शास्त्र) क्षयोपशमभाव में और साकारोपयोग-युक्त माना जाता है, श्रुत में निराकारोपयोग सम्भव नहीं है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन द्रव्यगाथा से सम्बन्धित है। निर्युक्तिकार और वृत्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन को द्रव्यगाथा की दृष्टि से गाथा कहने के पीछे निम्नोक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया है—(१) जिसका उच्चारण मधुर, कर्णप्रिय एवं सुन्दर हो, वह मधुरा (मधुर शब्द निर्मिता) गाथा है, (२) जो मधुर अक्षरों में प्रवृत्त करके गाई या पढ़ी जाए, वह भी गाथा है, (३) जो गाथा (सामुद्र) छन्द में रचित मधुर प्राकृत शब्दावली से युक्त हो, वह गाथा है, (४) जो छन्दोबद्ध न होकर भी गद्यात्मक गेय पाठ हो, इस कारण इसका नाम भी गाथा है, (५) जिसमें बहुत-सा अर्थ-समूह एकत्र करके समाविष्ट किया गया हो अर्थात्-पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में कथित अर्थों (तथ्यों) को पिण्डित—एकत्रित करके प्रस्तुत अध्ययन में समाविष्ट किये जाने से इस अध्ययन का नाम 'गाथा' रख गया है, अथवा (६) पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में साधुओं के जो क्षमा आदि गुण विधि-निषेधरूप में बताए गए हैं, वे इस सोलहवें अध्ययन में एकत्र करके प्रशंसात्मक रूप में कहे जाने के कारण इस अध्ययन को 'गाथा' एवं **'गाथा षोडशक'** भी कहते हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण, माहन, भिक्षु और निर्ग्रन्थ का स्वरूप पृथक-पृथक गुणनिष्पन्न-निर्वचन करके प्रशंसात्मकरूप से बताया गया है।[2]

यह अध्ययन समस्त अध्ययनों का सार है, गद्यात्मक है तथा सूत्र संख्या ६३२ से प्रारम्भ होकर ६३७ पर समाप्त होता है।

☐☐☐☐

---

१ पाइअसद्दमहण्णवो, पृष्ठ २९३

२ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १३७ से १४१ तक (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २६१-२६२

गाहा : सोलसमं अज्झयणं

गाथा : षोडश अध्ययन

माहण-श्रमण-परिभाषा-स्वरूप—

६३२. अहाह भगवं—एवं से दंते दविए वोसट्ठकाए ति वच्चे माहणे ति वा १ समणे ति वा २, भिक्खू ति वा ३, णिग्गंथे ति वा ४।

६३३. पडिआह—भंते ! कहं दंते दविए वोसट्ठकाए ति वच्चे माहणे ति वा समणे ति वा भिक्खू ति वा णिग्गंथे ति वा ? तं नो बूहि महामुणी !

६३२. पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययन कहने के बाद भगवान् ने कहा—इस प्रकार (पन्द्रह अध्ययनों में उक्त) अर्थों-गुणों से युक्त जो साधक दान्त (इन्द्रियों और मन को वश में कर चुका) है, द्रव्य (भव्य—मोक्षगमनयोग्य) है, जिसने शरीर के प्रति ममत्व त्याग दिया है; उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

६३३ शिष्य ने प्रतिप्रश्न किया—भंते ! पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में कथित अर्थों-गुणों से युक्त जो साधक दान्त है, भव्य है, शरीर के प्रति जिसने ममत्व का व्युत्सर्ग कर दिया है, उसे क्यों माहण, श्रमण भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? हे महामुने ! कृपया यह हमें बताइए।

विवेचन—माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ : स्वरूप और प्रतिप्रश्न—प्रस्तुत सूत्र में सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्यों के समक्ष पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में कथित साधुगुणों से युक्त साधक को भगवान् द्वारा माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहे जाने का उल्लेख किया तो शिष्यों ने जिज्ञासावश प्रतिप्रश्न किया कि क्यों और किस अपेक्षा से उन्हें माहन आदि कहा जाए ?

इस प्रश्न के समाधानार्थ अगले सूत्रों में इन चारों का क्रमशः लक्षण बताया गया है।

दान्त—जो साधक इन्द्रियों और मन का दमन करता है, उन्हें पापाचरण या सावद्यकार्य में प्रवृत्त होने से रोकता है, यहाँ तक कि अपनी इन्द्रियों और मन को इतना अभ्यस्त कर लेता है कि वे कुमार्ग में जाते ही नहीं।

व्युत्सृष्टकाय—जो शरीर को सजाने-संवारने, पुष्ट करने, शृंगारित करने आदि सब प्रकार के शरीर-संस्कारों और शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर चुका हो।[1]

माहन स्वरूप—

६३४. इति विरतसव्वपावकम्मे पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाय-अरतिरति-मायामोस-मिच्छादंसणसल्ले विरए समिते सहिते सदा जते णो कुज्झे णो माणी माहणे ति वच्चे।

६३४. पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार आचरण करने वाला जो साधक समस्त पापकर्मों से विरत है, जो किसी पर राग या द्वेष नहीं करता, जो कलह से दूर रहता है, किसी पर मिथ्या दोषारोपण नहीं करता, किसी की चुगली नहीं करता, दूसरों को निन्दा नहीं करता, जिसकी संयम में अरुचि (अरति) और असंयम में रुचि (रति) नहीं है, कपट-युक्त असत्य नहीं बोलता (दम्भ नहीं करता), अर्थात् अठारह ही पापस्थानों से विरत होता है, पाँच समितियों से युक्त और ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न है, सदैव षड्जीवनिकाय की यतना—रक्षा करने में तत्पर रहता है अथवा सदा इन्द्रियजयी होता है, किसी पर क्रोध नहीं करता, न अभिमान करता है, इन गुणों से सम्पन्न अनगार 'माहन' कहे जाने योग्य है।

विवेचन—'माहन' का स्वरूप—किन गुणों से युक्त व्यक्ति को 'माहन' कहा जाना चाहिए? इसका निरूपण प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

'माहन' का अर्थ और उक्त लक्षण—'माहन' पद मा+हन इन दो शब्दों से बनता है, अर्थ होता है—'किसी भी प्राणी का हनन मत करो'; इस प्रकार का उपदेश जो दूसरों को देता है, अथवा जो स्वयं त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, किसी भी प्राणी की किसी प्रकार से हिंसा (हनन) नहीं करता। हिंसा दो प्रकार की होती है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। राग, द्वेष, कषाय, या असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रहवृत्ति आदि सब भावहिंसा के अन्तर्गत हैं। भावहिंसा द्रव्यहिंसा से बढ़कर भयंकर है। 'माहन' दोनों प्रकार की हिंसा से विरत होता है। माहन को यहाँ भगवान् ने अठारह पापस्थानों से विरत बताया है, इसका अर्थ है, वह भावहिंसा के इन मूल कारणों से विरत रहता है। फिर माहन को पंच समिति एवं त्रिगुप्ति से युक्त बताया है, इसका तात्पर्य है, वह असत्य, चोरी आदि भावहिंसाओं से रक्षा करने वाली समिति-गुप्ति से युक्त है। फिर सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयसम्पन्न माहन हिंसा निवारण के अमोघ उपायभूत मार्ग से सुशोभित है। हिंसा से सर्वथा निवृत्त माहन षड्जीवनिकाय की रक्षा के लिए सदैव यत्नवान होता ही है। क्रोध और अभिमान—ये दो भावहिंसा के प्रधान जनक हैं। माहन क्रोधादि भावहिंसाजनक कषायों से दूर रहता है। ये सब गुण 'माहन' के अर्थ के साथ सुसंगत हैं, इसलिए उक्त गुणों से सम्पन्न साधक को माहन कहना युक्तियुक्त है।

---

१ सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २६२

श्रमण स्वरूप—

६३५. **एत्थ वि समणे अणिस्सिते अणिदाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च इच्चेवं जतो आदाणातो अप्पणो पदोसहेतुं ततो तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते ▷ विरते पाणाइवायाओ ◁ दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे ।**

६३५. जो साधु पूर्वोक्त विरति आदि गुणों से सम्पन्न है। उसे यहाँ (इस सूत्र में) कहे जाने वाले गुणों से भी सम्पन्न होना चाहिए। जो साधक अनिश्रित (शरीर आदि किसी भी पर-पदार्थ में आसक्त या आश्रित नहीं) है; अनिदान (अपने तप-संयम के फल के रूप में किसी भी प्रकार के इह-पारलौकिक सुख-भोगाकांक्षा से रहित) है, तथा कर्मबन्ध के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान) से रहित है, तथा क्रोध मान, माया, लोभ राग और द्वेष नहीं करता। इस प्रकार जिन-जिन कर्मबन्ध के आदानों—कारणों से इहलोक-परलोक में आत्मा की हानि होती है, तथा जो-जो आत्मा के लिए द्वेष के कारण हों, उन-उन कर्मबन्ध के कारणों से पहले से ही निवृत्त है, एवं जो दान्त, भव्य (द्रव्य) तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए।

विवेचन—श्रमण का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्रगाथा में यह बताया गया है कि 'किन विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर साधक को श्रमण कहा जा सकता है।'

'श्रमण' का निर्वचन और लक्षण—प्राकृतभाषा के 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—श्रमण, शमन और समन। श्रमण का अर्थ है—जो मोक्ष (कर्ममोक्ष) के लिए स्वयं श्रम करता है, तपस्या करता है। शमन का अर्थ है—जो कषायों का उपशमन करता है, और समन का अर्थ है—जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है, अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका मन सम—राग-द्वेषरहित—है। इन अर्थों के प्रकाश में जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त श्रमण के लक्षण को कसते हैं तो वह पूर्णतः खरा उतरता है। श्रमण का पहला लक्षण 'अनिश्रित' बताया है, वह इसलिए कि श्रमण किसी देव आदि का आश्रित बनकर नहीं जीता, वह तप-संयम में स्वश्रम (पुरुषार्थ) के बल पर आगे बढ़ता है। श्रमण जो भी तप करता है, वह कर्मक्षय के उद्देश्य से ही करता है। निदान करने से कर्मक्षय नहीं होता, इसलिए श्रमण का लक्षण 'अनिदान' बताया गया है। श्रमण संयम और तप में जितना पराक्रम करता है, वह कर्मक्षय के लिए करता है, अतः प्राणातिपात आदि जिन-जिन से कर्मबन्ध होता है, उनका वह शमन (विरति) करता है, उनसे दूर रहता है। क्रोधादि कषायों एवं रागद्वेष आदि का शमन करता है। राग, द्वेष, मोह आदि के कारणों से दूर रहकर 'समन' समत्व में स्थित रहता है।

निष्कर्ष यह है 'अणिस्सिए' से लेकर 'वोसट्ठकाए' तक श्रमण के जितने गुण या लक्षण बताये हैं, वे सब 'समण' शब्द के तीनों रूपों में आ जाते हैं। इसलिए उक्त गुणविशिष्ट साधक को 'श्रमण' कहा जाता है।

भिक्षु-स्वरूप—

६३६. एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए नावणए णामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिते ठितप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खु त्ति वच्चे।

६३६. 'माहन' और 'श्रमण' की योग्यता के लिए जितने गुण पूर्वसूत्रों में वर्णित है, वे सभी यहाँ वर्णित भिक्षु में होने आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त ये विशिष्ट गुण भी भिक्षु में होने चाहिए—वह अनुन्नत (निरभिमान) हो, (गुरु आदि के प्रति) विनीत हो, (अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति विनयशील हो), किन्तु भाव से अवनत (दीन मन वाला) न हो, नामक (विनय से अष्ट प्रकार से अपनी आत्मा को नमाने वाला, अथवा सबके प्रति नम्र व्यवहार वाला) हो, दान्त हो, भव्य हो, कायममत्व-रहित हो, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों का समभावपूर्वक सामना करके सहने वाला हो, अध्यात्मयोग (धर्मध्यान) से जिसका चारित्र (आदान) शुद्ध हो, जो सच्चारित्र-पालन में उद्यत-उपस्थित हो, जो स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ, अथवा जिसकी आत्मा अपने शुद्ध भाव में स्थित है, या मोक्षमार्ग में स्थिरचित्त) हो तथा संसार की असारता जानकर जो परदत्तभोजी (गृहस्थ द्वारा प्रदत्त आहार से निर्वाह करने वाला) है; उस साधु को 'भिक्षु' कहना चाहिए।

विवेचन—भिक्षु का स्वरूप— प्रस्तुत सूत्र में भिक्षु के विशिष्ट गुणों का निरूपण करते हुए उसका स्वरूप बताया गया है।

भिक्षु का अर्थ और सूत्रोक्त लक्षण— भिक्षु का सामान्य अर्थ होता है—भिक्षाजीवी। परन्तु त्यागी भिक्षु न तो भीख माँगने वाला होता है, न ही पेशेवर भिखारी, और न ही भिक्षा से पेट पालकर अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाकर, आलसी एवं निकम्मा बनकर पड़े रहना उसका उद्देश्य होता है। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार उसकी भिक्षा न तो पौरुषघ्नी होती है और न ही आजीविका, वह सर्व-सम्पत्करी होती है। अर्थात्—भिक्षु अहर्निश तप-संयम में, स्वपर-कल्याण में अथवा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना में पुरुषार्थ के लिए भिक्षा ग्रहण करता है।

इस विशिष्ट अर्थ के प्रकाश में जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त भिक्षु के विशिष्ट गुणात्मक स्वरूप की समीक्षा करते हैं तो भिक्षु के लिए बताए हुए सभी विशिष्ट गुण यथार्थ सिद्ध होते हैं। निर्ग्रन्थ भिक्षु का एक विशिष्ट गुण है—**'परदत्तभोजी'**। इस गुण का रहस्य यह है कि भिक्षु अहिंसा की दृष्टि से न तो स्वयं भोजन पकाता या पकवाता है, न ही अपरिग्रह की दृष्टि से भोजन का संग्रह करता है, न भोजन खरीदता या खरीदवाता है, न खरीदा हुआ लेता है। इसी प्रकार अचौर्य की दृष्टि से गृहस्थ के यहाँ बने हुए भोजन को बिना पूछे उठाकर न लाता या ले लेता है, न छीनकर, चुराकर या लूटकर लेता है। वह निरामिषभोजी गृहस्थवर्ग के यहाँ उसके स्वयं के लिए बनाये हुए आहार में से भिक्षा के नियमानुसार गृहस्थ द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दिया गया थोड़ा सा एषणीय, कल्पनीय और अचित्त पदार्थ लेता है।

श्रमण स्वरूप—

६३५. एत्थ वि समणे अणिस्सिते अणिदाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च इच्चेवं जतो आदाणातो अप्पणो पदोसहेतुं ततो तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते ▷ विरते पाणाइवायाओ ◁ दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे ।

६३५. जो साधु पूर्वोक्त विरति आदि गुणों से सम्पन्न है। उसे यहाँ (इस सूत्र में) कहे जाने वाले गुणों से भी सम्पन्न होना चाहिए। जो साधक अनिश्रित (शरीर आदि किसी भी पर-पदार्थ में आसक्त या आश्रित नहीं) है; अनिदान (अपने तप-संयम के फल के रूप में किसी भी प्रकार के इह-पारलौकिक सुख-भोगाकांक्षा से रहित) है, तथा कर्मबन्ध के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान) से रहित है, तथा क्रोध मान, माया, लोभ राग और द्वेष नहीं करता। इस प्रकार जिन-जिन कर्मबन्ध के आदानों—कारणों से इहलोक-परलोक में आत्मा की हानि होती है, तथा जो-जो आत्मा के लिए द्वेष के कारण हों, उन-उन कर्मबन्ध के कारणों से पहले से ही निवृत्त है, एवं जो दान्त, भव्य (द्रव्य) तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए।

विवेचन—श्रमण का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्रगाथा में यह बताया गया है कि 'किन विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर साधक को श्रमण कहा जा सकता है।'

'श्रमण' का निर्वचन और लक्षण—प्राकृतभाषा के 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—श्रमण, शमन और समन। श्रमण का अर्थ है—जो मोक्ष (कर्ममोक्ष) के लिए स्वयं श्रम करता है, तपस्या करता है। शमन का अर्थ है—जो कषायों का उपशमन करता है, और समन का अर्थ है—जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है, अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका मन सम—राग-द्वेषरहित—है। इन अर्थों के प्रकाश में जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त श्रमण के लक्षण को कसते हैं तो वह पूर्णतः खरा उतरता है। श्रमण का पहला लक्षण 'अनिश्रित' बताया है, वह इसलिए कि श्रमण किसी देव आदि का आश्रित बनकर नहीं जीता, वह तप-संयम में स्वश्रम (पुरुषार्थ) के बल पर आगे बढ़ता है। श्रमण जो भी तप करता है, वह कर्मक्षय के उद्देश्य से ही करता है। निदान करने से कर्मक्षय नहीं होता, इसलिए श्रमण का लक्षण 'अनिदान' बताया गया है। श्रमण संयम और तप में जितना पराक्रम करता है, वह कर्मक्षय के लिए करता है, अतः प्राणातिपात आदि जिन-जिन से कर्मबन्ध होता है, उनका वह शमन (विरति) करता है, उनसे दूर रहता है। क्रोधादि कषायों एवं रागद्वेष आदि का शमन करता है। राग, द्वेष, मोह आदि के कारणों से दूर रहकर 'समन' समत्व में स्थित रहता है।

निष्कर्ष यह है 'अणिस्सिए' से लेकर 'वोसट्ठकाए' तक श्रमण के जितने गुण या लक्षण बताये हैं, वे सब 'समण' शब्द के तीनों रूपों में आ जाते हैं। इसलिए उक्त गुणविशिष्ट साधक को 'श्रमण' कहा जाता है।

भिक्षु-स्वरूप—

६३६. एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए नावणए णामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिते ठितप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खु त्ति वच्चे ।

६३६. 'माहन' और 'श्रमण' की योग्यता के लिए जितने गुण पूर्वसूत्रों में वर्णित हैं, वे सभी यहाँ वर्णित भिक्षु में होने आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त ये विशिष्ट गुण भी भिक्षु में होने चाहिए—वह अनुन्नत (निरभिमान) हो, (गुरु आदि के प्रति) विनीत हो, (अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति विनयशील हो), किन्तु भाव से अवनत (दीन मन वाला) न हो, नामक (विनय से अष्ट प्रकार से अपनी आत्मा को नमाने वाला, अथवा सबके प्रति नम्र व्यवहार वाला) हो, दान्त हो, भव्य हो, कायममत्व-रहित हो, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों का समभावपूर्वक सामना करके सहने वाला हो, अध्यात्मयोग (धर्मध्यान) से जिसका चारित्र (आदान) शुद्ध हो, जो सच्चारित्र-पालन में उद्यत-उपस्थित हो, जो स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ, अथवा जिसकी आत्मा अपने शुद्ध भाव में स्थित है, या मोक्षमार्ग में स्थिरचित्त) हो तथा संसार की असारता जानकर जो परदत्तभोजी (गृहस्थ द्वारा प्रदत्त आहार से निर्वाह करने वाला) है; उस साधु को 'भिक्षु' कहना चाहिए।

विवेचन—भिक्षु का स्वरूप— प्रस्तुत सूत्र में भिक्षु के विशिष्ट गुणों का निरूपण करते हुए उसका स्वरूप बताया गया है।

भिक्षु का अर्थ और सूत्रोक्त लक्षण— भिक्षु का सामान्य अर्थ होता है—भिक्षाजीवी। परन्तु त्यागी भिक्षु न तो भीख माँगने वाला होता है, न ही पेशेवर भिखारी, और न ही भिक्षा से पेट पालकर अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाकर, आलसी एवं निकम्मा बनकर पड़े रहना उसका उद्देश्य होता है। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार उसकी भिक्षा न तो पौरुषघ्नी होती है और न ही आजीविका, वह सर्व-सम्पत्करी होती है। अर्थात्—भिक्षु अहर्निश तप-संयम में, स्वपर-कल्याण में अथवा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना में पुरुषार्थ के लिए भिक्षा ग्रहण करता है।

इस विशिष्ट अर्थ के प्रकाश में जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त भिक्षु के विशिष्ट गुणात्मक स्वरूप की समीक्षा करते हैं तो भिक्षु के लिए बताए हुए सभी विशिष्ट गुण यथार्थ सिद्ध होते हैं। निर्ग्रन्थ भिक्षु का एक विशिष्ट गुण है—**'परदत्तभोजी'**। इस गुण का रहस्य यह है कि भिक्षु अहिंसा की दृष्टि से न तो स्वयं भोजन पकाता या पकवाता है, न ही अपरिग्रह की दृष्टि से भोजन का संग्रह करता है, न भोजन खरीदता या खरीदवाता है, न खरीदा हुआ लेता है। इसी प्रकार अचौर्य की दृष्टि से गृहस्थ के यहाँ बने हुए भोजन को बिना पूछे उठाकर न लाता या ले लेता है, न छीनकर, चुराकर या लूटकर लेता है। वह निरामिषभोजी गृहस्थवर्ग के यहाँ उसके स्वयं के लिए बनाये हुए आहार में से भिक्षा के नियमानुसार गृहस्थ द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दिया गया थोड़ा सा एषणीय, कल्पनीय और अचित्त पदार्थ लेता है।

भिक्षु के अन्य चार विशिष्ट गुण यहाँ बताये गये हैं—(१) अनुन्नत, (२) नावनत, (३) विनीत या नामक और (४) दान्त। अनुन्नत आदि चारों गुण इसलिए आवश्यक हैं कि कोई साधक जब भिक्षा को अपना अधिकार या आजीविका का साधन बना लेता है, तब उसमें अभिमान आ जाता है, वह उद्धत होकर गृहस्थों (अनुयायियों) पर धौंस जमाने लगता है, भिक्षा न देने पर श्राप या अनिष्ट कर देने का भय दिखाता है, या भिक्षा देने के लिए दवाब डालता है अथवा दीनता-हीनता या करुणता दिखाकर भोजन लेता है, अथवा भिक्षा न मिलने पर अपनी नम्रता छोड़कर गाँव, नगर या उस गृहस्थ को कोसने या अपशब्दों से धिक्कारने लगता है, अथवा अपनी जिह्वा आदि पर संयम न रखकर सरस, स्वादिष्ट, पौष्टिक वस्तु की लालसावश सम्पन्न घरों में ताक-ताक कर जाता है, अंगारादि दोषों का सेवन कर अपनी जितेन्द्रियता को खो बैठता है। अतः भिक्षु का अनुन्नत, नावनत (अदीन), नामक (विनीत या नम्र) और दान्त होना परम आवश्यक है।

ये चार गुण भिक्षा-विधि में तो लक्षित होते ही हैं, इसके अतिरिक्त साधक के जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में इन गुणों की प्रतिच्छाया आनी चाहिए। क्योंकि जीवन में सर्वत्र सर्वदा ही ये गुण आवश्यक हैं।

इसी दृष्टि से आगे 'व्युत्सृष्टकाय', 'संख्यात', 'स्थितात्मा' और 'उपस्थित' ये चार विशिष्ट भिक्षु के गुण बताये हैं। इन गुणों का क्रमशः रहस्य यह है कि (१) भिक्षु अपने शरीर पर ममत्व रखकर उसी को हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ बनाने में न लग जाए, किन्तु शरीर पर ममत्व न रखकर कल्पनीय, एषणीय, सात्त्विक यथाप्राप्त आहार से निर्वाह करे। (२) साधु अपने शरीर के स्वभाव का चिन्तन करे कि इसे जितना भी भरा जाता है, वह मल के रूप में निकल जाता है, अतः दोषयुक्त, पौष्टिक, स्वादिष्ट एवं अत्यधिक आहार से पेट भरने की अपेक्षा एषणीय, कल्पनीय, सात्त्विक, अल्पतम आहार से भरकर काम क्यों न चला लूं? मैं शरीर को लेकर पराधीन, परवश न बनूँ। (३) स्थितात्मा होकर भिक्षु अपने आत्मभावों में, या मोक्षमार्ग में स्थिर रहे, आत्मगुण-चिन्तन में लीन रहे, खाने-पीने आदि पदार्थों को पाने और सेवन करने का चिन्तन न करे। (४) भिक्षु अपने सच्चारित्र पालन में उद्यत रहे, उसी का ध्यान रखे, चिन्तन करे, अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के चिन्तन में मन को प्रवृत्त न करे।

अन्तिम दो विशेषण भिक्षु की विशेषता सूचित करते हैं—(१) अध्यात्मयोग-शुद्धादान और (२) नाना परीषहोपसर्गसहिष्णु। कई भिक्षु भिक्षा न मिलने या मनोऽनुकूल न मिलने पर आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान करने लगते हैं, यह भिक्षु का पतन है, उसे धर्मध्यानादिरूप अध्यात्मयोग से अपने चारित्र को शुद्ध रखने, रत्नत्रयाराधना-प्रधान चिन्तन करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही भिक्षाटन के या भिक्षु के विचरण के दौरान कोई परीषह या उपसर्ग आ पड़े तो उस समय मन में दैन्य या संयम से पलायन का विचार न लाकर उस परीषह या उपसर्ग को समभाव से सहन करना ही भिक्षु का गुण है।

वास्तव में, ये गुण भिक्षु में होंगे, तभी वह सच्चे अर्थ में भिक्षु कहलाएगा।

निर्ग्रन्थ-स्वरूप—

६३७. एत्थ वि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिण्णसोते सुसंजते सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते य विदू दुहतो वि सोयपलिच्छिण्णे णो पूया-सक्कार-लाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविदू णियागपडिवण्णे समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथे त्ति वच्चे।

से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो त्ति बेमि।

॥ गाहा : सोलसमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

॥ पढमो सुयक्खंधो सम्मत्तो ॥

६३७. पूर्वसूत्र में बताये गये भिक्षुगुणों के अतिरिक्त निर्ग्रन्थ में यहाँ वर्णित कुछ विशिष्ट गुण होने आवश्यक हैं—जो साधक एक (द्रव्य से सहायकरहित अकेला और भाव से रागद्वेषरहित एकाकी आत्मा) हो, जो एकवेत्ता (यह आत्मा परलोक में एकाकी जाता है, इसे भली-भाँति जानता हो या एकमात्र मोक्ष या संयम को ही जानता) हो, जो बुद्ध (वस्तुतत्त्वज्ञ) हो, जो संच्छिन्न स्रोत (जिसने आस्रवों के स्रोत—द्वार बन्द कर दिये) हो, जो सुसंयत (निष्प्रयोजन शरीर क्रिया पर नियन्त्रण रखता हो, अथवा इन्द्रिय और मन पर संयम रखता) हो, जो सुसमित (पांच समितियों से युक्त) हो, जो सुसामायिक युक्त (शत्रु-मित्र आदि पर समभाव रखता) हो, जो आत्मवाद-प्राप्त (आत्मा के नित्यानित्य आदि समग्र स्वरूप का यथार्थ रूप से ज्ञाता) हो, जो समस्त पदार्थों के स्वभाव को जानता हो, जिसने द्रव्य और भाव दोनों तरह से संसारागमन स्रोत (मार्ग) को बन्द कर दिया हो, जो पूजा, सत्कार एवं द्रव्यादि के लाभ का अभिलाषी नहीं हो, जो एकमात्र धर्मार्थी और धर्मवेत्ता हो, जिसने नियाग (मोक्षमार्ग या सत्संयम) को सब प्रकार से स्वीकार (प्राप्त) कर लिया हो, जो समत्व में विचरण करता हो। इस प्रकार का जो साधु दान्त, भव्य हो और काया से आसक्ति हटा चुका हो, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

अतः आप लोग इसी तरह समझें, जैसा मैंने कहा है, क्योंकि भय से जीवों के त्राता सर्वज्ञ तीर्थंकर आप्त पुरुष अन्यथा नहीं कहते।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—**निर्ग्रन्थ का स्वरूप**—प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न पहलुओं से निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है।

निर्ग्रन्थ का अर्थ और विशिष्ट गुणों की संगति—निर्ग्रन्थ वह कहलाता है, जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों से रहित हो। सहायकता या रागद्वेषयुक्तता, सांसारिक सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों को अपने मान कर उनसे सुख-प्राप्ति या स्वार्थ-पूर्ति की आशा रखना, वस्तुतत्त्व की अनभिज्ञता, आस्रव द्वारों को न रोकना, मन और इन्द्रियों पर असंयम—परवशता, शत्रु-मित्र आदि पर राग-द्वेषादि विषम-भाव, आत्मा के सच्चे स्वरूप को न जानकर शरीरादि को ही आत्मा समझना, द्रव्य-भाव से संसार-स्रोत को खुला रखना, पूजा, सत्कार, या द्रव्य आदि के लाभ की आकांक्षा करना आदि वे ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे निर्ग्रन्थता समाप्त हो जाती है। वाह्य-आभ्यन्तर गाँठें निर्ग्रन्थ जीवन को खोखला बना देती हैं। इसीलिए

शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ के लिए एक, एकवित्, बुद्ध, संच्छिन्नस्रोत, सुसंयत, सुसमित, सुसामायित, आत्मवाद-प्राप्त, स्रोतपरिच्छिन्न, अपूजा-सत्कार-लाभार्थी, आदि विशिष्ट गुण अनिवार्य बताये हैं। क्योंकि एक आदि गुणों के तत्त्वों का परिज्ञान होने पर ही संग, संयोग, सम्बन्ध, सहायक, सुख-दुःख-प्रदाता आदि की ग्रन्थि टूटती है। साथ ही विधेयात्मक गुणों के रूप में धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, नियाग-प्रतिपन्न, समत्वचारी, दान्त, भव्य एवं व्युत्सृष्टकाय आदि विशिष्ट गुणों का विधान भी किया है जो राग-द्वेष, वैर, मोह, हिंसादि पापों की ग्रन्थि से बचाएगा। अतः वास्तव में निर्ग्रन्थत्व के इन गुणों से सुशोभित साधु ही निर्ग्रन्थ कहलाने का अधिकारी है।

इस प्रकार माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ के उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणात्मक स्वरूप भगवान् महावीर ने बताये हैं। ये सब भिन्न-भिन्न शब्द और विभिन्न प्रवृत्ति निमित्तक होते हुए भी कथंचित् एकार्थक हैं, परस्पर अविनाभावी हैं।

आप्त पुरुष के इस कथन की सत्यता में संदेह नहीं—प्रस्तुत अध्ययन एवं श्रुतस्कन्ध का उपसंहार करते हुए श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से अपने द्वारा उक्त कथन की सत्यता को प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि मेरे पूर्वोक्त कथन की सत्यता में किसी प्रकार की शंका न करें, क्योंकि मैंने वीतराग आप्त, सर्वजीवहितैषी, भयत्राता, तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट बातें ही कहीं हैं। वे अन्यथा उपदेश नहीं करते।[2]

॥ गाहा (गाथा) : षोडश अध्ययन समाप्त ॥

सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण

परिशिष्ट 1

गाथाओं की अनुक्रमणिका

□

परिशिष्ट २

विशिष्ट शब्द सूची

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क

परिशिष्ट ३

स्मरणीय सुभाषित

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
१	४	ममाती लुप्पती बाले अन्नमन्नेहिं मुच्छिए।
२	४४	अप्पणो य परं णालं कुतो अण्णेऽणु सासिउं ?
३	५८	जहा आसाविणि णावं जाति अंधो दुरूहिया। इच्छेज्जा पारमागंतु अंतरा य विसीयति॥
४	५९	एवं तु समणा एगे मिच्छद्दिट्ठी अणारिया। संसारपारकंखी ते संसारं अणुपरियट्टंति॥
५	६९	समुप्पायमयाणंता किह नाहिंति संवरं॥
६	८५	एवं खु णाणिणो सारं जं न हिंसति किंचणं। अहिंसासमयं चेव इत्तावंतं विजाणिया॥
७	८९	संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लभा। णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं॥
८	९८	पुरिसोरम पाव कम्मुणा।
९	१११	अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी।
१०	११२	जो परिभवती परं जणं, संसारे परियत्तती महं। अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जती॥
११	११६	पणसमत्ते सदा जए, समिया धम्ममुदाहरे मुणी।
१२	१२१	महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वंदण पूयणा इहं। सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विदुमं ता पयहिज्ज संथवं॥
१३	१२७	सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए।
१४	१२९	अहिगरणं न करेज्ज पंडिए।
१५	१३१	न य संखयमाहु जीवियं तह वि य बालजणे पगब्भती।
१६	१४४	जे विण्णवणाहिऽझोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया।
१७	१४८	कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्धे कण्हुई।

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
१८	१४६	मा पच्छ असाहुया भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
१६	१५२	ण य संखयमाहु जीवियं ।
२०	१५३	अद्क्खुव दक्खुवाहितं, सद्दहसू अद्क्खुदंसणा ।
२१	१५६	एगस्स गती य आगती, वि दुमं ता सरणं न मन्नती ।
२२	१६०	सव्वे सयकम्मकप्पिया ।
२३	१६१	इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहितं ।
२४	२१६	नातिकडुइतं सेय अरुयस्सावरज्झती ।
२५	२३१	मा एयं अवमन्नंता अप्पेणं लुंपहा बहुं ।
२६	२३३	इत्थी वसंगता बाला जिणसासणपरम्मुहा ।
२७	२३६	जेहिं काले परक्कंतं न पच्छा परितप्पए । ते धीरा बंधणुम्मुक्का नावकंखंति जीवियं ॥
२८	२४०	जहा नदी वेयरणी दुत्तरा इह सम्मता । एवं लोगंसि नारीओ दुत्तरा अमतीमता ॥
२६	२४५	कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिते ।
३०	२५४	सीहं जहा व कुणिमेणं णिब्भयमेगचरं पासेणं । एवित्थिया उ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥
३१	२५७	तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं णच्चा ।
३२	२६३	वायावीरियं कुसीलाणं ।
३३	२७०	अन्नं मणेण चितेंति, अन्नं वायाइ कम्मुणा अन्नं । तम्हा णं सद्दहे भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥
३४	२७५	बालस्स मंदयं वितियं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
३५	३२५	जहा कडे कम्म तहा सि भारे ।
३६	३२७	बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदेंति कम्माइं पुरेकडाइं ।
३७	३४६	जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तहेव आगच्छति संपराए ।
३८	३७४	दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वदंति । तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोउत्तमे समणे नायपुत्ते ॥
३६	३६१	सकम्मुणा विप्परियासुवेति ।
४०	३६४	उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ।
४१	४०३	कुलाइं जे धावति साउगाइं, अहाऽऽहु से सामणियस्स दूरे ।
४२	४०७	नो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।
४३	४०६	भारस्स जाता मुणि भुञ्जएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ।
४४	४१७	वेराइं कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती । पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
४५	४२६	जहा कुम्मे स अंगाइं, सए देहे समाहरे। एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे॥
४६	४२६	सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमतो।
४७	४३५	अप्पपिंडासि पाणासि अप्पं भासेज्ज सुव्वते।
४८	४६१	भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं।
४६	४६३	होलावायं सहीवायं, गोतावायं च नो वदे।
५०	४६७	हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
५१	४६८	लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एसमाहिए।
५२	४७८	आदीणभोई वि करेति पावं।
५३	४७६	सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा।
५४	४८१	वेराणुगिद्धे णिचयं करेति।
५५	४६४	मुसं न बूया मुणि अत्तगामी।
५६	४६५	न सिलोयकामी य परिव्वएज्जा।
५७	५०६	एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं।
५८	५४५	आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं।
५६	५४६	ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
६०	५६४	अण्णं जणं पस्सति बिंबभूतं।
६१	५६७	णिक्खम्म जे सेवतिऽगारिकम्मं, ण से पारए होति विमोयणाए।
६२	५७८	न पूयणं चेव सिलोयकामी पियमप्पियं कस्सति णो कहेज्जा।
६३	५८०	जे छेए विप्पमादं न कुज्जा।
६४	५८५	निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहं कहं वी वितिगिच्छतिण्णे।
६५	५८८	ण यावि किंचि फरुसं वदेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा।
६६	५६८	नो छादते नो वि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च। ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा॥
६७	६०५	अलूसए णो पच्छण्णभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई।
६८	६१०	भूतेहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
६६	६११	भावणा जोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया। नावा व तीर संपत्ता, सव्वदुक्खा तिउट्टति॥
७०	६१३	अकुव्वतो णवं नत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
७१	६१५	इत्थिओ जे ण सेवंति, आदिमोक्खा हु ते जणा।
७२	६१६	अणेलिसस्स खेतण्णे, ण विरुज्झेज्ज केणइ।
७३	६२०	से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए तु अंतए।

□□□□

४ परिशिष्ट

सूत्रकृतांगसूत्र के सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

आगम ग्रन्थ

आयारंगसुत्तं (प्रकाशन वर्ष ई. १९७७)

सम्पादक : मुनिश्री जम्बूविजय जी

प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०००३६

आचारांग सूत्र (मूल-अनुवाद-विवेचन-टिप्पण युक्त)

संयोजक एवं प्रधान सम्पादक : युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी

सम्पादक-विवेचक : श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक : आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

आचारांगसूत्रं सूत्र कृतांगसूत्रं च (निर्युक्ति टीका सहित)

(श्री भद्रबाहुस्वामिविरचित निर्युक्ति, श्री शीलांकाचार्यविरचित वृत्ति)

सम्पादक-संशोधक : मुनिश्री जम्बूविजयजी

प्रकाशक : मोतीलाल वनारसीदास इण्डोलोजिकल ट्रस्ट, बंगलो रोड, जवाहरन
दिल्ली ११०००७

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक : आचार्य श्री तुलसी

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)

अत्थागमे (अर्थागम) खण्ड १ (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक : जैन धर्मोपदेष्टा पं. श्री फूलचन्द जी म. (पुप्फभिक्खू)

प्रकाशक : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट,
एस. एस. जैन बाजार, गुड़गाँव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा (मूल-अर्थ-टिप्पणयुक्त)

सम्पादक : पं. मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक : आगम-अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र (मूल-अर्थ–विवेचनयुक्त)

सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक : वीरायतन प्रकाशन, आगरा (उ. प्र.)

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)

सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढसिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं (मूल अर्थ–टिप्पणयुक्त)

सम्पादक : पं. मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक : आगम-अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

उवासगदसाओ (अनुवाद-विवेचन-टिप्पणयुक्त)

संयोजक एवं प्रधान सम्पादक : युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी
अनुवादक-विवेचक-सम्पादक : डॉ० छगनलाल शास्त्री, एम. ए., पी-एच-डी.
प्रकाशक : श्री आगम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, पिप्पलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र

सम्पादक : पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल', 'न्यायतीर्थ'
प्रकाशक : स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (मूलार्थ-विवेचन-टिप्पणयुक्त)

सम्पादक-विवेचक : युवाचार्य महाप्रज्ञ श्री नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)

अन्तकृद्दशांग (मूल एवं अर्थ)

सम्पादक : रतनलाल जी डोशी
प्रकाशक : अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०)

दसवेआलियं (विवेचनयुक्त)

सम्पादक-विवेचक : युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनिश्री नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)

प्रश्नव्याकरण सूत्र (मूल-अर्थ-भावार्थ-व्याख्यायुक्त)

व्याख्याकार : पं. हेमचन्द्रजी महाराज
सम्पादक : अमरमुनिजी महाराज
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामन्डी, आगरा-२

मूलसुत्ताणि

सम्पादक : पं० मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल वी० शेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, व्यावर (राज०)

सूत्रकृतांगसूत्र (मूल-अर्थ-भावार्थ-व्याख्या सहित) भाग १-२

व्याख्याकार : पं. मुनिश्री हेमचन्द्रजी महाराज
सम्पादक : अमर मुनि तथा मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक : आत्मज्ञानपीठ, मानसा मन्डी (पंजाब)

श्रीसूत्रकृतांगम चार खण्ड (मूल-अन्वयार्थ-भावार्थ-टीकानुवाद सहित)
(श्री शीलांकाचार्य रचित वृत्ति)

सम्पादक : पं. अम्बिकादत्त ओझा, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक : श्री महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट (गुजरात)

सूत्रकृतांग (मूल, अर्थ, टीका, अनुवाद गुज० हिन्दी-सहित) भाग १ से ४

टीकाकार : जैनाचार्य पूज्यश्री घासीलाल जी महाराज
अनुवादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी महाराज
प्रकाशक : अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (गुजरात

सूयगडंगसुत्तं (मूल-टिप्पण परिशिष्टयुक्त)

सम्पादक : मुनिश्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रांति मार्ग, बम्बई ४०००३६

भगवती सूत्र भाग १ से ४ तक (अनगार धर्मामृतवर्षिणी व्याख्या सहित)

व्याख्याकार : जैनाचार्य पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज
नियोजक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी महाराज
प्रकाशक : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (गुजरात)

व्याख्या ग्रन्थ

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि

व्याख्याकार : आचार्य पूज्यपाद
हिन्दी अनुवाद : पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य उमास्वातिकृत स्वोपज्ञ भाष्यसहित)

सम्पादक : व्याकरणाचार्य पं. ठाकुर प्रसाद शर्मा
प्रकाशक : परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई

महावीर वाणी (संस्कृत रूपान्तर, विस्तृत तुलनात्मक विवेचन युक्त)
सम्पादक : पं. बेचरदास जी दोशी न्याय-व्याकरणतीर्थ
हिन्दी-अनुवादक : कस्तूरमलजी बांठिया
प्रकाशक : सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी-१ (उ० प्र०)

सूक्ति त्रिवेणी
सम्पादक : उपाध्याय श्री अमरचन्द जी महाराज
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा (उ० प्र०)

विशेषावश्यक भाष्य (मूल गाथा, टीका का गुजराती अनुवाद)
(जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण रचित, मल्लधारी आचार्य हेमचन्द्र कृत वृत्ति)
भाषान्तरकार : शाह चुन्नीलाल हाकमचन्द, अहमदावाद
प्रकाशक : आगमोदय समिति, बम्बई

शब्दकोष तथा अन्य सहायक ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्र सूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर संघ, श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५/४७ कनॉटप्लेस, नई दिल्ली–१

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक : पं० हरगोविन्ददास टी० शेठ, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी–५

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवलजी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८ यू० ए० जवाहरनगर, बंगलो रोड, दिल्ली–७

शब्द रत्न महोदधि भाग १-२, (संस्कृत गुजराती शब्दकोष)
संग्राहक : पन्यास श्री मुक्तिविजय जी
संशोधक : पं० भगवानदास हरखचन्द
प्रकाशक : मन्त्री, श्री विजयनीतिसूरि वाचनालय

अभिधम्मत्थ संगहो (आचार्य अनुरुद्ध रचित)
टीकाकार : भदन्त सुमंगल स्वामी

सम्पादक-संशोधक : भदन्त रेवत धर्मशास्त्री एम० ए०
प्रकाशक : बौद्ध स्वाध्याय सत्र, एस० १७/३३० ए० मलदहिया, वाराणसी (उ० प्र०)

धम्मपदम् (बुद्ध सुभाषित)
सम्पादक : प्रो० सत्यप्रकाश शर्मा, एम० ए०, साहित्याचार्य
प्रकाशक : साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ-२

विसुद्धिमग्गो (आचार्य बुद्धघोष कृत) भाग १-२
अनुवादक : भिक्षु त्रिपिटकाचार्य धर्मरक्षित
प्रकाशक : महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी (उ० प्र०)

पाली हिन्दी कोश
सम्पादक : भदन्त आनन्द कौशल्यायन
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-११०००६

दीघनिकाय (सुत्तपिटक का एक अंश)
अनुवादक : भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप, एम० ए०
प्रकाशक : भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्ध विहार, लखनऊ

श्री शब्द रत्नाकर (संस्कृत शब्दकोष)
रचयिता : वाचनाचार्य साधु सुन्दरगणि
संशोधक : पं० हरगोविन्ददास एवं पं० बेचरदास
प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर संघ, रंगून

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-१
लेखक : पं० बेचरदास दोशी
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम हि० यु० वाराणसी-५ (उ० प्र०)

जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा
लेखक : पं० देवेन्द्र मुनि शास्त्री
प्रकाशक : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

सद्धर्ममण्डनम्
लेखक : स्व० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज
सम्पादक : पं० मुनिश्री श्रीमल्लजी महाराज
प्रकाशक : श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (भाग १ से ७ तक)
संयोजक : भैरोंदान जी सेठिया
प्रकाशक : अगरचन्द भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर (राजस्थान)

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास

लेखक : श्रीचन्द चौरड़िया न्यायतीर्थ (द्वय)
प्रकाशक : जैन दर्शन समिति, १६/सी-डोवरलेन, कलकत्ता ७०००२६

भ..वद्गीता (मूल-अर्थ सहित)

प्रकाशक : गीता प्रेस, पो० गीता प्रेस, गोरखपुर, (उ० प्र०)

अष्टाविंशत्युपनिषद् (ईश, केन, कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि)

सम्पादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक : प्राच्य भारती प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी (उ० प्र०)

वीर स्तुति

अनुवादक : उपाध्याय श्री अमर मुनि
प्रकाशक : सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२

प्रशम रति

रचयिता : आचार्य उमास्वाति
भावानुवादक : मुनि पद्मविजयजी
संशोधक : मुनि नेमिचन्द्र जी

अध्यात्मसार

ग्रन्थकार : श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय
हिन्दी अनुवादक : मुनि पद्मविजयजी
सम्पादक : मुनि श्री नेमिचन्द्र जी